ŚRĪTATTVA-CINTĀMAṆIḤ

परमहंसपूर्णानन्दप्रणीतः

श्रीतत्त्वचिन्तामणिः

संस्कृतटीकासहित 'भावना' भाषाभाष्यसंवलितः

भावनाभाष्यकारः

श्रीमधुसूदनप्रसादशुक्लः

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी

ISBN : 978-81-933102-7-4 (Set)

I

श्रीमद्गुरुचरणप्रसादशुभम्

परमहंसपूर्णानन्दप्रणीतः

श्रीतत्त्वचिन्तामणिः

संस्कृतटीकासहित 'भावना' भाषाभाष्यसंवलितः

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
613

परमहंसपूर्णानन्दप्रणीतः

श्रीतत्त्वचिन्तामणिः

ŚRĪTATTVA-CINTĀMAṆIH

संस्कृतटीकासहित 'भावना' भाषाभाष्यसंवलितः

(प्रथमः खण्डः • १-१३ प्रकाशः)

भावनाभाष्यकारः

श्रीमधुसूदनप्रसादशुक्लः

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

© सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी अंश का किसी भी रूप में पुनर्मुद्रण या किसी भी विधि (जैसे-इलेक्ट्रोनिक, यांत्रिक, फोटो-प्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग या कोई अन्य विधि) से प्रयोग या किसी ऐसे यंत्र में भंडारण, जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो, प्रकाशक की पूर्वलिखित अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता है।

श्रीतत्त्वचिन्तामणिः (प्रथमः खण्डः)

पृष्ठ : 62+538

प्रकाशक
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : +91 542-2335263
email : csp_naveen@yahoo.co.in
website : www.chaukhamba.co.in

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण 2017 ई०
मूल्य : ₹ 2100.00 (1-2 भाग सम्पूर्ण)

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए. अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : +91 11-23286537; 32996391
email : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

●

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली 110007

●

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

पुरोवाक्

श्रीविद्या-विषयक ग्रन्थों के प्रसंग में 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि' का नाम अत्यन्त आदर और गौरव से लिया जाता है। वामकेश्वर तन्त्र (योगिनीहृदय एवं नित्याषोडशिकार्णव), ज्ञानार्णवतन्त्र, तन्त्रराजतन्त्र, गन्धर्वतन्त्र, त्रिपुरासार-समुच्चय-प्रभृति ग्रन्थरत्नों की परम्परा का यह एक सुपठित ग्रन्थ है, जिसमें भगवती त्रिपुरा की साधना और उपासना का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है। चूँकि वामकेश्वर आदि इन ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय श्रीविद्या-उपासना है, अत: ये ग्रन्थ परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं; लेकिन प्रतिपाद्य देवताभेद के आधार पर ये ग्रन्थ एक-दूसरे से भिन्न भी हो जाते हैं। 'त्रिपुरासारसमुच्चय' में केवल बाला त्रिपुरा के त्र्यक्षरी मन्त्र का उद्धार तथा उनकी उपासना और सपर्या का निरूपण है तो ज्ञानार्णवतन्त्र में त्रिपुरा के तीन रूपभेदों (बाला, भैरवी और सुन्दरी) का साधन-विधान बताया गया है। गन्धर्वतन्त्र में पञ्चमी, ललिता और षोडशी का साधन-विधान है तो तन्त्रराजतन्त्र में महानित्या ललिता तथा उनकी कामेश्वरी आदि नित्या-देवियों की स्वतन्त्र रूप से साधना की विधि प्रयोगों-सहित विस्तार से निरूपित की गयी है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि' में पञ्चमी विद्याओं-सहित भगवती ललिता त्रिपुरसुन्दरी के अनेक मन्त्रों के उद्धार तथा साधन-विधान का विस्तार से निरूपण किया गया है। इस समानता के साथ ही उनमें एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। जहाँ श्री वामकेश्वरतन्त्र, ज्ञानार्णव, तन्त्रराजतन्त्र और गन्धर्वतन्त्र भगवान् शिव के द्वारा उपदिष्ट अपौरुषेय ग्रन्थ हैं, वहीं त्रिपुरा-सारसमुच्चय एवं श्रीतत्त्वचिन्तामणि ऋषिकल्प-साधकों के द्वारा प्रणीत पौरुषेय ग्रन्थ हैं। त्रिपुरासारसमुच्चय श्री नागभट्ट की कृति है तो श्रीतत्त्वचिन्तामणि के प्रणेता परमहंस पूर्णानन्दनाथ हैं। उन्होंने आज से ४३८ वर्ष पूर्व शक संवत् १४९९ (सन् १५७७ ई०) में इस ग्रन्थरत्न का प्रणयन किया था, जिसमें गौडीय पद्धति से भगवती त्रिपुरा के उपासना-क्रम का निरूपण किया गया है।

परमहंस पूर्णानन्दनाथ

भारत के प्राचीन और मध्यकालीन वीतरागी लेखक और कवि अपने लौकिक जीवनवृत्त के प्रति उदासीन हुआ करते थे और परमहंस पूर्णानन्द भी इस बात के अपवाद नहीं हैं। उनके जीवनवृत्त के बारे में बहुत कम जानकारी उपलब्ध

है। 'दि सर्पेन्ट पावर' की भूमिका में सर जान उडरफ द्वारा दिये गये विवरण के अनुसार ईसा की सोलहवीं सदी में वे मैमनसिंह जिले के 'कैताली' नामक गाँव में पैदा हुए थे। उनका लौकिक नाम जगदानन्द शर्मा था। वे कश्यप गोत्र के राहरी ब्राह्मण थे। उनके पूर्वज 'प्रकाशी' नामक किसी अज्ञात गाँव के मूल निवासी थे, जो वहाँ से चलकर मुर्शिदाबाद जिले के बारनगोरा-नामक गाँव में आकर बस गये थे। श्री पूर्णानन्द के एक पूर्वज श्री अनन्ताचार्य ने बारनगोरा को छोड़कर कैताली को आबाद किया। अत: इन जिलों में पूर्णानन्दनाथ के वंशज अभी तक रह रहे हैं।

श्री जगदानन्द शर्मा ने शकाब्द १४४८ (सन् १५२६ ईस्वी) में 'विष्णु-पुराण' लिखा था, जिसकी प्रति सर जान उडरफ के समय तक उनके एक वंशज के पास उपलब्ध थी।

बाद में श्री जगदानन्द शर्मा ने परमहंस ब्रह्मानन्दनाथ से शाक्त धर्म की दीक्षा ली और साधना करने के लिये कामरूप (असम) चले आये। यहाँ वशिष्ठ-आश्रम का समाश्रय लेकर उन्होंने साधना की। उनके जीवनकाल में ही एक सिद्ध तान्त्रिक के रूप में उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी थी। यह वशिष्ठ-आश्रम गौहाटी से लगभग १३ किलोमीटर (७ मील) की दूरी पर था। इसी आश्रम में रहते हुए उन्होंने शक् संवत् १४९९ (सन् १५७७ ई०) में 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि' का प्रणयन किया। उनकी अन्य कृतियाँ हैं—श्यामारहस्य, शाक्तकर्म, तत्त्वानन्द-तरङ्गिणी और योगसार। 'काली ककार कूट' पर उनका भाष्य अत्यन्त प्रसिद्ध है।

ग्रन्थ-परिचय

'प्रकाश'-संज्ञक २६ अध्यायों में प्रविभक्त इस बृहत्काय ग्रन्थ में कुल ३८४१ श्लोक हैं। बहुविध मन्त्रों का इस ग्रन्थ में उद्धार बताया गया है। इस ग्रन्थ में संगृहीत अधिकतम श्लोक गन्धर्वतन्त्र, ज्ञानार्णव, वाराहीतन्त्र, भावचूडामणि तथा कुलार्णव-प्रभृति अपौरुषेय ग्रन्थों से उद्धृत हैं। अत: इस ग्रन्थ का आर्षत्व स्वयं प्रमाणित है। दूसरी बात यह कि साधना और उपासना से सम्बन्धित समस्त कर्मकाण्ड अर्थात् दीक्षा से लेकर बहिरंग-पूजन तथा हवन-पर्यन्त सम्पूर्ण क्रिया-विधान का इस ग्रन्थ में इतना क्रमबद्ध और सुप्रवाही निरूपण किया गया है कि इसका सम्यक् रूप से अध्ययन कर लेने के बाद सामान्य और मध्यम श्रेणी के साधकों को मार्गदर्शन के लिये किसी अन्य ग्रन्थ की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इन क्रिया-विधानों को इस ग्रन्थ में कितने विस्तार से समझाया गया है, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है

कि न्यास एवं अन्तर्यजन तथा पात्रासादन के बाद भगवती की केवल बहिरंग पूजाविधि का निरूपण १८वें प्रकाश में ६१५ श्लोकों में किया गया है। श्लोकसंख्या-सहित प्रत्येक प्रकाश के प्रतिपाद्य विषय का विवरण भूमिका में आगे दिया गया है।

तीसरी बात यह कि समग्र तन्त्र-वाङ्मय में सम्भवत: 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि' ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जिसके किसी अध्यायविशेष को स्वतन्त्र ग्रन्थ की प्रतिष्ठा प्राप्त है। सभी सम्प्रदायों के साधकों और विद्वानों में 'कुण्डलिनी-विज्ञान' को समग्र रूप से समझने तथा तदनुसार कुण्डलिनी-साधना करने के लिये **षट्चक्रनिरूपण'**-संज्ञक जिस सद्ग्रन्थ को पाठ्य पुस्तक (Text-book) का दर्जा प्राप्त है, वह इस ग्रन्थरत्न का छठवाँ प्रकाश है, जो कालिचरण सिद्धान्त के विस्तृत भाष्य-सहित विगत बीसवीं शताब्दी में कई बार प्रकाशित हो चुका है। हिन्दी अनुवाद-सहित यह ग्रन्थ चौखम्बा में उपलब्ध है।

ईसवी सन् १९१८ में प्रकाशित सर जान उडरफ (Sir John Woodroffe) की विश्वविख्यात कृति 'दि सर्पेन्ट पावर (The Serpent Power) का आधार यही ग्रन्थ (षट्चक्रनिरूपण) है। अपनी इस कृति में सर जान उडरफ ने 'षट्चक्र-निरूपण' की मूल संस्कृत श्लोकों को रोमन लिपि में लिप्यन्तरण और कालिचरण सिद्धान्तकृत भाष्य का अत्यन्त परिमार्जित भाषा में अंग्रेजी अनुवाद व्यापक भाष्य-सहित प्रस्तुत किया है। कुण्डलिनी-विज्ञान पर सम्प्रति हिन्दी और अंग्रेजी में जो पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं, उन सबका आधार यही 'षट्चक्रनिरूपण' है।

षट्चक्र-निरूपण

वर्ष १९३६ में कालिकाता से प्रकाशित 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि' की भूमिका में बताया गया है कि श्री कालिचरण सिद्धान्त सिलहट जिले के निवासी एक महान् नैयायिक तथा तन्त्रविद् वारेन्द्र ब्राह्मण थे। उन्होंने परमहंस पूर्णानन्द की सभी प्रसिद्ध कृतियों का भाष्य किया है। अत: यह अनुमान लगाया जाता है कि उन्होंने समग्र 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि' पर भाष्य लिखा हो, जो अब न तो उपलब्ध है और न ही किसी ग्रन्थ में उसका उल्लेख मिलता है। 'षट्चक्रनिरूपण' उसी अनुपलब्ध भाष्य का वह भाग है, जो एक दीपस्तम्भ की तरह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में आज भी देदीप्यमान है।

दीक्षा और षट्चक्रनिरूपण

तान्त्रिक विधि से शिष्य को मन्त्रदान के पूर्व उसे षट्चक्र विज्ञान की शिक्षा दिये जाने का प्रावधान है। श्रीज्ञानार्णवतन्त्र (पटल २४) में कहा गया है कि शिष्य

को मन्त्र देने के पूर्व उसके आज्ञाचक्र का संक्रमण करके गुरुदेव उसे षट्चक्र विज्ञान की शिक्षा दें—'पश्चात् षट्चक्रविज्ञानं शिष्याय प्रतिबोधयेत्' (२४।४५)। इन्हीं शब्दों में यही बात प्रस्तुत ग्रन्थ के पञ्चम प्रकाश में कही गयी है—'षट्चक्रविज्ञानं शिष्याय प्रतिबोधयेत्' (५।१४५)। चूँकि मन्त्रदान के पूर्व शिष्य को षट्चक्र का बोध कराना दीक्षाकर्म का एक अनिवार्य अंग है, इसीलिये षष्ठ प्रकाश में षट्चक्र विज्ञान का विस्तार से निरूपण किया गया है। इस प्रकाश के प्रथम श्लोक में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यहाँ षट्चक्र विज्ञान का जो निरूपण किया जा रहा है, वह तन्त्रशास्त्र-सम्मत है—

अथ तन्त्रानुसारेण षट्चक्रक्रमोद्गतः।
उच्यते परमानन्दनिर्वाहः प्रथमाङ्कुरः।। (६।१)

'अथ तन्त्रानुसारेण' इस प्रतिज्ञावाक्य से यह तथ्य रेखाङ्कित होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में निरूपित षट्चक्र विज्ञान न तो कोई सर्वथा नया विषय है और न ही तन्त्र साहित्य में पहली बार इसका उल्लेख या निरूपण किया जा रहा है। यद्यपि यह सत्य है कि पतञ्जलि के योगसूत्रों में षट्चक्र विज्ञान और कुण्डलिनी योग का उल्लेख नहीं है; किन्तु इसके साथ यह भी तथ्य है कि आगम और तन्त्र-शास्त्र की विभिन्न शाखाओं में इसका उल्लेख मिलता है। सौभाग्य लक्ष्मी उपनिषद्, रुद्रयामल, ज्ञानार्णव, नेत्रतन्त्र, गन्धर्वतन्त्र, योगिनीहृदय, त्रिपुरासारसमुच्चय-प्रभृति ग्रन्थों में चक्रों का उल्लेख तथा कुण्डलिनी शक्ति एवं कुण्डलिनी योग की चर्चा है। यह अलग बात है कि इन ग्रन्थों में षट्चक्रों का यथावाञ्छित साङ्गोपाङ्ग निरूपण नहीं है और इनमें से किसी ग्रन्थविशेष से उतनी जानकारी नहीं मिलती, जितनी जानकारी सामान्य साधक को कुण्डलिनी-साधना के लिये आवश्यक है। यथा—ज्ञानार्णवतन्त्र में मूलाधार आदि चक्रों की स्थिति, दलों की संख्या और दलों में अंकित अक्षरों का उल्लेख तो है; लेकिन चक्र से सम्बन्धित अन्य विवरण नहीं बताये गये हैं। यही हाल अन्य तन्त्रग्रन्थों का भी है। इतना ही नहीं; चक्रों की संख्या तथा उनके स्वरूप के बारे में भी प्राचीन ग्रन्थों में मतैक्य नहीं है। यथा—'योगिनीहृदय' (३।३०) में नौ चक्रों के साथ छः चक्रों का उल्लेख है। यद्यपि नेत्रतन्त्र (७।२८-२९) में छः चक्रों का वर्णन है; मगर उनकी प्रतिपादन-पद्धति अलग है। इस तरह 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि' ही वह ग्रन्थ है, जिसमें चक्रों की संख्या, उनके क्रम तथा स्वरूप का शास्त्रसम्मत मानकीकरण किया गया है। इन छः चक्रों का जितना साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस ग्रन्थ में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

'श्रीतत्त्वचिन्तामणि' में प्रत्येक चक्र के दलों की संख्या, उनका रंग, उन पर अङ्कित बीजाक्षरों तथा उन बीजाक्षरों का वर्ण बताने के साथ ही प्रत्येक चक्र में प्रतिष्ठिता डाकिनी आदि शक्ति, प्रत्येक चक्र के अधिष्ठातृ देवता, पञ्चमहाभूतों के मण्डल, चारो पीठों तथा चारो लिङ्गों आदि का समग्र रूप से विवरण देते हुए उनके ध्यान की विधि तथा प्रत्येक चक्र की साधना से मिलने वाली सिद्धि का विवरण इतने समग्र रूप से दिया गया है कि सामान्य साधक को इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिये अन्य ग्रन्थ की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

यहाँ सहज जिज्ञासा होती है कि षट्चक्र और कुण्डलिनी-साधना का सीधा सम्बन्ध तो हठयोग से है, तो फिर मन्त्रदीक्षा के पूर्व इसके उपदेश का कारण क्या है? इस जिज्ञासा के समाधान के लिये हमें तन्त्रसाधना के लक्ष्य और उसके ताना-बाना को समझना होगा।

तन्त्रसाधना का परम लक्ष्य 'परं पद' की प्राप्ति है। उसका अर्थ है—स्वराट् का विराट् में विलय। इसके कई उपाय और मार्ग हैं; मगर मन्त्र-साधना इन सभी उपायों में सर्वोत्तम है।

मन्त्र क्या है? मन्त्र वाचक है और देवता वाच्य है। अत: मन्त्र में देवता का वास माना जाता है। देवता का अधिष्ठानरूप मन्त्र वर्णमय—अक्षरमय है। अक्षरों या वर्णों के विना मन्त्र की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती और ये वर्ण शब्द-ब्रह्म की विभूतियाँ हैं और यह शब्दब्रह्म कुण्डलिनी के रूप में सभी व्यक्तियों में स्थित है—'तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगाम्।' इस तरह अपनी वर्णात्मकता के कारण मन्त्रों का कुण्डलिनी से गहरा सम्बन्ध है; मगर यह कुण्डलिनी सामान्यत: सोई रहती है। परं पद की प्राप्ति अर्थात् ब्रह्मसायुज्य पाने के लिये कुण्डलिनी का जागरण अनिवार्य है। इसे जागृत और क्रियाशील बनाने के लिये मन्त्रयोग में जो उपाय बताया गया है, वह है—मन्त्रजप। मन्त्रजप का अर्थ हाथ में माला लेकर मन्त्र के अक्षरों को ककहरे की तरह दुहराना या घोखना नहीं है। मन्त्रजप एक विज्ञान है, कौशल है तथा मन्त्रजप की अपनी विशिष्ट प्रविधि है। इनमें सर्वोत्तम तथा सर्वोत्कृष्ट प्रविधि है—इष्टदेवता के रूप में देवी कुलकुण्डलिनी का ध्यान करते हुए विभिन्न चक्रों में मन्त्रवर्णों या मन्त्र के कूटों का तद्गत और पूर्ण मनोयोग से जप करना, जिसका निदेश प्रस्तुत ग्रन्थ में कई स्थलों में किया गया है। यदि षट्चक्रों की स्थिति और उनकी विभूतियों तथा कुल-कुण्डलिनी का परिज्ञान नहीं हो तो इस उच्च प्रविधि से मन्त्र का जप किस तरह सम्भव होगा? इस प्रविधि से जप करने से मन्त्र के वर्णों में विस्फोट होता है

और उसमें निहित दैवत ऊर्जा नि:सृत होने लगती है। ऊर्जा के इस निस्सरण से कुण्डलिनी-सहित शरीर में अन्तर्निहित सभी प्रसुप्त शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं। षट्चक्रभेदन और कुण्डलिनी-जागरण से साधक के शरीर में विद्यमान मातृतत्त्व (कुण्डलिनी) का पुरुष तत्त्व (परमशिव) से संयोग होकर स्वराट् का विराट् में प्रविलयन होने लगता है। इसीलिये मन्त्रदीक्षा के साथ ही षट्चक्र की शिक्षा जरूरी है।

मन्त्रसाधना के अन्तर्गत मन्त्रजप के साथ इष्टदेवता का अर्चन भी अनिवार्य कर्तव्य है। देवता का यह अर्चन अन्तरङ्ग और बाह्यभेद से दो प्रकार का है। अन्तरङ्ग अर्चन मुख्य और बाह्य गौण है तथापि बाह्य अर्चन के नित्यप्रति दृढ़ अभ्यास और आवर्तिता से अन्तरङ्ग अर्चन में दृढ़ता आती है और साधक विना किसी बाह्य उपचार के इष्टदेवता का यथोचित अर्चन करने में समर्थ होता जाता है। अन्तरङ्ग अर्चन में दक्ष साधक का मन क्रमश: देवता में लीन होकर तद्रूप होता जाता है और भव-पाश के बन्धन टूटते जाते हैं।

इस सम्बन्ध में कुछ और बातें भी ध्यातव्य हैं। प्रथम यह कि तन्त्रोपदिष्ट विधि से साधना करने वाला साधक किसी ऐसे देवता की साधना नहीं करता, जो सुदूर स्वर्ग में बैठकर संसार का सञ्चालन और शासन करता है। तन्त्र की दृष्टि में साधक का शरीर ही ब्रह्माण्ड है और उसमें जो आत्मशक्ति स्थित है, वही उसका आराध्य देव है। मोक्षकामी तन्त्र-साधक 'आत्मना आत्मानं उद्धरेत्' के निदेश-वाक्य का अक्षरश: पालन करता हुआ अपनी ही आत्मशक्ति से अपनी आत्मा को प्रपञ्चजाल से मुक्त करता है।

दूसरी बात यह कि यद्यपि इष्टदेवता का अर्चन तन्त्रोपदिष्ट साधना का अनिवार्य अङ्ग है; मगर अर्चन का अर्थ देवता के सामने रोना-गिड़गिड़ाना और प्रायश्चित्त करना नहीं; अपितु अर्चन और स्तवन के द्वारा इष्टदेवता की दिव्य विभूतियों का स्मरण करते हुए उन्हें आत्मसात् करना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में तन्त्रोपदिष्ट इसी साधना-विधान का अत्यन्त विस्तार से २६ प्रकाशों (अध्यायों) में यथाक्रम निरूपण किया गया है। इस सभी २६ प्रकाशों में प्रतिपाद्य विषयों का दिग्दर्शन आगे किया जा रहा है—

प्रथम प्रकाश—प्रथम प्रकाश के प्रथम श्लोक में परमगुरु देवाधिदेव शिव की वन्दना करके द्वितीय श्लोक में परमगुरु से सर्वथा अभिन्न दीक्षागुरु की वन्दना की गयी है। गुरुदेव से दीक्षा-प्राप्ति के बाद साधक को साधना का अधिकार मिल जाता है तथापि दुर्बल अधिकारियों के लिये प्रथम श्लोक में अभिवन्दित परमशिव

की साधना दु:साध्य होती है, अत: उनके लिये सविशेष ब्रह्मोपासना अर्थात् सगुण शिव की उपासना का विधान है। अत: तृतीय श्लोक में सगुण शिव की अभिवन्दना की गयी है। चतुर्थ श्लोक में वन्दना की गयी है—विष्णु-रूप में आविर्भूत परमशिव की। इस तरह परमहंस पूर्णानन्दनाथ ने यह तथ्य रेखाङ्कित किया है कि रूपभेद होने पर भी परमशिव और विष्णु तत्त्वत: एक हैं। जो परमशिव निराकार और निर्गुण होने के बावजूद विश्व के हित-साधन के लिये साकार तथा सगुण शिव एवं शिष्य के कल्याण के लिये दीक्षादाता गुरु के रूप में प्रकट होते हैं, वे ही परमशिव अपने विष्णुरूप में भक्तों की भक्ति-डोर से बन्ध कर 'दामोदर' बन जाते हैं। ऐसे परम कारुणिक परमशिव की स्वरूपा शक्ति सर्वथा अरूपा होने के बावजूद साधकजनों पर अनुग्रह करने के लिये श्रीमत् त्रिपुरसुन्दरी का रूप धारण करती है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र-प्रभृति देवताओं, गन्धर्वों, यक्षों आदि के द्वारा पूजिता और आराधिता परमशिव की प्रकाशस्वरूपा यही श्रीमत् त्रिपुरसुन्दरी इस ग्रन्थ की प्रतिपाद्य देवता हैं। अगले दो श्लोकों में भगवती त्रिपुरसुन्दरी की वन्दना करके निर्विशेष, निराकार ब्रह्म का स्वरूप-निरूपण करने के बाद यह प्रतिपादित किया गया है कि मनुष्य की आत्मा इसी सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म का अंश है, जो पाशों और कञ्चुकों से आबद्ध होकर जीव बन गया है तथा अविद्या और अज्ञान के कारण संसारचक्र में फँस कर दु:ख उठा रहा है। जब तक उसे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, संसारचक्र से उसकी मुक्ति असम्भव है। तत्त्वज्ञान का अर्थ है—ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान का अर्थ है—ब्रह्मरूपता की प्राप्ति। यद्यपि इसकी प्राप्ति के अनेक उपाय हैं, अनेक विधियाँ हैं तथापि इनमें सर्वश्रेष्ठ विधि है—परं ब्रह्मरूप परमशिव की परमा शक्ति भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपासना; क्योंकि स्वयं ही प्रकृतिस्वरूपा होने के कारण वे अपने भक्तों को प्रकृति-प्रपञ्च के जाल से शीघ्र ही मुक्ति दिला देती हैं। इस प्रकाश में ८७ श्लोक हैं।

द्वितीय प्रकाश—भगवती त्रिपुरा की उपासना की वरीयता और महत्ता का प्रथम प्रकाश में निरूपण करने के बाद इस प्रकाश में दीक्षा-विधान का निरूपण किया गया है; क्योंकि दीक्षा ग्रहण करने के बाद ही मुमुक्षु साधक को साधना और उपासना का अधिकार मिलता है। दीक्षा की इस महत्ता और अनिवार्यता का रहस्य इसके दोनों घटक वर्णों अर्थात् 'दी' और 'क्षा' में छिपा हुआ है। तन्त्र-ग्रन्थों में इन दोनों वर्णों की व्याख्या विस्तार से की गयी है। इन समस्त व्याख्याओं का सार है—

दीयते ज्ञानमत्यर्थं क्षीयते पाशबन्धनात्।

जिससे अष्टपाशों का बन्धन शिथिल होता है तथा आत्यन्तिक (ब्रह्म) ज्ञान की प्राप्ति होती है, वह 'दीक्षा' है। इस तरह दीक्षा पथरीली और बंजर जमीन को उपजाऊ खेत बनाने की प्रक्रिया के समान वह मनो-आध्यात्मिक संस्कार है, जो मुमुक्षु साधक की उस मनोभूमि को, जो प्राक्तन जन्मों के तरह-तरह के संस्कारों के कारण सर्वथा कठोर और बंजर हो गयी है, उसे इस जन्म में आत्यन्तिक ज्ञान-प्राप्ति के निमित्त मन्त्र-वपन के लिये सर्वथा अनुकूल और प्रशस्त बनाता है। इस मनो-आध्यात्मिक संस्कार अर्थात् दीक्षा के अनेक भेद हैं, जिनका नामोल्लेख इस ग्रन्थ में किया गया है; मगर नाम और क्रियाभेद के बावजूद दीक्षा की सार्थकता की एकमात्र शर्त यह है कि वह सद्गुरु से ग्रहण की जाय, जैसा कि मेरुतन्त्र में कहा गया है—

तेन दीक्षा हि सम्प्रोक्ता चेत् सद्गुरोः मुखात्।
असद्गुरुः स्वयं नष्टः कथं तारयते परम्।।

इसलिये दीक्षा के प्रसङ्ग में सद्गुरु और साथ ही सत्-शिष्य के लक्षण बताकर उनके परस्पर व्यवहार का निरूपण इस प्रकाश में किया गया है। इसके बाद अनुकूल मन्त्र के चयन के लिये तन्त्रशास्त्र में विहित अकथह चक्र, ऋणी-धनी चक्र, नक्षत्र-चक्र, राशिचक्र, अकडम चक्र, कुलाकुल चक्र तथा वर्गचक्र बनाने की विधि बतायी गयी है। अनुकूल मन्त्र का चयन हो जाने के बाद दीक्षा के लिये प्रशस्त माह, दिन, नक्षत्र के चयन तथा मन्त्र के जनन आदि दस संस्कारों के सम्पादन की विधि बतायी गयी है। इस प्रकाश में १७३ श्लोक हैं।

दीक्षा के प्रसङ्ग में तन्त्रान्तर (तन्त्रसार में यथा-उद्धृत तत्त्वसारतन्त्र) में रहस्य की यह बात बतायी गयी है कि यक्षिणी आदि उपविद्याओं तथा मारण-मोहन जैसे षट्कर्म-साधन के लिये दीक्षा की आवश्यकता नहीं है। किसी मन्त्र-सिद्ध साधक से मन्त्र और उसकी साधना-विधि जान लेना ही पर्याप्त है—

उपविद्यासु सर्वासु तथा प्रयोगसाधने।
दीक्षां विनैव कर्तव्यः उपदेशः सदैव हि।।

इससे स्पष्ट है कि दीक्षा का अभिप्राय पारमार्थिक लाभ के लिये उन देवताओं के मन्त्रग्रहण से है, जो मोक्ष देने में समर्थ हैं। जिन देवताओं में मोक्ष प्रदान करने का सामर्थ्य नहीं है, उनका मन्त्रग्रहण दीक्षा के दायरे में नहीं आता। यही बात मारण-मोहन आदि जैसे षट्कर्म-साधन-विषयक लौकिक प्रयोजनपरक मन्त्रों पर भी लागू होती है।

तृतीय प्रकाश—दीक्षा-विधान के क्रम में दीक्षा के लिये प्रशस्त स्थानों का विवरण देने के बाद इस प्रकाश में दीक्षा, पुरश्चरण और साधना के लिये

आवश्यक कूर्मचक्र बनाने की विधि बतायी गयी है। दीक्षा के लिये भूमि का चयन हो जाने के बाद उस भूमि पर वास्तु याग अनिवार्य है। अत: वहाँ वास्तु-मण्डल बनाने की विधि, वास्तुमण्डल पर पूजनीय देवताओं के नाम, उनके पूजन और बलिविधान का इस प्रकाश में जो निरूपण किया गया है, वह केवल दीक्षामण्डल ही नहीं; अपितु गृह आदि के निर्माण तथा जीर्णोद्धार के लिये भी उपयोगी है। इस प्रकाश में ९३ श्लोक हैं।

चतुर्थ प्रकाश—इस प्रकाश में दीक्षा-मण्डप के निर्माण का शास्त्र-समस्त विधान बताया गया है। तदनुसार यथा-सुविधा १६ (सोलह) १४ (चौदह) अथवा १२ (बारह) हाथ परिमाण का चौकोर मण्डल बनाया जाना चाहिये। भूमितल से एक हाथ समुन्नत यह दीक्षामण्डल १६ खम्भों पर आधारित होता है। इनमें से चार खम्भे वेदी के चतुर्दिक् और शेष १२ खम्भे द्वार आदि बाहरी भागों में लगाये जाते हैं। चारो दिशाओं में चार द्वार बनाये जाते हैं। द्वारों पर फाटक लगाये जाते हैं। देहली होती है और तोरण होते हैं। तोरणों पर लकड़ी के बने त्रिशूल लगाये जाते हैं। तोरण, फलक और प्रत्येक द्वार पर कलश स्थापित किये जाते हैं। इन्हें पुष्पमालाओं आदि से अलङ्कृत करके उन पर यथाविहित देवताओं का पूजन किया जाता है। किसी भी संरचना के लिये उसका रक्षा-विधान अनिवार्य है। चूँकि दीक्षामण्डप भी एक महत्त्वपूर्ण संरचना है, अत: अन्तरीक्षीय आपदाओं से उसकी रक्षा के लिये मण्डप की चारो दिशाओं तथा चारो विदिशाओं में इन्द्र आदि आठ दिक्पालों के आठ ध्वज और दसो दिशाओं में दस पताकायें स्थापित की जाती हैं। इनकी स्थापना से न केवल दीक्षामण्डप की रक्षा होती है, अपितु दीक्षामण्डप में किये जाने वाले शुभ कर्मों के फलों की चोरी भी नहीं हो पाती। मन्दिरों में ध्वजा और पताका लगाये जाने का यही प्रयोजन है। इनकी स्थापना की भी विशिष्ट शास्त्रीय विधि है। अत: इस प्रकाश में इन ध्वजों और पताकाओं के रङ्गों, उनके आकार-प्रकार तथा अन्य विशिष्टताओं के साथ उनकी स्थापना तथा अर्चन की विधि बतायी गयी है। मुख्य वेदी की रचना-विधि बताने के बाद मण्डप के पूर्व भाग में अङ्कुर-वपन के लिये वेदी के निर्माण, अङ्कुर-वपन के लिये पालिका, पञ्चमुखी तथा 'शराब'-संज्ञक मृण्मय पात्रों की व्यवस्था, उनके रूपाकार, उनमें यथाक्रम से करीष (सूखा गोबर), मिट्टी और रेती (बालू) भरकर उनमें पृथक्-पृथक् अनाजों के बीज बोने, इन पात्रों पर यथाविहित देवताओं के अर्चन तथा दीक्षा-दिवस-पर्यन्त उनकी दैनिक पूजा की विधि का निरूपण किया गया है। इन बोये गये बीजों से उत्पन्न अङ्कुरों से दीक्षा के शुभाशुभ का ज्ञान होता है। यदि इनसे अशुभता की सूचना मिलती है तो उसकी शान्ति के लिये 'शान्ति-होम' किया जाना चाहिये। इस प्रकाश में ६८ श्लोक हैं।

पञ्चम प्रकाश—इस प्रकाश में अधिवास और दीक्षा-विधान का विस्तार से निरूपण किया गया है। प्रारम्भ के ९ (नौ) श्लोकों में पञ्चायतनी विधि के अनुसार गणेश, सूर्य, शिव, विष्णु तथा भवानी का अर्चनक्रम और विधान बताने के बाद दिक्पाल-बलि की आवश्यकता प्रतिपादित की गयी है। तत्पश्चात् दीक्षार्थी को 'स्वाप मन्त्र' का उपदेश, शयन-विधि और रात में देखे गये स्वप्न का फलाफल निरूपित करने के बाद विस्तार से मन्त्रदीक्षा का विधान बताया गया है। इस क्रम में मन्त्रदेवता के षोडशोपचार अर्चन तथा दीक्षाङ्ग हवन की विधि बतायी गयी है। इसके बाद दीक्षार्थी की देह में षडध्व-चिन्तन, हवनपूर्वक षडध्व-शोधन, शिष्य का अभिषेक, बाला विद्या की दीक्षा, गण्डूष-दान के बाद देय मन्त्र का यथाक्रम निरूपण करने के बाद यह प्रतिपादित किया गया है कि यदि दीक्षा कुलाचारक्रम से दी जा रही हो तो मकारपञ्चक द्रव्यों का यथाविधान शोधन करके उनसे भगवती का अर्चन किया जाय। दीक्षा-प्रसङ्ग में सर्वाधिक उल्लेखनीय बात यह है कि दीक्षा के दिन गुरु और शिष्य—दोनों के लिये उपवास करना सर्वथा वर्जित और निषिद्ध है। गुरु और शिष्य—इन दोनों में से जो भी उपवास करता है, उसे पाप लगता है तथा दीक्षा निष्फल हो जाती है। इस प्रकाश में १६५ श्लोक हैं।

षष्ठ प्रकाश—पिछले प्रकाश में यह कहा गया था कि मन्त्रदीक्षा देने के पूर्व गुरुदेव शिष्य को षट्चक्र विज्ञान की शिक्षा दें। इसी क्रम में ५६ श्लोकों के इस प्रकाश में षट्चक्र का निरूपण किया गया है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि यह प्रकाश इस ग्रन्थ का इतना महत्त्वपूर्ण भाग है, जिसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का दर्जा प्राप्त है तथा कालिचरण सिद्धान्त के अतिरिक्त शङ्कर और विश्वनाथ-नामक विद्वानों ने इस पर विस्तृत भाष्यों की रचना की है। इस प्रकाश में मूलाधार आदि चक्रों का इतना संश्लिष्ट, तथापि विस्तृत एवं शास्त्र-सम्मत निरूपण किया गया है कि इसका अध्ययन कर लेने के बाद सामान्य सन्दर्भ के लिये अन्य ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं रह जाती। मेरुदण्ड में इडा-पिङ्गला और सुषुम्णा तथा चित्रणी और ब्रह्मनाड़ी की स्थिति का निरूपण करने के बाद मूलाधार आदि षट्चक्रों का विवरण दिया गया है। यथा—

मूलाधार चक्र—गुदाद्वार से दो अङ्गुल ऊपर मूलाधार चक्र है। इस चक्र में लाल रङ्ग के चार दल हैं, जिन पर सुनहरे रङ्ग के 'वं-शं-षं-सं'—ये चार वर्ण अङ्कित हैं। कर्णिका में चतुष्कोणात्मक धरामण्डल है, जिसके मध्य में पीले रङ्ग का धराबीज (ल) अङ्कित है। ऐरावत पर आसीन धराबीज की गोद में शिशु

रूपधारी ब्रह्माजी विराजित हैं। उनके समीप इसकी अधिष्ठात्री डाकिनी देवी विराजिता हैं। वज्रा नाड़ी के मुख-प्रदेश और मूलाधार चक्र की कर्णिका में चमकदार त्रिकोणमण्डल है, जिसमें कन्दर्प वायु का वास है। इस त्रिकोण मण्डल में ही भगवान् शिव के स्वयम्भू लिङ्ग का वास है। इस स्वयम्भू लिङ्ग को साढ़े तीन वलयों से लपेटकर देवी कुण्डलिनी नागिन की तरह निद्रामग्न है। इस स्वयम्भू लिङ्ग में कुण्डलिनी के ऊपर परा शक्ति का वास है। मूलाधार चक्र तथा कुलकुण्डलिनी के निरूपणक्रम में उनका ध्यान करने का फल भी बताया गया है।

मूलाधार के बाद इतने ही विस्तार से यथाक्रम स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र का निरूपण करते हुए प्रत्येक चक्र में दलों की संख्या, उनका वर्ण, प्रत्येक दल पर अङ्कित अक्षर तथा उनके रङ्ग, तत्त्व-मण्डल, तत्त्वाक्षर, प्रत्येक चक्र में विराजित देवता, प्रत्येक चक्र की अधिष्ठात्री शक्ति आदि का विवरण देते हुए प्रत्येक चक्र के ध्यान का फल बताया गया है।

षट्चक्र-निरूपण के बाद बताया गया है कि सुषुम्णा नाड़ी के ऊपरी भाग के अन्त में शुक्ल वर्ण का अधोमुखी सहस्रदल कमल है। इसकी कर्णिका में चन्द्रमण्डल है, चन्द्रमण्डल में त्रिकोण है, त्रिकोण में परं बिन्दु है, जिसमें चन्द्रमा की 'अमा'-नामक सोलहवीं कला का वास है। इस अमा कला में निर्वाण कला (१७वीं कला) है। इस कला में निर्वाण शक्ति है। उसकी कर्णिका में परमशिव है। परमशिव ही परं ब्रह्म है और इस परं पद को प्राप्त करना ही साधना का सर्वोच्च ध्येय है। इस लक्ष्य की प्राप्ति का एक शास्त्रसम्मत साधन है—कुण्डलिनीयोग। चूँकि मन्त्रजप और तज्जनित ऊर्जा की सार्थकता कुलकुण्डलिनी को जागृत करके परं पद की प्राप्ति है, अत: मन्त्रदीक्षा के साथ कुण्डलिनीयोग के आधारस्तम्भ षट्चक्र का सम्यक् ज्ञान दिया जाना दीक्षा का आवश्यक अङ्ग है।

सप्तम प्रकाश—दीक्षा और साधना का एक अविभाज्य अङ्ग है—हवन-कर्म। अत: हवनकर्म के प्रसङ्ग में इस प्रकाश में हवनकुण्डों के लक्षण, उनके भेद, इन कुण्डों की मेखला, नाल तथा नाभि के स्वरूप और मान तथा हवन के अनिवार्य उपकरण स्रुक् और स्रुव के लक्षण और मान का निरूपण किया गया है। तन्त्रग्रन्थों में आठ प्रकार के कुण्डों का उल्लेख मिलता है। यथा—१. चतुरस्र कुण्ड, २. योनिकुण्ड, ३. अर्धचन्द्रकुण्ड, ४. त्रिकोणकुण्ड, ५. वृत्तकुण्ड, ६. षट्कोण कुण्ड, ७. पद्मकुण्ड और ८. अष्टभुज कुण्ड। प्रस्तुत ग्रन्थ में इनमें

से १. चतुरस्र कुण्ड, २. योनिकुण्ड, ३. त्र्यस्र कुण्ड, ४. वर्तुल कुण्ड, ५. अर्धचन्द्र कुण्ड और ६. पद्मकुण्ड के लक्षण बताये गये हैं। कुण्डों का लक्षण बताने के बाद विभिन्न प्रकार के कुण्डों में मेखलाओं की ऊँचाई, लम्बाई तथा चौड़ाई, कुण्डों की गहराई, कुण्ड में नाल, योनि और नाभि का परिमाण तथा स्रुक् एवं स्रुव का मान बताया गया है। इस प्रकाश में ७० श्लोक हैं।

अष्टम प्रकाश—एक सौ उन्नीस (११९) श्लोक के इस प्रकाश में होम-विधि का निरूपण किया गया है। इसके अन्तर्गत कुण्ड (या स्थण्डिल) संस्कार, अग्नि के माता-पिता वागीश्वरी और वागीश्वर का ध्यान एवं अर्चन, अग्नि-आनयन, क्रव्यांश-त्याग, कुण्ड में अग्नि का स्थापन एवं प्रज्ज्वलन, अग्नि की सात जिह्वाओं तथा उनके अधिदेवताओं के नाम, उनके न्यास और पूजन की विधि, अग्नि का षडङ्ग-न्यास एवं मूर्तिन्यास, कुण्ड का परिस्तरण, परिधि-स्थापना, स्रुक् एवं स्रुव आदि पात्रों का शोधन तथा स्थापन, घृत के संस्कार, महाव्याहृति होम, ब्रह्माजी का पूजन, कुण्ड में अग्नि के गर्भाधान आदि पञ्चदश संस्कारों के सम्पादन के मन्त्र एवं विधि, अग्नि की जिह्वाओं, षडङ्गों तथा अष्टमूर्तियों को घृत-आहुतिदान, महागाणपत्य होम, वक्त्र-एकीकरण, नाड़ी-सन्धान, आवरण-देवताहोम के बाद सङ्कल्प लेकर मूल मन्त्र से हवन करने का विधान बताया गया है। जिह्वाभेद से हवन का फलभेद, होम की मुद्राओं तथा कुमारी एवं सुवासिनी-पूजन के बाद पूर्णाहुति, आत्मसमर्पण तथा विसर्जनात्मक कर्म बताये गये हैं।

इस प्रकाश के अन्त में (श्लोकसंख्या १०० और १०१) वाराही तन्त्र के हवाले से बताया गया है कि तान्त्रिक विधि से हवन करने का अधिकार केवल द्विज जातियों को है। शूद्रों को उसका अधिकार नहीं है, फिर भी यदि शूद्र साधक हवन करना ही चाहे तो वह आहुति डालते समय 'स्वाहा' का उच्चारण न करके उसके स्थान पर 'नमः' का उच्चारण करे।

नवम प्रकाश—इस प्रकाश में यह बताया गया है कि किस कर्म या किस प्रयोजन के लिये किस या किन द्रव्यों से हवन किया जाय। विभिन्न प्रकार के पुष्प, शहद, घी, गुग्गुल, कपूर, कस्तूरी, चन्दन, दूध, दही, लाजा, सत्तू, तिल, चावल, जौ, शक्कर, गुड़, बेर, नारङ्गी, अङ्गूर, खजूर, नारियल, पके आम, जामुन, केला, बेल, गन्ना सर्वमान्य हवनीय द्रव्य हैं। इनसे हवन करने से अलग-अलग फलों की प्राप्ति होती है। शत्रु-सेना के विनाश, आकाश-गमन की सिद्धि तथा किसी राज्य या किले पर आधिपत्य प्राप्त करने के लिये बकरे के रक्त-

मिश्रित मांस तथा महामांस से हवन करने का भी विधान बताया गया है। इन द्रव्यों का परिमाण (मात्रा) या आहुति का मान बताने के बाद अरि-मन्त्र के त्याग की विधि बतायी गयी है।

दसवाँ प्रकाश—इस दसवें प्रकाश से भगवती महात्रिपुरसुन्दरी के विभिन्न रूपभेदों के मन्त्रों के उद्धार तथा मन्त्रस्वरूप-निरूपण का क्रम प्रारम्भ हुआ है, जो अगले तीन प्रकाशों तक जारी रहेगा। इस प्रकाश में सर्वप्रथम पञ्चमी विद्या, एकाक्षरी विद्या एवं त्रिकूट तथा चतुष्कूट मन्त्रों के भेद बताये गये हैं। २२७ (दो सौ सत्ताईस) श्लोकों वाले इस प्रकाश में कुल मिलाकर २२ (बाईस) मन्त्रों का उद्धार बताया गया है। इनमें प्रमुख हैं—पञ्चकूटा पञ्चमी विद्या का पञ्चविंशद् (२५) अक्षरी और उसके प्रकारान्तर भेद, एकाक्षरी, एकादशाक्षरी, एकविंशदक्षरी, उन्मनी, अष्टादशाक्षरी, विंशत्यक्षरी, पञ्चविंशत्यक्षरी, सप्तविंशत्यक्षरी, द्वात्रिंशदक्षरी, त्रिकूटा विद्यायें, ऊनत्रिंशदक्षरी (२९), द्वात्रिंशदक्षरी (३२) तथा सप्तत्रिंशदक्षरी (३७) चतुष्कूटा विद्यायें। इस प्रकाश में दो विशेष बातें बतायी गयी हैं। प्रथम तो यह कि एकाक्षरी विद्या के साधक को किसी अन्य मन्त्र की साधना नहीं करनी चाहिये (सन्दर्भश्लोकसंख्या—७०)। दूसरी बात यह कि सुप्रसिद्ध शाम्भव कामराज पञ्चदशाक्षरी विद्या सर्वथा कीलिता है (सन्दर्भश्लोकसंख्या—१६२)।

ग्यारहवाँ प्रकाश—इस प्रकाश में शाक्त कामराज विद्या, भेदों के सहित लोपामुद्रा विद्या तथा शाक्त पञ्चमी के भेदों का निरूपण किया गया है। ६५ (पैंसठ) श्लोकों के इस प्रकाश में २५ मन्त्रों के उद्धार बताये गये हैं। इनमें प्रमुख हैं—पूर्वाम्नाय की शाक्त कामराज विद्या, पश्चिमाम्नाय की शाक्त लोपामुद्रा विद्या तथा उसके भेद, नवाक्षरी रुद्र शक्ति, मदद्रवा विद्या, उत्तराम्नाय की पञ्चदशाक्षरी लोपामुद्रा विद्या, जलेशी विद्या तथा शाक्त पञ्चमी के अनेक भेद।

बारहवाँ प्रकाश—इस प्रकाश में त्रिपुरामन्त्रों के मेरुमन्त्र-सहित विविध देवताओं तथा ऋषियों के द्वारा आराधित शुद्ध बारह (१२) विद्याभेदों का उद्धार बताया गया है। ये हैं—१. मेरुमन्त्र तथा २. मनु-आराधिता विद्या। इसके बाद मनु-आराधिता विद्या को आधार बनाकर और १० (दस) विद्याओं का उद्धार बताया गया है। ये विद्यायें हैं—१. चन्द्राराधिता विद्या, २. कुबेर-सेविता विद्या, ३. कामराज-सेविता विद्या, ४. अगस्त्य-आराधिता प्रथम लोपामुद्रा विद्या, ५. नन्दि-पूजिता विद्या, ६. सूर्य-आराधिता विद्या, ७. विष्णु-आराधिता (षट्कूटा), ८. स्कन्द-आराधिता, ९. शङ्कर-आराधिता (चतुष्कूटा) और (१०) दुर्वासा-

पूजिता विद्या। ये बारह शुद्ध विद्यायें हैं। शुद्ध विद्याओं का उद्धार बताने के बाद २० (बीस) शबल अर्थात् शुद्धाशुद्ध विद्याओं का उद्धार बताया गया है। तत्पश्चात् पञ्चमी विद्या के पाँच कूटों के पाँच दीपनी मन्त्र बताये गये हैं। इसके बाद पञ्चमी विद्या के कामराज कूट, स्वप्नावती कूट तथा मधुमती कूट के आदि में क्रमश: 'क्लीं' 'श्रीं' और 'ह्रीं' बीजों की योजना करके उनका क्रमश: मूलाधार, अनाहत तथा सहस्रार में ध्यान करें। यह दीपनी योग का द्वितीय प्रकार या द्वितीय विधि है। द्वितीय के बाद तृतीय दीपनी-विधि बतायी गयी है। इसके बाद अन्य त्रिकूटा विद्याओं के दीपनी मन्त्र बताये गये हैं। वामकेशी विद्या के प्रथम दीपनी-मन्त्र का उद्धार बताने के बाद इस विद्या के प्रत्येक कूट के प्रत्येक घटक वर्ण अर्थात् 'क'कार, 'ए'कार, 'ई'कार, 'ल'कार तथा 'ह'कार आदि की षट्चक्रों में स्थिति और स्वरूप का निरूपण करते हुए उनका अर्थ स्पष्ट किया गया है। अन्त में सौभाग्यविद्या के घटक वर्णों की विभूतियों का निरूपण किया गया है। इस प्रकाश में १३४ (एक सौ चौंतीस) श्लोक हैं। मन्त्रोद्धारों के इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए अगले तेरहवें प्रकाश में षोडशी विद्याओं का उद्धार बताया गया है।

तेरहवाँ प्रकाश—इस प्रकाश में षोडशी विद्या तथा उसके रूपभेदों का निरूपण किया गया है। षोडशी विद्या की विशेषता यह है कि वर्णमयी प्रतीत होने के बावजूद यह वर्णातीता तथा अनुच्चार्या है। अत: उच्चार्यमाण मन्त्रों की तरह इसका जप नहीं किया जा सकता। इस प्रकाश के प्रारम्भिक श्लोकों में षोडशी विद्या की विशिष्टतायें बताने के बाद इसके विभिन्न रूपभेदों का उद्धार बताया गया है। यथा—पिछले प्रकाश में कामराज-उपासिता आदि जो शुद्ध बारह भेद बताये गये हैं, उनमें से किसी भेद के आदि में 'ह्रीं' और 'श्रीं' की योजना करने से वे सभी विद्यायें षोडशी विद्यायें बन जाती हैं। इन दो कूटों (अर्थात् ह्रीं-श्रीं) की योजना करने से त्रिकूटा विद्यायें पञ्चकूटा, चतुष्कूटा शाङ्करी विद्या षट्कूटा और षट्कूटा वैष्णवी विद्या अष्टकूटा षोडशी विद्या बन जाती है। इन पञ्चकूटा विद्याओं के आदि में प्रणव (ॐ) की योजना करने से ये विद्यायें शिव-शक्तिमयी षट्कूटा षोडशी विद्या(यें) बन जाती हैं। वामकेशी और लोपामुद्रा विद्याओं के आदि में 'क्लीं' या 'ह्रीं' या 'श्रीं' की योजना करने से क्रमश: १. कन्दर्प-आराधिता, २. श्रीकृष्ण-आराधिता और ३. लक्ष्मी-आराधिता—ये तीन-तीन भेद बनते हैं। वामकेशी/लोपामुद्रा विद्याओं के आदि में व्यत्ययक्रम से इन्हीं तीन बीजों (क्लीं ह्रीं श्रीं) की योजना करने से इन विद्याओं के और तीन-तीन भेद हो जाते हैं।

इन विद्याओं के आदि में 'ऐं' या 'सौः' अथवा 'ॐ' की योजना करने से बृहस्पति-आराधिता, परा बीजाद्या तथा तारपूर्वा षोडशी विद्याओं की निष्पत्ति होती है। पैंसठ (६५) श्लोकों वाले इस प्रकाश के अन्त में षोडश-कूटा षोडशी विद्या का उद्धार बताया गया है। इसके साथ ही मन्त्रोद्धारों का जो क्रम दसवें प्रकाश से प्रारम्भ हुआ था, वह पूर्ण हो जाता है।

चौदहवाँ प्रकाश—पिछले चार प्रकाशों में भगवती त्रिपुरा के विभिन्न मन्त्रों का उद्धार बताने के बाद इस प्रकाश से सपर्या-क्रम का निरूपण प्रारम्भ किया गया है। इसमें प्रथम है—गुरुदेव तथा गुरुमण्डल का अर्चन। सपर्या का यह क्रम ब्राह्म-मुहूर्त में निद्रात्याग के बाद से फौरन शुरू हो जाता है। सोकर उठने के बाद और जमीन पर पैर रखने के पूर्व बिस्तर पर बैठे-बैठे ही गुरुवन्दना की जाती है। सहस्रार में गुरुदेव का ध्यान करके पञ्चोपचार से पूजन तथा गुरुमन्त्र का जप किये जाने का विधान है। एतदर्थ दो मन्त्र हैं; एक है ४८ अक्षरों का और दूसरा है २३ अक्षरों का। इन दोनों मन्त्रों का उद्धार बताने के बाद गुरुदेव की वन्दना की जाती है। गुरुपूजन का प्रसङ्ग प्राप्त होने के कारण ९ (नौ) कुलगुरुओं के नाम तथा ध्यान बताने के बाद उनके पूजन-मन्त्र बताये गये हैं। साधक को अपने गुरुदेव का अर्चन करने के बाद इन कुलगुरुओं का सहस्रार में ध्यान एवं अर्चन करना चाहिये। इन कुलगुरुओं की उपचारवती पूजा के नौ (९) उपचार हैं। यथा—१. गन्ध, २. पुष्प, ३. धूप, ४. दीप, ५. नैवेद्य, ६. ताम्बूल, ७. आचमन, ८. स्तोत्र और ९. आत्मसमर्पण। इन ९ उपचारों से गुरुमण्डल के पूजन के सात पर्व हैं। यथा—१. अपने गुरुदेव का जन्म-दिवस, २. अपना दीक्षादिवस, ३. अपना जन्मदिवस, ४. गुरुदेव का निधनदिवस, ५. अक्षरत्रयसम्पातदिवस, ६. अमावस्या तथा ७. पूर्णिमा। देवीमानरीति से बनाये गये तान्त्रिक पञ्चाङ्ग के अनुसार जिस दिन वर्ग के दो अक्षर तथा घटिका के एक अक्षर एक साथ मिलते हैं, उस दिन को 'अक्षरत्रय सम्पात-दिवस' कहते हैं। इनमें पूर्णिमा को १४४ कोष्ठकों वाले षोडश अक्षरीय मण्डल पर तथा शेष ६ पर्वों पर ८१ कोष्ठकों वाले ९ अक्षरीय मण्डल पर गुरुमण्डल का अर्चन किया जाता है। इन दोनों मण्डलों के चित्र ग्रन्थ के ५५७ और ५५५ पृष्ठ पर उपलब्ध हैं। प्रातः कृत्य के अन्तर्गत गुरु-अर्चन की विधि बताने के बाद दन्त-धावन एवं स्नानविधि बतायी गयी है। त्रिपुरा के साधक को प्रातःकाल, मध्याह्न काल, सायंकाल तथा मध्य रात्रि में यथाक्रम चार बार सन्ध्यावन्दन करना चाहिये। इस प्रकाश में इन चारो सन्ध्याओं की विधि बतायी गयी है। इस प्रकाश में १०७ (एक सौ सात) श्लोक हैं।

पन्द्रहवाँ प्रकाश—पिछले प्रकाश में प्रात:कृत्य के अन्तर्गत स्नान की संक्षिप्त विधि बतायी गयी है। इस प्रकाश में भगवती की सपर्या का अधिकार प्राप्त करने के लिये आन्तर स्नान और बहि: स्नान, आचमन, अघमर्षण तथा सन्ध्यावन्दन की विधि का उल्लेख किया गया है। स्नान और सन्ध्यावन्दन करके साधक को यागमण्डप में आकर यथाविधि पृथ्वी-पूजन, गणेश-पूजन, विघ्नोत्सारण, गुरुपंक्ति-पूजन, षडङ्ग-न्यास के बाद भूतशुद्धि करनी चाहिये। इस प्रकाश में इस कर्मकाण्ड की विधि बताने के बाद न्यास-विधान बताया गया है। भूतशुद्धि के बाद मूल मन्त्र का ऋष्यादि न्यास, अन्तर्मातृका न्यास, बहिर्मातृका न्यास के बाद कल्पोक्त न्यासों का क्रम बताया गया है। इसके अन्तर्गत बताये गये न्यास हैं—षडासन-न्यास, वशिनी आदि अष्ट वाग्देवता न्यास, फिर लघुषोढा न्यास। लघु षोढा के अन्तर्गत किये जाने वाले न्यास हैं—१. गणेशन्यास, २. ग्रहन्यास, ३. नक्षत्रन्यास, ४. योगिनीन्यास, ५. राशिन्यास और ६. पीठन्यास। लघुषोढा न्यास के बाद काम-रतिन्यास, नव योनिन्यास, श्रीविद्यान्यास, तिथिनित्यान्यास, स्थिति-सृष्टि एवं संहारक्रम से अक्षर-न्यास, चक्रेश्वरी न्यास, पीठन्यास, तत्त्व-न्यास, अस्त्रन्यास, कूटन्यास, त्रिपुरान्यास एवं नौ चक्रन्यास। इस प्रकाश में १०७ श्लोक हैं।

सोलहवाँ प्रकाश—इस प्रकाश में अन्तर्याग की विधि बतायी गयी है। न्यासजाल-सम्पादन के बाद अपने हृदयप्रदेश में मण्डूक आदि पीठदेवताओं तथा इष्टदेवता की पीठशक्तियों का न्यास-पूर्वक अर्चन करके उस पर इष्टदेवता का आह्वान किया जाता है। तत्पश्चात् मुद्राओं की सहायता से उनकी पञ्चोपचार अथवा षोडशोपचार पूजा की जाती है। पूजन के बाद अक्षमाला से मन्त्रजप तथा अन्त में अन्तर्होम किया जाता है। तन्त्रोपदिष्ट साधना-विधि में यह अन्तर्याग ही प्रधान या प्रमुख है। अन्तर्याग के विना यन्त्र या प्रतिमा पर देवता की विभिन्न उपचारों से की गयी पूजा का सम्यक् फल नहीं मिलता। एक सौ तीस (१३०) श्लोकों वाले इस प्रकाश में इसी अन्तर्याग की विधि विस्तार से बतायी गयी है।

सत्रहवाँ प्रकाश—पिछले सोलहवें प्रकाश में अन्तर्याग-विधि का निरूपण करने के बाद इस प्रकाश से बहिर्याग-विधि का निरूपण प्रारम्भ किया जा रहा है। देवता का पूजन-यन्त्र उसके बहिरङ्ग अर्चन का आधार है। अत: यन्त्र और देवता के परस्पर सम्बन्धों का निरूपण करते हुए बताया गया है कि मनुष्य के समान देवता के भी त्रिविध शरीर होते हैं। यथा—१. ज्ञानमय शरीर, २. मनोमय शरीर और ३. भौतिक शरीर।

ज्ञानमय शरीर—देवता का मन्त्र ही उसका ज्ञानमय शरीर है, जो अक्षर, अजर, अमर और अविनाशी है। मन्त्रजप के द्वारा उसके इस ज्ञानमय शरीर की आराधना की जाती है। भगवती त्रिपुरा के विभिन्न मन्त्ररूप ज्ञानमय शरीरों का प्रकाशन पिछले प्रकाशों में किया जा चुका है।

मनोमय शरीर—देवता का पूजन यन्त्र देवता का मनोमय शरीर है, जिसमें देवता के ज्ञानमय शरीर का वास होता है; अतः यन्त्र और देवता में परस्पर अटूट सम्बन्ध होता है। इस प्रकाश का प्रतिपाद्य विषय भगवती त्रिपुरा का यह मनोमय शरीर ही है।

भौतिक शरीर—देवता के पूजन के समय हाथ की अङ्गुलियों से जो विभिन्न संरचनायें और आकृतियाँ बनायी जाती हैं, उन्हें 'मुद्रा' कहते हैं। इन मुद्राओं की दो कोटियाँ या प्रकार हैं। प्रथम है—सर्वदेवोपयोगी सामान्य मुद्रायें; यथा आवाहनी, संस्थापनी, सन्निरोधनी आदि। इन मुद्राओं से साधक देवता का आह्वान करके उसे अपने सम्मुख अपने समीप में प्रतिष्ठित करता है, अवगुण्ठित करता है, निराकार रूप से आगत देवता के निराकार शरीर में षडङ्ग मन्त्रों से हृदय आदि षडङ्ग का सञ्चार अर्थात् सकलीकरण करके परमीकरण मुद्रा से उसके साकार कलेवर का परमीकरण करता है। फिर जीवन्यास की लेलिहान मुद्रा से उसमें त्वक्-मनः-चक्षुः-घ्राण-श्रोत्र-प्राण-जीव का सञ्चार करके उसे जीवन्त मूर्त रूप प्रदान करता है। स्वागत करता है। तत्पश्चात् पाद्य, आचमन आदि उपचारमुद्राओं से देवता को पाद्य-आचमन-मधुपर्क-स्नानीय-वस्त्र-आभूषण-पुष्प-धूप-दीप-नैवेद्य-ताम्बूल आदि उपचार प्रदान करता है। पूजा-स्तवन के बाद संहारमुद्रा से देवता को पूजन यन्त्र से विसर्जित करके अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर लेता है। ये उपचारवती मुद्रायें सभी देवताओं के पूजन में समान रूप से उपयोगी हैं। इस उपचारवती बहिरङ्ग पूजा के दौरान वह अपने इष्टदेवता के लिये यथानिर्दिष्ट विशिष्ट मुद्रायें भी प्रदर्शित करता है। ये विशिष्ट मुद्रायें देवता की 'भौतिक काया' हैं। ये मुद्रायें दिखाकर साधक यह प्रदर्शित करता है कि वह देवता के तत्त्वमय ज्ञान-रूप से तथा ज्ञान की विशिष्ट-विशिष्ट अवस्थाओं से परिचित है। इसीलिये मुद्राओं के प्रदर्शन से देवता को प्रसन्नता होती है। भगवती त्रिपुरा के प्रसङ्ग में योनिमुद्रा प्रधान या अङ्गी मुद्रा है तथा शेष सर्वसंक्षोभिणी आदि मुद्रायें अङ्गमुद्रायें हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में इन मुद्राओं का परिचय दिया गया है (भाष्य में यथास्थान इन मुद्राओं के चित्र भी हैं)।

मुद्राओं का परिचय (लक्षण) देने के बाद इस प्रकाश के मुख्य प्रतिपाद्य विषय अर्थात् श्रीयन्त्र के अङ्कन की औपचारिकतायें और उसके अङ्कन (निर्माण)

की विधि बतायी गयी है। भाष्य में श्रीयन्त्र-अङ्कन की विधि का विस्तार से निरूपण किया गया है। यह श्रीयन्त्र बिन्दु, त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, चतुर्दशार, अष्टदल, षोडशदल, फिर वृत्त और उसके ऊपर तीन भूपुर से बना है। उसमें ४३ त्रिकोण, २८ मर्म और २४ सन्धियाँ हैं। इस श्रीयन्त्र में ९ (नौ) आवरण हैं। ग्रन्थ में इन चक्रों के स्वरूप, उनकी पारिभाषिक संज्ञा, प्रत्येक चक्र की अधीश्वरी शक्ति तथा प्रत्येक चक्र में पूजिता शक्तियों के शुभ नाम बताये गये हैं। इसका विवरण निम्न तालिका में दिया जा रहा है—

चक्र	चक्र का नाम	चक्रेश्वरी	पूज्य-देवता
बिन्दु	सर्वानन्दमय चक्र	महात्रिपुरसुन्दरी	१
त्रिकोण	सर्वसिद्धिप्रद चक्र	त्रिपुराम्वा	३
अष्टकोण	सर्वरोगहर	त्रिपुरासिद्ध	८
अन्तर्दशार	सर्वरक्षाकर	त्रिपुरमालिनी	१०
बहिर्दशार	सर्वार्थसाधक	त्रिपुराश्री	१०
चतुर्दशार	सर्वसौभाग्यदायक	त्रिपुरवासनी	१४
अष्टदल	सर्वसंक्षोभण	त्रिपुरसुन्दरी	०८
षोडशदल	सर्वाशापरिपूरक	त्रिपुरेशी	१६
भूपुर	त्रैलोक्यमोहन	त्रिपुरा	२८

उपर्युक्त तालिका में जो नौ (९) चक्र बताये गये हैं, उनमें से चार शिवचक्र और पाँच शक्तिचक्र हैं। बिन्दुचक्र, अष्टदल कमल, षोडशदल कमल और भूपुर—ये चार शिवचक्र हैं। त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशार, बहिर्दशार एवं चतुर्दशार—ये पाँच शक्तिचक्र हैं। ये शिवचक्र और शक्तिचक्र परस्पर संश्लिष्ट हैं, जैसा कि ब्रह्माण्डपुराण में कहा गया है—

त्रिकोणे बैन्दवं श्लिष्टमष्टारेऽष्टदलाम्बुजम्।
दशारयोः षोडशारं भूपुरं भुवनास्रके॥

बिन्दुचक्र त्रिकोण के साथ, अष्टारचक्र अष्टदल कमल के साथ, दोनों दशार षोडश दल कमल के साथ और चतुर्दशार भूपुर के साथ संश्लिष्ट है। इस तरह यह चक्र जगत् के माता-पिता अर्थात् शक्ति और शिव के संश्लिष्ट युगपत् रूप की अभिव्यक्ति है। भगवान् शङ्कराचार्य का कथन है कि श्रीचक्र में शिव और शक्ति का पञ्चविध साम्य है। यथा—१. अवस्थानसाम्य, २. अधिष्ठानसाम्य, ३. अनुष्ठानसाम्य, ४. रूपसाम्य तथा ५. नामसाम्य। इस पञ्चविध साम्य के कारण श्रीयन्त्र में शिव-दम्पति का युगपत् पूजन किया जाता है।

श्रीचक्र के अङ्कन-विधान में बताया गया है कि किस तरह इसके एक चक्र से दूसरे चक्र का विकास किया जाता है। बिन्दु से प्रारम्भ कर भूपुर-पर्यन्त चक्रों का यह विकास-क्रम शब्द और अर्थसृष्टि के क्रम-वार पारमार्थिक विकास का अभिव्यञ्जक है। इसके प्रत्येक चक्र का एक विशिष्ट पारमार्थिक रहस्य है। ग्रन्थ के इस प्रकाश में इन समस्त चक्रों का रहस्य निरूपित किया गया है। यह रहस्य-प्रतिपादन के पश्चात् श्रीयन्त्र पर भगवती त्रिपुरा और उनकी आवरणशक्तियों के अर्चन के लिये पीठपूजाविधि का विस्तार से निरूपण किया गया है। पीठ-पूजन का अर्थ है—भगवती की पीठशक्तियों का अर्चन। इसे आप मन्दिर-पूजन भी समझ सकते हैं। इसमें ११३ श्लोक हैं।

अष्टादश प्रकाश—श्रीयन्त्र पर पीठ-पूजन की विधि बताने के बाद ६१५ (छः सौ पन्द्रह) श्लोकों वाले इस प्रकाश में भगवती के सपर्या-विधान का विस्तार से निरूपण किया गया है। यदि हम इस सपर्या-विधान और क्रम का विश्लेषण और मनन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह केवल भगवती का अर्चन नहीं; अपितु उनके साथ ब्रह्माण्ड की समस्त आधारभूता शक्तियों का अर्चन है और ये आधारभूता शक्तियाँ वस्तुतः भगवती त्रिपुरा की ही विभूतियाँ हैं। इसीलिये पात्र-स्थापना के क्रम में ही अग्निमण्डल, सूर्यमण्डल और चन्द्र-मण्डल की उनकी कलाओं के साथ अर्चना की जाती है। कलश तथा विशेष अर्घ्य के द्रव्य में आनन्दभैरव और आनन्दभैरवी का अर्चन किया जाता है। आनन्दभैरवदम्पति परं ब्रह्म के आनन्द अंश की प्रतिमूर्ति हैं। आनन्दभैरव और आनन्दभैरवी के सामरस्य से उद्भूत दिव्य रस से संयुक्त कलश/विशेष अर्घ्य का द्रव्य भगवती को समर्पित करके साधक उनसे इसी ब्रह्मानन्द के प्रतिदान की याचना करता है। इसी तरह प्रत्येक उपचार में एक पारमार्थिक रहस्य तथा भाव तिरोहित है। दूसरी बात यह कि कोई भी उपचार, चाहे वह जल हो या पुष्प, धूप हो या दीप, अपने प्रकृत रूप में समर्पित नहीं किया जाता। प्रत्येक उपचार का यथाविधान शोधन और संस्कार करने के बाद ही वह भगवती को समर्पित किया जाता है।

यदि हम और भी विचार करें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि गन्ध-पुष्प-धूप-दीप और नैवेद्य से की गयी पञ्चोपचार पूजा ही मूल पूजा है। दशोपचार, षोडशोपचार, अष्टादशोपचार अथवा चतुःषष्टि (६४) उपचारवती पूजा इस पञ्चोपचार पूजा का विस्तारमात्र है। पञ्चोपचार पूजा वस्तुतः पृथ्वी आदि पञ्चतत्त्वों का समर्पण है। गन्ध पृथ्वी का, पुष्प आकाश का, धूप वायु का, दीप अग्नि का

और नैवेद्य जल का प्रतीक है। 'लं-हं-यं-रं-वं' इन पाँचों तत्त्वों अर्थात् पृथ्वी-आकाश-वायु-अग्नि और जल के बीजाक्षर हैं। भगवती पञ्चमी इन पाँचों तत्त्वों की समाहार मूर्ति होने के कारण ब्रह्माण्ड की ज्ञानमयी प्रतिमूर्ति हैं। पञ्चायतनी क्रम के विष्णु आदि पाँचों देवता भी इन्हीं पञ्चतत्त्वों के अधिदेवता हैं। यथा—

आकाशस्याधिपो विष्णुः अग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः सितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः।।

अर्थात् आकाश के अधिपति विष्णु हैं, महेश्वरी त्रिपुरा अग्नि की, सूर्य-नारायण वायु के, भगवान् शिव पृथ्वी के और जीवन अर्थात् जल के अधिपति भगवान् गणेश हैं। आकाश के स्वामी भगवान् विष्णु सत्त्व गुण के नियन्ता हैं, वायु के अधिदेवता भगवान् सूर्य रजोगुण-मिश्रित सत् गुण के नियन्ता हैं, अग्नि अर्थात् 'तेजः' पूर्णतः रजोगुणात्मक है। क्रिया शक्तिप्रधाना भगवती महेश्वरी रजोगुण की अधिदेवता हैं। जल में 'रज' और 'तम' दोनों गुण मिश्रित हैं। अतः जल के अधिदेवता भगवान् गणेश तम-मिश्रित रजोगुण के नियन्ता हैं। पृथ्वी तत्त्व पूर्णतः तमःप्रधान है और प्रलयङ्कारी शुभङ्कर भगवान् शिव पृथ्वी तत्त्व के नियन्ता हैं।

त्रिपुरा क्रम में भगवती त्रिपुरसुन्दरी पञ्चभूतमयी हैं, जैसा कि ग्रन्थ के दशम प्रकाश में कहा गया है—

देवी पञ्चात्मकं सर्वं जगदेतच्चराचरम्।
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशसम्भवम्।।

इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति भगवती त्रिपुरसुन्दरी की ही विभूतियाँ हैं। सतो आदि गुणत्रय इच्छा आदि शक्तित्रय के अन्तरित रूप हैं। इच्छाशक्ति रजोगुण है, ज्ञानशक्ति सतोगुण है एवं क्रियाशक्ति तमोगुण है। क्रिया-शक्तिप्रधान तमोगुण से मन का, ज्ञान-शक्तिप्रधान सतोगुण से बुद्धि का और इच्छाशक्तिप्रधान रजोगुण से अहङ्कार का उद्भव होता है। इन गुणों का उदय हो जाने पर इनसे आकाश आदि पञ्चमहाभूतों का, उनसे शब्द आदि तन्मात्राओं का और उनसे कान आदि ज्ञानेन्द्रियों का उद्भव होता है। यही व्यष्टि और समष्टिरूप ब्रह्माण्ड है। चूँकि इनके मूल में भगवती त्रिपुरा ही हैं, अतः उन्हें पञ्चतत्त्वमयी और ब्रह्माण्डनायिका कहा गया है।

गन्ध आदि के समान ही कुलाचार के मद्य आदि पञ्चद्रव्य इन्हीं तत्त्वों के प्रतीक हैं। मद्य अग्नितत्त्व का, मांस पृथ्वीतत्त्व का, मीन जलतत्त्व का, मुद्रा वायुतत्त्व का और मैथुन आकाशतत्त्व का प्रतिनिधि या अभिव्यञ्जक है।

इस तरह तन्त्रोक्त पूजा-पद्धति ब्रह्माण्ड के घटकभूत तत्त्वों से ब्रह्माण्ड-नायिका का अर्चन है। चूँकि हम व्यष्टि और समष्टिरूप ब्रह्माण्ड के स्थूल घटक तत्त्वों का परिशुद्धतम सारतत्त्व ब्रह्माण्ड की मूल तत्त्वरूपिणी भगवती त्रिपुरा को समर्पित करके स्थूल से सूक्ष्म की ओर उन्मुख होते हैं, अत: इसे स्थूल से सूक्ष्म की ओर यात्रा का महाप्रयाण कहा जा सकता है।

यह है—भगवती त्रिपुरा की ज्ञानमयी पूजा का रहस्य, जिसके कर्मकाण्डमय क्रियास्वरूप का निरूपण इस प्रकाश में किया गया है। पूजारहस्य को आत्मसात् करके प्रतिदिन उपचारवती बहिरङ्ग पूजा का अभ्यास करते-करते वह स्थिति आ जाती है, जब साधक से बहिरङ्ग पूजा छूट जाती है और वह भगवती की ज्ञानमयी मानस पूजन में लीन हो जाता है। इसे ही ग्रन्थकार ने मानस कर्मयोग कहा है।

उन्नीसवाँ प्रकाश—पूजन के बाद देवता का स्तवन किया जाता है। इस क्रम में इस प्रकाश में विभिन्न ग्रन्थों से उद्धृत करके दो स्तव, दो कवच और एक शतनामस्तोत्र प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें प्रथम है—त्रिपुरार्णवतन्त्रोक्त त्रिपुरसुन्दरी स्तोत्र, जिसमें १७ श्लोक हैं। दूसरा है—भगवान् शङ्कराचार्यकृत 'श्रीक्रमस्तव', जिसमें ५६ श्लोक हैं। इस स्तव में श्रीचक्र का वर्णन प्रारम्भ कर पूजा-क्रम के अनुसार सभी आवरणदेवताओं के नामोल्लेख-पूर्वक उनकी वन्दना की गयी है। इसके बाद त्रिपुरार्णवतन्त्रोक्त 'त्रिपुरसुन्दरीकवच' तथा उसके बाद षोडशीकवच है। सबसे अन्त में त्रिपुरार्णव-तन्त्रोक्त त्रिपुरसुन्दरी शतनामस्तोत्र है।

बीसवाँ प्रकाश—इस प्रकाश में मन्त्र-पुरश्चरण की विधि बतायी गयी है। पुरश्चरण का अर्थ है—पूर्व-सेवा। अत: मन्त्र-पुरश्चरण का अर्थ है—मन्त्र की वह पूर्व-सेवा, जिसे सम्पादित करके दीक्षा में प्राप्त मन्त्र को प्राणवान, जीवन्त और कार्य-सक्षम बनाया जाता है। यह पुरश्चरण एक तपश्चर्या है तथा इसके विधि एवं निषेधमय कठोर नियम हैं। इन नियमों पर प्रकाश डालने के बाद इस प्रकाश में पुरश्चरण के लिये भूमि का संस्कार, कील-रोपण, कूर्म-चक्र, आसन-विमर्श एवं मालासंस्कार का कर्मकाण्ड निरूपित किया गया है। तत्पश्चात् पुरश्चरण के पाँचों अङ्गों अर्थात् १. जप, २. होम, ३. तर्पण, ४. अभिषेक और ५. ब्राह्मणभोजन के विधान पर प्रकाश डाला गया है। कई बार ऐसा भी होता है कि यथाविधि पुरश्चरण करने के बावजूद मन्त्र जागृत नहीं होता। इस स्थिति में मन्त्र को जागृत करने हेतु तन्त्रशास्त्र में द्रावण आदि सात उपाय बताये गये हैं। इन उपायों का प्रयोग-विधान बताने के बाद 'जपरहस्य' का निरूपण किया गया है। इस प्रकाश में १८० श्लोक हैं।

इक्कीसवाँ प्रकाश—इस प्रकाश में ब्रह्महत्या जैसे महापातकों से निवृत्ति पाने के लिये विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक पुष्पों और रत्नपुष्पों से श्रीविद्या-साधन-विधान बताया गया है। इसी क्रम में वार्षिकी दमन-पूजा, कुमारी-पूजन एवं सुवासिनी-पूजन तथा पवित्रारोपण की विधि बतायी गयी है। वर्ष के प्रत्येक माह की पूर्णिमा को की जाने वाली मासिक पूजा के लिये यथाविहित पुष्पों और द्रव्यों का निरूपण किया गया है। इस प्रकाश में १५१ श्लोक हैं।

बाईसवाँ प्रकाश—कुलाचारी साधना में ज्ञानदूतीयाग का अतिशय महत्त्व है। इस प्रकाश में इसी ज्ञानदूती याग का निरूपण किया गया है। तदनुसार प्रणव नामक भवन में इच्छा-ज्ञान और क्रिया-नामक दूतियों द्वारा रचित त्रिकोण-मण्डल पर ज्ञानमय शिवरूप पलङ्ग है, जो आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा-संज्ञक चार पायों से युक्त है।

वेदवाक्य 'तत्त्वमसि' (तत् त्वम् असि) विषयों को सञ्जोये हुए इस ग्रन्थ की रचना आज से लगभग ४३८ वर्ष पूर्व सन् १५७७ (शकाब्द १४९९) में हुई थी और इसका प्रथम प्रकाशन कलकत्ता से सन् १९३६ में हुआ था। भुवनमोहन सांख्यतीर्थ ने इस ग्रन्थ का संस्कृत भाष्य लिखना प्रारम्भ किया; मगर वे १८वें प्रकाश तक ही भाष्य लिख पाये थे कि उनका मणिपुरवास हो गया। शेष प्रकाशों पर भाष्य-लेखन का कार्य चिन्तामणि भट्टाचार्य ने पूर्ण किया। सन् १९३६ में संस्कृत व्याख्या-सहित प्रकाशित वही ग्रन्थ देवनागरी लिपि में 'भावना' भाष्य-सहित विद्वत् जनों के समक्ष प्रस्तुत है। 'भावना' भाष्य लिखने में सहयोग के लिये गढवाल निवासी स्वामी शत्रुघ्न दास एवं ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी के स्वत्वाधिकारी श्री नवीन कुमार गुप्त एवं श्री नीरज कुमार गुप्त के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ। मैं आभारी हूँ अपने गुरु-भाई आचार्य राधानन्दनाथ का, जो सदैव मुझे यह लेखन-कार्य त्वरित गति से पूर्ण करने के लिये प्रोत्साहन देते रहे। अन्त में मैं आभारी हूँ उन विद्वज्जनों का, जिनसे मुझे ग्रन्थ के प्रस्तुतीकरण के लिये आशीर्वाद मिलेगा।

महा अष्टमी **मधुसूदन प्रसाद शुक्ल**

संवत् २०७२ विक्रमी

विषयसूची

विषयाः पृष्ठाङ्काः

प्रथमः प्रकाशः

मङ्गलाचरणम् १
ग्रन्थोपक्रमः २१
परमात्मजीवात्मनोः स्वरूपम् २२
सत्त्वोपहितस्येश्वरसंज्ञा २३
रजस्तमोभ्यामुपहितस्य जीवसंज्ञा २३
ईश्वरकृतसृष्ट्यादि २४
पर्यनुयोगः २४
समाधानम् २५
साधनप्रकारनिरूपणप्रतिज्ञा २५
परमात्मजीवात्मनोः स्वरूपम् २६
देहिषु मनुष्याणामुत्कर्षः २७
देहसम्बन्धमन्तरेण पुरुषार्थावाप्तिर्न भवति २७
आत्मनो देहसम्बन्धरक्षार्थमहितान्निवृत्त्यर्थञ्च प्रयत्नः समाश्रयणीयः २८
वर्त्तमानजन्मन्येव पापप्रतीकार आधेयः २८
संसारासक्तिर्हितं प्रतिबध्नाति २९
सम्पदादीनामस्थायित्वम् २९
देहिनां जीवनं वृथैवातिवहति २९
कार्याकार्यविचारमूढा विपद्यन्ते ३०
जीवानां मुग्धत्वम् ३०
कालः सर्वं हन्ति ३०
श्रेयः साधने कृत्ये कालहरणमनुचितम् ३१
सर्वेषामेव मृत्युरव्यभिचारी ३१
आयुःक्षयकारणम् ३२
सङ्गः सर्वथा परित्याज्यः ३२
तदसम्भवे सत्सङ्ग एवोपादेयः ३२
सत्सङ्गविवेकयोः प्रकर्षः ३३
जीवात्मनः स्वाश्रये देहेऽपि सम्बन्धः क्षणिकः का कथा स्त्रीपुत्रादिषु ३३
कः सुखी को वा दुःखी ३३
त्यागिनः स्वरूपम् ३४
संसारस्य हेयत्वं तत्त्वज्ञानस्योपादेयत्वञ्च ३५
तत्त्वनिष्ठस्य पुण्यपापकर्मभिरननुषङ्गः ३५
इन्द्रियवृत्तिपारतन्त्र्यमेव कर्मणां हेतुस्तस्य परित्यागे न कर्म्मोदयः ३५
के नरकगामिनः ३५
ज्ञानवतां प्रकर्षो भोगमात्रसाराणां पशुतुल्यत्वञ्च ३६
संसारिणः स्वस्वकृत्याकुलतया निरन्तरं पीडाविशेषमनुभवन्ति ३६
मूढा विषयिणः पुनः पुनर्जन्म मरणानुबन्धिनो भवन्ति ३६
न हि वर्णाश्रमाचारपरिपालनेनैवात्मलाभः ३७
केचिन्मूढा ब्रह्मचर्याद्याडम्बरैर्लोकान् प्रतारयन्ति, ततोऽपि नात्मलाभः ३७
न ह्युपवासादिनियमैरेवात्मलाभः ३७
प्रतारकाणां प्रकारः ३८
न हि गृहारण्यसाम्याव्रीडत्वदिगम्बरत्वादि-ज्ञानिसाधर्म्यादेव ज्ञानी भवति ३८
ज्ञानमेव साक्षान्मुक्तिकारणं न कर्म ३९

विषयाः पृष्ठाङ्काः
न हि षड्दर्शनानुशीलनेनैवात्मलाभः ३९
न हि वेदादिविदोऽप्यतत्त्वज्ञस्य वाक्यमुपकाराय कल्पते ४०
परतत्त्वपराङ्मुखाणां निरन्तरशास्त्रानुशीलनेनापि नात्मलाभः ४०
शास्त्रादिज्ञानं सुलभं तात्पर्यज्ञानं तु न तथा ४०
प्रज्ञावतः शास्त्रानुशीलनमुपकाराय भवति नेतरस्य ४१
शास्त्रेभ्यः सार आदेयः ४२
शास्त्राभ्यासस्य तत्त्वज्ञानाऽवधिकत्वम् ४२
ज्ञानमेव मुक्तिप्रयोजकं न शास्त्रानुशीलनम् ४३
मुक्तेः स्वरूपं तत्र मतान्तरञ्च ४३
मुक्तिविषये स्वमतम् ४३
ज्ञानाननुबन्धिनः कर्माद्युपाया न मुक्तिप्रयोजकाः ४३

विषयाः पृष्ठाङ्काः
वेदादिशास्त्राणि न मुक्तिप्रयोजकानि, ज्ञानमेव मुक्तिप्रयोजकम् ४४
ज्ञानस्य द्वैविध्यम् ४४
शब्दब्रह्मस्वरूपम् ४४
स्फोटवादिमतद्वयं तन्निरासश्च ४७
शब्दब्रह्मस्वरूपे स्वमतम् ४७
वर्णाभिव्यक्तिः ४८
द्वैताद्वैतनिरूपणम् ४८
विद्याऽविद्यात्मककर्मजन्यौ बन्धमोक्षौ ४९
सङ्कल्पस्य सत्तासत्ताभ्यामेव बन्धमोक्षौ ५०
कर्मणस्तत्त्वज्ञानपर्यन्तमनुष्ठेयत्वम् ५०
तत्त्वनिष्ठैव मोक्षावाप्तिहेतुः ५०
तत्त्वज्ञानस्वरूपम् ५१
परा प्रकृतिरेव तत्त्वज्ञानं प्रति साक्षात् कारणम् ५२

द्वितीयः प्रकाशः

दीक्षानिरूपणोपयोगित्वम् ५४
दीक्षाशब्दव्युत्पत्तिः ५५
तस्याः प्रकारान्तरम् ५५
दीक्षाफलम् ५५
वर्णभेदेन दीक्षायाः फलभेदाः ५६
दीक्षायास्त्रैविध्यम् ५९
मान्त्री दीक्षा ५९
तस्या एव क्रियावतीत्याख्यं प्रकारान्तरम् ५९
मान्त्री दीक्षा सर्ववर्णसम्प्रदायसाधारणी ६०
शाक्तेयी दीक्षा ६०
ज्ञानवती दीक्षैव शाक्तेयी दीक्षेति मतान्तरम् ६१
शाम्भवी दीक्षा ६१
तस्याः प्रकारान्तरम् ६१
आगमशब्दार्थः ६५
गुरुलक्षणम् ६७
शिष्यलक्षणम् ६८
दीक्षायाः पूर्वं शिष्यो गुरुं सेवेत ६८
गुरुसेवाप्रकारः ६९
गुरुसेवाफलम् ७०
गुरोरग्रे मानवान्तरपूजानिषेधः ७१
गुरुमङ्गीकृत्य तत्र वैमनस्यं दोषाय ७१
गुर्वाज्ञाया अपरिपालनं नरकाय भवति ७१
गुरोरधिक्षेपादौ दोषः ७१
गुरुद्रोहपरिणामः ७१
गुरुभक्तेर्मुक्तिप्रयोजकत्वम् ७२
गुरौ शिष्यस्य व्यवहारः ७२

विषयाः **पृष्ठाङ्काः**

गुरोस्तोपस्येष्टसाधनत्वं रोपस्येष्टप्रतिबन्धकत्वञ्च ७४
तत्रोपसंहारः ७४
वर्णेषु कतमः कियता कालेन गुरुसेवया शिष्यत्वयोग्यतामर्हति ७४
गुरोः कर्त्तव्यम् ७५
अ-क-थ-ह-चक्रम्, तत्र रेखापातः ७५
कोष्ठानां संज्ञा ७६
तत्र वर्णन्यासक्रमः ७६
तत्र मन्त्रगणनाक्रमः ८०
ऋणधनचक्रम् ८४
तत्र रेखापातः, साध्यसाधकाङ्कानां न्यासपरिपाटी च ८४
वर्णन्यासपरिपाटी ८५
तत्र साध्यसाधकाङ्कन्यासपूर्वको गुणनक्रमः ८५
मन्त्राणामृणधनत्वनिरूपणपरिपाटी, तत्फलविशेषाश्च ८६
एतन्मूलीभूतागमनिरूपणम् ८७
पूर्वतोऽन्यादृशी साध्यसाधकाङ्कन्यासपरिपाटी ८८
अस्यैव चक्रस्य क्रमान्तरम् ८९
चक्रेणानेन मन्त्रशोधनस्य प्रक्रिया ८९
अस्यैव चक्रस्य क्रमान्तरम् ९०
मन्त्रशोधनप्रक्रिया ९०
एतच्चक्रविशोधितस्य मन्त्रस्य फलम् ९१
नक्षत्रचक्रं तत्र रेखापातः ९१
वर्णन्यासपरिपाटी, न्यसनीयानां वर्णानामश्विन्यादिक्रमत्वञ्च ९२
एतच्चक्रकरणकमन्त्रशोधनपरिपाटी ९३
राशिचक्रम् ९५
राशिचक्रे वर्णन्यासपरिपाटी ९६

विषयाः **पृष्ठाङ्काः**

राशीनां संज्ञास्तन्मूलको मन्त्रशोधनक्रमश्च ९६
राशीनां प्रागुक्तसंज्ञानुरूपफलदातृत्वम् ९६
अ-क-ड-म-चक्रं तत्र वर्णन्यासक्रमश्च ९८
एतच्चक्रकरणकमन्त्रशोधनपरिपाटी १००
शोधितमन्त्रस्य फलविशेषप्रसवितृत्वम् १००
अकडमचक्रोपसंहारः कुलाकुलचक्रविचारप्रतिज्ञा च १००
तत्र रेखापातो वर्णन्यासस्तेषां संज्ञा च १००
एतच्चक्रकरणकमन्त्रशोधनपरिपाटी १०२
वर्णानां परस्परशत्रुत्वमित्रत्वादिव्यवस्था १०३
फलम् १०४
वर्गचक्रम् १०५
कोष्ठनिर्माणं तत्र वर्णन्यासश्च १०५
वर्गाणां संज्ञाः १०५
एतच्चक्रकरणकमन्त्रशोधनफलम् १०६
प्रागुक्तमन्त्रदोषपरिहारक्रमः १०६
प्रकारान्तरम् १०७
स्थानस्थत्वादिना मन्त्राणां फलभेदाः १०७
षड्विधस्थाननिरूपणम् १०८
षड्विधस्थानस्वरूपम् १०८
मन्त्रविशेषे सिद्धादिशोधनानपेक्षित्वम् १०९
दीक्षाग्रहणकालः १०९
विषुवादिषु दीक्षायाः प्राशस्त्यम् १११
देवपर्वसु दीक्षायाः प्रशस्तिः ११२
सूर्योपराग-रविसंक्रमयोर्दीक्षायाः प्राशस्त्यम्, लग्नादिविचारनैरपेक्ष्यञ्च ११३
महाष्टम्यां कालशुद्ध्यादिनैरपेक्ष्यम् ११५
श्रीगुरौ करुणाय दीक्षयितुकामे, काश्यादौ च कालाकालविचारनैरपेक्ष्यम् ११५
दीक्षायां वारनियमः ११७

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
दीक्षायां तिथिनियमः	११७
पक्षनियमः	११८
पक्षनियमे विशेषः	११८
नक्षत्रनियमः	११८
लग्न-चन्द्र-तारा-नियमः	१२०
प्रागुक्तमासादिशुद्धेर्मन्त्रदीक्षामात्रपरत्वम्	१२१
विद्यादीक्षायान्तु तिथिवारादिशोधनापेक्षा नास्ति	१२१
मन्त्रपदव्युत्पत्तिः	१२१
दशविधो मन्त्रसंस्कारः	१२२
जननसंस्कारः	१२३
जीवनसंस्कारः	१२६
ताडनसंस्कारः	१२६
बोधनसंस्कारः	१२७
अभिषेकसंस्कारः	१२८
विमलीकरणसंस्कारः	१२९
आप्यायनसंस्कारः	१३०
तर्पणसंस्कारः	१३०
दीपनसंस्कारः	१३१
गोपनसंस्कारः	१३२
दशसंस्कारोपसंहारः	१३२

तृतीयः प्रकाशः

दीक्षायां प्रशस्तस्थानानि	१३३
दीपस्थाने जपादिविधिः कूर्मचक्रनिरूपणप्रतिज्ञा च	१३३
रेखापातक्रमो वर्णन्यासश्च	१३४
मुखादिनिर्णयः	१३६
कूर्मस्य तत्तदङ्गमाश्रित्य जपादौ फलभेदाः	१३६
दीपस्थानेतरत्र दीक्षादौ दोषः	१३७
दीक्षायां वास्तुयागस्य कर्त्तव्यता	१३८
वास्त्वङ्गाधिष्ठितत्रिपञ्चाशद्देवताकवलिनिर्णयः	१३८
वलिकर्मणि वास्तुमण्डलम्	१४१
मण्डलस्यास्य चतुरस्रत्वं हस्तप्रमाणत्वञ्च	१४१
हस्तप्रमाणम्	१४२
मानाङ्गुलप्रमाणम्	१४२
मानाङ्गुलस्य क्रमान्तरम्	१४२
मानाङ्गुलस्य प्रकारान्तरम्	१४३
प्रागुक्तहस्तमानस्य विषयः	१४४
वास्तुमण्डलपदविभागपरिपाटी	१४४
रजोभिर्मण्डलपदानामापूरणं वलिदानोपक्रमश्च	१४९
ब्रह्मणो वलिमन्त्रः	१५१
अर्यम्णः	१५१
विवस्वतः	१५१
मित्रस्य	१५१
महीधरस्य	१५२
बाह्यदेवतानां वलिः	१५२
आपस्य	१५२
आपवत्सस्य	१५३
सावित्रस्य	१५३
सवितुः	१५३
इन्द्रस्य	१५३
इन्द्रजयस्य	१५३
रुद्रस्य	१५३
रुद्रजयस्य	१५४
विदार्य्याः	१५४
पूतनायाः	१५४
शर्वस्य	१५४

विषयाः पृष्ठाङ्काः
स्कन्दस्य १५४
अर्यमूणः १५४
जम्भकस्य १५५
पिलिपिञ्जस्य १५५
चरक्याः १५५
ईशानस्य १५५
पर्जन्यस्य १५५
जयन्तस्य १५६
इन्द्रस्य १५६
सूर्यस्य १५६
सत्यस्य १५६
वृषस्य १५६
अन्तरीक्षस्य १५६
हुताशनस्य १५७
पूष्णः १५७
वितथस्य १५७
यमराजस्य १५७
गृहरक्षस्य १५७
गन्धर्वस्य १५७
भृङ्गराजस्य १५७

विषयाः पृष्ठाङ्काः
मृगस्य १५८
निर्ऋतेः १५८
दौवारिकस्य १५८
सुग्रीवस्य १५८
वरुणस्य १५८
पुष्पदन्तस्य १५८
असुरस्य १५९
शेषस्य १५९
रोगस्य १५९
वायोः १५९
नागराजस्य १५९
मुख्यस्य १५९
सोमस्य १६०
भल्लाटस्य १६०
अर्गलस्य १६०
अदितेः १६०
दितेः १६०
वलिदाने साधारणं क्रमान्तरम् १६०
उपसंहारः १६१

चतुर्थः प्रकाशः

मण्डपयोग्यदिनस्थानादिनिरूपणम् १६२
मण्डपपरिमाणनिरूपणार्थं हस्तस्वरूपम् १६५
पद्महस्तस्वरूपम् १६६
मण्डपस्य परिमाणभेदाः १६६
मण्डपस्वरूपम्, स्तम्भानां संख्यापरिमाणस्थानानि च १६६
स्तम्भनिखननक्रमः १६६
बहिर्द्वादशस्तम्भस्थानं द्वारपरिमाणञ्च १६८
स्थलान्मण्डपभूमेरुच्छ्रायः १६९
मण्डपवेष्टनम् १६९
द्वारनिर्णयः १६९
दिग्भेदेन वोरणभेदाः १६९
प्रागुक्तन्योग्रोधादीनामभावे कर्त्तव्यम् १६९
तोरणस्तम्भानामुच्छ्रायपरिणाहौ १६९
तोरणस्तम्भानामुच्छ्रायपरिणाहौ १७१
तोरणस्तम्भशिरसि फलकन्यासस्तत्र शूलारोपणञ्च १७२
वैष्णवानां विशेषः १७४
मण्डपशोभासम्पादनक्रमः १७८
वेदीलक्षणम् १७८
अङ्कुरार्पणम् १७९
अङ्कुरार्पणकालः १८०

विषयाः **पृष्ठाङ्काः**

अङ्कुरार्पणे शालानिर्माणम् १८०
मण्डलनिर्माणक्रमः १८१
पदविभागः १८१
रजसां न्यासः १८२
अङ्कुरार्पणपात्राणि १८३
पालिका १८४
पञ्चमुखी १८४
शरावः १८५
पालिकादीनां परिमाणे विशेषः १८५
पालिकादीनामुपादानानि १८५
पात्रन्यासक्रमः १८६
प्रागुक्तकर्मणां दिवैव कर्त्तव्यत्वम् १८८
बीजारोपणस्य रात्रिकर्त्तव्यत्वम् १८८
बीजनिर्वपणम् १८९
वपनीयानि बीजानि १९०
स्कन्दादिदशदेवतापूजा १९०
वलिविधानम् १९१
सप्तानां रात्रीणामधिपतयः १९१
बलिद्रव्यभेदाः १९२
बलिद्रव्ये विशेषः १९२
दिक्पालबलिः १९३
अङ्कुरपरीक्षा १९३
शुभान्यङ्कुराणि १९३
अशुभान्यङ्कुराणि १९३
अशुभाङ्कुरोदगमे शान्तिः १९४

पञ्चमः प्रकाशः

अधिवासस्य दीक्षापूर्वदिनकर्त्तव्यत्वम् १९५
गणेशादिपञ्चदेवतापूजनम् १९५
पञ्चायतनदीक्षायां शिवस्य पूजाक्रमः १९५
विष्णोः १९६
सूर्यस्य १९७
भवान्याः १९७
गणेशस्य १९७
निरुक्तस्थानादन्यत्र पूजने दोषः १९७
गौणमुख्यभेदेनार्चनक्रमभेदः १९८
एतेषामपूजने दोषः २००
दिक्पालबलिः २००
शिष्ये गुरोः कृत्यम् २००
शिष्यकृत्यम् २००
शिष्यं प्रति गुरोः कृत्यम् २०१
शिष्यस्य शयनकालेः श्रीगुरुदत्तस्वप्नमानवमन्त्रपाठः २०१
स्वप्नमानवमन्त्रः २०१
प्रार्थनामन्त्रः २०१
शिष्यस्य प्रार्थनापूर्वकं शयनम् २०२
प्रातः शिष्यं प्रति स्वप्नदर्शनप्रश्नः २०२
स्वप्ने वक्ष्यमाणानां दर्शनं सिद्धिकरम् २०३
अशुभस्वप्नदर्शने तच्छान्त्यर्थं होमः २०३
दीक्षादिनकृत्यम् २०३
सामान्यार्घ्यस्थापनम् २०४
सामान्यार्घ्यक्रमः २०४
द्वारपूजायाः कर्त्तव्यता २०५
गुरोर्यागमण्डपप्रवेशः २०६
पूजा २०६
मण्डपप्रोक्षणम् २०६
पञ्चगव्यपरिमाणम् २०६
प्रस्थस्वरूपम् २०७
मण्डपशोधनम् २०७
विकिरलक्षणम् २०७
मार्जनम् २०८
गुरुपूजादि २०८
पुण्याहवाचनादि २०८

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
चक्रराजनिर्माणम्	२०८
प्रकारान्तरम्	२०८
पूजाद्रव्यस्थापनम्	२०९
शिष्यस्यानयनमुपवेशनञ्च	२०९
तिल-काञ्चनोत्सर्गः	२१०
स्वस्तिवाचनादिपूर्वकगुरुवरणम्	२१०
गुरोरर्चनम्	२१०
गुरोः पुरतः प्रार्थनम्	२१०
गायत्रीजपस्तत्संख्या च	२१०
भूतशुद्ध्याद्यनुष्ठानम्	२११
मन्त्रसंस्कारः	२११
पीठन्यासः	२११
देहमयपीठे इष्टदेवताचिन्तनम्	२१२
मुद्राप्रदर्शनमर्घ्यादिस्थापनञ्च	२१२
देव्या अष्टाङ्गार्घ्यम्	२१३
सर्वदेवसाधारणमष्टाङ्गार्घ्यम्	२१३
पाद्यम्	२१३
आचमनीयम्	२१३
मधुपर्कः	२१४
पुनराचमनीयम्	२१४
उपचारदाने पात्रनियमः	२१४
गन्धम्	२१५
स्वदेहे पीठपूजा	२१५
पञ्चपुष्पाञ्जलिदानम्	२१५
मण्डलपूजा मण्डले पीठपूजा च	२१६
कूर्चलक्षणम्	२१६
यन्त्रे देवतापूजाक्रमः तत्र मध्ये त्रिपुरार्चनम्	२१६
षट्कोणे पूजनस्य क्रमः	२१६
तदन्तस्त्रिकोणे	२१६
षट्कोणाद् बहिरष्टदले	२१६
तद्बहिर्द्वादशदले	२१७

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
तद्बहिः षोडशदले	२१७
तद्बहिर्विंशतिदले	२१८
तद्बहिरष्टदले	२१८
पीठाष्टकम्	२१८
विंशतिदलाद् बहिर्भूगृहे	२१८
यन्त्रान्तरं तत्रार्चनव्यवस्था च	२१९
स्थापनीयकलसलक्षणम्	२२०
सूत्रवेष्टनम्	२२०
कलसस्थापनम्	२२१
नवरत्नप्रमाणम्	२२१
कलसापूरणम्	२२१
कलसे श्रीचक्रनिक्षेपः	२२१
षोडशकामकलापूजा	२२२
कलसे पल्लवादिनिवेशनप्रक्रिया	२२३
कोणकलसस्थापनम्	२२४
द्वितीयमण्डलकल्पे कलसस्थापने विशेषः	२२४
मूलशक्तिपूजनम्	२२४
नवकुम्भस्थापनकल्पे विशेषः	२२४
होमः	२२५
शिष्यानयनम्	२२५
शिष्यदेहे षडध्वचिन्तनम्	२२५
षडध्वानः	२२६
कलाध्वा	२२६
तत्त्वाध्वा	२२८
भुवनाध्वा	२२९
वर्णाध्वा	२३०
पदाध्वा	२३०
मन्त्राध्वा	२३०
अध्वशोधनक्रमः	२३१
शिष्यदेहे चैतन्ययुक्तिः	२३१
पूर्णाहुतिदानपूर्विका पञ्चोपचारपूजा	२३२
देव्यै कर्पूरादिदानम्	२३२

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
जपः	२३२
व्याहृतिभिर्द्देव्या होम आत्मसमर्पणादिकञ्च	२३२
मन्त्रोपदेशाय शिष्यस्यानयनम्	२३२
पुष्पाञ्जलिदापनम्	२३३
पुष्पपातेन शुभाशुभनिरूपणमशुभे तत्प्रतिकारश्च	२३३
नेत्रबन्धापनयनम्	२३३
पुष्पाञ्जलिदानानन्तरप्रक्रिया	२३३
अस्त्रदेवतापूजादिप्रक्रिया	२३४
यन्त्रे शिष्यस्योपवेशनम्	२३४
शिष्यशिरसि श्रीचक्रन्यासः	२३५
शिष्यस्नपनम्	२३७
शिष्याभिषेकः	२३७
गुरोरनन्तरकरणीयम्	२३७
षट्चक्रविज्ञानोपदेशः	२३८

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
शिष्यदेहे ऋष्यादिन्यासः	२३८
तान्त्रिकाद्वैतोपदेशः	२३८
कौलदीक्षायां विशेषः	२३९
मन्त्रोपदेशः	२३९
गण्डूषदानम्	२३९
पुनर्मूलदेवतार्च्चा	२४०
गुरोरनन्तरकरणीयम्	२४०
गुरुनामकल्पनक्रमः	२४१
गुरोः प्रदक्षिणादि	२४१
दक्षिणादानम्	२४१
गुरोरात्मविशोधनप्रकारः	२४१
दीक्षादिवसे गुरुशिष्ययोरुपवासनिषेधः	२४२
संक्षेपदीक्षा	२४२
ग्रहणादौ विशेषः	२४३

षष्ठः प्रकाशः

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
षट्चक्रनिरूपणप्रतिज्ञा	२४५
इडा-पिङ्गला-सुषुम्णा-वज्रानाडीसंस्थितिः	२४६
चित्रिणीब्रह्मनाड्योः संस्थितिः	२४८
ब्रह्मनाडीस्वरूपम्	२४९
मूलाधारपद्मस्य स्वरूपम्	२५०
स्वबीजयुक्तपृथिवीमण्डलम्	२५१
धराबीजस्य स्वरूपं तदङ्के ब्रह्मणोऽवस्थितिश्च	२५१
मूलाधारपद्मे डाकिनीस्थितिः	२५२
तत्कर्णिकान्तस्त्रिकोणे कन्दर्पवायोरवस्थितिः	२५३
स्वयम्भुलिङ्गावस्थितिः	२५३
तदूर्ध्वे कुलकुण्डलिन्याः स्थितिः	२५४
परशक्तिस्थितिः	२५६
कुलकुण्डलिनीध्यानफलम्	२५८

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
अम्भोजमण्डलं वरुणबीजस्थितिश्च	२६०
वरुणबीजस्याङ्के विष्णोरवस्थानम्	२६१
स्थिताया राकिणीशक्तेः स्वरूपम्	२६१
पद्मचिन्तनफलम्	२६२
मणिपूरपद्मम्, त्रिकोणे वह्निबीजस्य स्थितिश्च	२६३
रुद्रमूर्त्तेरवस्थितिः	२६४
पद्मे लाकिनीशक्तेरवस्थितिरेतत्पद्मचिन्तनफलञ्च	२६५
अनाहतपद्मं तत्कर्णिकायां वायुमण्डलञ्च	२६६
वायुबीजं तत्रेशस्थितिश्च	२६८
पद्मकर्णिकायां काकिनीशक्तेरवस्थितिः	२६८
पद्मकर्णिकन्तस्त्रिकोणाकारा शक्तिर्बाणलिङ्गञ्च	२६८

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
अनाहतपद्मचिन्तनफलम्	२७१
विशुद्धपद्मम् तत्कर्णिकायां नभोमण्डलस्थितिश्च	२७३
सदाशिवस्थितिः	२७४
पद्मकर्णिकायां शाकिनीशक्तेश्चन्द्रमण्डलस्य चावस्थितिः	२७५
पद्मचिन्तनफलम्	२७६
भ्रूमध्ये द्विदलमाज्ञापद्मं तत्कर्णिकायां हाकिनीशक्तेरवस्थितिश्च	२७९
आज्ञापद्मकर्णिकायां मनसः, कर्णिकान्तस्त्रिकोणे इतराख्यशिवस्य प्रणवस्य च स्थितिः	२८०
एतच्चिन्तनफलम्	२८१
आज्ञाचक्रे प्रणवघटकवर्णानामवस्थितिः	२८२
आज्ञाचक्रे प्रणवस्वरूपचिन्तनफलम्	२८३
वह्निकणावान्तरभेदाः परमशिवस्थितिश्च	२८४
प्राणत्यागस्य फलम्	२८५
आज्ञाचक्रोर्द्ध्वे शिवशक्तिरूपो महानादस्तद्दर्शनफलञ्च	२८६

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
सहस्रारपद्मम्	२८८
कर्णिकायां चन्द्रमण्डलं तदन्तस्त्रिकोणं तदन्तः परंबिन्दुश्च	२८९
परं बिन्दोर्गोप्यत्वं परमशिवस्थितिश्च	२९०
पद्मकर्णिकायां सर्वेषां देवानामवस्थितिः	२९३
पद्मज्ञानफलम्	२९३
पद्मकर्णिकान्तस्त्रिकोणे चन्द्रकलायाः स्थितिः	२९४
चन्द्रकलान्तर्निर्वाणकलायाः स्थितिः	२९५
तदन्तर्बिन्दुस्वरूपाया निर्वाणशक्तेरवस्थितिः	२९६
निर्वाणशक्तेरन्तः परब्रह्मस्थानम्	२९६
कुण्डलिन्युत्थापनक्रमः	२९९
कुण्डलिनीयोगप्रकारः	३०१
प्रागुक्तबिन्दुमयशिवे कुलकुण्डलीयोजनक्रमः	३०२
कुण्डलिन्या मूलाधारप्रापणममृतधारया स्वेष्टदैवततर्पणञ्च	३०६
षट्चक्रक्रमज्ञानफलम्	३०८
षट्चक्रप्रकरणाध्ययनफलम्	३०८

सप्तमः प्रकाशः

कुण्डस्वरूपनिरूपणप्रतिज्ञा	३१०
चतुरस्रकुण्डम्	३१०
योनिकुण्डम्	३११
त्र्यस्रकुण्डम्	३१२
वृत्तकुण्डम्	३१२
अर्द्धचन्द्रकुण्डम्	३१२
पद्मकुण्डम्	३१३
कुण्डखननक्रमः	३१३
चतुरस्रादिकुण्डेषु मेखलानामपि चतुरस्रत्वादित्वम्	३१३
मेखलानिर्णयः	३१४
मेखलानामुत्सेधः	३१४
विस्तारः	३१५
खातकरणे कल्पान्तरम्	३१५
मेखलापरिमाणभेदाः	३१५
कुण्डमेखलयोः क्रमान्तरम्	३१६
कुण्डनिर्माणे कल्पान्तरम्	३१६
मेखला	३१६
विकल्पः	३१६
कुण्डपरिमाणभेदेन मेखलापरिमाणभेदाः	३१७

विषयाः पृष्ठाङ्काः
योनिः ३१८
द्विहस्तादिकुण्डेषु विशेषः ३१८
योनिनिर्माणे क्रमान्तरम् ३१९
नालम् ३१९
नाभिः ३२०
योनिकुण्डे योनेरब्जकुण्डे च नाभेर्वर्जनीयत्वम् ३२०
नाभिनिर्माणपरिपाटी ३२०
होमसंख्याभेदेन कुण्डभेदः ३२१
कुण्डाकारवृद्धिक्रमः ३२१
क्रमान्तरम् ३२१
लक्षादिहोमभेदे कुण्डपरिमाणगौरवम् ३२१
कल्पान्तरम् ३२१
विषयाः पृष्ठाङ्काः
खातस्य यथोक्तपरिमाणवैषम्ये दोषः ३२२
कुण्डस्य स्वेष्टदेवतास्वरूपत्वम् ३२२
कुण्डस्य चतुरस्रत्वादिभेदेन फलभेदाः ३२२
वर्णभेदेन कुण्डभेदाः ३२३
चतुरस्रकुण्डं सर्ववर्णसाधारणमिति मतान्तरम् ३२३
निरुक्तमेखलादिराहित्ये दोषः ३२३
कुण्डकरणासम्भवे स्थण्डिले होमविधानम् ३२३
स्रुक्-स्रुवयोर्लक्षणम् ३२३
स्रुवलक्षणम् ३२६
स्रुक्स्रुवयोरभावे व्यवस्था ३२६

अष्टमः प्रकाशः

होमविधिनिरूपणप्रतिज्ञा ३२८
कुण्डस्य वीक्षणाद्यष्टादश संस्काराः ३२८
स्थण्डिले होमः ३३१
प्रागग्ररेखात्रयम् ३३१
उत्तराग्ररेखात्रयम् ३३१
योगपीठविरचनापरिपाटी ३३१
पीठदेवतापूजा ३३२
योगपीठार्चनम् ३३३
कामेश्वरीध्यानम् ३३३
अग्निचयनम् ३३३
अग्निसंस्कारः ३३४
दिग्बन्धनादि ३३४
अनन्तरकृत्यानि ३३४
वह्निस्थापनम् ३३५
प्रज्वालनम् ३३५
ज्वालिनी मुद्रा ३३५
अग्नेरुपस्थानम् ३३६
चैतन्ययोजनम् ३३६
समित्प्रक्षेपः ३३७
अग्नेर्जिह्वासु देवतादीनां न्यासः ३३७
षडङ्गेषु देवतान्यासः ३३७
अग्नेरष्टाङ्गेषु देवतान्यासः ३३८
स्वदेहे वह्नेर्जिह्वानां न्यासः ३३९
जिह्वानां त्रैविध्यम् ३३९
सात्त्विककर्मविहिताः ३३९
राजसकर्मविहिताः ३४०
तामसकर्मविहिताः ३४०
अन्त्यानां क्रूरकर्ममात्रपरत्वम् ३४०
जिह्वानां वर्णाः ३४०
परिस्तरणम् ३४०
परिधिस्थापनम् ३४१
अग्नेर्ध्यानम् ३४१
परिधिस्थापनम् ३४२
वह्निजिह्वासप्तकपूजनक्रमः ३४२
पुनरग्नेर्ध्यानादेः कर्त्तव्यता ३४३
पात्रसंस्कारः ३४४

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
आज्यसंस्कारः	३४४
धूपदीपार्पणम्	३४६
होमपूर्वकृत्यम्	३४६
आज्ये नाडीत्रयचिन्तनम्	३४६
अग्निनेत्रवक्त्रोद्घाटकहोमः	३४६
महाव्याहृतिहोमः	३४७
ब्रह्मार्चनम्	३४८
अग्नेर्गर्भाधानादिसंस्काराः	३४८
जिह्वाङ्गदेवतादिहोमः	३५०
गाणपत्यहोमः	३५१
महागणपतिमन्त्रः	३५१
वह्निमुखे मूलदेव्यर्चा	३५२
वह्निदैवतयोरैक्यसम्पादकहोमः	३५२
नाडीसन्धानहोमः	३५३
आवरणदेवताहोमः	३५४
मूलदेवताहोमक्रमः	३५४
तान्त्रिकहोमाधिकारिनिर्णयः	३५५

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
शूद्रे विशेषः	३५५
निरुक्तक्रमस्य प्रामाणिकतन्त्रसंवादित्वम्	३५५
जिह्वाभेदेन होमे फलभेदाः	३५५
कामनाभेदेन यज्ञीयपात्रभेदाः	३५५
होमे विहितं मुद्रात्रयम्	३५६
मुद्राणामासां विनियोगः	३५६
षट्कर्मसु होमे विशेषः	३५६
कुमारीपूजा	३५७
श्रीविद्यापूजा	३५७
महाव्याहृतिहोमः पूर्णाहुतिश्च	३५७
आत्मार्पणमन्त्रहोमः	३५७
आत्मसमर्पणमन्त्रः	३५७
अग्नेरभ्युक्षणमर्चनञ्च	३५९
पुनर्महाव्याहृतिहोमो जिह्वाहोमश्च	३५९
प्रार्थनापूर्वकमग्नेर्विसर्जनम्	३५९

नवमः प्रकाशः

होमद्रव्यनिरूपणप्रतिज्ञा	३६१
द्रव्यभेदेन होमे फलभेदाः	३६१
होमद्रव्यपरिमाणम्	३६७
प्रकारान्तरम्	३६८
द्रव्यानुक्तौ विशेषः	३६९
वैरिमन्त्रपरित्यागक्रमः	३६९
घटस्थापनम्	३७०
सावरणसाध्यदेवतापूजा	३७०
दिक्पालबलिः	३७०
इन्द्रस्य बलिमन्त्रः	३७०
अग्नेः	३७१
यमस्य	३७१
निर्ऋतेः	३७१
वरुणस्य	३७१
वायोः	३७१
कुबेरचन्द्रयोः	३७२
ईशानस्य	३७२
ब्रह्मणः	३७२
अनन्तस्य	३७२
साध्यदेवतापूजा	३७२
प्रार्थनम्	३७३
प्रार्थनमन्त्राः	३७३
तदनन्तरकृत्यम्	३७३
निरुक्तानुष्ठानजं फलम्	३७३
विधेरस्य प्रामाणिकग्रन्थसंवादित्वम्	३७४

विषयाः पृष्ठाङ्काः | विषयाः पृष्ठाङ्काः

दशमः प्रकाशः

श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीविद्यानिरूपणप्रतिज्ञा ३७५
पञ्चमी विद्या ३७८
पाञ्चभौतिकस्य जगतः पञ्चकूटात्मकत्वम् ३७८
पृथिव्यादीनां तत्तद्देवताशक्तित्वम् ३७९
निरुक्तकूटपञ्चकात्मकशक्तिपञ्चकनिरूपणम् ३७९
पञ्चम्याः स्वरूपम् ३७९
शिवादभिन्नेयं शक्तिः ३८०
निरुक्तपञ्चमीप्रसादादेव शिवादीनामीश्वरत्वादि ३८०
पञ्चम्युपासनयैव विश्वामित्रस्य सृष्ट्यादिकर्तृत्वम् ३८१
पञ्चम्याः ब्रह्मविद्यास्वरूपत्वम् ३८१
पञ्चमीविद्योपासनाधिकारिनिर्णयः ३८१
पञ्चमीविद्यायाः प्रकर्षः ३८२
पञ्चमीविद्याविदः प्रकर्षः ३८२
पञ्चतत्त्वस्य ब्रह्मादिरूपत्वम् ३८३
पञ्चम्याः वाग्भवकूटम् ३८४
कामराजकूटत्रयम् ३८५
कूटत्रयजपफलम् ३८६
शक्तिकूटम् ३८६
शक्तिकूटस्य प्रकर्षः ३८७
कामराजकूटे विशेषः ३८७
कामराजमध्यमकूटजपफलम् ३८८
मधुमती ३८९
निरुक्तपञ्चम्याराधनफलम् ३८९
कालविशेषेण जपे फलविशेषः ३९०
अस्या रहस्यत्वम् ३९१
सच्छिष्याय प्रतिपाद्यत्वम् ३९१
मन्त्रान्तरं तत्र शक्तिकूटे विशेषः ३९१
शक्तिकूटे वाग्भव-कामराजकूटव्यवस्था ३९१
मतान्तरम् ३९२
कामराजकूटे विशेषः ३९२
मन्त्रान्तरम् ३९३
शक्तिकूटे विशेषः ३९३
वाग्भवकामराजकूटव्यवस्था ३९३
एकाक्षरमन्त्रनिरूपणप्रतिज्ञा ३९४
एकाक्षरमन्त्रः ३९४
एकाक्षरमन्त्रस्य प्रशस्तिरप्रकाश्यत्वञ्च ३९५
एकाक्षरमन्त्रस्य प्रामाणिकतन्त्रसंवादित्वम् ३९५
एकाक्षर्याः स्वरूपम् ३९६
एकाक्षरमन्त्रस्य सर्वथा रहस्यत्वाभिधानम् ३९६
एकाक्षरमन्त्रस्य सच्छिष्याय प्रतिपादनं तत्क्रमश्च ३९७
मन्त्रप्रतिपादनानन्तरं गुरोः कर्त्तव्यम् ३९७
मन्त्रदीक्षितस्य विद्यान्तराराधनप्रतिषेधः ३९७
मन्त्राराधनफलम् ३९७
एकाक्षर्याः कूटत्रयविभागः ३९८
एकाक्षर्या अनन्यसाधारण्यम् ३९८
एकाक्षरीमन्त्रस्य देवता, पञ्चदशाक्षरादिसर्वविद्यात्मकत्वञ्च ३९८
मन्त्रार्थः ३९९
एकाक्षर्याः महाविद्यास्वरूपत्वम् ३९९
मन्त्राक्षररहितानां विद्यानां सिद्धिप्रतिबन्धकत्वम् ४००
अस्याः स्वरूपम् ४००

विषयाः पृष्ठाङ्काः
एकादशाक्षरी विद्या ४०३
मन्त्रजपफलम् ४०४
अस्य रहस्यत्वम् ४०४
अनुगताय ज्येष्ठपुत्राय देयत्वम् ४०४
तदन्यत्राप्रकाश्यत्वम् ४०४
एतन्मन्त्रग्रहणफलम् ४०४
अस्य कीलितत्वादिसर्वदोषमुक्तत्वम् ४०४
चतुर्विंशत्यक्षरी विद्या, तत्र वाग्भवकूटञ्च ४०४
कामराजकूटम् ४०५
शक्तिकूटम् ४०५
एतन्मन्त्रप्रकर्षोऽस्याः प्रामाणिकतन्त्रसंवादित्वञ्च ४०६
अष्टादशाक्षरी विद्या, तत्र वाग्भव-कामराज-शक्तिकूटञ्च ४०६
विंशत्यक्षरी विद्या ४०७
एकविंशत्यक्षरी (उन्मनी विद्या), तत्र वाग्भवादिकूटत्रयम् ४०८
एतन्मन्त्रदेवतानिर्णयः फलञ्च ४०९
पञ्चविंशत्यक्षरी विद्या, तत्र वाग्भवादिकूटत्रयञ्च ४०९
एतन्मन्त्रप्रकर्षः ४१०
पञ्चविंशत्यक्षरं विद्यान्तरम्, तत्र वाग्भवादिकूटत्रयञ्च ४१०
एतन्मन्त्रप्रकर्षः ४११
सप्तविंशत्यक्षरी विद्या, तत्र वाग्भवादिकूटत्रयञ्च ४१२
विषयाः पृष्ठाङ्काः
एतन्मन्त्रप्रकर्षः ४१३
द्वात्रिंशत्यक्षरी विद्या, तत्र वाग्भवादिकूटत्रयञ्च ४१४
कामराजद्वितीयकूटम् ४१५
शक्तिकूटम् ४१५
एतन्मन्त्रप्रकर्षः ४१६
ऊनत्रिंशदक्षरी मृत्युञ्जयाख्या विद्या, तत्र कूटत्रयञ्च ४१७
सप्तत्रिंशदक्षरी विद्या, तत्र वाग्भवकूटम् ४१८
एतत्कूटजपप्रशस्तिः ४१९
कामराजकूटम् ४१९
एतत्कूटजपप्रशस्तिः ४२०
शक्तिकूटम् एतत् कूटजपप्रशस्तिश्च ४२०
एतत्त्रिकूटात्मकमन्त्रप्रशस्तिः ४२१
एतन्मन्त्रप्रकर्षः प्रामाणिकतन्त्रसंवादित्वञ्च ४२३
शाम्भवकामराजविद्यानिरूपणप्रतिज्ञा ४२३
एतद्विद्याप्रकर्षः ४२३
तस्या द्वैविध्यम् ४२३
तत्र शाम्भकामराजविद्या पञ्चदशाक्षरी ४२३
तत्र कूटत्रयविभागपरिपाटी ४२४
अस्या विद्यायाः कीलितत्वम् ४२५
अत्र प्राचीनेतिवृत्तम् ४२५

एकादशः प्रकाशः

प्रागुक्तमन्त्रदोषस्मारणम् ४३३
अथाकीलितविद्यानिरूपणप्रतिज्ञा ४३३
शाक्तकामराजविद्या, तत्र कूटत्रयञ्च ४३३
अस्या निष्कीलितत्वं प्रकर्ष आम्नायविशेषानुगतत्वञ्च ४३४
पश्चिमाम्नायानुगतलोपामुद्रानिरूपणप्रतिज्ञा ४३४
शाम्भवलोपामुद्रा ४३५
निरुक्तकूटत्रयस्वरूपम् ४३५
अस्याः प्रकर्षः ४३६

विषयाः पृष्ठाङ्काः
शाक्तलोपामुद्रा तत्र वाग्भवकूटम् ४३६
कामराजशक्तिकूटे ४३६
सप्तदशाक्षरी शाक्तलोपामुद्रा ४३७
अस्याः प्रकर्षः ४३७
सप्तदशाक्षरं मन्त्रान्तरम् ४३८
वाग्भवकामराजकूटयोर्विशेषः ४३९
अष्टादशाक्षरी ४३९
विंशत्यक्षरी ४४०
प्रामाणिकतन्त्रनिर्णयः ४४०
शास्त्रवामकेशीविद्यायाः प्रशस्तिः ४४०
विद्यायाः स्वरूपम् ४४१
प्रकारान्तरम् ४४२
पश्चिमाम्नायसम्मता शाक्तलोपामुद्रा, तस्याः कूटत्रयञ्च ४४२
एतदुपजीव्यागमनिर्णयः ४४३
एतत्कूटत्रयाधिष्ठातृदेवतानिर्णयः ४४३
प्रकारान्तरम् ४४४
शाक्तकामराजविद्या, तस्याः कूटत्रयञ्च ४४४
अस्या भेदत्रयम् ४४४
अस्याः प्रकर्षः ४४७
मन्त्रान्तरम् ४४७
मन्त्रान्तरं तस्य कूटत्रयञ्च ४४७
अथ नवाक्षरी तस्याः कूटत्रयञ्च ४४८
अस्याः पूर्वाम्नायानुगतत्वम् ४४८
दक्षिणोत्तरमध्यमाम्नायानुगतलोपामुद्राविद्यानिरूपणप्रतिज्ञा ४४८
तत्र वाग्भवकूटम् ४४८
कामराजशक्तिकूटे ४४८

विषयाः पृष्ठाङ्काः
शाक्तलोपामुद्रा, तस्याः कूटत्रयञ्च ४४९
अस्या दक्षिणाम्नायानुगतत्वम् ४५०
मदद्रवाविद्यानिरूपणप्रतिज्ञा ४५०
मदद्रवामन्त्रः ४५०
उत्तराम्नायानुगतविद्यानिरूपणप्रतिज्ञा ४५१
तत्र वाग्भवकूटम् ४५१
कामराजशक्तिकूटव्यवस्था ४५१
एतन्मन्त्राराधनफलम् ४५१
मन्त्रान्तरम् , तत्र वाग्भवकूटम् ४५२
कामराजशक्तिकूटव्यवस्था ४५२
अन्यादृशषोडशीविद्यानिरूपणप्रतिज्ञा, कूटत्रयञ्च ४५३
तत्र कूटत्रयम् ४५४
अस्याः प्रकर्षः ४५४
मन्त्रान्तरम् ४५४
अध-आम्नायानुगतो मन्त्रः ४५४
अनेन मन्त्राणामाम्नायानुगतत्वम् ४५४
षडाम्नायज्ञानप्रशस्तिः ४५५
षडाम्नायाज्ञाननिन्दा ४५५
सौभाग्यामन्त्रः तत्र कूटयञ्च ४५५
अस्याः प्रकर्षः ४५६
प्रागुक्तायाः पञ्चम्याः शाम्भवत्वम् ४५६
शाक्तपञ्चमीभेदनिरूपणप्रतिज्ञा ४५६
वाग्भवकूटे विशेषः ४५७
अपरो विशेषः ४५८
अस्याः प्रकर्षः ४५९
शाम्भवशाक्तपञ्चमीभेदानां षडाम्नायानुगतत्वं प्रामाणिकतन्त्रसंवादित्वञ्च ४५९

द्वादशः प्रकाशः

त्रिविधमन्त्रनिरूपणप्रतिज्ञा ४६०
वक्ष्यमाणमन्त्राणां मेरुः ४६०
महात्रिपुरसुन्दरीमन्त्राणां निरुक्तमेरुद्भूतत्वम् ४६०
पृथिव्यादीनां निरुक्तमेरुवर्णकारणकत्वम् ४६१
मनुपूजिता ४६३
चन्द्राराधिता ४६४
कुबेराराधिता ४६५

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
कामाराधिता	४६६
अगस्त्याराधिता प्रथमलोपामुद्रा	४६६
नन्दिपूजिता	४६६
सूर्याराधिता	४६७
विष्णुपूजिता (षट्कूटा)	४६८
स्कन्दाराधिता	४७०
शङ्करोपासिता	४७०
दुर्वाससाराधिता	४७१
प्रागुक्तानां शुद्धत्वम्	४७२
वक्ष्यमाणानामपि तथात्वम्	४७२
अत्र मन्वाराधितविद्याया भेदराहित्यम्	४७२
चन्द्राराधिता द्वितीया, तत्र कूटत्रयम्	४७३
कुबेरपूजिता	४७३
द्वितीया लोपामुद्रा द्वितीयः कामराजश्च	४७४
द्वितीया नन्दिपूजिता	४७४
द्वितीया सूर्यपूजिता	४७५
द्वितीया विष्णुपूजिता	४७५
द्वितीया स्कन्दाराधिता	४७६
द्वितीया शिवाराधिता	४७७
अगस्त्यपूजिता द्वितीया लोपामुद्रा	४७७
शुद्धभेदान्तरनिरूपणप्रतिज्ञा	४७८
द्वितीया इन्द्रोपासिता	४७८
उन्मनी विद्या	४७९
शुद्धभेदनिगमनम्	४८०
शुद्धाशुद्धोभयरूपाः शबला मन्त्राः	४८०
वरुणपूजिता	४८०
धर्मराजोपासिता	४८१
अग्निपूजिता	४८१
पन्नगराजोपासिता	४८२
वायुपूजिता	४८२
चन्द्राराधिता	४८३
ईशानाराधिता	४८४
रतिपूजिता	४८५
नारायणाराधिता षट्कूटा	४८५
ब्रह्मपूजिता	४८६
बृहस्पतिपूजिता	४८७
प्रागुक्तद्वादशविद्यानां शुद्धाशुद्धशबलत्वम्	४८७
शुद्धादिभेदानां संख्या	४८८
तेषां स्वरूपं गुरूपदेशवेद्यत्वञ्च	४८८
एतेषां प्रामाणिकतन्त्रसंवादित्वम्	४८८
दीपनी तद्योगफलञ्च	४८८
सुप्तत्वादिदोषस्य सिद्धिप्रतिबन्धकत्वम्	४८८
दोषपरिहारक्रमः	४८९
पञ्चम्या वाग्भवे दीपनीयोगः	४८९
कामराजे दीपनीयोगः	४८९
स्वप्नावत्याम् दीपनीयोगः	४८९
मधुमत्यां दीपनीयोगः	४८९
शक्तिकूटे दीपनीयोगः	४८९
अस्याः प्राणरूपत्वं सिद्धिप्रदत्वञ्च	४९१
प्रकारान्तरम् (प्राणः)	४९१
वाग्भवादौ शक्तिकूटान्ते च बीजयोगः	४९१
मध्यकूटत्रये बीजध्यानम्, तत्र कामराजे	४९१
स्वप्नावत्याम्	४९१
मधुमत्याम्	४९२
अस्याः प्राणस्वरूपत्वम्	४९३
प्रकारान्तरं तत्र क्रमश्च	४९३
अस्याः प्रशस्तिः	४९४
त्रिकूटादिविद्यानां दीपनी	४९४
तत्र क्रमः	४९५
निरुक्तबीजयोगफलम्	४९५
प्रकारान्तरम्	४९६
अन्यादृशी दीपनी	४९८
अन्यादृशी दीपनी	४९९
वामकेशीविद्याया दीपन्यां विशेषः	५००
वामकेशीविद्यास्वरूपनिरूपणप्रतिज्ञा	५००

विषयाः पृष्ठाङ्काः
वामकेशीविद्यास्वरूपम् तत्र वाग्भवकूटार्थः ५०१
कामराजकूटार्थः ५०५
शक्तिकूटार्थः ५०६
अन्यादृशं ध्यानतत्त्वम् ५०७
कामराजकूटार्थः ५०७
वाग्भवकूटस्थमायाबीजार्कः ५०९
विषयाः पृष्ठाङ्काः
कामराजकूटस्थमायाबीजार्थः ५०९
शक्तिकूटस्थमायाबीजार्थः ५१०
कूटत्रयस्थलकारत्रयार्थाः ५११
कूटत्रयस्थककारार्थाः ५११
अस्याः सर्वयोनित्वम् ५१२
सौभाग्यामन्त्रार्थः ५१२
एतद्विद्याज्ञानफलम् ५१३

त्रयोदशः प्रकाशः

षोडशीस्वरूपनिरूपणप्रतिज्ञा ५१६
दीक्षामन्तरेण श्रीविद्याजपे दोषः ५१६
अनधिकारिणे श्रीविद्यादाननिषेधः ५१६
श्रीविद्याया रहस्यत्वम् ५१७
गुरुभक्ताय देयत्वम् ५१७
षोडशीविद्याया अनुच्चार्यत्वम् ५१८
अस्याश्चातुर्विध्यम् ५१८
षोडशीविद्यानिर्णयः ५१८
विद्याया जाग्रद्रूपतासम्पादनम् ५१९
जाग्रद्रूपतायां साधकस्यावस्था जाग्रदवस्थास्वरूपञ्च ५१९
त्रिकूटादिविद्यानां पञ्चकूटादित्वम् ५२०
विद्यायाः सुषुप्तिरूपता ५२१
तत्र साधकस्यावस्था ५२१
विद्यायाः स्वप्नरूपता ५२१
तत्र साधकस्यावस्था ५२१
निरुक्तपञ्चकूटात्मकविद्यानां प्रणवयोगे विशेषः ५२२
एतदुपास्तिफलम् ५२२
निगमनम् ५२२
शाम्भवकामराज-प्रथमलोपामुद्रयोर्विशेषः ५२२
कामराजषोडश्यास्त्रैविध्यम् ५२३
तत्र प्रथमा ५२३
अस्याः प्रशस्तिः ५२३
द्वितीया, तत्प्रशस्तिश्च ५२३
तृतीया, तत्प्रशस्तिश्च ५२४
अन्यादृशषोडशीस्वरूपनिरूपणप्रतिज्ञा ५२४
तत्र क्रमः ५२४
अस्या-रहस्यत्वं प्रकर्षश्च ५२५
अजपाविद्या ५२५
अस्याः प्रशस्तिः ५२६
अन्यादृशषोडशीनिरूपणप्रतिज्ञा ५२६
तत्र बृहस्पतिसेविता ५२६
शिवसेविता ५२७
कामराजलोपामुद्रयोस्तुल्यत्वम् ५२७
तस्या रहस्यत्वं प्रशस्तिश्च ५२८
निरुक्तकामराजविद्यायाः प्रणवयोगेन षोडशीत्वम् ५२८
अन्यादृशी षोडशी विद्या ५२९
तस्याः स्वरूपम् ५२९
अस्याः कलाचतुष्ट्यम् ५२९
अस्याः प्रशस्तिः ५२९
उद्दिष्टविद्यास्वरूपनिरूपणप्रतिज्ञा ५३०
विद्यायाः स्वरूपम् ५३०
बीजान्तरयोगः ५३१
अस्याः प्रशस्तिः ५३३
अस्या रहस्यत्वं प्रशस्तिश्च ५३३
अस्या अनिर्वाच्यस्वरूपत्वम् ५३३
वैखर्याद्यनभिव्यज्यत्वम् ५३३
प्रशस्तिः ५३६

विषयाः पृष्ठाङ्काः
अस्याः विद्यान्तरप्रकृतित्वम् ५३६
पुनरस्या रहस्यत्वम् ५३७
सच्छिष्याम देयत्वम् ५३७
दाने क्रमः ५३७
निरुक्तक्रमविपर्यये दोषः ५३७
विषयाः पृष्ठाङ्काः
अस्या अपरे भेदाः ५३७
तत्र परिपाटी ५३७
तत्रैकतमस्यापि ज्ञानं शिवतासम्पादकम् ५३८
एतन्मन्त्राभ्यासजन्यः साधकस्य शक्तिप्रकर्षः ५३८

चतुर्दशः प्रकाशः

श्रीमत्त्रिपुरासपर्यावतारः ५४१
प्रातःकृत्यम्, तत्र सहस्रारे श्रीगुरोर्ध्यानम् ५४१
गुरु-शक्त्योः पूजनं तन्मन्त्रजपश्च ५४२
श्रीगुरुमन्त्रः ५४२
श्रीगुरोर्मन्त्रान्तरम् ५४४
निरुक्तगुरुमन्त्रजपसंख्या ५४४
जपसमर्पणम् ५४४
प्रातः श्रीगुरुस्तोत्रपाठस्य कर्त्तव्यता ५४५
श्रीगुरुस्तुतिः ५४५
श्रीगुरु-नमस्कारः ५४६
कुलनाथ-(श्रीगुरु) ध्यानस्थान-निरूपणम् ५४६
कुलनाथतत्पूजननिरूपणप्रतिज्ञा ५४६
दिव्यकुलनाथत्रयनिरूपणम् ५४७
सिद्धकुलनाथत्रयनिरूपणम् ५४७
तेभ्योऽपरकुलनाथत्रयोत्पत्तिः ५४८
भौमकुलनाथत्रयम् ५४८
निरुक्तकुलनाथैस्तन्त्रशास्त्रस्य प्रवर्त्तनम् ५४८
एतेषां रूपम् ५४९
पूज्यत्वम् ५४९
प्रागुक्तमन्त्राणां नवाक्षरत्वसम्पादनम् ५५०
सप्ताक्षरयोगेण निरुक्तनवाक्षरस्य षोडशाक्षरत्वम् ५५०
सप्ताक्षरमन्त्रः ५५०
निगमनम् ५५१
मन्त्रयोर्योगः ५५१
शक्तीतरतन्त्रेषु विशेषः ५५२
नवार्णसप्तार्णयोर्योगे षोडशार्णत्वम् ५५२
तेषां षोडशार्णानां षोडशनित्या-रूपत्वम् ५५२
गुरुमण्डलपूजाकालः ५५२
पूर्णासु पर्वसु च नाम्नो विशेषः ५५२
उभयोरेव पूजने मन्त्रस्याभेदः ५५२
गुरुमण्डलपूजाय नवोपचार-साध्यत्वम् ५५३
उपचारनवकनिर्णयः ५५३
गुरुमण्डलनिर्माणाधारः ५५३
मण्डलनिर्माणोपकरणनिर्णयः ५५३
मण्डलपूजान्ते कर्त्तव्यम् ५५३
जीवतो मृतस्य वा गुरोः क्रमेणानेन पूजायाः कर्त्तव्यत्वम् ५५८
निरुक्तक्रमेणानुष्ठितायाः पूजायाः फलम् ५५८
वैपरीत्ये दोषः ५५८
पर्वसप्तकम् ५५९
अत्र पूजायाः कर्त्तव्यता ५५९
तत्र विशेषः ५५९
गुरुतत्पुत्रादीनामभावे कर्त्तव्यम् ५६०
निगमनम् ५६०
कुण्डलिन्युत्थापनम् ५६०
शय्यातो भूमौ पादक्षेपः ५६०
तत्र प्रार्थनामन्त्रः ५६१

विषयाः पृष्ठाङ्काः
निरुक्तमन्त्रेण भूमौ पादक्षेपस्योपदेशः ५६१
कुलवृक्षाणां दर्शनं नतिश्च ५६१
विण्मूत्रादित्यागो दन्तशोधनमन्त्रश्च ५६१
शिखाबन्धादीनि सन्ध्यान्तानि कर्माणि ५६२
सन्ध्या, तत्र स्वदेहे पञ्चदशाक्षरन्यासः ५६२
ध्यानम् ५६३
सौभाग्यदण्डिनीमुद्राविनियोगः ५६३
रिपुजिह्वाया विनियोगः ५६३
सौभाग्यदण्डिन्याः स्वरूपं फलञ्च ५६४
रिपुजिह्वाग्रहा मुद्रा करशुद्धिश्च ५६५
विद्याध्यानम् ५६७
त्रिपुरार्घ्यदानम् ५६८
त्रिपुरागायत्री ५६८
विषयाः पृष्ठाङ्काः
पूरकादिक्रमेण तज्जपः ५६८
देव्या ध्यानम् ५६८
तत्र क्रमान्तरम् ५६९
अर्घ्यदानम् ५६९
गायत्री तज्जपश्च ५६९
सायाह्ने देव्या ध्यानम् ५६९
तत्र कल्पान्तरम् ५६९
तत्रार्घ्यदानक्रमः ५७०
गायत्री तज्जपश्च ५७०
अर्द्धरात्रे ध्यानम् ५७०
तत्रार्घ्यक्रमः ५७०
गायत्री तज्जपश्च ५७१
निगमनम् ५७१
प्रातःकृत्यस्यावश्यकत्वम् ५७१
ततो देवगृहेऽनुष्ठानम् ५७१

पञ्चदशः प्रकाशः

स्नानक्रमस्य द्वैविध्यम् ५७२
आन्तरस्नाननिरूपणप्रतिज्ञा ५७२
आन्तरस्नानक्रमः ५७२
आन्तरस्नानस्य निगमनं फलञ्च ५७३
बाह्यस्नानम् ५७३
तत्राऽऽचमनम् ५७३
तीर्थावाहनम् ५७३
तत्र मन्त्रः ५७३
निरुक्तमन्त्रेणाङ्कुशमुद्रया प्रोक्तावाहनस्य कर्त्तव्यता ५७३
अङ्कुशमुद्रा ५७४
अभिषेकः ५७४
कुम्भमुद्रा ५७४
मज्जनविधिः ५७४
स्वकृत-श्यामारहस्यात् स्नानप्रक्रियान्तरज्ञानोपदेशः ५७४
वैदिकसन्ध्यानन्तरं तान्त्रिकसन्ध्या, तत्राचमनादि ५७५
षडङ्गन्यासपुरःसरमघमर्षणम् ५७५
सन्ध्याया अनन्तरप्रक्रियोपदेशस्तर्पणञ्च ५७७
मार्त्तण्डभैरवध्यानम् ५८०
मार्त्तण्डभैरवाय (सूर्याय) अर्घ्यदानम् ५८०
सूर्यमण्डपे रेखाध्यानम् ५८१
यागस्थानप्रवेशक्रमः ५८१
प्रशस्तयागभूमयस्तत्र देवीपूजाविधिश्च ५८१
एकलिङ्गलक्षणम् ५८२
द्वारपूजा, तत्र प्रथमं हस्तपादप्रक्षालनम् ५८२
दूर्वाचयनम् ५८२
आचमनम् ५८२
दिक्पालपूजा ५८३

विषयाः **पृष्ठाङ्काः**
तत्र क्रमान्तरम् ५८३
अस्त्रपूजा ५८४
पूजनीयान्यस्त्राणि ५८४
पूर्वादिक्रमेण गणेशादिपूजा ५८४
मण्डपप्रवेशः ५८४
पुष्पशोधनम् ५८५
जलशोधनपूर्वकं प्रोक्षणम् ५८५
अमृतीकरणादि ५८६
मण्डपपूजा ५८६
पृथिवीपूजा ५८६
पृथिवीसम्प्रदानकमर्घ्यदानम् ५८६
तत्र प्रार्थनमन्त्रः ५८७
अर्घ्यदानमन्त्रः ५८७
करशुद्धिः ५८७
तत्र मन्त्रः ५८८
भौमविघ्नोत्सारणम् ५८८
दिव्यविघ्नोत्सारणम् ५८९
आन्तरिक्षविघ्नोत्सारणम् ५८९
दिग्बन्धनं वह्निप्राकारचिन्तनञ्च ५८९
दिग्बन्धनमन्त्रः ५८९
दिग्बन्धने प्रयोज्याऽस्त्रमुद्रा ५९०
वह्निप्राकारमन्त्रः ५९०
अस्त्रमुद्रा ५९०
जपविघ्नापनोदनम् ५९१
ब्रह्म-वास्तुपुरुषयोरर्चा ५९१
त्रिकोणमण्डलम् ५९१
तत्राऽऽसनस्थापनम् ५९१
आसनारोपणे ऋष्यादि ५९१
आसनार्चनमन्त्रः ५९२
मन्त्राचमनम् ५९२
आसनारोहणं गुरुपङ्क्तिपूजा च ५९२
तत्र साधकस्य वेशादिपारिपाव्यम् ५९३

विषयाः **पृष्ठाङ्काः**
आत्मरक्षा ५९३
करशुद्धिः ५९४
बालामन्त्रः ५९६
अङ्गन्यासः ५९६
तत्र क्रमान्तरम् ५९७
तत्राङ्गुलिनियमः ५९७
संकल्पः ५९८
भूतशुद्धिः ५९८
तत्र क्रमः ५९९
सप्रकृतिकायाः कुण्डलिन्याः परशिवे गमनम् ६०१
परमशिवस्य परबिन्दुस्वरूपत्वम् ६०१
स्वस्य देवीरूपत्वभावना ६०४
श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीस्वरूपम् ६०५
जीवन्यासः ६०५
प्राणप्रतिष्ठामन्त्रः ६०५
निरुक्तभूतशुद्धेः प्रामाणिकतन्त्रसंवादित्वम् ६०५
अन्यादृशो भूतशुद्धिक्रमः ६०६
भूतशुद्धेः क्रमान्तरम् ६०७
प्राणायामः ६०८
भूतशुद्धेः क्रमान्तरम् ६०८
प्राणायामः ६०८
प्राणायामपदव्युत्पत्तिः ६०९
प्राणायामभूतशुद्धिस्वस्वकल्पविहितन्यासानकुर्वतो देवार्चनेऽनधिकारिता ६०९
न्यासपदव्युत्पत्तिः ६०९
भूतशुद्धिपदव्युत्पत्तिः ६०९
ऋष्यादिन्यासः ६१०
षडङ्गन्यासोपदेशो मातृकान्यासस्य कर्त्तव्यत्वञ्च ६११
मातृकाया ऋष्यादिन्यासः ६११

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
मातृकायाः कराङ्गन्यासः	६१२
मातृकाध्यानम्	६१३
अन्तर्मातृकान्यासपरिपाटी	६१३
बाह्यमातृकान्यासः	६१५
तत्र बीजपूर्वकताविकल्पः	६१५
प्रत्यङ्गमेकैकाक्षरन्यासोपदेशः	६१६
अङ्गभेदेनाङ्गुलिनियमः	६१६
प्रणवादिनमोऽन्तत्वयोः सबिन्दु-निर्बिन्दुत्वयोश्च विकल्पः	६१८
सविसर्गबिन्दुविसर्गोभयवत्तयोर्विकल्पः	६१८
न्यासे मायादिबीजपूर्वकताविकल्पः	६१८
निरुक्ताङ्गुलिभिर्न्यासासम्भवे कर्त्तव्यम्	६१९
सूर्यादिदेवतापूजा	६१९
करन्यासः	६१९
षडासनन्यासः	६२०
षडङ्गन्यासोपदेशो वशिन्याद्यष्टक-न्यासक्रमश्च	६२२
षोढान्यासोपदेशः	६२८
षोढान्यासप्रशस्तिः	६२८
षोढान्यासघटकषड्विधन्यासोद्देशः	६३०
षोढायास्त्रैविध्यम्	६३०
अस्य प्रामाणिकतन्त्रसंवादित्वम्	६३१
पूर्वतो बीजयोगे कल्पभेदाः	६३१
न्यसनीयानां गणेशानां ध्यानम्	६३१
अस्य ऋष्यादिन्यासः	६३२
गणेशन्यासः	६३२
ग्रहन्यासप्रतिज्ञा	६३६
ग्रहाणां वर्णनिर्देशः	६३६
स्वरूपम्	६३७
न्यासपरिपाटी	६३७
तारान्यासोपदेशप्रतिज्ञा	६३८
ताराध्यानम्	६३८
न्यासपरिपाटी	६३९
क्रमान्तरम्	६४०
न्यासयोग्यस्थानानि	६४१
तारान्यासोपसंहारः, योगिनीन्यासोपदेशम्	६४३
डाकिनीध्यानम्	६४३
डाकिनीन्यासः	६४३
डाकिनीपरिवारदेवतान्यासः	६४५
राकिणीध्यानम्	६४५
राकिणीन्यासः	६४६
राकिणीपरिवारदेवतान्यासः	६४६
लाकिनीध्यानम्	६४७
लाकिनीन्यासः	६४७
लाकिनीपरिवारदेवतान्यासः काकिनीध्यानोपदेशश्च	६४८
काकिनीध्यानम्	६४८
काकिनीन्यासः	६४८
काकिनीपरिवारदेवतान्यासः	६४९
साकिनीध्यानम्	६४९
साकिनीन्यासः	६५०
साकिनीपरिवारदेवतान्यासः	६५०
हाकिनीध्यानम्	६५०
हाकिनीन्यासः	६५१
परिवारन्यासः	६५१
योगिनीन्यासस्य प्रस्थानान्तरम्	६५२
एतन्न्यासयोग्यान्यङ्गानि	६५२
राशिन्यासस्य कर्तव्यतोपदेशः	६५३
राशीनां वर्णाः	६५३
न्यासपरिपाटी	६५४
राशीनां वर्णनिरूपणे क्रमान्तरम्	६५५
न्यासस्थाननिरूपणे क्रमभेदः	६५५

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
पीठन्यासः	६५६
पीठानां वर्णनिर्णयः	६५६
पीठानां नामानि	६५७
षोढान्यासोपसंहारः	६६०
पीठन्यासप्रशस्तिः	६६०
पीठन्यासाकरणे दोषः	६६१
सशक्तिककामन्यासः	६६१
कामध्यानम्	६६१
कामशक्तिध्यानम्	६६१
पूर्वतो बीजयोगः	६६२
न्यसनीयदेवतानामानि	६६२
एतन्न्यासोपसंहारः	६६५
नवयोनिन्यासोपदेशः	६६५
श्रीविद्यान्यासः	६६७
तिथिनित्यान्यासः	६६८
कामेश्वरीन्यासः	६६९
भगमालान्यासः	६७०
नित्यक्लिन्नान्यासः	६७१
भेरुण्डा	६७२
वह्निवासिनी	६७३
महानित्येश्वरी	६७३
शिवदूती	६७४
त्वरिता	६७४
कुलसुन्दरी	६७५
महानित्या	६७५
पञ्चबाणमन्त्रः	६७५
नीलपताकिनी	६७६
विजया	६७७
सर्वमङ्गला	६७७
ज्वालामालिनी	६७८
विचित्रा	६७८

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
निरुक्तन्यासे विशेषः	६७९
श्रीविद्या	६७९
स्थितिन्यासः	६७९
सृष्टिन्यासः	६८१
संहारन्यासः	६८१
निरुक्तन्यासत्रयस्याधिकारिभेदः	६८३
चक्रेश्वरीन्यासः	६८३
तत्र स्थाननिरूपणम्	६८३
न्यासपरिपाटी	६८३
पीठन्यासः	६८५
तत्त्वन्यासः	६८७
अस्त्रन्यासः	६८८
न्यासपरिपाटी तत्र बाणन्यासः	६८९
धनुर्न्यासः	६९०
पाशन्यासः	६९१
अङ्कुशन्यासः	६९१
कूटन्यासः	६९२
त्रिपुरान्यासः	६९३
पञ्चाशत्त्रिपुरानिर्णयः	६९३
चक्रन्यासः तत्र सप्रशस्तिकन्यासप्रतिज्ञा	६९५
न्यासपरिपाटी, तत्र प्रथमावरणन्यासः	६९५
द्वितीयावरणन्यासः	६९९
तृतीयावरणन्यासः	७०१
चतुर्थावरणन्यासः	७०३
पञ्चमावरणन्यासः	७०५
षष्ठावरणन्यासः	७०६
सप्तमावरणन्यासः	७०८
अष्टमावरणन्यासः	७०९
नवमावरणन्यासः	७१२
श्रीचक्रन्यासोपसंहारः	७१४
व्यापकन्यासः	७१४

विषयाः **पृष्ठाङ्काः**

षोडशः प्रकाशः

अन्तर्यागनिरूपणःप्रतिज्ञा ७१५
निर्गुणस्यापि परमात्मनः सृष्टिप्रवृत्तिः ७१६
समासतः सृष्टिप्रक्रिया ७१७
निरुक्तभेकपृष्ठे कालाद्यर्चा ७१८
आधारशक्त्यादीनां स्वरूपं पूजनोपदेशश्च ७१८
पीठचतुष्टयार्चा ७१९
कल्पोद्यानार्चा ७१९
कल्पवृक्षस्य स्वरूपमर्चनोपदेशश्च ७१९
पारिजातादिचिन्ता ७२०
चिन्तामणिगृहादेः स्वरूपं तच्चिन्तनोपदेशश्च ७२०
रत्नवेदिकायाः स्वरूपं तच्चिन्तनोपदेशश्च ७२१
रक्षणादिपरिपाटी ७२१
योनिमुद्रा ७२१
ध्यानक्रमः ७२२
सशक्तिकद्वारपालध्यानोपदेशः ७२२
सहस्रारे देवीसंस्थापनम् ७२२
तयोरेकत्वचिन्ता ७२२
देवीपूजा, मानसयाग आवाहननिषेधश्च ७२२
पाद्याद्युपचारपात्रसंख्यानिरूपणम् ७२३
मानसपूजाक्रमः ७२३
तत्र पाद्याद्यर्पणनियमः ७२३
उपचारदानमन्त्रे विशेषः ७२३
अत्राऽऽगमान्तरसम्मतः क्रमभेदः ७२४
अत्रैव कल्पसूत्रकृतां मतम् ७२४
स्वयम्भूकुसुमादयो विशिष्टाः पूजोपचाराः ७२४
पञ्चदश भावपुष्पाणि ७२४
अन्ये उपचाराः ७२५
षडङ्गादिपूजा ७२५
स्नपनाङ्गमुद्वर्त्तनम् ७२५
देव्याः स्नपनम् ७२६
देवीशरीरालङ्करणक्रमः ७२७
श्रीपादुकान्तोपचारदानानन्तरं नमस्कारोपदेशः ७२८
नमस्कारमन्त्रः ७२८
पुनः पूजनोपदेशस्तत्क्रमश्च ७२८
दर्शयितव्यासु मुद्रासु सुन्दरीमुद्रा ७३०
विस्मयमुद्रा ७३०
नादमुद्रा ७३०
बिन्दुमुद्रा ७३०
ज्ञानमुद्रा ७३१
योगमुद्रा ७३१
बहिरन्तर्योनिमुद्रे ७३१
स्वयम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदेन समाधेर्द्वैविध्यम् ७३२
स्वयम्प्रज्ञातः ७३२
असम्प्रज्ञातः ७३२
स्वयम्प्रज्ञातभेदौ ७३३
असम्प्रज्ञातभेदौ ७३३
प्रथमस्य भेदयोः स्वरूपम् ७३३
द्वितीयस्य भेदयोः स्वरूपम् ७३३
विश्रामार्थ कुसुमशयने देव्याः स्थापनं प्रीतिसम्पादनञ्च ७३४
मानसयागफलम् ७३४
ज्ञानहोमनिरूपणोपक्रमः ७३४
चतुरस्रकुण्डम् ७३५
आत्मनां चातुर्विध्यम् ७३५
निरुक्तात्मज्ञानफलम् ७३५
आत्मनः स्वरूपम् ७३६
आत्मनश्चराचरशरीरव्यापकत्वम् ७३६

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
भ्रमवशादस्यैव जीवसंज्ञा	७३७
अन्तरात्मस्वरूपम्	७३८
परमात्मनः स्वरूपम्	७३८
ज्ञानात्मनः स्वरूपम्	७४०
आत्मचतुष्टयनिरूपणोपसंहारः	७४०
कुण्डस्य स्वरूपम्	७४०
कुण्डे होमः	७४१
हविः कल्पनम्	७४१
हविषा होमस्योपदेशः	७४१
प्रथमो मन्त्रः	७४१
द्वितीयो मन्त्रः	७४२
तृतीयो मन्त्रः	७४२
चतुर्थो मन्त्रः	७४२
होतुर्ब्रह्मरूपत्वम्	७४३
उपसंहारः	७४३

सप्तदशः प्रकाशः

यन्त्रनिरूपणप्रतिज्ञा	७४४
यन्त्रपदव्युत्पत्तिः	७४५
शरीरस्य त्रैविध्यम्	७४५
तत्स्वरूपम्	७४६
पूर्वप्रतिज्ञातमुद्रास्वरूपम्	७४८
मुद्रापदव्युत्पत्तिः	७४९
यन्त्रनिर्माणाधारोपकरणादिनिर्णयः	७५०
कल्पान्तरम्	७५१
चक्रस्य क्रमेणोन्नतमध्यत्वे फलभेदाः	७५१
श्रीचक्रनिर्माणस्थापनपूजनप्रशस्तिः	७५२
यन्त्रमन्त्रदेवतानामभेदः	७५२
यन्त्रं विना पूजने दोषः	७५३
रात्रौ यन्त्रनिर्माणनिषेधः	७५३
यन्त्रपुष्पे पूजनोपदेशः	७५४
श्रीचक्रनिर्माणपरिपाटी तत्र त्रिकोणमष्टकोणञ्च	७५४
अन्तर्दशारम्	७५७
बहिर्दशारम्	७६०
चतुर्दशारम्	७६१
अष्टारादिचक्रत्रयम्	७६४
बिन्दुचक्रस्य सर्वचक्रमध्यवर्त्तित्वम्	७६४
त्रैलोक्यमोहनचक्रम्	७६५
सर्वाशापरिपूरकचक्रम्	७६६
सर्वसंक्षोभणचक्रम्	७६६
निरुक्तत्रितयात्मकं सृष्टिचक्रम्	७६७
सर्वसौभाग्यदायकचक्रम्	७६७
सर्वार्थसाधकचक्रम्	७६८
सर्वरक्षाकरचक्रम्	७६८
निरुक्तत्रितयात्मकं स्थितिचक्रम्	७६८
सर्वरोगहरचक्रम्	७६८
सर्वसिद्धिप्रदचक्रम्	७६९
सर्वानन्दमयचक्रम्	७६९
निरुक्तत्रितयात्मकं संहारचक्रम्	७७०
निरुक्तचक्रे पुष्पाञ्जलिदानोपदेशः	७७०
चक्रस्याशून्यतासम्पादनोपदेशः	७७०
नवचक्रोपसंहारः	७७०
चक्रेश्वरीणां नामानि	७७१
चक्रे स्वस्वस्थानेऽर्चनीया देवताः	७७१
निरुक्तचक्रसङ्केतज्ञानवैभवम्	७७२
निरुक्तश्रीचक्रज्ञानप्रशस्तिः	७७२
श्रीचक्ररहस्यनिरूपणप्रतिज्ञा	७७३
त्रिकोणान्तर्बिन्दुरहस्यम्	७७४
त्रिकोणरहस्यम्	७७५
अष्टाररहस्यम्	७७६
अन्तर्दशाररहस्यम्	७७७
बहिर्दशाररहस्यम्	७७७

विषयाः पृष्ठाङ्काः
चतुर्दशाररहस्यम् ७७८
अष्टदलरहस्यम् ७७९
षोडशदलरहस्यम् ७७९
यन्त्रस्य परिमाणभेदाः ७८१
बिन्दुचक्रे महाकामकलाया अवस्थितिः ७८२

विषयाः पृष्ठाङ्काः
श्रीचक्रोद्धारे दिङ्नियमः ७८३
श्रीचक्रस्थापनाधारः ७८५
सीसकादिषु चक्रस्थापननिषेधः ७८५
पीठपूजा ७८६

अष्टादशः प्रकाशः

सामान्यार्घ्यस्थापनम् (तत्र मण्डलम्) ७९२
शङ्खाधारस्थापनम् ७९३
आधारभेदाः ७९३
मन्त्रोपदेशः ७९३
पादुकामन्त्रप्रयोगः ७९४
वह्नेर्दशकलाः ७९४
कल्पान्तरम् ७९४
कलानामासां स्वरूपम् ७९५
सकल-वह्निमण्डलार्चाक्रमः ७९६
सकलसूर्यमण्डलार्चा ७९६
द्वादश सौरकलाः ७९६
प्रकारान्तरम् ७९७
कलार्चाक्रमः ७९७
कलानां स्वरूपम् ७९८
सौरमण्डलार्चाक्रमः ७९८
अर्घ्यपात्रापूरणं सोमकलार्चोपदेशश्च ७९८
षोडश सोमकलाः ७९९
प्रकारान्तरम् ७९९
सोमकलानां स्वरूपमर्चाक्रमश्च ८००
सोममण्डलार्चा ८००
आनन्दभैरवयोः पूजनम् ८००
आनन्दभैरवमन्त्रः ८०१
आनन्दभैरवीमन्त्रः ८०२
अर्घ्ये जपक्रमः ८०२
उपसंहारः ८०२
श्रीपात्रकल्पना ८०२
मण्डलनिर्माणम् ८०३
पीठचतुष्टयाद्यर्चा ८०४
षट्कोणार्चायां विकल्पः ८०४
त्रिकोणाद्यर्चा ८०५
मण्डलेऽर्घ्याधारस्थापनक्रमः ८०५
आधारार्चा ८०५
अर्घ्यपात्रनिर्णयः ८०६
कामनाभेदेन पात्रभेदाः ८०७
सर्वत्र विश्वामित्रपात्रस्य प्राशस्त्यम् ८०८
पात्रभेदेन फलभेदाः ८०८
अर्घ्यपात्रपरिमाणम् ८०८
वर्जनीयपात्रनिरूपणम् ८०९
पात्रस्थापनक्रमः ८०९
पात्रप्रतिष्ठापनमन्त्रः ८१०
सूर्यकलामण्डलार्चा ८१०
मण्डलविधिः ८१०
पात्रापूरणक्रमः ८११
पात्रापूरणद्रव्याणि ८११
अर्घ्यद्रव्याणि ८१२
सकलसोममण्डलार्चा ८१२
गन्धाष्टकम् ८१२
अर्घ्यामृते यन्त्रलेखनादिक्रमः ८१३
तत्रार्चावाहने ८१३
पञ्चरत्नार्चाक्रमः ८१३
पञ्चरत्नमन्त्रः ८१३
पञ्चरत्नानि ८१४

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
आनन्दभैरवार्चा	८१५
प्रथमो मन्त्रः	८१५
द्वितीयः	८१५
तृतीयः	८१५
चतुर्थः	८१६
पञ्चमः	८१७
आवाहनादिक्रमः	८१८
नवमुद्राप्रदर्शनम्	८१८
त्रिकोणे बीजयोगार्चाप्रक्रिया	८१९
शङ्खमुद्राप्रदर्शनोपदेशः	८१९
शङ्खमुद्रास्वरूपम्	८१९
सकलीकरणमुद्रा	८२०
जपस्य संख्याभेदः	८२०
तर्पणम्	८२१
कौलिकी मुद्रा	८२१
कौलिकमुद्रया तर्पणस्योपयोगित्वम्	८२१
कामनाभेदेन तर्पणे मुद्राभेदाः	८२२
आगमान्तरसम्मतः क्रमः	८२२
आत्मोपकरणादिप्रोक्षणक्रमः	८२३
प्रोक्षणफलम्	८२३
देव्यङ्गदेवतातर्पणविधिः	८२४
वटुकादिपूजोपदेशः	८२४
क्षेत्रपालादिबलिमदत्त्वा देवतान्तरपूजननिषेधः	८२४
बलिदानाकरणे दोषश्रुतिः	८२४
उपसंहारः	८२४
वटुकपूजामकृत्वा सुन्दरीपूजानिषेधः	८२५
आगमान्तरसम्मतिः	८२५
वटुकादिपूजाक्रमः, तत्राऽऽदौ मण्डलनिर्माणम्	८२५
मण्डलार्चामन्त्रः	८२६
वटुकार्चोपदेशः	८२६
वटुकध्यानम्	८२६
वटुकबलिमन्त्रः	८२६
वटुकबलिक्रमः	८२७
योगिनीपूजोपदेशः	८२८
योगिनीध्यानम्	८२८
योगिनीपूजामन्त्रः	८२८
योगिनीबलिः	८२९
अङ्गुलिनियमः	८२९
क्षेत्रपालार्चा	८२९
क्षेत्रपालध्यानम्	८२९
क्षेत्रपालबलिदानोपदेशः	८३०
बलिदानक्रमः	८३०
अङ्गुलिनियमः	८३०
गणेशपूजनोपदेशः	८३०
गणेशध्यानम्	८३०
गणेशपूजाक्रमः	८३१
गणेशबलिमन्त्रः	८३१
गजतुण्डामुद्रा	८३२
मण्डलपूजा	८३२
सर्वभूतबलिः	८३२
बलिमन्त्रः	८३३
बलिमुद्रा	८३३
निरुक्तबलौ कल्पान्तरम्	८३३
पुनः कल्पान्तरम्	८३४
पुनः षडङ्गपूजा	८३४
हृदये मूर्त्तिकल्पना	८३४
ध्याने विहितं मुद्राद्वयम्	८३४
ध्यानयोगः	८३५
देव्या ध्यानम्	८३७
ध्यानान्तरम्	८४०
निरुक्तध्यानप्रशस्तिः	८४६
निरुक्तस्वरूपाया देव्या हृदयादावाहनम्	८४८
त्रिखण्डा मुद्रा	८४८

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
त्रिखण्डया देव्या आवाहनम्	८४८
पुष्पाञ्जलौ समानयनम्	८४९
प्रार्थनामन्त्रः	८४९
यन्त्रे देव्याः स्थापनम्	८४९
आवाहनी मुद्रा	८५०
स्थापनी मुद्रा	८५०
सन्निधापनी मुद्रा	८५०
सन्निरोधिनी मुद्रा	८५१
आवाहनस्वरूपम्	८५२
स्थापनस्वरूपम्	८५२
सन्निधापनस्वरूपम्	८५३
सन्निरोधस्वरूपम्	८५३
अवगुण्ठनम्	८५३
सकलीकरणम्	८५३
अमृतीकरणम्	८५३
परमीकरणम्	८५३
जीवन्यासः	८५३
लेलिहामुद्रा	८५४
सकलीकरणस्वरूपम्	८५४
त्रितालादिपरमीकरणान्तं कर्म	८५४
परिवारदेवतास्वरूपम्	८५५
मुद्रानवकदर्शनोपदेशः	८५५
तत्र सर्वसंक्षोभणी मुद्रा	८५५
सर्वविद्रावणी मुद्रा	८५६
सर्वाकर्षिणी मुद्रा	८५३
सर्ववश्यकरी मुद्रा	८५७
सर्वोन्मादिनी मुद्रा	८५७
महाङ्कुशा मुद्रा	८५८
खेचरी मुद्रा	८५९
खेचरीमुद्राप्रशस्तिः	८५९
बीजमुद्रा	८६०
योनिमुद्रा	८६०
निरुक्तमुद्राबीजनिरूपणम्	८६१
तर्पणोपदेशः	८६२
षोडशोपचारैः पूजनस्योपदेशः	८६३
षोडशोपचाराः	८६३
कल्पान्तरम्	८६४
दशोपचाराः	८६४
पञ्चोपचाराः	८६४
क्रमेणैतेषामुत्तममध्यमाधमत्वम्	८६४
उपचारेषु कस्यचिदलाभे व्यवस्था	८६४
प्रत्युपचारानन्तरं जलदानम्	८६५
देवीशिरसि पुष्पदानम्	८६५
देव्या ऊर्ध्वे करभ्रामणनिषेधः	८६५
पुष्पाद्यभावे व्यवस्था	८६५
पुष्पाद्युपचाराणां परत्वापरत्वादि	८६६
पुष्पनिवेदनक्रमः	८६६
ज्ञानमुद्रा	८६६
पुष्पादिदाने विशेषः	८६७
तर्पणम्	८६७
देव्या उद्वर्तनाद्यलङ्कारदानान्तं कर्म	८६७
पाद्याद्यर्पणम्	८६७
गन्धाद्यर्पणम्	८६८
नैवेद्यनिवेदनक्रमः	८६८
बलिदाने विशेषः	८६९
व्यजनाद्युपचारैर्देव्याः परितोषविधानम्	८६९
तर्पणम्	८६९
परिवारदेवतार्चोपदेशः	८७०
षण्णामङ्गदेवतानां पूजा	८७०
तासां ध्यानम्	८७०
पूजास्थापनम्	८७०
पुनस्तर्पणं पुष्पाञ्जलिदानञ्च	८७२
परिवारपूजायामादौ बीजयोजनक्रमः	८७२
पादुकामन्त्रः	८७२
न्यासेऽपि पादुकामनोः प्रयोज्यत्वम्	८७३
तर्पणसंख्या	८७३

विषयाः पृष्ठाङ्काः

होमादौ वाक्यभेदाः ८७३
षोडशतिथिनित्यार्चायां स्वरविन्यासः ८७३
कामेश्वर्यादिपूजनोपदेशः ८७३
कामेश्वर्या ध्यानम् ८७४
भगमालायाः ८७५
नित्यक्लिन्नायाः ८७५
भेरुण्डायाः ८७५
वह्निवासिन्याः ८७६
महानित्येश्वर्याः ८७६
शिवदूती ८७७
त्वरिता-कुलसुन्दर्योः ८७७
नित्यायाः ८७८
नीलपताकायाः ८७९
विजयायाः ८७९
सर्वमङ्गलायाः ८७९
ज्वालांशुमालिन्याः ८८०
विचित्रायाः ८८०
श्रीमत्त्रिपुरसुन्दर्याः ८८१
प्रतिपदादिष्वेकैकनित्यार्चायाः फलम् ८८१
सुन्दर्याः सर्वासु तिथिषु पूज्यत्वम् ८८१
पक्षभेदेनार्चायां क्रमभेदः ८८१
नित्यानां तर्पणद्रव्यम् ८८२
पूजनम् ८८२
देव्यनुज्ञाग्रहणम् ८८२
गुरुपूजनोपदेशः ८८३
कल्पान्तरम् ८८३
प्रयोगक्रमः ८८३
गुरुक्रमनिरूपणप्रतिज्ञा ८८३
सप्त दिव्यौघाः ८८४
सिद्धौघाः पञ्च ८८४
मानवौघाः सप्त ८८५
निगमनम् ८८५
स्वगुर्वादियागः ८८५

विषयाः पृष्ठाङ्काः

गुरुवंशप्रकर्षः ८८६
मन्त्रदातुः प्रकर्षः ८८६
निरुक्तगुरुनामाज्ञाने कर्त्तव्यम् ८८६
निगमनम् ८८६
गुरुपङ्क्तिपूजाप्रशस्तिः ८८६
लोपामुद्राया गुरुक्रमः ८८६
दिव्यौघाः ८८६
सिद्धौघाः मानवौघाश्च ८८७
विद्यान्तराणां गुरुक्रमः ८८८
आम्नायदेवतापूजनोपदेशः ८९०
पूर्वाम्नायार्चा ८९०
दक्षिणाम्नायार्चा ८९०
पश्चिमोत्तराम्नायार्चा ८९१
अध-ऊर्ध्व-आम्नायार्चा ८९१
तर्पणम् ८९१
पञ्चपञ्चिकाः, तत्र पञ्चलक्ष्म्यः ८९१
पञ्च कोशाः ८९२
पञ्च कल्पलताः ८९२
पञ्च कामदुघाः ८९२
पञ्चरत्नाः ८९२
पञ्चपञ्चिकार्चाख्यानम् ८९२
पञ्चपञ्चिकार्चाक्रमः ८९३
निगमनम् ८९३
तर्पणम् ८९३
अणिमादिप्रकटयोगिनीध्यानम् ८९६
अणिमाद्यर्चास्थानम् ८९६
असिताङ्गाद्यष्टभैरवनिरूपणम् ८९७
भैरवाणां ध्यानम् ८९८
अष्टशक्तीनां ध्यानम्, तत्र ब्रह्माण्याः ८९८
माहेश्वर्याः ८९८
कौमार्याः ८९८
वैष्णव्याः ८९९
वाराह्याः ८९९

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
इन्द्राण्याः	८९९
चामुण्डायाः	८९९
महालक्ष्म्याः	८९९
निरुक्ताष्टशक्तीनां पूजायां विशेषः	८९९
पूजास्थानम्	९००
मन्त्रे विशेषः	९००
मुद्रार्चा	९०२
निगमनम्	९०२
चक्रार्चा	९०३
त्रिपुरायाः स्वरूपं पूजनञ्च	९०३
अणिमासिद्ध्याद्यर्चा	९०३
बौद्धमन्त्रः	९०४
बुद्धतद्दर्शनयोरर्चा	९०४
देव्यै पूजार्पणम्	९०४
गुप्तयोगिनीनां स्वरूपमर्चाक्रमश्च	९०५
कामाकर्षिण्यादिषोडशगुप्तयोगिन्यः	९०५
तासामर्चास्थानम्	९०५
चक्रपूजा	९०७
चक्रनायिकार्चा	९०७
मुद्रादर्शनम् ब्रह्मणः पूजनञ्च	९०८
पूजामन्त्रः	९०८
दर्शनार्चा	९०८
पूजासमर्पणम्	९०८
गुप्ततरयोगिनीनामर्चा स्वरूपञ्च	९०८
आसां तृतीयावरणवृत्तित्वम्	९०९
चक्रार्चा	९१०
चक्रनायिकार्चा	९११
मुद्राप्रदर्शनम्, शिवार्चा	९११
दर्शनार्चा	९११
पूजासमर्पणम्	९११
सत्सम्प्रदाययोगिनीनामर्चा	९१२
तासां स्वरूपम्	९१२
चतुर्दश सत्सम्प्रदाययोगिन्यः	९१२
एतासां प्रथमावरणवृत्तित्वम्	९१३
अर्चाक्रमश्चक्रपूजनञ्च	९१३
एतच्चक्रनायिकायाः पूजनं स्वरूपञ्च	९१४
मुद्राप्रदर्शनं सूर्यपूजनञ्च	९१४
दर्शनार्चा	९१४
पूजासमर्पणम्	९१५
कुलकौलिकयोगिनीनां स्वरूपं स्थापनञ्च	९१५
पूजापरिपाटी	९१५
दश कुलकौलिकयोगिन्यः	९१६
एतासां पूजनोपदेशः	९१६
चक्रार्चा	९१७
चक्रनायिकार्चा	९१७
मुद्राप्रदर्शनादि	९१७
निगर्भयोगिनीनां स्वरूपं स्थानञ्च	९१८
पूजापरिपाटी	९१८
दश निगर्भयोगिन्यः	९१८
चक्रार्चा चक्रनायिकार्चा	९१९
मुद्राप्रदर्शनादि	९१९
पूजासमर्पणम्	९२०
स्थितिचक्रोपसंहारः संहारचक्रनिरूपणप्रतिज्ञा च	९२०
वशिन्याद्यष्टरहस्ययोगिन्यः	९२०
तासां स्वरूपम्	९२०
पूजाक्रमः	९२०
एतासामष्टारवृत्तित्वम्	९२१
चक्रपूजा	९२२
चक्रनायिकार्चा	९२२
चक्रनायिकायाः स्वरूपम्	९२२
मुद्राप्रदर्शनादि	९२२
पूजासमर्पणम्	९२२
बाणार्चा	९२२
बाणानां स्वरूपम्	९२३

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
बाणानां संज्ञाः पूजाक्रमश्च	९२३
अङ्गदेवतार्चा	९२३
बिन्दुचक्रे श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीसपर्या	९२५
बैन्दवचक्रार्चा	९२६
चक्रनायिकार्चा	९२६
मुद्रादर्शनादि	९२६
मूलदेव्यै पूजासमर्पणम्	९२६
पुनः सपर्योपदेशः	९२८
पुनरर्घ्यत्रयदानम्	९२८
विविधोपचारैः पूजनम्	९२८
उपचारदाने पाद्यस्य प्रार्थनामन्त्रः	९२९
अर्घ्यस्य	९२९
आचमनीयस्य	९२९
मधुपर्कस्य	९२९
गन्धस्य	९२९
पुष्पस्य	९२९
षोडशाङ्गधूपप्रमाणम्	९३१
अन्यादृशधूपप्रमाणम्	९३२
अन्यादृशधूपप्रमाणम्	९३२
धूपदानक्रमः	९३३
धूपस्य प्रार्थनामन्त्रः	९३३
दीपस्य	९३३
कल्पान्तरम्	९३३
प्रार्थनामन्त्रान्तरम्	९३३
धूपदाने दिङ्नियमः	९३४
भूम्यादौ धूपस्थापननिषेधः	९३४
दीपदाने दिङ्नियमः	९३४
सप्तविधाः प्रदीपाः	९३४
पञ्चविधा वर्तिकाः	९३४
प्रशस्तानि दीपपात्राणि	९३५
दीपदानक्रमः	९३५
माल्यदाने प्रार्थनामन्त्रः	९३५
मधुरद्रव्यदानन्तर्पणञ्च	९३५

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
चरुपाकोपदेशः	९३६
चरुपाकक्रमः	९३६
चरोरवतारणम्	९३६
चरुविभागः	९३६
आरात्रिकम्, तत्राष्टदलपद्मनिर्माणम्	९३७
तत्रौदनस्य नवभागकल्पनम्	९३७
अष्टदलेषु शुद्धौदनस्थापनम्	९३७
नवमभागस्य कर्णिकायां स्थापनम्, नवमुद्राप्रदर्शनम्	९३७
पद्मे पूजनम्	९३८
दीपपात्रस्य भ्रामणम्	९३९
आरात्रिकमन्त्रः	९३९
मुद्रादर्शनम्	९३९
चक्रमुद्रा	९३९
नैवेद्यार्पणम्	९४०
नैवेद्यपात्राणि	९४०
अर्घ्येतरपात्रीयतोयैर्नैवेद्योत्सर्गनिषेधः	९४०
नैवेद्यम्	९४०
तत्स्थापनार्हं मण्डलम्, तत्राऽऽधार-शक्त्यर्चनञ्च	९४१
नैवेद्यस्थापनं प्रोक्षणादि संस्काराश्च	९४२
नैवेद्यार्चना	९४२
निवेदनप्रकारः	९४३
नैवेद्यालाभे व्यवस्था	९४३
देव्यै चुल्लुकदानं मुद्राप्रदर्शनोपदेशश्च	९४३
प्राणादिपञ्चमुद्रामन्त्राः	९४३
तत्र प्राणमुद्रा	९४३
अपानमुद्रा	९४४
व्यानमुद्रा	९४४
उदानमुद्रा	९४४
समानमुद्रा	९४४
ग्रासमुद्रा	९४४
पानीयदानम्	९४५

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
पुनर्गण्डूषदानं ताम्बूलदानञ्च	९४५
ताम्बूलदाने मन्त्रः	९४६
माल्यादिदानम्	९४७
नृत्यगीतादि	९४७
पुष्पाञ्जलिदानं तर्पणञ्च	९४७
सपर्यात्रैविध्यम्	९४७
परादीनां लक्षणम्	९४७
पुनः प्राणायामः कामकलास्मरणञ्च	९४९
आत्मनः कामकलाभेदचिन्ता	९५०
श्रीगुरुपादुकाध्यानम्	९५०
सैव कुलकुण्डलिनीशक्तिः	९५०
प्राणस्य स्वरूपम्	९५१
शक्तेश्चेष्टाविशेषः	९५१
शक्तौ मनोलयनम्	९५१
मन्त्रशिखोत्पत्तिः	९५१
शिखाहीनमन्त्रस्य निष्फलत्वम्	९५१
शिखाया गुप्तत्वम्	९५२
तद्वैपरीत्ये सिद्ध्यभावः	९५२
स्वापकाले मन्त्रजपस्याऽऽनर्थक्यम्	९५२
स्वापस्य जागरस्य च लक्षणम्	९५२
मन्त्रविशेषे स्वापजागरयोर्विशेषः	९५२
प्रबोधकालः	९५२
शिवशक्तिसङ्गमकालः	९५२
त्रिपुरागायत्रीप्रशंसायां हरिहरसंवादः	९५३
गायत्रीकथनम्	९५४
गायत्रीजपानन्तरमन्यजपस्याधिकारिता	९५४
त्रिपुरागायत्रीजपफलानि	९५५
गायत्रीजपस्य नियमः	९५५
निगदादिना जपस्तेषां लक्षणानि च	९५६
जपानामधममध्यमोत्तमत्वनिरूपणम्	९५७
जपकाले अतिह्रस्वातिदीर्घोच्चारणयोर्निषेधः	९५८
जपरीतिः	९५८

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
दशाविशेषे स्तवजपयोर्निष्फलता	९५८
जपे अङ्गुलिनियमः	९५८
जपे अङ्गुलिवियोगनिषेधः	९६१
अङ्गुल्यग्रे जपस्य निष्फलत्वम्	९६१
जपारम्भे विसर्गे च प्राणायामः	९६२
जपसमर्पणम्	९६३
समर्पणमन्त्रः	९६३
देव्यै रुधिरदानम्	९६४
स्तवपाठानन्तरं प्रदक्षिणस्य कर्त्तव्यता	९६४
अष्टाङ्गप्रणामस्य कर्तव्यता	९६४
अष्टाङ्गप्रणामलक्षणम्	९६५
प्रकारान्तरेणाष्टाङ्गप्रणामः	९६६
पुनर्दण्डवत् प्रणामः	९६६
देवाग्रे भ्रमणनिषेधः	९६६
अकृताञ्जलेः प्रणामनिषेधः	९६६
प्रणामे मूर्ध्ना भूमिस्पर्शस्य कर्त्तव्यता	९६६
दण्डवत्प्रणामफलम्	९६७
पुनर्दर्पणादिदानम्	९६७
पुनर्मुद्राप्रदर्शनम्	९६८
नित्यहोमः	९६८
स्थण्डिलप्रमाणम्	९६८
मण्डलकरणम्	९६८
मण्डलषट्कोणे षडङ्गपूजा मध्ये देवीपूजा च	९६८
क्रव्यादांशत्यागो वह्निस्थापनञ्च	९७३
वह्निदेवतयोरैक्यं विभाव्य इष्टपूजा	९७३
घृतशोधनम्	९७३
देव्या व्याहृतिहोमः	९७४
जपदशांशहोमः	९७४
प्राणाहुत्यादिदानम्	९७४
आवरणदेवताहोमः	९७४
मूलेन षडाहुतिहोमः	९७४
आहुतित्रयम्	९७४

विषयाः पृष्ठाङ्काः
देव्या विसर्जनम् ९७४
होमदशांशेन तर्पणम् ९७४
दुग्धेन तर्पणोपदेशः मद्येन तर्पणनिषेधश्च ९७४
मद्यस्य त्रैविध्यम् ९७५
ब्राह्मणादीनां तर्पणद्रव्याणि ९७५
देव्यै मद्यदाननिषेधः ९७५
ब्राह्मणस्य वामाचारिणोऽपि मद्यदाननिषेधः ९७५
मद्येऽनुकल्पः ९७६
बृहच्छ्रीक्रमतन्त्रमतेन निरुक्ततर्पणप्रकारः ९७६
ज्ञानार्णवमतोल्लेखः ९७७
आत्मनः कामकलारुपचिन्तनम् ९७७
ग्रहादीनां पूजा ९८२
कलादीनां डाकिन्यादीनां च पूजा ९८२
पूजास्थानं फलञ्च ९८३
अङ्गबलिदानम् ९८३
बलिदानमन्त्रः ९८३
प्रसादस्वीकरणम् ९८३
आत्मसमर्पणम् ९८३
विषयाः पृष्ठाङ्काः
ईदृशी पूजा पुरश्चरणेऽपि ९८३
पराङ्मुखार्घ्यदानम् ९८३
देव्यङ्गे सर्वदेवताविलयनम् ९८३
आत्मनः पुनः कामकलारूपचिन्तनम् ९८४
विसर्जनम् ९८४
देव्यङ्गे षडङ्गन्यासः ९८४
यन्त्रस्थपुष्पाघ्राणम् ९८४
विसर्जनमन्त्रः ९८४
विसर्जनानन्तरकृत्योपदेशः ९८४
शेषिकासुन्दरीपूजनमन्त्रः ९८५
कामकलाध्यानम् ९८५
प्राणायामः षडङ्गन्यासश्च ९८५
श्रीपादुकापूजा ९८५
मानसकर्मयोगः ९८५
कर्मयोगाभ्यासे सिद्धिः ९८६
निर्माल्यादीनां धारणाद्युपदेशः ९८७
गुरुप्रणामः ९८७
शङ्खजलप्रशंसा ९८७
श्रीचक्रपादोदकप्रशंसा ९८८
भङ्ग्या स्वोक्तौ प्रामाण्योपन्यासः ९८८

एकोनविंशः प्रकाशः

त्रिपुरार्णवोक्तं त्रिपुरसुन्दरीस्तोत्रम् ९८९
शङ्कराचार्योक्तं स्तोत्रम् ९९३
त्रिपुरार्णवोक्तं त्रिपुरसुन्दरीकवचम् १०१०
षोडशी-कवच पूर्वपीठिका १०१६
त्रिपुरासुन्दरीशतनामस्तोत्रम् १०२०

विंशतितमः प्रकाशः

मन्त्राणां पुरश्चरणकथनम् १०२४
पुरश्चरणं विना मन्त्रसिद्ध्यभावः १०२४
पुरश्चरणस्य कर्त्तव्यता १०२४
पुरश्चरणेतिकर्त्तव्यता १०२५
पुरश्चरणस्थानानि १०२५
पुरश्चरणे भोजननियमाः १०२६
पुरश्चरणे वर्ज्याणि १०२७
मन्त्रजपानन्तरकर्त्तव्यानि १०२७
गुरुवन्दनम् १०२७
नित्यनैमित्तिकादिकर्त्तव्यता १०२७
स्नान-तर्पणोपदेशः १०२७
त्याज्यानि १०२८

विषयाः पृष्ठाङ्काः
अन्यतो वस्तुग्रहणनिषेधः १०२८
दशाविशेषे जपनिषेधः १०२८
जपे विशेषोपदेशः १०२९
जपे दिनलङ्घननिषेधः १०२९
जपे कालकथनम् १०३०
जपे वस्त्रनियमः १०३०
जपतो जपत्यागकारणानि १०३०
पुनर्जपे कर्त्तव्यानि शौचादीनि १०३०
प्रात्यहिकजपकरणम् १०३०
पुरश्चरणे शय्यानियमः १०३०
देवीपूजाधारकथनम् १०३०
खड्गादीनां विशेषः १०३१
देशविशेषे देवीपूजाफलम् १०३१
पुरश्चरणविधिः १०३२
भूमिसंस्कारे कीलकस्थापनम् १०३२
कीलेषु दिक्पतिपूजनम् १०३३
दिक्पतिभ्यो बलिदानं वास्तुदेवतापूजनञ्च १०३३
क्षेत्रपालादीनां पूजा १०३३
कूर्मचक्रलिखनम् १०३४
एवं पूर्वदिने भूमेः संस्कारः १०३६
आरम्भदिने प्रातःकृत्यादि १०३६
जपे उपवेशनादिप्रकारः १०३६
प्रतिदिनजपसंख्या १०३६
शिवप्रतिमादि सन्निधौ जपोपदेशः १०३६
प्रातरारभ्य मध्याह्नपर्यन्तं जपः कर्त्तव्यः १०३६
जपे आसननिर्णयः १०३७
यतिब्रह्मचारिणोर्विशेषः १०३८
आसनपरिमाणम् १०३८
भूम्याद्यासनानां फलवैशिष्ट्यम् १०३८
अभिचारादिकर्मस्वासनविशेषः १०३९
मालानिरूपणम् १०३९
सबिन्दुवर्णोच्चारणानन्तरं मन्त्रजपनिरूपणम् १०३९
मालामेरुनिरूपणम् १०३९
मालाविशेष-फल-निरूपणम् १०३९
मालायां संख्यानिरूपणम् १०४०
काश्यां सिद्धिदोषकथनम् १०४०
सूत्रवर्णकथनम् १०४०
सूत्र-सम्पातनम् १०४०
सूत्र-तन्तु-विशेषेण मालाविशेषग्रन्थनम् १०४१
कल्पोक्तसंख्यया जपकथनम् १०४१
होमसंख्यानियमः १०४१
प्रकारान्तरम् १०४१
तर्पणकथनम् १०४२
तर्पणे वस्तुनियमः १०४२
अभिषेकनिरूपणम् १०४२
ब्राह्मणभोजननिरूपणम् १०४३
प्रकारान्तरेणाङ्गनिरूपणम् १०४३
होमाद्यशक्तौ तत्तत्संख्याद्विगुणादिजपः १०४३
मन्त्रदुष्टत्वकथनम् १०४३
उत्तमभोजनदाने सर्वस्य सफलता १०४३
गुरवे दक्षिणादानम् १०४४
ज्ञाति-द्विजपूजा १०४४
कृतसङ्कल्पस्य पुरश्चरणस्यात्याज्यता १०४४
अकृतसङ्कल्पिनः कृत्यम् १०४४
मानसजपे दोषाभावः १०४४
जपस्य श्रेष्ठत्वम् १०४४
पुरश्चरणान्मन्त्रासिद्धौ उपायान्तरकथनम् १०४५
द्रावणादीनामुद्देशः १०४५
द्रावणकथनम् १०४५
रोधनकथनम् १०४५
वश्यकथनम् १०४६
पीडनकथनम् १०४६

विषयाः पृष्ठाङ्काः
पोषणकथनम् १०४६
शोषणकथनम् १०४६
दहनकथनम् १०४७
पुरश्चरणानन्तरं गुरुपूजा मन्त्रादीनां गोपनञ्च १०४८
मन्त्रदेवतागुरुषु भक्तिः कर्तव्या १०४८
मन्त्रदेवतयोरैक्यम् १०४८
मन्त्रसिद्धौ सर्वसिद्धिः १०४९
एकद्व्यादिलक्षसंख्याभेदेन फलभेदः १०४९
नवलक्षजपे स्थानभेदः १०५०
नवचक्रभेदेन नवलक्षजपे सिद्धिः १०५३
प्रकारान्तरेण जपसिद्धिः १०५३
मालासंस्कारकथनम् १०५४
अप्रतिष्ठितमालया मन्त्रजपनिन्दा १०५४
मालासूत्रनिर्माणम् १०५४
मालायां ग्रन्थिकरणम् १०५४
ग्रन्थिहीने दोषाभावो देवीविशेषे १०५४
मालाशोधने क्रियाविशेषः १०५५
मालायां गन्धादिदानम् १०५५
शक्तिविषये मन्त्राभावमतनिरासः १०५६
मालास्थापनम् १०५६
विषयाः पृष्ठाङ्काः
मालायाः स्वयं संस्कारकालः १०५७
प्रत्यहं पूजान्ते मालाजपः १०५७
मालापूजायां मन्त्रविशेषः १०५८
मालाप्रार्थनामन्त्रः १०५८
मालाऽभिमन्त्रणम् १०५८
मालाजपे अङ्गुलिनियमः १०५८
जपान्ते मालास्थापनम् १०५९
मालायाः संगोपनम् १०५९
संख्यां विना जपनिषेधः १०५९
मालायाः पुनः सूत्रग्रन्थनकालः १०६०
मालायाः करभ्रंशादिदोषे कर्त्तव्योपदेशः १०६०
प्रकारान्तरेण मन्त्रसिद्धिकथनम् १०६०
शिष्यमन्त्रयोरैक्यकथनम् १०६०
तत्र नियमविशेषः १०६१
देशिकस्यैतज्ज्ञानाभावे निन्दा १०६१
यत्र कुत्र रहस्यं न वक्तव्यम् १०६२
त्रिमधुरसंज्ञा १०६२
रहस्यपुरश्चरणादिकं श्यामारहस्यतो ज्ञातव्यम् १०६२
बलिदानकथनम् १०६३

एकविंशतितमः प्रकाशः

ब्रह्महत्यादिप्रायश्चित्तकथनम् १०६५
तत्र क्रमः १०६५
जवापुष्पेन पूजाप्रशंसा १०६६
सुगन्धिकुसुमैः पूजाफलम् १०६६
शम्यादिभिः पूजाफलम् १०६६
केतकीपत्रैः पूजाफलम् १०६६
शतपत्रैः पूजाफलम् १०६६
श्वेतपद्मैः पूजाफलम् १०६६
बन्धूककुसुमैः पूजाफलम् १०६७
बिल्वपत्रैः पद्मैश्च पूजाफलम् १०६७
मल्लिकादिपुष्पैः पूजाफलम् १०६७
अगस्त्यादिपुष्पः पूजनफलम् १०६७
चम्पकादिपुष्पैः पूजनफलम् १०६८
रत्नपूजाविधानकथनम् १०६८
प्रबालपुष्पैः स्वर्णपुष्पैश्च पूजाफलम् १०६९
मरकतपुष्पैः पूजाफलम् १०६९
पद्मरागपुष्पैः पूजाफलम् १०६९
हीरकयुक्तस्वर्णपुष्पैः पूजाफलम् १०६९
नीलकान्तमणियुक्तस्वर्णपुष्पैः पूजाफलम् १०७०

विषयाः **पृष्ठाङ्काः**

गोमेदयुक्तस्वर्णपुष्पैः पूजाफलम् १०७०
नूतनस्वर्णरत्नमयपुष्पैः पूजाफलम् १०७०
वैदूर्ययुक्तस्वर्णपुष्पैः पूजाफलम् १०७०
नानारत्नयुक्तस्वर्णपुष्पैः पूजाफलम् १०७०
स्वल्पस्वर्णरत्नादियुक्तपुष्पैः पूजाफलम् १०७१
पर्युषितादिपुष्पैः पूजननिषेधः १०७१
अपामार्गादिदलैः पूजनफलम् १०७१
शाक्तपुष्पकथनम् १०७१
मल्लिकातगरादिभिः पूजा कर्त्तव्या १०७२
कलिकाभिः पूजानिषेधः १०७२
जलजचम्पकयोः पर्युषितदोषाभावः १०७२
यन्त्रपुष्पकथनम् १०७२
पुष्पविशेषे केचन विधिनिषेधाः १०७३
विल्वपत्रस्य प्राशस्त्यम् १०७३
अङ्गरङ्गेषु सिन्दूरस्य प्रशस्तता १०७३
मुखवासेषु ताम्बूलस्य प्रशस्तता १०७३
वारविशेषे पुष्पविशेषप्राशस्त्यम् १०७४
वारविशेषे निवेदनीयद्रव्याणि १०७४
वर्षमात्रदेवीपूजनफलम् १०७४
पर्वताग्रे देवीपूजनफलम् १०७४
अरण्यादिषु पूजाफलम् १०७५
समुद्रतीरे पूजाफलम् १०७५
अक्षद्रुमपीठोपरि देवीपूजाफलम् १०७५
श्मशाने पूजनफलम् १०७५
वेतालसिद्ध्युपायः १०७५
मध्यरात्रे स्थानविशेषे देवीपूजाफलम् १०७६
तिरोधानसिद्ध्युपायः १०७६
मायासिद्ध्युपायः १०७६
कामरूपसिद्ध्युपायः १०७६
त्रिकालज्ञत्वसिद्ध्युपायः १०७७
पूगोद्याने देवीपूजाफलम् १०७७
पूर्णासु कन्यकायां देवीपूजाफलम् १०७७
मदनारोपणकथनम् १०७७

विषयाः **पृष्ठाङ्काः**

मदनपूजनस्य कर्तव्यत्वम् १०७८
मदनारोपणकालः क्रमस्तत्र मदनाधिवासश्च १०८०
मदनपूजाप्रकरणम् १०८१
कामस्य ध्यानम् १०८१
काममन्त्रः १०८१
रतिमन्त्रः १०८२
प्रीतिमन्त्रः १०८२
रतिप्रीत्योर्ध्यानम् १०८२
वसन्तपूजनम् १०८३
मदनपूजानन्तरं देवीपूजा ततः कुमारीपूजा च १०८३
सुवासिनी पूजा योनिपूजा च १०८३
महादेवीपूजा पूर्णहोमः गुरुदक्षिणादानञ्च १०८४
मदनारोपणफलम् १०८४
वैशाखपूर्णिमायां विशेषपूजा १०८४
ज्येष्ठपूर्णिमायां विशेषपूजा १०८४
पवित्रारोपणकथनम् १०८४
पवित्रपूजायाः कर्तव्यता १०८४
पवित्रारोपणकालः १०८५
आषाढपौर्णमास्यां विशेषः १०८५
नवतन्तुनिर्माणम् १०८५
नवतन्तुषु देवपूजा १०८५
पवित्रवृन्दस्थापनम् १०८६
पूर्वदिने घटस्थापनम् १०८६
पवित्रे सूत्रसंख्या १०८७
संख्यातारतम्येनोत्तममध्यमाधमत्वकथनम् १०८७
अधिवासे पूजादि १०८७
पवित्रार्पणम् १०८७
गुरोः सन्तोषोत्पादः १०८८
कुमार्यादीनां पूजनम् १०८८

विषयाः पृष्ठाङ्काः
श्रावणपूर्णिमायां कर्तव्यम् १०८८
भाद्रपूर्णिमायां कर्तव्यम् १०८८
आश्विनपूर्णिमायां कर्तव्यम् १०८९
कार्तिकपूर्णिमायां कर्तव्यम् १०८९
मार्गशीर्षपूर्णिमायां कर्तव्यम् १०९०
विषयाः पृष्ठाङ्काः
पौषपूर्णिमायां कर्तव्यम् १०९०
माघपूर्णिमायां कर्तव्यम् १०९०
फाल्गुनपूर्णिमायां कर्तव्यम् १०९०
चैत्रादिपूर्णिमासु कर्तव्यतोपदेशः १०९०
द्वादशमासीयकृत्यानामवश्यकर्तव्यता १०९१

द्वाविंशतितमः प्रकाशः

ज्ञानदूतीकथनम् १०९२
अद्भुतत्रिकूटसाधनप्रकारकथनम् ११००
वाग्भवकूटसाधनम् ११०१
वागीशीध्यानम् ११०१
देव्या विशेषचिन्ता ११०१
अस्य लक्षवारजपफलम् ११०३
बालकजिह्वायां मन्त्रलेखनम् ११०३
बालकस्य मूर्ध्नि जपफलम् ११०३
चुलुकपानं तस्य फलञ्च ११०४
प्रातःकाले पानफलम् ११०४
कामकूटसाधनप्रकारः ११०४
कामकलाचिन्ता ११०४
कामकूटप्रयोगकथनम् ११०५
शक्तिकूटसाधनम् ११०७
कुलशक्तिचिन्ता ११०७
त्रिकूटसम्पन्न-महात्रिपुरसुन्दरीचिन्ताफलम् ११०८

त्रयोविंशतितमः प्रकाशः

त्रिपुरसुन्दरीविद्याया जीवनप्राप्त्युपायकथनम् ११०९
विद्यायाः स्वरूपविशेषकथनम् ११०९
विद्यायाः स्वरूपान्तरम् ११०९
दीपनीविद्याकथनम् १११०
प्रतिमायां पूजाविशेषकथनम् १११०
देव्या दक्षिणपार्श्वे जीवनीजपप्रकारः ११११
प्रेतासने जपफलम् १११२
महाध्यानकथनम् १११२
परमेश्वरीपूजानन्तरं चक्रे पूजनम् १११३
बलिदानम् १११३
आकर्षणबीजकथनम् १११३
त्रिकोणचक्रमध्ये देवकन्यादिलिखनम् १११३
चामुण्डाध्यानकथनम् १११३
वक्तव्य परमदुर्लभविद्या-प्रशंसा १११५
प्राणमन्त्रकथनम् १११५
महायन्त्रधारणकथनम् १११६
मन्त्रलिखनद्रव्योद्देशः १११६
लिखनप्रकारः १११६
यन्त्रशोधनप्रकारः १११६
धारणप्रकारः १११८
मन्त्रदाने पात्रापात्रोल्लेखः १११८
अपात्रे मन्त्रदानफलम् १११८
गोरोचनादिना चक्रलिखनफलम् १११८
चिन्ताविशेषे फलविशेषः १११९
चक्रे नामलिखने फलविशेषः १११९
चक्रे महाकलाध्यानफलम् ११२०
वशीकारितिलककथनम् ११२०
वशीकरणार्थं ताम्बूलाद्यभिमन्त्रणम् ११२१
योषिदाकर्षणप्रकारः ११२१
अवध्यत्वोपायकथनम् ११२२
राजवल्लभतोपायः ११२२

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
वशीकरणप्रकारः	११२३
त्रैलोक्यवशीकरणोपायः	११२३
महाक्षोभकरणम्	११२३
कामतुल्यत्वप्राप्त्युपायः	११२४
दृष्टिमात्रेण विषादिनाशक्षमताप्राप्तिः	११२४
श्रीसमाकर्षणसामर्थ्यप्राप्तिः	११२५
दिग्विदिक्स्थजनवशीकारः	११२५
त्रैलोक्यवशीकरणम्	११२५
कण्ठादौ धारणे फलविशेषः	११२५
अर्कक्षीरादिभिश्चक्रलिखनफलम्	११२६
नित्यं चक्रधारणफलम्	११२६
सर्ववादिस्तम्भनम्	११२६
शत्रुमारणप्रकारः	११२७
विद्वेषणकरणम्	११२७
उच्चाटनकरणम्	११२७
सर्ववशीकरणम्	११२७
प्रकारान्तरेण सर्ववशीकरणम्	११२८
क्षोभणप्रकारः	११२८

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
स्त्रीवशीकरणप्रकारः	११२८
स्त्रीवशीकरणे प्रकारान्तरम्	११२९
प्रकारान्तरेण स्त्रीवशीकरणम्	११२९
दासीकरणप्रकारः	११२९
स्त्रीवशीकारे कल्पान्तरम्	११२९
सर्ववादिस्तम्भनम्	११३०
प्रकारान्तरेण सर्वलोकवशीकरण्	११३०
सर्वयोषिन्मनोहरणम्	११३०
महाहानिकरणम्	११३०
स्तम्भविद्वेषणादिप्रकारः	११३१
सर्ववशीकरणम्	११३१
शत्रोरुच्चाटनकरणम्	११३१
विद्वेषणकरणम्	११३१
शत्रुनाशकरणम्	११३१
खेचरत्वसिद्धिः	११३१
अजरामरत्वप्राप्तिः	११३२
खड्गादि सर्वसिद्धिलाभः	११३२
सर्वपापनाशप्रकारः	११३३

चतुर्विंशतितमः प्रकाशः

देवतास्तवपाठनिर्णयः	११३४
पाठस्यावश्यकता	११३४
पाठनियमः	११३४
पुस्तकस्याधारस्थापननियमः	११३४
हस्ते पुस्तकस्थापने दोषः	११३४
पुस्तकलेखकनिर्णयः	११३४
कलौ साधारणमनुष्यादिकृतस्तवपाठ-निषेधः	११३५
ऋषिच्छन्दआदीनां पाठः कर्त्तव्यः	११३५
प्रथमं सहस्रनामपाठः	११३५
अध्यायमध्ये पाठविरामो न कर्त्तव्यः	११३५
बलिदानविधिकथनम्	११३६
छागलस्य षड्विधत्वकथनम्	११३६

बलीनामुत्तममध्यमाधमत्वकथनम्	११३६
त्याज्यबलिः	११३६
खञ्जादीनां बलौ त्याज्यता	११३७
महिषबलिः	११३७
बलिषु पक्षिणां प्रशस्तता	११३७
बलिविशेषेण देवतातृप्तिकालकथनम्	११३७
स्त्रीपशुबलिदाननिषेधः	११३८
होमे मांसनिरूपणम्	११३८
मांसहोमे कालनियमः	११३८
बल्युत्सर्गप्रकारः	११३९
पशुस्नापनमन्त्रः	११३९
बलिप्रणाममन्त्रः	११४०
बलिमूर्ध्नि मन्त्रजपः	११४०

विषयाः पृष्ठाङ्काः
खड्गध्यानम् ११४०
खड्गपूजामन्त्रः ११४०
खड्गनमस्कारमन्त्रः ११४१
बलिस्कन्धे खड्गनियोजनमन्त्रः ११४१
खड्गलक्षणकथनम् ११४१
चन्द्रहासलक्षणकथनम् ११४१
खड्गम करवीरफलाकारादिकथनम् ११४२
बलिच्छेदने दात्रादीनां विधिः ११४२
छुरिकादिना छेदननिषेधः ११४२
तीक्ष्णखड्गेन छेदनकथनम् ११४२
छागादिपशूनां पूर्वाभिमुखेन च्छेदनम् ११४२
विषयाः पृष्ठाङ्काः
बलिच्छेदककथनम् ११४२
रिपुप्रभृत्यनुपयुक्तानां कथनम् ११४३
दिग्विशेषे बलेर्मस्तकपतने फलविशेषः ११४३
बलिचक्षुषि अश्रुदर्शनफलम् ११४४
दन्तानां कटकटाशब्दश्रवणफलम् ११४४
बलिशिरःख्यापनम् ११४४
रक्तपात्रस्थापनम् ११४४
बलिमस्तकोपरि दीपदानम् ११४५
वर्त्तिकाप्रमाणम् ११४५
ग्राहादीनां शिरसि दीपदाननिषेधः ११४५
दीपस्य दीर्घकालज्वलनफलम् ११४६

पञ्चविंशतितमः प्रकाशः

श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी-सहस्रनामस्तोत्रम् ११४७

षड्विंशतितमः प्रकाशः

महायन्त्रसंस्कारकथनम् ११८७
यन्त्रगायत्री ११८६
इष्टदेवतापूजनोपदेशः ११८६
उपचारमुद्रोपदेशः ११८८
गन्धादिमुद्राणां प्रकारभेदः ११९०
मुद्रामाहात्म्यम् ११९१
देवतायाः प्रतिष्ठाविधिः ११९१
होमोपदेशः ११९३
प्रतिष्ठाफलकीर्त्तनम् ११९४
मठोत्सर्गविधिः ११९५
मठदानफलम् ११९६
साधनोपदेशः ११९६
साधने फलविशेषोपदेशः ११९७
होमप्रशंसा ११९७
होमाकरणनिन्दा ११९८
अग्निहोत्रप्रशंसा ११९८
चक्रप्रशंसा ११९९
वित्तशाठ्यनिषेधः ११९९
गुरुदेववञ्चननिषेधः ११९९
वह्नौ होमस्य गुखे दानस्य च प्रशंसा १२००

●

परमहंसपूर्णानन्दप्रणीतः

श्रीतत्त्वचिन्तामणिः

संस्कृतटीकासहित'भावना'भाषाभाष्यसंवलितः

(प्रथमः खण्डः • १-१३ प्रकाशः)

।। श्रीः ।।

परमहंसपूर्णानन्दप्रणीतः

श्रीतत्त्वचिन्तामणिः

संस्कृतटीकासहित 'भावना' भाषाभाष्यसंवलितः

प्रथमः प्रकाशः

[मंगलाचरणं, ब्रह्मस्वरूपम्, तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धककारणानि
शब्दब्रह्मस्वरूपम्, तत्त्वज्ञानरूपञ्च]

[मङ्गलाचरणम्]

ॐ नमः परदेवतायै। ॐ नमः परायै।

दशशतदलपद्मप्रोल्लसत्पूर्णचन्द्रे
हिमरुचिरुचिराङ्गो हंसपीठान्तरस्थः।
अभयवरकराब्जो योगपूर्णो द्विनेत्रः
कुलकमलविलासी पातु मां देवदेवः।।१।।

★ संस्कृतटीका ★

अथ तत्रभवान् पूर्णानन्दपरमहंसः श्रीविद्योपासनारहस्यप्रतिपादकं श्रीतत्त्वचिन्तामणिं चिन्तामणिमिव साधकानां प्रणिनीषुर्ग्रन्थसमाप्तिप्रतिबन्धकीभूताशेषविघ्ननिवारणाय मङ्गलमाचरति। तत्र च—

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् बिन्दुसमुद्भवः।। (१।७)

इत्यादिशारदातिलकप्रथमपटलवचनेन,

शिवशक्तिसमायोगादव्यक्तात् परमेश्वरात्।
आद्या भगवती देवी सैव त्रिपुरसुन्दरी।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् बिन्दुसमुद्भवः।।

इति षट्चक्रटीकाधृतपाञ्चरात्रवचनेन च ग्रन्थप्रतिपाद्यायास्त्रिपुरसुन्दरीशक्तेर्बीजरूपतया निरूपितं श्रीगुरुस्वरूपं परमशिवमादौ प्रार्थयते—दशेति।

दशशतदलं सहस्रारं यत् पद्मं शिरसि स्थितं तस्मिन् प्रोल्लसन् देदीप्यमानः स्फुरज्ज्योत्स्नाजाल इत्यर्थः, यः पूर्णचन्द्रः तस्मिन् स्थित इत्यर्थः। तथाहंस-पीठान्तरस्थः 'हंस'-वर्णद्वयरूपपीठाभ्यन्तरवर्त्ती। तदुक्तं महाकालीतन्त्रे प्रथमपटले—

सहस्रारान्तरे शून्ये दिव्यतोरणशोभिते।
चन्द्रमण्डलमध्ये तु हंसवर्णद्वयोपरि।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं शुद्धक्षौमविराजितम्।। इति।

अत्र सहस्रारकमलकर्णिकान्तरालस्थ स ह ख फ्रें ह स क्ष म ल व र युम् इति गुरुमन्त्रात्मक-द्वादशवर्णविशिष्ट-द्वादशदलपद्मे परमशिवस्य स्थितिरिति मतान्तरम्। तदुक्तं पादुकापञ्चकटीकायाम्—

शिरःपद्मे सहस्रारे शुक्लवर्णे त्वधोमुखे।
तरुणारुणकिञ्जल्के सर्ववर्णविभूषिते।
कर्णिकान्तःपुटे तत्र द्वादशार्णसरोरुहे।। इति।

तथा सहस्रारं प्रकृत्यैव—

कर्णिकान्तःपुटे तत्र द्वादशार्णसरोरुहे।
तेजोमये कर्णिकान्तश्चन्द्रमण्डलमध्यगे।।
अकथादित्रिरेखीये ह-ल-क्ष-त्रयभूषिते।
हंसपीठे मन्त्रमये स्वगुरुं शिवरूपिणम्।। इति।

पादुकापञ्चकस्तोत्रेऽपि—

ब्रह्मरन्ध्रसरसीरुहोदरे नित्यलग्नमवदातमद्भुतम्।
कुण्डलीविवरकाण्डमण्डितं द्वादशार्णसरसीरुहं भजे।।

इत्यादिभिस्तद् विशेषेण प्रतिपादितम्। नैतत् पूर्णानन्दसम्मतमिति षष्ठप्रकाशे षट्चक्रविवरणे व्यक्तीकरिष्यामः।

एतेन सहस्रारशिरःपद्मकर्णिकान्तरालस्थचन्द्रमण्डलाभ्यन्तरीणहंसपीठे परम-शिवस्य स्थितिरुक्तेति सुव्यक्तम्। हंसस्य पीठत्वञ्च—

हंसपीठे मन्त्रमये स्वगुरुं शिवरूपिणम्।
अमुकानन्दनाथान्तं स्मरेत्तन्नामपूर्वकम्।।

इति प्रपञ्चसारवचनेनोपपादितमेव। अथ कोऽयं हंसो नाम? उच्यते—

'हं'कारो बिन्दुरित्युक्तो विसर्गः 'स' इति स्मृतः।
बिन्दुः पुरुष इत्युक्तो विसर्गः प्रकृतिः स्मृतः।
पुंप्रकृत्यात्मको हंसस्तदात्मकमिदं जगत्।।

इति प्रपञ्चसारवचनेन 'हं' इति पदेन पुरुषः, 'सः' इति पदेन प्रकृतिर्लभ्यते, ततश्च 'हंस' इति पदेन पुंप्रकृत्यात्मकोऽन्तरात्मेत्यवगम्यते।

सहस्रदलमध्यस्थमन्तरात्मानमुत्तमम्।

इत्यादिकङ्कालमालिनीतन्त्रवचनेन पुंप्रकृत्यात्मकान्तरात्मनोऽन्तः परमशिवस्य स्थितिरभिहिता। ततश्च हंसोऽन्तरात्मा स एव पीठः तस्यान्तः अभ्यन्तरे तिष्ठतीति हंसपीठान्तरस्थो देवदेव इत्यस्य विशेषणम्।

हिमरुचिरुचिराङ्ग इति। हिमरुचिश्चन्द्रः तद्वद् रुचिरमङ्गं यस्य सः। महानिर्वाणतन्त्रे प्रथमपटले—

सदाशिवं सदानन्दं करुणामृतसागरम्।
कर्पूरकुन्दधवलं शुद्धसत्त्वमयं विभुम्।। (१।६)

इत्यादिना तस्य शुभ्रवर्णतायाः प्रतिपादनात्। तस्यैव च श्रीगुरुस्वरूपत्वसूचनाय अभयवरकराब्जः, योगपूर्णः, द्विनेत्र इति विशेषणत्रयम्। तथाहि—

गन्धानुलेपनं शान्तं वराभयकराम्बुजम्।
स्ववामस्थितया शक्त्या धृतचारुकलेवरम्।
पूर्णानन्तरसोल्लासं लोचनद्वयपङ्कजम्।।

इति पूजाक्रमेऽभिहितेन—

प्रातः शिरसि शुक्लाब्जे द्विनेत्रं द्विभुजं गुरुम्।

इति प्रातःकृत्योक्तेन च ध्यानेन तस्य वराभयकरत्वं योगपूर्णत्वं द्विनेत्रत्वञ्च प्रतिपादितानि। तत एव कुलार्णवे त्रयोदशोल्लासे–

यः शिवः सर्वगः सूक्ष्मश्चोन्मना निष्कलोऽव्ययः।
व्योमाकारो ह्यजोऽनन्तः स कथं पूज्यते प्रिये।। (१३।५१)

इति प्रश्नमुद्भाव्य तत्रैव—

अत एव शिवः साक्षाद् गुरुरूपं समाश्रितः।
भक्त्या सम्पूजितो देवि भुक्तिं मुक्तिं प्रयच्छति।।
शिवोऽहं नाकृतिर्देवि नरदृग्गोचरो न हि।
तस्माच्छ्रीगुरुरूपेण शिष्यान् रक्षति धार्मिकान्।।
मनुष्यचर्मणा नद्धः साक्षात् परशिवः स्वयम्।
सच्छिष्यानुग्रहार्थाय गूढं पर्यटति क्षितौ।।
(१३।१३-५२-५४)

इत्यादिना परमशिव एव सच्छिष्याणां त्राणार्थं श्रीगुरुरूपमास्थाय धरायां गूढं विहरतीति प्रतिपाद्य तत्रैव—

सदाशिवस्य देवस्य श्रीगुरोरपि पार्वति।
उभयोरन्तरं नास्ति यः करोति स पातकी।। (१३।६१)

इत्यादिना परमशिवस्यैव श्रीगुरुत्वमुपदिष्टम्। अस्यैवार्थस्य प्रतिपादनाय श्रीमत्पूर्णानन्दपरमहंसेन अभयवरकराब्ज इत्यादि विशेषणत्रयमुपात्तमिति निष्कर्षः।

कुलकमलविलासीति। कुलशब्दार्थमाह महानिर्वाणतन्त्रे सप्तमोल्लासे—

जीवः प्रकृतितत्त्वञ्च दिक्कालाकाशमेव।
क्षित्यप्तेजोवायवश्च कुलमित्यभिधीयते।। इति (७।९७)

ततः कुलाचारमप्याह तत्रैव—

ब्रह्मबुद्ध्या निर्विकल्पमेतेष्वाचरणञ्च यत्।
कुलाचारः च एवाद्ये धर्मकामार्थमोक्षदः।। इति (७।९८)

ततश्च वचनाभ्यामाभ्यां जीवादिवाय्वन्तेषु पदार्थेषु जीवत्व-प्रकृतित्व-दिक्त्वादि-प्रकारकज्ञानपरिहारपुरःसरब्रह्मत्वप्रकारकज्ञानसहकृताचारविशेष एव कुलाचारः, स च धर्मार्थकाममोक्षरूपं पुरुषार्थचतुष्टयं निर्वर्त्तयतीत्युक्तं भवति। ततश्च कुलं जीवादि-वाय्वन्ततत्त्वजातमेव कमलं तत्र विलसति स्वभावेन परमार्थसत्तया क्रीडतीति कुल-कमलविलासीत्यस्यार्थः। एतेनास्य पुरुषार्थचतुष्टयसाधकत्वं वर्त्तत इति ततः प्रार्थना समचितैवेति सूचितम्।

अत्र कुले कमलत्वारोपेण यथा सूर्यः स्वप्रभासम्पर्केण कमलानां विकाशस्वरूपतामुद्भावयति, तथा परमेश्वरोऽपि कुलशब्दप्रतिपाद्येषु जीवादिवाय्वन्तेषु ब्रह्मबुद्धिमुत्पादयतीति सूचितम्। अत एव—

नराकृतिपरब्रह्मरूपायाज्ञानहारिणे ।
कुलधर्मप्रकाशाय तस्मै श्रीगुरवे नमः।। (५।३२)

इति महानिर्वाणपञ्चमोल्लासवचनेन कुलाचारप्रकाशकत्वमभिहितम्। अथवा कुलपथस्थानि कमलानि कुलकमलानि तेषु विलसतीति कुलकमलविलासी। तदुक्तं षट्चक्रविवृतौ विश्वनाथेन—

तत्रैतद्दक्षिणं षट्कमाज्ञापूर्वं कुलोद्भवम्। इति।

ननु नमस्योऽयमीश्वरः सकलो वा निष्कलो वेत्याशङ्कायामाह—**देवदेव इति।** दीव्यन्ति मायामाश्रित्य प्रपञ्चरूपेण क्रीडन्ति इति देवा हरिहरब्रह्मादयः, तेषां देवः स्वरूपशक्त्या प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपक्रियासम्पादकः परमशिव इत्यर्थः। तदुक्तं शारदायां प्रथमपटले—

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः।। इति। (१।६)

* भावना *

पौरुषेय ग्रन्थ की निर्विघ्नतापूर्वक परिसमाप्ति की मङ्गल-कामना से इष्टदेवता को प्रणाम करके उनसे आशीर्वाद की याचना करने की आर्ष परम्परा रही है। इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता तत्रभवान् पूर्णानन्द परमहंस

श्रीविद्या-उपासना के गूढ़ रहस्यों के प्रतिपादक 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि' नामक इस ग्रन्थ की निर्विघ्नतापूर्वक परिसमाप्ति के लिये गुरुदेवरूपी भगवान् परमशिव की वन्दना करते हुए याचना करते हैं—

दशशत अर्थात् सहस्र सहस्रदल कमल के मध्य अपनी समुज्ज्वल किरणों से देदीप्यमान चन्द्रमण्डल के अभ्यन्तर हंसपीठ पर विराजमान, चन्द्रमा के समान धवल गौर वर्ण वाले, द्विनेत्रधारी तथा समस्त योग-साधनाओं के निधान, अभय एवं वर मुद्रा-लसित पाणि, कुल-कमलविलासी देवाधिदेव भगवान् परमशिव मेरी रक्षा करें॥१॥

विमर्श—'दशशतदलपद्म प्रोल्लसत्पूर्णचन्द्रे'—तन्त्रागम के अनुसार मनुष्य के सिर में अधोमुखी सहस्रदल कमल है। इस कमल की कर्णिका के मध्य में अपनी समुज्ज्वल किरणों से जगमगाता हुआ चन्द्रमण्डल है। इस चन्द्रमण्डल के अभ्यन्तर में 'हंसपीठ' है। इस हंसपीठ पर परमशिव विराजमान हैं। उनका शरीर चन्द्रमा की किरणों के समान धवल है। उनके दो नेत्र और दो भुजाएँ हैं। वे अपने एक हाथ से संसार के प्राणिमात्र को अभय और दूसरे हाथ से वर प्रदान कर रहे हैं।

'हंसपीठान्तरस्थ' 'हंस' में दो वर्ण हैं—'हं' और 'स'। इनमें से 'ह'कार पुरुषवाचक है और 'स'कार प्रकृति का वाचक है। इस तरह 'हंस' पीठ पुरुष-प्रकृत्यात्मक है। इनके मध्य अन्तरात्मास्वरूप परमशिव की स्थिति पुरुष और प्रकृति के तत्त्वरूप अभेद का ज्ञापक है। तन्त्रागम में जिस हंसपीठ को परमशिव का धाम बताया गया है, उसी हंसपीठ पर शिवरूपी गुरुदेव का ध्यान किया जाता है। यथा—

हंसपीठे मन्त्रमये स्वगुरुं शिवरूपिणम्।
अमुकानन्दनाथान्तं स्मरेत् तन्नामपूर्वकम्॥

अतः गुरुदेव से साम्यता के निर्वाह के लिये यहाँ परमशिव को भी द्विभुज और द्विनेत्र कहा गया है।

'कुलकमलविलासी'—'कुल' एक पारिभाषिक शब्द है। इस पद को महानिर्वाणतन्त्र (सप्तम पटल) में स्पष्ट किया गया है—

जीवः प्रकृतितत्त्वञ्च दिक्कालाकाशमेव च।
क्षित्यप्तेजोवायवश्च कुलमित्यभिधीयते॥ (९७)

जीव, प्रकृति तत्त्व, दिक्, काल, आकाश, पृथिवी, जल, तेज और वायु—इनकी समूहवाचक संज्ञा 'कुल' है। दूसरे शब्दों में कुल कहने से ब्रह्माण्ड के इन नौ घटकों का बोध होता है। ब्रह्माण्ड के इन घटकों की समुच्चयवाची संज्ञा कुल को उस कमल के रूप में रूपायित किया गया है, जिसके माध्यम से परमशिव

विलसित होते हैं, क्रीड़ा करते हैं, लीला करते हैं। अतः उन्हें कुलकमलविलासी कहा गया है।

भगवती श्रुति कहती हैं कि जब यह ब्रह्माण्डरूप सृष्टि नहीं थी, उस समय सभी भेदों से विनिर्मुक्त 'एकमेवाद्वितीयम्' सत् पदार्थ की सत्ता थी। उस परमसत्ता में आनन्द प्राप्त करने की, लीला करने की, क्रीड़ा करने की इच्छा/स्फुरणा हुई; मगर 'एकाकी न रमते' के सिद्धान्त के अनुसार वह एकाकी रहते हुए लीलाविलास नहीं कर सकता था, अतः उस परसत्ता ने, जिसे हम परमशिव कहते हैं, अपनी माया की आवरण शक्ति के द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर अपनी माया की ही विक्षेप शक्ति के माध्यम से स्वयं को इन कुलकमलों के रूप में प्रकट करके सृष्टिलीला प्रारम्भ की। भगवती श्रुति कहती है—'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।'

अज्ञानां ज्ञाननेत्रं निविडनव-जवारागसन्तानहासि
ज्योत्स्नाजालैर्नखानां कुलकमल-वनीकान्तकान्तिप्रकाशम्।
गङ्गाकाश्यादितीर्थोल्लसदमल-महापुण्य-पुञ्जप्रवाहं
वन्दे दीक्षागुरूणां चरणसरसिजद्वन्द्वमानन्दकन्दम्।।२।।

पूर्वश्लोकेन सहस्रारविलासिनः परशिवस्यैव गुरुत्वमुपपाद्य दीक्षागुरोस्तदभेदेन तं नमस्कुरुते—**अज्ञानामित्यादि**। ज्ञाननेत्रमित्यादिद्वितीयान्तपदानि चरणसरसिजद्वन्द्वमित्यस्य विशेषणानि। अज्ञानां सच्चिदानन्दस्वरूपब्रह्मज्ञानरहितानां ज्ञाननेत्रम्। यथा लोको नेत्रेण सर्वानपि लौकिकान् पदार्थानवलोकयति, तथा साधकोऽपि श्रीगुरुचरणद्वन्द्वप्रसादपरम्परालब्धदीक्षाप्रभावेणैव ब्रह्मदर्शी भवति। अत एव—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

इत्यनेन गुरोरेव ज्ञानचक्षुरुन्मीलकत्वमुक्तम्। रुद्रयामलोत्तरखण्डे प्रथमपटलेऽभिहितेन—

गुरोः प्रसादमात्रेण शक्तितोषो महान् भवेत्।
शक्तिसन्तोषमात्रेण मोक्षमाप्नोति साधकः।। (१।२२४)
गुरुमूलं जगत् सर्वं गुरुमूलं परन्तपः।
गुरोः प्रसादमात्रेण मोक्षमाप्नोति सद्वशी।। (१।२२५)

इत्यादिवचनेनापि श्रीगुरुप्रसादस्यैव मोक्षदातृत्वमुक्तम्।

निविडनवजवारागसन्तानहासि—निविडः सान्द्रो यो नवजवारागः सद्यःप्रस्फुटितजवाकुसुमरक्तिमा तस्य सन्तानो विस्तारस्तद्वद् हासः प्रकाशः अस्यास्तीति, सद्यो विकसितजवाकुसुमारुणमित्यर्थः। तथा नखानां ज्योत्स्नाजालैः

प्रभापटलै: कुलकमलवनीकान्तकान्तिप्रकाशम्। कुलशब्दार्थ: प्रथमश्लोके प्रदर्शित:। कुलं जीवादितत्त्वजातमेव कमलवनी तत्र कान्ता कमनीया या कान्तिर्ब्रह्मस्फूर्त्तिरूपा तां प्रकाशयतीति तथाभूतम्। चरणनखमयूखमालया जीवादिवाय्वन्तकुलपदार्थेपु स्थितां वृत्तिज्ञानागोचरीभूतां ब्रह्मसत्तां श्रीगुरुरेव प्रकाशयति। तदुक्तं महानिर्वाणतन्त्रे सप्तमोल्लासे—

सद्‌गुरो: सेवया प्राप्य विद्यामेनां परात् पराम्।
कुलाचाररता भूत्वा पञ्चतत्त्वै: कुलेश्वरीम्।। इत्यादि।
(७।१०१)

गङ्गेत्यादि। गङ्गाकाश्यादितीर्थेषु उल्लसन् य: पुण्यपुञ्जस्तत्सदृशं पुण्यपुञ्जं प्रवाहयतीति, तथाभूतम्। गङ्गादितीर्थेषु स्नानादिना यादृश: पुण्यराशिरुत्पद्यते, श्रीगुरुचरणवन्दनादिनापि तादृश एवेत्यर्थ:। तदुक्तं प्राणतोषणीधृतगुरुतन्त्रे—

गङ्गाद्या: सरित: सर्वा गन्धर्वा: सर्पजातय:।
स्थावरा जङ्गमाश्चान्ये पर्वता: सार्वभौतिका:।
एते चान्ये च तिष्ठन्ति नित्यं गुरुकलेवरे।। इति।

तथा विश्वसारतन्त्रीयगुरुगीतायाम्—

काशीक्षेत्रं निवासोऽस्य जाह्नवी चरणोदकम्। इति।

विशेषस्तु कुलार्णवे द्वादशोल्लासे—

कोटिमन्त्रजपाद्देवि कोटितीर्थावगाहनात्।
कोटिदेवार्चनाद्देवि परा श्रीपादुकास्मृति:।। (१२।५)

इत्यादिभिरभिहित:। **आनन्दकन्दम्**—'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इति श्रुतेरानन्दस्य परब्रह्मण: कन्दं तत्त्वज्ञानमूलभूतमित्यर्थ:। तदुक्तं कुलार्णवे द्वादशोल्लासे—

मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरो: कृपा। इति। (१२।१३)

तथा—गुरो: प्रसादमूलोऽयं परतत्त्वमहाक्रम:। इति च। (१२।१७)

दीक्षागुरूणां चरणसरसिजद्वन्द्वं वन्दे इत्यर्थ:।

पूर्ववर्ती श्लोक में परमशिव का गुरुत्व प्रतिपादित किया गया है। इस श्लोक में अपने दीक्षागुरु को परमशिव से सर्वथा अभिन्न मानकर उनकी वन्दना की गयी है।

'मैं अपने दीक्षागुरुदेव के उन चरणकमलों की वन्दना करता हूँ, जो सद्य: प्रस्फुटित जवा-कुसुम के समान प्रगाढ लाल रंग के हैं और जिनके नखों से नि:सृत किरणावली जीव आदि कुलों कमलों में विलसित आनन्दकन्द ब्रह्मतत्त्व (परमशिव तत्त्व) का प्रकाशन करने के कारण अज्ञानियों के लिये नेत्र के समान है तथा जिनकी मात्र वन्दना करने से गंगा आदि सरित् तीर्थों में अवगाहन तथा काशी आदि तीर्थों के सेवन करने का महापुण्य प्राप्त होता है।।२।।

विमर्श—लाल रंग अनुराग के साथ ही प्रकाश का भी सूचक और परिचायक है। पूर्वी क्षितिज पर लालिमा का उन्मेष सूर्योदय की सूचना देता है। संसार में परिव्याप्त निविड़ अन्धकार को अपने प्रकाशपुञ्ज से विध्वंस करने वाले भगवान् भुवन-भास्कर का वर्ण भी लाल है। जब तक संसार को भगवान् भास्कर के प्रकाश-पुञ्ज का अवदान नहीं मिलता, तब तक निविड़ अन्धकार के कारण संसार का यथार्थ भौतिक स्वरूप अप्रकटित एवं अदृश्य रहता है। अन्धकार में भटकते हुए मनुष्य को आँखें होने के बावजूद अपना ही हाथ दिखायी नहीं देता; मगर सूर्योदय होते ही उसके समक्ष समस्त संसार उद्भासित हो उठता है। सूर्यकिरणों के स्पर्श से कमलवनों की शोभाश्री प्रकटित एवं प्रकाशित हो जाती है। चूँकि अज्ञान का अन्धकार अमावस के अन्धेरे से भी अधिक निविड़ और घना होता है; अत: अज्ञानी मनुष्य को न तो आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है और न संसार के तत्त्वरूप का बोध होता है; लेकिन जैसे ही उसे सद्गुरु की कृपा प्राप्त होती है, अज्ञान का अन्धकार छँट जाता है और उसके ज्ञाननेत्र उन्मीलित हो जाते हैं। इसीलिये गुरुगीता में कहा गया है—

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम:।

नेत्रोन्मीलन के बाद जैसे-जैसे उसकी दर्शन-शक्ति बढ़ती जाती है, उसे जीव से वायु-पर्यन्त कुलकमलों में विलसित उस परमसत्ता के दर्शन की अनुभूति होने लगती है, जो समस्त संसार में परिव्याप्त है और आनन्दकन्द है। वह यह अनुभव करने लगता है—

मैं समुझ्यौं निरधार यह जगु कांचो कांच सौं।
एकै रूपु अपार प्रतिबिम्बित लखियत जहां॥

यत्र-तत्र सर्वत्र 'एकै रूपु अपार' की छवि देखते-देखते अन्तत: वह अपने 'लाल' की 'लाली' में लय होकर तद्रूप 'लाल' हो जाता है। यह सब-कुछ जिनके कृपा-अवदान से होता है, वे हैं—प्रथम पूज्य शिवस्वरूप एवं शिव-स्वभाव दीक्षागुरुदेव।

कुलकमल—कुलकमल का निरूपण पूर्ववर्ती श्लोक की व्याख्या में किया जा चुका है।

आनन्दकन्द—ब्रह्म ही आनन्द का पारमार्थिक एवं सनातन निरवच्छिन्न आनन्द का कन्द है, आनन्दरूप है।

'गंगापुञ्जप्रवाहं'—गंगा आदि पवित्र नदियों में स्नान एवं काशी आदि तीर्थों के सेवन का पुराणों में अक्षुण्ण पुण्य बताया गया है। वह पुण्य गुरुचरणों की वन्दनामात्र से मिल जाता है। शारदातिलक में भी कहा गया है—

संसारसिन्धोः तरणैकहेतून् दधे गुरून् मूर्ध्नि शिवस्वरूपान्।
रजांसि येषां पदपङ्कजानां तीर्थाभिषेकश्रियमाहयन्ती।। (१।३)

अज्ञानौघमहान्धकारपटलध्वंसप्रचण्डद्युति-
ब्रह्मानन्दपरम्परैकनिलयः पूर्णेन्दुकोटिप्रभः।
पाणिभ्यामभयं वरञ्च जगतामुच्चैस्तरामादिशन्
मूर्ध्नि श्वेतसरोरुहासनसमासीनः शिवः पातु नः।।३।।

पूर्वश्लोकेन दीक्षागुरुं प्रणम्य तदीयकरुणालब्धोपासनक्रमाणामेव साधकानां ब्रह्मोपासनसम्भवात् तत्रापि दुर्बलाधिकारिणां दशशतदलपद्मप्रोल्लसत्पूर्णचन्द्र इत्यादिप्रथमश्लोकप्रतिपादितस्य परमशिवस्योपासनायाः सर्वथा दुःसाध्यत्वात् सविशेषब्रह्मोपासनमभिदधानः—

आदौ शिवं पूजयित्वा शक्तिपूजा ततः परम्।
यत्किञ्चिदुपचारं हि तस्य किञ्चिन्निवेदयेत्।। (५।४०)
अन्यथा मूत्रवत् सर्वं गङ्गातोयं भवेद् यदि।
तथा— अन्येवं पूजयित्वा शिवं पश्चाद् यजेद् यदि।
तस्य पूजाफलञ्चैव भुज्यते यक्षराक्षसैः।। (५।४५)

इत्यादितोडलतन्त्रपञ्चमोल्लासवचनेन शिवोपासनाया एव प्रथमकर्त्तव्यत्वश्रवणाच्छिवमेवादौ प्रसादयति—**अज्ञानेति**। अज्ञानौघ एव महान्धकारपटलः निर्विशेषब्रह्मस्वरूपाच्छादकत्वाद् गाढान्धकारराशिस्वरूपः, तस्य ध्वंसे विनाशे प्रचण्डद्युतिः मार्त्तण्डस्वरूपः। यथा सूर्यो गाढान्धकारनिकरं दूरीकृत्य लौकिकं तत्त्वजातं जनानां ज्ञानगोचरतां पुरतः प्रकाशयतीत्यर्थः। ब्रह्मानन्दपरम्परैकनिलयः निरवच्छिन्नब्रह्मानन्दस्य आश्रयस्वरूपः। अत एव गन्धर्वतन्त्रे प्रथमपटले—

स्मितपूर्वो महादेवः पूर्णानन्दमयो विभुः।

इत्यनेन शिवस्य पूर्णानन्दस्वरूपत्वमुपपादितम्। **पूर्णेन्दुकोटिप्रभः**—कोटिपूर्णचन्द्रप्रभासदृशप्रभाविशिष्टः। पाणिभ्यां जगताम् अभयं वरञ्च उच्चैस्तराम् आदिशन् प्रचुरतरं हितं विदधान इत्यर्थः। **मूर्ध्नि श्वेतसरोरुहासनसमासीनः**—शिरःस्थसहस्रारकमलासनस्थित इत्यर्थः। सकलशिवस्यापि सहस्रारमेव स्थानम्। तदुक्तं षट्चक्रटीकाधृतगन्धर्वमालिकातन्त्रे—

सहस्रारं शिवपुरं रम्यं दुःखविवर्जितम्। इति

अत्रेदं रहस्यम्—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादिश्रुत्या—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। (९।२४)

परे ब्रह्माणि विज्ञाते समस्तैर्नियमैरलम्।
तालवृन्तेन किं कार्यं लब्धे मलयमारुते।। (९।२८)

इत्यादिकुलार्णव-नवमोल्लासवचनेन,

निराकारं समासाद्य निरञ्जनपदं लभेत्।
निराकारेण देवेशि कृतकृत्यश्च साधकः।।

इति कुब्जिकातन्त्रनवमपटलवचनेन,

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम्।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद् ब्रह्मेत्यवधारय।।
यद्दृश्यान्नापरं दृश्यं यद्दृष्ट्वा न पुनर्भवः।
तिर्यगूर्ध्वमधःपूर्णं सच्चिदानन्दमव्ययम्।
अनन्तं नित्यमेकं यत्तद् ब्रह्मेत्यवधारय।।

इति गन्धर्वतन्त्रप्रथमपटलवचनेन च परब्रह्मज्ञानं तत एव साधकानां कृतकृत्यत्वञ्चाभिहितम्, परं दुर्बलाधिकारिणां जीवानां सर्वथा तदसम्भवात् सगुणब्रह्मोपासनतः क्रमेण निर्गुणब्रह्मावाप्तिर्भवति। अत एव कुलार्णवे त्रयोदशोल्लासे—

यः शिवः सर्वगः सूक्ष्मश्चोन्मना निष्कलोऽव्ययः।
व्योमाकारो ह्यजोऽनन्तः स कथं पूज्यते प्रिये।।५१।।

इति शिवस्य प्रश्न उपपद्यते। अत्र साधु मीमांसितं वेदान्तपरिभाषायाम्—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्त्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः।।
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्।। इति।

अस्यैवार्थस्य प्रतिपादनाय कुब्जिकातन्त्रे नवमपटले—

साकारेण महेशानि निराकारञ्च भावयेत्।
साकारेण विना देवि निराकारं न पश्यति।। इति।

हरतत्त्वदीधितिधृतागस्त्यसंहितायामपि—

सर्वेश्वरः सर्वमयः सर्वभूतहिते रतः।
सर्वेषामुपकाराय साकारोऽभून्निराकृतिः।।

इत्यभिहितम्। तदेतत्पूर्वपूर्ववचनसंवादेन परमशिवः स्थूलाधिकारिणां स्वरूपग्रहणेऽसमर्थानां परमपुरुषार्थसम्पत्तये शिवशक्त्यादितत्तद्रूपेणाविर्भूय ध्यानादिगम्यतामाश्रयन् साधकाननुगृह्णातीति सर्वमवदातम्।

अपने प्रचण्ड प्रकाशपुञ्ज से रात्रि के निविड़ अन्धकार का विध्वंस करके जिस तरह भगवान् भुवनभास्कर संसार के दृश्यमान वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित

कर देते हैं, उसी प्रकार निरवच्छिन्न ब्रह्मानन्द के आश्रयस्वरूप भगवान् शिव भी अविद्या के समस्त आवरणों का उन्मूलन करके अपने साधकों के समक्ष अपनी वास्तविक ब्रह्मरूपता को प्रकट कर देते हैं। सहस्रार के श्वेत कमल पर समासीन वे भगवान् शिव सदैव हमारी रक्षा करें, जिनके कर-कमलों की अभय एवं वर मुद्राएँ संसार के हित-साधन के लिये उनकी करुणा और भक्तवत्सलता की द्योतक एवं परिचायक हैं।।३।।

विमर्श—'प्रचण्डद्युतिः' के साथ ही 'पूर्णेन्दुकोटिप्रभः' का प्रयोग यह दर्शाता है कि भगवान् के बिम्ब का स्वरूप प्रचण्ड होने के बावजूद अपने भक्तों के लिये चन्द्रकिरणों के समान आह्लाददायी है।

यस्याम्भोधरकान्तिसुन्दरतरे वक्षःस्थले निर्मले
भास्वत्कौस्तुभनामकेन मिलिता संशुद्धमुक्तावली।
कालिन्दीसलिलैकपङ्कजलसद्गङ्गाम्बुधारोपमां
शोभामातनुते स मे वितनुतां दामोदरो मङ्गलम्।।४।।

पूर्वश्लोकेन शिवं प्रसाद्य विष्णुरूपेणाविर्भूतं परमशिवं प्रसादयति—**यस्येति**। **अम्भोधरकान्तिसुन्दरतरे**—अत्राम्भोधरपदेन मेघस्यातिशयकृष्णवर्णत्वं सूचितम्, जलापगमे मेघस्य शुभ्रत्वान्न तेन सह दामोदरस्योपमा सम्भवति। जलमयमेघस्य या कान्तिस्ततोऽपि मनोज्ञतरकान्तिशालिनि यस्य दामोदरस्य निर्मले वक्षःस्थले विलसन्ती संशुद्धमुक्तावली संशुद्धा मालिन्यादिदोषशून्या स्वच्छा इत्यर्थः। मुक्तावली मुक्तामाला **भास्वत्कौस्तुभनामकेन**—भास्वत् दीप्तिमत् यत् कौस्तुभं तन्नामकरत्नं तेन मिलिता सङ्गता सती, **कालिन्दीसलिलैकपङ्कजलसद्गङ्गाम्बुधारोपमाम्**—कालिन्द्याः यमुनायाः सलिले उत्फुल्लमिति शेषः, यदेकं पङ्कजं तत्र लसन्ती शोभमाना या गङ्गाम्बुधारा तया उपमा सादृश्यं यस्याः तथाभूतां शोभामातनुते, स दामोदरो मङ्गलं वितनुताम्। अत्र दामोदरस्य कृष्णवर्णत्वाद्यमुनाजलसादृश्यम्, कौस्तुभरत्नस्य शुभ्रत्वात्पङ्कजसादृश्यम्, मुक्तावल्याः शुभ्रत्वाल्लम्बमानत्वाच्च गङ्गाम्बुधारासादृश्यमित्यवधेयम्। तथाच—यः परमार्थतो नीरूपोऽपि साधकजनगणानुग्रहार्थमीदृशं किञ्चन कमनीयं रूपं धत्ते, यश्चापरिच्छिन्नोऽपि मातुरभीप्सितपूरणार्थमतिदुःसहं दामबन्धनमप्यङ्गीचकार, साधक-जनमनोविनोदनसमुल्लसत्करुणः स भगवान् प्रार्थनया प्रसादितो नूनं मङ्गलं विदध्यादित्यभिप्रायेण वितनुतां दामोदरो मङ्गलमित्युक्तम्।

जलमय मेघ के समान सघन-श्याम निर्मल वक्षःस्थल पर प्रलम्बित मुक्तावली (मोतियों की माला) में पिरोये हुए कौस्तुभ मणि की झिलमिलाती हुई कान्ति के कारण जिनकी देह-कान्ति यमुना में प्रफुल्लित कमल में प्रविलसित गङ्गा की धारा के समान है, वे भगवान् दामोदर सदैव हमारा कल्याण करें।।४।।

विमर्श—इस श्लोक में श्यामवर्णता के कारण भगवान् श्रीकृष्ण (दामोदर) के शरीर की उपमा यमुना से, शुभ्रता और प्रलम्बता के कारण मुक्तामाला की उपमा गङ्गा की धारा से और कौस्तुभ मणि की उपमा पङ्कज से की गयी है। प्रकारान्तर से कालिन्दी को कर्मयोग, गङ्गा को भक्तियोग और कौस्तुभ को ज्ञानयोग का प्रतीक मानकर यह कहा जा सकता है कि इनमें से किसी भी योगमार्ग का आश्रय लेकर भगवान् श्रीकृष्ण (विष्णु) की सायुज्यता प्राप्त की जा सकती है।

कौस्तुभ मणि (रत्न) की उत्पत्ति समुद्रमन्थन से हुई थी। साधन-चतुष्टय एवं षट् सम्पत्ति-प्राप्त साधक भी श्रवण के बाद जब मनन (वैचारिक मन्थन) करता है तब ही ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) की उत्पत्ति होती है। अतएव कौस्तुभ को ज्ञान का पर्याय या प्रतीक माना गया है।

'दामोदर'—दामोदर भगवान् कृष्ण का नाम है। वे तत्त्वतः सर्वथा नीरूप और निराकार होने के कारण ध्यानगम्य नहीं हैं; फिर भी साधकों के लिये ध्यानगम्य बनने के निमित्त वे कमनीय रूप धारण करते हैं। वे भक्तवत्सल और प्रेमविवश हैं। इसीलिये उन्होंने ममतामयी माता यशोदा के प्रेम से विवश होकर स्वयं को रस्सी से बँधवा लिया। इसीलिये वे दामोदर के नाम से विश्रुत हुए।

भक्त्याऽऽनम्रविरिञ्चिमौलिविलसन्मन्दारमालावली-
निर्यातैर्मकरन्दबिन्दुविसरैः स्नाताङ्घ्रिपीठान्तिका।
ध्यानैरेव निषेविता गुरुतरैरिन्द्रादिवृन्दारकैः
शम्भोरम्बुजलोचना भगवती देवी शिवायास्तु नः।।५।।

एवं भगवन्तं शिवं दामोदरञ्च प्रसाद्य ग्रन्थप्रतिपाद्यां परमशिवस्य स्वरूपशक्तिरूपाम् अरूपामपि साधकजनेष्वनुग्रहबुद्ध्या रूपधारिणीं श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीं प्रसादयति—**भक्त्याऽऽनम्रेति।** भक्त्या श्रीमत्त्रिपुरसुन्दर्य्यां जगदम्बिकाया-मनुरागविशेषेण आनम्रो यो विरिञ्चिर्ब्रह्मा तस्य मौलौ विलसन्ती या मन्दारमालावली तस्या निर्यातैर्निष्ठ्यूतैः मकरन्दबिन्दूनां विसरैः समूहैः स्नातम् अङ्घ्रिपीठान्तिकं पादपीठसमीपं यस्याः सा। तदुक्तं गन्धर्वतन्त्रे एकादशपटले—

ब्रह्मविष्णुशिरोरत्ननिघृष्टचरणाम्बुजाम्। इति।

अनेनास्या ब्रह्मादिभिराराध्यत्वमभिहितम्। इन्द्रादीनान्त्वस्याः साधनप्रकारो नैतादृश इत्याह—गुरुतरैः आधिपत्यरूपगुरुत्वविशिष्टैः इन्द्रादिवृन्दारकैस्तु ध्यानैस्तत्स्वरूपचिन्तनैरेवोपासिता। स्वर्गाद्यधीश्वरा इन्द्रादिलोकपाला अपि यस्याः स्वरूपमवलोकयितुमप्रभविष्णवो यत्स्वरूपावलोकनलालसया ध्यानयोगमाश्रित्य यां सेवन्ते सा अम्बुजलोचना भगवती षडैश्वर्यशालिनी शम्भोः परमशिवस्य देवी प्रकाशस्वरूपा श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरी नः अस्माकं साधकानां शिवयास्तु।

अत्रेदं रहस्यम्—शम्भोर्देवीत्यनेन परशक्त्याः सृष्ट्यादिकर्त्तृत्वं तस्य च शम्भुसम्बन्धनिर्वाह्यत्वमिति सूच्यते। अत एव कामकलाविलासे—'स्फुटशिवशक्ति-समागमबीजाङ्कुररूपिणी परा शक्तिः' इत्युक्तम्। तट्टीकायामप्यन्यत्र—

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः।
उभयोरन्तरं नास्ति चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।।

इत्यभिहितम्। तन्त्रनये प्रकाशसत्ता विमर्शसत्ता चेति द्विविधा सत्ताङ्गीकृता। तत्र स-परशक्तिकपरब्रह्मसत्ता प्रकाशसत्ता, शिवादिक्षित्यन्त-षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपप्रपञ्चसत्ता तु विमर्शसत्ता। तत्र च स-परशक्तिकपरशिवः प्रकाशस्वरूपः स्वलीलया विमर्शात्मक-मखिलं प्रपञ्चजातं सूक्ष्मतया स्वस्मिन्नवस्थितं प्रकाशयति संहरति च।

तत्र च परशक्त्या एव क्रियाशक्त्याधिष्ठानतया सृष्ट्यादिकर्त्तृत्वम्, तच्च परशिवस्य ज्ञानशक्त्यधिष्ठानतया निर्वर्त्तते। ततश्च परशिवसम्बन्धाभावे परशक्तेरपि कर्त्तृत्वं नोपपद्यत इति सूचनाय शम्भोर्देवीति ग्रन्थकृद्भिरभिहितम्।

चितिरूपा महामाया परंब्रह्मस्वरूपिणी।
सेवकानुग्रहार्थाय नानारूपं दधार सा।।

इति हरतत्त्वदीधितिधृतदेव्यागमवचनेन,

सा एव पञ्चमी शक्तिः परंब्रह्मस्वरूपिणी।
परमानन्दरूपं यज्जगतां कारणं महत्।।
तस्या देव्यास्तु तद्रूपमुदयास्तविवर्जितम्।
स्थूलत्वे स्थूलरूपा सा सूक्ष्मत्वे सूक्ष्मरूपिणी।।
योऽसौ विश्वेश्वरो देवो विश्वं व्याप्य व्यवस्थितः।
सैव विश्वेश्वरी देवी व्यापकत्वेन संस्थिता।।

इत्यादिगन्धर्वतन्त्रतृतीयपटलवचनेन च शिवशक्त्योरभेदं साधकानामनुग्रहार्थं नानारूपपरिग्रहञ्चोपपाद्य,

तस्याः पुनः पुनः सृष्टिर्जायते लीयते सदा।
तस्माच्छक्तिः प्रधाना च शक्त्या व्याप्तमिदं जगत्।।

इति गन्धर्वतन्त्रतृतीयपटलवचनेन महेश्वरः शक्त्या एव सृष्ट्यादिकर्त्तृत्व-मभ्यधात्। एवञ्च या ब्रह्मादिभिरिन्द्रादिभिश्चाराधिता रूपविशेषं परिगृह्य साधकाननुगृह्य तेषां भोगं मोक्षञ्च निर्वर्त्तयति सा प्रार्थिता नूनमस्माकं मङ्गलं विदध्यादित्यभिप्रायः।

परमशिव, दीक्षागुरु, परमशिव के सगुण-सकलरूप शिव तथा विश्वम्भर भगवान् विष्णु की वन्दना करने के बाद प्रस्तुत श्लोक में परमशिव की अभिन्ना शक्ति भगवती त्रिपुरसुन्दरी की वन्दना की गयी है।

'अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के कारण सिर झुकाकर प्रणाम करने से प्रजापिता ब्रह्माजी की जटाओं में लिपटी हुई मन्दारमालाओं से झरे हुए पराग से जिनकी पाद-

पीठिका रञ्जित हो रही है और जिनका प्रत्यक्ष दर्शन सुलभ न होने के कारण इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवताओं को भी ध्यानयोग का आश्रय लेना पड़ता है, परमशिव की वही अभिन्ना शक्ति कमलनयना भगवती त्रिपुरसुन्दरी हम लोगों का सदैव कल्याण करें'।।५।।

विमर्श—प्रस्तुत ग्रन्थ के वन्दनापरक श्लोकों के क्रम में साधनारहस्य का क्रम भी अनुस्यूत है। चूँकि भगवान् परमशिव या परब्रह्म ही सर्वोच्च सत्ता हैं, उनसे श्रेष्ठ और वरेण्य कोई और नहीं है; अत: वे प्रथम पूज्य और आद्य वन्दनीय हैं। साधक को परमशिव के तत्त्वरूप का ज्ञान और बोध दीक्षागुरु से प्राप्त होता है, अत: परमशिव के साथ वे वन्दनीय हैं। इसीलिये प्रथम और द्वितीय श्लोकों में गुरु-रूप परमशिव और दीक्षागुरु की वन्दना की गयी है। यद्यपि परमशिव ही परम उपास्य और ध्येय हैं, मगर अनिर्वचनीयता, गूढ़ता एवं अरूपता के कारण साधारण एवं मध्यम श्रेणी के साधकों के लिये वे ध्यानगम्य नहीं हैं। उनकी सगुण-सकल शिवमूर्ति ही ऐसे साधकों के लिये ध्यानगम्य है, अत: दीक्षागुरु के साथ यथा-अनुक्रम सकल-सगुण शिव की तीसरे श्लोक में वन्दना की गयी है। सकल-सगुण शिव 'हर' हैं और 'हर' और 'हरि' (विष्णु) का विसर्ग के दोनों बिन्दुओं के समान परस्पर अन्योन्याश्रित अविनाभाव सम्बन्ध है, जैसा कि श्रीज्ञानार्णवतन्त्र में उन्होंने स्वयं कहा है—

'स'कार सर्गबिन्दुभ्यां हरिश्चाहं सुरेश्वरि।
अविनाभावसंस्थानाल्लोके हरिहराविति।। (१।१३)

अत: हर के साथ हरि की वन्दना अनिवार्य है। इस तरह तीसरे और चौथे श्लोक में हर और हरि की वन्दना करने के बाद पाँचवें श्लोक में परमशिव की अभिन्ना महाशक्ति भगवती त्रिपुरसुन्दरी की वन्दना की गयी है; क्योंकि हरि और हर की साधना-उपासना से प्राप्त पुण्य के बल पर ही मुमुक्षु साधक को भगवती महात्रिपुरसुन्दरी के साधना-साम्राज्य में प्रवेश का अधिकार मिलता है और उसे इन्द्रादि के लिये भी दर्शन-दुर्लभा ब्रह्माण्ड-अधीश्वरी के दर्शन की प्रथम झाँकी मिलती है।

हृदयकमलमध्ये प्रोल्लसत्कर्णिकान्त:-
प्रमुदितशिवशय्यासंस्थिता कापि मूर्त्तिः।
सुरवरहरमौलिस्मेरमुक्ताप्रधान-
प्रविलसितपदाब्जा पातु मां मोहकूपात्।।६।।

एवं देवीं प्रसाद्य शास्त्रस्यास्योपासनापरतया तदुपासनानुकूलां मूर्त्तिं तदुपासनयोग्यस्थानञ्च निरूपयन् ग्रन्थकृत्, निर्वाणतन्त्रे सप्तपटले द्वादशारमनाहतपद्ममुपक्रम्याभिहितेन—

महर्लोकमिदं भद्रे पूजास्थानं सुरेश्वरि।
अत्रैव मानसं यागं कुरुते योगवित्तमः।।

इति वचनेन हृत्पद्मस्यैव मानसयागस्थानत्वाभिधानादाह—हृदयेति। हृदयकमल–मध्ये प्रोल्लसन्ती या कर्णिका तस्या अन्तः अभ्यन्तरे स्थिता या प्रमुदितशिवशय्या देवीचरणस्पर्शसुखानन्दितशिवरूपशय्या तत्र संस्थिता। अथवा प्रोल्लसन्तीति मूर्त्तिविशेषणम्। अत्र यद्यपि हृत्पद्ममध्ये बीजकोषः, ततः षट्कोणमण्डलम्, ततो वायुमण्डलं महर्लोकापरपर्य्यायम्, इत्येवं क्रमस्तथापि सामान्यतोऽभिहितमित्यवधेयम्।

सुरवरहरमौलिस्मेरमुक्ताप्रधानप्रविलसितपदाब्जा—मुक्ताप्रधाने प्रविलसिते च पदाब्जे यस्याः सा, 'मुक्तामणिप्रवालैश्च पादपद्मविभूषिताम्' इति वक्ष्यमाणध्यानैकदेशेन यन्मुक्ताविभूषितत्वमुक्तम्, तत्र मुक्ताशब्दस्य प्रथममभिधानान्मुक्तामणिप्रवालानां पादभूषणत्वसाम्येऽपि मुक्तानामेव प्राधान्यमित्येवाह—मुक्ताप्रधानेति पदेन। स्मेरा चासौ मुक्ताप्रधानप्रविलसितपदाब्जा चेति कर्मधारयः। वक्ष्यमाणत्रिपुरसुन्दरीध्याने 'ईषत्सहास्यवदनजितमाधुर्यसागराम्' इत्युक्त्या स्मेरेति देवीविशेषणम्। ततश्च सुरवरहरमौलिस्थिता चासौ स्मेरमुक्ताप्रधानप्रविलसितपदाब्जा चेति मध्यपदलोपी कर्मधारयः। ईदृशी कापि अनिर्वाच्यस्वरूपा मूर्त्तिर्मां मोहकूपात् पातु। ततोऽपगतमोहोऽहं ग्रन्थनिर्माणं निर्विघ्नं निर्वर्त्तयेयमिति ग्रन्थकृतोऽभिप्रायः।

हृदयकमल की मध्यवर्ती कर्णिका के अभ्यन्तर चरणस्पर्श-जनित सुखानुभूति से प्रमुदित शय्या-रूप में स्थित सदाशिव पर आसीन होकर मन्द-मन्द मुस्कान बिखेरने वाली वह अनिर्वचनीया कमनीय मूर्ति, जिनके मुक्ताप्रमुख रत्नों से खचित पाजेब से सुशोभित चरण-कमल ईश्वर (महादेव) के भाल-प्रदेश का स्पर्श कर रहे हैं।।६।।

विमर्श—तत्रभवान् पूर्णानन्द परमहंस ने प्रस्तुत श्लोक में अभिवन्दिता देवता का नामोल्लेख नहीं करते हुए उनकी जो छवि प्रस्तुत की है, उससे हृदय-पटल पर भगवती महात्रिपुरसुन्दरी की झाँकी उभर आती है। इस तरह इस श्लोक से दो प्रयोजन सिद्ध किये गये हैं। प्रथमतः यह यह बताया गया है कि भगवती महात्रिपुरसुन्दरी के सर्वश्रेष्ठ अर्चना-उपासना का स्थान साधक का हृदय ही है और दूसरी है—भगवती की ध्यान-मूर्ति का संक्षिप्त निरूपण।

न पीतं नापीतं नहि परिमितं नापरिमितं
न रक्तं नारक्तं नहि धवलितं नाधवलितम्।
निराकारं नित्यं त्रिगुणरहितं देवमजडं
तमात्मानं वन्दे परमसुखसन्तानिलयम्।।७।।

अथेदानीं प्रागुक्तदेवतोपासनाविशेषेण निर्मलमनसां मुमुक्षूणां चरमज्ञानविषयं परमशिवस्वरूपं निरूपयति। तत्र—

स एक एव सद्रूपः सत्योऽद्वैतः परात् परः।
स्वप्रकाशः सदा पूर्णः सच्चिदानन्दलक्षणः।।
निर्विकारो निराधारो निर्विशेषो निराकुलः।
गुणातीतः सर्वसाक्षी सर्वात्मा सर्वदृग् विभुः।।
गूढः सर्वेषु भूतेषु सर्वव्यापी सनातनः।
सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्ज्जितः।
लोकातीतो लोकहेतुरवाङ्मनसगोचरः।।

इत्यादि महानिर्वाणतन्त्रद्वितीयपटलवचनेन परमशिवस्य सच्चिदानन्दाद्वैत-निर्विकारस्वप्रकाशनिर्गुणत्वादिस्वरूपत्वाभिधानाद् ग्रन्थकारेण च प्रथमप्रकाशे 'अस्ति सत्यं परं ब्रह्मे'त्यादिना तथैव वक्ष्यमाणत्वान्निर्विशेषब्रह्मरूपपरमशिवस्वरूपमाह—**न पीतमित्यादि**। आत्मात्र निर्विशेषब्रह्म। ब्रह्म पीतमिति निरूपयितुं न शक्यते प्रकाशस्वरूपत्वांशे निर्गुणत्वात्, अपीतमित्यपि निरूपयितुं न शक्यते विमर्शांशे सगुणत्वात्, अतः पीतापीतादिविलक्षणमनिर्वाच्यस्वरूपं ब्रह्मेत्युक्तं भवति। एवमुत्तरत्रापि योज्यम्।

एवञ्चेत् तत् किंस्वरूपं ब्रह्मेत्याह—**निराकारमिति**। यत् प्रत्यक्षेण नोपलभ्यते तस्यास्तित्वे किं मानमित्यत आह—**नित्यमिति**। प्रागुक्त-महानिर्वाणवचनस्थ-'सनातन'-पदेन तस्य नित्यत्वावगमात्। अथ वयमिव सुखदुःखमोहादिभिरुपगतं कथं न स्यादित्यत आह—**त्रिगुणरहितमिति**। एवञ्चेत् प्रवृत्त्यनुपपत्तेः कस्यापि नोपकारायालं किं तेनास्माकमित्यत आह—**देवमिति**। निर्गुणोऽपि परमात्मा स्वरूपशक्तिमाश्रित्य दीव्यति जीवानां प्रीणनाय स्वान्तःस्थं प्रपञ्चजातम् उद्गीर्य निगीर्य च क्रीडतीति देवस्तमित्यर्थः। अथवा देवं द्योतनशीलं विश्वप्रकाशमित्यर्थः। ननु देवनं चेतनगतो धर्मः, पूर्वपूर्वविशेषणैस्तु तस्य चैतन्यस्वरूपत्वं न प्रतीयत इत्यत आह—**अजडमिति**। चैतन्यस्वरूपमित्यर्थः। प्रागुक्तमहानिर्वाणवचनस्य 'सच्चिदानन्द-लक्षण'पदेन तस्य चित्स्वरूपत्वावगमात्। एतेन देवनं तस्य लीलामात्रमित्युक्तम्। ननु भवत्वेवंस्वरूपं ब्रह्म तथापि निर्गुणत्वेन सुखस्वरूपत्वाभावात् तत्स्वरूपत्वावाप्त्या नास्माकं सुखोदयः सम्भवतीति चेत्तत्राह—**परमसुखसन्ताननिलयमिति**। निर्गुणत्वेऽपि सच्चिदानन्दलक्षण इति पदेन तस्यानन्दस्वरूपत्वमवगम्यते। नन्वानन्दोऽस्माकमपि वर्त्तते, तत् कोऽस्य विशेष इत्याशङ्कानिरासार्थं सुखस्य परमेति विशेषणम्। परमं दुःखासम्भिन्नं सुखं तत्र वर्त्तत इति विशेषः। तदपि सुखं निरवच्छिन्नमित्याह—**सन्तानेति**। अस्मदादीनां सुखं क्षणिकम्, परमशिवस्य तु सुखं धारावाहिकमित्ययमेव विशेषः, अतः सच्चिदानन्दस्वरूपतावाप्तये तमात्मानं परमशिवं वन्दे इति तात्पर्यम्।

अत्रेदमवधेयम्—प्रागुक्तमहानिर्वाणवचनैः 'शरीरकञ्चुकितः शिवो जीवो निष्कञ्चुकः परमशिवः' (१।५) इति परशुरामकल्पसूत्रेण च परमशिवस्य यत् स्वरूपमुक्तं तदेवोपनिषदुक्तं निर्विशेषब्रह्मेति। प्रथमश्लोकेन तस्य श्रीगुरुस्वरूपत्व-

मभिहितम्, न पीतमित्यादिना तु निर्विशेषस्वरूपत्वमिति। एतन्निर्विशेषस्वरूपत्वं ग्रन्थकार: स्वयमेव वक्ष्यति **किन्तावदात्मवस्त्वित्यादिना।**

इस श्लोक में निर्मलचित्त मुमुक्षुओं के चरम ज्ञान के विषय परमशिव के स्वरूप का औपनिषदिक शैली में निरूपण किया गया है।

निर्विशेष ब्रह्मरूप वे परमशिव न तो पीत (पीला) वर्ण के हैं और न अपीत वर्ण के हैं। न उनका वर्ण रक्त (लाल) है और न वे अरक्त वर्ण के हैं। वे न तो धवल हैं और न ही अधवल वर्ण हैं। वे सर्वथा निराकार, नित्य, त्रिगुणरहित एवं अजड़ (चैतन्य) हैं। परमसुख की प्राप्ति के लिये मैं ऐसे आत्मस्वरूप परमशिव की वन्दना करता हूँ।।७।।

विमर्श—'न पीतं नापीतम्'—निर्विशेष ब्रह्म (आत्म) रूप परमशिव का निरूपण न तो पीत कहकर किया जा सकता है और न अपीत कहकर। प्रकाशांशरूप से निर्गुण होने के कारण उसे पीत नहीं कह सकते और न ही विमर्शांशरूप से सगुण होने के कारण अपीत ही कह सकते हैं। प्रकाशांश और विमर्शांश में अभेद होने के कारण अंश-अंशी की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अत: उसे पीत और अपीत—दोनों से विलक्षण 'अनिर्वचनीय' कहकर ही उसका निरूपण किया जा सकता है।

'न हि परिमितं नापरिमितम्'—परिमित का अर्थ है—ससीम अर्थात् जिसकी कोई सीमा हो तथा अपरिमित का अर्थ है—निस्सीम, जिसकी कोई सीमा नहीं हो। आकाश के समान सर्वव्यापक और विभु होने के कारण उसे परिमित (ससीम) नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर श्रुति उसे अंगुष्ठ-प्रमाण भी कहती है—'अंगुष्ठमात्र: पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।' अत: उसे अपरिमित (निस्सीम) भी नहीं कहा जा सकता। इस तरह वह ब्रह्म 'परिमितम्' और 'अपरिमितम्'—दोनों से परे अनिर्वाच्य है।

'न रक्तं नारक्तम्'—यदि रक्त का अर्थ लाल रंग माना जाय तो 'पीतम्-अपीतम्' की व्याख्या के अनुसार वह न रक्तवर्ण का है और न ही अरक्त वर्ण का। यदि रक्त शब्द को रजोगुण का पर्याय माना जाय तो त्रिगुणातीत, निर्विकार, निष्क्रिय, निश्चल, कूटस्थ ब्रह्म में रजोगुण की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती। अत: उसे रक्त अर्थात् रजोगुणात्मक नहीं कह सकते। रजोगुण के कारण ही क्रिया एवं विक्रिया होती है। अत: यदि ब्रह्म को रजोगुण से रहित मानें तो उसे निग्रह, अनुग्रह, सृष्टि, स्थिति तथा संहाररूप पाँच क्रियाओं का कर्ता नहीं कहा जा सकता; जबकि इन क्रियाओं के कर्ता के रूप में ब्रह्म की ख्याति है। अत: उसके लिये 'अरक्त' विशेषण भी असंगत है।

अब यदि रक्त पद को राग-प्रेम या आसक्ति का पर्याय मानें तो सर्वथा निष्काम तथा पूर्णतया वैराग्ययुक्त ब्रह्म को सकाम नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर जहाँ राग होता है, वहीं रस होता है और जहाँ रस होता है, वहीं आनन्द होता है। ब्रह्म के विषय में भगवती श्रुति करती हैं—'रसो वै स:। रसं ह्येवायं लब्धाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्क: प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।' (तैत्तिरीय)। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न विभेति कदाचनेति। (तैत्तिरीय)। आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् (तैत्तिरीय)। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृहदा० उप०)। सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजाययेति। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत् (तैत्तिरीय)।' अत: अरक्तं कहकर भी ब्रह्म का निरूपण नहीं किया जा सकता।

'न हि धवलितं नाधवलितम्'—'धवलितम्' का अर्थ यदि श्वेत स्वीकार करें तो 'पीतम्-अपीतम्' की ही भाँति ब्रह्म न तो धवलित है और न अधवलित है। अब यदि 'धवलितम्' का अर्थ स्वच्छ या शुद्ध स्वीकार करें तो नित्य शुद्ध-बुद्ध, मुक्त, स्वयंप्रकाश, निरञ्जन, निर्धूम, ज्योतिस्वरूप ब्रह्म को अधवलित नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर 'जीवो ब्रह्मैव नापर:' कहकर जीव और ब्रह्म का अभेद दर्शाया गया है; जबकि जीव मायिक-कार्मिक एवं आणव मलों से दूषित है, काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सररूप षड्दोषों से युक्त है। अत: जीवरूप ब्रह्म को धवल नहीं कहा जा सकता।

ऐसा निराकार, नित्य (अविनाशी-शाश्वत), सत्-रज-तमरूप गुणों से रहित (गुणातीत), चित् स्वरूप (चेतन) तथा स्वाभिन्न शक्ति के आश्रय द्वारा स्वान्त:स्थित प्रपञ्च की सृष्टि तथा संहार करके क्रीड़ा करने वाला आत्मरूप ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सर्वरूप, सर्वगुणसम्पन्न तथा सभी विशेषणों से युक्त होते हुए भी सर्वथातीत, पूर्णत: निस्संग, असम्पृक्त, निर्गुण तथा निर्विकार है। परस्पर विरोधी भावों से युक्त ऐसे ब्रह्म का निरूपण करते समय भगवती श्रुति 'विधेय' एवं 'निषेध' दोनों ही विधियों का आश्रय लेती है और फिर 'नेति-नेति' कहते हुए 'नेति' की चरमावस्था में जिस पदार्थ या सत्ता का निषेध करना पूर्णतया असम्भव हो जाता है, उसे 'ब्रह्म' शब्द से अभिव्यक्त करती हैं। इसी आत्मरूप ब्रह्म के विषय में भगवती श्रुति (माण्डूक-उपनिषद-७) कहती है—

'नान्त:प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयत: प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। दृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेया:।'

ऐसा ब्रह्मतत्त्व कोई अन्य नहीं; अपितु अपनी आत्मा ही है, वही परमशिव है। यही परमसुखरूप, परमानन्द, ब्रह्मानन्द, आनन्दघन, आनन्दसन्दोहरूप है। संसार का

समस्त सुख उस सुख का सीकरमात्र है। जीवों का सुख क्षणिक और दुःखावच्छिन्न है; परन्तु यह ब्रह्मसुख-ब्रह्मानन्द निरवच्छिन्न, धाराप्रवाहवत् निरन्तर वर्धमान तथा काल की सीमा से परे, अविनाशी है। इसी परमसुख (सच्चिदानन्दस्वरूप) की प्राप्ति के लिये मैं आत्मस्वरूप ब्रह्मरूप परमशिव की वन्दना करता हूँ।।७।।

[ग्रन्थोपक्रमः]

अथ खलु दुरन्त-दुस्तर-घोरतरसंसारसागरान्तरुद्दामोकसन्तान-प्रबल-बडवानलज्वालाजाल-कवलन-विकलसकलपशुजनव्रातात्मविज्ञान-दत्तमनाः परमकारुणिको भगवान् परमशिवः परदेवताराधनरहस्य-प्रतिपादनपरानेकशतकोटिविस्तारतन्त्रसारमुपन्यस्तवान्। तत्र च निरन्तर-भावनावगाह्य-दुरवगाह्य-विविधतन्त्र-स्वतन्त्रसिद्धान्त-शुद्धिबोध-विधुर-महालसव्रजोद्वेग-समुद्विग्नमनाः श्रीमत्परमहंसपरिव्राजक-श्रीगुरुब्रह्मानन्द-मुखारविन्दनिस्यन्द-मान-परमरहस्यातिरहस्य-निगम-मकरन्द-सन्दोह-तुन्दिलानन्दः श्रीपूर्णानन्द-परमहंसः श्रीतत्त्वचिन्तामणिं चतुर्दशशताधिक-नवनवति-शकाब्दे वितनोति।

यह संसार अत्यन्त भयङ्कर सागर है—विषाक्त है। इसमें प्रवेश (जन्म), स्थिति (निवास) एवं निष्क्रमण (मृत्यु)—सभी दुःखदायी हैं। चूँकि अनादि सृष्टि-संहाररूप परम्परा वाला होने के कारण इसका ओर-छोर पाना असम्भव है, अतः इस 'दुरन्त-संसार-सागर' को पार कर पाना दुस्तर है। सागर में एक के बाद एक निरवच्छिन्न रूप से लहरें आती रहती हैं, उसी तरह इस संसारसागर में एक के बाद एक दुःखों का ताँता लगा रहता है। समुद्र में प्रबल बड़वानल है तो समुद्ररूपी संसार में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रितापों की प्रचण्ड अग्नि है। सांसारिक मोह-माया में फँसे हुए सभी मनुष्य दुःखों के प्रचण्ड थपेड़ों और त्रितापों की प्रबल ज्वालाओं से पीड़ित और दग्ध हैं। मनुष्यमात्र के इस दुःख-सन्ताप को देखकर सदार्द्रचित्त भगवान् शिव ने उनके त्राण के लिये परम उपास्या भगवती महात्रिपुर-सुन्दरी की साधना और उपासना के गूढ़ सिद्धान्तों और रहस्यों का उद्घाटन एक सौ करोड़ श्लोकों में आबद्ध तन्त्र-साहित्य में किया। इन श्लोकबद्ध ग्रन्थों के विषयों को अध्ययन-मनन तथा प्रयोग द्वारा हृदयंगम और आत्मसात् करने से उद्भूत आनन्द-उल्लास से विगलित चित्त वाले श्रीमत् परमहंस परिव्राजक श्रीगुरु ब्रह्मानन्दनाथ के श्रीमुख से निःसृत ज्ञानामृत के पान से प्रमुदित श्री पूर्णानन्द परमहंस शक-संवत् चौदह सौ निन्यानबे (१४९९ अर्थात् सन् १५७७ ईसवी) में 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि' का प्रसार-विस्तार कर रहा है।

विमर्श—ग्रन्थ के उपक्रम में अर्थात् ग्रन्थ-प्रणयन के संकल्पवाक्य में 'अहम् श्रीपूर्णानन्दपरमहंसः श्रीतत्त्वचिन्तामणि.....वितनोमि' के स्थान पर 'अहम्'रहित

'श्रीपूर्णानन्दपरमहंसः श्रीतत्त्वचिन्तामणि..... वितनोति' के प्रयोग में गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है। 'परमहंस' की अवस्था-प्राप्त ब्राह्मीभाव में स्थित साधकों में कर्तृत्वाभिमान रंच-मात्र भी शेष नहीं रहता, अतः वे लोग सामान्य सांसारिक कार्य-व्यवहार से सर्वथा तटस्थ होकर 'अहम्' (मैं) के बजाय अपने नामोल्लेखपूर्वक क्रिया के अन्य पुरुषरूप (यथा—करोति) का प्रयोग करने लगते हैं। श्रीपूर्णानन्दनाथ तो दश महाविद्या-सिद्ध परम साधक थे। इसीलिये उन्होंने 'श्रीपूर्णानन्दपरमहंसः श्रीतत्त्वचिन्तामणिम् ....वितनोति' कहकर स्वयं को इस ग्रन्थ का कर्ता या प्रणेता न कहकर गुरु-परम्परा से प्राप्त ज्ञान के विस्तार का माध्यममात्र निरूपित किया है। मध्य-युग के सन्त और भक्त कवियों में सिद्ध-साधकों की इस प्रवृत्ति का अनुकरण प्रकृष्ट रूप से परिलक्षित होता है; यथा—'कहत कबीर सुनौ भई साधो' तथा 'तुलसिदास सीदति निसदिन' और 'सूर श्याम लीला पद गावै' आदि।

[परमात्मजीवात्मनोः स्वरूपम्]

ननु किन्तावदात्मवस्तु? परंब्रह्म विश्वायतनस्थूलसूक्ष्मरहित-नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपजाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त्यादिप्रपञ्चप्रकाशक-गुणत्रयातीत-निराकाराबाधितादिमध्यान्तरहितमेवात्मवस्तु, तदंशा जीवसंज्ञकास्त एवानाद्यविद्योपहताः शरीरमास्थाय नानाविध-सुखदुःखभोगं कुर्वन्तीति। तदाश्रया तद्विषयाऽनाद्यविद्या यथा गर्भागारमन्धकारस्य विषयाश्रयौ, तदाश्रयत्वतद्विषयत्वबलेनावरणविक्षेपरूपं प्राप्य तमात्मानमाच्छाद्य विक्षिपति। यद्यप्यवस्त्वविद्या तथाप्यात्मसत्तास्फूर्त्तिं प्राप्य वस्तुवद्भाति, यथा निर्मल-दर्पणसन्निकर्षस्थवस्तुप्रतिविम्बमनिवारितं जायते, तद्वत् कूटस्थचिदाभासोऽपि सत्त्वादिगुणत्रयात्मिकायामविद्यायां प्रतिफलति।

'ननु' अर्थात् प्रश्न यह है कि समस्त साधनाओं का परमतत्त्व यह आत्मवस्तु क्या है? इसका स्वरूप क्या है? उसी का निराकरण करते हुए कहते हैं—

समस्त विश्व-सृष्टि का आश्रयरूप (अधिष्ठानस्वरूप) 'एकमेवाद्वितीयम्' पद से अभिहित जो मूल-तत्त्व है, उसे परब्रह्म कहा जाता है। इस परब्रह्म को न तो इन्द्रियगोचर स्थूल कहा जा सकता है और न ही उसे अनुभव से परे सूक्ष्म कहा जा सकता है। यह नित्य (शाश्वत, अविनाशी) शुद्ध-बुद्ध अर्थात् निष्पाप, निर्दोष एवं ज्ञानस्वरूप है। सर्वथा मुक्त एवं स्वतन्त्र है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्तिरूप अवस्था-त्रयात्मक समस्त प्रपञ्चसृष्टि का प्रकाशक एवं ज्ञाता तथा सत्-रज-तम आदि तीनों गुणों से पूर्णतया परे, निराकार, अबाधित तथा आदि-मध्य एवं अन्तरहित है। अनन्त, निस्सीम तथा परम सत्यरूप है। यही परब्रह्म आत्मवस्तु है। इसी आत्मा के असंख्य-असंख्य अंशों को जीव कहा जाता है। वे जीव ही अनादि अविद्या की

उपाधि से युक्त होकर अपने-अपने पूर्व-पूर्व जन्मों के पाप-पुण्यरूप कर्मों के फलस्वरूप नाना प्रकार के शरीरों में जाकर दु:खों और सुखों का भोग करते हैं। जिस तरह तहखाने (गर्भागार) में व्याप्त अन्धकार तहखाने का आश्रय लेकर तहखाने में ही रहता है और तहखाने के स्वरूप को ओझल कर देता है, इस तरह तहखाना अपने में व्याप्त अन्धकार का आश्रय भी है और विषय अर्थात् लक्ष्य भी; उसी प्रकार अविद्या भी आत्मा का आश्रय होकर आत्मा में ही रहती है तथा उस (आत्मतत्त्व) के वास्तविक स्वरूप को तिरोहित करके उसे (आत्मा को) अपनी विक्षेप-शक्ति (Projection Power) द्वारा नाना प्रकार के नाम-रूपात्मक प्रपञ्च का दर्शन कराती है। यद्यपि यह अविद्या वस्तुत: अवस्तुरूपा अर्थात् अवास्तविक और अस्तित्वहीन है, असत् और मिथ्या है; फिर भी सत्स्वरूप आत्मतत्त्व का आश्रय लेकर सत्तास्वरूपा होकर वस्तुवत् प्रकाशित होती है। जिस तरह स्वच्छ-निर्मल दर्पण के सामने किसी वस्तु को रख देने से उस वस्तु का प्रतिबिम्ब दर्पण में प्रतिफलित होता है, उसी तरह सत्त्वादि गुणत्रयात्मिका अविद्या में चिद्रूप कूटस्थ आत्मा चिदाभास के रूप में प्रतिफलित होता है।

विमर्श—पञ्चदशीकार स्वामी विद्यारण्य ने सत्त्व-रज और तम—इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति (मूलप्रकृति) मानकर माया और अविद्यारूप से इसके दो भेद बताये हैं। इनमें से माया सत्त्व गुणप्रधाना है। इसमें सतोगुण प्रबल तथा शेष दो गुण अभिभूत रहते हैं। अविद्या में रजोगुण और तमोगुण के किञ्चित् उत्कर्ष के कारण सतोगुण में कुछ मलीनता आ जाती है। स्वामी सदानन्द योगीन्द्र ने माया को 'अज्ञान-समष्टि' कहा है। भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य ने इनमें कोई भेद स्वीकार न करते हुये अविद्या, माया, प्रकृति एवं अज्ञान को एक-दूसरे का पर्याय बताया है।

[तत्र सत्त्वोपहितस्येश्वरसंज्ञा]

तन्मध्ये कारणभूतसत्त्वांशप्रतिबिम्बितो यश्चिदाभास: सोऽहमिति स्थिराध्यासादीश्वर इत्युच्यते। तस्य सत्त्वगुणोपाधित्वात् सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं सर्वकार्यकर्तृत्वञ्च।

इनके मध्य में कारणभूत सत्त्वांश (माया) में प्रतिबिम्बित जो चिदाभास है, वह 'सोऽहम्' के स्थिर-अध्यात्म के कारण 'ईश्वर' कहा जाता है। विशुद्ध सत्त्वगुण की उपाधि से उपहित होने के कारण वह ईश्वर सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व और सर्वकार्य-कर्तृत्वादि गुणों वाला है।

[रजस्तमोभ्यामुपहितस्य जीवसंज्ञा]

सत्त्वगुणप्रधानकारणरूपमायाया: कार्यभूतरजस्तमोंऽशोपाधित: प्रतिबिम्बितो यश्चिदाभास: स यदा कर्मनिमित्तवशाद्देशकालवस्तुत्रिविध-

परिच्छेदं गृहीत्वा स्वरूपं पूर्णं विहाय सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदं प्राप्य अहं ममेत्यध्यासो भवति तदा जीव इत्युच्यते। अस्य कार्योपाधित्वाज्जाड्यम्। तेनाहं कर्त्ता अहं भोक्ता अहं सुखी अहं दुःखी मामहं न जानामीति मन्यते।

श्रुतिरपि—'कार्य्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' इति। जगत्सृष्ट्यादिप्रतिपादन ईश्वरः कल्पितो वेदान्ते।

सत्त्व गुणप्रधान कारणरूप माया के कार्यभूत रजो और तमो अंश में प्रतिबिम्बित चिदाभास कार्य उपाधि से युक्त होने के कारण जब कर्म तथा निमित्तवश देश, काल और वस्तुरूप त्रिविध परिच्छेदों को स्वीकार कर अपने वास्तविक रूप का परित्याग कर सजातीय-विजातीय एवं स्वगतरूप तीन भेदों से युक्त होकर 'अहं-मम' अध्यास वाला हो जाता है, तब वह जीव कहा जाता है। कार्योपाधि से उपहित होने के कारण उसमें जड़ता अर्थात् अज्ञता होती है; अत: वह स्वयं को कर्ता, भोक्ता, सुखी, दु:खी तथा अज्ञ मानने और समझने लगता है।

भगवती श्रुति भी जीव को कार्योपाधि-युक्त तथा ईश्वर को कारणोपाधि-युक्त कहती हैं। वेदान्त में जगत् के सृष्टि-स्थिति और संहाररूप कर्म के व्याख्यान के लिये ईश्वर की कल्पना की गई है।

[ईश्वरकृतसृष्ट्यादि]

ईश्वरस्तूपाधिगुणत्रयभेदेन ब्रह्मविष्णुरुद्रादिरूपेणाविद्याया आवरणविक्षेपरूपद्वयं प्राप्याब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं नवविधसंसारं सृजत्यवति संहरतीति च।

यह ईश्वर सत्त्व आदि गुणत्रय के भेद से विष्णु-ब्रह्मा एवं रुद्ररूप ग्रहण कर अविद्या की आवरण एवं विक्षेपरूप दो शक्तियों की सहायता से ब्रह्मा से लेकर चींटी-पर्यन्त नवविध संसार का सृजन करता है, विष्णु रूप से संसार का पालन करता है और रुद्ररूप से संसार का संहार कर देता है।

[अत्र पर्यनुयोग:]

ननु केवलासङ्गोदासीन-नित्यमुक्तशुद्धबुद्ध-गुणातीताहङ्कारममकारेच्छाद्वेषप्रयत्नरहितस्य परमात्मनो नरविषाणवत् कथमावरणविक्षेपौ सम्भाव्येते? यथा गगनारविन्दं सुरभीत्युक्ते गगनारविन्दमेवासत् तस्य सुरभित्वं कुत:?

ननु अर्थात् प्रश्न यह है कि जिस तरह मनुष्य के सिर पर सींग होने की सम्भावना या कल्पना नहीं की जा सकती, उसी तरह उस परमात्मा में आवरण एवं विक्षेप की सम्भावना नहीं की जा सकती। जो (परमात्मा) सर्वथा निस्संग, उदासीन, नित्य, मुक्त, शुद्ध, बुद्ध, स्वभाव वाला तथा 'अहं-मम' भाव एवं इच्छा, द्वेष,

प्रयत्न (क्रिया) आदि से रहित और सर्वथी एकाकी है। जब आकाश में कमल ही नहीं होते तो आकाश-कमल के महक की कैसे कल्पना की जा सकती है?

[समाधानम्]

सत्यं एतत् सर्वमाविद्यकं तत्कार्यमावरणविक्षेपरूपं वस्तुगत्या नास्त्येव, किन्त्वज्ञातात्मनोऽविवेकाद् भ्रममात्रसिद्धम्। यदा स्वप्नावस्थितो जनस्तदा किं तं प्रति स्वाप्नो व्यवहारः सत्यतया न प्रतिभाति, ऐन्द्रजालिकस्य वा। पुनरपि स्वप्ने निवृत्ते ऐन्द्रजालिकमायानिवृत्तौ च सर्वं मिथ्यैव जानाति, इदन्तु सर्वेषामनुभवसिद्धम्। तद्वज्ज्ञानोत्पत्तेः प्राक् सत्यमेव निश्चिनोति, तदनन्तरं मिथ्यात्वे ज्ञाते अज्ञानं तत्कार्यञ्चावरणविक्षेपरूपं सुतरां नश्यतीति।

पूर्वं नन्वित्यादिना असङ्गत्वादिहेतुभिः परमात्मन्यावरणविक्षेपादेरसम्भवमुपपाद्य 'यथा गगनारविन्द'मित्यादिना दृष्टान्तञ्चोपदर्श्य पूर्वपक्षस्योत्तरमाह—**सत्यमित्यादिना। ऐन्द्रजालिकस्य वेति।** ऐन्द्रजालिको यदा पिच्छिकाभ्रमणादितत्तत्क्रियानुष्ठानेन मायामुण्डादिनानाविधविचित्रनिर्माणवैदग्ध्यं प्रदर्शयति, तदा किमैन्द्रजालिकस्य स व्यवहारः सत्यतया न प्रतिभाति इति सम्बन्धः। पुनरपीति परन्त्वित्यर्थः। **स्वप्ने निवृत्त इति**—स्वप्नावस्थितस्य स्वप्ने निवृत्ते स्वप्नानुभूतं सुत्रर्णाट्टालिकावासादिकम्, ऐन्द्रजालिकस्य च ऐन्द्रजालिकमायानिवृत्तौ ऐन्द्रजालिकप्रक्रियादशानुभूतं मायामुण्डादिकं मिथ्यैव जानातीत्यर्थः। एवं दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिकप्रदर्शनमुखेन फलितमाह—**तद्वदिति।**

ठीक है, आपका कथन सही है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान एवं बोध नहीं रहने की स्थिति में अविद्याजन्य सभी चीजें भ्रमरूप होने के बावजूद सपने के संसार और जादूगर के मायाजाल की तरह सत्य और वास्तविक प्रतीत होती हैं; लेकिन जिस तरह सपना टूटते ही स्वप्न-महल और जादूगर का मायाजाल तिरोहित होते ही यथार्थ प्रकट हो जाता है, उसी तरह आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होते ही अज्ञान और उसकी कार्यभूत आवरण एवं विक्षेपरूप सारी क्रियाओं का विनाश हो जाता है।

[साधनप्रकारनिरूपणप्रतिज्ञा]

अथेदानीं मुमुक्षोः पुरुषार्थसिद्धावनाद्यविद्याप्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं साधनप्रकारा उच्यन्ते—यतो वैदिककर्मानुष्ठानात् पुण्योपचयपापक्षयाद् रजस्तमोनिवृत्तिद्वारा रागद्वेषनिराकरणम्। यथा वृक्षस्य बीजं कारणं बीजस्यापि वृक्षः कारणम्, रजस्तमसी पापबुद्धेः पापबुद्धिरपि रजस्तमसोरिति परस्परानुबन्धित्वादेकस्यापि नाशे इतरस्यापि नाश

इत्येतदन्यदपि श्रुत्यागमपुराणसत्सम्प्रदायानुगत्या समासतः श्लोकबन्धेन विस्तार्यते।

मोक्ष चाहने वाले पुरुष को मुमुक्षु कहते हैं। मुमुक्ष-जनों की परम पुरुषार्थ-सिद्धि में अविद्याजन्य प्रतिबन्धों की निवृत्ति के कतिपय साधनों की चर्चा की जा रही है।

वेदोपदिष्ट कर्मों के अनुष्ठान से पुण्यों की प्राप्ति और पापों का क्षरण होता है। इससे रजोगुण और तमोगुण की निवृत्ति होती है। इन दोनों गुणों की निवृत्ति से अन्त:करण में विद्यमान राग-द्वेष आदि का निरसन होता है। जिस तरह वृक्ष का कारण बीज और बीज का कारण वृक्ष है, उसी तरह रजोगुण और तमोगुण से पापबुद्धि की उत्पत्ति और संवर्धन होता है तो पापबुद्धि से रजोगुण और तमोगुण अभिवर्धित होते हैं। इस तरह रजोगुण एवं तमोगुण तथा पापबुद्धि एक-दूसरे के कारण और पूरक हैं। अत: इनमें से एक का नाश हो जाने पर दूसरे का भी नाश हो जाता है। इनके विनाश के लिये वेद-पुराण-आगम तथा सत् सम्प्रदायों के ग्रन्थों में चर्चा की गई है और एतदर्थ उपाय बताये गये हैं। इस सम्बन्ध में जो ज्ञान सद्-ग्रन्थों में उपलब्ध है, उसके सार का संक्षेप में श्लोकबद्ध निरूपण किया जा रहा है।

विमर्श—शिवस्वरूप गुरुदेव परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री ब्रह्मानन्दनाथ से प्राप्त ज्ञानामृत के प्रसार की जो प्रतिज्ञा ग्रन्थ के उपक्रम में की गई है, उसका निर्वाह करते हुए परंब्रह्म-माया-अविद्या-ईश्वर-जीव और संसार के स्वरूपों तथा उनके परस्पर सम्बन्धों की संक्षिप्त दार्शनिक व्याख्या करने के बाद अब मोक्ष-प्राप्ति के साधनभूत ज्ञान का विभिन्न ग्रन्थों में जो श्लोकबद्ध निरूपण है, उसे प्रस्तुत किया जा रहा है। जिन ग्रन्थों से ये श्लोक लिये गये हैं, उनका सन्दर्भ भाष्य में दिया जा रहा है, ताकि जिज्ञासु-जनों को इन सद्ग्रन्थों के अध्ययन की प्रेरणा मिले।

[परमात्मजीवात्मनो: स्वरूपम्]

अस्ति सत्यं परंब्रह्मस्वरूपो निष्कलः शिवः।
सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च सर्वेशो निर्मलोऽद्वयः।।१।।
स्वयंज्योतिरनाद्यन्तो निर्विकारः परात् परः।
निर्गुणः सच्चिदानन्दस्तदंशा जीवसंज्ञकाः।।२।।
अनाद्यविद्योपहता यथाग्नौ विस्फुलिङ्गकाः।
सर्वे ह्युपाधिसम्भिन्नास्ते कर्मभिरनादिभिः।।३।।
सुखदुःखमयैः स्वीयैः पुण्यपापैर्नियन्त्रिताः।
स्थावराः पक्षिणश्चैव कीटाश्चपशवो नराः।
जायन्ते च म्रियन्ते च संसारे दुःखसागरे।।४।।

यह सत्य है कि परमशिव परब्रह्मस्वरूप, निष्कल, सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, सर्वेश, निर्मल, अद्वय, स्वयंज्योति, अनादि, अनन्त, निर्विकार, निर्गुण, माया से परे तथा सच्चिदानन्दस्वरूप हैं तथा सभी जीव इनके ही अंश हैं।

जिस तरह धधकती हुई अग्नि से चिटक-चिटक कर चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी तरह ब्रह्म से असंख्य-असंख्य जीव प्रकट होते हैं। कार्योपाधिरूप अविद्या से उपहित ये सभी जीव अपने-अपने पाप-पुण्यरूप सुख-सन्तापजनक अनादि कर्म-शृङ्खला में जकड़े हुए न चाहते हुए भी पशु-पक्षी, लता-वृक्ष तथा मनुष्य आदि योनियों में इस दु:खमय संसार में जन्म लेते और मरते रहते हैं॥१-४॥

(कुलार्णव तन्त्र प्रथम उल्लास श्लोक-संख्या ७, ८, ९, ११ और १२)

[देहिषु मनुष्याणामुत्कर्ष:]

प्रधानः सर्वजन्तूनां सुकृती मानुषो जनः।
ज्ञानी भूत्वा यतो धीरो लभेन्मुक्तिं चतुर्विधाम्।
मानुषं सफलं जन्म सर्वशास्त्रेषु गोचरम्।।५।।
चतुरशीतिलक्षेषु शरीरेषु शरीरिणाम्।
न मानुष्यं विनाऽन्यत्र तत्त्वज्ञानन्तु विद्यते।।६।।
कदाचिल्लभ्यते जन्म मानुष्यं पुण्यसञ्चयात्।
सोपानभूतं मोक्षस्य मानुष्यं जन्म दुर्लभम्।।७।।

सुकृतिनो मानुषस्य प्राधान्ये हेतुमाह—ज्ञानीत्यादि। मुक्तिं चतुर्विधामिति—ब्राह्मणो निर्वाणम्, क्षत्रियः सायुज्यम्, वैश्यः सारूप्यम्, शूद्रः सालोक्यं लभेतेत्यर्थः। तदुक्तं निर्वाणतन्त्रे द्वितीयपटले—

ब्राह्मणस्य महामोक्षं सायुज्यं क्षत्रियस्य च।
सारूप्यञ्चोरुजातस्य शूद्रस्य सहलौकिकम्।। इति।

संसार में जितने भी प्राणी हैं, उनमें मनुष्य श्रेष्ठ और प्रधान है; क्योंकि मनुष्य योनि में ही जीव को आत्मज्ञान एवं मोक्षलाभ की क्षमता और सुविधा प्राप्त होती है। मनुष्ययोनि मोक्ष प्राप्त करने का सर्वोच्च सोपान होने के कारण अत्यन्त दुर्लभ है। अत: बहुत पुण्य संचय कर लेने पर ही जीव को मानव-योनि में जन्म मिलता है॥५-७॥

[देहसम्बन्धमन्तरेण पुरुषार्थावाप्तिर्न भवति]

विना देहेन कस्यापि पुरुषार्थो न लभ्यते।
तस्माच्छरीरं संरक्ष्य नित्यं कर्म प्रसाधयेत्।।८।।

समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि का साधन या माध्यम हमारा शरीर ही है। शरीर के विना किसी भी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। अत: मनुष्य का यह प्रथम

कर्त्तव्य है कि वह यत्नपूर्वक अपने शरीर की रक्षा करते हुए अपने सभी करणीय कार्यों का सम्यक् रूप से नित्यप्रति सम्पादन करे॥८॥

सन्दर्भ—कुलार्णव १।१८।

[आत्मनो देहसम्बन्धरक्षार्थमहितान्निवृत्त्यर्थञ्च प्रयत्नः समाश्रयणीयः]

रक्षेत् सर्वात्मनात्मानमात्मा सर्वस्य भाजनम्।
रक्षार्थं यत्नमातिष्ठेज्जीवन् भद्राणि पश्यति।।९।।
आत्मना यदि नात्मानमहितेभ्यो निवारयेत्।
कोऽन्यो हितकरस्तस्मादात्मानं तारयिष्यति।।१०।।

चूँकि सभी पुरुषार्थों की सिद्धि का आधार-पात्र हमारा शरीर ही है; अतः अपने बुद्धि-विवेक का प्रयोग करते हुए शरीर की रक्षा करनी चाहिए। जो मनुष्य जीवन भर शरीर की रक्षा करते हुए सत्कर्म करता है, उसे ही सुख-शान्ति और कल्याण की प्राप्ति होती है। यदि कोई मनुष्य स्वयं ही अपने लिये अहितकर वस्तुओं से अपनी रक्षा नहीं करता, तो कोई दूसरा व्यक्ति उसका क्या भला करेगा? भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्। (६/५)

इसलिये मनुष्य को स्वयं ही प्रयत्नशील होकर अपना उद्धार करना चाहिए॥९-१०॥

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र १/१९।

[वर्त्तमानजन्मन्येव पापप्रतीकार आधेयः]

इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषधं देशं व्याधितः किं करिष्यति।।११।।
यावत्तिष्ठति देहोऽयं तावत्तत्त्वं समाश्रयेत्।।१२।।
यावन्नाश्रयते दुःखं यावन्नायान्ति चापदः।
यावन्नेन्द्रियचापल्यं तावच्छ्रेयः समाश्रय।।१३।।

नरक-यातना जीव की सबसे बड़ी व्याधि है और इस व्याधि की निवारक चिकित्सा उस लोक में नहीं; अपितु इसी लोक में उपलब्ध है। अतः बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह सत्त्व बुद्धि से सत्कर्मरूप निवारक चिकित्सा इसी लोक में प्राप्त कर ले। मृत्यु के बाद प्राप्त होने वाले लोकों में न तो औषधि मिलेगी और न ही चिकित्सा के साधन मिलेंगे॥११॥

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र १/२४।

जब तक मोक्ष-प्राप्ति के साधनस्वरूप इस मानव-शरीर की स्थिति है, तब तक तत्त्वनिष्ठ होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सत् साधनाओं में लगे रहना चाहिए।।१२।।

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र १/२७।

जब तक यह शरीर रोगों का तथा चित्त दुःखों का घर नहीं बनता, जब तक विपत्तिरूपी शत्रुओं का इस पर आक्रमण नहीं होता तथा इन्द्रियाँ सांसारिक विषयों के प्रति लालायित नहीं होतीं तब तक श्रेयमार्ग पर चलते रहना चाहिए। आशय यह कि किसी भी प्रकार की शारीरिक या मानसिक क्षीणता या विकृति आने के पूर्व ही परमकल्याण के मार्ग का आश्रय ले लेना चाहिए; ये नहीं कि जब किसी काम के नहीं रहेंगे तब रामनाम जपेंगे।।१३।।

[संसारासक्तिर्हितं प्रतिबध्नाति]

कालश्च जायते(?) नानाकार्यैः संसारसम्भवैः।
न वेत्ति हितमात्मानं सुखदुःखविभूतिभाक्।।१४।।
लोको मोहसुरां पीत्वा न वेत्ति हितमात्मनः।।१५।।

बड़ी विडम्बना की बात है; संसार के निरर्थक कार्यों में ही मनुष्य का सारा समय खप जाता है और उसे अपने वास्तविक हित की बात सोचने-समझने का भी मौका नहीं मिलता। माया-मोह की मदिरा पीकर उसे अपनी भलाई की बात भी नहीं सूझती।।१४-१५।।

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र १/२८।

[सम्पदादीनामस्थायित्वम्]

सम्पदः स्वप्नसङ्काशा यौवनं कुसुमोपमम्।
तडिच्चपलमायुश्च कस्याप्यज्ञानतो धृतिः।।१६।।

अज्ञानतः सम्पदामस्थायित्वज्ञानाभावाद् धृतिः सन्तोषः। मूढो नश्वरीस्वपि सम्पत्स्वतिमात्रं रमत इत्यर्थः।

संसार की सारी सम्पत्ति सपने के समान निरर्थक और अवास्तविक है। जवानी फूलों के सौन्दर्य के समान क्षणभंगुर तथा मनुष्य की आयु काले बादलों के बीच क्षणभर के लिये चमकने वाली बिजली के समान चपल है। इन पर विश्वास करके अभिमान करना सरासर अज्ञान है।।१६।।

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र १/३०।

[देहिनां जीवनं वृथैवातिवहति]

शतं जीवति मर्त्यश्च निद्रा स्यादर्द्धहारिणी।
बाल्यरोगजरादुःखैरर्द्धं तदपि निष्फलम्।।१७।।

कहने को मनुष्य की आयु सौ वर्षों की है; मगर इसमें से आधी जिन्दगी तो सोने में गुजर जाती है। जो आधी बचती है, उसका भी आधा भाग बचपन-बीमारी और बुढ़ापे के नजर हो जाती है। जो थोड़ी-बहुत बचती है, उसका भी वह उपयोग नहीं कर पाता। इस तरह उसकी पूरी जिन्दगी बेकार ही गुजर जाती है॥१७॥

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र १/३०।

[कार्याकार्यविचारमूढा विपद्यन्ते]

प्रारब्धव्ये निरुद्योगो जागर्त्तव्ये सुषुप्तिमान्।
विश्वासवान् भयस्थाने हा नरः को न हन्यते।।१८।।
जलरेखासमुद्रोर्मिसहोदरकलेवरः ।
अनित्यप्रियसंसारे कथं तिष्ठति निर्भयः।।१९।।

जो भाग्य के भरोसे हाथ पर हाथ धरे बैठा रहता है, जो जागते हुए भी सोता रहता है और भयोत्पादक वस्तुओं पर विश्वास करता है, ऐसे मनुष्य का नाश कोई अन्य नहीं; अपितु वह स्वयं करता है॥१८॥

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र १/३३।

मनुष्य का यह शरीर समुद्र की लहर पर खींची गई रेखा के समान क्षण-भंगुर है। ऐसे अनित्य संसार में ऐसा शरीर पाकर कौन यहाँ निर्भय होकर जी सकता है?॥१९॥

[जीवानां मुग्धत्वम्]

पश्यन्नपि प्रस्खलति शृण्वन्नपि न बुध्यते।
प्रतिबिम्बसमः कालः क्षीयमाणो न लभ्यते।।२०।।

सांसारिक मोह में फँसा हुआ मनुष्य सब कुछ देखने के बावजूद अपने को सम्हाल नहीं पाता। वह पतन के गर्त में फिसलता ही जाता है। सभी सत् शास्त्रों और सन्तों के हितकारी वचनों को वह सुनता है; फिर भी उसकी विवेक-बुद्धि जागृत नहीं होती। जिस तरह दर्पण में बने हुए प्रतिबिम्ब को हम देख तो सकते हैं; लेकिन पकड़ नहीं पाते, उसी तरह क्षण-प्रतिक्षण विनाश की ओर अग्रसर जीवनकाल को न तो रोका जा सकता है और न ही बीते हुए काल को लौटाया जा सकता है॥२०॥

सन्दर्भ—कुलार्णव १/५५।

[कालः सर्वं हन्ति]

पृथिवी दह्यतेऽनेन मेरुश्चापि विशीर्यते।
शुष्यते सागरजलं शरीरे हन्त का कथा।।२१।।

अपत्यं मे कलत्रं मे धनं मे बान्धवाश्च मे।
लपन्ति मतिहीनास्तु हन्त कालवृकेच्छया।।२२।।

सबको ग्रास बना लेने वाला काल अत्यन्त प्रबल है। वह एक ही दिन में सारी पृथिवी को जला सकता है, मेरु पर्वत को चूर-चूर कर सकता है, समुद्र का सारी पानी सुखा सकता है। ऐसे प्रबल काल के मुक़ाबिले में हमारे शरीर की क्या बिसात? फिर भी हम अपने शरीर के सौन्दर्य और बल पर अभिमान करते हुए काल को अपने वश में करने का खयाली पुलाव पकाते हैं।।२०।।

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र १/३९।

ये मेरा पुत्र है, ये मेरी पत्नी है, ये मेरा भाई है, ये मेरे रिश्तेदार हैं, यह मेरा धन-ऐश्वर्य है—यही सब सोचते-सोचते और उनका संरक्षण करते-करते मनुष्य अपना जीवन गुजार देता है और एक दिन मृत्युरूपी भेड़िया उसे अपना ग्रास बना लेता है। अन्त में हाथ कुछ नहीं आता।।२१।।

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र १/४०।

[श्रेय:साधने कृत्ये कालहरणमनुचितम्]

श्वःकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम्।।२३।।

जो भी अच्छा काम कल करना है, उसे आज ही कर लो। आज किये जाने वाला काम अभी कर लो। कौन जाने, फिर अवसर मिले या न मिले; क्योंकि मृत्यु इस बात की प्रतीक्षा नहीं करती कि हमने काम को पूरा किया है अथवा नहीं किया है।।२२।।

सन्दर्भ—कुलार्णव १/४२।

[सर्वेषामेव मृत्युरव्यभिचारी]

बालांश्च यौवनस्थांश्च वृद्धान् गर्भगतानपि।
सर्वानादिशते मृत्युरेवंभूतमिदं जगत्।।२४।।
ब्रह्मविष्णुमहेशादिदेवता भूतजातयः।
नाशमेवात्र धावन्ति तस्माच्छ्रेयः समाश्रय।।२५।।

मृत्यु के चंगुल से कोई नहीं बच सकता। चाहे बालक हो या जवान, चाहे वृद्ध हो अथवा गर्भ में पल रहा शिशु—सभी को मृत्यु अपना ग्रास बना लेती है। साधारण मनुष्य की बात क्या, सभी बड़े-बड़े प्राणी; यहाँ तक कि ब्रह्मा-विष्णु और महेश भी मृत्यु की ओर दौड़ रहे हैं। मृत्यु से कोई नहीं बच सकता, इसलिये श्रेयस्कर यही है कि जब तक मृत्यु का समय न आ जाय, पारलौकिक हित के काम में लगे रहो।।२३-२४।।

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र १/४५-४६।

[आयुःक्षयकारणम्]

आत्मवर्णाश्रमाचारहीन-हीनप्रतिग्रहात् ।
परस्त्रीधनलोभाच्च नृणामायुःक्षयो भवेत्।।२६।।
वेदशास्त्राद्यनभ्यासात्तथैव गुरुवञ्चनात्।
नृणामायुःक्षयो भूयादिन्द्रियाणामनिग्रहात्।।२७।।

प्रारब्ध ने मनुष्य को यथानिर्दिष्ट आयु तो दे दी; परन्तु अपने वर्ण-आश्रम धर्म का पालन नहीं करना, नीच और अपात्र लोगों से दान लेना, पराये धन और पराई स्त्री का लोभ करना और उन्हें हड़प लेना आदि कुछ ऐसे छिद्र हैं, जिनसे मनुष्य की आयु क्षीण होती है। वेद-शास्त्रों का अध्ययन नहीं करने से, गुरुजनों के साथ छल-कपट करने से तथा इन्द्रियों पर नियन्त्रण नहीं करने से भी मनुष्य की आयु क्षीण होती है। अतः आयु का क्षरण रोकने के लिये इन सबसे परहेज करना चाहिए।।२६-२७।।

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र १/४७-४८।

[सङ्गः सर्वथा परित्याज्यः]

निःसङ्ग एव मोक्षः स्याद्दोषाः सर्वे च सङ्गमात्।
तस्मात् सङ्गं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठः सुखी भव।।२८।।

सांसारिक सम्बन्धों अर्थात् संसार के प्रति आसक्तिरहित होना ही मुक्ति है। समस्त दोषों, समस्त विकारों और सभी दुःखों की उत्पत्ति का मूल आसक्ति ही है। अतः आसक्ति का भली-भाँति त्याग कर अर्थात् आसक्तियों से पीछा छुड़ाकर तत्त्वनिष्ठ हो जाने से ही सुख मिलता है।।२८।।

सन्दर्भ—कुलार्णव १/५५।

[तदसम्भवे सत्सङ्ग एवोपादेयः]

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिरेव कर्त्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्।।२९।।

श्रेयस्कर तो यही है कि संसार में किसी के साथ कोई सम्बन्ध—विशेषकर मानसिक सम्बन्ध न रखा जाय; क्योंकि सम्बन्धजनित आसक्ति ही सांसारिक बन्धन का मूल है। फिर भी चूँकि सर्वथा सम्बन्धरहित हो जाना सर्वथा व्यावहारिक नहीं है; अतः कुछ न कुछ सम्बन्ध बनाये रखना जरूरी होता है। अतः सम्बन्ध बनाना ही है तो सन्तों और सत्पुरुषों की संगति की जाय; क्योंकि सज्जनों और सन्तों की संगति औषधि के समान हितकर है।।२९।।

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र १/५६।

विमर्श—यद्यपि सत्संग को संसार के प्रति आसक्तिरूप रोग से मुक्ति दिलाने वाला औषधि कहा गया है, लेकिन जिस तरह रोगमुक्त होने पर दवा छोड़ दी जाती

है, उसी तरह चित्त से असत् के प्रति आसक्ति का पूर्णतया निरसन हो जाने के बाद इस सत्संगासक्ति का भी त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि आसक्ति किसी भी प्रकार की क्यों न हो, बन्धनकारी और दुःखमूलक होती है।

बन्दऊँ सन्त असज्जन चरना। दुःखप्रद उभयबीज कछु बरना।।
बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं। मिलत एक दारुन दुःख देहीं।।
(मानस)

सन्दर्भ—कुलार्णव तन्त्र, प्रथम पटल श्लोक संख्या ५६।

[सत्सङ्गविवेकयोः प्रकर्षः]

सत्सङ्गश्च विवेकश्च निर्मलं नयनद्वयम्।
यस्य नास्ति नरः सोऽन्धः कथं न स्यादमार्गगः।।३०।।

सत्संग और विवेक—ये दोनों व्यक्ति की आँखों के समान हैं। जिसके पास ये दोनों आँखें हैं, वही तत्त्वदर्शन कर सकता है। जिसके पास ये दोनों आँखें नहीं है, वह इन्द्रियगोलकरूप आँखों के होते हुए भी अन्धा है। अब यही अन्धा व्यक्ति पथच्युत हो जाय तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?।।३०।।

द्रष्टव्य—कुलार्णवतन्त्र, प्रथम पटल श्लोक संख्या-५७।

[जीवात्मनः स्वाश्रये देहेऽपि सम्बन्धः क्षणिकः
का कथा स्त्रीपुत्रादिषु]

स्वदेहमपि जीवोऽयं त्यक्त्वा याति कुलेश्वरि।
स्त्रीपुत्रपितृमात्रादिसम्बन्धः केन हेतुना।।३१।।

स्वदेहेत्यादिपादचतुष्टयात्मकं वचनं कुलार्णवप्रथमोल्लासे दृश्यते। तत्र कुलेश्वरीति देवीं प्रतीश्वरकृतं सम्बोधनम्। तदेव वचनमत्राविकलमाहृतमिति कुलेश्वरीति पदमपि न परिवर्त्तितं ग्रन्थकृतेति सम्भाव्यते।

यह श्लोक कुलार्णवतन्त्र, प्रथम उल्लास का ५९वाँ श्लोक है। भगवान् कहते हैं—हे कुलेश्वरि! बहुत जन्मों के पुण्य-प्रताप से प्राप्त मानव-शरीर के साथ जीव का सम्बन्ध क्षणभङ्गुर है। पुण्यार्जित शरीर को छोड़कर जाने के लिये वह विवश है तो फिर स्त्री, पुत्र, माता-पिता के साथ जिन्दगी भर सम्बन्धों का बोझ ढोने से क्या फायदा, जिनके प्रति आसक्ति से केवल दुःख ही मिलता है?।।३१।।

[कः सुखी को वा दुःखी]

दुःखमूलं हि संसारः स यस्यास्ति स दुःखितः।
तस्य त्यागः कृतो येन स सुखी नात्र संशयः।।३२।।

निस्सन्देह संसार ही सब दुःखों का मूल है। जो व्यक्ति संसार में जितना फंसा हुआ है, वह उतना ही दुःखी है और जो संसार से जितना दूर है, संसार से जितना

अनासक्त है, वह उतना ही सुखी है। जिसने इस संसार का त्याग कर दिया, निस्सन्देह वही पूर्णत: सुखी है।।३२।।

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र-१/६०।

[त्यागिन: स्वरूपम्]

त्यजेतु कर्मफलं यो हि स त्यागीत्यभिधीयते।
आलयं सर्वपापानां संसारं वर्जयेत् सुधी:।।३३।।

पिछले श्लोक में कहा गया है कि संसार का त्याग करने से ही सुख की प्राप्ति होती है। संसार का यह त्याग क्या है? त्याग का क्या अर्थ है? घर-बार छोड़कर जंगल में बस जाना अथवा कर्मों को छोड़कर अकर्मण्य हो जाना त्याग नहीं है। ऐसा करने से तो उन कर्मों का भी लोप हो जायगा, जिन्हें सम्पादित करना मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है। त्याग का अर्थ है—कर्मफलों का त्याग करना। फल की इच्छा बिना कर्म करना; क्योंकि कर्म नहीं; अपितु कर्मों का फल बन्धनकारी है। इसलिये अशुभ कर्म तो त्याज्य हैं ही, फल की कामना से शुभ कर्म करना भी त्याज्य है अर्थात् शुभ कर्मों का भी फल त्याज्य है; क्योंकि इन शुभ कर्मों के भी फल मोक्ष-पथ में बाधक एवं बन्धनकारी होते हैं, जैसा कि महानिर्वाणतन्त्र (उल्लास १४) में कहा गया है—

यतो हि कर्म द्विविधं शुभाञ्चाऽशुभमेव च।
अशुभात् कर्मणो यान्ति प्राणिन: तीव्रयातनाम्।।१०७।।
कर्मणोऽपि शुभाद् देवि! फलेष्वासक्तचेतस:।
प्रयान्त्यायान्त्यमुत्रेहि कर्मशृङ्खलायन्त्रिता:।।१०८।।
यावन्न क्षीयते कर्म शुभं वाऽशुभमेव वा।
तावन्न जायते मोक्षो नृणां कल्पशतैरपि।।१०९।।
यथा लौहमयै: पाशै: पाशै: स्वर्णमयैरपि।
तथा बद्धो भवेज्जीव: कर्मभिश्चाऽशुभै: शुभै:।।११०।।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—शुभ और अशुभ। अशुभ कर्म करने से प्राणी बहुत यातना भोगते हैं। जो लोग फल के लोग में शुभ कर्म करते हैं, वे भी इन कर्मों की जंजीर में बँधकर आवागमन के चक्कर में फँसे रहते हैं। उन्हें मुक्ति नहीं मिलती। जंजीर चाहे लोहे की हो अथवा सोने की, वह बन्धनकारी ही होती है। उसी तरह कर्म चाहे शुभ हो या अशुभ—उसका फल बन्धनकारी होता है और जब तक इन शुभ या अशुभ कर्मों के फल का क्षय नहीं हो जाता, मनुष्यों को सौ-सौ कल्पों तक भी मुक्ति नहीं मिलती। इसलिये गीता का उपदेश है—'मा फलेषु कदाचन'। फल का त्याग करते हुए ही शास्त्रविहित कर्म करो।

[संसारस्य हेयत्वं तत्त्वज्ञानस्योपादेयत्वञ्च]

आदिमध्यावसानेषु सर्वदुःखमिदं जगत्।
तस्मात् सन्त्यज्य संसारं तत्त्वनिष्ठः सुखी भव।।३४।।

इस संसार में कभी भी दु:खों से छुटकारा नहीं मिलता। जन्म लेते समय दु:ख उठाना पड़ता है। जवानी में भी दु:ख ही दु:ख हैं और अवसान काल अर्थात् बुढ़ापे का दु:ख तो सर्वज्ञात है। इसलिये संसार के प्रति आसक्ति का त्याग कर तत्त्वनिष्ठ होकर सुखी रहना चाहिए।।३४।।

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र, प्रथम पटल, श्लोक संख्या-६३।

[तत्त्वनिष्ठस्य पुण्यपापकर्मभिरननुषङ्गः]

अश्वमेधशतेनापि ब्रह्महत्याशतेन वा।
पुण्यपापैर्न लिप्यन्ते येषां ब्रह्म हृदि स्थितम्।।३५।।

इस संसार में अश्वमेध यज्ञ-जैसे हजारों पुण्यकार्य होते हैं तो ब्रह्महत्या-जैसे हजारों जघन्य पापकर्म भी होते हैं। जो लोग पाप और पुण्यरूप कर्म करते हैं, उन्हें अपने कर्मों का फल भोगने के लिये बार-बार जन्म लेना ही पड़ता है। वे कर्मफल के बन्धन से छूट नहीं सकते; लेकिन जो लोग ब्रह्मनिष्ठ हैं, जिन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है, उन्हें शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य किसी भी प्रकार के कर्मफल का बन्धन नहीं होता है।।३५।।

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र, पटल ९, श्लोक संख्या-३२।

[इन्द्रियवृत्तिपारतन्त्र्यमेव कर्मणां हेतुस्तस्य परित्यागे न कर्मोदय:]

पृथिव्यां यानि कर्माणि जिह्वोपस्थनिमित्तकम्।
जिह्वोपस्थपरित्यागी कर्मणा किं करिष्यति।।३६।।

संसार में जितने भी कर्म किये जाते हैं, वे सबके सब जिह्वा (रसना) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) के सुखोपभोग के लिये किये जाते हैं; क्योंकि मनुष्य की समस्त इन्द्रियों में केवल ये ही इन्द्रियाँ सांसारिक सुख-भोग के साधन हैं। अन्य इन्द्रियाँ सांसारिक सुख-भोग में इन दोनों की सहायकमात्र हैं। अत: जिसने इन दोनों इन्द्रियों के विषय-भोग का परित्याग कर दिया, वह किस फलोपभोग के लिये कर्म करेगा?।।३६।।

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र, पटल ९, श्लोक संख्या-३३।

[के नरकगामिन:]

हिताहितं न जानन्तो नित्यमुन्मार्गगामिनः।
कुक्षिपूरणनिष्ठा ये ते जना नारकाः स्मृताः।।३७।।

विवेकरहित होने के कारण जो अपने भले-बुरे को नहीं पहचानते तथा शास्त्रीय मर्यादा के प्रतिकूल आचरण करते हुए केवल पेट भरने में लगे रहते हैं, ऐसे मनुष्य निश्चय रूप से नारकी होते हैं॥३७॥

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र, पटल १, श्लोक संख्या-६९।

[ज्ञानवतां प्रकर्षो भोगमात्रसाराणां पशुतुल्यत्वञ्च]

निद्राभीमैथुनाहाराः सर्वेषां प्राणिनां समाः।
ज्ञानवान् मानुषः प्रोक्तो ज्ञानहीनो महापशुः॥३८॥

निद्रा, भय, मैथुन और आहार—ये ऐसी आदिम प्रवृत्तियाँ हैं, जो संसार के सभी प्राणियों में समान रूप से होती हैं। निद्रा आदि के मामले में मनुष्य-सहित सभी प्राणियों का व्यवहार कमोबेश एक-सा होता है तो फिर वह कौन-सी चीज है, जो मनुष्य को सभी अन्य प्राणियों से विशिष्ट बनाती है। वह विशेष वस्तु है—ज्ञान। अत: जो ज्ञानवान है, वही मनुष्य है और जिसे ज्ञान नहीं है, जो ज्ञानहीन है, वह शरीर से मनुष्य प्रतीत होने के बावजूद महापशु है॥३८॥

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र, प्रथम उल्लास, श्लोकसंख्या-६९।

[संसारिण: स्वस्वकृत्याकुलतया निरन्तरं पीडाविशेषमनुभवन्ति]

प्रभाते मलमूत्राभ्यां मध्याह्ने क्षुत्पिपासया।
रात्रौ मदननिद्राभ्यां बाध्यन्ते मानवाः किल॥३९॥

मनुष्य का सारा दिन शारीरिक आवेगों और आवश्यकताओं में पूरा करने में ही बीत जाता है। सुबह हुई तो मल-मूत्र त्याग का आवेग है। दोपहर हुई तो भूख-प्यास का आवेग है। दोपहर में ही सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये धन कमाने की विवशता है। रात में निद्रा और काम का आवेग है। फिर वह चिन्तन और विचार कब करे? इन बाधाओं को जीतना ही साधना का आधार है॥३९॥

सन्दर्भ—कुलार्णव १/७०।

पाठभेद—मध्याह्ने क्षुत्पिपासया—क्षुत्तृड्भ्यां मध्यमे रवौ।

[मूढा विषयिण: पुन: पुनर्जन्ममरणानुबन्धिनो भवन्ति]

स्वदेहपुत्रदारादिनिर्भराः सर्वजन्तवः।
जायन्ते च म्रियन्ते च हा हन्ताज्ञानमोहिताः॥४०॥

प्राय: सभी मनुष्य अपने शरीर, अपने पुत्र, अपनी पत्नी आदि के भरण-पोषण में ही जिन्दगी खपा देते हैं। अज्ञान-विमोहित ऐसे लोगों की जीवनोपलब्धि क्या है? जन्म लेते हैं, जिन्दगी भर हाय-हाय करते हैं और हाय-हाय करते-करते एक दिन मर जाते हैं॥४०॥

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र, प्रथम उल्लास, श्लोकसंख्या-७१।

[न हि वर्णाश्रमाचारपरिपालनेनैवात्मलाभः]

स्वस्ववर्णाश्रमाचारनिरताः सर्वमानवाः।
न जानन्ति परं ब्रह्म मूर्खा नश्यन्ति निश्चितम्।।४१।।

अपने-अपने वर्ण और आश्रम के आचार का निष्ठापूर्वक पालन करने पर भी जिन्हें परब्रह्म का ज्ञान नहीं होता, वे निश्चयतः मूर्ख हैं और उनका विनाश निश्चित है।।४१।।

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र, प्रथम उल्लास, श्लोकसंख्या-७२।

अब आगे के कतिपय श्लोकों में उन कतिपय बाह्य आडम्बरों और आचरणों का उल्लेख किया गया है, जिन्हें कुछ लोग ज्ञानप्राप्ति का साधन के बजाय साध्य समझ लेते हैं और जीवनभर अज्ञान में ही भटकते रहते हैं।

[केचिन्मूढा ब्रह्मचर्याद्याडम्बरैर्लोकान् प्रतारयन्ति,
ततोऽपि नात्मलाभः]

क्रियायासपराः केचिद् ब्रह्मचर्यादिसंयुताः।
अज्ञानसंवृतात्मानः सञ्चरन्ति प्रतारकाः।।४२।।

क्षुद्र वृत्ति के लोगों को यदि कोई वस्तु अल्पमात्रा में ही मिल जाय तो वे इतराने लगते हैं, जैसाकि मानस में भी कहा गया है—'क्षुद्र नदी भर चलि उतराहीं। जिमि थोरे धन खल बौराहीं।' इसी तरह क्षुद्र वृत्ति के व्यक्ति क्रियायोग की कुछ प्रारम्भिक बातें सीखकर स्वयं को निष्णात क्रियायोगी प्रचारित करने लगते हैं। ऐसे ही कुछ लोग ब्रह्मचर्य की महिमा से अभिभूत होकर ब्रह्मचर्य के मर्म को समझे बिना ब्रह्मचारी बनने का ढोंग करने लगते हैं। इनसे उन्हें ज्ञान तो मिलता नहीं और अज्ञान में भटकते हुए ऐसे लोग जन-साधारण को ठगते हुए भटकते रहते हैं।।४२।।

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र, प्रथम उल्लास, श्लोकसंख्या-७३।

पाठभेद—ब्रह्मचर्यादिसंयुताः—क्रतुचर्यादिसंयुताः।

[न ह्युपवासादिनियमैरेवात्मलाभः]

एकभुक्त्युपवासाद्यैर्नियमैः कायशोषणैः।
मूढाः परोक्षमिच्छन्ति महामायासमावृताः।।४३।।
देहदण्डनमात्रेण का मुक्तिरविवेकिनाम्।।४४।।

शरीर को साधना के लिये अनुकूल और योग्य बनाये रखने के लिये शास्त्रों में दिन में एक बार भोजन करने अथवा उपवास करने का विधान किया गया है। महामाया की लीला बड़ी विचित्र है। मायाग्रस्त बहुत से अज्ञानी लोग उपवास आदि को मोक्षप्राप्ति का जरिया समझकर उपवास पर उपवास करके शरीर को व्यर्थ कष्ट देते हुए परोक्ष-लाभ अर्थात् मोक्ष-लाभ की इच्छा करते हैं। ऐसे मूढ़ और अविवेकी

लोगों को जीवन भर समझ में नहीं आता कि शरीर को दण्ड देने-मात्र से मुक्ति नहीं मिलती।।४३-४४।।

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र, प्रथम उल्लास, श्लोकसंख्या क्रमशः ७५ और ७६। दूसरे श्लोक की दूसरी पंक्ति है—

वल्मीकताडनाद् देवि! मृतः किन्नु महोरगः।

अर्थात् जिस तरह बांबी को तोड़ देने से साँप नहीं मरता, उसी तरह शरीर को दण्ड देने से मोक्ष नहीं मिलता।

[प्रतारकाणां प्रकारः]

धनदारजनासक्ता अभिका वेशधारिणः।
भ्रमन्ति ज्ञानिवल्लोके भ्रामयन्ति जनानपि।।४५।।

अभिकाः कामुकाः। वेशधारिणः रक्तवस्त्रमालाकमण्डलुप्रभृतिभिः संन्यासिजनोचितवेशधराः।

मन में धन के प्रति, स्त्री के प्रति, नातेदारों और रिश्तेदारों के प्रति आसक्ति ही आसक्ति भरी है; मगर निरासक्त विरागी बनकर जो लोग नगर-नगर, गाँव-गाँव में घूमते हैं, वे लोग तो स्वयं आत्मवञ्चना के शिकार होते हैं और दूसरे लोगों को भी अपने कपटवेश से भ्रमित करते हैं।।४५।।

सन्दर्भ—कुलार्णव—प्रथम उल्लास, श्लोकसंख्या-७७।

पाठान्तर—धनदारजनासक्ताः—धनदारार्जने युक्ताः। अभिका दाम्भिकाः।

सांसारिकसुखासक्तं ब्रह्मज्ञोऽस्मीति वादिनम्।
त्यजेत्तं सततं धीरश्चण्डालमिव दूरतः।।४६।।

स्वयं तो सांसारिक सुखों के लिये मरे जा रहे हैं; मगर स्वयं को बहुत बड़ा ब्रह्मवेत्ता बता रहे हैं। संगदोष से बचने के लिये ऐसे ढोंगियों को चाण्डाल के समान अपने से दूर रखना चाहिए।।४६।।

सन्दर्भ—कुलार्णव—प्रथम उल्लास, श्लोकसंख्या-७८।

पाठान्तर—कुलार्णव में दूसरी पंक्ति है—'कर्म ब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा।'

[न हि गृहारण्यसाम्याद्व्रीडत्वदिगम्बरत्वादि-ज्ञानिसाधर्म्यादेव ज्ञानी भवति]

गृहारण्यसमा लोके गतव्रीडा दिगम्बराः।
चरन्ति गर्दभाद्याश्च विविक्तास्ते भवन्ति किम्।।४७।।

घोड़ों और गधों की तरह दिगम्बर और निर्लज्ज होकर गाँव और जंगल में घूमने से कोई व्यक्ति ज्ञानी और विवेकी नहीं हो जाता। ऐसे आचरण से ज्ञान और विवेक का कोई नाता नहीं है।।४७।।

सन्दर्भ—कुलार्णव, प्रथम उल्लास, ७९।

तृणपर्णोदकाहाराः सततं वनवासिनः।
हरिणादिमृगाश्चैव तापसास्ते भवन्ति किम्।।४८।।

सुपाच्यता और पौष्टिकता की दृष्टि से फलाहार एवं संगदोष से बचाव के लिये संस्कारहीन व्यक्तियों से दूर रहने का शास्त्रों में जो उपदेश दिया गया है, उसका यह अर्थ नहीं है कि घास-फूस खाकर जंगल में रहने से कोई तपस्वी हो जाता है। हिरण आदि पशु तो जन्म से ही तृण आदि खाते हैं और जंगल में रहते हैं तो क्या इसीलिये उन्हें तपस्वी माना जा सकता है?।।४८।।

सन्दर्भ—कुलार्णव—प्रथम उल्लास, श्लोक संख्या-८१।

शीतवातातपसमा भक्ष्याभक्ष्यसमा अपि।
तिष्ठन्ति शूकराद्याश्च व्रतिनस्ते भवन्ति किम्।।४९।।

सर्दी-गर्मी को समान रूप से सहते हुए भक्ष्य और अभक्ष्य सभी पदार्थों को खाने से शूकर आदि अस्पर्श्य पशु व्रती नहीं माने जाते।।४९।।

सन्दर्भ—कुलार्णव तन्त्र—प्रथम उल्लास, श्लोक संख्या-८५।

पाठभेद—व्रतिनः—योगिनः।

आजन्ममरणान्तन्तु गङ्गादितटिनीस्थिताः।
मण्डूकमत्स्यप्रवरा व्रतिनस्ते भवन्ति किम्।।५०।।

इतिहास और पुराणग्रन्थों में गंगा-स्नान और गंगातट पर कल्पवास की अतिशय महत्ता बताई गई है; लेकिन इस महत्ता के मर्म के समझे बग़ैर गंगा में केवल डुबकी लगाने से गंगा-स्नान का पारमार्थिक फल नहीं मिलता। यदि ऐसा होता तो पूरे जीवन भर गंगा में ही रहने वाली मछलियों आदि को गंगास्नान के पुण्यस्वरूप मोक्ष मिल जाता।।५०।।

सन्दर्भ—कुलार्णव, प्रथम उल्लास, ८२।

[ज्ञानमेव साक्षान्मुक्तिकारणं न कर्म]

तस्मादित्यादिकं कर्म लोकरञ्जनकारणम्।
मोक्षस्य कारणं साक्षात्तत्त्वज्ञानं न चान्यथा।।५१।।

मछली आदि के समान गंगा में डुबकी लगाने, हिरण आदि की तरह जंगल में एकान्तवास करने जैसे उपर्युक्त कार्यों से लोक में ख्याति भले मिलती हो; लेकिन मोक्ष नहीं मिलता। ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान से ही मोक्ष मिलता है। कहा भी गया है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'।।५१।।

सन्दर्भ—कुलार्णव तन्त्र—प्रथम उल्लास, ८६।

[न हि षड्दर्शनानुशीलनेनैवात्मलाभः]

षड्दर्शनमहाकूपपतिताः पशवः सदा।
परमार्थं न जानन्ति पशुपाशनियन्त्रिताः।।५२।।

जिससे देखा जाय, उसे दर्शन कहते हैं। ज्ञानार्जन के लिये सांख्य और वेदान्त आदि षड्दर्शन की अत्यन्त महिमा और महत्ता है; लेकिन पशुभाव में स्थित तथा घृणा-शंका, भय-लज्जा आदि पशु-पाश में जकड़े हुए लोगों को इनके अध्ययन से कोई लाभ तो मिलता नहीं; अपितु अक्षय ज्ञान के स्रोत ये षड्दर्शन उनके लिये महाकूप सिद्ध होते हैं—ऐसे कूप जिनसे उनके लिये बाहर निकल पाना असम्भव है। अत: वे जीवन भर कूपमण्डूक ही बने रहते हैं॥५२॥

सन्दर्भ—कुलार्णव तन्त्र—प्रथम पटल, श्लोक संख्या-८९।

[न हि वेदादिविदोऽप्यतत्त्वज्ञस्य वाक्यमुपकाराय कल्पते]

वेदागमपुराणज्ञः परमार्थं न वेत्ति यः।
विडम्बकस्य तस्यापि तत्सर्वं काकभाषितम्।।५३।।

वेदों का सस्वर पाठ करने और आगम एवं पुराणों को पढ़ने से भी जिन्हें परमतत्त्व का ज्ञान नहीं होता, ऐसे व्यक्ति मात्र विडम्बक होते हैं और ऐसे व्यक्तियों की बातें कौवे के काँव-काँव के समान होती हैं॥५३॥

सन्दर्भ—कुलार्णव तन्त्र—प्रथम उल्लास, श्लोकसंख्या-८९।

[परतत्त्वपराङ्मुखाणां निरन्तरशास्त्रानुशीलनेनापि नात्मलाभ:]

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयमिति चिन्तासमाकुलाः।
पठन्त्यहर्निशं शास्त्रं परतत्त्वपराङ्मुखाः।।५४।।

यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है—इस प्रकार की व्यर्थ बातों को लेकर परेशान रहने वाले लोग पढ़ते तो जरूर हैं, मगर शास्त्रों का अध्ययन करने के बावजूद वे लोग परतत्त्व से पराङ्मुख ही रहते हैं; क्योंकि उनका पठन-पाठन परतत्त्व की प्राप्ति के लिये नहीं; अपितु बुद्धि-विलास के लिये होता है॥५४॥

सन्दर्भ—कुलार्णव तन्त्र—प्रथम उल्लास, श्लोकसंख्या-९०।

[शास्त्रादिज्ञानं सुलभं तात्पर्यज्ञानं तु न तथा]

शिरो वहति पुष्पाणि गन्धं जानाति नासिका।
पठन्ति वेदशास्त्राणि दुर्लभो भावबोधकः।।५५।।

भावबोधको दिव्य-वीर-पशुभावानां वेदिता। तथाच रुद्रयामलोत्तरखण्डे प्रथमपटले—

महावीरो महाधीरो दिव्यभावस्थितोऽपि वा।
अथवा पशुभावस्थो मन्त्री पीठे विवासयेत्॥

तथा—कलौ च दिव्यवीराभ्यां नित्यं तद्गतचेतसः।
महाभक्ताः प्रपश्यन्ति महाविद्यापरं पदम्॥

तथा— साधवो मौनशीलाश्च सदा साधनतत्पराः।
दिव्यवीरस्वभावेन पश्यन्ति मत्पदाम्बुजम्।।

इत्यादिना दिव्यादिभावानां प्रशंसामभिधाय प्रायेणैतद्वचनसमानानुपूर्वीकं वचनमुपन्यस्तम्। यथा—

वृक्षो वहति पुष्पाणि गन्धं जानाति नासिका।
पठन्ति वेदशास्त्राणि दुर्लभा भावबोधकाः।। इति।

एतद्वचनसंवादेनात्र विशेषाभावेऽपि भावशब्देन दिव्यादिभावा एवाभिहिता इत्यवधेयम्।

किसी वस्तु को पा जाना और प्राप्त वस्तु का गुण-धर्म जानना दो अलग-अलग बातें हैं। फूलों को सिर पर धारण किया जाता है; लेकिन सिर को फूलों की महक का भान नहीं होता। फूलों की महक को नाक जानती-पहचानती है। इसी तरह वेदों और शास्त्रों का अध्ययन तो बहुत लोग करते हैं; मगर उनके परतत्त्वज्ञानरूप भाव को जानने वाले कुछ अन्य दुर्लभ लोग होते हैं।।५५।।

सन्दर्भ—कुलार्णव १/९५।

[प्रज्ञावतः शास्त्रानुशीलनमुपकाराय भवति नेतरस्य]

प्रज्ञाहीनस्य पठनमन्धस्यादर्शदर्शनम्।
प्रज्ञावतो धर्मशास्त्रं तत्त्वज्ञानस्य कारणम्।।५६।।
अप्रज्ञस्य धर्मशास्त्रं बन्धनानोपपद्यते।
तत्त्वमीदृक् तादृगिति प्रवदन्ति परस्परम्।।५७।।

बुद्धि की ज्ञान-ग्रहणशक्ति का नाम प्रज्ञा है और वेद आदि शास्त्र ज्ञान के भण्डार हैं। अतः यदि प्रज्ञावान व्यक्ति वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करते हैं तो उन्हें यथा-सामर्थ्य परमतत्त्व के ज्ञान की प्राप्ति होती है; लेकिन प्रज्ञाहीन व्यक्ति के लिये शास्त्रों का अध्ययन अन्धे व्यक्ति के दर्पण देखने के समान व्यर्थ है। इससे स्पष्ट है कि प्रज्ञावान व्यक्तियों के लिये जो धर्मशास्त्र ज्ञानप्राप्ति के कारण या स्रोत हैं, वे ही शास्त्र प्रज्ञाहीन व्यक्तियों के लिये उन्नति के बजाय बन्धनकारक सिद्ध होते हैं; क्योंकि ऐसे व्यक्तियों को वेद आदि शास्त्रों के अध्ययन से ज्ञान तो मिलता नहीं; लेकिन उनमें शास्त्र पढ़कर विद्वान् हो जाने का मिथ्या गर्व अवश्य उत्पन्न हो जाता है और इस विद्वत्ता की धुन में वे लोग तत्त्व के रूप को लेकर व्यर्थ ही परस्पर विवाद करते रहते हैं और इस व्यर्थ के विवाद से वे अज्ञानता में फँसते जाते हैं।।५६-५७।।

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र—प्रथम उल्लास, श्लोक संख्या-९८ एवं ९९।

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं सर्वतः श्रोतुमिच्छति।
अपि वर्षसहस्रेण शास्त्रान्तं नैव गच्छति।।५८।।

जो जानने योग्य है, वह ज्ञेय है और जो जान लिया गया है, वह ज्ञान है। सामान्य मनुष्य शास्त्रों को पढ़ते समय ज्ञान और ज्ञेय के चक्कर में ही पड़े रहते हैं। वे इनमें वर्णित विषयों—ज्ञान क्या है, ज्ञेय क्या है, इनका स्वरूप क्या है, परमात्मा, जीव, जगत् का क्या स्वरूप है, जगत् की सृष्टि कैसे होती है, जगत् का प्रलय कैसा होता है—इन तमाम बातों को सुनने और जानने के लिये बहुत उतावले रहते हैं। इन बातों को सुनकर उन्हें मानसिक संतुष्टि तो मिलती है; लेकिन परमतत्त्व की उपलब्धि नहीं होती। हजारों वर्षों तक शास्त्रों को इस प्रकार पढ़ने और सुनने से भी उनके अन्तिम परम लक्ष्यस्वरूप ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति नहीं होती॥५८॥

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र—प्रथम उल्लास, श्लोकसंख्या-१०१।

[शास्त्रेभ्य: सार आदेय:]

तर्काद्यनेकशास्त्राणि स्वल्पायुर्विघ्नकोटय:।
तस्मात् सारं विजानीयात् क्षीरं हंस इवाम्भसि॥५९॥

परस्पर एक-दूसरे के मतों का खण्डन करने वाले तर्क आदि अनेक-अनेक शास्त्र हैं, जो मनुष्य की बुद्धि को भ्रमित भी करते हैं। मनुष्य की आयु थोड़ी है और उसमें विघ्न भी बहुत हैं। अत: एक जीवन में इन सभी शास्त्रों को पढ़ पाना कठिन है। इसलिये जिस तरह हंस पानी मिले दूध से दूध को अलग करके पी लेता है और पानी को छोड़ देता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य को सभी शास्त्रों के सारभूत अंश को ग्रहण कर शेष को छोड़ देना चाहिए॥५९॥

सन्दर्भ—कुलार्णव १/१०२।

[शास्त्राभ्यासस्य तत्त्वज्ञानाऽवधिकत्वम्]

अभ्यस्य सर्वशास्त्राणि तत्त्वं ज्ञात्वा तु बुद्धिमान्।
पलालमिव धान्यार्थी सर्वशास्त्राणि सन्त्यजेत्॥६०॥

किसान को धान से केवल चावल से प्रयोजन होता है; अत: वह धान से चावल निकालकर भूसी आदि को छोड़ देता है। उसी तरह बुद्धिमान् व्यक्ति यथा-सामर्थ्य सभी शास्त्रों का अभ्यास करके उनके सारतत्त्व को ग्रहण कर लेता है। शेष अनावश्यक भाग को छोड़ देता है॥६०॥

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र—प्रथम पटल, श्लोकसंख्या-१०३

यथा मृतशरीरस्य नाहारेण प्रयोजनम्।
तत्त्वज्ञस्य शास्त्रजालैस्तथैवेति सुनिश्चितम्॥६१॥

जब तक जीवन है, तब ही तक शरीर को भोजन की आवश्यकता होती है। मृत्यु के बाद शरीर को भोजन की आवश्यकता नहीं रहती। इसी तरह जिसने तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे विधि-निषेधकारी शास्त्रों की आवश्यकता नहीं रह जाती॥६१॥

सन्दर्भ—कुलार्णवतन्त्र १/१०४।

[ज्ञानमेव मुक्तिप्रयोजकं न शास्त्रानुशीलनम्]

न वेदाध्ययनान्मुक्तिर्न शास्त्रपठनादपि।
ज्ञानादेव हि मुक्तिः स्यादन्यथा नैव कर्हिचित्।।६२।।

स्वाध्याय की परम्परा का पालन करने अथवा शाब्दिक ज्ञान की अभिवृद्धि के लिये वेदों का अध्ययन और शास्त्रों का पठन कभी भी मुक्ति का कारण नहीं बन सकता। आत्मा और ब्रह्म की एकता का अनुभूतिजन्य तात्त्विक ज्ञान ही मुक्ति का हेतु है।।६२।।

सन्दर्भ—कुलार्णव १/१०५।

[मुक्तेः स्वरूपं तत्र मतान्तरञ्च]

अनन्तदुःखविरहो मुक्तिरित्युच्यते बुधैः।
तृष्णानाशो भवेन्मोक्ष इति तन्त्रविदो विदुः।।६३।।

जीवन का परम लक्ष्य मुक्ति या मोक्ष पाना है; मगर इस मोक्ष या मुक्ति क़ा स्वरूप और लक्षण क्या है? सांख्य आदि दर्शनों (वेदान्त के अतिरिक्त) के विद्वानों का कहना और मानना है कि संसार के अनन्त दु:खों से आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। इसके विपरीत पौराणिक विद्वान् कहते हैं कि तृष्णा का पूर्णतया नाश हो जाना मोक्ष या मुक्ति है। मुक्ति के इन उभय लक्षणों में अव्याप्ति दोष है। सुषुप्ति अवस्था में न तो दु:ख की अनुभूति होती है और न ही तृष्णा की प्रतीति होती है। अत: यदि दु:ख की निवृत्ति एवं तृष्णा की समाप्ति को मोक्ष या मुक्ति का लक्षण माना जाय तो सुषुप्ति को भी मुक्ति का एक स्वरूप मानना होगा। दूसरी बात यह कि इस स्थिति में चूंकि सुषुप्ति की प्राप्ति प्रतिदिन होती है, मुक्ति को जीवन का परम लक्ष्य नहीं माना जा सकता।।६३।।

[तत्र स्वमतम्]

आनन्दघनसन्दोहपरमात्मनि चाव्यये।
जीवात्मनिलयो मोक्ष इति मे वस्तुतो मतिः।।६४।।

मोक्ष के सम्बन्ध में दो मतवादियों के मत प्रस्तुत करने के बाद अपना मत प्रस्तुत कर रहे हैं। मेरी राय में आनन्दघनसन्दोह अव्यय परमात्मा में सदा-सदा के लिये जीवात्मा का विलीन हो जाना ही मोक्ष है। 'जीवात्मनिलयम्' अर्थात् पञ्चभूत-निर्मित शरीर को सदा-सदा के लिये छोड़कर जीवात्मा का आनन्दघनसन्दोह परमात्मतत्त्वरूप निलय (घर) में बस जाना।।६४।।

[ज्ञानाननुबन्धिनः कर्माद्युपाया न मुक्तिप्रयोजकाः]

किं कायक्लेशनेनैव यज्ञविस्तारणेन च।
किमाचारविचारेण यदि ज्ञानं न लभ्यते।।६५।।

शरीर के लिये कष्टप्रद अनेक प्रकार की साधनाओं से, बड़े-बड़े यज्ञों के अनुष्ठान से तथा शास्त्रों के अनुसार चिन्तन-मनन और आचरण से भी यदि आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती तो ये सारी क्रियाएँ व्यर्थ हैं। इन क्रियाओं को करना या न करना बराबर है॥६५॥

[वेदादिशास्त्राणि न मुक्तिप्रयोजकानि, ज्ञानमेव मुक्तिप्रयोजकम्]

न वेदाः कारणं मुक्तेर्दर्शनानि न कारणम्।
तथैव सर्वशास्त्राणि ज्ञानमेव हि कारणम्॥६६॥

सर्वशास्त्राणि मुक्तेर्न कारणमिति पूर्वेणान्वयः। तर्हि मुक्तेः किं कारणमित्याह—**ज्ञानमिति**। 'ज्ञानस्यैवे'ति पाठे सर्वशास्त्राणि ज्ञानस्यैव कारणं न मुक्तेः, मुक्तिं प्रति ज्ञानस्यैव कारणत्वादित्यर्थः।

मुक्ति का कारण अर्थात् मुक्ति प्राप्त करने का साधन न तो वेदों का अध्ययन है और न ही दर्शन-सहित अन्य शास्त्रों का पठन है। केवल ज्ञान ही मुक्ति का साक्षात् साधन या कारण है। वेद आदि का अध्ययन चित्त-शुद्धि में सहायक होकर परम्परारूप से मुक्ति का कारण माना जाता है॥६६॥

[ज्ञानस्य द्वैविध्यम्]

तदेव द्विविधं ज्ञानं विवेकागमसम्भवम्।
शब्दब्रह्माऽऽगममयं परंब्रह्म विवेकजम्॥६७॥

पूर्वश्लोके ज्ञानमेव हि कारणमित्युक्तम्, तस्य ज्ञानस्य भेदावाह—**तदेवेति**। तज्ज्ञानं द्विविधमेव। अत्रैवकारेण व्यावहारिकघटपटादिज्ञानानां मुक्त्यनुपयोगिनां व्यावृत्तिः। ज्ञानस्य द्वैविध्यं विवेकसम्भवत्त्वेनागमसम्भवत्वेन च। तदेवाह—**शब्देति**। शब्दब्रह्म ब्रह्मात्मकः शब्दः तज्ज्ञानमित्यर्थः, आगममयम् आगमजन्यं श्रुत्यैव तत्प्रतिपादनात्। परब्रह्मज्ञानन्तु विवेकजन्यं विवेकादेव परब्रह्मज्ञानावाप्तेः।

वह ज्ञान, जो मुक्ति का कारण है, दो प्रकार का है। एक विवेक से उत्पन्न और दूसरा शास्त्रों के अध्ययन-मनन से उत्पन्न। शास्त्रीय ज्ञान को 'शब्दब्रह्म' तथा विवेक से उत्पन्न ज्ञान को 'परब्रह्म' कहते हैं॥६७॥

[शब्दब्रह्मस्वरूपम्]

भिद्यमानात् पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत्।
शब्दब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः॥६८॥

अत्र राघवभट्टः शब्दब्रह्मण उत्पत्तिमाह—**भिद्यमानादिति**। पराद् बिन्दोरित्यनेन शक्त्यवस्थारूपो यः प्रथमो बिन्दुस्तस्मादव्यक्तात्मा वर्णादिविशेषरहितोऽखण्डो नादमात्र उत्पन्नः। तदुक्तमाचार्यैः—

स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।

इति सृष्ट्युन्मुखपरमशिव-प्रथमोल्लासमात्रमखण्डोऽव्यक्तो नादबिन्दुमय एव व्यापको ब्रह्मात्मकः शब्दः शब्दब्रह्मेत्यर्थः। उक्तञ्च—

क्रियाशक्तिप्रधानायाः शब्दशब्दार्थकारणम्।
प्रकृतेर्बिन्दुरूपिण्याः शब्दब्रह्माऽभवत् परम्।। इति।

इदमवधेयम्—परमेश्वरो निष्कलः सकलश्च। कलाशब्देन प्रकृतिरुच्यते, तत्सम्बन्धशून्यो निष्कलः, तत्सम्बद्धश्च सकलः। इयमेव प्रकृतिः परशिवस्य स्वरूपशक्तिरूपा, ततश्च सच्चिदानन्दस्वरूपस्य परमशिवस्य स्वरूपशक्तिरूपतया प्रकृतेरपि सच्चिदानन्दरूपत्वम्। तत्र परशिवः प्रकाशस्वरूपः, पराशक्तिरपि तथैव; लीलावशात् परमशिवस्य जातायां सिसृक्षायां पराप्रकृतिरपि विमर्शरूपेण परिस्फुरति। तदुक्तं राघवभट्टधृतवायवीयसंहितायाम्—

शिवेच्छया परा शक्तिः शिवतत्त्वैकतां गता।
ततः परिस्फुरत्यादौ सर्गे तैलं तिलादिव।। इति।

राघवभट्टधृतपाञ्चरात्रेऽपि—

एवमालोक्य सर्गादौ सच्चिदानन्दरूपिणीम्।
समस्ततत्त्वसंघातस्फूर्त्यधिष्ठानरूपिणीम् ।
व्यक्तां करोति नित्यां तां प्रकृतिं परमः पुमान्।। इति।

कामकलाविलासेऽपि—

सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा।
भाविचराचरबीजं शिवरूपविमर्शनिर्मलादर्शः।।

इत्यनेन परशक्तेः परशिवस्वरूपत्वं जगत्कारणत्वं परशिवस्याहन्तानिर्वाहकत्वमप्युपपादितम्। एतेन परमशिवशक्त्योः परस्परसम्बन्धजन्या प्रपञ्चसृष्टिरित्युक्तं भवति।

एवञ्च प्रकाशस्वरूपोऽपि परमेश्वरो विमर्शरूपस्वरूपशक्तिसम्बन्धवशात् पूर्णोऽहमित्येवंरूपबिन्दुस्वरूपतां धत्ते, तथा परमा प्रकृतिरपि। तदुक्तं कामकलाविलासटीकाकृता नटनानन्दनाथेन—'परमेश्वरः स्वाङ्गभूतनिखिलप्रपञ्चविलयात्मकविमर्शशक्तिमनुप्रविश्य बिन्दुभावमयते। ततः सा विमर्शशक्तिरपि स्वान्तर्गतप्रकाशमयबिन्दुमनुप्रविशति ततश्च बिन्दुरुच्छूनो भवती'त्यादि।

एतेन परमशिवस्य प्रकाशस्वरूपस्य प्रथमस्फूर्त्तिरूपा या शक्त्यवस्था सैव प्रथमो बिन्दुरित्यापतति। 'भिद्यमानात् पराद् बिन्दो'रित्यनेनायमेव बिन्दुरभिहितः। एतदभिप्रायेणैव राघवभट्टेन 'पराद् बिन्दोरित्यनेन शक्त्यवस्थारूपो यः प्रथमो बिन्दु'रित्युक्तम्।

परा बिन्दु के भेदन से उत्पन्न 'अव्यक्त रव' को समस्त शास्त्रों के आचार्य शब्दब्रह्म कहते हैं।।६८।।

विमर्श—मूलतः शारदातिलक (१/११-१२) के इस श्लोक में शब्दब्रह्म के आविर्भाव का निरूपण किया गया है। परमप्रकाशस्वरूप परमशिव की शक्त्यवस्था-स्वरूपा जो प्रथम स्फूर्ति है, वही 'परा बिन्दु' अर्थात् प्रथम बिन्दु है। इसी प्रथम बिन्दु से अव्यक्त आत्मा अखण्ड नाद का आविर्भाव हुआ। 'अव्यक्तात्मा' का अर्थ है—वर्ण आदि विशेषताओं से रहित। इस 'नाद-बिन्दुमय' व्यापक शब्द को शब्दब्रह्म कहा जाता है। आचार्यपाद ने प्रपञ्चसार (प्रथम पटल) में इसी बात को इस तरह व्यक्त किया है—

बिन्दोः तस्माद् भिद्यमानात् रवोऽव्यक्तको भवेत्।
स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति कथ्यते॥ (४४)

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में जब बिन्दुरूप परमपुरुष के साथ बिन्दुरूपा मूल प्रकृति या महाशक्ति का प्रथम समागम होता है तब 'अव्यक्त रव' अर्थात् वर्ण आदि की विशेषताओं से रहित परावाक् रूपा ध्वनि की उत्पत्ति होती है। यह 'अव्यक्त रव' अर्थात् 'परावाक्' ही पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी रूपों में रूपायित होकर जब श्रोत्रेन्द्रिय से संयुक्त होती है, तब उसे शब्दब्रह्म के रूप में जाना जाता है।

अवयवों से रहित, संसार का कारण, नित्य, बोधस्वरूप, शब्दार्थमय तथा नित्य शब्दस्वरूप जो 'आन्तर स्फोट' है, वही शब्दब्रह्म है। स्फोटवादी वैयाकरणों की यह मान्यता है। पूज्यपाद आचार्य भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में इस बात को इस प्रकार व्यक्त किया है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यथा॥ (९/९)

अर्थात् आदि-अन्तरहित निर्विकार शब्द का तत्त्व ही ब्रह्म है, वही संसार की विभिन्न वस्तुओं (अर्थों) के रूप में विवर्तरूप से प्रतिभासित होता है तथा उसी से संसार की सब प्रक्रियाएँ होती हैं।

जिस प्रकार वेदान्त में संसार को ब्रह्म का विवर्त माना गया है, उसी प्रकार स्फोटवादी वैयाकरण संसार को शब्दब्रह्म (स्फोट) का विवर्त मानते हैं। अनादि शब्दब्रह्म ही संसार का उपादान कारण है, इसी से शब्द एवं अर्थ—दोनों की उत्पत्ति होती है। इसी तथ्य को शैवागम में निम्न शब्दों में कहा गया है—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोग्य एव प्रथममेतत् विश्वं व्यवर्तत॥ (१-१२०)

स्फोटवादी भी दो प्रकार के हैं—आन्तर स्फोटवादी तथा दूसरे जातिव्यक्ति स्फोटवादी।

आन्तर स्फोटवादी शब्दार्थमय आन्तर स्फोट को शब्दब्रह्म कहते हैं। जिन सार्थक वर्णसमूहों को लोग सामान्यतः शब्द कहते हैं, उसे ये शब्द न मानकर शब्द

को व्यञ्जित करने वाली ध्वनि मानते हैं। उस ध्वनि से जो व्यङ्ग्य होता है, वही शब्द है और वही वस्तु का बोधक, नित्यस्वरूप परावाणी में रहता है।

दूसरे वैयाकरणों के अनुसार पूर्व-पूर्व वर्णों के उच्चारण से अभिव्यक्त उन-उन पदों के संस्कारों-सहित अन्तिम पद-संस्कार के ग्रहण से वाक्य का प्रत्यक्षबोध होना ही स्फोट का लक्षण है। अर्थ का प्रकाशन करने वाला एकात्मक अखण्डरूप जो शब्द है, वही शब्दब्रह्म है, जैसा कि कहा गया है—'एक एव नित्यो वाक्याभिव्यंग्योऽखण्डो व्यक्तिस्फोटो जातिस्फोटो वा ब्रह्मरूपः।'

[स्फोटवादिमतद्वयं तन्निरासश्च]

शब्दब्रह्मेति शब्दार्थं शब्दमित्यपरे विदुः।
न हि तेषां तयोः सिद्धिर्जडत्वादुभयोरपि।।६९।।

अत्र राघवभट्टः—'अथान्तरस्फोटवादिमतं जातिव्यक्तिस्फोटात्मकं वा स्फोटमतं दूषयितुमुपक्रमते—शब्देति। एक आचार्य्याः शब्दार्थमान्तरस्फोटं शब्दब्रह्मेत्याहुः। यथाह—निरंश एवाभिन्नो नित्यो बोधस्वभावः शब्दार्थमय आन्तरस्फोट इति। अपरे वैयाकरणाः पूर्वपूर्ववर्णोच्चारणाभिव्यक्ततत्तत्पदसंस्कारसहायचरमपदग्रहोद्बुद्धं वाक्य–स्फोटलक्षणं शब्दमखण्डैकार्थप्रकाशकं शब्दब्रह्मेति वदन्ति। यदाह एक एव नित्यो वाक्याभिव्यङ्ग्योऽखण्डो व्यक्तिस्फोटो जातिस्फोटो वा वहीरूप' इति। तथा चात्र मतद्वयमुपदर्श्य निराकृतम् एके शब्दार्थमेव शब्दब्रह्मेति विदुः, अपरे शब्द एव शब्दब्रह्मेति विदुरिति सम्बन्धः।

एवंशब्दार्थः शब्दब्रह्मेति आन्तरस्फोटवादिमतम्, शब्द एव शब्दब्रह्मेति जातिव्यक्तिस्फोटवादिमतञ्च प्रागुक्तं दूषयति—**न हीत्यादिना**। अत्र राघवभट्टः—'तेषां वादिनां मते तयोः शब्दार्थयोः सिद्धिः शब्दब्रह्मत्वसिद्धिर्न, उभयोस्तयोर्जडत्वात्। यदि शब्दार्थः शब्दो वा शब्दब्रह्मेत्युच्यते, तदा ब्रह्मपदवाच्यत्वं नोपपद्यते। यतः सच्चिदानन्दरूपो ब्रह्मपदार्थः। तौ च जडौ। तदुक्तं—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।। इति।

उपर्युक्त स्फोटवादियों द्वारा यथानिरूपित शब्दार्थ और शब्द से शब्दब्रह्म की सिद्धि नहीं होती; क्योंकि वे दोनों जड़ हैं। ब्रह्म पद का वाच्यार्थ जो सच्चिदानन्द-रूप ब्रह्म पदार्थ है, उसकी सिद्धि इन शब्दार्थ और/अथवा शब्द को शब्दब्रह्म मानने से नहीं होती। अतः ये दोनों मत दूषित हैं।।६९।।

[शब्दब्रह्मस्वरूपे स्वमतम्]

चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः।।७०।।

स्वमतमाह—चैतन्यमिति। सर्वभूतानां चैतन्यमेव शब्दब्रह्मेत्यर्थः। तदुक्तं राघवभट्टधृतप्रयोगसारे—

सोऽन्तरात्मा तदा देवि नादात्मा नदते स्वयम्।। इति।

एतेन भिद्यमानादित्यादिना प्रतिपादित एव सिद्धान्तश्चैतन्यमित्यादिनाभिहित इति प्रतिपद्यते।

मेरी बुद्धि के अनुसार समस्त प्राणियों में स्थित जो चैतन्य शक्ति है (जिसे श्लोकसंख्या ६८ में 'नादात्मक रव' कहा गया है), वही शब्दब्रह्म है।।७०।।

[वर्णाभिव्यक्तिः]

तत् प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्।
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः।।७१।।

एवं परां नादात्मिकां शब्दसृष्टिमभिधाय वर्णसृष्टिमाह—तदिति। अत्र राघवभट्टः—प्राणिनां देहमध्यगं कुण्डलीरूपं कुण्डलिनीस्वरूपं तच्चैतन्यं गद्यपद्यादिभेदतो वर्णात्मनाऽऽविर्भवतीति सम्बन्धः। किं कृत्वा, प्राप्य कण्ठादिकरणानीति शेषः।

वही चैतन्य प्राणियों अर्थात् मनुष्यों के शरीर में कुण्डलिनी-रूप में स्थित होकर गद्य-पद्य आदि भेद से स्वयं को वर्णरूप में अभिव्यक्त करता है। चैतन्यरूप नादात्मक 'रव' ही परावाक्, पश्यन्ती एवं मध्यमा रूप होते हुए वैखरी रूप में वर्णात्मक रूप से व्यक्त होता है।।७१।।

[द्वैताद्वैतनिरूपणम्]

केचिदद्वैतमिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।

पूर्वं शब्दब्रह्माऽऽगममयं परं ब्रह्म विवेकजमित्युक्त्वा शब्दब्रह्मस्वरूपमुपपाद्य परब्रह्मस्वरूपमाह—**केचिदिति**। मायावादिन इत्यर्थः। अपरे नैयायिकादयः। अत्र केचिदपरे इत्येताभ्यां मतद्वयस्याप्यस्वारस्यं सूचितम्। 'मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्' इति कुलार्णवप्रथमोल्लासवचनेन परब्रह्मणो द्वैताद्वैतवैलक्षण्यस्योक्तत्वादित्यर्थः।

शब्दब्रह्म का निरूपण करने के बाद इस श्लोक में परब्रह्म के बारे में बताया जा रहा है। परं ब्रह्म के स्वरूप का विचार करने वाले दो वर्गों में विभाजित हैं। इनमें से प्रथम वर्ग अर्थात् नैयायिक आदि द्वैतवादी हैं और दूसरा वर्ग अर्थात् मायावादी वेदान्ती इसे अद्वैत सत्ता मानते हैं।

विमर्श—उपर्युक्त श्लोकांश कुलार्णव-तन्त्र के प्रथम पटल के श्लोक संख्या-११० की प्रथम पंक्ति है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चाऽपरे।
मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्।।११०।।

कुलार्णवतन्त्र में द्वैत और अद्वैतभेद का उल्लेख कर इस श्लोक में भगवान् शिव आगे कहते हैं—मेरा (परब्रह्म का) तत्त्व तो द्वैत और अद्वैत—दोनों ही दृष्टियों से एकदम अलग है, द्वैत-अद्वैत विवर्जित है।

द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च।।७२।।
अविद्याविद्ययोर्भेदात् पक्षद्वयमुदीरितम्।।७३।।

द्वे पद इति। ममेति ज्ञानं बन्धाय निर्ममेति ज्ञानञ्च मुक्तये भवतीत्यर्थः।

द्वैताद्वैत-विवर्जित इस परब्रह्म का द्वैत अथवा अद्वैत किसी भी दृष्टि से ज्ञान प्राप्त करके संसार के बन्धन से छूटना और मोक्ष प्राप्त करना ही जीवन का परम लक्ष्य है। बन्धन और मोक्ष के कारकों का समासतः उल्लेख करते हुए कहते हैं—'मम' तथा 'न मम' ये दो भाव ही संसार से बन्धन और संसार से मुक्ति पाने के उपाय या साधन हैं। यदि मोक्षकामी व्यक्ति इन दो पदों (मम-न मम) के तत्त्व को समझ ले तो उसके लिये मोक्ष सर्वथा सुलभ हो जायगा।

'मम' का स्वरूप है—मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर-सहित सांसारिक वस्तुओं के प्रति ममत्व (अपनत्व) या आसक्ति।

' न मम' अथवा 'निर्मम' का स्वरूप है—सांसारिक वस्तुओं तथा व्यक्तियों के साथ यथोचित व्यवहार करते हुए भी उन्हें अपना नहीं मानना, उनके प्रति आसक्त नहीं होना।

इनमें से 'मम' भाव संसार के बन्धन में फँसाने वाला तथा 'न मम' (निर्मम) भाव संसार से मुक्त कराने वाला है।

जिस तरह संसार से बन्धन और मोक्ष—ये दो पक्ष हैं, इनके कारक भाव के 'मम' तथा 'न-मम' रूप दो पक्ष हैं, उसी तरह इन दो भावों के कारकों के दो पक्ष हैं, जिनका नाम क्रमशः 'अविद्या' और 'विद्या' है। इनमें से अविद्या—ममभाव की तथा विद्या—'न-मम' भाव की जननी है।।७२-७३।।

विमर्श—उपर्युक्त श्लोक की पंक्ति—'द्वे पदे बन्धः.......ममेति च' कुलार्णव-तन्त्र के प्रथम उल्लास के श्लोक संख्या-१११ की प्रथम पंक्ति है; पूरा श्लोक है—

द्वे पदे बन्धमोक्षाय ममेति निर्ममेति च।
ममेति बाध्यते जन्तुः न ममेति विमुच्यते।।

'मम' तथा 'निर्मम' रूप भावद्वय की विवेचना के बाद अगले श्लोक में 'कर्म' को अविद्या तथा विद्यारूप दो पक्षों में विभक्त करके बन्धन और मोक्ष के विषय में कहा जा रहा है।

[विद्याऽविद्यात्मककर्मजन्यौ बन्धमोक्षौ]

तत् कर्म यच्च बन्धाय साऽविद्या परिकीर्त्तिता।
यन्न बन्धाय तत् कर्म सा विद्या समुदाहृता।।७४।।

जिन कर्मों से बन्धन की प्राप्ति होती है, वे सभी कर्म अविद्याजन्य तथा जिनसे सांसारिक बन्धन नहीं होता, वे विद्याजन्य हैं।।७४।।

विमर्श—चूँकि सभी सत् और असत् कर्म अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार शुभ या अशुभ फलदायी होने के कारण बन्धनकारी होते हैं; अत: कर्मों की फलरूप बन्धनकारिता के निरसन के लिये निष्काम कर्म का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया; मगर यथार्थ यह है कि कोई भी कर्म कामना-रहित नहीं हो सकता। तार्किक दृष्टि से देखा जाय तो मोक्षोपाय-सहित कर्म सकाम ही सिद्ध होते हैं। अत: 'यन्न बन्धाय' की सिद्धि के लिये फलदायी कर्म के पीछे निहित संकल्प या कामना की प्रकृति पर भी विचार आवश्यक है। प्रस्तुत ग्रन्थ में परमात्मा और जीवात्मा के स्वरूप-निरूपण के प्रसंग में बताया गया है कि आत्मा के वास्तविक रूप को आच्छादित करके अविद्या उसे (आत्मा को) तरह-तरह के मिथ्या खेल दिखाकर संसार में फँसाये रखती है। अतएव वे सभी कर्म, जिनके फलस्वरूप आत्मा संसार-जाल में फँसती और बँधती जाती है, बन्धनकारी और अविद्यामूलक माने जायेंगे। विद्या की प्रकृति और क्रिया अविद्या के सर्वथा विपरीत है, इसलिये वे सभी कर्म जिनसे अविद्या एवं उसके प्रभाव का निरसन होता है, सकाम होने के बावजूद विद्यामूलक तथा 'यन्न बन्धाय' की कोटि में आते हैं।

अगले श्लोक में संकल्प और संकल्पहीनता का महत्त्व बताया गया है—

[सङ्कल्पस्य सत्तासत्ताभ्यामेव बन्धमोक्षौ]

यावत् सङ्कल्प एवास्ति तावदेव हि बन्धनम्।
यावत्तदेव नैवास्ति तावदेव हि मोक्षणम्।।७५।।

दृढ़ निश्चय का वाचक होने के कारण संकल्प में कामना और कामना में आसक्ति सन्निहित होती है। अतएव जब तक संसार और सांसारिक सुखोपभोग के प्रति मन में आसक्ति है तब तक संसार के साथ बन्धन कायम रहता है और जैसे ही यह आसक्ति समाप्त हो जाती है, मोक्ष उपस्थित हो जाता है।।७५।।

[कर्मणस्तत्त्वज्ञानपर्यन्तमनुष्ठेयत्वम्]

जपहोमार्चनं तीर्थं वेदशास्त्रागमादिकम्।
तावदेव हि सर्वज्ञ यावत्तत्त्वं न विन्दति।।७६।।

जप, तप, देवता का अर्चन, हवन तथा वेद-शास्त्र आदि के अध्ययन से चित्त-शुद्धि होती है, चित्त-शुद्धि से संसार के प्रति अनासक्ति और इस अनासक्ति के साथ ही आत्मस्वरूपज्ञानरूप तत्त्व की प्राप्ति होती है। अत: जप-होम आदि का महत्त्व तत्त्वज्ञान की प्राप्ति तक है। तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद जप-होम आदि महज पिष्टपेषण हैं।।७६।।

[तत्त्वनिष्ठैव मोक्षावाप्तिहेतु:]

अत एव प्रयत्नेन सर्वावस्थासु सर्वदा।
तत्त्वनिष्ठो भवेद्धीरो यदीच्छेन्मोक्षमात्मन:।।७७।।

अतएव अपनी आत्मा का मोक्ष चाहने वाले साधक को सदा-सर्वदा सभी अवस्थाओं में तत्त्वज्ञान प्राप्त करने और तत्त्वनिष्ठ रहने का प्रयास करना चाहिए।।७७।।

विमर्श—'मोक्षम्-आत्मन:' अर्थात् आत्मा की मुक्ति। नित्य स्वतन्त्र परब्रह्म का अंश होने के कारण आत्मा तो निसर्गत: नित्य स्वतन्त्र है। आत्मा की मुक्ति से अभिप्राय है—अष्टपाशों और पाँच कञ्चुकों के आवरणों से आत्मा का अनावरण।

[तत्त्वज्ञानस्वरूपम्]

तत्प्रकारमहं वक्ष्ये निगमागमलक्षितम्।।७८।।
एकमेव परंब्रह्म रसरूपी सनातनः।
प्रकृत्या क्रियते व्यक्तस्तथा व्यक्तस्तया पुनः।।७९।।
तस्मात् प्रकृतियोगेन क्षिप्रं प्रत्यक्षमाप्नुयात्।
घटप्रत्यक्षसमये प्रकाशो व्यञ्जको यथा।।८०।।
विना घटत्वयोगेन न प्रत्यक्षो यथा घटः।
इतराद् भिद्यमानोऽपि भेदमुपगच्छति।।८१।।
पुरुषे नैव भेदोऽस्ति विना शक्तिं कथञ्चन।
न प्रयोगैर्न च ज्ञानैर्न श्रुत्या न गुरुक्रमात्।।८२।।

(पिछले ७७वें श्लोक में मनुष्य को सदैव तत्त्वनिष्ठ रहने का निर्देश दिया गया है। यह तत्त्व है—परं ब्रह्म। अगले पाँच श्लोकों में उस परमतत्त्वरूप परं ब्रह्म के आगम और निगम में बताये गये लक्षणों का निरूपण किया जा रहा है।)

वह एकमेव, नित्य, अविनाशी तथा रसस्वरूप है। 'एकमेव' अर्थात् एक ही है। यहाँ 'एकम्' के साथ प्रयुक्त 'एव' पद द्वैत का पूर्णतया निषेध करता है। वह परंब्रह्म प्रकृति के द्वारा व्यक्त और अव्यक्त किया जाता है। संसार के रूप में प्रकृति उसे व्यक्त करती है एवं संसार का संहार करके उसे अव्यक्त कर देती है। इसलिये यदि उसे अच्छी तरह जानना और समझना है तो यह कार्य प्रकृति के सहयोग से ही सुगमतापूर्वक हो सकता है। जिस तरह घट का अभिव्यञ्जक प्रकाश है, उसी तरह परंब्रह्म की अभिव्यञ्जक प्रकृति है। घट और घटत्व एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न तथा भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक हैं। इसीलिये जब तक घटत्व का योग नहीं हो जाता, घट प्रत्यक्ष नहीं होता। घटत्व का योग अर्थात् घटत्व का ज्ञान। उसी तरह जब तक प्रकृति का ज्ञान नहीं होता, परं ब्रह्म को भली-भाँति नहीं समझा और जाना जा सकता है। पुरुष अर्थात् ब्रह्म। पुरुष तो सजातीय, विजातीय एवं स्वगत आदि भेदों से शून्य अर्थात् रहित, अखण्ड और अद्वय स्वरूप है। ऐसे ब्रह्म का ज्ञान न तो वेदों और शास्त्रों के जरिये होता है और न गुरु-क्रम से होता है। ऐसे ब्रह्म का ज्ञान यदि होता है तो प्रकृति के माध्यम से ही होता है।।७८-८२।।

[परा प्रकृतिरेव तत्त्वज्ञानं प्रति साक्षात् कारणम्]

प्रकृत्या ज्ञायते ब्रह्म प्रकृत्या लीयते पुमान्।
प्रकृत्याधिष्ठितं सर्वं प्रकृत्या वाञ्छितं जगत्।
तयोः समरसं ज्ञानं वस्तुतत्त्वं परं पदम्।।८३।।

ब्रह्म से सर्वथा अभिन्न परा प्रकृतिरूपिणी ब्रह्मशक्ति के माध्यम से ही ब्रह्म का साक्षात्कार (ज्ञान) किया जा सकता है। उसी के सहयोग अथवा उसकी (प्रकृति की) उपासना करके मनुष्य (जीव) ब्रह्म में लीन होता है। सर्वरूप से जो भी ज्ञान और अज्ञान है, उन सबका अधिष्ठान यह प्रकृति ही है। इसी परा प्रकृति के द्वारा ही संसार की सृष्टि (और संहार भी) होता है। प्रकृति और ब्रह्म की समरसता (एकरूपता) का ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है; यही तत्त्वज्ञान परम लक्ष्य एवं परम प्राप्तव्य है।।८३।।

उपायाः सन्ति बहुधा ज्ञातुं ब्रह्म सनातनम्।
तथापि प्रकृतेर्योगात् क्षिप्रं प्रत्यक्षतां लभेत्।।८४।।

यद्यपि शास्त्रों में ब्रह्म को जानने, समझने और प्राप्त करने के लिये अनेक उपायों—अनेक साधनों का उल्लेख किया गया है और साधक लोग अपनी-अपनी पसन्द और रुचि के अनुसार इन साधनों का अवलम्बन करके साधनाएँ करते हैं; मगर इन साधनों से ब्रह्मसाक्षात्कार केवल साधक की शक्ति पर निर्भर होने के कारण ब्रह्मसाक्षात्काररूप अभीष्ट की प्राप्ति में देरी भी होती है और परिश्रम भी अधिक करना पड़ता है। इसके विपरीत पराप्रकृति की उपासना से होने वाले ब्रह्मसाक्षात्कार में साधक का सामर्थ्य और भगवती पराशक्ति की कृपा का सहयोग एवं सम्मिलन होने के कारण अभीष्ट-प्राप्ति शीघ्र और अल्प कष्टसाध्य होती है।।८४।।

सांयात्रिकः कुदेशे तु यथा नावं प्रगृह्य च।
नानादेशं समुत्तीर्य समुद्रं विशते चिरात्।।८५।।
तत्तटे नावमादाय क्षणाद् याति यथा पुनः।
तस्मात् परम्परायातास्ते हि कारणतां गताः।।८६।।
न साक्षात् कारणं ते हि साक्षात् प्रकृतिकारणम्।
तस्मात्तां प्रकृतिं वक्ष्ये दीक्षाविधिपुरःसराम्।।८७।।

इति श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचिते श्रीतत्त्वचिन्तामणौ प्रथमः प्रकाशः।।१।।

प्रकृतीति। अत्र कारणत्वस्य विधेयतया उद्देश्यीभूतप्रकृतिपदेनानुपपन्नोऽपि समासश्छन्दोभङ्गभयादङ्गीकृतः।

समुतट से बहुत दूर भीतरी प्रदेश में रहने वाले व्यापारी यदि समुद्र-पार व्यापार करना चाहे तो उसे सर्वप्रथम पूरे देश की यात्रा करके समुद्रतट पर पहुँचना होगा। अनेक कष्ट सहता हुआ वह समुद्र-पार दूसरे देश में पहुँचेगा। वहाँ बन्दरगाह पर जहाज छोड़कर उस देश के मध्यभाग में जाकर वह व्यापार करेगा। व्यापार करके स्वदेश वापिस आने के लिये वह इसी प्रकार के उपाय करेगा। अन्य साधनों या मार्गों से ब्रह्मसाक्षात्कार इस समुद्रपार व्यापार के समान परम्परा वाले हैं। इसके विपरीत प्रकृति के माध्यम से की जाने वाली साधना ब्रह्मसाक्षात्कार की प्रत्यक्ष साधना है। इसलिये प्रकृति के माध्यम से की जाने वाली साधना-विधि का निरूपण सर्वप्रथम दीक्षाविधिपूर्वक की जा रही है॥८५-८७॥

श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचित श्रीतत्त्वचिन्तामणि के प्रथम प्रकाश का
'भावना'-भाष्य पूर्ण हुआ।।१।।

●

द्वितीयः प्रकाशः

[दीक्षाप्रकाशः]

[तत्र दीक्षाशब्दार्थः, दीक्षाया: फलम्, दीक्षाभेदाः, गुरुशिष्यलक्षणम्,
गुरौ शिष्यस्य व्यवहारः, अकशहादिचक्रविचारः, दीक्षायां दिनविचारः,
तत्रानुकूलप्रतिकूलमासतिथिवारनक्षत्रलग्नादिनिरूपणम्,
मन्त्रशब्दार्थः, मन्त्राणां दश संस्काराश्च]

पिछले अध्याय में मोक्षरूप परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये ब्रह्मज्ञान की अनिवार्यता एवं महत्ता निरूपित करने के बाद इस अध्याय (प्रकाश) में ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति की उपायभूता 'दीक्षा' का प्रतिपादन किया गया है। दीक्षा-प्राप्ति से ही उपासना का अधिकार मिलता है, उपासना से ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत: आध्यात्मिक जीवन के लिये दीक्षा परम आवश्यक है।

[दीक्षानिरूपणोपयोगित्वम्]

अथादीक्षितलोकानामधिकारोऽत्र नैव हि।
अतो दीक्षां प्रवक्ष्यामि चतुर्वर्गप्रदायिनीम्।।१।।

पूर्वप्रकाशे ब्रह्मज्ञानस्य परमपुरुषार्थसाधकत्वमुक्त्वा प्रकाशेऽस्मिन् ब्रह्मज्ञानस्योपासनामूलकतया उपासनायाञ्चादीक्षितानामनधिकारिताश्रवणादेतत्तन्त्रप्रतिपाद्यश्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीदेवताराधनाधिकारप्रतिपादिकां दीक्षामवतारयति—**अथेति**। उपासनाधिकारस्य दीक्षापेक्षित्वमाह गौतमीयतन्त्रे सप्तमपटले—

अथ दीक्षां प्रवक्ष्यामि सर्वकामार्थसिद्धिदाम्।
यां विना नैव सिद्धः स्यान्मन्त्रो वर्षशतैरपि।। इति।

बृहन्नीलतन्त्रे तृतीयपटले दीक्षां प्रकृत्य—

तया विना महादेवि ह्यधिकारो न कर्मणि।
सर्वाश्रमेषु भूतेषु सर्वदेवेषु सुव्रते।।
दीक्षां विना महादेवि तस्य सर्वं वृथा भवेत्।
दीक्षामूलं जगत् सर्वं दीक्षामूलं परं तपः।
दीक्षामूलं महासिद्धिस्तस्माद्दीक्षां समाचरेत्।। इति।

कुलार्णवे चतुर्दशोल्लासे च—

अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जपपूजादिकाः क्रियाः।
न भवन्ति प्रिये तेषां शिलायामुप्तबीजवत्।। इति।

देवि दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत्।।

इत्यादिवचनैः प्रतिपादितम्।

चूँकि अदीक्षित अर्थात् दीक्षारहित व्यक्ति को तन्त्रसम्मत विधि से उपासना का अधिकार नहीं है; अतएव आध्यात्मिक जीवन की आधारभूता एवं चतुर्वर्ग-प्रदायिनी दीक्षा का सर्वप्रथम निरूपण किया जा रहा है।।१।।

विमर्श—अज्ञान-सागर में निमज्जित व्यक्ति के सिर पर जब तक पापों का बोझ लदा हो तथा उसे ज्ञान का प्रकाश नहीं मिले तब तक उसके लिये आध्यात्म मार्ग पर चलना असम्भव है। उसकी इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति दीक्षा से होती है, जैसा कि 'दीक्षा' शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्ट होता है।

[दीक्षाशब्दव्युत्पत्तिः]

दिव्य ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्याच्च पापसंक्षयम्।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता देशिकैस्तन्त्रवेदिभिः।।२।।

जिसके द्वारा साधक अपने सम्पूर्ण पापों का नाश कर दिव्य ज्ञान प्राप्त करता है, उसे दीक्षा कहते हैं।।२।।

[तस्याः प्रकारान्तरम्]

अथवा गुरुणा सम्यग् दीक्षणाद्देवमन्त्रयोः।
दीक्षेति कथिता सद्भिः सर्वपापप्रणाशिनी।।३।।

अथवा गुरुदेव के द्वारा देवता और मन्त्र का सम्यक्-रूप से दीक्षण किये जाने के कारण इसे दीक्षा कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रक्रिया के माध्यम से गुरुदेव द्वारा मन्त्र और देवता का सम्यक् रूप से दर्शन (ज्ञान) कराया जाता है, उस प्रक्रिया को विद्वान् लोग दीक्षा कहते हैं।।३।।

[प्रकारान्तरञ्च]

ददाति यस्मादिह दिव्यभावं मायामये कर्म च संक्षिणोति।
फलं चतुर्वर्गभवञ्च यस्मात्तस्मात्तु दीक्षेत्यभिधानमस्याः।।४।।

जिस प्रक्रिया से दिव्य भाव की प्राप्ति तथा इस मायामय संसार में कर्मफलों का संक्षय होकर पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति होती है, उस प्रक्रिया का नाम दीक्षा है।।४।।

[दीक्षाफलम्]

कोटिजन्मकृतं पापं ज्ञानाज्ञानकृतञ्च यत्।
दीक्षाग्रहणमात्रेण पलायेत न संशयः।।५।।
ब्रह्महत्या-सुरापान-स्वर्णस्तेयादिपातकम्।
उपपातकलक्षाणि हन्ति दीक्षात्रयान्नरः।।६।।

दीक्षा-फल—पिछले जन्मों में जान-बूझकर अथवा अनजाने में हत्या, सुरापान (शराबखोरी), स्वर्ण (सोना) की चोरी-जैसे जघन्य पापों-सहित सभी छोटे-बड़े पातकों (पापों) का नाश दीक्षा-ग्रहण करने-मात्र से हो जाता है।।५-६।।

[वर्णभेदेन दीक्षायाः फलभेदाः]

दीक्षितो ब्राह्मणो याति ब्रह्मलोकमनामयम्।
इन्द्रलोकं क्षत्रियोऽपि प्राजापत्यं तथा विशः।।७।।
शूद्रो गन्धर्वनगरं याति दीक्षाप्रभावतः।
चतुर्णामपि वर्णानामतो दीक्षा प्रशस्यते।।८।।

दीक्षा ग्रहण करने-मात्र से अलग-अलग वर्णों के लोगों को सहज रूप से अलग-अलग पुण्य लोकों की प्राप्ति होती है। दीक्षा के प्रभाव से ब्राह्मण को ब्रह्मलोक, क्षत्रिय को इन्द्रलोक, वैश्य को पितृलोक एवं शूद्र को गन्धर्वलोक की प्राप्ति होती है। अतः चारो वर्ण के व्यक्तियों के लिये दीक्षा प्रशस्त है।।७-८।।

विमर्श—आध्यात्मिक मार्ग अथवा साधनापथ में पदार्पण के लिये दीक्षा की अनिवार्यता तथा उसके दिव्य फलों का निरूपण सभी तन्त्र-ग्रन्थों में यथा-अवसर किया गया है; क्योंकि दीक्षाविहीन व्यक्ति को तन्त्रोपदिष्ट विधि से साधना करने का कोई अधिकार ही नहीं है, जैसा कि मेरुतन्त्र में कहा गया है—

तथा चादीक्षितानां च मन्त्र-देवार्चनादिषु।
नाऽधिकारोस्त्यतः कुर्यादात्मनं मन्त्रसंस्कृतम्।।

अधिकार न होने की स्थिति में साधना का कोई फल नहीं मिलता। सारी मेहनत चट्टान में बीज बोने के समान निरर्थक सिद्ध होती है, जैसाकि कुलार्णवतन्त्र (१४/९६) में कहा गया है—

अदीक्षिताः ये कुर्वन्ति जप-पूजादिकाः क्रियाः।
न फलन्ति प्रिये तेषां शिलायामुप्तबीजवत्।।

अतः यदि साधना का फल पाना है तो सर्वप्रथम एतदर्थ अधिकार प्राप्त कीजिये और यह अधिकार मिलता है—दीक्षा ग्रहण करने से। साधना के लिये दीक्षा की अनिवार्यता का रहस्य तन्त्र-शास्त्र के इस निर्देशवाक्य में छिपा हुआ है—'देवो भूत्वा देवं यजेत्।'

अर्थात् देवता बनकर ही देवता की पूजा (साधना) करनी चाहिए। प्रकृत मानव-भाव के साथ देवता की पूजा नहीं की जा सकती। देवता बनने का अर्थ है—स्वयं में दिव्य-भाव का सञ्चार और आत्मा में शिवत्व का स्फुरण और प्रकृत मानव-भाव में ऐसा होना सम्भव नहीं है। जब तक प्राक्तन जन्मों के घनीभूत पापों के कारण सामान्य मनुष्य का भाव-लोक बंजर-जमीन की तरह सख्त और पथरीला है, उसमें दिव्य भाव का सञ्चार नहीं हो सकता। चूँकि दीक्षा दिव्य ज्ञान प्रदान करने

के साथ ही प्राक्तन जन्मों की घनीभूत पापराशि का संक्षय करती है; अत: दीक्षा ग्रहण करने के फलस्वरूप साधक का भावलोक बंजर भूमि से उपजाऊ खेत के रूप में परिणत होकर दिव्य भाव के संचार तथा आत्मा में शिवत्व की स्फुरणा के लिये सक्षम एवं अनुकूल बन जाता है; इसीलिये साधना-जगत् में प्रवेश के लिये दीक्षा की अनिवार्यता को तन्त्र-ग्रन्थों में रेखांकित किया गया है। दीक्षा-ग्रहण के बाद सतत् अभ्यास से मुमुक्ष साधक के भावों की धवलता और उज्ज्वलता में क्रमिक रूप से वृद्धि होने के साथ ही आत्मा में शिवत्व की स्फुरणा भी तीव्र से तीव्रतर होने लगती है। आत्मा में अन्तर्निहित शिवत्व का पूर्ण परिष्कार करके शिवत्व-लाभ प्राप्त करना ही तन्त्रोपदिष्ट साधना का परम लक्ष्य है। यह शिवत्व-प्राप्ति ही परम निर्वाण है, परम मोक्ष है।

भावों के परिष्कार एवं शिवत्व की स्फुरणा की बात प्रथम दृष्टि में अटपटी और परस्पर असंगत प्रतीत होती है; क्योंकि हम भाव-लोक के तात्त्विक महत्त्व से पूर्णत: अवगत नहीं हैं। यथार्थ यह है कि भाव ही वह बिन्दु है, जहाँ से आत्मा की बहिरंग और अन्तरंग यात्रा प्रारम्भ होती है। शिव से विमुख होकर संसार तथा सांसारिकता की ओर अग्रसर होना आत्मा की बरिहंग यात्रा है तो संसार और सांसारिकता से विमुख होकर शिवत्व की प्राप्ति के लिये शिव की ओर अग्रसर होना आत्मा की अन्तरंग यात्रा है। तन्त्रोपदिष्ट साधना वस्तुत: स्थूल (संसार) से सूक्ष्म (शिव) की यात्रा है। इस तरह इस यात्रा का दारोमदार भावलोक पर ही निर्भर है। भाव ही हमें मनुष्य से राक्षस बना देते हैं और भावों से ही हम मनुष्य से देवता भी बनते हैं। भावों की महिमा लोक-विश्रुत है। 'मानो तो देव नहीं तो पत्थर' और 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' जैसी लोकोक्तियाँ भावों की महत्ता और महिमा को रेखांकित करती हैं। वस्तुत: इन लोकोक्तियों का उत्स तन्त्रशास्त्र का यह आप्तवाक्य है—

भावे हि विद्यतो देवो न मूर्तौ न चक्रादिषु।

न तो मूर्ति में देवत्व है और न ही चक्र (यन्त्र) में देवता का वास है। वो तो हम हैं, जो स्वयं में अन्तर्निहित देवत्व को श्वासमार्ग से बाहर लाकर एवं उसे मूर्ति या यन्त्र में प्रतिष्ठित करके उसमें अर्थात् मूर्ति या यन्त्र में देवत्व का संचार करते हैं, उसे देवता की पूजा का माध्यम बनाते हैं। पूजन के बाद विसर्जन होते ही मूर्ति या यन्त्र में देवत्व नहीं रह जाता। मूर्ति या यन्त्र में प्रतिष्ठित देवता मूर्ति से विसर्जित होकर साधक की आत्मा में स्थानान्तरित हो जाता है। यन्त्र या मूर्ति में प्राणप्रतिष्ठा की यही प्रक्रिया है; यही रहस्य है, जिसका निरूपण अगले अध्यायों में यथा-अवसर किया जायगा। जिस तरह हम इस भावमयी प्रक्रिया के द्वारा पत्थर की बेजान मूर्ति में देवत्व का सञ्चार कर सकते हैं, उसी तरह हम आत्मा में अन्तर्निहित शिवत्व की स्फुरणा के सतत् अभ्यास द्वारा अपनी आत्मा को शिव के

रूप में परिष्कृत भी कर सकते हैं। शिव के रूप में आत्मा का परिष्कार ही स्वरूप-विस्मृत आत्मा का अपनी शिव-स्वरूपता की प्राप्ति है। यही परम मोक्ष है—यही दीक्षा का परम फल है। इसमें न तो कोई अर्थवाद है और न कोई अतिशयोक्ति। दीक्षा का यह शास्त्रसम्मत फल अवश्य मिलता है, बशर्ते वह सद्गुरु से प्राप्त की जाय, जैसाकि मेरुतन्त्र में प्रतिपादित किया गया है—

दीयते ज्ञानविज्ञानं क्षीयन्ते पापसञ्चयम्।
तेन दीक्षेति हि प्रोक्ता सा चेत् सद्गुरोर्मुखात्।
असद्गुरुः स्वयं नष्टः कथं तारयते परम्।।

दीक्षा का शास्त्रसम्मत फल उसी समय सम्भव है, जब वह सद्गुरु से प्राप्त की जाय। असद् गुरु तो अपने आचरण और कर्मों से स्वयं नष्ट हो जाता है, वह दूसरों की नैया किस तरह पार लगायेगा? कबीर के शब्दों में—

बन्धे को बन्धा मिला, छूटै कौन उपाय।
कर संगत निरबंध की, पल में देय छुड़ाय।।

इस तरह दीक्षा की फलवत्ता के लिये प्रथम अनिवार्यता यह है कि वह सद्गुरु से प्राप्त की जाय। दूसरी अनिवार्यता यह है कि जिसे दीक्षा दी जाय, वह भी इसके लिये सत्पात्र हो। ऐसा न होने पर सद्गुरु द्वारा दी गई अमृतदायिनी दीक्षा ऊसर खेत में धान की खेती का प्रयास सिद्ध होगी।

इस सन्दर्भ में यह सहज जिज्ञासा होती है कि वह कौन-सी शक्ति है, जो दीक्षा को इतनी महिमाशालिनी और सद्यः फलदायिनी बना देती है। ऐसा करना तो मनुष्य के बलबूते की बात नहीं है। यथार्थ यह है कि सद्गुरु के माध्यम से स्वयं भगवान् शिव दीक्षार्थी को दीक्षा प्रदान करते हैं—

आदिनाथो महादेवि! महाकालो हि स स्मृतः।
गुरुः स एव देवेशि! सर्वमन्त्रेषु नापरः।।

× × × ×

अतएव शिवः साक्षाद् गुरुरूपं समाश्रितः।
भक्त्या सम्पूजितो देवि! भुक्तिं मुक्तिं प्रयच्छति।।

कुलार्णवतन्त्र (१३/५२)

इसीलिये तन्त्रशास्त्र में दीक्षा-गुरु को शिव-स्वरूप मानने और समझने का निर्देश दिया गया है। जिस मानव-शरीर के माध्यम से भगवान् शिव दीक्षा देते हैं, शिव का प्रकाशक होने के कारण वह मानव-शरीर भी गुरु पदवाच्य हो जाता है। आजकल की शब्दावली में सद्गुरु शिष्य के वैयक्तिक (पर्सनल) शिव होते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दीक्षा भगवान् शिव का वह अवदान है, जो वे अपनी करुण दृष्टि से प्रदान करते हैं और उनकी करुण दृष्टि का आश्रय लेकर स्वयं भगवती ही दीक्षा के रूप में दीक्षार्थी के अन्तःकरण में अवतरित होती हैं—

कल्याणि! देशिककटाक्षसमाश्रयेण
कारुण्यतो भवसि शाम्भववेधदीक्षा।

हे कल्याणि! भक्त का कल्याण करने के लिये गुरुदेव (देशिक) की कृपादृष्टि का आश्रय लेकर तुम स्वयं ही शिष्य का पाशजाल काटने वाली 'वेधदीक्षा' बन जाती हो। यहाँ वेधदीक्षा को सभी प्रकार की दीक्षाओं का पर्याय समझना चाहिए; क्योंकि हर प्रकार की दीक्षा में गुरुदेव दीक्षार्थी पर करुण दृष्टि डालते ही हैं। यही दीक्षा की अनिवार्यता का रहस्य है।

दीक्षा की अनिवार्यता एवं दीक्षा-फल का निरूपण करने के बाद अगले ९ श्लोकों में दीक्षा-भेद का निरूपण किया जा रहा है।

[दीक्षायास्त्रैविध्यम्]

शाम्भवी चैव शाक्तेयी मान्त्री चैव शिवागमे।
दीक्षोपदिश्यते त्रेधा शिवेन परमात्मना।।९।।

भगवान् शिव द्वारा उपदिष्ट आगम-शास्त्र में स्वयं दीक्षा के तीन भेद बताये हैं। दीक्षा के ये तीन भेद हैं—शाम्भवी दीक्षा, शाक्ती दीक्षा और मान्त्री दीक्षा।।९।।

[तत्र मान्त्री दीक्षा]

मन्त्रमार्गानुसारेण साक्षात् कृत्वेष्टदेवताम्।
गुरुः सद्बोधयेच्छिष्यं मन्त्रदीक्षेति सोच्यते।।१०।।

मन्त्र-मार्ग अर्थात् मन्त्र-साधनापद्धति के अनुसार इष्टदेवता का पूजन-अर्चन करके गुरुदेव द्वारा शिष्य को जो मन्त्र-दीक्षा दी जाती है, उसे मान्त्री दीक्षा कहते हैं।।१०।।

प्रकारान्तर से इस मान्त्री-दीक्षा का अपर नाम क्रियावती दीक्षा है।

[तस्या एव क्रियावतीत्याख्यं प्रकारान्तरम्]

अथवा मन्त्रपूजादि-ध्यानयोगादिभिः कृता।
गुरुणा योगमार्गेण तथा शास्त्रानुसारतः।।११।।
मान्त्री क्रियावती सा तु कुण्डमण्डलपूर्विका।

अथवा तन्त्र-शास्त्र में बताई गई विधि के अनुसार कुण्ड तथा मण्डल आदि की रचना करके इष्ट-देवता का ध्यान-अर्चन-मन्त्रजप आदि सहित गुरुदेव के द्वारा शिष्य को जो दीक्षा दी जाती है, उसे मान्त्री-क्रियावती दीक्षा कहा जाता है।।११।।

[मान्त्र्या एव प्रकारान्तरम्]

मन्त्रोपदेशमात्रन्तु मन्त्रदीक्षेति चापरे।।१२।।

अथवा गुरुदेव के द्वारा शिष्य को मन्त्र का उपदेश अथवा मन्त्र-कथन (कान-फूँकने) को भी मान्त्री दीक्षा कहा जाता है।।१२।।

[मान्त्री दीक्षेयं सर्ववर्णसम्प्रदायसाधारणी]

सामान्यभूता खलु मान्त्रिकी स्या-
द्दीक्षा स्मृता मन्त्रगणेषु तद्वत्।
वर्णेषु चापि द्विजपूर्वकेषु
स्याच्चैव शाक्तेष्वपि वैष्णवेषु।।१३।।

यह मान्त्री दीक्षा ही लोक में सर्वाधिक विख्यात और प्रचलित है। यह मान्त्री दीक्षा सभी सम्प्रदायों में प्रचलित एवं समादृत है और सभी वर्गों के दीक्षार्थियों को इसी विधि से दीक्षा दी जाती है। दूसरे शब्दों में शाक्त-शैव-वैष्णव-गाणपत्य एवं सौर्य—किसी भी सम्प्रदाय में द्विजसहित सभी वर्णों के व्यक्तियों को साधना-जगत् में प्रवेश देने के लिये यह दीक्षाविधि प्रशस्त है।।१३।।

[शाक्तेयी दीक्षा]

सिद्धे स्वशक्तिमालोक्य तया केवलया शिशोः।
निरुपायं कृता दीक्षा शाक्तेयी परिकीर्त्तिता।।१४।।

मान्त्री दीक्षा के बाद शाक्ती या शाक्तेयी दीक्षा का निरूपण किया जा रहा है। अपनी सिद्धि शक्ति का अवलोकन करके अर्थात् अपनी कुण्डलिनी को जागृत करके गुरुदेव जिस दीक्षा के द्वारा शिष्य को निरुपाय (निष्पाप) बनाते हैं, उसे शाक्ती या शाक्तेयी दीक्षा कहते हैं।।१४।।

विमर्श—शाक्तेयी दीक्षा की क्रियाविधि को स्पष्ट करते हुए परशुराम-कल्पसूत्र में कहा गया है—

तस्य मूलमाब्रह्मबिलं प्रज्ज्वलतीं प्रकाशलहरीं ज्वलदनिलनिभां ध्यात्वा तद् रश्मिभिस्तस्य पापपाशान् दग्ध्वा।।१/३६।।

शिष्य के मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त सुषुम्नापथ में प्रज्ज्वलित प्रकाशलहरी के रूप में स्थित तथा जलती हुई अग्नि के समान आभा वाली कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करके उसके (शिष्य के) पाप-पाशों को जलाकर जो दीक्षा दी जाती है, उसे 'शाक्तेयी दीक्षा' कहते हैं। इस पद्धति में होता यह है कि गुरुदेव स्वयं अपनी उद्‌बुद्ध कुण्डलिनी को जागृत करके शिष्य के शरीर में शक्तिपात करते हैं। इस शक्तिपात के फलस्वरूप शिष्य की प्रसुप्त कुण्डलिनी जागृत होकर षट्‌चक्रों का भेदन करती हुई मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक परिभ्रमण करने लगती है। कुण्डलिनी की दाहकता एवं प्रकाश-लहरी से दीक्षार्थी के अज्ञान अन्धकार का नाश और अष्टपाशों का बन्धन भस्मीभूत हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि शाक्ती दीक्षा देने का अधिकार उस सद्गुरु को है, जो इतना तीव्र शक्तिपात करने में सक्षम और समर्थ हो।

[ज्ञानवती दीक्षैव शाक्तेयी दीक्षेति मतान्तरम्]

अथ ज्ञानवती दीक्षा शक्तिदीक्षेति चापरे।।१५।।

इस शाक्तेयी दीक्षा को कुछ लोग ज्ञानवती दीक्षा कहते हैं अथवा इस शाक्ती दीक्षा का ही अपर नाम ज्ञानवती दीक्षा है।।१५।।

[शाम्भवी दीक्षा]

अभिसन्धिं विनाऽऽचार्यशिष्ययोरुभयोरपि।
देशिकानुग्रहेणैव शिवताव्यक्तिरूपिणी।
सेयन्तु शाम्भवी प्रोक्ता शिवावेशनकारिणी।।१६।।

शाम्भवी दीक्षा—आचार्य और शिष्य की अभिसन्धि के विना भी देशिक (गुरुदेव) के अनुग्रहमात्र से शिवत्व को व्यक्त करने वाली तथा शिवत्व का आवेशन (स्फुरणा) कराने वाली दीक्षा को शाम्भवी दीक्षा कहते हैं।।१६।।

इस दीक्षा के अन्य लक्षण इस प्रकार हैं।

[तस्या: प्रकारान्तरम्]

गुरुरालोकमात्रेण स्पर्शात् सम्भाषणादपि।
सद्यः संज्ञा भवेज्जन्तोः शाम्भवी चेति चागमे।।१७।।

शाम्भवीति। शाम्भवी शाक्तेयी मान्त्री चेति त्रिविधा दीक्षा। त्रेधेत्यनेनान्येषामाणवादिदीक्षाभेदानामत्रैवान्तर्भावः सूचितः।

नन्विह शाम्भवी शाक्तेयी मान्त्रीति क्रमेण त्रिविधां दीक्षामुद्दिश्य मन्त्रमार्गानुसारेणेत्यादितत्तद्विशेषलक्षणनिरूपणावसरे मान्त्री शाक्तेयी शाम्भवीति व्युत्क्रमेण निर्देशः कथम्? कथं वा—

त्रिविधा सा भवेद्दीक्षा मान्त्री शाक्ती च शाम्भवी।

इति गन्धर्वतन्त्रषड्विंशपटलवचने दीक्षाणां विशिष्यक्रमनिर्देशे सत्यपि अत्र व्युत्क्रमेणोद्देशः? उच्यते राघवभट्टधृतषडाम्नायमहारत्ने—

त्रिविधा सा भवेद्दीक्षा प्रथमा आणवी परा।
शाक्तेयी शाम्भवी चान्या सद्यो मुक्तिविधायिनी।।

इत्यनेनाणवीदीक्षायाः प्राथम्यमुपदर्श्य,

मन्त्रार्चनासनस्थानध्यानयोगादिभिः कृता।
दीक्षा सा त्वाणवी प्रोक्ता यथाशास्त्रोक्तकारिणी।।

इति यदाणवीदीक्षालक्षणं कृतं तेन सह,

अथवा मन्त्रपूजादिध्यानयोगादिभिः कृता।

इत्यादिपूर्णानन्दोक्तमान्त्रदीक्षालक्षणस्याभेदात् क्रियावती मान्त्री दीक्षैवाणवी दीक्षा, तस्याश्च प्राथम्यं प्रागुक्तषडाम्नायमहारत्नवचनेनोपपादितमेव। ततश्च प्रथमा

मान्त्री, द्वितीया शाक्ती, तृतीया शाम्भवीति स्थितम्। अत एव गन्धर्वतन्त्रे षड्विंशपटले मान्त्री शाक्ती शाम्भवीति क्रममुद्दिश्य—

मन्त्रार्चनासनस्थानध्यानयोगादिभिः कृता।
मान्त्री दीक्षा च सा प्रोक्ता यथाशास्त्रोक्तकारिणी।।

सिद्धैः स्वशक्तिमालोक्य तया केवलया शिशोः।
निरुपायकृता दीक्षा शाक्तेयी परिकीर्त्तिता।।

अभिसन्धिं विनाऽऽचार्यशिष्ययोरुभयोरपि।
देशिकानुग्रहेणैव शिवताव्यक्तिकारिणी।
सेयन्तु शाम्भवी दीक्षा शिवावेशनकारिणी।।

यथायथं लक्षणानि कृतानि। एवञ्च प्रागुक्ततत्तद्दीक्षालक्षणैः प्रथमं विधिबोधित-मान्त्रीदीक्षया लब्धप्रवेशे शिष्ये मन्त्रसिद्धस्य गुरोः स्वशक्तेरुन्मीलनं द्वितीया मान्त्री दीक्षा। ततश्चाविर्भावितशक्तेः शिष्यस्य शिवतासम्पादनं तृतीया शाम्भवी दीक्षेत्यवगम्यते इति षडाम्नायमहारत्नानुसारी सिद्धान्तः।

राघवभट्टधृतवायवीयसंहितायान्तु—

शाम्भवी चैव शाक्ती च मान्त्री चैव शिवागमे।
दीक्षोपदिश्यते त्रेधा शिवेन परमात्मना।।

इत्युद्दिश्य—

गुरोरालोकमात्रेण स्पर्शात् सम्भाषणादपि।
सद्यः संज्ञा भवेज्जन्तोर्दीक्षा सा शाम्भवी मता।।

शाक्ती ज्ञानवती दीक्षा शिष्यदेहं प्रविश्य तु।
गुरुणा योगमार्गेण क्रियते ज्ञानचक्षुषा।
मान्त्री क्रियावती सा तु कुण्डमण्डलपूर्विका।।

इत्येतानि लक्षणानि कृतानि। अस्मिन् कल्पे प्रागुक्ततत्तल्लक्षणैः प्रथमं विषय-विमुग्धात्मनः शिष्यस्य सद्गुरुदर्शनमात्रेण संज्ञालाभस्ततो विषयवैमुख्यम् इति शाम्भवी दीक्षा। ततोऽनया दीक्षया सम्भावितशम्भुभावस्य द्वितीया शाक्ती दीक्षा। सा च ज्ञानवतीति तया दीक्षया ज्ञानोत्पादे तृतीया मान्त्री दीक्षा। सा च प्रागुक्तदीक्षाद्वयेन सम्भावितशम्भुभावस्य समुत्पन्नज्ञानस्य च शिष्यस्य कुण्डमण्डलाद्युपायपूर्विका कर्मभूयिष्ठा च मन्त्रप्रदानरूपा क्रियावती। एतदभिप्रायेणैव—

महादीक्षा तथा दीक्षा उपदेशस्ततः परम्।
युगे युगे च कर्त्तव्य उपदेशः कलौ युगे।।

इति तन्त्रसारधृतविश्वसारवचनेनापि प्रतियुगं दीक्षात्रयस्य कर्त्तव्यतामुपपाद्योपदेशरूपमान्त्रदीक्षायाश्चरमत्वमभिहितम्। अत्र 'ततः पर'मित्यभिधानाद्दीक्षात्रयस्यैव कर्त्तव्यत्वमवगम्यते।

षट्चक्रादिज्ञानापेक्षिणामन्तर्यागादिकर्मणामुपदेशस्य प्रबलाज्ञानमलीमसे शिष्यमनसि सर्वथा प्रवेशासम्भवात्,

देवतागुरुमन्त्राणामैक्यं सम्भावयन् धिया।
जपेदेकमनाः प्रातःकालान्मध्यन्दिनावधि।।

इति गन्धर्वतन्त्राष्टाविंशपटलोक्तदेवतागुरुमन्त्रैक्यभावनानुपपत्तेश्च ज्ञानविशोधित एव शिष्यहृदये कर्मोपदेशः समीचीन इति। एतन्मतद्वयप्रदर्शनार्थमेव श्रीमत्परमहंसैः शाम्भवी शाक्ती मान्त्रीति दीक्षाक्रममुद्दिश्य व्युत्क्रमेण लक्षणानि कृतानीत्यवधेयम्। तथा चात्र श्रीमत्परमहंसैर्दीक्षाभेदानामुभयविधमेव लक्षणमथवेत्यादिना सूचितमिति निष्कर्षः।

गुरुदेव के देखने, स्पर्श करने अथवा सम्भाषण-मात्र करने से शिष्य को सद्यः अर्थात् तत्काल ही संज्ञा (ज्ञान) की प्राप्ति कराने वाली दीक्षा को आगमशास्त्र में शाम्भवी दीक्षा कहा जाता है।।१७।।

विमर्श—परशुरामकल्पसूत्र में इसकी दीक्षा-विधि का निरूपण करते हुए कहा गया है—तच्छिरसि रक्तशुक्लचरणं भावयित्वा तदमृतक्षालितं सर्वशरीरमलङ्कुर्यात्।।१/३५।।

उसके अर्थात् शिष्य के शिर (सहस्रार) में रक्त और शुक्ल चरणों की भावना करके उन चरणों से निःसृत अमृत से प्रक्षालित शिष्य के सम्पूर्ण शरीर को अलंकृत करें।

इसमें रक्त चरण भगवती के और श्वेत चरण भगवान् कामेश्वर शिव के हैं, जैसा कि श्यामारहस्य में बताया गया है—

रक्तं तु चरणं देव्याः रजोरूपं प्रकीर्तितम्।
शुक्लं च तदधिष्ठानचरणं सात्त्विकं भजेत्।।

शाक्त साधना ग्रन्थों में रक्त और श्वेत चरणों के साथ मिश्र और निर्वाण चरणों की भी चर्चा है। अतः यहाँ रक्त एवं श्वेत चरणों से इन चारो चरणों का अर्थ समझना चाहिए। शिष्य के शिर में अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रवर्ती द्वादश कमलों में उपर्युक्त चरणों की भावना करके अर्थात् उन्हें प्रदीप्त करके यह भावना करनी चाहिए कि इन चरणों से अमृत की धारा बह रही है और इस अमृतवर्षा से शिष्य का सारा शरीर प्रक्षालित हो रहा है। इस प्रक्षालन के फलस्वरूप शिष्य का सम्पूर्ण शरीर निष्कलुष हो गया है, इस भावना से उसे गन्ध-पुष्प आदि से अलंकृत किया जाय।

शाक्तेयी और शाम्भवी दीक्षा में अन्तर यह है कि शाक्तेयी दीक्षा में शिष्य की चिद्रूपिणी शक्तिरूपा मूलाधार-निवासिनी कुल-कुण्डलिनी को प्रबुद्ध किया जाता है तो शाम्भवी दीक्षा में ब्रह्मरन्ध्रवर्ती परमशिव के अधिष्ठान को प्रबुद्ध किया जाता है।

दीक्षा के अन्यान्य भेद—प्रस्तुत ग्रन्थ में दीक्षा के उपर्युक्त तीन भेदों का निरूपण किया गया है; इससे यह नहीं समझना चाहिए कि दीक्षा के केवल ये ही तीन भेद अथवा प्रकार हैं। शारदातिलक-प्रभृति अन्य ग्रन्थों में दीक्षा के अन्य भेद बताये गये हैं, यथा—(१) वर्णमयी दीक्षा, (२) क्रियावती दीक्षा, (३) कलावती दीक्षा और (४) वेधमयी दीक्षा। मान्त्री दीक्षा का अपर नाम क्रियावती दीक्षा है तो विधि एवं लक्षणसाम्य के कारण मान्त्री दीक्षा को आणवी दीक्षा भी माना गया है। बहुत से तन्त्रग्रन्थों में दीक्षा के १० भेद मिलते हैं, यथा—

(१) स्मार्ती दीक्षा, (२) मानसी दीक्षा, (३) यौगी दीक्षा, (४) चाक्षुषी दीक्षा, (५) स्पार्शिकी दीक्षा, (६) वाचिकी दीक्षा, (७) मान्त्रिकी दीक्षा, (८) हौत्री दीक्षा, (९) शास्त्री दीक्षा और (१०) अभिषेचिका दीक्षा।

इसी तरह कतिपय अन्य ग्रन्थों में दीक्षा के स्पर्श आदि ८ प्रकार बताये गये हैं, यथा—

(१) स्पर्श दीक्षा, (२) दृग् दीक्षा, (३) वेध दीक्षा, (४) क्रिया दीक्षा, (५) वर्ण दीक्षा, (६) कला दीक्षा, (७) शाम्भवी दीक्षा और (८) वाग्दीक्षा।

दीक्षा के उपर्युक्त भेदों और उपभेदों का मान्त्री, शाक्ती और शाम्भवी दीक्षा में सम्यक् रूप से समाहार हो जाता है।

दीक्षा के उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों में पञ्चायतनी दीक्षा और शाक्त सम्प्रदाय में क्रियादीक्षा का विशेष प्रचलन है। ग्रन्थ-विस्तारभय से इनका विधि-निरूपण नहीं किया जा रहा है।

कतिपय-जिज्ञासाएँ—उपर्युक्त ९वें श्लोक में दीक्षा की त्रिविधता का उल्लेख शाम्भवी, शाक्ती तथा मान्त्री के क्रम से है; लेकिन इनके लक्षणों का निरूपण पहिले मान्त्री, फिर शाक्ती एवं तत्पश्चात् शाम्भवी के क्रम से किया गया है। इस उलट-फेर का क्या प्रयोजन है? दूसरी जिज्ञासा यह कि क्या इनमें से किसी एक विधि से दीक्षा-ग्रहण को दीक्षा-कर्म की इतिश्री समझा जाय? तीसरी जिज्ञासा यह कि यदि दीक्षा की सम्पूर्णता के लिये ये तीनों दीक्षाएँ आवश्यक हैं तो प्रश्न यह है कि ये तीनों दीक्षाएँ एक साथ दी जायँ अथवा अलग-अलग दी जायँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ की संस्कृत टीका में उपर्युक्त प्रश्नों पर विचार करते हुए कहा गया है कि शारदातिलक की पदार्थादर्श टीका में राघवभट्ट द्वारा यथा-उद्धृत वायवीय

संहिता में भी दीक्षा की त्रिविधता का निरूपण शाम्भवी, शाक्ती और मान्त्री-क्रम से किया गया है और वहाँ इनके लक्षणों के निरूपण का क्रम भी वही है; लेकिन इस कल्प में सबसे प्रथम मान्त्री, फिर शाक्ती तथा अन्त में शाम्भवी का क्रम प्रचलित है; अत: प्रस्तुत ग्रन्थ में तदनुसार लक्षणों का निरूपण किया गया है।

दूसरी बात यह कि दीक्षाकर्म की सम्पूर्णता के लिये ये तीनों दीक्षाएँ आवश्यक हैं और परशुरामकल्पसूत्र 'सर्वाश्च कुर्यात्' (१/३२) के अनुसार ये तीनों दीक्षाएँ एक साथ दी जानी चाहिए; परन्तु वहीं अगले सूत्र (परशुरामकल्पसूत्र) में 'एकैकां वेत्येके' (१/३३) के द्वारा यह सूचित किया गया है कि कतिपय आचार्यों के अनुसार ये तीनों दीक्षाएँ अलग-अलग समय में दी जानी चाहिए। इसका निर्णय गुरुदेव के विवेक पर निर्भर है।

उपदेश—मन्त्रशास्त्र में लाखों मन्त्र बताये गये हैं। क्या इन सभी मन्त्रों के लिये दीक्षा अनिवार्य है। इसका समाधान करते हुए रुद्रयामल में कहा गया है—

उपविद्यासु सर्वासु षट्कर्मादिसाधने।
नात्र दीक्षाद्यपेक्षास्ति नात्राङ्गाङ्गिप्रपूजनम्।।

इसी प्रकार तत्त्वसार नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि यक्षिणी आदि उपविद्याओं एवं वशीकरण आदि षट्कर्म-साधन के लिये तत्-तत् मन्त्रों की क्रियावती आदि दीक्षा लेने की आवश्यकता नहीं है। एतदर्थ तत्-तत् मन्त्रसिद्ध साधक से मन्त्र का उपदेश ले लेना-मात्र पर्याप्त है—

उपविद्यासु सर्वासु तथा प्रयोगसाधने।
दीक्षां विनैव कर्त्तव्य: उपदेश: सदैव हि।।

पिछले १७वें श्लोक में ग्रन्थकार ने दीक्षाभेदों के निरूपण के अवसर पर 'आगम' पद का प्रयोग किया है—'शाम्भवी चेति चाऽऽगमे।' अगले १८वें श्लोक में 'आगम' को परिभाषित किया गया है।

[आगमशब्दार्थ:]

आगत: शिववक्त्रेभ्यो गतश्च गिरिजामुखे।
मतश्च वासुदेवेन तेनागम इहोच्यते।।१८।।

'आगतं', 'गतं' तथा 'मतं' इन पदों के आद्य वर्णों (अक्षरों) के समाहार से 'आगम' शब्द बना है। भगवान् शिव के मुखारविन्द से आगत (निकलकर) एवं भगवती गिरिजा के मुख में 'गत' (प्रविष्ट) तथा भगवान् विष्णु (वासुदेव) द्वारा समर्थित 'मत' (उपदेश) को 'आगम' कहते हैं।।१८।।

[गुरुलक्षणम्]

अथ वक्ष्ये गुरूणान्तु लक्षणं तन्त्रसूचितम्।
उद्धर्त्तुं चैव संहर्त्तुं समर्थो ब्राह्मणोत्तम:।।१९।।

तत्त्वज्ञो मन्त्रयन्त्राणां मर्मवेत्ता रहस्यवित्।
पुरश्चरणकृत् सिद्धो मन्त्रसिद्धिप्रयोगवित्।।२०।।
दाता दान्तः शान्तमना नितान्तशान्तविग्रहः।
अध्यात्मविद् ब्रह्मचारी कुलीनो गुरुरुच्यते।।२१।।

गुरुशिष्यावुभौ मोहादपरीक्ष्य परस्परम्।
उपदेशं ददद् गृह्णन् प्राप्नुयातां पिशाचताम्।।

इति कुलार्णवपञ्चमखण्डीय-चतुर्दशोल्लासवचनेन गुरुशिष्ययोः परस्परम-परीक्ष्य मन्त्रदानग्रहणनिषेधात् परीक्षायाश्च लक्षणज्ञानापेक्षित्वेन गुरुशिष्ययोर्लक्षणे वक्तव्ये क्रमप्राप्तं गुरुलक्षणमाह—**अथेति**। तथा बृहन्नीलतन्त्रे तृतीयपटले—

अनिन्दितवेशधारी कपटेन विनाकृतः।
आधारवान् महाविद्याराधनेषु च तत्परः।।

तत्कल्पाचारशक्तश्च गुरुरित्यभिधीयते।
कौलज्ञानी महायोगी गुरुरेव च दैवतम्।।

कुलीनः सर्वमन्त्राणां दाता सर्वेषु सुन्दरि।

दीक्षाप्रभुः स एवात्मा नापरो वेदपारगः।। इति।

विशिष्याह कुलार्णवे पञ्चमखण्डे त्रयोदशोल्लासे—

श्रीगुरुः परमेशानि शुद्धवेशो मनोहरः।
सर्वलक्षणसम्पन्नः सर्वावयवशोभितः।।

सर्वागमार्थतत्त्वज्ञः सर्वमन्त्रविधानवित्।
लोकसम्मोहनकरो देववत् प्रियदर्शनः।।

सुमुखः सुलभः स्वच्छो भ्रमसंशयनाशकः।
इङ्गिताकारवित् प्राज्ञ ऊहापोहविदुज्ज्वलः।।

अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः सर्वज्ञो देशकालवित्।
आज्ञासिद्धिस्त्रिकालज्ञो निग्रहानुग्रहक्षमः।।

वेधको बोधकः शान्तः सर्वजीवदयापरः।
स्वाधीनेन्द्रियसञ्चारः षड्वर्गविजयक्षमः।।

अग्रगण्योऽतिगम्भीरः पात्रापात्रविशेषवित्।
शिवविष्णुसमः साधुर्मन्ददर्शनदूषकः।।

निर्मलो नित्यसन्तुष्टः स्वतन्त्रो मन्त्रशक्तिमान्।
सद्भक्तवत्सलो धीरः कृपालुः स्मितपूर्णवाक्।।

भक्तप्रिय: सदोदारो गम्भीर: शिष्टसाधक:।
स्वेष्टदेवगुरुज्येष्ठवनितापूजनोत्सुक: ॥
नित्ये नैमित्तिके काम्ये रत: कर्मण्यनिन्दिते।
रागद्वेषभयक्लेशदम्भाहङ्कारवर्जित: ॥
स्वविद्यानुष्ठानरतो धर्मादीनामुपार्जक:।
यदृच्छालाभसन्तुष्टो गुणदोषविभेदक:॥
स्त्रीधनादिष्वनासक्तो दु:सङ्गव्यसनादिषु।
सर्वाहम्भावसंयुक्तो निर्द्वन्द्वो नियतव्रत:॥
अलोलुपो ह्यसङ्कल्पपक्षपाती विचक्षण:।
वित्तविद्यादिभिर्मन्त्रयन्त्रतन्त्राद्यविक्रयी ॥
नि:सङ्गो निर्विकल्पश्च निर्णीतार्थोऽतिधार्मिक:।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी निरपेक्षो निरामय:॥
इत्यादिलक्षणोपेत: श्रीगुरु: कथित: प्रिये॥ इति।

गन्धर्वतन्त्रे षड्विंशपटलेऽपि 'गुरु: सर्वगुणोपेतो दोषैरस्पृष्टमानस:' इत्यादि। एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्

गुरु एवं शिष्य-लक्षण—दीक्षादाता सद्गुरु को संसारसागर से शिष्य को तारने तथा उसके अज्ञान एवं पापों का विनाश करने में समर्थ एवं सक्षम उत्तम कुल का ब्राह्मण होना चाहिए। यदि वह इतना सक्षम और समर्थ नहीं है तो उससे दीक्षा लेना व्यर्थ है; क्योंकि ज्ञान की प्राप्ति और पापराशि के संहार के लिये ही दीक्षा ली जाती है। साथ ही गुरु को तत्त्वज्ञ अर्थात् तत्त्वज्ञानी तथा मन्त्र और यन्त्र के रहस्यों को जानने वाला होना चाहिए। यदि वह मन्त्र-यन्त्र के रहस्यों से परिचित नहीं है तो उससे प्राप्त मन्त्र ककहरे की किताब की तरह अक्षरों का बेजान संयोजनमात्र होगा। इसके साथ ही उसे पुरश्चरणसिद्ध तथा सिद्ध मन्त्रों के प्रयोग का सम्यक् ज्ञान एवं अनुभव होना चाहिए। जिसने स्वयं पुरश्चरण नहीं किया तथा जिसे मन्त्रों के प्रयोग का ज्ञान नहीं है, वह किस तरह इस सम्बन्ध में शिष्य का मार्गदर्शन एवं दिशा-निर्देश कर पायेगा? ये विशेषताएँ उसकी साधना-सिद्धि के ज्ञापक हैं। दीक्षादाता सद्गुरु को उदार हृदय, शान्त स्वभाव, आध्यात्मविद्, ब्रह्मचारी एवं कुलीन होना चाहिए। ये उसकी चरित्रगत विशेषताएँ हैं॥१९-२१॥

विमर्श—विभिन्न तन्त्रग्रन्थों में सद्गुरु के लक्षणों का विस्तार से निरूपण किया गया है। बृहन्नीलतन्त्र, गन्धर्वतन्त्र, कुलार्णवतन्त्र आदि में इसका विशद् निरूपण है। कुलार्णवतन्त्र में सद्गुरु के ७५ लक्षण बताये गये हैं। अन्य सार-तत्त्व उपर्युक्त तीन श्लोकों में प्रस्तुत किया गया है।

[शिष्यलक्षणम्]

सुन्दरः सुमुखः स्वच्छः प्रज्ञावान् सुस्थिराशयः।
अलुब्धः स्थिरगात्रश्च प्रेक्षाकारी जितेन्द्रियः।।२२।।
आस्तिको दृढभक्तिश्च गुरौ मन्त्रे च दैवते।
एवम्भूतो भवेच्छिष्यस्त्वितरो दुःखकृद् गुरोः।।२३।।

शिष्यलक्षणमाह—**सुन्दर इति**। गन्धर्वतन्त्रे षड्विंशपटलेऽपि—

यथायोग्यगुणैः पूर्वैर्युक्तश्चातिप्रियंवदः।
विशुद्धदेहवदनः शुक्लाम्बरधरः शुचिः।।
विमुखः परनिन्दासु देवतादर्शनेषु च।
परीयवनिताभूमिपीडासु विगतस्पृहः।।
दयान्वितः सर्वजने प्रेक्षाकारी जितेन्द्रियः।
आस्तिको गुरुभक्तश्च शुद्धिमान् सुस्थिराशयः।।
अलुब्धः स्थिरभेदश्च गुरुवाक्यप्रमाणकः।
सर्वदा दृढभक्तिश्च गुरौ मन्त्रे सदैवते।।
एवंविधो भवेच्छिष्यस्त्वितरो दुःखकृद् गुरोः।। इति।

निषिद्धगुरुशिष्यलक्षणन्तु ग्रन्थकृता न धृतमिति अस्माभिरप्युपेक्षितम्, तद्विस्तरस्तु कुलार्णवादौ द्रष्टव्यः।

शिष्य के लक्षण—मन्त्र-ग्रहीता शिष्य को सुन्दर, सुमुख अर्थात् हँसमुख, स्वच्छ, दृढ़-चित्त, लोभ-लालचरहित, स्वस्थ शरीर, जितेन्द्रिय, आस्तिक तथा गुरुदेव, मन्त्र एवं देवता के प्रति दृढ़ भक्ति रखने वाला होना चाहिए। यदि उसमें ये गुण नहीं हैं तो वह गुरु के लिये दुःखदायी होगा।।२२-२३।।

विमर्श—अन्य तन्त्रग्रन्थों में भी निषिद्ध गुरु और निषिद्ध शिष्य के लक्षणों का विस्तार से निरूपण किया गया है। यथा—कुलार्णवतन्त्र (त्रयोदश उल्लास) में निषिद्ध एवं त्याज्य शिष्य के १२८ लक्षण बताये गये हैं।

[दीक्षायाः पूर्वं शिष्यो गुरुं सेवेत]

आदौ सेवा गुरोः कार्या शरीरवाङ्मनोधनैः।।२४।।

दीक्षा के पूर्व गुरुसेवा—दीक्षार्थी शिष्य को दीक्षाग्रहण के पूर्व तन-मन-धन से पर्याप्त काल तक गुरुदेव की सेवा करनी चाहिए।।२४।।

विमर्श—उपर्युक्त निर्देशवाक्य से स्पष्ट है कि न तो अपरिचित और अपरीक्षित व्यक्ति को दीक्षा दी जाय और न ऐसे व्यक्ति से दीक्षा ली जाय। देशी कहावत भी है—'गुरु कीजिये जान के, पानी पीजै छान के।' इसका तात्पर्य यह

है कि परस्पर व्यवहार के द्वारा पर्याप्त समय तक एक-दूसरे को भली-भाँति परखने के बाद दीक्षा दी जाय अथवा दीक्षा ली जाय।

[गुरुसेवाप्रकारः]

शुभेऽह्नि स्नानमाचर्य सम्पूज्य गणनायकम्।
सूर्यं हरिं शिवं दुर्गां वाणीञ्च कमलालयम्।।२५।।
मातरं पितरं नत्वा ब्राह्मणान् परितोष्य च।
फलपुष्पसुभोज्यादीन् गृहीत्वा भक्तिसंयुतः।।२६।।
पुरुषार्थसमावाप्त्यै सच्छिष्यो गुरुमाश्रयेत्।
शिववत् पूजयेद् भक्त्या शिवज्ञानप्रकाशकम्।।२७।।
त्रिधा प्रदक्षिणीकृत्य दण्डवत् प्रणमेत् क्षितौ।
विज्ञापयेत् समुत्थाय जानुन्यामवनीं गतः।।२८।।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा प्रणिपत्य पुनर्गुरुम्।
गुरोराज्ञां समासाद्य विरमेद् विधिपूर्वकम्।।२९।।
गुरूच्यमाने वचने दद्यादित्थं वचस्तदा।
प्रसीद नाथ देवेति स तथेति कृतादरः।।३०।।

गुरुसेवा-प्रकार—किसी भी शुभ दिन में प्रातःकाल स्नान करने के बाद गणनायक गणेशजी, सूर्य, विष्णु, शिव, दुर्गा और ब्रह्माजी की पूजा करें। माता-पिता को पूर्ण श्रद्धा के साथ प्रणाम करें। अभिवादन एवं दक्षिणा से ब्राह्मणों को संतुष्ट करें। इसके बाद दीक्षार्थी को फल, पुष्प एवं सुमधुर व्यञ्जन लेकर पुरुषार्थ-चतुष्टय की सम्प्राप्ति के लिये पूर्ण श्रद्धा और भक्ति के साथ गुरुदेव की सेवा में उपस्थित होना चाहिए। गुरुदेव के समीप पहुँचकर शिवज्ञान के प्रकाशक गुरुदेव को शिव मानकर भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करें। पूजा के बाद तीन बार प्रदक्षिणा करके दण्डवत् प्रणाम करें। प्रणाम करने के बाद उठकर बैठ नहीं जायँ; अपितु गुरुदेव के समक्ष घुटनों के बल बैठकर उन्हें हाथ जोड़कर पुनः प्रणाम करें। अपनी ओर से कुछ नहीं बोलें। जब अर्चन और प्रणाम से अभिभूत एवं प्रसन्नचित्त गुरुदेव आने का आशय पूछें तो उनके चरणों पर प्रणत होकर केवल इतना निवेदन करें—'हे देव! कृपा कीजिये।' इतने शब्दों में ही दीक्षादान की याचना छिपी हुई हैं।।२५-३०।।

प्रतिकूलं गुरोर्नित्यं मनसापि न कारयेत्।।३१।।
नारायणधिया नित्यमेकग्रामनिवासिनम्।
कर्मणा मनसा वाचा वन्दनं समुपाचरेत्।।३२।।
प्रातः शिरसि शुक्लाब्जे द्विनेत्रं द्विभुजं गुरुम्।
वराभयकरं शान्तं स्मरेत्तन्नामपूर्वकम्।।३३।।

गुरुं नाम्ना न भाषेत जपकालादृते क्वचित्।
श्रीनाथ देव स्वामीति विवादे साधने वदेत्।।३४।।

दीक्षा के बाद भूलकर भी वह कार्य न करें, जो गुरुदेव को पसन्द नहीं हो। गुरु-ग्राम में निवास करने वाले शिष्य को चाहिए कि वह गुरुदेव को नारायण की प्रतिमूर्ति मानकर प्रतिदिन उनकी चरण-वन्दना करे। प्रतिदिन प्रातःकाल श्वेत कमल पर आसीन, वर एवं अभय मुद्राधारी, द्विभुज एवं द्विनेत्र गुरुदेव के पुण्यनाम का स्मरण करते हुए उन्हें प्रणाम करे। जप-काल को छोड़कर किसी अन्य समय में उनके नाम का उच्चारण या उल्लेख नहीं करे। यदि जरूरत ही पड़ जाय तो 'श्रीनाथ' 'स्वामी' आदि सम्मानसूचक शब्दों से उनका उल्लेख करे।।३१-३४।।

[गुरुसेवाफलम्]

ब्रह्मविष्णुशिवादीनां पूजने यत् फलं लभेत्।
तत् फलं समवाप्नोति प्रत्यहं वन्दने गुरोः।।३५।।

ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देवताओं की विधिवत् प्रदीर्घ पूजा से जो फल मिलता है, वह फल प्रतिदिन गुरुदेव की वन्दना करने से सहज ही मिल जाता है।।३५।।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
भवार्णवतरिः शान्तो गुरुरेव परा गतिः।।३६।।

शिष्य के लिये गुरुदेव ही ब्रह्मा हैं, गुरुदेव ही विष्णु हैं और गुरुदेव ही महेश्वर अर्थात् शिव हैं। गुरुदेव ही उसे संसारसागर से पार लगाते हैं। गुरुदेव ही शिष्य के लिये परागति अर्थात् मोक्षस्वरूप हैं।।३६।।

विमर्श—गुरुगीता में गुरु-वन्दना है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

ब्रह्मा-विष्णु और महेश (शिव) तीन देव हैं, तीन देवमूर्तियाँ हैं, जिनमें से किसी एक का समाश्रय लेकर परब्रह्म अथवा परमशिव को प्राप्त किया जा सकता है। इनमें से प्रत्येक देव-मूर्ति का संसार के प्रति विशिष्ट दायित्व या कार्य है। प्रजापिता ब्रह्माजी संसार की रचना करते हैं। भगवान् विष्णु संसार का पालन करते हैं। इस पालन कर्म में संसार का मात्र भरण-पोषण ही नहीं; अपितु दुष्प्रवृत्तियों के संताप से संसार की रक्षा का कार्य भी शामिल है। इसीलिये संसार की रक्षा के लिये भगवान् विष्णु को बार-बार अवतार लेना होता है। बार-बार रक्षात्मक प्रयासों के बावजूद संसार के परिपाककाल में संताप सर्वथा असह्य हो जाता है। भगवान् शिव उसके परम कल्याण के लिये प्रलय उपस्थित कर संसार को पुनर्निर्माण के लिये

उसके मूल बिन्दुरूप में समाहित कर देते हैं। जीव-जगत् मय इस ब्रह्माण्ड के लिये ये तीनों देव पृथक्-पृथक् रूप से जिन दायित्वों और कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हैं, गुरुदेव अकेले ही शिष्य के हितलाभ के लिये उन समस्त कार्यों की सम्पादित करते हैं। ज्ञानराशि का वपन करके ब्रह्मा के रूप में शिष्य के नये मनो-आध्यात्मिक भावलोक का निर्माण करते हैं तथा विष्णु के रूप में उसके आध्यात्म-जगत् का संरक्षण करते हुए उसे परमशिव तक पहुँचा देते हैं। इसीलिये वे शिष्य के लिये ब्रह्मा-विष्णु-शिवरूपात्मक त्रिमूर्तिसमुच्चय हैं।

[गुरोरग्रे मानवान्तरपूजानिषेधः]

गुरौ तिष्ठति यस्त्वन्यं मानुषं पूजयेन्नरः।
स दुर्गतिमवाप्नोति सत्यं सत्यं न संशयः।।३७।।

गुरुदेव की उपस्थिति में अर्थात् उनके सामने किसी अन्य व्यक्ति की पूजा नहीं करनी चाहिए। जो शिष्य ऐसा करता है, निस्सन्देह उसकी दुर्गति होती है।।३७।।

[गुरुमङ्गीकृत्य तत्र वैमनस्यं दोषाय]

प्रतिपद्य गुरुं यस्तु मोहाद्विप्रतिपद्यते।
युगकोटीः स नरके पच्यते नात्र संशयः।।३८।।

एक बार गुरु बनाकर अर्थात् गुरु के रूप में स्वीकार करके बाद में मोह या अज्ञान के कारण उनके प्रति वैमनस्य (मनमुटाव) रखने वाले व्यक्ति को कोटि-कोटि युगों तक नरक में सड़ना पड़ता है।।३८।।

[गुर्वाज्ञाया अपरिपालनं नरकाय भवति]

ये गुर्वाज्ञां न कुर्वन्ति पापिष्ठाः पुरुषाधमाः।
न तेषां नरकक्लेशान्निस्तारोऽस्ति कथञ्चन।।३९।।

जो पापी नराधम गुरुदेव की आज्ञा का पालन नहीं करते, उन्हें नरक-यातना से कभी भी मुक्ति नहीं मिलती।।३९।।

[गुरोरधिक्षेपादौ दोषः]

अधिक्षिप्य गुरुं मोहात् परुषं प्रवदन्ति ये।
शूकरत्वं भवत्येव तेषां जन्मशतेष्वपि।।४०।।

जो व्यक्ति गुरुदेव पर आक्षेप अथवा आरोप लगाकर उनके प्रति कठोर भाषा का प्रयोग करते हैं, उन्हें गालियाँ देते हैं, दुर्वचन बोलते हैं, उन्हें सैकड़ों जन्मों तक सुअर की योनि में ही जन्म लेना पड़ता है।।४०।।

[गुरुद्रोहपरिणामः]

ये गुरोर्द्रोहिणो मूढाः सततं पापकारिणः।
तेषान्तु यावत् सुकृतं दुष्कृतं स्यान्न संशयः।।४१।।

जो पापी गुरुद्रोह करते हैं, उनके इस पाप के कारण उनके पुण्य कर्म भी पाप बन जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि गुरुद्रोहियों को उनके अच्छे एवं पुण्यकर्मों का सुफल नहीं मिलता। उनके पुण्यकर्म भी पापफल देने वाले होते हैं॥४१॥

[गुरुभक्तेर्मुक्तिप्रयोजकत्वम्]

गुरौ येषां स्थिरा भक्तिर्मुक्तिस्तेषां करे स्थिता।
रात्रौ दिने च तस्याज्ञां दासवत् परिपालयेत्॥४२॥

गुरुदेव के प्रति जिनके हृदय में दृढ़ एवं स्थिर भक्ति है, उनकी मुक्ति उनके हाथ में रखी हुई है। अत: गुरुदेव के आदेशों का बिना कोई नानुकुर किये अक्षरश: पालन करना चाहिए॥४२॥

[गुरौ शिष्यस्य व्यवहार:]

असह्यमशुभं तद्वद्बहुवाक्यं परित्यजेत्।
अभिमानं न कुर्वीत धनजात्याश्रमादिभि:॥४३॥

गुरु के प्रति शिष्य का व्यवहार—इन आठ श्लोकों में गुरुदेव के प्रति शिष्य के शिष्ट व्यवहार का निरूपण किया गया है। शिष्य कभी भी गुरुदेव के प्रति अशोभनीय एवं अपमानपूर्ण भाषा का उपयोग नहीं करे॥४३॥

गुरुद्रव्यं न भोक्तव्यं तेनादत्तं कदाचन।
दत्तं प्रसादवद् ग्राह्यं लोभतो न कदाचन॥४४॥

गुरुदेव के समक्ष अपनी सम्पन्नता, अपने वैभव, अपनी जाति, अपनी कुलीनता, अपने आश्रम की श्रेष्ठता, अपने पद का अभिमान नहीं करे। गुरुदेव की सम्पत्ति एवं द्रव्य का उपभोग नहीं करे। यदि गुरुदेव प्रसन्न होकर कुछ प्रदान करें तो उसके प्रति लालच न करते हुए उसे प्रसादरूप में ग्रहण करे॥४४॥

अद्वैतं देवपूजाञ्च जपयज्ञस्तवादिकम्।
परिहासं प्रलापञ्च गुरो: साक्षाद् विवर्जयेत्॥४५॥

गुरुदेव की उपस्थिति में उनके समक्ष न तो देवपूजा करे, न मन्त्रजप और न ही यज्ञ आदि करे; क्योंकि ऐसा करने से गुरुदेव की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन होता है। गुरुदेव की अनुमति एवं आदेश से चक्रार्चन, हवन, पुरश्चरण आदि करने में प्रत्यवाय नहीं है। गुरुदेव के समक्ष हास-परिहास, हँसी-दिल्लगी तथा व्यर्थ का प्रलाप नहीं करे॥४५॥

पादुकायोगपट्टादिगुरुचिह्नानि साधनम्।
न लङ्घयेत् स्पृशेन्नैव पादाभ्यां प्रणमेत् सदा॥४६॥

गुरुदेव की पादुका, योगपट्ट आदि अर्थात् उनके वैयक्तिक प्रयोग की वस्तुओं का कभी लंघन नहीं करे। न पैरों से उनका स्पर्श करे। इन वस्तुओं के प्रति सदैव पूज्यभाव रखे॥४६॥

काष्ठासनोपवेशञ्च यानाद्यारोहणं तथा।
पल्यङ्कशयनं तद्वत्तथा पादप्रसारणम्।।
अङ्गभङ्गञ्च लीलाञ्च न कुर्याद् गुरुसन्निधौ।।४७।।

गुरुदेव के समक्ष न तो काष्ठासन (कुर्सी-चौकी आदि) पर बैठे, न गाड़ी (रथ आदि) में सवार हो, न पलंग पर लेटे और न उनके सामने पैर फैलाये, न अँगड़ाई ले, न हाव-भाव करे।।४७।।

गमनागमनं कुर्यात् प्रणम्य गुरुपादुकाम्।
विचार्य कार्यं कुर्वीत गुरुवाक्यप्रसादवान्।।४८।।

यदि कहीं आना-जाना हो तो गुरु-पादुका को प्रणाम करके गमनागमन करे। गुरुदेव के आदेशों पर विचार करके अर्थात् उनके आदेशों को भली-भाँति समझकर तदनुसार कार्य करे, ताकि कोई भूल-चूक या गलती की गुंजाइश न रहे।।४८।।

छायां न लङ्घयेत्तद्वन्न गच्छेत् पुरतो गुरोः।
पश्चात् पादेन निर्गच्छेत् प्रणम्य च गुरोर्गृहात्।।४९।।

गुरुदेव की छाया का उल्लंघन नहीं करे अर्थात् चलते समय उनसे आगे बढ़ने का प्रयास नहीं करे। गुरुदेव के आगे-आगे नहीं चले। यदि गुरुदेव के घर से आना हो तो पीठ फेरकर बाहर नहीं निकले। उन्हें प्रणाम करके उलटे पैर बाहर निकलना चाहिए।।४९।।

गुरोरग्रे न कुर्वीत प्रभावं शिष्यसंग्रहम्।।५०।।

गुरुदेव के समक्ष अपना प्रभाव बढ़ाने के लिये शिष्यसंग्रह नहीं करना चाहिए।।५०।।

विमर्श—उपर्युक्त श्लोकों का आशय यह है कि गुरुदेव की उपस्थिति में अथवा उनके समक्ष शिष्य को कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे उनके प्रति बेअदबी हो, अवमानना हो और अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन हो। जहाँ तक गुरुदेव की उपस्थिति में देवता के अर्चन के निषेध का सम्बन्ध है, इसका कारण यह है कि शिष्य के लिये गुरुदेव ही प्रथम वन्दनीय है, जैसा कि कबीर ने भी कहा है—

गुरु गोविन्द दोऊ मिले, काके लागूँ पांय।
बलिहारी गुर आपनो, गोविन्द दियो मिलाय।।

कहा तो यहाँ तक गया है कि यदि पूजा या जप करते समय अचानक गुरुदेव आ जायँ तो पूजा या जप छोड़कर सर्वप्रथम उनकी वन्दना करे। उनकी अनुमति मिलने पर फिर से पूजा या जप का क्रम प्रारम्भ करे। उसमें कोई प्रत्यवाय नहीं है और न ऐसा करने से पूजा या जप का क्रम भंग होता है। यथार्थ यह है कि गुरुदेव के परोक्ष में शिष्य जो भी अर्चन या जप करता है, वह गुरुदेव की आज्ञा का पालन

है। इसीलिये कतिपय ग्रन्थों में यह विनियोगवाक्य मिलता है—'अमुकदेवताप्रीत्यर्थे गुरोराज्ञया जपं पूजनं करिष्ये।'

[गुरोस्तोषस्येष्टसाधनत्वं रोषस्येष्टप्रतिबन्धकत्वञ्च]

गुरौ तुष्टे शिवस्तुष्टः शिवे तुष्टे जगत्त्रयम्।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।।५१।।

गुरुदेव ही शिवस्वरूप हैं। भगवान् शिव की जागतिक प्रतिमूर्ति हैं। अतः यदि गुरुदेव संतुष्ट हैं तो भगवान् शिव भी संतुष्ट और प्रसन्न हैं। यदि भगवान् शिव प्रसन्न और सन्तुष्ट हैं तो सारा जगत् प्रसन्न और संतुष्ट है। यदि किसी अपराधवश भगवान् शिव नाराज हो जायँ तो गुरुदेव उनके कोप से शिष्य की रक्षा कर सकते हैं; लेकिन यदि गुरुदेव नाराज हो जायँ तो उनके कोप से भगवान् शिव भी शिष्य की रक्षा नहीं कर सकते।।५१।।

विमर्श—इस प्रसंग में काक-भुशुण्ड को उज्जयिनी में भगवान् महाकाल के शाप तथा अम्बरीष एवं दुर्वासा की पौराणिक कथाएँ उल्लेखनीय दृष्टान्त हैं।

[तत्रोपसंहारः]

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरोः कोपं न कारयेत्।
एवंविधविधानेन सेवां कुर्यादतन्द्रितः।।५२।।

इसीलिये हमेशा यह प्रयास करते रहना चाहिए कि गुरुदेव कभी नाराज न हों और कभी कोप नहीं करें। हरदम उनकी ऐसी सेवा करनी चाहिए कि उनके रुष्ट और क्रुद्ध होने का मौका ही न आने पाये।।५२।।

[वर्णेषु कतमः कियता कालेन गुरुसेवया शिष्यत्वयोग्यतामर्हति]

अब्दैकेन भवेद् योग्यो ब्राह्मणोऽब्दद्वयान्नृपः।
वैश्यो वर्षैस्त्रिभिः शूद्रश्चतुर्भिर्वत्सरैर्गुरोः।।५३।।

अब्दैकेनेति। तन्त्रराजे द्वितीयपटले—

एकद्वित्रिचतुःपञ्चवर्षाण्यालोच्य योग्यताम्।
भक्तियुक्तान् गुणांश्चापि क्रमाद् वर्णेषु सङ्करे।।

पश्चादुक्तक्रमेणैव वदेद्विद्यामनन्यधीः।
अन्यथा चेद् वदेन्नाशं सशिष्यो गुरुराप्नुयात्।।

इति वचनाभ्यामुक्तक्रमेणैव ब्राह्मणादिवर्णचतुष्टयस्य परीक्षाकालमभिधाय सङ्करवर्णानां पञ्चभिर्वर्षैः परीक्षाभिहितेति विशेषो दृश्यते।

पिछले २४वें श्लोक में कहा गया है कि दीक्षा लेने के पूर्व दीक्षार्थी को तन-मन-धन से गुरुदेव की सेवा करनी चाहिये। इसी तारतम्य में इस श्लोक में कहा गया है कि गुरुदेव की यथाशक्ति एक वर्ष तक सेवा करने से ब्राह्मण दीक्षार्थी में,

दो वर्ष तक सेवा करने से क्षत्रिय दीक्षार्थी में, तीन वर्षों तक सेवा करने से वैश्य तथा चार वर्षों तक सेवा करने से शूद्र दीक्षार्थी में शिष्य बनने की अथवा दीक्षा लेने की पात्रता आती है।।५३।।

विमर्श—वस्तुत: विभिन्न वर्णों के दीक्षार्थियों के लिये दीक्षा की यह परिवीक्षा अवधि है। सभी तन्त्रग्रन्थों में परिवीक्षा की यही अवधि निर्धारित की गई है। तन्त्रराज-तन्त्र में वर्णसंकर दीक्षार्थी की परिवीक्षा अवधि पाँच वर्ष बताई गई है। आज के युग में जब वर्ण-व्यवस्था ही गड्ड-मड्ड हो गई है, इस फार्मूले का अक्षरश: पालन नहीं किया जा सकता। इस शास्त्रीय व्यवस्था का निष्कर्ष यह है कि देश, काल और परिस्थिति के अनुसार दीक्षार्थी की योग्यता और पात्रता का पर्याप्त समय तक बहुविध आकलन करके ही उसे दीक्षा प्रदान की जाय। सावधानीपूर्वक आकलन का एकमात्र प्रयोजन यही है कि हड़बड़ी और जल्दबाजी में दीक्षादान जैसा महादान किसी अपात्र व्यक्ति को देकर बाद में पछताना न पड़े।

[गुरो: कर्त्तव्यम्]

गुरुश्चात्मविशुद्ध्यर्थं शिष्यांस्तु परितोषयेत्।
चिरं विचार्य यत्नेन देयमन्त्रान् विचारयेत्।।५४।।

गुरुदेव भी आत्म-शुद्धि के लिये शिष्यों को सन्तुष्ट करें और अच्छी तरह विचार कर उन्हें मन्त्र प्रदान करें।।५४।।

विमर्श—दीक्षा-अभिलाषी द्वारा इतनी प्रदीर्घ अवधि तक सेवा का ऋणभार गुरुदेव पर आ जाता है। गुरु के लिये इस ऋण का मोचन आवश्यक है और इस ऋण का मोचन होता है—सेवाभावी दीक्षार्थी को मन्त्रदान से। मन्त्र प्राप्त करने से दीक्षार्थी संतुष्ट होता है और उसके सन्तोष से ऋण से गुरु की आत्मशुद्धि होती है। अत: शिष्य को उसके लिये अनुकूलतम मन्त्र की दीक्षा प्रदान की जाय।

दीक्षार्थी के लिये अनुकूलतम मन्त्र के चयन के लिये तन्त्रशास्त्र में अनेक चक्र बताये गये हैं। रुद्रयामल के अनुसार इन सभी चक्रों में 'अकथह' चक्र सर्वोत्तम है, अत: सर्वप्रथम इसी चक्र का निरूपण किया जा रहा है।

[अ-क-थ-ह-चक्रम्, तत्र रेखापात:]

पूर्वाग्रा: पञ्च रेखा: स्युर्दक्षिणाग्रा लिखेत्तया।
चतुश्चतु:प्रकारेण चतु:कोष्ठं भवेदथ।।५५।।

पूर्ववचने देयमन्त्रान् विचारयेदित्युक्तम्, तत्र मन्त्रविचारक्रमे चक्रस्यापेक्षितत्वात्—

महाकथहचक्रार्थं सर्वचक्रोत्तमोत्तमम्।
यस्य विचारमात्रेण कामरूपी भवेन्नर:।।

इति रुद्रयामलोत्तरखण्डीयपञ्चमपटलवचनेन,

वैष्णवे च तथा शैवे देवीमन्त्रे च भैरव।
अकथहं महाचक्रं विचार्य यत्नपूर्वकम्।
यो गृह्णाति महामन्त्रं स शिवो नात्र संशयः।।

इति रुद्रजामलोत्तरखण्डीयतृतीयपटलवचनेन च अकथहचक्रस्य सर्वचक्रोत्तमत्वप्रतिपादनात् फलविशेषप्रसवितृत्वावधारणाच्च प्रथमं तदेव निरूपयति—**पूर्वेत्यादिना**। तत्र पश्चिमतः पूर्वाग्राः पञ्च, दक्षिणाग्राश्च पञ्च रेखाः कर्त्तव्याः। एवं कृते षोडश कोष्ठानि सम्पद्यन्ते।

अकथह चक्र—अकथह चक्र बनाने के लिये पश्चिम से पूर्व की ओर पाँच तथा उत्तर से दक्षिण की ओर पाँच सरल रेखाएँ खींचें। पाँच आड़ी और पाँच खड़ी रेखाएँ खींचने से सोलह कोष्ठकों वाला वर्ग बन जायगा।।५५।।

ईशानस्थचतुःकोष्ठमाग्नेय्याञ्च चतुस्तथा।
तदधःस्थं चतुःकोष्ठं तद्वामस्थं तथैव च।।५६।।

तेषाञ्च षोडशकोष्ठानां चतुर्धा विभागः कर्तव्यः। तत्र ऐशानं कोष्ठचतुष्कम्, आग्नेयं कोष्ठचतुष्कम्, तदधःस्थम् आग्नेयकोष्ठचतुष्कादधःस्थं नैर्ऋतकोष्ठचतुष्कम्, तद्वामस्थं नैर्ऋतकोष्ठचतुष्कवामस्थं वायव्यं कोष्ठचतुष्कञ्च कल्पयेदित्येवाह पूर्ववचने चतुश्चतुःप्रकारेणेत्यनेन।

इस सोलह कोष्ठकों वाले वर्ग को चार भागों में विभक्त करने पर प्रत्येक वर्ग में चार-चार कोष्ठक आएँगे। बाँयीं ओर के प्रथम चार कोष्ठकों की संख्या ईशान-कोणचतुष्टय है। उसके सामने चार कोष्ठकों वाला आग्नेय कोणचतुष्टय है। इसके नीचे नैर्ऋत्य कोणचतुष्टय और इसके सामने तथा ईशानचतुष्टय के नीचे वायव्य कोणचतुष्टय है।।५६।।

[कोष्ठानां संज्ञा]

सिद्धं साध्यं सुसिद्धञ्च रिपुञ्च(?) समुदाहृतम्।।५७।।

तत्र प्रथमचतुष्कं सिद्धाख्यम्, द्वितीयचतुष्कं साध्याख्यम्, तृतीयचतुष्कं सुसिद्धाख्यम्, चतुर्थचतुष्कञ्चारिरिति संज्ञां भजते।

चार-चार कोष्ठकों वाले ये जो चार चतुष्क या चतुष्टय हैं, उनमें से प्रथम का नाम सिद्ध, दूसरे का साध्य, तीसरे का सुसिद्ध और चौथे का नाम अरि है।।५७।।

[तत्र वर्णन्यासक्रमः]

एतेषामाद्यंकोष्ठेषु द्वितीयेषु ततः परम्।
तृतीयेषु चतुर्थेषु क्रमादावृत्तितः पुनः।।५८।।

एतेषामिति। एतेषां षोडशकोष्ठानाम् आद्यकोष्ठचतुष्कं ईशानस्थेष्वित्यर्थः। द्वितीयेषु आग्नेयेषु, तृतीयेषु नैर्ऋतेषु, चतुर्थेषु च प्रागुक्तन्यासक्रमेण लभ्येषु सिद्धादि-चतुश्चतुः-कोष्ठेषु प्रादक्षिण्येनावृत्त्या वक्ष्यमाणान् वर्णान् लिखेदिति परेणान्वयः। अत्र यद्यपि क्रमादावृत्तित इत्यनेन दक्षिणावृत्तिर्वामावृत्तिर्वा विशेषतो नाभिहिता, तथापि—

सर्वेषु गृहमध्येषु प्रादक्षिण्यक्रमेण तु।
अकारादिक्षकारान्तं लिखित्वा गणयेत्ततः।। ५।५

इति रुद्रजामलपञ्चमपटलवचनेन दक्षिणावृत्तिः स्फुटमवगम्यते। अत एव तन्त्रसारकृतापि 'दक्षिणावर्त्तयोगेन कोष्ठे वर्णांल्लिखेत् सुधी'रित्युत्तम्। राघवभट्टेनापि शारदाटीकायां 'प्रादक्षिण्येने'त्यभिहितम् इति निष्कर्षः।

इन सोलह कोष्ठकों में ईशान के प्रथम कोष्ठक से प्रारम्भ कर प्रदक्षिणक्रम से वर्णमाला के वर्णों को लिखना प्रारम्भ करें और वर्णलेखन का क्रम उस समय तक जारी रखे, जब तक इन कोष्ठकों में सभी वर्ण न लिख लिये जाएँ।।५८।।

अकारादिविसर्गान्तान् कादि-मान्ताल्लिखेत् सुधीः।
यादि-सान्तान् समालिख्य हलक्षांश्च लिखेत्ततः।।५९।।

तान् वर्णानाह—**अकारेत्यादि।** अकारादिविसर्गान्तान्, ततः ककारतो मकारान्तान्, ततो यकारतः सकारान्तान् ततश्च हलक्ष इति वर्णत्रयं लिखेत्।

एतेनैतदुक्तं भवति—आद्यकोष्ठचतुष्कस्य प्रथमे कोष्ठे अकारम्, द्वितीयचतुष्कस्य प्रथमे आकारम्, तृतीयचतुष्कस्य प्रथमे इकारम्, चतुर्थचतुष्कस्य प्रथमे ईकारम्। एवमाद्यचतुष्कस्य द्वितीये उकारम्, द्वितीयचतुष्कस्य द्वितीये ऊकारम्, तृतीयचतुष्कस्य द्वितीये ऋकारम्, चतुर्थचतुष्कस्य द्वितीये ॠकारम्। एवमाद्यचतुष्कस्य तृतीये ऌकारम्, द्वितीयचतुष्कस्य तृतीये ॡकारम्, तृतीयचतुष्कस्य तृतीये एकारम्, चतुर्थचतुष्कस्य तृतीये ऐकारम्। एवं प्रथमचतुष्कस्य चतुर्थे ओकारम्, द्वितीयचतुष्कस्य चतुर्थे औकारम्, तृतीयचतुष्कस्य चतुर्थे अंकारम्, चतुर्थचतुष्कस्य चतुर्थे अःकारं लिखेत्। इति स्वरवर्णन्यासक्रमः। एवमनेनैव क्रमेण ककारादिक्षकारान्तान् वर्णान् लिखेत्। तथाच प्रथमचतुष्कस्य प्रथमे कोष्ठे ककारम्, द्वितीयचतुष्कस्य प्रथमे खकारम्, तृतीयचतुष्कस्य प्रथमे गकारम्, चतुर्थचतुष्कस्य प्रथमे घकारं लिखेत्; एवमनया रीत्या ङकारादीनां क्षकारान्तानामपरेषामपि वर्णानां प्रादक्षिण्येन पुनः पुनरावृत्त्या न्यासः कर्तव्य इति। अत्र—

अकारादिहकारान्तं मूलकोष्ठादितः सुधीः।
दक्षिणावर्त्तयोगेन कोष्ठे वर्णांल्लिखेत् सुधीः।।

इति तन्त्रसारधृतविश्वसारवचनेन अकारादिहकारान्तानां वर्णानां चक्रे सन्निवेश उपदिश्यते, ततश्च 'हलक्षांश्च लिखेत्ततः' इति श्रीतत्त्वचिन्तामणिवचनेन सह तन्त्रसारवचनविरोधः स्यात्। रुद्रजामलीयपञ्चमपटले अकथहचक्रप्रकरणे—

अकारादिक्षकारान्तं लिखित्वा गणयेत्ततः। इति।

तन्त्रराजतन्त्रप्रथमपटले च—

एवं चतुर्षु कोष्ठेषु क्षान्तावधि समालिखेत्।

इत्युक्तम्, एतदपि वचनद्वयम् अकारादिक्षकारान्तवर्णसन्निवेशनस्यैव समर्थकम्। प्रकृते तथानङ्गीकारे लादिक्षादिनाम्नां दीक्षार्थिनां मन्त्रविचारासम्भवः। अतोऽकारादि-क्षकारान्तमित्याकारकं विश्वसारवचनं विकृतं सदकारादिहकारान्तमित्याकारेणाधुनातनेषु तन्त्रसारेषु वर्त्तत इति प्रतीमः। न च,

अपभ्रंशाक्षरं ल-क्षौ हित्वा षण्डचतुष्टयम्।
मन्त्राक्षरैः सहैकैकं नामवर्णान् विशोधयेत्।।

इत्यागमतत्त्वविलास-राघवभट्टधृतपिङ्गलामतवचने लक्षयोर्वर्जनदर्शनात् प्रागुक्ततन्त्रसारवचनमविरुद्धमिति वाच्यम्, प्रागुक्तपिङ्गलामतवचनस्य स्वरव्यञ्जन-भेदभिन्ननाममन्त्रघटकप्रत्यक्षरशोधनविषयत्वात्। अत एव राघवभट्टेन—'पिङ्गलामते प्रत्यक्षरं सिद्धादिगणनोक्ता।

मातापितृकृतं नाम यच्चाप्यभिजनैः कृतम्।
विश्लिष्य तत्र वै वर्णान् स्वरव्यञ्जनभेदतः।।
तथैव मन्त्रबीजानि ततः शोधनमारभेत्।
बिन्दुद्विबिन्दुकोपध्मानीयजिह्वाङ्घ्रिसम्भवान्।
संहतोच्चारणप्राप्तमधिकाक्षरमेव च।।

इत्युपक्रम्य अपभ्रंशाक्षरमित्याद्युक्त्वा,

व्यञ्जनैर्व्यञ्जनान्येव स्वरैः साकं स्वरांस्तथा।
आद्यमाद्येन संशोध्य द्वितीयेन द्वितीयकम्।

इत्यादिना तस्य प्रत्यक्षरशोधनरूपकल्पान्तरत्वमुक्तम्। अपि च अपभ्रंशेत्यादि-पिङ्गलामतवचने षण्डचतुष्टयमित्यनेन 'ऋ ॠ ऌ ॡ' संज्ञकानां नपुंसकार्णानामपि वर्जनं तस्य कल्पान्तरत्वं प्रमाणयति। ततश्च नाममन्त्राद्यक्षरशोधनविधायके कल्पेऽस्मिन् ल-क्षयोरादानं युक्तमेवेति सर्वमवदातम्।

तन्त्रराजन्त्रे प्रथमपटले—

चतुश्चतुर्विभागेन कल्पयेत्तानि वै क्रमात्।
प्रथमप्रथमे त्वाद्यं द्वितीयप्रथमे तथा।।
द्वितीयमन्यतश्चान्यत्तथान्यदपि कल्पयेत्।
तत्तत्कोष्ठेषु विलिखेत्तत्तत्पञ्चममक्षरम्।।

एवं चतुर्षु कोष्ठेषु क्षान्तावधि समालिखेत्।।

इत्यादिवचनैरपीयमेव वर्णस्थापनापरिपाटी निरूपिता। विशदीकृतमेतत् तन्त्रराजप्रथमपटलटीकायां सुभगानन्दनाथेन—

'एवं लिखिते सति प्रथमचतुष्कप्रथमकोष्ठे अ क थ ह इति चत्वार्यक्षराणि। तद्द्वितीयकोष्ठे उ ङ प इति त्रीणि। तत्तृतीयकोष्ठे ऌ झ म इति त्रीणि। तच्चतुर्थकोष्ठे ओ ड व इति त्रीणि।

द्वितीयचतुष्कप्रथमकोष्ठे आ ख द ल इति चत्वार्यक्षराणि। तद्द्वितीयकोष्ठे ऊ च फ इति त्रीणि। तत्तृतीयकोष्ठे ॡ ञ य इति त्रीणि। तच्चतुर्थकोष्ठे औ ढ श इति त्रीणि।

तृतीयचतुष्कप्रथमकोष्ठे इ ग ध क्ष इति चत्वारि। तद्द्वितीयकोष्ठे ऋ छ ब इति त्रीणि। तत्तृतीयकोष्ठे ए ट र इति त्रीणि। तच्चतुर्थकोष्ठे क्ष ण ष इति त्रीणि।

चतुर्थचतुष्कप्रथमकोष्ठे इ घ न इति त्रीणि। तद्द्वितीयकोष्ठे ॠ ज भ इति त्रीणि। तत्तृतीयकोष्ठे ऐ ठ ल इति त्रीणि। तच्चतुर्थकोष्ठे अः त स इति त्रीणि। एवं लिखिते प्रथमचतुष्ककोष्ठाक्षराणामुपरितनाक्षराणि द्वितीयचतुष्ककोष्ठेषु यथाक्रमं दृश्यन्ते' इत्यन्तेन ग्रन्थेन।

इन सोलह कोष्ठकों में सर्वप्रथम 'अ'कार से विसर्ग (अ:) तक १६ वर्णों को, फिर ककार से मकार तक २५ व्यञ्जनों तथा उनके बाद यकार से सकार तक के वर्णों को और अन्त में 'ह ळ क्ष' इन तीन वर्णों को लिखें।।५९।।

लिखने की विधि—प्रस्तुत ग्रन्थ की संस्कृत टीका में इस वर्ग में वर्णलेखन की जो विधि बताई गई है, वह कुछ जटिल है। इसी विधि को 'मन्त्रमहोदधि' में अपेक्षाकृत सरल ढंग से बताया गया है। एतदनुसार मातृका वर्णों को इस चक्र के प्रथम (१), तृतीय (३), एकादश (११), नवम (९), द्वितीय (२), चतुर्थ (४), द्वादश (१२), दशम (१०), षष्ठ (६), अष्टम (८), षोडश (१६), चतुर्दश (१४), पञ्चम (५), सप्तम (७), पञ्चदश (१५) एवं त्रयोदश (१३) कोष्ठकों में आवृत्तिपूर्वक लिखा जाय। इसका अर्थ यह है कि वर्णमाला के प्रथम वर्ण 'अ' को चक्र के प्रथम कोष्ठक में, द्वितीय वर्ण 'आ' को तृतीय कोष्ठक में, तृतीय वर्ण 'इ' को ग्यारहवें कोष्ठक में और चतुर्थ वर्ण 'ई' को नवम कोष्ठक में लिखा जाय। इसी तरह सोलह स्वरवर्णों को लिखने के बाद 'क'कार आदि वर्णों को पुन: प्रथम कोष्ठक से प्रारम्भ कर इसी क्रम से लिखा जाय। 'क'कार से 'ण'कार तक सोलह वर्णों को प्रारम्भ कर लिखने के बाद 'त'कार से प्रारम्भ कर 'श'कार तक सोलह वर्णों को वर्ग के प्रथम-तृतीय आदि कोष्ठकों में लिखें। 'ह' 'ळ' और 'क्ष' इन शेष वर्णों को भी प्रथम, तृतीय एवं एकादश कोष्ठक में लिखें। इस वर्ग में इस प्रकार वर्ण-लेखन के फलस्वरूप जो चक्र बनकर तैयार होगा, वह निम्नानुसार होगा—

'अ क थ ह चक्र'

चतुष्टय
ईशान कोण
चतुष्टय
आग्नेय कोण

(१) अ क थ ह	(२) उ ङ प	(३) आ ख द ल	(४) ऊ च फ
(५) ओ ड व	(६) ऌ झ म	(७) औ ढ़ श	(८) ॡ ञ य
(९) ई घ न	(१०) ॠ ज भ	(११) इ ग ध क्ष	(१२) ऋ छ ब
(१३) अ: त स	(१४) ऐ ठ ल	(१५) अं ण ष	(१६) ए ट र

चतुष्टय
वायव्य कोण
चतुष्टय
नैर्ऋत्य कोण

चूँकि इस चक्र के प्रथम कोष्ठक में 'अ क थ ह' ये चार वर्ण आये हैं; अत: इसे 'अ क थ ह' चक्र कहते हैं। इस चक्र में वर्णों की संख्या पर मतभेद है। तन्त्रसार में यथा उद्धृत विश्वसार तन्त्र के अनुसार इसमें 'अ' से 'ह' तक ४९ वर्ण लिखे जायँ; जबकि प्रस्तुत ग्रन्थ में 'हळ्क्षाश्च लिखेत् तत:' कहकर 'क्ष'कार-पर्यन्त सभी ५१ वर्णलेखन का निर्देश दिया गया है। तन्त्रराजतन्त्र में भी 'अ'कार से 'क्ष'कार-पर्यन्त सभी वर्ण लिखे जाने का निर्देश है। व्यावहारिक पक्ष यह है कि यदि किसी साधक के नाम या मन्त्र का प्रथम अक्षर 'क्ष' से प्रारम्भ होता है तो सिद्ध-साध्य आदि की गणना में असुविधा होगी। अत: इस चक्र में 'अ'कार से 'क्ष'कार तक सभी वर्णों का लिखा जाना ही व्यावहारिक पक्ष है।

[तत्र मन्त्रगणनाक्रम:]

निजनामादिवर्णन्तु यस्मिन् कोष्ठे प्रदृश्यते।
तत्कोष्ठाद् गणयेन्मन्त्री मन्त्रस्याद्यक्षरावधि।।६०।।

सिद्धसिद्धं सिद्धसाध्यं सिद्धसुसिद्धमेव च।
सिद्धारिञ्च क्रमेणैव साध्यकोष्ठे लिखेत्ततः।।६१।।

साध्यसिद्धं साध्यसाध्यं साध्यसुसिद्धमेव च।
साध्यारिञ्च क्रमेणैव सुसिद्धे गणयेद् बुधः।।६२।।

सुसिद्धसिद्धमादौ च सुसिद्धसाध्यमेव च।
ततः सुसिद्धसुसिद्धं सुसिद्धारिमथो ततः।।६३।।

अरिसिद्धमरिसाध्यमरिसुसिद्धमेव च।
अर्यरिञ्चैव मन्त्रज्ञो वर्ज्जयेच्च चतुष्टयम्।।६४।।

एवं वर्णन्यासक्रममुक्त्वा गणनाक्रममाह—निजेति। पूर्वोक्तानां षोडशकोष्ठानां मध्ये यस्मिन् कोष्ठे निजनामादिवर्णं साधकस्य नाम्नः प्रथममक्षरं दृश्यते, तत्कोष्ठात् मन्त्रस्याद्यक्षरावधि, यस्मिन् कोष्ठे मन्त्रघटकाक्षराणां प्रथममक्षरं दृश्यते तत्कोष्ठं यावद् 'येनैव लिखनं कुर्यात्तेनैव गणनं स्मृत'मिति तन्त्रसारधृतविश्वसारोक्तरीत्या गणयेत् वक्ष्यमाणसिद्धसुसिद्धसाध्यादीनीति शेषः।

तदेव गणनाक्रममुपदिशति सिद्धेत्यादिना अर्यरिञ्चैवेत्यन्तेन। एतदुक्तं भवति—यत्र चतुष्के स्वनामाद्यक्षरं तत् सिद्धसिद्धकोष्ठं ततस्तस्मिन्नेव चतुष्के प्रादक्षिण्येन कोष्ठत्रये सिद्धसाध्य-सिद्धसुसिद्ध-सिद्धारीन् गणयेत्। अस्मिन्नेव चतुष्के यदि मन्त्राद्यक्षरमपि स्यात् तदा अनयैव गणनया सिद्धम्। यद्यन्यस्मिन् स्वनामाद्यक्षरम्, प्रादक्षिण्येन द्वितीयचतुष्के मन्त्राद्यक्षरम्, तदा पूर्वचतुष्के यस्मिन् कोष्ठे नामाद्यक्षरम्, अत्र द्वितीयचतुष्केऽपि तदेव कोष्ठमारभ्य साध्यसिद्धादिगणनक्रमः इति राघवभट्टाः। एवं तृतीयचतुष्कादिष्वपि।

एवञ्च स्वनामाद्यक्षरयुक्तं सिद्धसिद्धं तदपेक्षया द्वितीयं सिद्धसाध्यम्, तृतीयं सिद्धसुसिद्धम्, चतुर्थं सिद्धारि। क्रमेणैवेत्यनेनायमेवार्थः सूचितः।

साध्यकोष्ठं इत्यादि। प्रागुक्तक्रमेण साध्याख्यस्य प्रथमं कोष्ठं साध्यसिद्धम्, द्वितीयं साध्यसाध्यम्, तृतीयं साद्धसुसिद्धम्, चतुर्थञ्च साध्यारि इति। क्रमेणैवेति इयमपि गणना प्रागुक्तगणनक्रमेणैवेत्यर्थः।

तृतीयमाह—सुसिद्ध इति। प्रागुक्तरीत्या सुसिद्धाख्यस्य प्रथमं सुसिद्धसिद्धम्, द्वितीयं सुसिद्धसाध्यम्, तृतीय सुसिद्धसिद्धम्, चतुर्थञ्च सुसिद्धारि।

चतुर्थमाह—अथो इति। तदपेक्षया चतुर्थचतुष्कस्य प्रथमं कोष्ठम् अरिसिद्धाख्यम्, द्वितीयमरिसाध्याख्यम्, तृतीयममरिसुसिद्धाख्यम्, चतुर्थञ्चार्यर्य्या-

ख्यमिति षोडशकोष्ठानां संज्ञाभेदा उन्नेयाः। गणनाप्राप्तस्यारिकोष्ठचतुष्कस्य वर्जनीयत्वमाह—**मन्त्रज्ञो वर्जयेच्च चतुष्टयमिति।**

दीक्षार्थी या साधक के नाम का प्रथम अक्षर जिस कोष्ठक में है, उस कोष्ठक से प्रारम्भ करके उस कोष्ठक तक गिनें, जिसमें मन्त्र का प्रथम अक्षर है। यदि दोनों का प्रथम अक्षर एक ही कोष्ठक में है तो मन्त्र सिद्धसिद्ध है। यदि मन्त्र का प्रथम अक्षर दूसरे कोष्ठक में है तो सिद्धसाध्य है। तीसरे में है तो सिद्धसुसिद्ध और चौथे कोष्ठक में है तो सिद्ध अरि है। इसके बाद साध्यचतुष्टय प्रारम्भ होता है। यदि मन्त्र का प्रथम अक्षर साध्यचतुष्टय के प्रथम (अर्थात् साधक के नाम के कोष्ठक से पाँचवें कोष्ठक) कोष्ठक में है तो 'साध्यसिद्ध' द्वितीय कोष्ठक में है तो 'साध्य-साध्य' तृतीय कोष्ठक में 'साध्यसुसिद्ध' तथा चतुर्थ कोष्ठक में है तो 'साध्य अरि' होता है। इसके बाद सुसिद्धचतुष्टय प्रारम्भ होता है। यदि मन्त्र का प्रथम अक्षर इस चतुष्टय के प्रथम कोष्ठक (अर्थात् साधक के नाम के कोष्ठक से नवम कोष्ठक) में है तो मन्त्र 'सुसिद्धसिद्ध', दूसरे कोष्ठक में है तो 'सुसिद्धसाध्य', तीसरे कोष्ठक में है तो 'सुसिद्धसुसिद्ध' तथा चौथे कोष्ठक में है तो 'सुसिद्ध अरि' होता है। इसके बाद अर्थात् साधक के नाम के कोष्ठक से तेरहवें कोष्ठक से अरिचतुष्टय प्रारम्भ होता है। यदि इस चतुष्टय के प्रथम कोष्ठक में मन्त्र का प्रथम वर्ण है तो मन्त्र साधक के लिये अरिसिद्ध, द्वितीय कोष्ठक में 'अरिसाध्य' तृतीय कोष्ठक में 'अरिसुसिद्ध' और चौथे कोष्ठक में होने से 'अरि अरि' संज्ञक होता है। इनमें से 'सिद्ध अरि' 'साध्य अरि' 'सुसिद्ध अरि' तथा अरिचतुष्टय के सभी मन्त्र अग्राह्य हैं।।६०-६४।।

अरिसिद्धः सुतं हन्यादरिसाध्यस्तु कन्यकाम्।
पत्नीमरिसुसिद्धस्तु अर्यरिर्मल (?) नाशयेत्।।६५।

सिद्धसिद्धो यथोक्तेन सिद्धसाध्यो गुणद्वयात्।
सिद्धसुसिद्धोऽर्द्धजपात् सिद्धारिर्हन्ति बान्धवान्।।६६।।

द्विगुणात् साध्यसिद्धस्तु साध्यसाध्यो निरर्थकः।
द्विगुणात् साध्यसुसिद्धः साध्यारिर्हन्ति गोत्रजान्।।६७।।

सुसिद्धसिद्धोऽर्द्धजपात् तत्साध्यो द्विगुणाधिकात्।
तत्सुसिद्धः क्षणादेव सुसिद्धारिस्तु जातिहा।
अकथहमहाचक्रं कथितं तन्त्रवर्त्मना।।६८।।

वर्जने हेतुमाह—**अरिसिद्ध इत्यादि।** एतादृगनिष्टफलजनकत्वमेव वर्जनीयत्वे हेतुरित्यर्थः।

अ-क-थ-ह-चक्रम्

चतुष्कम् अग्निकोण

ऐशानकोष्ठ- चतुष्कम्

अ क थ ह सिद्धसिद्ध	उ ङ प सिद्धसाध्य	आ ख द ल साध्यसिद्ध	ऊ च फ साध्यसाध्य
ओ ड व सिद्धारि	ऌ झ म सिद्धसुसिद्ध	औ ढ श साध्यारि	ॡ ञ य साध्यसुसिद्ध
ई घ न अरिसिद्ध	ॠ ज भ अरिसाध्य	इ ग ध क्ष सुसिद्धसिद्ध	ऋ छ व सुसिद्धसाध्य
अः त स अर्यरि	ऐ ठ ल अरिसुसिद्ध	अं ण प सुसिद्धारि	ए ट र सुसिद्धसुसिद्ध

-तद्वामस्थवायव्यकोष्ठ- चतुष्कम्

चतुष्कम् तदधो नैर्ऋत्यकोष्ठ-

अरिसिद्ध मन्त्र का जप करने से पुत्र की, अरिसाध्य मन्त्र का जप करने से कन्या की, अरिसुसिद्ध मन्त्र की साधना से पत्नी की मृत्यु होती है और 'अरि अरि' मन्त्र की साधना से समस्त कुल का नाश हो जाता है।

सिद्धसिद्ध मन्त्र यथानिर्धारित संख्या में जप करने से, सिद्धसाध्य दुगुना जप से, सिद्धसुसिद्ध विहित संख्या के आधे जप से सिद्ध होता है। सिद्ध अरि की साधना से बन्धुओं का नाश होता है।

साध्यसिद्ध दुगुना जप करने से सिद्ध होता है। साध्यसाध्य मन्त्र की साधना निरर्थक है। इससे कोई फल नहीं मिलता। साध्य-सुसिद्ध भी दुगुना जप से सिद्ध होता है। साध्य-अरि की उपासना गोतियारों के लिये घातक है।

'सुसिद्धसिद्ध' विहित संख्या के आधे जप से, सुसिद्धसाध्य दुगुना जप से सिद्ध होता है। 'सुसिद्धसुसिद्ध' दीक्षा में प्राप्त होते ही फलदायी हो जाता है। सुसिद्ध

अरि जाति वालों के लिये घातक होता है। तन्त्रशास्त्र कें अनुसार 'अकथह' चक्र का इस प्रकार निरूपण किया गया॥६५-६८॥

विमर्श—नाम के आद्य अक्षर के आधार पर अनुकूल मन्त्र के चयन के लिये साधक का समाज में प्रचलित नाम ही ग्राह्य है। एतदर्थ राशिनाम का कोई महत्त्व नहीं है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि साधक के नाम के प्रथम अक्षर से मन्त्र के प्रथम अक्षर तक सिद्ध-साध्य आदि की गणना वर्ण-लेखन के क्रम से की जाय, जैसा कि तन्त्रसार में यथा-उद्धृत विश्वसारतन्त्र का निर्देश है। जैसा कि 'अमर' नामक साधक के लिये 'गं गणपतये नम:' सुसिद्धसिद्ध मन्त्र होगा; क्योंकि मन्त्र का प्रथम वर्ण 'ग' है।

[ऋणधनचक्रम्]

पूर्वजन्माराधितानां मन्त्राणां ज्ञानमुच्यते।।६९।।

अकथहचक्रमुक्त्वा ऋणधनचक्रमाह—पूर्वजन्मेति।

अब पूर्वजन्म में आराधिता विद्या का प्रकाशन करने वाले ऋण-धन चक्र का निरूपण किया जा रहा है॥६९॥

विमर्श—मन्त्र के ऋणी होने के रहस्य का उद्घाटन मन्त्रमहोदधि (३४/ ५०-५२) में किया गया है। एतदनुसार जो मन्त्र पिछले जन्म में पापों के कारण फल नहीं दे पाया था, वह मन्त्र अगले जन्म में साधक का ऋणी हो जाता है। ऋणी का अर्थ है—फलदायक। इसका विचार जिस ऋणी-धनी चक्र से किया जाता है, उसके तीन प्रकार हैं। इन तीनों प्रकारों का निरूपण अगले श्लोकों में किया गया है।

[तत्र रेखापात: साध्यसाधकाङ्कानां न्यासपरिपाटी च]

पूर्वापरं द्वादशसंख्यसूत्रं याम्योत्तरस्थञ्च तथाच्च पञ्चकम्।
साध्याङ्कमूर्द्ध्वे खलु मध्यतोऽर्णानधो लिखेत् साधकमङ्कमीशात्।।७०।।

ऋणधनचक्रं त्रिविधं भवति, तत्र प्रथमे रेखापातनक्रममाह—पूर्वेति। पूर्वत: पश्चिमान्ता द्वादश रेखा:, तथा दक्षिणत उत्तरान्ता: पञ्च रेखा: कर्त्तव्या:। साध्याङ्कमिति। ऊर्द्ध्वे दक्षोत्तररेखापञ्चकानामूर्द्ध्वे बहिरुर्द्ध्वप्रदेशे पूर्वपश्चिमाय-तद्द्वादशरेखासम्पादितैकादशकोष्ठानामुपरि क्रमेण एकैकशो वक्ष्यमाणान् साध्याङ्कान् लिखेत्। मध्यतश्चतुश्चत्वारिंशत्कोष्ठेषु वक्ष्यमाणान् वर्णान् लिखेत्। अधो दक्षोत्तररेखापञ्चकानामध: क्रमेण वक्ष्यमाणान् साधकाङ्कान् लिखेदित्यर्थ:।

ऋण-धनी चक्र (प्रथम प्रकार)—यह चक्र बनाने के लिये पूर्व से पश्चिम की ओर १२ खड़ी रेखाएँ और उत्तर-दक्षिण पाँच आड़ी रेखाएँ खींचें। इस तरह ६६

कोष्ठकों का वर्ग बन जाएगा। इस वर्ग की प्रथम पंक्ति वाले ग्यारह कोष्ठकों में वक्ष्यमाण विधि से अंक लिखें। ये साध्यांक अर्थात् मन्त्र के अंक हैं। इसके नीचे ४४ कोष्ठकों में 'अ'कार से 'ह'कार-पर्यन्त ४९ वर्णों को लिखें। इसकी विधि निम्नानुसार है॥७०॥

[वर्णन्यासपरिपाटी]

द्वौ द्वौ स्वरौ पञ्चसु कोष्ठकेषु
शेषान् स्वरान् षट्सु षडेकमेकम्।
कादीन् हशेषान् विलिखेत्ततोऽर्णा-
नेकैकमेकादशसु स्थलेषु।।७१।।

तत्र प्रथममेव वर्णन्यासक्रममाह–**द्वौ द्वाविति**। प्रागुक्तरेखासम्पादितचतुश्चत्वारिंशत्कोष्ठानां प्रथमकोष्ठपञ्चकेषु द्वौ द्वौ स्वरौ लिखेत्। एतेन अकारादय लृकारान्ता दश स्वराः प्राथमिकपञ्चकोष्ठेषु निवेशनीया इत्युक्तं भवति। **शेषानिति**। प्रथमपङ्क्तेरवशिष्टेपु षट्सु कोष्ठेष्वेकैकश एकारादिविसर्गान्तान् स्वरान् लिखेदित्यर्थः। **कादीनिति**। अवशिष्टेपु त्रयस्त्रिंशत्कोष्ठेषु एकैकशः कादिहान्तान् वर्णान् लिखेत्। एकादशस्विति प्रतिपङ्क्त्यभिप्रायेणोक्तम्।

वर्ण लिखने की विधि—इस चक्र के मध्य में जो ४४ कोष्ठक बने हैं, उनमें से प्रथम पाँच कोष्ठकों में दो-दो स्वरवर्णों को तथा शेष ६ कोष्ठकों में से प्रत्येक कोष्ठक में एक-एक स्वर-वर्ण लिखें। इसके बाद 'क'कार से 'ह'कार तक शेष ३३ वर्णों को चक्र के ३३ कोष्ठकों में यथाक्रम लिखें। सबसे नीचे की पंक्ति वाले ग्यारह कोष्ठकों में साधक के अंक लिखे जाते हैं। साध्यांक और साधकांक लिखने की विधि अगले श्लोक में बताई गई है॥७१॥

[तत्र साध्यसाधकाङ्कन्यासपूर्वको गुणनक्रम:]

इन्द्रर्क्ष-नेत्र-रवि-पञ्चदशर्त्तुवेद-
वह्न्यायुधाष्टनवभिर्गणितांस्तु साध्यान्।
दिग्भूगिरिश्रुतिगजाग्निमुनीषुवेद-
षड्वह्निभिश्च गुणितानथ साधकार्णान्।।७२।।

इन्द्रेति। साध्याङ्कमूद्‌र्ध्वे इत्युक्तक्रमेण प्रथमाद्येकादशकोष्ठानामूद्‌र्ध्वेषु क्रमेण १४।२७।२।१२।१५।६।४।३।५।८।९ एतैरिन्द्रादिपदगम्यैरङ्कैर्गुणितान् साध्यार्णान्, अधो लिखेत् साधकमङ्कमित्युक्तक्रमेण दिगादिपदवेद्यैः १०।१।७।४।८।३।७।५।४।६।३ एतैरङ्कैर्गुणितान् साधकार्णांश्चेत्यर्थः।

स्वरवर्णों के ऊपर चक्र की प्रथम पंक्ति के ग्यारह कोष्ठकों में बाँयीं ओर से प्रारम्भ करके प्रत्येक कोष्ठक में क्रम-क्रम से इन्द्र (१४), ऋक्ष (२७), नेत्र (२),

रवि (१२), पञ्चदश (१५), ऋतु (६), वेद (४), वह्नि (३), आयुध (५), अष्ट (८) तथा नव (९) लिखें। ये साध्यांक अर्थात् मन्त्र के अंक हैं। व्यञ्जनवर्णों के नीचे अर्थात् चक्र की निचली पंक्ति के ग्यारह कोष्ठकों में बाँयीं ओर से प्रारम्भ करके प्रत्येक कोष्ठक में क्रम से दिक् (१०), भूमि (१), गिरि (७), श्रुति (४), गज (८), अग्नि (३), मुनि (७), इषु (५), वेद (४), षट् (६) तथा वह्नि (३) लिखें। ध्यान रखें, इन अंकों में २ और ९ नहीं हैं; जबकि ४ और ३ दो-दो बार लिखे गये हैं। ये साधक के अंक हैं॥७२॥

[मन्त्राणामृणधनत्वनिरूपणपरिपाटी, तत्फलविशेषाश्च]

नामाज्झलादकठवाद् गजभुक्तशेषं
ज्ञात्वोभयोरधिकशेषमृणं धनं स्यात्।
मन्त्रस्त्वृणी शुभफलोऽप्यशुभो धनी च
तुल्यं यदा समफलः कथितो मुनीन्द्रैः।।७३।।

नामाज्झलादकठवादिति। अ-क-ठ-वात्मकमेकादशैकादशाक्षररूपं साध्यसाधकनामघटकस्वरव्यञ्जनभेदभिन्नवर्णसमुदायं प्राप्य इन्द्रर्क्षादिभिर्गुणितान् साध्यार्णान् दिगादिभिर्गुणितान् साधकार्णांश्च ज्ञात्वा उभयोः साध्याङ्क-साधकाङ्कयोरधिकमवशिष्टमृणं धनञ्च स्यादित्यर्थः। तथाच राघवभट्टः—'तत्र प्रकारः—साधकस्य, साध्यस्य मन्त्रस्य च नामाक्षराणि स्वरव्यञ्जनभेदेन पृथक्कृतानि स्थापयेत्। ततो मातृकायाः अ-क-ठ-वात्मकमेकादशैकादशाक्षरं वर्गचतुष्टयं कृत्वा मन्त्राक्षराणि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतानि इन्द्रादिभिरङ्कैर्गुणयेत्। साधकनामाक्षराणि स्वरव्यञ्जनरूपेण पृथक्कृतानि दिगादिभिरङ्कैर्गुणयेत्। तत्र गुणनप्रकारः—यस्मिन् स्थाने यो वर्णस्तं वर्णं तेनाङ्केन गुणयेत्, तत्स्थानमिताङ्कं गुणयेदित्यर्थः। तद् यथा—प्रथमकोष्ठस्थो वर्णोऽकारः, तञ्च चतुर्दशभिर्गुणयेत् तत्रैकश्चतुर्दशगुणितश्चतुर्दशैव। तथा द्वितीयकोष्ठस्थो वर्ण इकारस्तं सप्तविंशत्या गुणयेत्, तेन द्वाभ्यां सप्तविंशतिर्गुणिता चतुःपञ्चाशत्। एवं तृतीयस्थानस्थो वर्ण उकारो द्विगुणितः षड् भवति। एवं साधकनामाक्षराण्यपि दिगादिभिर्गुणयेदिति'।

गजभुक्तशेषम् अष्टभिर्विभाजितस्यावशिष्टमित्यर्थः। तत्र भागफलञ्चेदधिकं तदृणम्, यच्च न्यूनं तद् धनमित्यवधेयम्। एतादृशप्रक्रियायाः फलमाह—**मन्त्रस्त्वृणीत्यादि।** मन्त्रो यदि ऋणी अधिकाङ्कः स्यात्तदा स शुभफलां मङ्गलदायको भवति। यदि धनी न्यूनाङ्कः स्यात्तदा फलमशुभं प्रसूत इत्यर्थः। यदा मन्त्रसाधकयोरवसिताङ्कस्तुल्यस्तदा समफलः। न शुभदो नाप्यशुभद इत्यर्थः। इत्ययमृणधनचक्रस्य मन्त्ररत्नावलीसम्मतः क्रमः।

गणना की विधि—साध्य अर्थात् मन्त्र के घटक स्वरों और व्यञ्जनों को पृथक्-पृथक् लिखें। अब यह देखें कि ये स्वर और व्यञ्जन चक्र के किस कोष्ठक

में हैं। जो स्वर या व्यञ्जन जिस कोष्ठक में है, उसकी कोष्ठक संख्या को ऊपर लिखे साध्याङ्क से गुणा करें। यथा—'अ' प्रथम कोष्ठक में है। इसके ऊपर १४ का अंक है। अत: १×१४ = १४। 'इ' दूसरे कोष्ठक में है। 'इ' के ऊपर साध्यांक २७ है। अत: २ को २७ से गुणा किया। गुणनफल हुआ ५४। तीसरे स्थान में 'उ' है। साध्यांक २ है। अत: ३×२ = ६। इन सभी अङ्कों को जोड़कर ८ से भाग दिया। जो शेष बचा, वह साध्याङ्क अथवा मन्त्रराशि है।

इसी प्रकार साधक के नाम के घटक स्वरों और व्यञ्जनों को अलग-अलग लिखकर उन्हें भी पूर्वोक्त विधि से १० आदि साधकांक से गुणित किया। पूर्ववत् इन सभी अंकों को जोड़कर ८ से भाग दिया। जो शेष बचा, वह साधकांक अथवा नामराशि है।

साध्याङ्क (मन्त्रराशि) और साधकांक (नाम-राशि) में जिसके अङ्क अधिक हैं, वह ऋणी और जिसके अङ्क कम हैं, वह धनी है। यदि साध्याङ्क (मन्त्रराशि) अधिक है, तो वह ऋणी है। उस मन्त्र की साधना शुभ फलदायिनी होगी। यदि साधक (मन्त्री) के अंक अधिक हैं तो वह ऋणी है। इस स्थिति में मन्त्र (साध्य) धनी है। धनी मन्त्र की साधना फलहीन होगी। यदि दोनों के अङ्क बराबर हैं तो भी उस मन्त्र की साधना फलवती नहीं होगी।।७३।।

ऋणी-धनी चक्र

साध्याङ्क	१४	२७	२	१२	१५	६	४	३	५	८	९
	अ आ	इ ई	उ ऊ	ऋ ॠ	ऌ ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अ:
	क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट
	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ
	ब	भ	म	य	र	ल	व	श	ष	स	ह
साधकाङ्क	१०	१	७	४	८	३	७	५	४	६	३

[एतन्मूलीभूतागमनिरूपणम्]

मन्त्ररत्नावलेश्चैतन्मतं शेषमथोच्यते।।७४।।

उपर्युक्त ऋणी-धनी चक्र 'मन्त्ररत्नावली' के अनुसार है। दूसरे प्रकार का चक्र आगे बताया जा रहा है।।७४।।

[पूर्वतोऽन्यादृशी साध्यसाधकाङ्कन्यासपरिपाटी]

षट्-काल-काल-वियदग्नि-समुद्र-वेद-
खाऽऽकाशशून्यदहनाः खलु साध्यवर्णाः।
युग्म-द्वि-पञ्च-वियदम्बर-युक्-शशाङ्क-
व्योमाब्धिवेदशशिनः खलु साधकार्णाः।।७५।।

प्रागुक्तर्णधनचक्रस्यैव साध्यसाधकाङ्कस्थापनायां क्रमान्तरमाह—**षडिति**। 'पूर्वापरं द्वादशसंख्यसूत्रम्' इत्यादि प्रागुक्तक्रमेणैव रेखा विन्यस्य तत्र 'इन्द्रर्क्षनेत्ररविपञ्चदशर्त्तुवेदे'त्यादि प्रागुक्तक्रममुल्लङ्घ्य षट्कालेत्यादिवचनक्रमेण साध्याङ्कान् साधकाङ्कांश्च निवेशयेदित्ययमेवास्मिन् कल्पे विशेषः। तन्त्रसारकृता तु 'षट्कालेत्यादि विष्णुविषयमिति केचित्। वस्तुतस्तु पूर्वस्यैव विवरण'मित्युक्तम्। तथा च इन्द्रर्क्षेत्यादिना गुणितेऽष्टाभिर्विभाजिते च यदवशिष्टं तद्रूपमिदमिति केषाञ्चिदाशयः।

तथाच ऊद्ध्र्वानामेकादशकोष्ठानामूद्ध्र्वे क्रमेण—षट् ६। काल ६। काल ६। वियत्०। अग्नि ३। समुद्र ४। वेद ४। ख०। आकाश०। शून्य०। दहनाः ३, एतानङ्कान् लिखेत्, एत एव साध्याङ्काः।

अधःस्थानामेकादशकोष्ठानामधोऽपि क्रमेण—युग्म २। द्वि २। पञ्च ५। वियत्०। अम्बर०। युक् २। शशाङ्क १। व्योम ०। अब्धि ४। वेद ४। शशिनः १। एतानङ्कान् लिखेत्, एत एव साधकाङ्काः। गणनया मन्त्रविचारस्य प्रक्रिया तु पूर्ववदिति नात्र पुनरुच्यते।

दूसरे प्रकार का ऋणी-धनी चक्र भी पूर्व चक्र की ही भाँति बनाया जाता है। इसके ४४ कोष्ठकों में स्वरों और व्यञ्जनों का विन्यास भी पूर्व चक्र की भाँति किया जाता है; लेकिन साध्यांक और साधकांक के मान में अन्तर है। इस विधि के अनुसार ऊपर वाले ग्यारह कोष्ठकों में लिखे जाने वाले साध्याङ्क हैं—

षट् (६), काल (६), काल (६), वियत् (०), अग्नि (३), समुद्र (४), वेद (४), ख (०), आकाश (०), शून्य (०) और दहन हैं। ध्यान रखें, इसमें ६ तीन बार, शून्य ४ बार, ३ दो बार और ४ दो बार आये हैं।

सबसे नीचे की पंक्ति में लिखे जाने वाले साधकांक इस प्रकार हैं—युग्म (२), द्वि (२), पञ्च (५), वियत् (०), अम्बर (०), युक् (२), शशाङ्क (१), व्योम (०), अब्धि (४), वेद (४) एवं राशि (१)।

इस विधि से भी गणना करने की विधि पूर्ववत् है। अतः इसे फिर से नहीं लिखा जा रहा है।।७५।।

ऋणी-धनी चक्र का दूसरा प्रकार

पूर्वा

साध्याङ्क	६	६	६	०	३	४	४	०	०	०	३	
	अ आ	इ ई	उ ऊ	ऋ ॠ	ऌ ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः	
उत्तरा	क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ	ट	दक्षिणा
	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न	प	फ	
	ब	भ	म	य	र	ल	व	श	ष	स	ह	
साधकाङ्क	२	२	५	०	०	२	१	०	४	४	१	

पश्चिमा

[अस्यैव चक्रस्य क्रमान्तरम्]

अथ कादिमतेनापि वक्ष्ये तच्चक्रमुत्तमम्।।७६।।

अथ कादिमतानुसारेण ऋणधनचक्रस्य तृतीयं क्रमं प्रतिपिपादयिषुः प्रतिजानीते—**अथेति**।

अब कादि मत से ऋणी-धनी का विचार करने की विधि बताई जा रही है। एतदर्थ चक्र वही है।।७६।।

[चक्रेणानेन मन्त्रशोधनस्य प्रक्रिया]

निजनामादिकं वर्णमादाय परतः सुधीः।
मन्त्राद्यक्षरपर्यन्तं गणनीयन्तु सर्वतः।।७७।।
रामेण गुणितं कृत्वा सप्तभिश्च हरेद् बुधः।
शेषा भवति या मात्रा ऋणं तावदुदाहृतम्।।७८।।

तमेव क्रममाह—**निजेति**। निजनाम्नः साधकनाम्न आदिकम् आदौ भवं प्रथमवर्णं गृहीत्वा ततः प्रभृति मन्त्रस्याद्यक्षरपर्यन्तं गणयेत्, ततो यावन्तो वर्णा भवन्ति, तान् रामेण त्रिभिर्गुणितान् कृत्वा समष्ट्या जातां संख्यां सप्तभिर्हृत्वा यदवशिष्टं तदृणम् इत्यर्थः।

साधक के नाम के प्रथम अक्षर से मन्त्र के प्रथम अक्षर तक वर्णमाला के क्रम से वर्णों की संख्या को गिनें। उस संख्या को तीन से गुणा करें। गुणनफल में सात का भाग दें। जो राशि शेष बचे, वह साधक का अंक या साधकांक है। इसे तन्त्रान्तर में नामराशि भी कहा गया है।।७७-७८।।

एतदेव विलोमेन साध्यं तावद् वदाम्यहम्।।७९।।
कृते भागै तु शिष्टाङ्कान् द्वयोः सम्यङ्निरूपयेत्।
योऽधिकः स ऋणी ज्ञेय इति तन्त्रविदो विदुः।।८०।।

एवं साधकाङ्कान् निरूप्य साध्याङ्कान् निरूपयति—**एतदेवेति**। एतदेव विलोमेन गुणितम्, साध्यं साध्याङ्कं वदामीति सम्बन्धः। तथाच मन्त्राद्यवर्णतः साधकनामादिवर्णपर्यन्तं गणयित्वा समष्ट्या जातां संख्यां सप्तभिर्गुणितां त्रिभिर्हत्वा यदवशिष्टं तद् धनमिति प्रक्रिया।

कृत इति। एवं भागे कृते साध्याङ्कानां साधकाङ्कानाञ्चावशिष्टानङ्कान् द्वयोः साध्यसाधकयोः 'भागावशिष्टा एते साध्याङ्काः एते च साधकाङ्का' इति निरूपयेदित्यर्थः। तत्फलमाह—**य इति**। भागफलस्याधिक्ये ऋणम्, न्यूनत्वे धनमित्यर्थः।

इसी प्रकार मन्त्र के प्रथम वर्ण से साधक के नाम के प्रथम वर्ण तक वर्णों को गिनें। इस संख्या को सात से गुणा करें और गुणनफल में तीन का भाग दें। जो शेष बचे, वह साध्यांक अथवा मन्त्रराशि है। साधक और साध्य में जिसकी राशि अधिक है, वह ऋणी और जिसकी राशि कम है, वह धनी है। ऋणी राशि के मन्त्र को ग्रहण करना चाहिए। यदि मन्त्र धनी है, तो वह ग्राह्य नहीं है॥७९-८०॥

[अस्यैव चक्रस्य क्रमान्तरम्]

अथवान्यप्रकारेण धनमृणं विशोधयेत्।।८१।।

ऋणधननिरूपणे व्यवस्थान्तरं दर्शयितुमुपक्रमते—**अथवेति**।

अथवा ऋण-धन शोधन एक अन्य विधि से किया जाय। ऋण-धन शोधन का यह तीसरा प्रकार है॥८१॥

[ततो मन्त्रशोधनप्रक्रिया]

साध्यनाम द्विगुणितं स्वरव्यञ्जनभेदतः।
साधकस्य च नामार्णं स्वरव्यञ्जनमण्डितम्।।८२।।
एकीकृत्य हरेत् पश्चाद्वसुभिः साधकस्य च।
स्वरव्यञ्जनरूपेण नामार्णं द्विगुणं चरेत्।।८३।।
साध्यनामाङ्कितं कृत्वा पूर्ववद् भागमाहरेत्।
योऽधिकः स ऋणी ज्ञेयः प्रकारश्चापरः स्मृतः।।८४।।

ततो मन्त्रशोधनस्य प्रक्रियामाह—**साध्येति**। साध्यनाम मन्त्रम्, तद्घटकवर्णान् स्वरव्यञ्जनभेदभिन्नान् द्विगुणीकृत्य तांश्च द्विगुणितान् वर्णान् स्वरव्यञ्जनभेदभिन्नैः साधकनामघटकवर्णैरेकीकृत्य तानेकीकृतान् वर्णानष्टभिर्हरेत्। तथा तद्वैपरीत्येन पूर्वोक्तरीत्या साधकनामघटकवर्णान् द्विगुणितान् साध्यनामघटकवर्णैरेकीकृत्य

पूर्ववदष्टभिर्हरेत्। एवं कृते साध्यसाधकाङ्कयोर्यद् भागावशिष्टं तत्र योऽधिकाङ्कः स ऋणी, यश्च न्यूनाङ्कः स धनीत्यवधेयम्।

साध्य नाम अर्थात् मन्त्र के घटक स्वरों और व्यञ्जनों की संख्या को गिनें। इस संख्या को दो से गुणा करके गुणनफल प्राप्त करें। इसी तरह साधक के नाम के घटक स्वरों और व्यञ्जनों की गिनती करें। इस संख्या को पूर्वप्राप्त गुणनफल की संख्या में जोड़ दें। इन दोनों के योगफल में ८ का भाग दें। जो शेष बचे, वह साध्यांक अथवा मन्त्र-राशि है।

इसी तरह साधक के नाम के घटक स्वरों और व्यञ्जनों की संख्या की गणना करें। इस संख्या को दो (२) से गुणा करें। इस गुणनफल में मन्त्र के घटक स्वरों और व्यञ्जनों की संख्या जोड़ दें। योगफल में ८ का भाग दें। जो शेष बची, वह साधकांक अथवा नामराशि है।

साध्य (मन्त्र) और साधक (मन्त्री) में से जिसकी राशि बड़ी अर्थात् अधिक है, वह ऋणी और जिसकी राशि कम है, वह धनी है। ऋणी मन्त्र ग्राह्य और धनी मन्त्र अग्राह्य है।।८२-८४।।

[एतच्चक्रविशोधितस्य मन्त्रस्य फलम्]

ऋणी मन्त्रः शुभफलो धनी स्यादशुभोदयः।
तुल्योदयः शुभः प्रोक्त इति तन्त्रविदो विदुः।।
उक्तमृणधनं चक्रं सर्वसिद्धिप्रदायकम्।।८५।।

एवं ऋणधनस्वरूपमभिधाय तस्य फलमाह—**ऋणीति**। तुल्योदयः साध्यसाधकयोस्तुल्योऽङ्कः, शुभफलदायक इत्यर्थः।

उपर्युक्त चक्रों के अनुसार यदि मन्त्र ऋणी है तो उस मन्त्र को ग्रहण करना शुभ है। यदि मन्त्र धनी है तो उसकी साधना शुभफलदायिनी नहीं होगी। वह मन्त्र केवल सेवा (जप) करायेगा। यदि साध्यांक (मन्त्रांक) और साधकांक बराबर हैं तो भी उस मन्त्र की सेवा की जा सकती है।।८५।।

ऋणी-धनी चक्र के बाद नक्षत्र-चक्र बताया जा रहा है।

[नक्षत्रचक्रं तत्र रेखापातः]

दश रेखाः प्रकर्त्तव्याः पूर्वपश्चिमयोगतः।
रेखाचतुष्टयञ्चैव विलिखेद्दक्षिणायतम्।
तन्मध्ये विलिखेद् वर्णान् वक्ष्यमाणक्रमेण तु।।८६।।

ऋणधनचक्रमुपदिश्य नक्षत्रचक्रमाह—दशेति। पूर्वतः पश्चिमान्ता दश, उत्तरतो दक्षिणान्ताश्च चतस्रो रेखाः कर्त्तव्याः। एवं कृते सप्तविंशतिः कोष्ठानि सम्पद्यन्ते। तन्मध्य इति। वर्णान् एकपञ्चाशद् वर्णानित्यर्थः।

नक्षत्र-चक्र बनाने के लिये पूर्व से पश्चिम १० खड़ी और उत्तर से दक्षिण ४ आड़ी रेखाएँ खींचें। इस तरह इस चक्र में २७ कोष्ठक बन जाएँगे। इन कोष्ठकों में वक्ष्यमाण विधि से वर्णविन्यास करें।।८६।।

[वर्णन्यासपरिपाटी, न्यसनीयानां वर्णानामश्विन्यादिक्रमत्वञ्च]

द्व्येकत्रि-वेद-शशिचन्द्रमुखेन्दुयुग्मं
युग्मं कलाधरयुगद्वयजन्मभूमीः।
पक्षत्रिचन्द्रहरनेत्रमहीन्दु-चन्द्र-
पक्षैकपक्ष-शिवलोचन-वेदवर्णम् ।।८७।।
बिन्दु-विसर्गौ स्वरान्त्यौ च शेषे गेहे समालिखेत्।
अश्विन्यादिक्रमेणैव वर्णनाम समीरितम्।।८८।।

तामेव वर्णविन्यासपरिपाटीमाह—**द्व्येकेत्यादिना समालिखेदित्यन्तेन।** तथाच तेषु कोष्ठेषु अश्विन्यादिक्रमेण प्रथमे कोष्ठे अ आ। द्वितीये इ। तृतीये ई उ ऊ। चतुर्थे ऋ ॠ ऌ ॡ। पञ्चमे ए। षष्ठे ऐ। सप्तमे ओ औ। अष्टमे क। नवमे ख ग। दशमे घ ङ। एकादशे च। द्वादशे छ ज। त्रयोदशे झ ञ। चतुर्दशे ट ठ। पञ्चदशे ड। षोडशे ढ ण। सप्तदशे त थ द। अष्टादशे ध। ऊनविंशे न प फ। विंशे ब। एकविंशे भ। द्वाविंशे म। त्रयोविंशे य र। चतुर्विंशे ल। पञ्चविंशे व श। षड्विंशे ष स ह। सप्तविंशे ळ क्ष अं अः। इत्यनया रीत्या वर्णान् लिखेदित्यर्थः।

वर्ण लिखने की विधि—इन २७ कोष्ठकों में प्रथम कोष्ठक से प्रारम्भ करके अश्विनी से रेवती-पर्यन्त २७ नक्षत्रों के नाम लिखें। नक्षत्रों के नाम के नीचे प्रत्येक कोष्ठक में यथा अधोनिर्दिष्ट वर्ण लिखें—

प्रथम कोष्ठक में अश्विनी के नीचे वर्णमाला के प्रथम दो वर्ण (अ-आ)। दूसरे में एक वर्ण (इ)। तीसरे में तीन वर्ण (ई उ ऊ)। चौथे में चार वर्ण (ऋ ॠ ऌ ॡ)। पाँचवें कोष्ठक में एक (ए)। छठवें में एक (ऐ)। सातवें में दो (ओ-औ) तथा बिन्दु और विसर्ग (अं-अः) इन दो वर्णों को सत्ताइसवें कोष्ठक में लिखें।

आठवें कोष्ठक से व्यञ्जन वर्णों का विन्यास प्रारम्भ होता है। यथा—आठवें में एक वर्ण (क), नवें में दो वर्ण (ख ग), दसवें में दो वर्ण (घ ङ) लिखें। ग्यारहवें में एक (च), बारहवें में दो वर्ण (छ ज), तेरहवें कोष्ठक में दो वर्ण (झ ञ) लिखें। चौदहवें में दो वर्ण (ट ठ), पन्द्रहवें में एक वर्ण (ड), सोलहवें में दो वर्ण (ढ ण), सत्रहवें में तीन वर्ण (त थ द), अठारहवें में एक वर्ण (ध), उन्नीसवें में तीन वर्ण (न प फ), बीसवें में एक वर्ण (ब), इक्कीसवें में एक वर्ण (भ), बाइसवें में एक वर्ण (म), तेइसवें में दो वर्ण (य र), चौबीसवें में एक वर्ण (ल), पच्चीसवें में दो वर्ण (व श), छब्बीसवें में तीन वर्ण (ष स ह) तथा सत्ताइसवें में दो वर्ण (ळ क्ष) लिखें।।८४-८८।।

नक्षत्रचक्र

१ **अश्विनी** अ आ देव	२ **भरणी** इ मनुष्य	३ **कृत्तिका** ई उ ऊ राक्षस	४ **रोहिणी** ऋॠऌॡ मनुष्य	५ **मृगशिरा** ए देव	६ **आर्द्रा** ऐ मनुष्य	७ **पुनर्वसु** ओ औ देव	८ **पुष्य** क देव	९ **आश्लेषा** ख ग राक्षस
१० **मघा** घ ङ राक्षस	११ **पू० फा०** च मनुष्य	१२ **उ० फा०** छ ज मनुष्य	१३ **हस्त** झ ञ देव	१४ **चित्रा** ट ठ राक्षस	१५ **स्वाती** ड देव	१६ **विशाखा** ढ ण राक्षस	१७ **अनुराधा** त थ द देव	१८ **ज्येष्ठा** ध राक्षस
१९ **मूल** न प फ राक्षस	२० **पूर्वाषाढा** ब मनुष्य	२१ **उ० षाढा** भ मनुष्य	२२ **श्रवण** म देव	२३ **धनिष्ठा** य र राक्षस	२४ **शतभिषा** ल राक्षस	२५ **पूर्वभाद्र** व श मनुष्य	२६ **उत्तरभा०** ष स ह मनुष्य	२७ **रेवती** अं अः ळ क्ष देव

नक्षत्रचक्र से मन्त्र-शोधन की विधि का निरूपण अगले दो श्लोकों में किया गया है—

[एतच्चक्रकरणकमन्त्रशोधनपरिपाटी]

जन्मभादाद्यनाम्नस्तु वर्णाद्वा विलिखेत् सुधीः।
साध्याद्यक्षरपर्यन्तं जन्मादीनि पुनः पुनः।।८९।।
जन्म सम्पद् विपत् क्षेमः प्रत्यरिः साधको वधः।
मित्रं परममित्रञ्च नामतुल्यफलप्रदाः।।९०।।

एतच्चक्रकरणकमन्त्रशोधनपरिपाटीमाह—**जन्मेति**। स्वजन्मनक्षत्राश्रयकोष्ठस्थित-वर्णात् साधकनामाद्यक्षरसम्बन्धिनक्षत्राद् वा मन्त्राद्यक्षरपर्यन्तं जन्मसम्पदित्यादिवक्ष्यमाणक्रमेण पुनः पुनर्गणयेदित्यर्थः। अत्र नाम्नो वर्णाद्वेति कल्पान्तरं स्वजन्मनक्षत्राज्ञाने मन्त्रशोधनार्थम्। तदुक्तं तन्त्रसारे—'तत्र स्वनक्षत्रादेव नक्षत्रं गणनीयम्। स्वनक्षत्राज्ञाने स्वनामाद्यक्षरसम्बन्धिनक्षत्रादेव नक्षत्रं गणनीयम्। पिङ्गलातन्त्रे—

प्रकटं यस्य जन्मर्क्षं तस्य जन्मर्क्षतो भवेत्।
प्रनष्टं जन्मभं यस्य तस्य नामर्क्षतो भवेत्।।

इति वचनात्।

प्रादक्षिण्येन गणयेत् साधकाद्यक्षरात् सुधीः।।

इति वचनाच्च इति।

जन्मादीनि पुनः पुनरित्युक्तम्, तदेवाह—**जन्मेत्यादि**। **नामतुल्यफलप्रदा** इति सम्पदः सम्पज्जनकत्वं विपदो विपज्जनकत्वमित्यनया रीत्या फलमुन्नेयमित्यर्थः। इममर्थं स्फुटमाह राघवभट्टनिबन्धतन्त्रे—

रसाष्टनवभद्राणि युगयुग्मगतान्यपि।
इतराणि न भद्राणि परित्याज्यानि सूरिभिः।। इति।

एतेन साधक-मित्र-परममित्र-क्षेमसम्पदो ग्रहणीया इतरा वर्जनीया इत्यापतति। अत एव तन्त्रसारकृतापि जन्म-तृतीय-पञ्चम-सप्तमानि नक्षत्राणि वर्जनीयानीत्युक्तम्।

अत्रेदमवधेयम्—प्रागुक्तसप्तविंशतिनक्षत्राणि मानुष-राक्षस-दैवतभेदेन त्रिविधानि भवन्ति। तदुक्तं तन्त्रसारधृतनिबन्धतन्त्रे—

पूर्वोत्तरत्रयञ्चैव भरण्यार्द्राथ रोहिणी।
इमानि मानुषाण्याहुर्नक्षत्राणि मनीषिणः।।
ज्येष्ठा-शतभिषा-मूला-धनिष्ठाश्लेष-कृत्तिकाः।
चित्रा-मघा-विशाखाः स्युस्तारा राक्षसदेवताः।।
अश्विनी रेवती पुष्या स्वाती हस्ता पुनर्वसुः।
अनुराधा-मृगशिरःश्रवणा देवतारकाः।।
तथा— स्वजातौ परमा प्रीतिर्मध्यमा भिन्नजातिषु।
रक्षोमानुषयोर्नाशो वैरं दानवदेवयोः।।

ततश्च नक्षत्रचक्रविचारे मानुषादिभेदेन तत्तत्फलभेदोऽपि विवेक्तव्य इति।

शोधन-विधि—इस चक्र से यह देखा जाता है कि मन्त्र का नक्षत्र साधक के जन्म-नक्षत्र के अनुकूल है या नहीं। एतदर्थ साधक के जन्म-नक्षत्र से मन्त्र के आद्य (प्रथम) वर्ण वाले नक्षत्र तक (१) जन्म, (२) सम्पत्, (३) विपत्, (४) क्षेम, (५) प्रत्यरि, (६) साधक, (७) वध, (८) मित्र और परममित्र (९) के क्रम से गणना की जाती है। इसका अर्थ यह है कि यदि मन्त्र का नक्षत्र साधक के जन्म-नक्षत्र से दूसरा है तो यथा-नाम सम्पत्तिदायक है, तीसरा है तो विपत्तिप्रद है, चौथा है तो कल्याणकारी है, पाँचवाँ है तो घोर शत्रु है, छठवाँ है तो साधक या अनुकूल सहायक है, सातवाँ है तो घातक (मृत्युप्रद), आठवाँ है तो मित्र तथा नवाँ है तो परममित्र है।

यदि पहिली बार उक्त क्रम से गणना करने पर मन्त्र का नक्षत्र अर्थात् मन्त्र का प्रथम अक्षर प्राप्त न हो तो १०वें नक्षत्र (कोष्ठक) से दूसरी बार इसी क्रम से गणना करें। यदि दुबारा गणना करने पर भी साध्य मन्त्र का नक्षत्र (प्रथम अक्षर) प्राप्त न हो तो उन्नीसवें कोष्ठक से तीसरी बार इसी क्रम (जन्म, सम्पत् आदि) से गणना करें।

जन्म-नक्षत्र से विपत् (तृतीय), प्रत्यरि (पंचम) और वध (सप्तम)-संज्ञक नक्षत्र वाले मन्त्र सर्वथा अग्राह्य और त्याज्य हैं।।८९-९०।।

विमर्श—नक्षत्र-चक्र से मन्त्र-शोधन के लिये साधक के जन्म-नक्षत्र से ग़णना की जाती है। यदि जन्म-कुण्डली में साधक का जन्म-नक्षत्र पुनर्वसु बताया गया है तो इस चक्र में गणना पुनर्वसु (जन्म-नक्षत्र) से की जायगी। तदनुसार पुष्य सम्पत् नक्षत्र, आश्लेषा विपत् नक्षत्र, मघा—क्षेम आदि होंगे। यदि जन्म-नक्षत्र ज्ञात नहीं है तो यह गणना साधक के प्रचलित नाम के आद्य वर्ण वाले नक्षत्र से की जायगी।

गणविचार—यद्यपि मूल ग्रन्थ में नक्षत्रों के देव आदि गणों का विचार नहीं किया गया है; परन्तु ग्रन्थ की संस्कृत टीका में 'तन्त्रसार' में यथा उद्धृत निबन्ध-तन्त्र के अनुसार नक्षत्रों के गण बताये गये हैं। यथा—

देवगण— अश्विनी, मृगशिरा, पुनर्वसु, पुष्य, हस्त, स्वाती, अनुराधा, श्रवण और रेवती—इन ९ नक्षत्रों का देवगण है।

मनुष्यगण— भरणी, रोहिणी, आर्द्रा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तरफाल्गुनी, पूर्वभाद्रपद, उत्तरभाद्रपद, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा—इन ९ नक्षत्रों का मनुष्यगण है।

राक्षसगण— कृत्तिका, आश्लेषा, मघा, चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा, मूल, धनिष्ठा और शतभिषा—ये ९ राक्षसगण के नक्षत्र हैं।

उपर्युक्त नक्षत्र-चक्र में वर्णों (अक्षरों) के नीचे नक्षत्र का वर्ण लिखना चाहिए।

वर्णमैत्री—साध्य और साधक का एक ही वर्ण हो तो उनमें परम प्रीति होती है। राक्षस और मनुष्यगण होने पर साधक का नाश होता है। राक्षस एवं देवगण परस्पर शत्रु हैं। एतत् भिन्न अर्थात् देव और मनुष्यगण होने पर मध्यम प्रीति होती है।

[राशिचक्रम्]

नक्षत्रचक्रं कथितं राशिचक्रमथोच्यते।
राशिचक्रं समालिख्य तत्र वर्णांल्लिखेत् क्रमात्।।९१।।

एवं नक्षत्रचक्रं निरूप्य राशिचक्रमाह—**राशिचक्रं समालिख्येति**। लेखन-क्रममाह तन्त्रसारधृतागमकल्पद्रुमे—

रेखाद्वयं पूर्वपरेण कुर्यात्तन्मध्यतो याम्यकुबेरभेदात्।
एकैकमीशाननिशाचरे तु हुताशवाय्वोर्विलिखेत्ततोऽर्णान्।। इति।

एतेन पूर्वतः पश्चिमान्तं रेखाद्वयं दक्षिणत उत्तरान्तञ्च रेखाद्वयं विधाय ईशानादि-चतुष्कोणेष्वेकैकशो रेखाचतुष्टयं कुर्यादित्यर्थः। एवं कृते मेषादिद्वादशराशीनां द्वादश कोष्ठानि सम्पद्यते।

राशिचक्र—नक्षत्रचक्र के बाद अब राशिचक्र का निरूपण किया जा रहा है। चक्र बनाने के बाद उसमें वर्णमाला क्रम से वर्ण लिखे जायँ।।९१।।

विमर्श—मूल ग्रन्थ में राशिचक्र बनाने की विधि नहीं बताई गई है। ग्रन्थ की संस्कृत टीका में 'तन्त्रसार' में यथा उद्धृत 'आगम कल्पद्रुम' के अनुसार राशिचक्र बनाने की विधि बताई गई है। इसके अनुसार राशिचक्र बनाने के लिये पूर्व से पश्चिम दो समानान्तर रेखाएँ खींचें। इन रेखाओं के मध्य में वर्णलेखन के लिये पर्याप्त स्थान होना चाहिए। तत्पश्चात् इन पूर्वापर रेखाओं के मध्य बिन्दुओं को काटती हुई इसी प्रकार की दो रेखाएँ उत्तर से दक्षिण की ओर खींचें। इन चारो रेखाओं को वृत्त से घेर दें। दूसरी विधि यह है कि एक वृत्त बनाकर उसमें पूर्व-पश्चिम दो समानान्तर

खड़ी रेखाएँ और उत्तर-दक्षिण दो समानान्तर आड़ी रेखाएँ खींचें। इस प्रकार वृत्त में चार भाग हो जायेंगे। अब ईशान से नैर्ऋत्य की ओर एक रेखा तथा अग्निकोण से वायव्य कोण की ओर एक रेखा खींचें। इस तरह मेष आदि बारह राशियों के लिये बारह कोष्ठक बन जायेंगे। पूर्व-पश्चिम रेखाओं के मध्य में 'मेष' लिखकर बारह कोष्ठकों में विपरीतक्रम (Anti clock-wise) से शेष राशियों के नाम लिखें। बाद में इन बारह राशियों के कोष्ठकों में वक्ष्यमाण विधि से वर्णों का विन्यास करें।।९१।।

[तत्र वर्णन्यासपरिपाटी]

वेदाग्निवह्नियुगलश्रवणाक्षिसंख्यान्
पञ्चेषुबाण-शरपञ्च-चतुष्टयार्णान् ।
मेषादितः प्रविलिखेदथ शादिवर्णान्
कन्यागृहेषु पुनरेव ततो लिखेच्च।।९२।।

तेषु मेषादिकोष्ठेषु वर्णन्यासपरिपाटीमाह—वेदाग्नीति। एतेन मेषकोष्ठे अ आ इ ई इति चत्वार्यक्षराणि। वृषकोष्ठे उ ऊ ऋ इति त्रीणि। मिथुनकोष्ठे ॠ ऌ ॡ इति त्रीणि। कर्कटकोष्ठे ए ऐ इति द्वे। सिंहकोष्ठे ओ औ इति द्वे। कन्याकोष्ठे अं अः इति द्वे। तुलाकोष्ठे क ख ग घ ङ इति पञ्च। वृश्चिककोष्ठे च छ ज झ ञ इति पञ्च। धनुःकोष्ठे ट ठ ड ढ ण इति पञ्च। मकरकोष्ठे त थ द ध न इति पञ्च। कुम्भकोष्ठे प फ ब भ म इति पञ्च। मीनकोष्ठे य र ल व इति चत्वार्यक्षरणि लिखेत्। अथ शादिवर्णान् कन्यागृहेषु पुनरित्यनेन कन्यागृहे लिखितात् अं अः इति वर्णद्वयादनन्तरं श ष स ह ळ क्ष इति वर्णषट्कं च लिखेदित्यवगन्तव्यम्।

वर्णलेखन का क्रम—मेष राशि के कोष्ठक में 'अ-आ-इ-ई' ये चार वर्ण लिखें। वृष राशि के कोष्ठक में 'उ ऊ ऋ', मिथुन में 'ॠ ऌ ॡ', कर्क में 'ए-ऐ', सिंह में 'ओ-औ', कन्या के कोष्ठक में 'अं-अः' लिखें। तुला के कोष्ठक में 'क'वर्ग (क ख ग घ ङ), वृश्चिक के कोष्ठक में 'च'वर्ग (च छ ज झ ञ), धनु के कोष्ठक में 'ट'वर्ग (ट ठ ड ढ ण), मकर के कोष्ठक में 'त'वर्ग (त थ द ध न), कुम्भ के कोष्ठक में 'प'वर्ग (प फ ब भ म), मीन के कोष्ठक में अन्तःस्थ (य र ल व) लिखकर शेष ६ वर्णों अर्थात् 'श ष स ह ळ क्ष' को कन्या राशि के कोष्ठक में लिख दें।।९२।।

[राशीनां संज्ञास्तन्मूलको मन्त्रशोधनक्रमश्च]

जप्तुः स्वराशितो मन्त्री यावत् साध्यादिवर्णकम्।
लग्नं धनं भ्रातृबन्धुपुत्रशत्रुकलत्रकाः।।९३।।
मरणे धर्मकर्मायव्यया द्वादश राशयः।

[राशीनां प्रागुक्तसंज्ञानुरूपफलदातृत्वम्]

नामानुरूपमेतेषां शुभाशुभफलं दिशेत्।।९४।।

अनेन चक्रेण मन्त्रशोधनस्य क्रममाह—जप्तुरिति। जप्तुः साधकस्य स्वराशितः साध्यादिवर्णकं मन्त्रप्रथमाक्षरं यावन्मन्त्री देशिको गणयेदित्यर्थः।

गणनफलमाह—**लग्नमित्यादि**। मेषादिद्वादशराशीनां लग्नादिद्वादशसंज्ञास्तत्तत्संज्ञानुरूपशुभाशुभफलदातृत्वञ्चेत्यर्थः। अत एव तन्त्रसारे 'स्वराशीनामनुकूलं मन्त्रं भजेत्। 'सताररराशिकोष्ठानामनुकूलान् भजेन्मनूनि'ति नारदवचना'दित्याह।

स्वराशेरज्ञाने शोधनक्रममाह तत्रैव—'यदा तु स्वराशेरज्ञानं तदा साधकनामाद्यक्षरसम्बन्धिनं राशिं गृहीत्वा गणयेत्। नारायणीये—

अज्ञाते राशिनक्षत्रे नामाद्यक्षरदर्शनात्।
साध्यस्याक्षरराश्यन्तं गणयेत्साधकाक्षरात्।।

इति रामार्चनचन्द्रिकाधृतत्वादित्यन्तेन। अत्र नामानुरूपमेतेषां शुभाशुभफलं दिशेदित्युक्तम्। विशेषमाह तन्त्रसारधृततन्त्रान्तरतन्त्रे—

लग्ने सिद्धिस्तथा नित्यं धने धनसमृद्धिदम्।
भ्रातरि भ्रातृवृद्धिः स्याद् बान्धवे बान्धवप्रियः।।
पुत्रे पुत्रविवृद्धिः स्याच्छत्रौ शत्रुविवर्द्धनम्।
कलत्रे मध्यमा प्रोक्ता मरणे मरणं भवेत्।।
धर्मे धर्मविवृद्धिः स्यात् सिद्धिदः कर्मसंस्थितः।
आये च धनसम्पत्तिर्व्यये च सञ्चितव्ययः।।

इति राशिचक्रसङ्केतः।

जपकर्ता की जन्मराशि से मन्त्र के आद्य वर्ण की राशि तक गणना करनी चाहिये। जन्म-राशि से गिनने पर बारह राशियों (भावों) के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) जन्म (लग्न), (२) धन, (३) भ्रातृ, (४) बन्धु, (५) पुत्र, (६) शत्रु, (७) कलत्र, (८) मरण, (९) धर्म, (१०) कर्म, (११) आय और (१२) व्यय। यह गणना वामावर्तक्रम से की जाती है। इस प्रकार गणना करने पर मन्त्र की जो राशि प्राप्त होती है, वह अपनी धन, भ्रातृ आदि संज्ञा के अनुरूप फल देती है।।९३-९४।।

विमर्श—यदि साधक की राशि और मन्त्र की राशि एक ही हो तो मन्त्र सिद्धिदायक होता है। यदि धनसंज्ञक हो तो नित्य धनप्राप्ति, भ्रातृसंज्ञक होने से भाइयों की अभिवृद्धि होती है। बन्धुसंज्ञक होने पर बन्धुओं से प्रेमसम्बन्ध की अभिवृद्धि, पुत्रसंज्ञक होने पर पुत्रों की विवृद्धि, शत्रुसंज्ञक होने पर शत्रुओं की संख्या में वृद्धि, 'कलत्र'संज्ञक मन्त्र मध्यम फलदायी है। मन्त्र का प्रथम वर्ण यदि 'मरण'संज्ञक आठवीं राशि में हो तो अकाल मृत्यु, धर्मसंज्ञक हो तो धर्मवृद्धि, कर्मसंज्ञक हो तो शुभ कर्मों की वृद्धि, आयसंज्ञक हो तो आय में वृद्धि और व्ययसंज्ञक हो तो सञ्चित धन का अनाप-शनाप व्यय हो जाता है। रिपु (छठवीं), मरण (अष्टम) और व्यय (द्वादश) संज्ञक मन्त्रों का जप नहीं करना चाहिए।

राशिचक्र

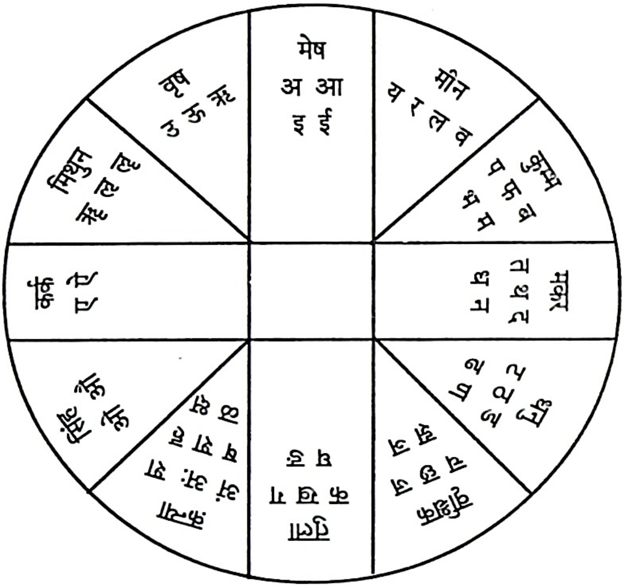
मेष
अ आ
इ ई
वृष
उ ऊ ऋ
मिथुन
ॠ ऌ ॡ
कर्क
ए ऐ
सिंह
ओ औ
कन्या
अं अः श
ष श ह
ळ क्ष
तुला
क ख ग
घ ङ
वृश्चिक
च छ ज
झ ञ
धनु
ट ठ ड
ढ ण
मकर
त थ द
ध न
कुम्भ
प फ ब
भ म
मीन
य र ल व

[अ-क-ड-म-चक्रं तत्र वर्णन्यासक्रमश्च]

राशिचक्रे लिखेद् वर्णान् क्लीबहीनान् स्वरान् बुधः।
ककारादिक्षकारान्तान् दक्षावर्त्तक्रमेण तु।
मेषादितोऽपि मीनान्तं गणयेत् क्रमशः सुधीः।।९५।।

एवं राशिचक्रसङ्केतं प्रदर्श्य अ-क-ड-म-चक्रसङ्केतमाह—**राशिचक्रे लिखेद् वर्णानिति**। अत्र रेखापातक्रमं स्फुटमाह रुद्रजामलतृतीयपटले—

रेखाद्वयं पूर्वपरे मध्ये रेखाद्वयं लिखेत्।
चतुष्कोणे चतूरेखाकडमं चक्रमण्डलम्।
भ्रामयित्वा महावृत्तं निर्माय वर्णमालिखेत्।। इति।

वर्णान् विशेषयति—**क्लीबहीनान् स्वरान्, ककारादिक्षकारान्तान्** व्यञ्जनवर्णांश्चेति। स्वरेषु ऋ ॠ ऌ ॡ एते चत्वारो वर्णाः क्लीबाः।

ऋ ॠ वर्णद्वयं ऌ ॡ तद्धि क्लीबं प्रचक्षते।

इति तन्त्रसारात्। तान् वर्जयित्वा स्वरान् लिखेदित्यर्थः। तच्च लेखनं दक्षावर्त्तेनेत्याह—**दक्षावर्त्तक्रमेण त्विति**। एतेन पुनरावृत्त्या यावच्छेषं मेषतो वृषान्तमेकैकशो वर्णानां स्थापनमुक्तं भवति, अत एव तन्त्रसारेऽक-ड-म-चक्रमुपक्रम्याभिहितेन—

एकैकक्रमतो लेख्यान् मेषादिषु वृषान्तगान्।
गणयेत् क्रमशो भद्रे नामादिवर्णपूर्वकान्।।

इति वचनेन दक्षावर्त्तेनैकैकवर्णस्थापनमाह। अथ गणनाक्रममाह—**मेषादित इति**। मेषादितो मीनान्तमित्यनेन वामावर्त्तेन गणनम्, अपिशब्देन मीनादितो मेषान्तमित्यर्थस्य लाभाद्दक्षावर्त्तेनापि गणनमुपदिष्टम्।

अकडम चक्र—राशिचक्र के बाद 'अकडम' चक्र बनाकर मन्त्र-शोधन की विधि बताई जा रही है। उपर्युक्त विधि से राशिचक्र बनाकर उसमें यथाक्रम मेष से मीन-पर्यन्त बारह राशियों के नाम लिखें। तत्पश्चात् चक्र में मेष से प्रारम्भ कर दक्षिणावर्त क्रम से प्रत्येक कोष्ठक में क्लीब अर्थात् ऋ ॠ-ऌ ॡ—इन चार स्वरों को छोड़कर एक-एक स्वरवर्ण लिखें। इस तरह मेष-मीन-कुम्भ आदि के क्रम से प्रत्येक कोष्ठक में एक-एक स्वर आ जाएँगे। स्वरों को लिखने के बाद इसी क्रम से 'क' कार से 'क्ष'कार-पर्यन्त ('ळ' को छोड़कर) व्यञ्जन वर्णों को लिखें। इस तरह 'अकडम' चक्र बन जायगा। चूँकि इस चक्र के प्रथम कोष्ठक (मेष) में 'अ क ड म' ये चार वर्ण हैं; अतः इसे 'अकडम' चक्र कहते हैं।।९५।।

वर्णों की गणना—इस चक्र में वर्णों की गणना मेष से प्रारम्भ करके मीन-पर्यन्त की जाती है। इससे संकेत यह मिलता है कि वर्णगणना का क्रम दक्षिणावर्त है। अकडम चक्र का स्वरूप निम्नानुसार हैं—

अ क ड म चक्र

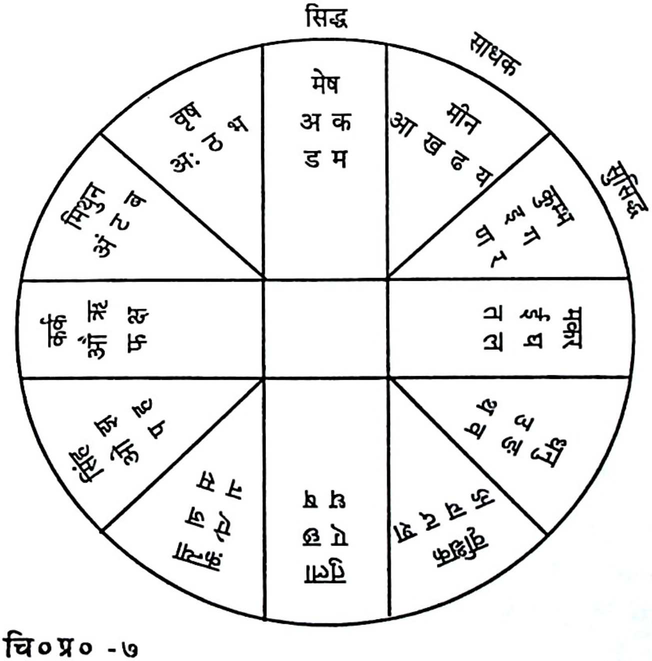
सिद्ध
साधक
सुसिद्ध
मेष अ क ड म
मीन आ ख ढ य
कुम्भ इ ग ण र
मकर ई घ त ल
धनु उ ङ थ व
वृश्चिक ऊ च द श
तुला ए छ ध ष
कन्या ऐ ज न स
सिंह ओ झ प ह
कर्क औ ञ फ क्ष
मिथुन अं ट ब
वृष अः ठ भ

[एतच्चक्रकरणकमन्त्रशोधनपरिपाटी]

जप्तुः स्वनामतो मन्त्री यावन्मन्त्राद्यमक्षरम्।
सिद्धसाध्यसुसिद्धारिक्रमेणैव पुनः पुनः।।९६।।

एतच्चक्रकरणकमन्त्रशोधनपरिपाटीमाह—जप्तुरिति। जप्तु; साधकस्य स्वनामतो नामप्रथमाक्षरत इत्यर्थः, मन्त्रप्रथमाक्षरं यावत् सिद्ध-साध्य-सुसिद्धारीन् दक्षावर्त्तेन वामावर्त्तेन च पुनः पुनर्गणयेदित्यर्थः। एवं कृतायां गणनायां यावन्ति गृहाणि सिद्धादिसंज्ञितानि स्युस्तानि विशिष्याह रुद्रजामले तृतीयपटले—

नवैकपञ्चमे सिद्धः साध्यः षड्दशयुग्मके।
सुसिद्धस्त्रिसप्तके रुद्रे वेदाष्टद्वादशे रिपुः।। इति।

तथाच प्रथम-पञ्चम-नवमाः सिद्धाः। द्वितीय-षष्ठ-दशमाः साध्याः। तृतीयसप्तमैकादशाः सुसिद्धाः। चतुर्थाष्टमद्वादशा अरय इति पर्यवस्यति।

साधक के नाम के प्रथम वर्ण से मन्त्र के प्रथम वर्ण तक सिद्ध-साध्य-सुसिद्ध और अरिक्रम से वामावर्त गणना करनी चाहिए। 'पुनः पुनः' अर्थात् बार-बार से आशय यह है कि चक्र में मन्त्राद्याक्षर की गणना दक्षावर्त और वामावर्त से बार-बार की जाय। इस प्रकार गणना करने से सिद्ध-साध्य आदि की स्थिति इस प्रकार होगी—प्रथम, पञ्चम एवं नवम, सिद्ध। द्वितीय, षष्ठ और दस—साध्य। तृतीय, सप्तम एवं एकादश, सुसिद्ध। चतुर्थ, अष्टम, द्वादश—अरि।

[शोधितमन्त्रस्य फलविशेषप्रसवितृत्वम्]

सिद्धः सिद्धिप्रदो नित्यं साध्यो जपहुतादिभिः।
सुसिद्धः प्राप्तिमात्रेण साधकं भक्षयेदरिः।।९७।।

नित्य जप से सिद्ध मन्त्र, नित्य जप-हवन आदि से साध्य, दीक्षा में प्राप्त होते ही सुसिद्ध मन्त्र सिद्धिप्रद होते हैं। अरि मन्त्र जप करने से साधक का वध कर देता है।।९७।।

[अकडमचक्रोपसंहारः कुलाकुलचक्रविचारप्रतिज्ञा च]

उक्तमकडमं चक्रं कुलाकुलं विचार्यते।।९८।।

अकडम चक्र के बाद कुलाकुल चक्र का निरूपण किया जा रहा है।।९८।।

[तत्र रेखापातो वर्णन्यासस्तेषां संज्ञा च]

पूर्वापरायताः षट्करेखास्तु विलिखेत् क्रमात्।
पञ्चभूतात्मका वर्णाः पञ्च पञ्च विभागतः।।९९।।
पञ्च ह्रस्वाः पञ्च दीर्घा बिन्द्वन्ताः सन्धिसम्भवाः।
पञ्चशः कादयः ष-क्ष-ळ-स-हान्ताः समीरिताः।।१००।।
वायु तेजो-मही-वारि-नभांसि च क्रमेण तु।।१०१।।

एवमकडमचक्रं निरूप्य कुलाकुलचक्रं निरूपयति—**पूर्वेति**। पूर्वपरायत-षड्रेखापातेन पञ्च गृहाणि सम्पद्यन्ते। **पञ्चभूतात्मका इति**। वर्णानां पञ्चभूतात्मक-त्वञ्च—

कारणात् पञ्चभूतानामुद्भूता मातृका यतः।
ततो भूतात्मका वर्णाः पञ्च पञ्च विभागतः॥

इति शारदातिलकद्वितीयपटलवचनादवगन्तव्यम्। तेषु च गृहेषु अकारादिवर्णान् पञ्चशो विभज्य सन्निवेशयेदित्यर्थः

तानेव वर्णानाह—**पञ्च ह्रस्वा इत्यादि**। ततश्च वायव्यगृहे अ आ, आग्नेयगृहे इ ई, भौमगृहे उ ऊ, वारुणगृहे ऋ ॠ, आकाशगृहे ऌ ॡ इति द्वौ द्वौ वर्णौ प्रतिगृहं निवेशनीयावित्यापतति। अत्र 'सन्धिसम्भवानां पृथगुपादानान्न पारिभाषिकह्रस्वदीर्घग्रह' इति विशेषणम्। बिन्द्वन्ताः सन्धिसम्भवा इत्यत्र बिन्द्वन्ता इति सन्धिसम्भवा इत्यस्य विशेषणम्। बिन्दुरनुस्वारोऽन्तो येषां सन्धिसम्भववर्णानां ए ऐ ओ औ इत्याख्यानां ते बिन्द्वन्ताः। वर्णानामेतेषां सन्धिसम्भवत्वं प्रदर्शितं राघवभट्टेन एषां यथा सन्धिसम्भवत्वं तथोक्तमाचार्य्यैः—

अकारेकारयोर्योगादेकारो वर्ण इष्यते।
तस्यैवैकारयोगेण स्यादैकाराक्षरं तदा॥
उकारयोगे तस्यैव स्यादोकाराह्वयः स्वरः।
तस्यैवौकारयोगेण स्यादौकाराह्वयः स्वरः।
सन्ध्यक्षराः स्युश्चत्वारो मन्त्राः सर्वार्थसाधकाः॥ इति।

विसर्गस्य षोडशस्वरान्तर्गतत्वेऽप्यत्र तस्यागणने हेतुमाह राघवभट्टः—'मूलाधारात् सञ्जातविवक्षोत्पन्नप्रयत्नप्राणपवनप्रेरितः स्थानान्तरमप्राप्य कण्ठादेव निःसरन् प्रकृत्यात्मकः सर्गोऽत्र भूतेषु न गणितः' इति। तथा कादिमतेऽपि—

मायाशक्त्यभिधः सर्गः सर्वभूतात्मकः प्रभुः।
तस्मात्तस्यात्र विन्यासो नैकदेशे शिवात्मनि॥ इति।

सर्गो विसर्गः। एवं स्वरवर्णन्यासमुक्त्वा व्यञ्जनानां न्यासमाह—**पञ्चश इति**। कादयः पञ्चश इत्यर्थः। पञ्चश इति वीप्सार्थे शस्प्रत्ययः। कादयः पञ्च पञ्च वर्णा इत्यर्थः। एतेन क-च-ट-त-पाद्याः पञ्च वर्गा य-र-ल-व-शाश्चेति लभ्यते। ते कीदृशाः कादय इत्याह—**ष-क्ष-ळ-स-हान्ता इति**।

अत्र पञ्च ह्रस्वाः पञ्च दीर्घाः तथा बिन्द्वन्ताः सन्धिसम्भवाः तथा पञ्चशः कादयः तथा षक्षेत्यादिपञ्च पञ्च-तया निर्देशात् प्रत्येकपञ्चकानां क्रमेण वाय्वादित्वमिति सूचितम्। ततश्च—

अ आ ए क च ट त प य षा दश वायव्याः।
इ ई ऐ ख छ ठ थ फ र क्षा दश तैजसाः।

उ ऊ ओ ग ज ड द ब ल ळा दश पार्थिवाः।
ऋ ॠ औ घ झ ढ ध भ व सा दश वारुणाः।
ऌ ॡ अं ङ ञ ण न म श हा दश नाभसाः।

इत्यनया रीत्या वर्णानां वाय्वादित्वमित्यवगन्तव्यम्। यत्तु पिङ्गलामते—

चत्वारिंशत्तथा पञ्च वर्णसंख्या प्रकीर्त्तिता।
गणस्तु नवभिर्ज्ञेयः पार्थिवादिषु पञ्चसु।।

इति वचनेन नवनवानां वर्णानां वाय्वादिगणत्वमुक्तम्, तत्र 'अत्र ह्रस्वैरेव दीर्घाणां ग्रहान्नवभिरित्युक्ति'रिति समाहितं राघवभट्टेन। अतस्तत्र दशभिरितितात्पर्यक एव नवभिरिति व्यवहार इति न कश्चिद्विरोधः।

कुलाकुल चक्र—पूर्व से पश्चिम छः और उत्तर-दक्षिण ग़्यारह रेखाएँ खींचें। अब इस चक्र की प्रथम पंक्ति के पाँच कोष्ठकों में क्रम से पाँच महाभूतों के नाम लिखें। यथा—वायु-अग्नि-पृथ्वी-जल और आकाश। इनके नीचे इन महाभूतों से उत्पन्न अक्षरों को लिखें। वर्णों के लिखने का क्रम निम्नानुसार है—

वायुतत्त्व के नीचे अ-आ; अग्नितत्त्व के नीचे इ-ई; भूमितत्त्व के नीचे उ-ऊ, जलतत्त्व के नीचे ऋ-ॠ एवं आकाशतत्त्व के नीचे ऌ-ॡ लिखें। इसके नीचे की पंक्ति में वायु से प्रारम्भ कर आकाश के नीचे क्रमशः ए-ऐ ओ-औ एवं अं लिखें। इस चक्र के लिये विसर्ग (अः) की गणना नहीं की जाती। स्वर-वर्णों को लिखने के बाद ककार आदि पाँच वर्गों के वर्णों को एक-एक कर पूर्व की भाँति लिखें। स्वर एवं व्यञ्जन के बाद 'य'कार से 'स'कार-पर्यन्त वर्णों को लिखें। कुलाकुल चक्र का चित्र सामने है।

कुलाकुल चक्र

वायु	अग्नि	पृथ्वी	जल	आकाश
अ आ	इ ई	उ ऊ	ऋ ॠ	ऌ ॡ
ए	ऐ	ओ	औ	अं
क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म
य	र	ल	व	श
ष	क्ष	ळ	स	ह

[एतच्चक्रकरणकमन्त्रशोधनपरिपाटी]

साधकस्याक्षरं पूर्वं मन्त्रस्यापि तथाक्षरम्।
यद्येकभूतदैवत्यं जानीयात् स्वकुलं हि तत्।।१०२।।

अनेन मन्त्रशोधनस्य प्रकारमाह—साधकस्येत्यादिना। इदमवधेयम्—अत्र कुलाकुलशब्देन स्वकुलं परकुलञ्चाभिधीयेते, तत्प्रतिपादकत्वादेवास्य कुलाकुल-चक्रमिति संज्ञा। तत् किं स्वकुलमित्याकाङ्क्षायामाह—साधकस्येति। साधकनाम्नो मन्त्रस्य च पूर्वं प्रथमाक्षरं यदि एकभूतदैवत्यं स्यात् अनयोर्यदि वाय्वादीनामेकमेव भूतं

देवता भवेत् तत् स्वकुलं जानीयादित्यर्थः। एकभूतदैवत्यमिति एकं भूतं दैवत्यं देवता अस्येति विग्रहः। तथाच साधकनाम्नः प्रथमाक्षरं यद्भूतदेवताकं मन्त्राद्यक्षरमपि यदि तद्भूतदेवताकवर्णान्तर्गतं भवेत् तत् स्वकुलं विपर्यये तु परकुलमिति। अत एव—

मन्त्रसाधकयोराद्यो वर्णः स्यात् पार्थिवो यदि।
तत् कुलं तस्य तत् प्रोक्तमेवमन्येषु लक्षयेत्।।

इति राघवभट्टधृतपिङ्गलामतवचने अन्येषु लक्षयेदित्यनेन अन्येषामपि मन्त्रसाधकनामादिवर्णानामेकदेवताकत्वे स्वकुलत्वमुपपादितम्।

साधक के नाम का पहिला अक्षर और मन्त्र का पहिला अक्षर यदि एक ही महाभूत से उत्पन्न हों तो उस मन्त्र को अपने कुल का समझना चाहिए। अपने कुल का मन्त्र साधना के लिये सर्वश्रेष्ठ होता है।।१०२।।

चूँकि बहुत कम स्थितियों में ऐसा होता है। अक्सर होता यह है कि साधक के नाम का पहिला अक्षर किसी एक कुल में है तो मन्त्र का पहिला अक्षर किसी अन्य कुल में है। ऐसी स्थिति में इन कुलों अथवा महाभूतों की परस्पर मित्रता और शत्रुता का विचार किया जाता है।

[वर्णानां परस्परशत्रुत्वमित्रत्वादिव्यवस्था]

पार्थिवे वारुणे मैत्रमाग्नेयस्यापि मारुतम्।
पार्थिवानामक्षराणां शत्रुत्वे मारुतं स्थितम्।।१०३।।
आग्नेयस्य जलं शत्रुर्जलस्य मारुतं रिपुः।
सर्वेषामेव वर्णानामविरोधि तु नाभसम्।।१०४।।

इदानीं विभिन्नभूतदेवताकवर्णानामरिमित्रादिव्यवस्थामाह—**पार्थिव** इत्यादिना **मारुतं रिपुरि**त्यन्तेन। एतेन नाभसवर्णवर्ज्जं वाय्वादिचतुष्टयदेवताकवर्णानां परस्परं शत्रुत्वं मित्रत्वमौदासीन्यञ्च व्यवस्थापितानि। व्यक्तमाह राघवभट्टधृततन्त्रान्तरे—

वर्णांशकं वदिष्यामि चतुर्मात्रव्यवस्थितम्।
स्वकुलं मित्रमध्यस्थे अमित्रञ्च चतुर्थकम्।।
वायव्याग्नेयवारुण्यपार्थिवञ्च प्रकीर्त्तितम्।
उत्तरोत्तरसंसिद्धिसमताव्याधिमृत्यवः ।।
प्राप्नुवन्ति समासाद्य मन्त्रिणोऽत्र निबोधनात्।
मित्रे सिद्धिः समाख्याता उदासीने न किञ्चन।।
मृत्युर्व्याधिरमित्रे च स्वकुले सिद्धिरुत्तमा।
नामादिवर्णाः साध्यस्य साधकस्य यथाक्रमम्।
ऊर्द्ध्वाधःस्थं समालेख्या अंशकञ्च निरूपयेत्।। इति।

कुत्र कस्य मित्रत्वं शत्रुत्वमौदासीन्यं स्वकुलत्वं वा तदपि विशिष्य प्रदर्शितं तत्रैव—

वायव्ये तैजसं मित्रमुदासीनन्तु वारुणम्।
शत्रुञ्च पार्थिवं विद्यात् स्वकुलं वायवं पुनः।।
तैजसे वारुणं शत्रुरुदासीनन्तु पार्थिवम्।
वायव्यं मित्रमाख्यातं स्वकुलं तैजसं पुनः।।
वारुणे पार्थिवं मित्रमुदासीनन्तु वायवम्।
तैजसं तु रिपुं विद्यात् स्वकुलं वारुणं पुनः।।
पार्थिवे वारुणं मित्रं तैजसं शत्रुरीरितम्।
उदासीनं वायवन्तु स्वकुलं पार्थिवं पुनः।।

नन्वत्र पार्थिवानामक्षराणां शत्रुत्वे मारुतं स्थितमित्यनेन पार्थिवमारुतवर्णयोः परस्परशत्रुत्वाभिधानाद् उदासीनं वायवन्तु इति प्रागुक्ततन्त्रान्तरवचनविरोधः। उच्यते—मारुतं पार्थिवानाञ्च शत्रुरित्यादितन्त्रसारधृतरुद्रजामलतृतीयपटलवचने पार्थिवानाञ्चेति चकाराद् आग्नेयं पार्थिवानां रिपुरिति श्रीकृष्णानन्दव्याख्यानाद् वायव्यतैजसानामुभयेषामपि वर्णानां पार्थिवैः सह शत्रुत्वमिति स्थितम्। तत्र च तेजो यथा पार्थिवान् समूलं हन्ति न तथा मरुदिति तेजस एव शत्रुत्वप्राधान्येनात्र तथा व्यपदेशः। अस्यैवार्थस्य प्रतिपादनाय तन्त्रान्तरे तैजसस्य शत्रुत्वं वायवस्य औदासीन्यमुक्तम्। रुद्रयामल-श्रीतत्त्वचिन्तामण्यादिषु औदासीन्यानभिधानाद् वायव्य-वर्णानामपि तैजसवत् शत्रुपक्षनिक्षेप इति संक्षेपः।

एवं चतुर्णां स्वरूपमुक्त्वा नाभसवर्णानां व्यवस्थामाह—**सर्वेषामिति**। नाभसं नभोदेवताकवर्णजातं सर्वेषामविरोधि मित्रमित्यर्थः। रुद्रजामलतृतीयपटले—

नाभसं सर्वमित्रं स्याद्विरुद्धं नैव शीलयेत्।

इत्यनेन मित्रत्वस्य व्यक्तमभिधानात्।

मैत्री-विचार—पृथ्वीतत्त्व के वर्णों की जलतत्त्व के वर्णों के साथ मैत्री है। अग्नितत्त्व के वर्णों की वायुतत्त्व के वर्णों के साथ मैत्री है। पृथ्वीतत्त्व की वायुतत्त्व के साथ, अग्नितत्त्व की जलतत्त्व के साथ और जलतत्त्व की वायुतत्त्व के साथ शत्रुता है। आकाशतत्त्व सभी का मित्र है।।१०३-१०४।।

[फलम्]

परस्परविरुद्धानां वर्णानां यत्र संस्थितिः।
स मन्त्रः साधकं हन्ति सर्वथा न प्रसीदति।।१०५।।

एवं वर्णव्यवस्थामुक्त्वा फलमाह—**परस्परेति**। परस्परविरुद्धानां पार्थिव-मारुतादिरूपाणां प्रागुक्तानां वर्णानां यत्र मन्त्रे मन्त्रप्रथमाक्षरे संस्थितिः। परस्पर-विरुद्धत्वञ्चैतत् साधकनामप्रथमाक्षरमपेक्ष्येति बोध्यम्। **स मन्त्रः साधकं हन्तीत्यादि**। अस्यैव वचनस्य सर्वथा न प्रसीदतीत्यत्र किं वा नास्य प्रसीदतीति राघव-भट्टधृतः पाठः समीचीनः। यतो न हि वर्णानां परस्परविरोधेऽपि सर्वत्र हन्तृत्वम्—

उत्तरोत्तरसंसिद्धिसमताव्याधिमृत्यवः।

तथा 'उदासीने न किञ्चन' 'मृत्युर्व्याधिरमित्रे च' इत्यादिप्रागुक्तपिङ्गलामतवचनेन अनिष्टानां फलान्तराणामप्यभिधानात्। तस्माद् राघवभट्टवचनवदत्रापि सर्वथा न प्रसीदतीति फलान्तरम्, न प्रसीदति वेत्यर्थः।

साधक और मन्त्र के कुलों में परस्पर शत्रुता होने से उस मन्त्र की साधना नहीं करनी चाहिए; क्योंकि वह मन्त्र घातक होता है॥१०५॥

[वर्गचक्रम्]

इदानीं वर्गचक्रस्य विधानमभिधीयते।
मन्त्रग्रामविशुद्ध्यर्थं नामाद्यक्षरपूर्वकम्॥१०६॥

एवं कुलाकुलं निरूप्य वर्गचक्रमाह—**इदानीमिति**। नामाद्यक्षरमारभ्य मन्त्रग्रामविशुद्ध्यर्थं वर्गचक्रस्य विधानमभिधीयत इत्यर्थः।

वर्गचक्र—अब मन्त्रों की शुद्धि के लिये नाम के आदि अक्षर-पूर्वक वर्गचक्र का विधान निरूपित किया जा रहा है॥१०६॥

[कोष्ठनिर्माणं तत्र वर्णन्यासश्च]

अष्टौ कोष्ठान् समालिख्य वर्गानष्टौ क्रमोलिखेत्॥१०७॥

तत्क्रममाह—**अष्टाविति**। ऊद्र्ध्वस्थांश्चतुरोऽधःस्थांश्च चतुरः कोष्ठान् समालिख्य तत्र क्रमादकाराद्यष्टवर्गान् लिखेदित्यर्थः।

वर्गचक्र में वर्णन्यास-सहित कोष्ठक-निर्माण—पहिले चार कोष्ठक बनाकर उनके नीचे उसी आकार-प्रकार के चार और कोष्ठक बनाएँ। इस तरह आठ कोष्ठकों वाला वर्ग बन जायगा॥१०७॥

[वर्गाणां संज्ञा]

पक्षिमार्जारपञ्चास्यश्वानः सर्पाखुदन्तिनः।
मेयः क्रमादकारादि वसुवर्गाश्रिता इमे॥१०८॥

तेषाञ्च संज्ञामाह—**पक्षीति**। पक्षि-मार्जार-सिंह-श्वान ऊद्र्ध्वतनचतुष्काणां सर्प-मूषिक-हस्ति-मेषाश्चाधस्तनचतुष्काणां संज्ञाः। एते च पक्ष्यादयः क्रमेणाकाराद्यष्टवर्गमाश्रित्य स्थिता इत्यर्थः। तथाहि—प्रथमः पक्षी अकारादिविसर्गान्त-षोडशस्वरमयप्रथमकोष्ठाश्रयः, अतः स्वराणामेतेषां पक्षीति संज्ञा। द्वितीयो मार्जारः कवर्गाश्रयः। तृतीयः सिंहश्चवर्गाश्रयः। चतुर्थः श्वा टवर्गाश्रयः। पञ्चमः सर्पस्तवर्गाश्रयः। षष्ठो मूषिकः पवर्गाश्रयः। सप्तमो हस्ती य-र-ळ-वाश्रयः। अष्टमो मेषः श-ष-स-ह-ल-क्षाश्रयः। तेनैतेषामपि तत्तत्संज्ञकत्वमिति स्थितम्।

अब इन कोष्ठकों में इनके नाम लिखें। ऊपर वाले चार कोष्ठकों के नाम क्रम से हैं—(१) पक्षी, (२) मार्जार, (३) सिंह और (४) श्वान। नीचे वाले कोष्ठकों के

नाम हैं—(१) सर्प, (२) मूषक, (३) हस्ती और (४) मेष। वर्गचक्र के इन आठ कोष्ठकों में क्रमशः (१) स्वरवर्ग, (२) 'क'वर्ग, (३) 'च'वर्ग, (४) 'ट'वर्ग, (५) 'त'वर्ग, (६) 'प'वर्ग, (७) अंतःस्थ और (८) ऊष्माण वर्णों को चित्र में दिखाये गये अनुसार लिखें॥१०८॥

वर्ग-विचार चक्र

पक्षी	मार्जार	सिंह	श्वान
अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः	क ख ग घ ङ	च छ ज झ ञ	ट ठ ड ढ ण
सर्प	**मूषक**	**हाथी**	**मेष**
त थ द ध न	प फ ब भ म	य र ल व	श ष स ह ळ क्ष

[एतच्चक्रकरणकमन्त्रशोधनफलम्]

साध्यसाधकयोः प्रीतिर्ज्ञातव्या जातितः सदा॥१०९॥

फलमाह—साध्येति। साध्यसाधकनामाद्यक्षरयोः साजात्ये प्रीतिर्वैजात्ये न प्रीतिर्नाप्रीतिर्वा, शाश्वतिकवैरे वैरमित्यवधेयम्। शाश्वतिकवैरन्तु पक्षिसर्पस्य, मार्जारमूषिकस्य, सिंहहस्तिनः, श्वमेषस्य च प्रसिद्धम्।

इन आठ वर्गों में (१) पक्षी और सर्प, (२) मार्जार एवं मूषक, (३) सिंह और हस्ती (हाथी), (४) श्वान एवं मेष में परस्पर शत्रुता है। यदि साधक के नाम का प्रथम अक्षर तथा मन्त्र का प्रथम अक्षर परस्पर शत्रु-वर्ग में हों तो साध्य और साधक में प्रीति नहीं होती। ऐसे मन्त्र का जप नहीं करना चाहिए॥१०९॥

[प्रागुक्तमन्त्रदोषपरिहारक्रमः]

एषु दोषेषु सर्वत्र मायां काममथापि वा।
क्षिप्त्वा चादौ श्रियं दद्यात्तत्तद्दोषविमुक्तये॥११०॥

एवं चक्रपरिपाटीमभिधाय तत्र तत्र श्रुतानामकथहादितत्तच्चक्रविचारपरिप्राप्ततत्तन्मन्त्रगतवैरित्वादिदोषाणां प्रतिकारशैलीमाह—एष्विति। एषु प्रागुक्ताकथहादिचक्रविचारपरिप्राप्तमन्त्रगतवैरित्वादिदोषेषु। सर्वत्रेत्यनेन यः कोऽपि मन्त्रः प्रागुक्तदोषदुष्टोऽपि वक्ष्यमाणरीत्या कृतेन प्रतीकारेण दोषपरिहीणो भवतीति सूच्यते। अत एव तन्त्रसारधृतमुण्डमालातन्त्रे—

छिन्नादिदोषदुष्टा ये मन्त्रास्तन्त्रे निरूपिताः।
ते सर्वे सिद्धिमायान्ति मातृकार्णप्रभावतः॥

इत्यादिना सर्वेषामपि दोषदुष्टानां मन्त्राणामनया रीत्या निर्दोषत्वमुपपादितम्।

पिछले पृष्ठों में अकथहादि चक्रों की सहायता से मन्त्र-शोधन एवं मन्त्र-चयन की विधि का विस्तार से निरूपण किया गया है; मगर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अनेक बार शोधन के बावजूद शुद्ध मन्त्र नहीं मिलता। इन परिस्थितियों में मन्त्र को दोषमुक्त करने के उपाय भी तन्त्रशास्त्र में बताये गये हैं। तदनुसार मन्त्र के प्रारम्भ में माया (ह्रीं), काम (क्लीं) अथवा श्री (श्रीं) की योजना करके जपने से मन्त्रदोष का परिहार हो जाता है॥११०॥

तारसम्पुटितो वापि दुष्टमन्त्रोऽपि सिध्यति।

तार (ॐ) से सम्पुटित करके जपने से दुष्ट मन्त्र भी सिद्ध हो जाता है॥

[प्रकारान्तरम्]

यस्य यत्र भवेद् भक्तिः स मन्त्रोऽस्य प्रसिध्यति।।१११।।

प्रकारान्तरमाह—**तारेति**। तारः प्रणवः तेन संपुटितः आदावन्ते च प्रणवेन योजित इत्यर्थः। प्रकारान्तरमाह—**यस्येति**। भक्तिः परमानुरक्तिः।

जिस देवता (मन्त्र) के प्रति साधक में एकनिष्ठ भक्ति होती है, सतत उपासना से वह मन्त्र सिद्ध हो जाता है॥१११॥

[प्रकारान्तरम्]

अनुलोमविलोमस्थक्लृप्तया वर्णमालया।
प्रत्येकवर्णयुङ्मन्त्रा जप्ताः स्युः सर्वसिद्धिदाः।।
अरिमन्त्रा अपि नृणामन्ये मन्त्राश्च किं पुनः।।११२।।

प्रकारान्तरमाह—**अन्विति**। प्रत्येकवर्णयुङ्मन्त्रा मन्त्रघटकप्रत्येकवर्णान् अनुलोमेन विलोमेन च मातृकावर्णैः पुटीकृत्य। अकारादिक्षकारान्तवर्णैः क्षकाराद्यकारान्तवर्णैश्च प्रत्येकेन मन्त्रघटकवर्णान् पुटीकृत्य जपाद्दुष्टमन्त्राणामपि सर्वसिद्धिविधायकत्वमित्यर्थः।

मन्त्र के घटक प्रत्येक वर्ण को मातृका-माला से अनुलोम-विलोमक्रम से सम्पुटित करके जपने से अरि मन्त्र भी सर्व-सिद्धिदायक बन जाता है॥११२॥

विमर्श—तन्त्रसार में यथा उद्धृत मुण्डमालातन्त्र के अनुसार छिन्न आदि दोषों से दूषित मन्त्र भी मातृका-माला के प्रभाव से सिद्ध हो जाते हैं। एतदर्थ मन्त्र के प्रत्येक घटक वर्ण को मातृका-माला से अनुलोम-विलोम सम्पुटित करके जप किया जाता है।

[स्थानस्थत्वादिना मन्त्राणां फलभेदाः]

स्थानस्था वरदा मन्त्रा ध्यानस्थाश्च फलप्रदाः।
स्थानध्यानविनिर्मुक्ताः सुसिद्धा अपि वैरिणः।।११३।।

स्थानस्थ मन्त्र वरदाता तथा ध्यानस्थ मन्त्र फलप्रद होते हैं। स्थान और ध्यान से विहीन सुसिद्ध मन्त्र भी प्रतिकूल हो जाते हैं॥११३॥

विमर्श—जप करने से मन्त्र सिद्ध होते हैं; बशर्ते इष्ट-देवता के ध्यान में पूर्णतः तल्लीन होकर यथाविधि मन्त्र का जप किया जाय। मन कहीं है, ध्यान कहीं है, मन्त्रजप के नाम पर केवल जिह्वा हिल रही है—यह मन्त्रजप नहीं है, इससे कोई लाभ नहीं है।

[षड्विधस्थाननिरूपणम्]

प्रसङ्गेनैव तत् स्थानं कथयामि विशेषतः।।११४।।
सकलं निष्कलं सूक्ष्मं तथा सकलनिष्कलम्।
कलाभिन्नं कलातीतं षोढा स्थानं शिवोऽब्रवीत्।।११५।।

चूँकि मन्त्र-स्थानों का प्रसङ्ग आ गया है, अतः उनका निरूपण किया जा रहा है। भगवान् शिव ने मन्त्र के छः (६) स्थान बताये हैं। ये स्थान शरीर में अलग-अलग अवयवों में स्थित हैं। इन स्थानों में स्थित मन्त्रों की संज्ञाएँ हैं—(१) सकल, (२) निष्कल, (३) सूक्ष्म, (४) सकल-निष्कल, (५) कलाभिन्न और (६) कलातीत॥११४-११५॥

[षड्विधस्थानस्वरूपम्]

सकलं ब्रह्मरन्ध्रस्थं तदधो विद्धि निष्कलम्।
मानसं सूक्ष्मनामानं हृत्स्थं सकलनिष्कलम्।।११६।।
बिन्दुस्थितं कलाभिन्नं कलातीतं तदूर्ध्वतः।
कला कुण्डलिनी सैव नादशक्तिः शिवोदिता।।११७।।
एतत्स्थाने स्थिता मन्त्राः स्थानस्थाः परिकीर्त्तिताः।

सकलमित्यादि। ब्रह्मरन्ध्रस्थं सहस्रारस्थितम्। तदध इति अधोमुखप्रणवोर्द्ध्वनादस्थम्। मनःस्थम् आज्ञाचक्रस्थितम्। हृत्स्थं द्वादशारस्थितम्। बिन्दुस्थितं प्रथमनादोर्द्ध्वबिन्दुस्थितम्। तदूर्ध्वत इति बिन्दूपरिनादस्थमिति **बी-पुस्तकपादटीका।**

किस जपनीय स्थान में स्थित मन्त्र की क्या संज्ञा है? इसका निरूपण करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मरन्ध्र में स्थित मन्त्र को सकल कहा जाता है। उसके नीचे ऊर्ध्वनादस्थान है। इस स्थान में स्थित मन्त्र की संज्ञा निष्कल है। आज्ञाचक्र में स्थित मन्त्र को मनःस्थ या सूक्ष्म कहा जाता है। अनाहत क्षेत्र-स्थित मन्त्र की संज्ञा सकल-निष्कल है। प्रथम नाद से ऊपर स्थित मन्त्र को बिन्दुस्थित या कलाभिन्न कहा जाता है। उससे ऊपर स्थित मन्त्र कलातीत कहलाता है। 'कला' कुण्डलिनी को कहते हैं। नाद का उत्स कुण्डलिनी ही है। इन स्थानों में स्थित मन्त्रों को 'स्थानस्थ' कहा जाता है। इसका अर्थ यह है कि मन्त्र का जप इन-इन स्थानों से किया जाय। यदि जप करते समय मन्त्र का इनमें से किसी स्थान से सम्पर्क नहीं है तो उस मन्त्र-जप को स्थानस्थ नहीं माना जा सकता॥११६-११७॥

[मन्त्रविशेषे सिद्धादिशोधनानपेक्षित्वम्]

मन्त्रकूटविभागानां विधानमभिधीयते।।११८।।
सपिण्डाक्षरमन्त्राणां सिद्धादीन्नैव शोधयेत्।।११९।।
एकाक्षरे तथा कूटे मालामन्त्रे त्रिबीजके।
स्वप्नलब्धे स्त्रिया दत्ते सिद्धादीन् न विचारयेत्।।१२०।।
वैष्णवेषु च तन्त्रेषु केचिदिच्छन्ति तान्त्रिकाः।।१२१।।
काली-तारामनौ मन्त्री तथा च्छिन्नामनावपि।
सुन्दरीमन्त्रवर्ये तु सिद्धादीन्नैव शोधयेत्।।१२२।।

सपिण्डाक्षरमन्त्राणां संयुक्ताक्षरमन्त्राणाम्।

मन्त्र-शोधन की विधि का निरूपण करने के बाद उन मन्त्रों के बारे में बताया जा रहा है, जिन मन्त्रों की दीक्षा या साधना के लिये सिद्ध आदि देखने की आवश्यकता नहीं है। सपिण्डाकार अर्थात् संयुक्त अक्षर वाले मन्त्र, एकाक्षरी मन्त्र, तीन वीज वाले मन्त्र तथा माला-मन्त्रों के लिये सिद्धादि शोधन आवश्यक नहीं हैं। जिन मन्त्रों में बीस से अधिक अक्षर होते हैं, उन्हें मालामन्त्र कहते हैं।

स्वप्न में प्राप्त तथा स्त्रीगुरु से प्राप्त मन्त्र भी ऐसे मन्त्र हैं, जिनके लिये सिद्ध आदि शोधन आवश्यक नहीं है।

भगवती काली, भगवती तारा, भगवती छिन्नमस्ता तथा सुन्दरी (बाला, षोडशी, ललिता) मन्त्रों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। वैष्णव तन्त्रों में भी कुछ ऐसे मन्त्र हैं, जिसकी सहज ही दीक्षा ली जा सकती है॥११८-१२२॥

अरिमन्त्र का त्याग

विमर्श—तन्त्रग्रन्थों में जहाँ एक ओर अनुकूल मन्त्र के चयन एवं अनुकूलतम मन्त्र नहीं मिलने की स्थिति में प्रतिकूल मन्त्रों की प्रतिकूलता के शमन की विधियाँ बताई गई हैं, वहीं घातक परिणाम देने वाले अरिमन्त्र के त्याग की विधि भी बताई गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अरि मन्त्र-त्याग की विधि का निरूपण ९वें प्रकाश में (श्लोकसंख्या ५४ से ७७) किया गया है।

तन्त्रसार में यथा उद्धृत रुद्रयामल के अनुसार जिस अरि-मन्त्र का त्याग करना है, उसे वटपत्र पर कुंकुम आदि से लिखें। धूप-दीप दिखाकर उस वटपत्र को बहती हुई नदी में प्रवाहित कर दिया जाय। ऐसा करने से अरि-मन्त्र का त्याग हो जाता है। यह विधि स्वयं भगवान् शिव ने बताई है।

[दीक्षाग्रहणकाल:]

एवं विचार्य मतिमान् मासादीन् परिशोधयेत्।
चैत्रे दुःखाय दीक्षा स्याद् वैशाखे रत्नसञ्चयः।।१२३।।

मरणं भवति ज्यैष्ठेऽप्याषाढे बन्धुनाशनम्।
समृद्धिः श्रावणे नूनं भवेत् भाद्रपदे क्षयः।।१२४।।
प्रजानामाश्विने मासि सर्वकामफलप्रदा।
ज्ञानं स्यात् कार्त्तिके मासि मार्गशीर्षे धनं महत्।।१२५।।
पौषे ज्ञानक्षयो माघे भवेन्मेधाविवर्द्धनम्।
फाल्गुने सर्वसिद्धिः स्यान्मलमासं विवर्जयेत्।।१२६।।

चैत्र इत्यादि। तदुक्तं राघवभट्टधृततन्त्रान्तरे—

असिद्धिर्भूमिसम्पत्तिर्मरणं बन्धुनाशनम्।
आयुर्वृद्धिः प्रजानाशः सम्पत्ती रत्नसञ्चयः।।
शुभप्राप्तिः स्थाननाशो मोहार्थञ्च वशीकृतिः।
चैत्रादीनां फलं ज्ञेयं मलमासं च वर्जयेत्।। इति।

अत्र— मन्त्रारम्भस्तु चैत्रे स्यात् समस्तपुरुषार्थदः।

इत्यादिगौतमीयतन्त्रपञ्चमपटलवचनेन दीक्षायां चैत्रस्य प्रशस्तिरभिहिता सा तु विष्णुविषया, गौतमीयतन्त्रस्य वैष्णवोपासनापरत्वात्। अत एव तन्त्रसारकारैश्चैत्र इति गोपालविषयं गौतमीयत्वात्। 'मधुमासे भवेद्दीक्षा दुःखाय मरणाय च' इति योगिनीहृदयाच्चेत्युक्तम्। अतः शाक्ती दीक्षा चैत्रे न विधेयेति प्रतिपादनाय 'चैत्रे दुःखाय दीक्षा स्या'दित्युक्तं पूर्णानन्देन, ग्रन्थस्यास्य शक्त्युपासनाप्रतिपादकत्वात्। राघवभट्टेनापि—

वैशाखपूर्वजे मासे मन्त्रारम्भः सुदुःसहः।
वैशाखे धनदायी च ज्यैष्ठे मृत्युप्रदो भवेत्।।
आषाढे पुत्रलाभाय श्रावणे शुभदो मतः।
भाद्रे चैव ज्ञानहानिस्तथा सद्भिः प्रकीर्त्तिता।
आश्विने सर्वसिद्धिश्च कार्त्तिको ज्ञानसिद्धिदः।।
शुभकृन्मार्गशीर्षः स्यात् पौषो दुःखप्रदायकः।
माघे मेधाविवृद्धिश्च फाल्गुने सर्ववश्यता।।

इत्यादिभिः श्रीतत्त्वचिन्तामण्युक्तो दीक्षाकालक्रम एव प्रतिपादितः। परन्तु श्रीतत्त्वचिन्तामणि-तन्त्रान्तरादिषु आषाढस्य बन्धुनाशकत्वरूपानिष्टफलदातृत्वमुक्तम्। अत्र राघवभट्टधृतवचने तु आषाढे पुत्रलाभायेत्यनेन तस्येष्टफलदायकत्वमभिहितमिति विशेषः। राघवभट्टधृतसिद्धान्तशेखरे तु प्रागुक्तानां प्रशस्तानामपि मासानामुत्तमाधम-मध्यमत्वमुपपादितम्। यथा—

शरत्काले च वैशाखे दीक्षा श्रेष्ठफलप्रदा।
फाल्गुने मार्गशीर्षे च ज्यैष्ठे दीक्षा च मध्यमा।।
आषाढः श्रावणो माघः कनिष्ठाः सद्भिरादृताः।
निन्दितश्चैत्रमासस्तु पौषो भाद्रपदस्तथा।। इति।

तथाच मूले ज्यैष्ठादीनामुत्तमानन्तर्गतत्वादेव निषेध इति राघवभट्टानामाशयादवगम्यते। तथा—

आषाढपूर्वमासे च आषाढे मार्गशीर्षके।
दीक्षां न कारयेद्धीमानन्यमासे तु कारयेत्।।

इति राघवभट्टधृतवचनेऽपि मार्गशीर्षस्य निषेध उत्तमानन्तर्गतत्वादेव।

राघवभट्टधृतकालोत्तरे—

शरद्वसन्तयोर्योगे दीक्षाकर्मविधिः स्मृतः।
तयोरसम्भवे वर्षा विनान्यत्र प्रशस्यते।।

इत्यत्र वर्षा विनेत्यभिधानाद् आषाढश्रावणयोरप्राशस्त्ये लब्धे प्रागुक्तसिद्धान्तशेखरवचनेन च तयोः कनिष्ठत्वे निर्णीते, आषाढे बन्धुनाशः स्यादिति मूलोक्त्या आषाढस्य सर्वथा परिहेयत्वम्, समृद्धिः श्रावणे नूनमिति मूलोक्त्या श्रावणस्य विहितत्वेऽपि तस्याप्राशस्त्यमिति पूर्वपूर्वग्रन्थपर्यालोचनयावगम्यते।

दीक्षाग्रहण-समय—चूड़ाकरण-उपनयन आदि के समान ही दीक्षा भी एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। अतः अन्य संस्कारों की तरह दीक्षा संस्कार के लिये भी मुहूर्त-शोधन आवश्यक है। एतदर्थ सर्वप्रथम मास का चयन किया जाना चाहिए।

दीक्षा-मास—चैत्रमास में दीक्षा लेने से दुःख मिलता है। वैशाख में रत्न-सञ्चय, ज्येष्ठ में मृत्यु, आषाढ़ में बन्धुनाश, श्रावण में समृद्धि-प्राप्ति, भाद्रपद (भादों) में समृद्धि-क्षय, आश्विन (क्वार) में सर्वकार्यसिद्धि, कार्तिक में ज्ञानप्राप्ति, मार्गशीर्ष (अगहन) में धनप्राप्ति, पौष (पूस) में ज्ञानक्षय, माघ में मेधावृद्धि तथा फाल्गुन में सर्वसिद्धि होती है। मलमास में दीक्षा लेना निषिद्ध है।।१२३-१२६।।

विमर्श—दीक्षा के लिये मास-विचार के प्रसंग में मतभेद है। उपर्युक्त १२३वें श्लोक में चैत्र को दुःखद कहा गया है। ज्ञानार्णव (२४/९०) में चैत्र में दीक्षाग्रहण को निष्फल कहा गया है। इसके विपरीत गौतमीय तन्त्र में चैत्र मास को प्रशस्त एवं 'समस्त पुरुषार्थप्रद' कहा गया है। गौतमीय तन्त्र चूँकि वैष्णव तन्त्र है; अतः वैष्णव-दीक्षा के लिये प्रशस्त है; लेकिन श्रीविद्यापरक शाक्त तन्त्रों में इसे 'निष्फल' एवं 'दुःखद' कहे जाने के कारण यह महीना शाक्त दीक्षा के लिये प्रशस्त नहीं है। मुहूर्तज्योतिष में भी ब्राह्मण वटुकों के उपनयन संस्कार से भिन्न अन्य संस्कारों को लिये चैत्र मास (मीनार्क) को अग्राह्य माना गया है।

[विषुवादिषु दीक्षायाः प्राशस्त्यम्]

विषुवेऽप्ययनद्वन्द्वे संक्रान्त्यां मदनोत्सवे।
दीक्षा कार्या प्रयत्नेन पवित्रे गुरुपर्वणि।।१२७।।

दीक्षायां प्रशस्तान् दिनविशेषानाह—**विषुव इति**। विषुवे विषुवद्वन्द्वे जलविषुव-महाविषुवसंक्रान्त्योः, अयनद्वन्द्वे दक्षिणायनोत्तरायणसंक्रान्त्योः, संक्रान्त्यां साधारण्याम्, मदनोत्सवे कामत्रयोदश्याम्, कामचतुर्दश्यामिति केचित्। गुरुपर्वणीति वक्ष्यमाणे षष्ठीभाद्रपद इत्यादौ।

अत्र संक्रान्त्यामित्यनेनैव विषुवायनयोरपि लाभे तयोः पृथगुपादानं तत्र तत्र फलविशेषसूचनार्थम्। अत एव गन्धर्वतन्त्रे षड्विंशपटले—

विषुवायनयोर्द्वन्द्वे आषाढे मदनोत्सवे।
ग्रहणेऽर्कस्य चेन्दोर्वा दिनं तत्फलदं भवेत्।।

इत्यत्र संक्रान्तिषु विषुवायनयोरेवोपादानं चन्द्रसूर्यग्रहणसमानकालीनदीक्षाजन्यफलसमफलजनकत्वसूचनायैव। तथा—

ग्रहनक्षत्रयोगेषु विषुवेषूत्सवेषु च।
अयनेषु च सर्वेषु योगः सर्वार्थसिद्धिदः।

इति राघवभट्टधृतकालोत्तरवचने विषुवयोरयनयोश्च प्रत्येकं द्वित्वेऽपि तत्र तत्र बहुवचनोपादानं फलातिशयोपधायकत्वसूचनार्थमेव।

मदनोत्सव इति कामचतुर्दश्याम्। गुरुपर्वणीति वक्ष्यमाणदेवपर्वणीत्यर्थः।

विषुव संक्रान्ति, दोनों अयनों की संक्रान्ति, मदनोत्सव अर्थात् कामत्रयोदशी एवं गुरुपर्व मन्त्रदीक्षा के लिये प्रशस्त हैं।।१२७।।

[देवपर्वसु दीक्षायाः प्रशस्तिः]

षष्ठी भाद्रपदे मासि इषे कृष्णा चतुर्दशी।
कार्त्तिके नवमी शुक्ला मार्गे शुक्ला तृतीयिका।।१२८।।
पौषे तु नवमी शुक्ला माघे वरचतुर्थिका।
फाल्गुने नवमी शुक्ला चैत्रे कामत्रयोदशी।।१२९।।

दीक्षायां प्रशस्तानि देवपर्वण्याह—**षष्ठीत्यादि। चैत्रे कामत्रयोदशीति**। अत्र समानानुपूर्वीके तन्त्रसारधृतरत्नावलीवचने त्रयोदशीत्यत्र चतुर्दशीति पाठो दृश्यते। तत्र श्रीमत्कृष्णानन्देन त्रयोदशीति केचिदित्युक्तम्। बृहन्नीलतन्त्रे तृतीयपटलेऽपि चैत्रे कामत्रयोदशीत्येव पाठः। ततश्चतुर्दशीत्रयोदश्योरुभयोरपि तन्त्रसारबृहन्नीलतन्त्रयोर्यथासंख्यं प्रशस्ततयाभिधानादत्र चैत्रे कामत्रयोदशीत्यनेन त्रयोदश्या लाभः। संक्रान्त्यां मदनोत्सवे इति प्रागुक्तवचनेन चतुर्दश्याः प्राप्तिः। प्रागुक्तवचने मदनोत्सव इत्यनेन विशेषतोऽनिर्देशेऽपि अत्र कामत्रयोदशीति निर्देशात् तत्र मदनोत्सवशब्देन मदनचतुर्दशीति गम्यते। तदितरत्र मदनोत्सवासम्भवादिति ध्येयम्। तन्त्रसारे—

चैत्रे त्रयोदशी शुक्ला वैशाखैकादशी सिता।
ज्यैष्ठे चतुर्दशी कृष्णा आषाढे नागपञ्चमी।।

श्रावणैकादशी भाद्रे रोहिणीसहिताऽष्टमी।
आश्विने च महापुण्या महाष्टम्यप्यभीष्टदा।।
कार्त्तिके नवमी शुक्ला मार्गशीर्षे तथा सिता।
षष्ठी चतुर्दशी पौषे माघेऽप्येकादशी सिता।
फाल्गुने च सिता षष्ठी चेति कालविनिर्णय:।। इति।

देवपर्व—अयन-संक्रान्ति आदि के साथ ही वर्ष में कतिपय ऐसे देवपर्व आते हैं, जिनमें सभी प्रकार की दीक्षा प्रशस्त है। भाद्रपद मास की षष्ठी, ज्येष्ठ मास की चतुर्दशी, कार्तिक शुक्ला नवमी, मार्गशीर्ष शुक्ला तृतीया, पौष शुक्ला पञ्चमी, माघ के शुक्लपक्ष की वरदा चतुर्थी, फाल्गुन के शुक्लपक्ष की नवमी, चैत्र मास की कामत्रयोदशी देवपर्व हैं।।१२८-१२९।।

वैशाखे चाक्षया शस्ता ज्यैष्ठे दशहरा तथा।
आषाढ़े पञ्चमी शुक्ला श्रावणे कृष्णपञ्चमी।।१३०।।
एतानि देवपर्वाणि तीर्थकोटिफलं लभेत्।

वैशाख शुक्लपक्ष की अक्षयतृतीया, ज्येष्ठ का गंगादशहरा, आषाढ़ शुक्ला पञ्चमी, श्रावण कृष्णा पञ्चमी ऐसे देवपर्व हैं, जिनमें दीक्षा लेना करोड़ों तीर्थों में स्नान करने के समान पुण्यप्रद है।।१३०।।

विमर्श—देवपर्वों की उपर्युक्त सूची में चैत्र, ज्येष्ठ, आषाढ़, भाद्रपद तथा पौष ऐसे महीने हैं, जो दीक्षा के लिये प्रशस्त नहीं हैं; परन्तु इन निषिद्ध महीनों में भी उक्त तिथियाँ दीक्षा के लिये प्रशस्त हैं। इन तिथियों में मासदोष अथवा दिनदोष नहीं लगता।

तन्त्रसार में उपर्युक्त के अतिरिक्त कुछ और पर्वों का उल्लेख किया गया है। यथा—चैत्र के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी, वैशाख शुक्ल की एकादशी, ज्येष्ठ कृष्णपक्ष की चतुर्दशी, आषाढ़ की नागपञ्चमी, श्रावण की एकादशी, भाद्रपद में रोहिणी नक्षत्र-सहिता अष्टमी (अर्थात् कृष्णजन्माष्टमी), मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष की षष्ठी, पौष मास की चतुर्दशी, मास की शुक्ला एकादशी, फाल्गुन के शुक्लपक्ष की षष्ठी।

[सूर्योपराग-रविसंक्रमयोर्दीक्षाया: प्राशस्त्यम् लग्नादिविचारनैरपेक्ष्यञ्च]

निन्दितेष्वपि मासेषु दीक्षोक्ता ग्रहणे शुभा।।१३१।।
सूर्यग्रहणकालस्य समानो नास्ति भूतले।
तत्र यद् यत् कृतं कर्म तदनन्तफलं लभेत्।।१३२।।
रविसंक्रमणे चैव सूर्यस्य ग्रहणे तथा।
तत्र लग्नादिकं किञ्चिन्न विचार्यं कथञ्चन।।१३३।।

चन्द्रसूर्य्योपरागे दीक्षायाः प्राशस्त्यमाह—**निन्दितेष्वपीति**। निन्दितेष्वपीत्यपिशब्देन वैशाखादिषु प्रशस्तेषु मासेषु दीक्षा शुभा भवत्येव। चैत्रादिषु निन्दितेष्वपि फलमिष्टमुत्पादयतीत्यवगन्तव्यम्। **ग्रहणे शुभेति**—सूर्यग्रहणे चन्द्रग्रहणे च।

अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः।

इति तन्त्रसारधृतयोगिनीहृदयात्।

सूर्यग्रहणकालस्येति। ननु—

न कुर्याच्छाक्तिकीं दीक्षामुपरागे विभावसोः।
न कुर्याद् वैष्णवीं तान्तु यदि चन्द्रमसो ग्रहः॥

इति तन्त्रसारधृतरुद्रजामलवचनेन सूर्योपरागे शाक्तदीक्षानिषेधादत्र सूर्यग्रहणकालस्येत्यादि कथमुपपद्यते? उच्यते प्रागुक्तरुद्रजामलवचनं श्रीविद्येतरविषयम्;

विषुवायनयोर्द्वन्द्वे आषाढे मदनोत्सवे।
ग्रहणेऽर्कस्य चेन्दोर्वा दिनं तत्फलदं भवेत्॥

इति श्रीविद्याप्रतिपादकगन्धर्वतन्त्रपञ्चविंशपटलवचनात्।

श्रीपराकालिबीजानि लोपादौर्गश्च यो मनुः।
सूर्यस्य ग्रहणे लब्धो नृणां मुक्तिफलप्रदः॥

इति तन्त्रसारपरिगृहीतरत्नावलीधृतजामलवचनात्।

सूर्यग्रहणकाले तु नान्यदन्वेषितं भवेत्।

इति श्रीविद्याप्रतिपादकयोगिनीहृदयाच्च। तस्मान्मूले विशिष्य सूर्योपरागस्योल्लेखस्तु प्राशस्त्यविशेषप्रतिपादनायेति ध्येयम्।

इस भूलोक में सूर्यग्रहण से श्रेष्ठ और कोई अन्य पुण्यकाल नहीं होता। इस शुभपर्व पर किये गये पुण्यकर्मों का अनन्तगुना फल होता है। अतः पौष आदि निन्दित मासों में भी सूर्यग्रहण के समय ली गई दीक्षा अत्यन्त शुभ होती है। सूर्य की संक्रान्ति के समय और सूर्यग्रहण के समय लग्न आदि के विचार की आवश्यकता नहीं होती है॥१३१-१३३॥

विमर्श—न कुर्यात् शाक्तिकीं दीक्षामुपरागे विभावसौ।
न कुर्याद् वैष्णवीं तान्तु यदि चन्द्रमसो ग्रहः॥

सूर्यग्रहण के समय शाक्तदीक्षा और चन्द्रग्रहण के समय वैष्णव दीक्षा न ली जाय। तन्त्रसार में यथा-उद्धृत रुद्रयामल का उपर्युक्त निषेधात्मक निर्देश गोपाल और श्रीविद्या से भिन्न अन्य वैष्णव एवं शक्तिमन्त्रों के सम्बन्ध में है। योगिनीहृदय एवं गन्धर्वतन्त्र जैसे श्रीविद्या-प्रतिपादक ग्रन्थों में सूर्यग्रहण तथा चन्द्रग्रहण को श्रीविद्या की दीक्षा के लिये सर्वथा प्रशस्त एवं ग्राह्य कहा गया है।

[महाष्टम्यां कालशुद्ध्यादिनैरपेक्ष्यम्]

महाष्टम्यां विशेषेण धर्मकामार्थसिद्धये।
नात्र कालविशुद्ध्यादि न च नक्षत्रशोधनम्।।१३४।।

महाष्टम्यामिति। महाष्टमीमाह कालिकापुराणे एकोनषष्ट्यध्याये—

आश्विने शुक्लपक्षस्य भवेद् या अष्टमी तिथि:।
महाष्टमीति सा प्रोक्ता देव्या: प्रीतिकरी परा।। इति।

विशेषमाह तन्त्रसारधृतविष्णुजामले च—

देवीबोधं समारभ्य यावत् स्यान्नवमी तिथि:।
कृता तासु बुधैर्दीक्षा सर्वाभीष्टफलप्रदा।।
शुक्लपक्षे विशेषेण तत्रापि तिथिरष्टमी।
तत्रापि शारदी दुर्गा यत्र देवी गृहे गृहे।।
तत्र दीक्षा प्रकर्त्तव्या मासर्क्षादीन् न शोधयेत्।
तथा— बोधने चैव दुर्गाया: कालाकालं न शोधयेत्।।
अशोकाख्याष्टमी यत्र रामाख्या नवमी तथा।। इति।

एतेन बोधनवमीतो दुर्गानवमीं यावत् तिथिवारकालाकालादिविचारनैरपेक्ष्येण दीक्षाया: प्राशस्त्यमभिहितम्। तत्रापि महाष्टम्यां दीक्षाया: फलविशेषश्रवणान्मूले तस्या एवोल्लेख:।

शारदीय नवरात्रि की अष्टमी को महाष्टमी कहते हैं। दीक्षा, विशेषकर शाक्त दीक्षा के लिये यह सर्वश्रेष्ठ तिथि है। महाष्टमी को दीक्षा लेने के लिये न तो काल-(लग्न) शोधन की आवश्यकता है और न नक्षत्र आदि का विचार करना है।।१३४।।

विमर्श—अन्य तन्त्रग्रन्थों में भी शारदीय नवरात्रि की अत्यन्त प्रशंसा की गई है। तन्त्रसार में यथा-उद्धृत विष्णुयामल के अनुसार देवी के प्रबोधन की तिथि (नवमी) से दुर्गानवमी तक घर-घर में भगवती दुर्गा का वास रहता है। अत: यह अवधि दीक्षा के लिये स्वयमेव अत्यन्त प्रशस्त होती है। ऐसे शुभ दिनों में भी महाष्टमी का और भी विशेष महत्त्व है। इस शुभ पर्व पर दीक्षा लेने के लिये मास, दिन, नक्षत्र, तिथि, लग्न, राशि आदि किसी का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह अशोक-अष्टमी तथा रामनवमी भी दीक्षा के लिये समान रूप से प्रशस्त है।

[श्रीगुरौ करुणया दीक्षयितुकामे, काश्यादौ च कालाकालविचारनैरपेक्ष्यम्]

श्रीगुरो: करुणाकारे तथा काश्यां प्रयागके।
पुण्यतीर्थे तथा क्षत्रे देवीपीठचतुष्टये।
तथा श्रीपर्वते मन्त्री कालाकालं न शोधयेत्।।१३५।।

श्रीगुरोरिति। करुणाकारे यदा गुरुः कृपया शिष्यमाहूय मन्त्रं दित्सति तदेत्यर्थः। तदुक्तं तन्त्रसारधृतसमयातन्त्रे—

शिष्यानाहूय गुरुणा कृपया दीयते यदि।
तत्र लग्नादिकं किञ्चिन्न विचार्यं कदाचन॥
सर्वे वारा ग्रहाः सर्वे नक्षत्राणि च राशयः।
यस्मिन्नहनि सन्तुष्टो गुरुः सर्वे शुभावहाः॥ इति।

पुण्य इत्यादि। तदुक्तं गन्धर्वतन्त्रे पञ्चविंशपटले—

पुण्यक्षेत्राणि कथ्यन्ते शृणु प्राधान्यतो मम।
पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं गुहा पर्वतमस्तकम्॥
तीर्थप्रदेशाः सिन्धूनां सङ्गमः पावनं वनम्।
उद्यानानि विविक्तानि विल्वमूलं तटं गिरेः॥
तुलसीकाननं गोष्ठं वृषशून्यं शिवालयम्।
अश्वत्थामलकीमूलं गोशाला जलमध्यतः॥
देवतायतनं कूलं समुद्रस्य निजालयम्।
साधने च प्रशस्तानि स्थानान्येतानि मन्त्रिणाम्॥ इति।

तन्त्रसारे च—

अथ वक्ष्यामि दीक्षायाः स्थानं तन्त्रानुसारतः।
गोशालायां गुरोर्गेहे देवागारे शिवालये।
पुण्यक्षेत्रे तथोद्याने नदीतीरे च मन्त्रवित्॥
धात्रीविल्वसमीपे च पर्वताग्रे गुहासु च।
गङ्गायास्तु तटे वापि कोटिकोटिगुणं भवेत्॥ इति।

देवीति। देवीपीठचतुष्टयन्तु—कामगिरिपीठम्, जालन्धरपीठम्, पूर्णगिरिपीठम्, उड्डीयानपीठञ्चेति। एतत् पञ्चदशप्रकाशे पीठन्यासनिरूपणावसरे ग्रन्थकारः स्वयमेव वक्ष्यतीति नात्र प्रपञ्च्यते। स्थानेष्वेतेषु दीक्षाग्रहणे कालाकालविचारो नास्तीत्यर्थः। तदुक्तं राघवभट्टेन—

पुण्यतीर्थे कुरुक्षेत्रे देवीपीठचतुष्टये।
प्रयागे श्रीगिरौ काश्यां कालाकालं न शोधयेत्॥ इति।

इन देवपर्वों के समान ही काशी, प्रयाग अथवा किसी अन्य तीर्थ या क्षेत्र में तथा श्रीशैल-सहित चारो देवी पीठों में दीक्षा लेने के लिये काल-शोधन की आवश्यकता नहीं है। सर्वोपरि बात यह है कि करुणावतार श्री गुरुदेव कृपा करके जिस किसी भी समय दीक्षा के लिये बुलायें, तुरन्त जाकर दीक्षा ले लेनी चाहिए॥१३५॥

विमर्श—समयातन्त्र में भी कहा गया है कि श्रीगुरुदेव जब बुलायें, लग्न, तारा, नक्षत्र आदि का विचार नहीं करके तुरन्त दीक्षा ले लेनी चाहिए। श्रीगुरुदेव

के प्रसन्न और संतुष्ट होने पर सभी वार, सभी ग्रह, सभी नक्षत्र एवं सभी राशियाँ शुभ हो जाती हैं।

श्रीगुरुदेव के प्रसन्न होने पर मुहूर्त के सभी घटकों की अनुकूलता का रहस्य तिल की ओट में पहाड़-जैसा है। दीक्षा की दिव्यता के निर्वचन के प्रसंग में यह बताया जा चुका है कि मानव-गुरु के माध्यम से स्वयं भगवान् महाकाल दीक्षार्थी को दीक्षा प्रदान करते हैं। जब स्वयं भगवान् महाकाल प्रसन्न हों तो लग्न, नक्षत्र, वार, तिथि आदि की प्रतिकूलता को स्वयमेव अनुकूल बनना पड़ता है। उनकी समस्त अप्रशस्तता स्वयमेव निष्प्रभ हो जाती है।

पुण्यक्षेत्र—गन्धर्वतन्त्र (पटल २५) के अनुसार पवित्र नदी का तट, पर्वत की गुफा और चोटी, नदियों का संगम, पवित्र वन, तुलसीवन, बिल्वमूल, गोष्ठ, वृष-शून्य शिवालय, गोशाला, देवतायतन एवं सागरतट दीक्षा के लिये पुण्यक्षेत्र हैं।

देवीपीठ—कामगिरि पीठ (कामाख्या), जालन्धर पीठ, पूर्णगिरि पीठ और उड्डीयान पीठ—ये चार देवीपीठ हैं।

[दीक्षायां वारनियम:]

रविवारे भवेद् वित्तं सोमे शान्तिप्रदा भवेत्।
आयुरङ्गारके हन्ति तत्र दीक्षां विवर्जयेत्।।१३६।।
बुधे सौन्दर्यमाप्नोति ज्ञानं तु स्याद् बृहस्पतौ।
शुक्रे सौभाग्यमाप्नोति यशोहानि: शनैश्चरे।।१३७।।

दीक्षायां विहितान्निषिद्धांश्च वारान् नियमयति—**रवीति**। अत्र दु:खमिति पादटिप्पणीधृत: पाठ: प्रामादिक:, तन्त्रसारे 'रविवारे भवेद् वित्त'मिति पाठदर्शनात्, 'रवौ गुरौ सिते सोमे कर्त्तव्यं बुधवासरे' इति गन्धर्वतन्त्रषड्विंशपटलवचनेन, 'रवौ गुरौ सिते सोमे कर्त्तव्यं बुधशुक्रयो:' इति गौतमीयतन्त्रपञ्चमपटलवचनेन च रविवासरे दीक्षाया: प्राशस्त्याभिधानात्।

वार-नियम—रविवार को दीक्षा लेने से वित्त एवं सोमवार से शान्ति मिलती है। मंगलवार को दीक्षा लेने से आयु क्षीण होती है, अत: भौमवार को दीक्षा नहीं लेनी चाहिए। बुधवार को दीक्षा लेने से सौन्दर्य-प्राप्ति, बृहस्पतिवार को दीक्षा से ज्ञान-प्राप्ति तथा शुक्रवार को दीक्षा लेने से सौभाग्य की प्राप्ति होती है। शनिवार को दीक्षा लेने से यश की हानि होती है।।१३६-१३७।।

[दीक्षायां तिथिनियम:]

चतुर्थी नवमी चैव चतुर्दश्यष्टमी तथा।
पूर्णिमा पञ्चमी चैव द्वितीया सप्तमी तथा।।१३८।।
त्रयोदशी च दशमी प्रशस्ता सर्वसिद्धिदा।

दीक्षा लेने के लिये चतुर्थी, नवमी, चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमा, पञ्चमी, द्वितीया, सप्तमी, त्रयोदशी तथा दशमी तिथियाँ प्रशस्त एवं सिद्धिदायिनी हैं॥१३८॥

[पक्षनियमः]

शुक्लपक्षे शुभा दीक्षा कृष्णेऽप्या पञ्चमाद्दिनात्।।१३९।।

सामान्यतः शुक्लपक्ष में पूरे पखवाड़े भर तथा कृष्णपक्ष में पञ्चमी तक विहित तिथियों में दीक्षा ली जानी चाहिए॥१३९॥

[तत्रापि विशेषः]

मुक्तिकामैः कृष्णपक्षे भूतिकामैः सिते सदा।
कृष्णाष्टम्यां चतुर्दश्यां दीक्षाकर्म शुभप्रदम्।।१४०।।

मुक्तीति। तन्त्रसारधृता राघवभट्टेन च—

शुक्लपक्षेऽथ कृष्णे वा दीक्षा सर्वत्र शोभना।

इति कालोत्तरवचनमुपजीव्य यदुभयोरेव पक्षयोः प्राशस्त्यमभिहितं तत्र विशेषमाह—**मुक्तीति**। ततश्चोक्तकामनाभेदेन दीक्षायां पक्षव्यवस्थेत्यवधेयम्।

मुक्ति चाहने वाले व्यक्ति को कृष्णपक्ष में और भूतिकामी अर्थात् ऐश्वर्य चाहने वाले व्यक्तियों को शुक्लपक्ष में दीक्षा लेनी चाहिए। मुक्तिकामी के लिये कृष्णपक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी भी शुभ है॥१४०॥

[नक्षत्रनियमः]

अश्विन्यां सुखमाप्नोति भरण्यां मरणं ध्रुवम्।
कृत्तिकायां भवेद्दुःखी रोहिण्यां वाक्पतिर्भवेत्।।१४१।।
मृगशीर्षे सुखप्राप्तिरार्द्रायां बन्धुनाशनम्।
पुनर्वसौ भवेद्दुःखी पुष्यायां धनवान् भवेत्।।१४२।।
अश्लेषायां भवेद्रोगी मघायां मोक्षमाप्नुयात्।
फल्गुनीद्वितये चैव यशोवृद्धिर्भवेत् किल।।१४३।।
हस्तायां धननाशः स्याच्चित्रास्वात्योः सुखी भवेत्।
विशाखायां सुखं चानुराधायां बन्धुनाशनम्।।१४४।।
ज्येष्ठायां सुतवृद्धिः स्यान्मूलायां कीर्त्तिवर्द्धनम्।
पूर्वाषाढोत्तराषाढे भवेतां कीर्त्तिदायिके।।१४५।।
श्रवणायां भवेद्दुःखी धनिष्ठायां दरिद्रता।
बुद्धिः शतभिषायां स्यात् पूर्वभाद्रे सुखी भवेत्।।१४६।।
सौख्यं चोत्तरभाद्रे च रेवत्यां कीर्त्तिवर्द्धनम्।।१४७।।

दीक्षायां शुभाशुभानि नक्षत्राणि निर्दिशति—**अश्विन्यामिति**। नीलतन्त्रे षष्ठपटले—

रोहिणी श्रवणार्द्रा च धनिष्ठा चोत्तरत्रयम्।
पुष्या शतभिषा चैव दीक्षानक्षत्रमुच्यते।। इति।

राघवभट्टधृतकारणे—

पौष्णं रोहिण्यथादित्यं श्रवणं चाश्विनी तथा।
सावित्रं त्वाष्ट्रवायव्यमैन्द्रं नैर्ऋतमेव च।।
तिष्यं त्रिरुत्तरार्द्रा च सौम्यं शिष्यत्रिजन्मभम्।
नक्षत्राणि प्रशस्तानि दीक्षाकर्मणि सुव्रते।। इति।

अत्र पौष्णं रेवती, आदित्यं पुनर्वसुः, सावित्रं हस्तः, सौम्यं मृग इति राघवभट्टव्याख्यानम्। त्वाष्ट्रं चित्रा, पवनः स्वाती।

राघवभट्टस्तु वक्ष्यमाणरत्नावलीवचनेन परस्परसंयोगे तिथिनक्षत्रयोर्दुष्टत्वमाह। यथा—

प्रतिपत् पूर्वाषाढा च पञ्चमी कृत्तिका तथा।
पूर्वा भाद्रपदा षष्ठी दशमी रोहिणी तथा।।
द्वादशी सार्पनक्षत्रमर्यम्णा च त्रयोदशी।
नक्षत्रलुप्ता इत्येते देवानामपि नाशनाः।।

इत्यन्यद्वारा द्विसंयोगात्तिथिनक्षत्रदुष्टत्वं ज्योतिःशास्त्रादवसेयमित्याह। एवञ्च—

पूर्वाषाढोत्तराषाढे भवेतां कीर्त्तिदायिके।

इत्यनेन पूर्वाषाढायाः प्राशस्त्येऽपि—

प्रतिपदि कृता दीक्षा दुःखाय मरणाय च।

इति तन्त्रसारधृतवचने प्रतिपदोऽनिष्टफलकत्वात् तत्संयोगे प्रशस्ताया अपि पूर्वाषाढाया दुष्टत्वम्। एवं पञ्चम्याः प्राशस्त्येऽपि अप्रशस्तायाः कृत्तिकायाः संयोगात्तस्या अप्राशस्त्यम्। यत्रोभयोरपि तिथिनक्षत्रयोः प्राशस्त्यं तत्रापि प्रागुक्तरीत्या तयोः संयोगोऽनिष्टं फलं प्रसूते, यथा दशमीरोहिण्योः स्वतः प्राशस्त्येऽपि परस्परसंयोगे तयोरुभयोरेवानिष्टफलानुबन्धित्वम्। एवमन्यत्रापि।

नक्षत्र-नियम—विभिन्न नक्षत्रों में दीक्षा-प्राप्ति का फल निम्नानुसार है—

अश्विनी में सुखप्राप्ति, भरणी में मरण अर्थात् मृत्यु, कृत्तिका में दुःखप्राप्ति, रोहिणी में वाक्पतित्व, मृगशिरा में सुखप्राप्ति, आर्द्रा में बन्धुनाश, पुनर्वसु में दुःख-प्राप्ति, पुष्य में धनप्राप्ति, आश्लेषा में रोग, मघा में मोक्षप्राप्ति, पूर्वाफाल्गुनी एवं उत्तराफाल्गुनी में यश-वृद्धि, हस्त में धन का नाश, चित्रा और स्वाती में सुख-प्राप्ति, विशाखा में सुखप्राप्ति, अनुराधा में बन्धुनाश, ज्येष्ठा में पुत्रसुख, मूल, पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा में कीर्तिवृद्धि, श्रवण में दुःखप्राप्ति, धनिष्ठा में दरिद्रता, शतभिषा में बुद्धिविकास, पूर्व भाद्रपद और उत्तर भाद्रपद में सुखप्राप्ति तथा रेवती में कीर्ति।।१४१-१४७।।

विमर्श—शारदातिलक की 'पदार्थादर्श' टीका (पटल ३ श्लोक १) में राघवभट्ट द्वारा यथा-उद्धृत रत्नावली नामक ग्रन्थ के अनुसार कतिपय तिथियों और नक्षत्रों का योग देवताओं का भी विनाशक होता है। ऐसे घातक योग में भूलकर भी दीक्षा नहीं लेनी चाहिये। तिथि और नक्षत्र के संयोग से उत्पन्न दुर्योग ये हैं—

तिथि	प्रतिपदा	पञ्चमी	षष्ठी	दशमी	द्वादशी	त्रयोदशी
नक्षत्र	पूर्वाषाढ़ा	कृत्तिका	पूर्वभाद्र०	रोहिणी	आश्लेषा	अर्यमण (मघा)

ज्योतिषशास्त्र में भी तिथि और नक्षत्रों के योग से होने वाले कुयोगों का विवरण दिया गया है। इस सम्बन्ध में मुहूर्तचिन्तामणि (अध्याय एक, श्लोक-११-१३) द्रष्टव्य है।

[लग्न-चन्द्र-तारा-नियमः]

वृषे सिंहे च कन्यायां धनुर्मीनाख्यलग्नके।
चन्द्रतारानुकूले च कुर्याद्दीक्षाप्रवर्त्तनम्।।१४८।।

लग्न-चन्द्र-तारा नियम—चन्द्र और तारा अनुकूल होने पर प्रशस्त तिथि और प्रशस्त वार को वृष-सिंह-कन्या-धनु और मीन लग्न में दीक्षा लेनी चाहिए।।१४८।।

तृतीयैकादशषष्ठदशमस्थश्च चन्द्रमाः।
जन्मचन्द्रः शुभः प्रोक्तो जन्मनक्षत्रवर्ज्जितः।।१४९।।
शुक्लपक्षे द्वितीयस्तु पञ्चमो नवमस्तथा।।१५०।।

दीक्षा के दिन दीक्षार्थी की जन्मराशि से तृतीय, एकादश, षष्ठ और दशम राशि का चन्द्रमा शुभ है। जन्म का चन्द्र भी ग्राह्य है; बशर्ते वह जन्मनक्षत्र में नहीं हो। यथा—मिथुन राशि-आर्द्रा नक्षत्र के दीक्षार्थी के लिये मिथुन राशि का चन्द्रमा ग्राह्य है; बशर्ते वह आर्द्रा नक्षत्र में नहीं हो। इस व्यक्ति के लिये मृगशिरा (अन्तिम दो चरण) तथा पुनर्वसु (तीन चरण) में स्थित मिथुनस्थ चन्द्रमा ग्राह्य है। शुक्ल पक्ष में जन्मराशि से द्वितीय, पञ्चम और नवम का चन्द्रमा भी शुभ है।।१४९-१५०।।

गोचरे ये ग्रहाः शुद्धास्तैर्युक्तोऽपि शुभः शशी।
शुभमध्यस्थितो चापि चन्द्रमाः शुभदो भवेत्।।१५१।।

गोचर में जो ग्रह शुद्ध और शुभ हैं, उनके साथ स्थित चन्द्रमा भी शुभ होता है।।१५१।।

तृतीये सप्तमे चैव षोडशाष्टादशे तथा।
ऊनविंशे चैकविंशे त्रयोविंशे तथैव च।
पञ्चविंशतिनक्षत्रे शुभकर्म विवर्जयेत्।।१५२।।

जन्मनक्षत्र से तीसरा, सातवाँ, सोलहवाँ, अठारहवाँ, उन्नीसवाँ, इक्कीसवाँ, तेइसवाँ और पच्चीसवाँ नक्षत्र सभी शुभ कार्यों में वर्जित हैं॥१५२॥

[प्रागुक्तमासादिशुद्धेर्मन्त्रदीक्षामात्रपरत्वम्]

यन्मासतिथिवारादि-शोधनं प्रोक्तमेव हि।
मन्त्रदीक्षापरं तत्तु विज्ञेयं साधकोत्तमैः।।१५३।।

उपर्युक्त श्लोकों में जो मास, तिथि, वार और नक्षत्र बताये गये हैं, वे मन्त्र-दीक्षापरक हैं. यहाँ 'मन्त्र' से तात्पर्य राम, कृष्ण, शिव आदि पुरुष-देवताओं के मन्त्रों से है। अत: पुरुषदेवताओं के मन्त्रों की दीक्षा में उपर्युक्त मास-तिथि-वार आदि का विशेष रूप से विचार किया जाना चाहिए॥१५३॥

[विद्यादीक्षायान्तु तिथिवारादिशोधनापेक्षा नास्ति]

विद्यादीक्षापरं नैव तिथिवारविशोधनम्।
यदैवेच्छा तदा दीक्षा गुरोराज्ञानुसारतः।।१५४।।
योगिनीहृदयस्येति मतमालक्ष्य कीर्त्तितम्।।१५५।।

राघवभट्टधृततत्त्वसागरसंहितायामपि—

तिथिं विनाऽपि दीक्षायां विशिष्टावसरं शृणु।
दुर्लभे सद्गुरूणान्तु सकृत् सङ्ग उपस्थिते।।
तदनुज्ञा यदा लब्धा स दीक्षावसरो महान्।
ग्रामे वा यदि वाऽरण्ये क्षेत्रे वा दिवसे निशि।
आगच्छति गुरुर्दैवाद् यदा दीक्षा तदा भवेत्।। इति।

तथा— यदैवेच्छा तदा दीक्षा गुरोराज्ञानुसारतः।
न तिथिर्न व्रतं होमो न स्नानं न जपक्रिया।
दीक्षायाः कारणं किन्तु स्वेच्छावाप्ते तु सद्गुरौ।। इति।

स्त्रीदेवता के मन्त्र को 'विद्या' कहते हैं। विद्या की दीक्षा अर्थात् स्त्रीदेवता के मन्त्र की दीक्षा के लिये तिथि-वार-नक्षत्र आदि के शोधन की विशेष आवश्यकता नहीं है। श्रीविद्यापरक योगिनीहृदय तन्त्र के अनुसार जब भी गुरुदेव प्रसन्न हों, उनकी आज्ञा के अनुसार दीक्षा ग्रहण की जाय॥१५४-१५५॥

[मन्त्रपदव्युत्पत्तिः]

मननात्त्राणनाच्चैवमद्वयस्यावबोधनात् ।
मन्त्र इत्युच्यते सम्यक् शिवाधिष्ठानतोऽपि च।।१५६।।
गुप्तोपदेशतो मन्त्रो मननात्त्राणनादपि।
तेन मन्त्र इति प्रोक्तो देशिकैस्तन्त्रवेदिभिः।।१५७।।

'मन्त्र' पद की व्युत्पत्ति—'मन्त्र' शब्द में दो अक्षर हैं—'म' और 'त्र'। 'म' का अर्थ है मनन और 'त्र' का अर्थ है—त्राण अर्थात् रक्षा। जिसका मनन करने से व्यक्ति की रक्षा होती है और साथ ही अद्वयतत्त्व परं ब्रह्म का ज्ञान होता है, उसे 'मन्त्र' कहते हैं। मन्त्र का अर्थ है—विचार (मनन) और मन्त्र का वाच्यार्थ है—देवता। इस प्रकार मन्त्र के वाच्यार्थ अर्थात् देवता का ध्यान और स्मरण करते हुए जप करने से एक ओर देवता की कृपा से सर्वविध आपदाओं से साधक की रक्षा होती है, वहीं दूसरी ओर देवता के सतत् सान्निध्य के फलस्वरूप अद्वयतत्त्व अर्थात् परमशिव का ज्ञान होता है। परमशिव के स्वरूप और उनके दिव्यता की अनुभूति उज्ज्वल से उज्ज्वलतर होती जाती है। चूँकि सद्गुरु द्वारा मन्त्र (मन्त्र एवं विद्या) का दान लाउडस्पीकर पर नहीं; अपितु सबसे छिपाकर गुप्त रूप से कान में दिया जाता है; अत: गुप्त रूप से प्राप्त मन्त्र की साधना भी गुप्त रूप से करनी चाहिए। इसके दो अर्थ हैं। प्रथम तो यह कि मन्त्र वैखरी वाणी का विषय नहीं है; अत: इसे जोर-जोर से नहीं; अपितु मन ही मन जपना चाहिए। दूसरा यह कि दूसरे को पता भी नहीं चलना चाहिए कि आप मन्त्रसाधना कर रहे हैं और साधना कर रहे हैं तो किस मन्त्र की साधना कर रहे हैं॥१५६-१५७॥

[दशविधो मन्त्रसंस्कार:]

मन्त्रस्य दश संस्कारा: कथ्यन्ते तन्त्रवर्त्मना।
जननं जीवनं पश्चात्ताडनं बोधनं तथा॥१५८॥
अथाभिषेको विमलीकरणाप्यायने पुन:।
तर्पणं दीपनं गुप्तिर्दशैता मन्त्रसंस्क्रिया:॥१५९॥

कुलार्णवे पञ्चदशोल्लासे—

कथ्यन्ते दश संस्कारा मन्त्रदोषहरा: प्रिये।

इत्यनेन वक्ष्यमाणमन्त्रसंस्कारस्य मन्त्रदोषनिवारकत्वात्,

शाणोल्लीढानि शस्त्राणि यथा स्युर्निशितानि वै।
मन्त्राश्च स्फूर्त्तिमायान्ति संस्कारैर्दशभिस्तथा॥

इत्यनेन विशेषतो मन्त्रस्फूर्त्तिविधायकत्वाच्च मन्त्रस्य संस्कारानभिधातुं प्रतिजानीते—**मन्त्रस्येति**। ततश्च वक्ष्यमाणरीत्या कृत: संस्कारैश्छिन्नादिदोषदुष्टा अपि मन्त्रा: शुभफलं प्रसुवते; ते दोषास्तु छिन्नो रुद्र: शक्तिहीन इत्यादिना शारदायां द्वितीयपटले विशिष्याभिहिता:।

मन्त्रसंस्कारों के नाम—तन्त्रशास्त्र में बताई गई विधि के अनुसार मन्त्र के दस संस्कार किये जाने चाहिए। ये संस्कार हैं—(१) जनन, (२) जीवन, (३) ताड़न, (४) बोधन, (५) अभिषेक, (६) विमलीकरण, (७) आप्यायन,

(८) तर्पण, (९) दीपन और (१०) गुप्ति। मन्त्र के ये दस संस्कार होने के बाद ही इनका जप किया जाना चाहिए।।१५८-१५९।।

विमर्श—अपात्र व्यक्तियों द्वारा अनाप-शनाप ढंग से जपे जाने के कारण मन्त्रों में मलिनता आ जाती है। अतः प्रयोग में लाये जाने के पूर्व उन्हें उसी तरह स्वच्छ और साफ किया जाना आवश्यक है, जिस तरह अनुप्रयुक्त एवं कुन्द धार हो गये शस्त्रों को प्रयोग में लाये जाने के पूर्व शाण (सान) पर चढ़ाकर साफ किया जाता है, उनकी धार की तीक्ष्णता बढ़ाई जाती है। कुलार्णवतन्त्र (१५/७३) में कहा गया है—

शाणोल्लीढानि शास्त्राणि यथा स्युर्निशितानि वै।
मन्त्राश्च स्फूर्त्तिमायान्ति संस्कारैर्दशभिस्तथा।।

जिस तरह शाण (सान) पर चढ़कर शस्त्र तीक्ष्ण हो जाते हैं, उसी तरह इन दस संस्कारों से संस्कृत होकर मन्त्र भी तीक्ष्ण, स्फूर्तिमान् एवं कार्य-सक्षम हो जाते हैं। अगले १४ श्लोकों में इन संस्कारों की विधि बताई गई है।।१५८-१५९।।

[तत्र जननाख्यः प्रथमसंस्कारः]

कुङ्कुमेन विलिप्तायामथवा रोचनादिना।
गोमयेन विलिप्तायां कठिन्या कमलं लिखेत्।।१६०।।
द्विरष्टकेशरे वर्गं पूर्वतो युग्ममालिखेत्।
कादिवर्गं सप्तपत्रे ळ-क्षमष्टमपत्रके।।१६१।।
तदक्षरात्तु मन्त्राणामुद्धारो जननं स्मृतम्।।१६२।।

कुङ्कुमेनेति। तदुक्तं तन्त्रसारधृतगौतमीये—

स्वर्णादिपात्रे संलिख्य मातृकायन्त्रमुत्तमम्।
काश्मीरचन्दनेनापि भस्मना वाथ सुव्रते।।
काश्मीरं शक्तिसंस्कारे चन्दनं वैष्णवे मनौ।
शैवे भस्म समाख्यातं मातृकायन्त्रलेखने।। इति।

अत्र मातृकायन्त्रेत्यभिधानात्,

मन्त्राणां मातृकायन्त्रादुद्धारो जननं स्मृतम्।

इति तन्त्रसारोक्तेश्च प्रकृते कमलपदेन मातृकायन्त्रघटकं कमलमित्यवगन्तव्यम्। मातृकायन्त्रमाह तन्त्रसारे—

व्योमेन्द्वौरसनार्णकर्णिकमचां द्वन्द्वैः स्फुरत्केशरं
वर्गोल्लासिवसुच्छदं वसुमतीगेहेन संवेष्टितम्।
आशास्वस्त्रिपु लान्तलाङ्गलियुजा क्षौणीपुरेणावृतं
यन्त्रं वर्णतनोः परं निगदितं सौभाग्यसम्पत्करम्।। इति।

तथा तन्त्रसारधृतगौतमीये—

कादिमान्तान् पञ्च वर्गान् दिक्षु पूर्वादितो न्यसेत्।
यादिवान्ताञ् शादिहान्ताल् ळ-क्षमीशे प्रविन्यसेत्।
चतुरस्रं चतुर्द्वारं दिक्षु वं ठं विदिक्षु च।। इति।

तथा चायं यन्त्रलेखनक्रमः। प्रथमं पद्मस्य कर्णिकामाह—**व्योमेन्द्वौरसनार्णकर्णिकमिति**। व्योम हकारः, इन्दुः सकारः, तत औकारः, रसनार्णो विसर्गः, व्योम इन्दुः औः रसनार्णश्च कर्णिकायां यस्येति विग्रहः। एतेन ह्सौः इति कर्णिकायां लेखनीयमित्यर्थः। केशरमाह—अचां स्वराणां द्वन्द्वैः स्फुरन्तः केशरा यस्य तत्। एतेन पूर्वादितोऽष्टसु केशरेषु द्विशः षोडशस्वरानीशानान्तान् लिखेदित्यर्थः। ततो दलान्याह—वर्गोल्लासिवसुच्छदं वर्गैरुल्लसन्तीति वर्गोल्लासिनः, वर्गोल्लासिनो वर्गविशिष्टाः वसवः अष्टौ छदा यस्य तत्। तथाच अष्टपत्राणि लिखित्वा पूर्वपत्रे कवर्गम्, आग्नेये चवर्गम्, दक्षिणे टवर्गम्, नैर्ऋते तवर्गम्, पश्चिमे पवर्गम्, वायव्ये य-र-ल-व-रूपं वर्णचतुष्टयम्, उत्तरे श-ष-स-ह-रूपं वर्णचतुष्टयम्, ईशाने ळ-क्ष-वर्णद्वयं लिखेदित्यर्थः। आशासु दिक्षु अस्रिषु कोणेषु च यथाक्रमं लान्तो वकारः, लाङ्गली ठकारः तद्युक्तेन वसुमतीगेहेन भूपुरेण संवेष्टितम्! क्षौणीपुरेण द्वारचतुष्टयेनेति आगमतत्त्वविलासः। प्राचीनहस्तलिखिततन्त्रसारे तु क्षौणीपुरेणानुस्वारेणेति व्याख्यानं दृश्यते। तन्मते वकारठकारयोरनुस्वारयोगार्थं क्षौणीपुरेणेति पदमिति प्रतिभाति। तथाच चतुर्दिग्द्वारेषु वम, कोणेषु च ठमिति लिखेत्। इति मातृकायन्त्रक्रमः।

प्रकृते तु कठिन्या कमलं लिखेदिति कमलमात्रलेखनाभिधानं मातृकायन्त्रान्तर्गतपद्मादेव वर्णोद्धारसूचनार्थम्। अत्र कमले तन्त्रसारोक्तक्रमेणैव वर्णस्थापनमाह—**द्विरष्टेत्यादिना**। द्विरष्टकेशरे वर्णमिति द्विरिति वारार्थे सुच्। ततश्च पूर्वादिकेशरेषु द्वौ द्वौ कृत्वा युग्मं वर्णमालिखेदित्यर्थः। तदक्षरादिति, मन्त्राणां मन्त्रघटकवर्णानां तदक्षरादुद्धारो जननाख्यः संस्कार इत्यर्थः। तथाच राघवभट्टः 'शुभे पीठादौ कुङ्कुमगोरोचनादिना मातृकाब्जं विलिख्य देयमन्त्रस्यैकैकमक्षरं मातृकाब्जतः उद्धरणीयमि'ति।

जनन संस्कार—मन्त्र का जनन संस्कार करने के लिये गोमय (गोबर) से लिप्त (लीपी गई) भूमि पर कनिष्ठा अंगुली से कुंकुम या गोरोचन से आठ दल वाला मातृकायन्त्र बनायें। इस यन्त्र के आठ दलों में पूर्व दल से प्रारम्भ करके प्रत्येक दल में दो-दो स्वरवर्ण लिखें। तत्पश्चात् पूर्व दल से ही प्रारम्भ करके पाँच कमलों में प्रदक्षिणा क्रम से 'क'कारादि पाँच वर्ग, छठवें कमलदल में 'य'वर्ग, सातवें में 'श'वर्ग और आठवें में 'ळ' और 'क्ष' लिखें। भूपुर बनायें। भूपुर के पूर्व आदि द्वारों में 'वं' तथा ईशान आदि कोणों में 'ठं' लिखें। इस मातृका-यन्त्र से मन्त्र के प्रत्येक घटक वर्ण का उद्धार किया जाय।।१६०-१६२।।

विमर्श—मन्त्र-संस्कार के प्रसंग में तन्त्रसार में यथा-उद्धृत गौतमीय तन्त्र के अनुसार यह यन्त्र शक्तिमन्त्र का उद्धार करने के लिये कुंकुम से, वैष्णव-मन्त्र के

लिये चन्दन से और शैव मन्त्र के लिये भस्म से स्वर्ण आदि के पत्र (प्लेट) पर लिखा जाय। वहाँ मातृका-यन्त्र के दो रूप बताये गये हैं। यहाँ बताया गया वर्ण-लेखन क्रम गौतमीयतन्त्र के अनुसार है।

मन्त्रमहोदधि (तरंग ३४, श्लोक ९८ से १०१) में एक अलग स्वरूप का जनन-संस्कार बताया गया है। यन्त्र के दोनों स्वरूप यहाँ प्रस्तुत हैं।

मातृका चक्र

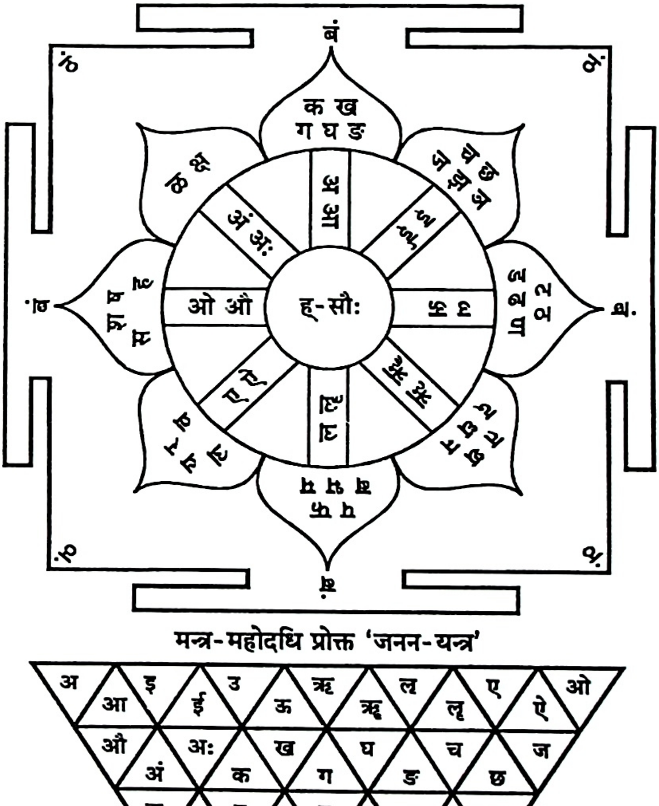
बं
क ख ग घ ङ
च छ ज झ ञ
ट ठ ड ढ ण
त थ द ध न
प फ ब भ म
य र ल व
श ष स ह
ळ क्ष
अ आ
इ ई
उ ऊ
ऋ ॠ
ऌ ॡ
ए ऐ
ओ औ
अं अः
ह्-सौः

मन्त्र-महोदधि प्रोक्त 'जनन-यन्त्र'

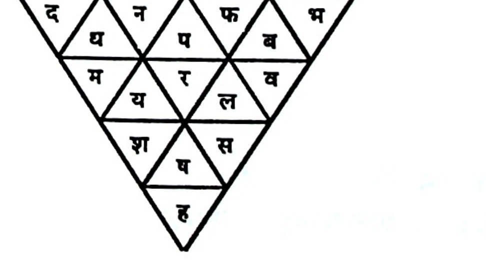
अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ
औ अं अः क ख ग घ ङ च छ ज
झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ
द ध न प फ ब भ
म य र ल व
श ष स
ह

जनन-विधि—इस संस्कार की सामान्य विधि यह है कि जनन-संस्कार यन्त्र पर मातृका देवी का ध्यानपूर्वक आवाहन करके यन्त्र में प्राण-प्रतिष्ठा करें। यथा-विधि अर्चन करके 'वर्ण' उद्धार हेतु अनुमति माँगें। तत्पश्चात् उक्त यन्त्र से मन्त्र के घटक वर्णों का एक-एक कर उद्धार करे। मान लीजिये किसी मन्त्र के घटक 'ह्रीं' का उद्धार करना है। इसके घटक वर्ण हैं—'ह'कार (ह्) 'र'कार (र्) 'ई'कार (ई) तथा अनुस्वार। अतः सर्वप्रथम 'ह्'कार का ध्यान और अर्चन करके उक्त यन्त्र से 'ह'कार का उद्धार करने की भावना करते हुए एक अलग यन्त्र पर 'ह्'कार लिखें। तत्पश्चात् इसी प्रकार 'र्'कार, 'ई'कार एवं अनुस्वार (अं) का उद्धार करने से 'ह्रीं' का उद्धार होगा। मन्त्र के घटक वर्ण 'क' का उद्धार करने के लिये 'क्' और 'अ' का, 'ए' का उद्धार करने के लिये केवल 'ए' का, 'ई' का उद्धार करने के लिये केवल 'ई' का तथा 'ल' का उद्धार करने के लिये 'ल्'कार और 'अ'कार का उद्धार किया जायगा। मातृकाओं का ध्यान कामधेनुतन्त्र में द्रष्टव्य है।

[जीवनाख्यो द्वितीयः]

प्रणवान्तरितान् कृत्वा मन्त्रवर्णाञ्जपेत् सुधीः।
एतज्जीवनमित्याहुः शतावृत्त्या च तान्त्रिकाः।।१६३।।

प्रणवेति। प्रणवान्तरितान् प्रणवेन व्यवहितान् मन्त्रघटकवर्णान् जपेदित्यर्थः। यथा यदा ह्रीं इति मन्त्रस्तदा ह ओं र ओं ईम् इति प्रणवान्तरणक्रमः। जपेदिति शतावृत्त्येत्यर्थः। तदुक्तं राघवभट्टेन—'प्रणवसहितांस्तु मन्त्रजवर्णान् प्रजपेच्छतावृत्त्यै तज्जीवनमुक्तमि'ति।

जीवन-संस्कार—यन्त्र के प्रत्येक घटक वर्ण को प्रणव (ॐ) से अन्तरित करके सौ-सौ बार जपने से मन्त्र का जीवन संस्कार होता है।।१६३।।

विमर्श—मूल ग्रन्थ की संस्कृत टीका में जप करने की विधि बताई गई है, जो इस प्रकार है। मान लीजिए—'ह्रीं' बीज मन्त्र का संस्कार करना है। अतः इसके वर्ण 'ह्' 'र्' और 'ई' को प्रणव (ॐ) से इस प्रकार अन्तरित करें। ह् ओं। र् ओं। ईम्। इनमें से प्रत्येक का सौ-सौ बार जप करें। तन्त्रसार में यथा उद्धृत विश्वसार-तन्त्र के अनुसार अशक्तावस्था में प्रणव से अन्तरित प्रत्येक घटक वर्ण का दस-दस बार जप करने से यह संस्कार विकल्पतः सम्पन्न हो जाता है।

मन्त्रमहोदधि के अनुसार सम्पूर्ण मन्त्र को 'स्वधा-वषट्' से सम्पुटित करके एक हजार जपने से मन्त्र का जीवन-संस्कार होता है। यथा—'स्वधा वषट् रामाय नमः वषट् स्वधा'। यहाँ 'रामाय नमः' मूल मन्त्र है, जिसका संस्कार किया जाना है।

[ताडनाख्यस्तृतीयः]

भूर्जे मन्त्राक्षरं कृत्वा वायुबीजेन ताडयेत्।
एकैकं शतवारन्तु मन्त्रञ्च चन्दनाम्भसा।।१६४।।

भूर्ज इति। वायुबीजेन यम इत्यनेन। ताडनस्य वाक्यन्तु—अमुकमन्त्रस्य अमुकाक्षरं यं ताडयामि इति आगमतत्त्वविलासः। ताडनं शतधा दशधा वा। तदुक्तं तन्त्रसारधृततन्त्रान्तरे—

ताडनं तारयेद् वर्णानखिलांश्चन्दनाम्भसा।
शतं वा दशधा वापि बोधयेत्तु मनं ततः।। इति।

विश्वसारे—

दशधा शृणु देवेशि ताडनं परिकीर्त्तितम्।। इति।

ताडन-संस्कार—भोजपत्र पर मन्त्र के घटक स्वरों और व्यञ्जनों को पृथक्-पृथक् लिखकर वायु-बीज (यं) का उच्चारण करते हुए चन्दन-जल से प्रत्येक वर्ण को सौ-सौ बार ताडित करे। यह ताडन संस्कार है।।१६४।।

विमर्श—इस विधि से संस्कार करने के लिये ताडनवाक्य (मन्त्र) होगा—अमुकमन्त्रस्य अमुकाक्षरं 'यं' ताडयामि नमः। यथा—ऐं क्लीं सौः इति त्र्यक्षरी मन्त्रस्य 'ऐं'कार अक्षरं 'यं' ताडयामि नमः।

विश्वसारतन्त्र के अनुसार प्रत्येक वर्ण का १०-१० बार ताडन करने से मन्त्र का विकल्पतः ताडन संस्कार होता है।

मन्त्रमहोदधि के अनुसार मूल मन्त्र को अस्त्रमन्त्र (फट्) से सम्पुटित करके एक हजार जप करने से मन्त्र का यह संस्कार सम्पन्न होता है। यथा—फट् रामाय नमः फट्।

[बोधनाख्यश्चतुर्थः]

मन्त्रं भूर्जे समालिख्य करवीरप्रसूनकैः।
तन्मन्त्राक्षरसंख्यातैर्हन्याद्रेफेण बोधनम्।।१६५।।

मन्त्रमिति। भूर्जपत्रे देयमन्त्रं संलिख्य तन्मन्त्रघटकवर्णसमसंख्याकरक्तकरवीरपुष्पै रम् इति वह्निबीजेन हन्यात्। तदुक्तं राघवभट्टेन—'एतस्मिन् लिखितमन्त्रवर्णसंख्याकरक्तकरवीरैस्तद्बोधनमुक्तं यद्धन्याद्वह्निबीजेने'ति। अत्र तन्मन्त्राक्षरसंख्यातैरित्यभिधानादेकेन पुष्पेणैकस्य मन्त्रवर्णस्य बोधनमिति सूचितम्। बोधनवाक्यन्तु—अमुकमन्त्रस्यामुकाक्षरं हन्मि इत्यागमतत्त्वविलासः।

बोधन-संस्कार—मन्त्र के घटक वर्णों को पृथक्-पृथक् भोजपत्र पर लिखें। जितने अक्षर हैं, उतने रक्त करवीर (लाल कनेर) के पुष्पों से प्रत्येक वर्ण को अग्निबीज (रं) का उच्चारण करते हुए हनन करें। आगमविलास के अनुसार संस्कार-मन्त्र है—अमुकमन्त्रस्य अमुकाक्षरं 'रं' हन्मि नमः।।१६५।।

मन्त्रमहोदधि के अनुसार 'हूं' से सम्पुटित मूल मन्त्र का पाँच हजार जप करने से मन्त्र का बोधन-संस्कार होता है। यथा—हूं रामाय नमः हूं।

[अभिषेकाख्यः पञ्चमः]

मालतीकलिकाभिस्तु कुशमूलेन वा सुधीः।
भूर्जे मन्त्रं समालिख्य मन्त्री मन्त्रार्णसंख्यया।
अश्वत्थपल्लवैर्मन्त्रमभिषिञ्चेद् विशुद्धये।।१६६।।

मालतीति। मालतीकलिकाभिः कुशमूलेन वा भूर्जपत्रे मन्त्रं लिखित्वा मन्त्रघटकवर्णसमसंख्यातैरश्वत्थपल्लवैस्तन्मन्त्रमभिषिञ्चेत्ततः स मन्त्रः शुद्धो भवतीत्यर्थः। तदुक्तं राघवभट्टधृतपिङ्गलामते—

मालतीकलिकाभिस्तु न्यस्यार्णं कर्णिकोपरि।
अश्वत्थपल्लवैः शुद्धैस्तन्मन्त्राक्षरसम्मितैः।
अभिषेकं प्रकुर्वीत स्वतन्त्रे विहितं यथा।।

शारदातिलके द्वितीयपटले तु—

स्वतन्त्रोक्तविधानेन मन्त्री मन्त्रार्णसंख्यया।
अश्वत्थपल्लवैर्मन्त्रमभिषिञ्चेद् विशुद्धये।।

इत्यत्र यत् स्वतन्त्रोक्तविधानेनेत्युक्तं तद् व्याख्यातं राघवभट्टेन 'स्वतन्त्रोक्तविधानेन शैवमन्त्रे शिवतन्त्रानुसारात्, शक्तिमन्त्रे शक्तितन्त्रानुसारात्, विष्णुमन्त्रे वैष्णवतन्त्रानु-सारादि'ति। राघवभट्टेनाष्टोत्तरशतसंख्यातोऽभिषेक उक्तः निजतन्त्रेरितमार्गादभिषिञ्चेत् पिप्पलप्रवालेन भूर्जे विलिखितमन्त्रं शतमष्टौ चाभिषेकोऽयमिति। अभिषेकवाक्यन्तु—अमुकमन्त्रस्यामुकाक्षरमभिषिञ्चामि नम इति राघवभट्टः। आगमतत्त्वविलासे तु अभिषिञ्चामीत्यन्तमेव। तत्र प्रत्येकं शतधा दशधा वाभिषेक उक्तः।

अभिषेक—यह पाँचवाँ संस्कार है। भोजपत्र पर मालती की कलियों अथवा कुश की जड़ से मूल मन्त्र को कुंकुम आदि की स्याही से लिखें। मन्त्र में जितने वर्ण हैं, उतने अश्वत्थपत्रों (पीपलपत्तों) से मन्त्र के प्रत्येक वर्ण का अभिषेक करें।।१६६।।

विमर्श—शारदातिलक (२/११८) में दिये गये निर्देश के अनुसार शैव-मन्त्र का शिवतन्त्र के अनुसार, शक्तिमन्त्र का शाक्त तन्त्र के अनुसार और वैष्णव-मन्त्र का वैष्णव तन्त्र के अनुसार अभिषेक किया जाय। यहाँ अभिषिञ्चन की संख्या नहीं बताई गई है। तन्त्रान्तर के अनुसार प्रत्येक वर्ण का सौ बार अथवा अशक्त होने पर दस बार अभिषिञ्चन किया जाय। संस्कार मन्त्र होगा—'अमुकमन्त्रस्य अमुकाक्षरं अभिषिञ्चामि नमः।'

मन्त्रमहोदधि के अनुसार ताड़पत्र पर मन्त्र को लिखें। शुद्ध जल को 'ऐं हंसः ॐ' मन्त्र का जप करके अभिमन्त्रित करें। तदनन्तर 'ऐं हंसः ॐ' का जप करते हुए इसी अभिमन्त्रित जल से अश्वत्थपत्रों का मन्त्र का अभिषिञ्चन करें। (३४/१०४)।

[विमलीकरणाख्यः षष्ठः]

सहजागन्तुमायाख्यं ज्योतिर्मन्त्रेण निर्दहेत्।
मलत्रयं ततो मन्त्री मन्त्रोऽसौ विमलो भवेत्।।१६७।।
तारं शिवाग्नितारान्तो बिन्दुर्ज्योतिर्मनुर्मतः।

सहजेति। मन्त्री मन्त्ररहस्यज्ञः सहजागन्तुमायाख्यं सहजम् आगन्तुकं मायिकञ्च मन्त्रमलत्रयं ज्योतिर्मन्त्रेण निर्दहेदिति सम्बन्धः। तदुक्तं राघवभट्टधृतपिङ्गलामते—

सहजागन्तुमायाख्यं ज्योतिर्मन्त्रेण निर्दहेत्।
मन्त्रे मलत्रयं मन्त्री ततोऽसौ निर्मलो भवेत्।। इति।

तन्त्रसारे तु—

सञ्चिन्त्य मनसा मन्त्रं सुषुम्णामूलमध्यतः।
ज्योतिर्मन्त्रेण विधिवद्दहेन्मलत्रयं यतिः।।

इति विमलीकरणस्वरूपं निरूप्य, मलत्रयमिति—मायिकं कार्मणमाणव्यञ्चेति। प्रपञ्चसारे—

मायिकं नाम योषोत्थं पौरुषं कार्मणं मलम्।
आणव्यं तद्द्वयं प्रोक्तं निषिद्धं तन्मलत्रयम्।। इत्याह।

'मन्त्रीत्यनेन मूलाधारात् कुण्डलिनीमुत्थाप्य तद्द्वारा दोषदाह' इति राघवभट्टः। अत एव तन्त्रसारकृतापि सुषुम्णामूलमध्यत इत्युक्तम्।

ज्योतिर्मन्त्रेण निर्द्दहेदित्युक्तम्, तं ज्योतिर्मन्त्रमाह—**तारमिति।** तारं प्रणवः, शिवो हकारः, अग्नी रेफः, तारान्त औकारः बिन्दुरनुस्वारः तेन ह्रौं इति ज्योतिर्मन्त्रः। शारदायामपि—तारं व्योमाग्निमनुयुग् दण्डी ज्योतिर्मनुर्मत इति। आगमतत्त्वविलासकृता तु ज्योतिर्मन्त्रोत्पन्नवह्निशिखया पञ्चविंशतिकृत्वो निर्द्दहनम्, अमुकमन्त्रस्यामुकं मलं निर्द्दहामीति तद्वाक्यञ्चाभिहितम्।

विमलीकरण—सहज, आगन्तुक एवं मायिक नामक तीन मलों से मन्त्र मलीन रहता है। ज्योतिमन्त्र से इन तीनों मलों को जलाने से मन्त्र की मलीनता दूर हो जाती है। यह मन्त्र का विमलीकरण संस्कार है।।१६७।।

ज्योतिमन्त्र—प्रणव (ॐ), शिव (ह), अग्नि (र), तारान्त (औ) तथा बिन्दु के संयोजन से ज्योतिमन्त्र निष्पन्न होता है। मन्त्र-स्वरूप है—ॐ ह्रौं।

विधि—तन्त्रसार के अनुसार सुषुम्णा के मूल और मध्यभाग के मध्य में मूल मन्त्र का चिन्तन करके ज्योतिमन्त्र (ॐ ह्रौं) में उक्त मलत्रय का दहन करने से मन्त्र का विमलीकरण होता है।

मन्त्रमहोदधि के अनुसार 'ॐ त्रों वषट्' से अनुलोम-विलोम क्रम से मन्त्र को सम्पुटित करके एक हजार जपने से विमलीकरण संस्कार होता है (३४/१०५)।

[आप्यायनाख्यः सप्तमः]

कुशोदकेन जप्तेन प्रत्यर्णं प्रोक्षणं मनोः।।१६८।।
अष्टोत्तरशतमिदं लिखित्वा भूर्जपत्रके।
तेन मन्त्रेण विधिवदेतदाप्यायनं मतम्।।१६९।।

कुशेति। इदं मन्त्रं भूर्जपत्रके लिखित्वा जप्तेनाष्टोत्तरशतजप्तेन कुशोदकेन मनोर्देयमन्त्रस्य प्रत्यर्णं प्रतिवर्णं तेन देयमन्त्रेण अष्टोत्तरशतं प्रोक्षणम् एतदाप्यायनमिति सम्बन्धः। केचित्तु पूर्वं ज्योतिर्मन्त्राभिधानात् तेन ज्योतिर्मन्त्रेणेत्यर्थं कल्पयन्ति। अत्र मीमांसितं राघवभट्टेन—'केचन तेन तन्मन्त्रेणेति ज्योतिर्मन्त्रेणेति व्याचक्षते, तदसद् ग्रन्थान्तरविरोधात्, तदुक्तम्—आप्यायनं स्वजप्तैः प्रत्यर्णं कुशपयोभिः स्यात्। इति। तथाच स्वजप्तैरित्यस्य स्वं मन्त्रं तेन जप्तैः कुशपयोभिरित्यर्थः। प्रकृते तु तेन जप्तेन तेनैवाभ्युक्षणमिति ध्येयम्। अत एव राघवभट्टेन तेनेत्युभयत्र सम्बध्यते इत्युक्त्या स्वमतसमर्थनानुकूलं पिङ्गलामतप्रमाणमुपदर्शितम्। यथा—

अष्टोत्तरशतालब्धं विशुद्धं कुशवारिणा।
आप्यायितो भवेन्मन्त्रः प्रत्यर्णं प्रोक्षितो यदि।। इति।

अत्र प्रोक्षणं सप्तधेत्युक्तं राघवभट्टेन। आप्यायनस्य वाक्यन्तु अमुकमन्त्रस्यामुकवर्णमाप्यायामि इत्युक्तमागमतत्त्वविलासे।

आप्यायन संस्कार—भोजपत्र पर मन्त्र को लिखें। जल में कुश डालकर उस जल को मन्त्र का १०८ बार जप करके अभिमन्त्रित करें। तदनन्तर मन्त्र के प्रत्येक वर्ण पर कुश से उक्त अभिमन्त्रित जल छिड़कें। आप्यायन नामक यह सातवाँ मन्त्र-संस्कार है।।१६८-१६९।।

विमर्श—आगमतत्त्वविलास के अनुसार संस्कारमन्त्र होगा—'अमुकमन्त्रस्य अमुकाक्षरं आप्यायामि नमः।'

कुछ विद्वानों का कहना है कि उपर्युक्त ज्योति-मन्त्र से कुशोदक छिड़का जाय। राघवभट्ट के अनुसार यह सही नहीं है; क्योंकि अन्य तन्त्रग्रन्थों में कहा गया है—'आप्यायनं स्वजप्तैः प्रत्यर्णं कुशपयोभिः स्यात् ....। स्वजप्तैः इत्यस्य स्वं मन्त्रं तेन जप्तैः कुशपयोभिः इत्यर्थः।'

मन्त्रमहोदधि के अनुसार 'हस्सौः' से सम्पुटित करके मन्त्र का एक हजार जप करने से उसका आप्यायन संस्कार होता है (३४/१०७)।

[तर्पणाख्योऽष्टमः]

मन्त्रेण वारिणा मन्त्रे तर्पणं तर्पणं मतम्।।१७०।।

मन्त्रेणेति। मन्त्रे लिखितमन्त्रोपरि मन्त्रेण देयमन्त्रेण वारिणा यत् तर्पणं तदेव तर्पणं तर्पणाख्यः संस्कार इत्यर्थः। इदमप्यष्टोत्तरं शतमिति राघवभट्टः। तन्त्रसारे—

मधुना शक्तिमन्त्रे तु वैष्णवे चेन्दुमज्जलैः।
शैवे घृतेन दुग्धेन तर्पणं सम्यगीरितम्।।

इन्दुमज्जलैः कर्पूरजलैरिति।

तर्पण संस्कार—भोजपत्र पर मन्त्र को लिखकर उसी मन्त्र से तर्पण करना मन्त्र का तर्पण संस्कार है।।१७०।।

विमर्श—एतदर्थ संस्कारवाक्य है—अमुं मन्त्रं तर्पयामि नमः। तन्त्रसार के अनुसार शक्तिमन्त्र का शहद से, वैष्णव मन्त्र का कर्पूर-मिश्रित जल से और शैव-मन्त्र का दूध और घी से तर्पण किया जाना चाहिए। तर्पण की विहित संख्या १०८ है।

मन्त्रमहोदधि के अनुसार भोजपत्र आदि पर मन्त्र लिखकर दूध-घी और जल से मूल मन्त्र से उसी का तर्पण करना चाहिए (३४/१०६)।

[दीपनाख्यो नवमः]

तारमायारमाबीजं मन्त्रस्यादौ नियोज्य च।
सप्तधा प्रजपेन्मन्त्रमिति दीपनमीरितम्।।१७१।।

तारेति। तारः प्रणवः, माया ह्रीं, रमाबीजं श्रीं। बीजमित्यस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धः। मन्त्रस्येति देयमन्त्रस्येत्यर्थः। अत्र तन्त्रसारे शारदायाञ्च तारमायारमायोगे मनोर्दीपनमुच्यते इति सामान्यतोऽभिहितम्। तन्त्रसारधृत-विश्वसारे च—

तारमायारमाबीजपुटितेन जपेन्मनुम।
शतमष्टोत्तरञ्चैव दीपयेत् साधकोत्तमः।।

इत्यनेन तारमायाबीजपुटितस्य देयमन्त्रस्याष्टोत्तरशतजपो दीपनमित्याह। प्रकृते तु मन्त्रस्यादावेव तारमायारमाबीजनियोगः सप्तधा जपश्चेति प्रागुक्तविश्वसार-शारदा-वचनविरोधः। तदेवं मीमांस्यते—तारमायेत्यादिमूलवचने नियोज्य चेति चकारस्य आदावित्यनेनाभिसम्बन्धान्मन्त्रस्यादौ च नियोज्येत्यर्थे अन्ते च तारादिबीजानां नियोगोऽवगम्यते, ततश्च मन्त्रस्यादावन्ते च तारमायारमाबीजानां नियोगो ग्रन्थ-कृतोऽप्यभिमत इति न विश्वसारादिवचनविरोधः। अष्टोत्तरशतजपसप्तधाजपयोर्व्य-वस्था तु शक्ताशक्तभेदेनेति निष्कर्षः।

दीपन—मन्त्र के आदि (और अन्त में भी) प्रणव (ॐ) माया (ह्रीं) और रमा (श्रीं) की योजना करके सात बार जपने से मन्त्र का दीपन संस्कार होता है।।१७१।।

विमर्श—'मन्त्रस्यादौ नियोज्य' से यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने केवल मन्त्र के आदि (शुरू) में 'ॐ ह्रीं श्रीं' की योजना करने का निर्देश दिया है, मगर

ऐसी बात नहीं है। 'नियोज्य' के बाद 'च' से ध्वनित होता है कि मन्त्र के अन्त में भी विलोम क्रम से इन बीजों की योजना की जानी चाहिए। तन्त्रसार में यथा उद्धृत विश्वसारतन्त्र के अनुसार 'ॐ ह्रीं श्रीं' से सम्पुटित मन्त्र का अष्टोत्तर शत जप करने से मन्त्र का दीपन संस्कार होता है।

मन्त्रमहोदधि के अनुसार मन्त्र को 'हंसः' मन्त्र से सम्पुटित करके एक हजार जप करने से मन्त्र का दीपन-संस्कार होता है। यथा—हंसः रामाय नमः हंसः।

[गोपनाख्यो दशमः]

जप्यमानस्य मन्त्रस्य गोपनं त्वप्रकाशनम्।।१७२।।

गोपन—जप किये जाने वाले मन्त्र को प्रकाशित नहीं करना अर्थात् दूसरों के सामने प्रकट नहीं करना मन्त्र का गोपन संस्कार है॥१७२॥

विमर्श—यहाँ गोपन संस्कार की कोई क्रिया-विधि नहीं बताई गई है। मन्त्रमहोदधि (३४/१०६) के अनुसार मायाबीज (ह्रीं) से सम्पुटित मूल मन्त्र का एक हजार जप करने से गोपन संस्कार होता है।

[दशसंस्कारोपसंहारः]

संस्कारा दश संप्रोक्ताः सर्वतन्त्रेषु गोपिताः।
यान् कृत्वा मन्त्रदानेन मन्त्री वाञ्छितमाप्नुयात्।।१७३।।

इति श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचिते श्रीतत्त्वचिन्तामणौ द्वितीयः प्रकाशः॥२॥

सभी तन्त्रों में गोपित अर्थात् छिपाकर रखे गये इन दस संस्कारों का निरूपण किया गया, जिनका सम्यक् रूप से सम्पादन करके प्रदान किये जाने पर दीक्षार्थी को यथावांछित फल प्राप्त होते हैं॥१७३॥

टिप्पणी—यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ और मन्त्रमहोदधि में मन्त्र-संस्कार के ये ही नाम हैं; मगर वहाँ (मन्त्रमहोदधि में) संस्कारों के क्रम में अन्तर है। मन्त्रमहोदधि में बताया गया क्रम है—(१) जनन, (२) दीपन, (३) बोधन, (४) ताडन, (५) अभिषेक, (६) विमलीकरण, (७) जीवन, (८) तर्पण, (९) गोपन और (१०) आप्यायन।

श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचित श्रीतत्त्वचिन्तामणि के द्वितीय प्रकाश का 'भावना' भाष्य पूर्ण हुआ।।२।।

●

तृतीयः प्रकाशः

[दीक्षाप्रकरणम्]

[तत्र विहितस्थानानि, दीपस्थाननिरूपणप्रयोजनम्, कूर्मचक्रम्,
वास्तुयागस्तदङ्गचतुषष्टिपदवास्तुमण्डलं बलिमन्त्राश्च]

तन्त्रोपदिष्ट विधि से साधना-मार्ग में प्रवृत्त होने के लिये दीक्षा की अनिवार्यता एवं महत्ता, गुरु-शिष्यलक्षण, मन्त्र-चयन एवं मन्त्रसंस्कार-विधि का विस्तार से निरूपण करने के बाद इस अध्याय (प्रकाश) में दीक्षा के लिये प्रशस्त स्थान, दीप-स्थान, कूर्म-चक्र, वास्तु-याग का निरूपण किया गया है। इस क्रम में सर्वप्रथम दीक्षा के लिये स्थान बताये जा रहे हैं—

[दीक्षायां प्रशस्तस्थानानि]

अथ वक्ष्यामि दीक्षायाः स्थानं तन्त्रानुसारतः।।१।।
गोशालायां गुरोर्गेहे देवागारे च कानने।
पुण्यक्षेत्रे तथोद्याने नदीतीरे च मन्त्रवित्।।२।।
धात्रीविल्वसमीपे च पर्वताग्रे गुहासु च।
गङ्गायां तत्तटे वाऽपि कोटिकोटिगुणं भवेत्।।३।।

तन्त्रशास्त्र के अनुसार गोशाला, गुरुगृह, देवमन्दिर, वन, पुण्यक्षेत्र, पवित्र उद्यान, नदीतट, धात्री (आँवला) एवं बिल्ववृक्ष के समीप, पर्वत की चोटी और गुफा, गंगा एवं गंगातट में प्राप्त दीक्षा कोटिगुणा फल देती है॥१-३॥

विमर्श—तन्त्रसार के अनुसार गया, भास्कर क्षेत्र (कोणार्क), विरजा-तीर्थ, चट्टग्राम, मातङ्ग देश और कन्या-गृह तीर्थस्थान होने के बावजूद दीक्षा के लिये निषिद्ध हैं—

गङ्गायां भास्करक्षेत्रे विरजे चन्द्रपर्वते।
चटुले च मतङ्गे च तथा कन्याश्रमेषु च॥
न गृह्णीयात् ततो दीक्षा तीर्थेष्वेतेषु पार्वति।

दीक्षा के लिये प्रशस्त स्थान बताने के बाद कूर्म-चक्र की विधि बताई जा रही है—

[दीपस्थाने जपादिविधिः कूर्मचक्रनिरूपणप्रतिज्ञा च]

दीपस्थानं समाश्रित्य जपयागादिकं चरेत्।
अत एव कूर्मचक्रं वक्ष्यामि सिद्धिकारणम्।।४।।

गोशालायामित्यादिना दीक्षायां यानि प्रशस्तस्थानानि निरूपितानि तेष्वपि दीपस्थानमेवाश्रित्य जपयागादिकं विधेयमित्यर्थस्य ज्ञापनाय दीक्षास्थाननिरूपणात् परमेव दीपस्थानं निरूपयति—**दीपस्थानमित्यादिना**। वक्ष्यमाणकूर्मस्य मुखस्थानमेव दीपस्थानमित्यग्रे वक्ष्यते। तद्दीपस्थानं कूर्मचक्रज्ञानाधीनमिति कूर्मचक्रं वक्तुं प्रतिजानीते—**अत इति**।

दीक्षा के लिये विहित एवं प्रशस्त स्थानों (नगर एवं ग्राम में) में भी जप एवं याग आदि समस्त कार्य दीपस्थान का समाश्रय लेकर सम्पादित किये जायँ। दीपस्थान का विनिश्चय कूर्मचक्र से किया जाता है; अतः सर्वप्रथम इस सिद्धिदायक चक्र की निर्माण-विधि बताई जा रही है॥४॥

[तत्र रेखापातक्रमो वर्णन्यासश्च]

आदौ च वर्त्तुलं कृत्वा नव कोष्ठानि कारयेत्।
नवभागं मध्यकोष्ठं तथैव पूर्वतो लिखेत्॥५॥

कवर्गादिसप्तवर्गं ळ-क्षावीशे तदन्तरम्।
मध्येषु वसुकोष्ठेषु स्वरांश्च युग्मशो लिखेत्॥६॥

मध्यकोष्ठे क्षेत्रनाम चक्रं कूर्माख्यमुत्तमम्।

तत्रायं कूर्मचक्रनिर्माणक्रमः—प्रथमं कूर्माकृति वर्त्तुलं तन्मध्ये चतुरस्रम्, तन्मध्ये द्वे पूर्वायते, द्वे चोत्तरायते, एवं वर्त्तुलमध्ये नव कोष्ठानि सम्पद्यन्ते। एतेषां नवकोष्ठानां मध्यकोष्ठसंज्ञा तद्बहिःस्थानान्तु बहिःकोष्ठत्वम् इति प्रतिपादयितुमाह—**नवभागमिति**। तत्र चक्रे वर्णन्यासमाह—**तथैवेति**। अन्तर्नवकोष्ठवद् बहिःकोष्ठेषु व्यञ्जनानां स्थापनं विधेयमिति सूचनायैतत्।

कवर्गादीति। तथाच बहिः पूर्वकोष्ठे कवर्गम्, आग्नेयकोष्ठे चवर्गम्, दक्षिणकोष्ठे टवर्गम्, नैर्ऋतकोष्ठे तवर्गम्, पश्चिमकोष्ठे पवर्गम्, वायव्यकोष्ठे यादिचतुष्कम्, उत्तरकोष्ठे शादिचतुष्कम्, ईशानकोष्ठे ळ-क्षवर्णद्वयमिति बहिःकोष्ठपूरणक्रमः। एतदेव स्फुटमाह राघवभट्टधृतवचनम्—

पूर्वकोष्ठे कवर्गस्य पञ्चकं मध्यतः क्रमात्।
मध्यतोऽन्यत्र चाग्नेये चवर्गं चैवमेव हि॥ इति।

अन्तःकोष्ठप्रक्रियामाह—**मध्येष्विति**। तथाच पूर्वदिङ्मध्यकोष्ठतः प्रादक्षिण्येन प्रतिकोष्ठं द्वौ द्वाविति क्रमेण षोडश स्वरान् लिखेदित्यर्थः। तदाह राघवभट्टः—

मध्यकोष्ठपुरोभागे अकारद्वयमालिखेत्।
आग्नेय्यामिद्वयं विद्याद् याम्ये तद्द्वयमालिखेत्॥ इत्यादिना।

तन्त्रसारेऽपि—

चतुरस्रां भुवं भित्त्वा कोष्ठानां नवकं लिखेत्।
पूर्वकोष्ठादि विलिखेत् सप्तवर्गाननुक्रमात्।
ळ-क्षमीशे मध्यकोष्ठे स्वरान् युग्मक्रमाल्लिखेत्।।

इत्यनेनेयमेव वर्णस्थापनापरिपाटी निरूपिता। रुद्रजामलोत्तरखण्डतृतीयपटले तु—

मुण्डे स्वरा दक्षपादे कवर्गं वामपादके।
चवर्गं कीर्त्तितं पश्चादधःपादे टवर्गकम्।।७३।।

इत्यादिना।

लाङ्गुले शक्रबीजञ्च क्षकारं लिङ्गमध्यके।
लिखित्वा गणयेन्मन्त्री चक्रं कलिमलापहम्।।७४।।

इत्यन्तेन कूर्मचक्रे वर्णानां न्यासोऽन्यथा निरूपितः।

मध्यकोष्ठ इति। प्रागुक्ताष्टकोष्ठान्तर्वर्त्ति यन्नवमं कोष्ठं तत्र क्षेत्रनाम लिखेदित्यर्थः। क्षेत्रन्तु यत्रोपविश्य साधको जपति तदेव। तत्र प्रशस्तक्षेत्राणि गोशालायां गुरोर्गेहे इत्यादिना प्रकाशप्रारम्भ एवाभिहितानि।

शारदायां द्वितीयपटलेऽपि—

पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं गुहा पर्वतमस्तकम्।
तीर्थप्रदेशाः सिन्धूनां सङ्गमाः पावनं महत्।।
उद्यानानि विविक्तानि विल्वमूलं तटं गिरेः।
साधनेषु प्रशस्तानि स्थानान्येतानि मन्त्रिणाम्।। इति।

एवमन्यत्रापि।

जप, यज्ञ, पुरश्चरण अथवा दीक्षा स्थान में पृथ्वी पर एक बृहदाकार वर्तुल (अण्डाकार आकृति) बनायें। इस वर्तुल में पूर्व से पश्चिम और इसी तरह उत्तर से दक्षिण दो-दो रेखाएँ खींचें। इस तरह इस अण्डाकार आकृति में मध्य कोष्ठक को मिलाकर कुल नौ (९) कोष्ठक बन जायेंगे। इस मध्यवर्ती कोष्ठक को भी ९ प्रभागों में विभक्त कर दें। इस तरह निर्मित चक्र के पूर्वी कोष्ठक में 'क'वर्ग के पाँच अक्षर, आग्नेय कोण के कोष्ठक में 'च'वर्ग के पाँच अक्षर, दक्षिण के कोष्ठक में 'ट'वर्ग के पाँच अक्षर, नैर्ऋत्य कोण के कोष्ठक में 'त'वर्ग के पाँच अक्षर, पश्चिम वाले कोष्ठक में 'प'वर्ग के पाँच अक्षर, वायव्य कोण के कोष्ठक में 'य'वर्ग के चार अक्षर तथा उत्तर वाले कोष्ठक में 'श'वर्ग के चार अक्षर (श ष स ह) और ईशान कोण के कोष्ठक में केवल 'ळ' और 'क्ष'—ये दो वर्ण लिखें।

इस चक्र के मध्य (बीच) में नौ लघु कोष्ठकों वाला जो मध्यवर्ती कोष्ठ है, उसके प्रत्येक कोष्ठक में ईशान, पूर्व, अग्निकोण, दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य

एवं उत्तर के क्रम से 'अ-आ' आदि दो-दो स्वरवर्ण लिखें। इसके बीच वाले ९वें कोष्ठक में कोई भी वर्ण नहीं लिखा जाता।

[मुखादिनिर्णयः]

यस्मिन् कोष्ठे क्षेत्रनामपूर्ववर्णं मुखं स्मृतम्।।७।।

अथ मुखस्यैव दीपस्थानत्वात् कूर्मस्य किं मुखं यज्ज्ञानाधीनं दीपस्थानज्ञानमित्याशङ्क्य मुखं निरूपयति—**यस्मिन्निति**। प्रागुक्तानां कूर्मान्तः-कोष्ठानां मध्ये यस्मिन् कोष्ठे क्षेत्रनामपूर्ववर्णं साधनयोग्यस्थाननामप्रथमाक्षरं तन्मुखं स्मृतमित्यर्थः। तदुक्तं शारदायां द्वितीयपटले—

दिक्षु पूर्वादितो यत्र क्षेत्राख्याद्यक्षरं स्थितम्।
मुखं तत्तस्य जानीयात् ....।। इति।

एवञ्च कूर्मस्य मुखं साधनक्षेत्रप्रथमाक्षरानुसारेण निर्देश्यमिति स्थितम्।

इस कूर्मचक्र के जिस कोष्ठक में क्षेत्र (नगर या ग्राम) के नाम का प्रथम वर्ण होता है, उसे मुख कहा जाता है।।७।।

विमर्श—गंगा आदि पवित्र नदियों के तट में, पर्वतशिखर और पवित्र वन में कूर्मचक्र बनाने की आवश्यकता नहीं है। किसी ग्राम, नगर अथवा घर में साधना करने के लिये दीपस्थान का विनिश्चय करने-हेतु इस चक्र की आवश्यकता होती है।

मुखस्य पार्श्वयोः पाणियुगं पार्श्वद्वयं भवेत्।
कुक्षिस्थानं पादयुगं तदन्ते पुच्छमीरितम्।।८।।

एवं मुखं निर्दिश्य कूर्मस्य हस्तादिकं निरूपयति—**मुखस्येत्यादिना**। मुखोभयपार्श्वस्थं कोष्ठद्वयं हस्तयुगलम्, उभयपार्श्वस्थं कोष्ठद्वयं कुक्षिस्थानम्, तदध उभयतः कोष्ठद्वयं पादयुगलम्, तदधः कोष्ठं पुच्छमित्यर्थः।

मुख के दोनों ओर के कोष्ठ कूर्म के दोनों हाथ, हाथों के नीचे वाले दो कोष्ठ उसकी कुक्षियाँ, उनके नीचे के दो कोष्ठ उसके पैर तथा शेष कोष्ठकों को कूर्म की पूँछ समझना चाहिए।।८।।

[कूर्मस्य तत्तदङ्गमाश्रित्य जपादौ फलभेदाः]

मुखे कार्याणि सिध्यन्ति करे क्लेशमवाप्नुयात्।
उदरे दुःखमधिकं पादयोर्हानिरुच्यते।
पुच्छे तु धनहानिः स्याद्दीपस्थानं मुखं स्मृतम्।।९।।

मुखादिभेदेन जपयागादीनामिष्टानिष्टफलजनकत्वमाह—**मुख इत्यादिना**।

मण्डप के जिस भाग में कूर्म का मुख हो, वहीं दीप-स्थान होता है। इसी दीपस्थान में बैठकर जप-पूजा आदि करने से मन्त्र-सिद्धि होती है। हाथ पर बैठकर साधना करने से क्लेश, कुक्षि (उदर) से दुःख, पैर से सिद्धि-हानि तथा पूँछ से

धनहानि होती है। अत. दीपस्थान का आश्रय लेकर ही मन्त्रदीक्षा, मन्त्र-जप और पुरश्चरण आदि कार्य किये जाने चाहिये।।९।।

[दीपस्थानेतरत्र दीक्षादौ दोषः]

दीपस्थानं विना यो हि दीक्षाहोमादिकञ्चरेत्।
तदेव निष्फलं विद्यादभिचाराय कल्पते।।१०।।

दीपस्थानमिति। अत्र राघवभट्टेन दीपशब्दार्थोऽन्यत्रोक्त इत्यभिधाय—

दीपोऽद्य [?] संप्रवक्ष्यामि यदुक्तं ब्रह्मजामले।
प्रासादग्रामगेहाद्या ज्ञेया येन शुभाशुभाः।।
ककारादिक्षकारान्ता वर्णाः स्युर्द्दीपसंज्ञकाः।
स्वराः षोडश पीठाख्या ज्ञातव्या मन्त्रिणां वरैः।। इति।

तथा— पीठसंज्ञा स्वराणाञ्च दीपाः स्युर्व्यञ्जनानि हि।
स्थानं दीपाक्षरं यस्मिन् कोष्ठे तिष्ठति तद् भवेत्।
दीपस्थानं तदेतत् स्यात् कूर्मचक्रे न संशयः।।

इति चोक्तम्। एतेन दिक्कोष्ठानि व्यञ्जनवर्णमयानि दीपस्थानानि। अन्तःस्थानि स्वरमयाण्यष्टकोष्ठानि तु पीठसंज्ञकानीत्यवगम्यते। एवञ्चानेन स्वराणां पीठरूपतया तेषां वर्जनमुक्तम्, प्रकृतेऽपि श्रीमत्पूर्णानन्देन 'उदरे दुःखमधिकम्' इति वदता उदरस्थानां स्वरवर्णानां वर्जनीयत्वमभिहितमिति न कश्चिद् विरोधः।

लक्ष्मणाचार्यैस्तु शारदायां द्वितीयपटले—

मुखं तत्तस्य जानीयाद्धस्तावुभयतः स्थितौ।
कोष्ठे कुक्षी उभे पादौ द्वे शिष्टं पुच्छमीरितम्।।

इत्यनेन क्षेत्रनामाद्यक्षरानुसारेण मुखादिनिर्णयमुपदिश्य,

क्रमेणानेन विभजेन्मध्यस्थमपि भागतः।

इत्यनेन मध्येष्वष्टसु कोष्ठेषु स्थितानां स्वरवर्णानामपि प्रागुक्तरीत्या मुखादिकल्पनमभिहितमिति प्रतीयते।

अत्र साधकक्षेत्रनामाद्यक्षरयोर्वैरमित्रत्वभावनादि विस्तरतोऽभिहितं राघवभट्टेन। प्रकृतेऽनभिधानात्तन्न प्रदर्श्यते।

दीपस्थान का आश्रय न लेकर मनमाने ढंग से जो दीक्षा और हवन आदि कर्म किये जाते हैं, उनका कोई फल तो मिलता नहीं; अपितु वे अभिचार कर्म की तरह अप्रशस्त माने जाते हैं।।१०।।

विमर्श—'दीप्यते पुरुषो यत्र' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जहाँ साधक के तेज में वृद्धि होती है, उसे 'दीपस्थान' कहा जाता है। साधना/अनुष्ठान में इसी दीपस्थान का महत्त्व है। यदि किसी कारणवश दीपस्थान अर्थात् मुखस्थान पर बैठना कठिन हो तो 'कर' (हाथ) स्थान का विकल्पतः आश्रय लिया जा सकता है, जैसा कि

शारदातिलक (२/१३७) की 'पदार्थादर्श' की टीका में कहा गया है, लेकिन इसका फल बहुत अल्प होता है—

तस्मान्मुखं समाश्रित्य सर्वकर्म समारभेत्।
तदलाभे करं वापि कूर्मस्यान्यं न संश्रयेत्॥

तथा— मुखे सर्वसिद्धिः स्यात् करयोरल्पसिद्धिकृत्।

बृहद् अनुष्ठानों में जहाँ जपकर्ताओं की संख्या तीन, पाँच, सात, नौ आदि होती है और सभी जपकर्ताओं के लिये मुख (दीप) स्थान पर बैठना असम्भव होता है, वहाँ दीपस्थान में आधार-सहित साक्षी दीप स्थापित किया जाता है एवं सभी जपकर्ता उसके सामने, इर्द-गिर्द बैठकर जप करते हैं।

[दीक्षायां वास्तुयागस्य कर्त्तव्यता]

अथ वक्ष्यामि दीक्षाङ्गं वास्तुयागपुरःसरम्।
कृतेन येन विधिवद्दीक्षायाः फलमाप्नुयात्॥११॥

एवं दीपस्थानं निरूप्य वास्तुयागं निरूपयितुमुपक्रमते—**अथेति। दीक्षाङ्गमिति।** वास्तुयागस्य दीक्षाङ्गत्वमाह राघवभट्टधृतमयमते—

शुभकर्मणि दीक्षायां मण्डपकरणे गृहादिविधिषु तथा।
विहितो वास्तुवलिः स्याद् रक्षोविघ्नोपशान्तिसम्पद्भ्यः॥ इति।

वास्तुयागपुरःसरम् इत्यस्य वास्तुयागः पुरःसरो यस्य दीक्षाङ्गस्य दीक्षाङ्गसमुदायस्येत्यर्थः। ततश्च दीक्षाङ्गपदेन मण्डपाधिवासनकुण्डमण्डलादीनां परिग्रहः।

कूर्मचक्र के बाद वास्तुयाग का निरूपण किया जा रहा है। यह वास्तुयाग दीक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग है, जिसका यथाविधि सम्पादन किये जाने से दीक्षा का सम्यक् फल मिलता है॥११॥

[वास्त्वङ्गाधिष्ठितत्रिपञ्चाशद्देवताकवलिनिर्णयः]

राक्षसं वास्तुनामानं हत्वाधिष्ठाय तत्तनुम्।
स्थिताः सुरास्त्रिपञ्चाशत्तेभ्यः पूर्वं वलिं हरेत्॥१२॥

राक्षसमिति। वास्तुदेवतोत्पत्तिमाह राघवभट्टः—

कश्यपस्य गृहिणी तु सिंहिका राहुवास्तुतनयावजीजनत्।
पूर्वजो हरिनिकृत्तकन्धरो दैवतैरवरजो निपातितः॥

तन्त्रराजे त्रिंशपटले—

चतुरस्राकृतिः कश्चिदसुरः सर्वनाशकृत्।
पुरा तस्य वधायैव सर्वे देवाः समुद्यमम्॥
कृत्वा निहन्तुमुद्युक्तास्तैरवध्योऽभवद् वरात्।
आवयोस्तन्निरासाय मामेत्याकथयत्तदा॥

कथयास्माकमधुना तद्वास्तुपुरुषस्य तु।
दर्पशान्तिं न चेत्तेन विश्वमासीदुपद्रुतम्।।
इत्युक्ते तैर्मया प्रोक्तं निधनं तस्य दुःशकम्।
खात्वा तमवनौ तस्य शरीरे स्थापयेत्तथा।।
नित्यशश्च त्रिपञ्चाशन्निस्पन्दाक्रमणाय वै।
नियोज्य तेषां ये पूजाविमुखास्तैः कृतानि तु।।
सुकृतानि समादद्युर्दुष्कृतानि च कुर्वते।
तस्मात्तेषामर्चनन्तु प्रत्यहं कुर्वतां सदा।।
शुभान्येवाशु जायन्ते नैवाशुभकथापि च। इति।

राघवभट्टधृतमहाकपिलपञ्चरात्रे च—

पूर्वमासीन्महानुग्रः सर्वभूतभयङ्करः।
स देवैर्निहतो भूमौ स वास्तुपुरुषः स्मृतः।।
यावद् भूमिः स्थिरा लोके तावद् वास्त्वसुरः स्थितः।
संहारे तु लयं याति देवैः सर्वग्रहादिभिः।।
विस्तारोऽप्यासमन्ताच्च शतकोटिस्तु यो जनः।
संस्थितोऽसौ धरां व्याप्य प्रोत्तानः कृष्णवर्णकः।।
जानू कूर्परकौ वास्तोर्वह्निवायुप्रकोष्ठगौ।
पितृपादपुटश्चायमीशमूर्द्धा हृदञ्जलिः।
ऊद्ध्र्वकेशः सुपीनश्च वर्त्तुलाक्षोऽसुराकृतिः।। इति।

अत्र वास्तोरूद्ध्र्वमुखतोक्ता। अधोमुखतापि दृश्यते, तदाह राघवभट्टः—

वास्त्वीशनामा ह्यसुरोऽतिकायो देवैः पुरा दत्तवरोऽभिपूज्यः।
शेते स भूम्यां प्रविसार्य पादौ हस्तौ तथाधोवदनः सदैव।। इति।

एवं स्थितेऽप्यूद्ध्र्वाधोवदनत्वरूपविरोधे तत्परीहार उपपादितो राघवभट्टधृत-सोमशम्भुना—

आकुञ्चितकरं वास्तुमुत्तानमसुराकृतिम्।
स्मरेत् पूजासु कुड्यादिनिविशे त्वधराननम्।।

इत्यनेन। एवञ्च गृहादिकरण एव वास्तोरधोमुखत्वं प्रकृते तु तस्योद्ध्र्वमुखत्वमेव। स्थिता इति। त्रिपञ्चाशत् सुराः तत्तनुमधिष्ठाय स्थिताः। हत्वापि तत्तनुं परिहाय न गता इत्यर्थः। उपपादितमेतद्राघवभट्टधृतमहाकपिलपञ्चरात्रे—

सर्वान् देवांस्तु कार्येषु पूजयेद्वास्तुसंस्थितान्।
तेनासौ वर्त्तते नो चेदुत्तिष्ठेन्माधवाज्ञया।। इति।

एवञ्च प्रागुक्तरीत्या वास्तुनामानं राक्षसं हत्वा तत्तनुम् अधिष्ठाय त्रिपञ्चाशत् सुरा वक्ष्यमाणलक्षणाः स्थितास्तेभ्यः पूर्वं दीक्षाया इति शेषः वलिं हरेद् वक्ष्यमाणक्रमेणेति शेषः।

वास्तु नामक राक्षस के वध के बाद उसके शरीर को आक्रान्त करके जो ५३ देवता स्थित हैं, उन्हें सर्वप्रथम बलि देनी चाहिए॥१२॥

विमर्श—वास्तु शब्द 'वस-निवासे' धातु से निष्पन्न होता है, जिसे निवास अर्थ में ग्रहण किया जाता है। जिस भूमि पर मनुष्य आदि प्राणी निवास करते हैं, उसे वास्तु कहा जाता है। गृह, देव-प्रासाद, ग्राम, नगर, दुर्ग, पुर आदि इसके अनेक भेद हैं। हयग्रीवपञ्चरात्र, कपिलपञ्चरात्र, वास्तुराजवल्लभ, समरांगणसूत्रधार, बृहत्संहिता, शिल्परत्न, गृहरत्नभूषण आदि ग्रन्थों में इस पर पर्याप्त विवेचना की गई है। पुराणों में मत्स्य, अग्नि तथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इसकी विवेचना की गई है। ऋग्वेद (७/५४/१) में वास्तुपुरुष का स्तवन किया गया है।

वास्तु-कथा—मत्स्यपुराण (अध्याय २५१) के अनुसार प्राचीन काल में अन्धकासुर के वध के समय भगवान् शङ्कर के ललाट से पृथ्वी पर पसीने की जो बूँदें टपकीं, उनसे एक भयानक आकृति वाला पुरुष उत्पन्न हुआ। अन्धकों का रक्तपान करने पर भी जब उसकी तृप्ति नहीं हुई तो वह तीनों लोकों को खाने के लिये तत्पर हो गया। बाद में देवताओं ने उसे पृथ्वी पर सुला कर उसके शरीर में वास किया, इसलिये वह वास्तुदेवता के नाम से प्रसिद्ध हो गया। गृह, प्रासाद, मन्दिर, तडाग, यज्ञ-मण्डप के निर्माण तथा जीर्णोद्धार के समय इसके पूजन का विधान है। अत: इस 'वास्तुपूजन' को दीक्षा का अंग कहा गया है।

मतान्तर से यह वास्तुपुरुष कश्यप की सिंहिका नामक पत्नी के गर्भ से उत्पन्न राहू का छोटा भाई है—

कश्यपस्य गृहिणी तु सिंहिका, राहुवास्तुतनयावजीजनत्।
पूर्वजो हरिनिकृत्तकन्धरो देवतैरवरजो निपातित:॥

कपिलपाञ्चरात्र के अनुसार कृष्णवर्ण का यह वास्तुपुरुष ऊपर की ओर मुख किये हुए सम्पूर्ण पृथ्वी को व्याप्त करके चित्त लेटा हुआ है—

संस्थितोऽसौ धरां व्याप्य प्रोत्तान: कृष्णवर्णक:।

वहीं अन्य तन्त्रग्रन्थों में इसे अधोमुख बताया गया है—

वास्त्वीशनामा ह्यसुरोऽतिकायो देवै: पुरा दत्तवरोऽभिपूज्य:।
शेते स भूम्यां प्रविसार्य पादौ हस्तौ तथाऽधोवदन: सदैव॥

इस तरह तन्त्रग्रन्थों में भूमि पर वास्तुपुरुष की ऊर्ध्वमुख और अधोमुख—दोनों ही स्थितियाँ बताई गई हैं। उसकी इन दोनों स्थितियों में किस स्थिति को ग्रहण किया जाय? इस प्रश्न का निराकरण करते हुए 'सोमशम्भु' का कथन है कि पूजा कर्म के लिये इसे ऊर्ध्वमुख तथा नींव/आधार के प्रयोजन के लिये अधोमुख मानना चाहिए—

आकुञ्चितकरं वास्तुमुत्तानमसुराकृतिम्।
स्मरेत् पूजासु कुड्यादि निवेशे त्वधराननम्।।

अतएव चूँकि दीक्षाङ्गभूत वास्तुयाग में वास्तुदेवताओं का मात्र पूजन ही अभीष्ट है; अत: यहाँ वास्तुपुरुष की स्थिति ऊर्ध्वमुख मानी गई है।

[वलिकर्मणि वास्तुमण्डलम्]

वलिमण्डलमेतेषां वक्ष्यामि विघ्ननाशनम्।।१३।।

अथेदानीं वास्तुवलिमण्डलं वक्तुमुपक्रमते—वलीत्यादिना।

अब समस्त विघ्नों के विनाशार्थ वास्तु वलिमण्डल को कहता हूँ।।१३।।

[मण्डलस्यास्य चतुरस्रत्वं हस्तप्रमाणत्वञ्च]

चतुरस्रां भुवं कुर्यान्मन्त्री हस्तप्रमाणतः।

तदाह—चतुरस्रामिति। हस्तप्रमाणतश्चतुरस्रां भुवं कुर्यादित्यर्थः।

वास्तुपुरुष के शरीर का आश्रय लेकर रहने वाले ५३ देवताओं के पूजन-अर्चन के लिये हस्तप्रमाण का वलिमण्डल बनाना चाहिए। हस्तप्रमाण अर्थात् एक हाथ लम्बा और एक हाथ चौड़ा वर्गाकार मण्डल।।१३।। अगले श्लोक में हस्त प्रमाण को स्पष्ट किया गया है।

वास्तुमण्डल

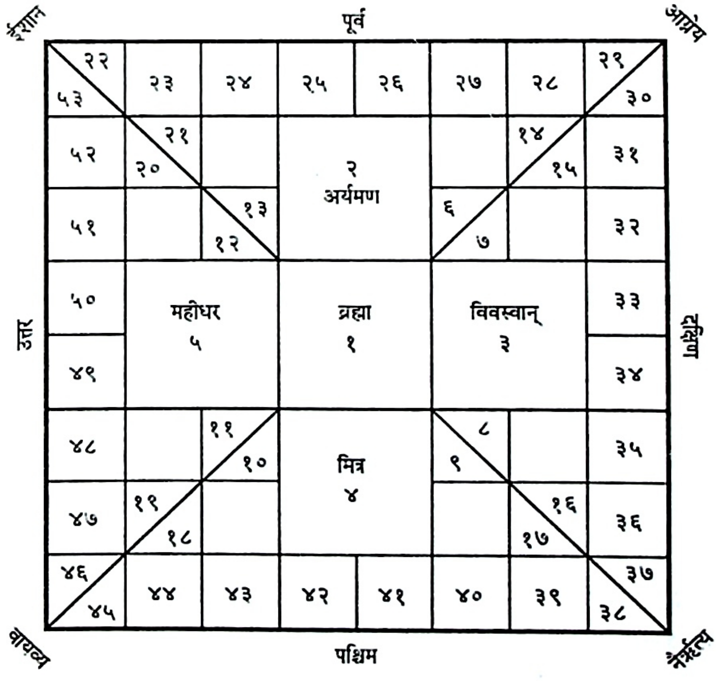
ईशान
पूर्व
आग्नेय
२२
५३
२३
२४
२५
२६
२७
२८
२९
३०
५२
२१
२०
२
अर्यमण
१४
१५
३१
५१
१३
१२
६
७
३२
५०
महीधर
५
ब्रह्मा
१
विवस्वान्
३
३३
उत्तर
दक्षिण
४९
३४
४८
११
१०
मित्र
४
८
९
३५
४७
१९
१८
१६
१७
३६
४६
४५
४४
४३
४२
४१
४०
३९
३७
३८
वायव्य
पश्चिम
नैर्ऋत्य

(१) ब्रह्मा, (२) अर्यमण, (३) विवस्वान्, (४) मित्र, (५) महीधर, (६) सावित्र, (७) सविता, (८) शक्र, (९) इन्द्रजय, (१०) रुद्र, (११) रुद्रजय, (१२) आप, (१३) आपवत्स, (१४) शर्व, (१५) गुह, (१६) अर्यमण, (१७) जम्भक, (१८) पिलिपिञ्जक, (१९) चरकी, (२०) विदारी, (२१) पूतना, (२२) ईश, (२३) पर्जन्य, (२४) जयन्त, (२५) शक्र, (२६) भास्कर, (२७) सत्य, (२८) वृष, (२९) अन्तरिक्ष, (३०) अग्नि, (३१) पूषा, (३२) वितथ, (३३) यम, (३४) गृहरक्षक, (३५) गन्धर्व, (३६) भृङ्गराज, (३७) मृग, (३८) निर्ऋति, (३९) दौवारिक, (४०) सुग्रीव, (४१) वरुण, (४२) पुष्पदन्त, (४३) असुर, (४४) शेष, (४५) रोग, (४६) वायु, (४७) नाग, (४८) मुख्य, (४९) सोम, (५०) भल्लाट, (५१) अर्गल, (५२) दिति, (५३) अदिति।

[हस्तप्रमाणम्]

चतुर्विंशत्यङ्गुलाढ्यं हस्तं तन्त्रविदो विदुः।।१४।।

किं हस्तप्रमाणमित्यत आह—**चतुर्विंशेति**।

तन्त्रशास्त्र के आचार्य २४ अंगुल को एक हाथ मानते हैं। अगले श्लोक में अंगुल का मान बताया गया है॥१४॥

[मानाङ्गुलप्रमाणम्]

कर्त्तुर्दक्षिणहस्तस्य मध्यमाङ्गुलिपर्वणः।
मध्यस्य दैर्घ्यमानेन मानाङ्गुलमुदीरितम्।।१५।।

अनुष्ठानकर्ता के दाहिने हाथ की मध्यमा अंगुली के मध्य पर्व की लम्बाई (दैर्घ्यमान) को अंगुल माना जाता है। इस प्रकार के २४ अंगुल का एक हाथ होता है॥१५॥

[तस्यैव क्रमान्तरम्]

कर्मकर्त्तुर्निजाङ्गुष्ठतिर्यङ्मानेन मध्यमम्।
प्रमाणाङ्गुलमेतत्तु सर्वकर्मणि चापरे।।१६।।

हस्तपरिमाणज्ञानमङ्गुलपरिमाणज्ञानसापेक्षमित्यतोऽङ्गुलपरिमाणभेदानाह—**कर्मकर्त्तुरित्यादिना**।

अब अंगुल का दूसरा मान बता रहे हैं। कर्मकर्ता के अंगूठे को तिरछा करके रखने से अंगुल का मान ज्ञात हो जाता है॥१६॥

[तस्यैव क्रमान्तरम्]

जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
प्रथमं तत् प्रमाणानां त्रसरेणुः प्रचक्ष्यते।।१७।।

त्रसरेणुस्तु विज्ञेयो ह्यष्टौ ते परमाणवः।
त्रसरेणव एते स्युरष्टौ रेणुस्तु स स्मृतः।।१८।।
ते रेणवस्तथा ह्यष्टौ बालाग्रं तत् स्मृतं बुधैः।
बालाग्रैरष्टभिर्लिख्या यूका लिख्याष्टकं स्मृतम्।।१९।।
अष्टौ यूका यवं प्राहुरङ्गुलन्तु यवाष्टकम्।
मानाङ्गुलप्रमाणन्तु प्रोक्तमित्यपरं बुधैः।।२०।।

अथ किं स्वरूपं मानाङ्गुलस्य येन हस्तप्रमाणं निश्चीयेतेत्यत आह—जालेत्यादि। तथाच—अष्टौ परमाणवस्त्रसरेणुरष्टौ त्रसरेणवो रेणुरष्टौ रेणवो बालाग्रमष्टौ बालाग्राणि लिख्याष्टौ लिख्या यूका अष्टौ यूका यवोऽष्टौ यवा अङ्गुलमित्यङ्गुल-परिमाणमित्यर्थः।

अत्र परमाणोरेव प्रथमपरिमाणत्वस्य सर्ववादिसिद्धत्वेऽपि 'प्रथमं तत्प्रमाणाना'-मित्यादिना त्रसरेणोर्यत् प्रथमपरिमाणत्वाभिधानं तदिन्द्रियग्राह्यप्रथमपरिमाणपरमित्य-वधेयम्।

हयशीर्षपञ्चरात्रे सप्तमपटले तु—

परमाण्वष्टकेनैव रथरेणुः प्रकीर्त्तितः।
रथरेण्वष्टकेनैव त्रसरेणुः प्रकीर्त्यते।।२।।
तैरष्टभिस्तु बालाग्रं लिख्या तैरष्टभिः स्मृता।
ताभिर्यूकाष्टभिः ख्याता ताश्चाष्टौ यवमध्यकम्।
यवाष्टकैरङ्गुलं स्याच्चतुर्विंशाङ्गुलः करः।। इत्यादि। [२–४]

एतन्मते चतुःषष्ट्या परमाणुभिरेकस्त्रसरेणुर्भवति। एवमन्यत्रान्यथापि परिमाण-निरूपणप्रकारभेदा दृश्यन्ते।

रोशनदान से आती हुई सूर्यकिरणों के मध्य में जो झिलमिलाते हुए रजःकण दिखाई देते हैं, उन्हें परमाणु कहते हैं। ऐसे ८ परमाणुओं का एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणुओं का एक रेणु, आठ रेणुओं का एक बालाग्र, आठ बालाग्र की एक लिख्या, आठ लिख्याओं का एक यूका, आठ यूकाओं का एक यव और आठ यवों का एक अंगुल होता है।।१७-२०।।

[अस्यैव प्रकारान्तरम्]

तिर्यग्यवोदराण्यष्टावूर्ध्वग्रा व्रीहयस्त्रयः।
मानाङ्गुलप्रमाणन्तु केचिदिच्छन्ति तान्त्रिकाः।।२१।।

यदि क्षैतिक रूप से आठ (८) यवों को सटाकर रखा जाय तो इनके मध्य का मान ऊर्ध्व रूप से परस्पर सटाकर रखे गये तीन व्रीहि के बराबर होता है। अतः कुछ लोग एक अंगुल का मान तीन व्रीहि मानते हैं।।२१।।

[प्रागुक्तहस्तमानस्य विषयः]

स्रुक्स्रुवे मण्डले कुण्डे हस्तमानं समीरितम्।।२२।।

स्रुक्-स्रुव इत्यादि। हयशीर्षे सप्तमपटलेऽपि एवं क्रमेण हस्तपरिमाणं निरूप्य—

एतैर्हस्तैस्तु कुर्वीत प्रासादं यागमण्डपम्।
प्रतिमां पिण्डिकां वाऽपि कुण्डं मण्डलमेव च।।
तोरणञ्च ध्वजञ्चैव गुणाढ्यं पात्रमेव च।
मानहीनं न कर्त्तव्यं फलप्राप्त्यर्थिभिः सदा।।

इत्यभिहितम्। राघवभट्टधृतमहाकपिलपञ्चरात्रे तु—

गृहप्रासादकूपानां मण्डपस्य जलस्य च।
वास्तुमण्डलकं कार्यमष्टहस्तन्तु नापरम्।।

इत्यनेन मण्डलस्याष्टहस्तपरिमाणत्वमाह। प्रकृते तु हस्तप्रमाणतः इत्यभिधानाद्दीक्षाङ्गवास्तुयागे वास्तुमण्डलस्यैकहस्तप्रमाणत्वमिति स्थितम्।

इस प्रकार हस्तप्रमाण का निश्चय करके उसी मान से स्रुक्स्रुव, मण्डल एवं कुण्ड आदि का निर्माण किया जाय॥२२॥

यह पहिले ही बता दिया गया है कि वास्तुमण्डल की लम्बाई-चौड़ाई कर्ता अर्थात् शिष्य के एक हस्तप्रमाण की होनी चाहिए।

[वास्तुमण्डलपदविभागपरिपाटी]

अथ तद् विभजेन्मन्त्री चतुःषष्टिपदं यथा।।२३।।

एवं हस्तपरिमाणं निरूप्य वास्तुमण्डलपदविभागपरिपाटीं प्रदर्शयति—**अथेति**। तन्मण्डलं चतुःषष्टिपदं यथा स्यात्तथा विभजेदिति सम्बन्धः। ननु हयशीर्षपञ्चरात्रस्यादिकाण्डेऽष्टमपटले—

चतुःषष्टिन्तु प्रासादे एकाशीतिं गृहे सदा।

वास्तुयागतत्त्वधृतदेवीपुराणे—

प्रासादे च चतुःषष्टिरेकाशीतिपदं गृहे।

तथा राघवभट्टधृतसोमशम्भौ—

कुर्यात् कोष्ठचतुःषष्टि प्रासादे वास्तुमण्डलम्।
गृहेऽपि वर्त्तयेद्वास्तुं किन्त्वेकाशीतिकोष्ठकैः।।

इत्यादिवचनैश्चतुःषष्टिपदवास्तुमण्डलस्य प्रासादमात्रपरत्वाभिधानादिह दीक्षाङ्गमण्डपनिर्माणाङ्गभूतवास्तुमण्डलस्य चतुःषष्टिपदत्वं कथमुपपद्यते? उच्यते राघवभट्टधृतमहाकपिलपञ्चरात्रे—

एकाशीतिपदं कृत्वा वास्तुश्चैव गृहादिषु।
चतुःषष्टिपदो वास्तुः प्रासादे ब्रह्मणा स्मृतः।।

इत्यभिधाय,

मण्डपान् प्रवरान् वक्ष्ये प्रासादस्यानुरूपतः।

इत्युक्तम्। एवञ्च प्रासादे वास्तुमण्डलस्य चतुःषष्टिपदतया तदानुरूप्येण मण्डपेऽपि मण्डलस्यास्य चतुःषष्टिपदत्वं युक्तमित्यतः सुष्ठूक्तं 'चतुःषष्टिपदं यथे'ति। अत्र चतुःषष्टिपदविभागस्य क्रमं स्फुटमाह हयशीर्षपञ्चरात्रे आदिकाण्डेऽष्टमपटले—

चतुरस्त्रीकृते क्षेत्रे ह्यष्टधोभयभाजिते।
कोणरेखां ततो दत्त्वा सुरभागांस्तु कल्पयेत्।। इति।

एवञ्च भूमिं प्रथमं चतुरस्त्रां विधाय तामुभयतोऽष्टधा विभजेत्। तत्र च विभजने नव पूर्वायता नव चोत्तरायता रेखाः कर्त्तव्याः। एवं कृते चतुःषष्टिः पदानि सम्पद्यन्ते। मूले चतुःषष्टिपदं यथेत्यनेनायमेव पदविभागक्रमो दर्शितः। आसाञ्च पूर्वोत्तरायतानां रेखाणां संज्ञाः प्रदर्शिता विश्वकर्मणा। तत्र पूर्वायतानामुत्तरादिक्रमेण—

श्रिया यशोमती कान्ता सुप्रियाऽपि परा शिवा।
सुशोभा सघना ज्ञेया तथेभा नवमी स्मृता।। [विश्व० ५।२२।२३]

इत्येताः संज्ञाः। उत्तरायतानां पश्चिमादिक्रमेण संज्ञास्तु—

धन्या धरा विशाला च स्थिरा रूपा गदा निशा।
विभवा प्रभवा चान्या सौम्यासौम्याश्रिताः शिराः।। [विश्व० ५।२३।२४]

इत्येताः। तथाच वास्तुराक्षसस्य चतुरस्त्राकृतेरेताः पूर्वोत्तरायता रेखाः शिरास्ताश्च मण्डलस्वरूपवास्तुशरीरेऽवश्यमेव स्थापनीया इत्युक्तं भवति।

शिष्य के हस्त-प्रमाण से एक हाथ लम्बी और एक हाथ चौंड़ी जो वर्गाकार वास्तुवेदी बनाई गई है, उसमें ६४ पद या वर्ग बनाये जायँ।।२३।।

विमर्श—यदि इस वर्गाकार आकृति में पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण सात-सात रेखाएँ समान दूरी पर खींचें तो उसमें ६४ कोष्ठक बन जाएँगे।

वास्तुग्रन्थों में वास्तुपूजन के लिये ६४ और ८१ कोष्ठकों का वास्तु-मण्डल बनाने का विधान मिलता है। तन्त्रराजतन्त्र (३०वें पटल) में ८१ कोष्ठकों वाले मण्डल का विधान है; मगर प्रस्तुत ग्रन्थ में ६४ कोष्ठकों वाले मण्डल का विधान बताया गया है। इसका विशेष कारण है। प्रासाद-निर्माण के लिये ६४ कोष्ठकों का मण्डल बनाया जाता है। दीक्षायाग मण्डप को प्रासाद के समरूप मानकर इसके लिये भी ६४ कोष्ठकों वाले मण्डल-निर्माण का विधान किया गया है।

अगले ११ श्लोकों में इस मण्डल पर ब्रह्मा आदि तिरेपन (५३) देवताओं के स्थान एवं उनके पूजन का क्रम बताया गया है।

ईशानाद्राक्षसं यावद् यावदग्नेः प्रभञ्जनम्।
कर्णसूत्रद्वयं दद्यात्ततो ब्रह्माणमर्चयेत्।।२४।।

ईशानादिति। प्रागुक्तचतुःषष्टिपदमण्डले ईशानान्निर्ऋत्यन्तमग्नेर्वाय्वन्तञ्च कर्णसूत्रद्वयं दद्यादेकैकश इति शेषः। कर्णशब्दः कोणवाचितया शिल्पशास्त्रे प्रसिद्धः। एवं कर्णसूत्रपातं निरूप्य मण्डलमध्यतः क्रमेण ब्रह्मादीनामर्चनमुपदिशति—तत इति। मध्यकोष्ठचतुष्के ब्रह्माणमर्चयेत्।

इस वर्गाकार आकृति में उपर्युक्त विधि से ६४ कोष्ठक बनाने के बाद इसमें ईशान से नैर्ऋत्य कोण तक तथा अग्निकोण से वायव्य कोण तक एक-एक रेखाएँ खींचें। इस तरह चतुर्भुज के दो-दो कोणों को मिलाने से दो कर्णसूत्र बन जाएँगे। वेदी के मध्यवर्ती चार कोष्ठकों में ब्रह्माजी की पूजा की जाती है।।२४।।

मध्यकोष्ठचतुष्के तु पूर्वादिदिक्चतुष्टये।
चतुश्चतुःप्रकोष्ठेषु यजेदर्यमणन्तथा।।२५।।
विवस्वन्तं ततो मित्रं महीधरमतः परम्।

ततो दिग्देवस्थानमाह—**पूर्वादीति**। तथाच मध्यस्थब्रह्मकोष्ठचतुष्कस्य पूर्वकोष्ठचतुष्के अर्यमणम्, दक्षिणकोष्ठचतुष्के विवस्वन्तम्, पश्चिमकोष्ठचतुष्के मित्रम्, उत्तरकोष्ठचतुष्के महीधरं पूजयेदित्यर्थः।

ब्रह्माजी की पूजा करने के बाद उनकी पूर्व दिशा वाले चार कोष्ठकों में अर्यमा की, दक्षिण दिशा के चार कोष्ठकों में विवस्वान् की, पश्चिम दिशा के चार कोष्ठकों में मित्र की और उत्तर दिशा वाले चार कोष्ठकों में महीधर की पूजा करें।।२५।।

इस प्रकार कुल ६४ कोष्ठकों में से २० कोष्ठकों में पाँच देवताओं की पूजा-स्थापना होती है।

कोणार्द्धद्वन्द्वकोष्ठेषु वह्न्यादिपदतः पुनः।।२६।।
उपर्यधःक्रमेणैव पूजयेन्मन्त्रवित्तमः।
सावित्रं सवितारञ्च शक्रमिन्द्रजयं पुनः।।२७।।
रुद्रं रुद्रजयं विद्वानापञ्चाप्यापवत्सकम्।

कोणार्द्धेति। वह्न्यादिपदतः कोणार्द्धद्वन्द्वकोष्ठेषु उपर्यधःक्रमेणैव सावित्रादीन् पूजयेत्। एवञ्च ब्रह्मपदचतुष्काद्बहिः प्रथमकोणकोष्ठचतुष्केषु पूर्वकृतकोणरेखाविभाजितेषु उपर्यधःक्रमेण सावित्रादीनां पूजनमनेन विधीयते। तथाच अग्निकोणार्द्धद्वन्द्वस्य ऊद्ध्वार्द्धे सावित्रमधोऽर्द्धे सवितारम्, एवं नैर्ऋतकोष्ठार्द्धयोरूद्ध्वे इन्द्रम्, अध इन्द्रजयम्, वायव्यकोष्ठार्द्धयोरूद्ध्वे रुद्रम्, अधो रुद्रजयम्, एवमीशानकोष्ठार्द्धयोरूद्ध्वे आपम् अध आपवत्सं पूजयेदित्यर्थः।

कर्णरेखा खींचे जाने से ब्रह्माजी के अग्निकोण में जो दो अर्धकोष्ठक बन गये हैं, उनमें से ऊपर वाले कोष्ठक में सावित्र की ओर नीचे वाले अर्धकोष्ठक में

सविता की पूजा करें। इसी तरह नैर्ऋत्य कोण में जो दो अर्धकोष्ठक बने हैं, उनमें ऊपर-नीचे के क्रम से शक्र और इन्द्रजय की पूजा करें। वायव्य कोण वाले अर्धकोष्ठकद्वय में रुद्र और रुद्रजय की तथा ईशानकोण के अर्धकोष्ठकद्वय में आप और आपवत्स की पूजा करें॥२६-२७॥

कर्णसूत्रादुभयतः कोष्ठद्वन्द्वेषु साधकः॥२८॥
शर्वं गुहन्त्वर्यमणं जम्भकं पिलिपिञ्जकम्।
चरकीञ्च विदारीञ्च पूतनामर्चयेत्ततः॥२९॥

अथ तदूर्ध्वस्थकोणकोष्ठचतुष्कप्रक्रियामाह—कर्णेति। एतदपि पूर्वोक्तरीत्या कोणरेखाविभाजितेष्वष्टसु कोष्ठेषु विधेयम्। एवञ्च आग्नेये ऊर्ध्वे शर्वम्, तदधो गुहम्। नैर्ऋते ऊर्ध्वे अर्यमणमधो जम्भकम्। वायव्ये ऊर्ध्वे पिलिपिञ्जमधश्चरकीम्। ऐशाने ऊर्ध्वे विदारीमधः पूतनामर्चयेदिति पर्यवस्यति।

अत्र विशेषानभिधानेऽपि पूर्वं वह्न्यादिपदत इत्यभिधानात् शर्वादीनां पूजनमपि वह्न्यादिक्रमेणैव कर्त्तव्यम्।

अब सवित्र और सविता की ऊपर वाली पंक्ति में पूजन का क्रम बताया जा रहा है। पूर्वोक्त रीति से कर्णसूत्र के द्वारा विभाजन से आग्नेय आदि चारो कोणों में जो आठ अर्धकोष्ठक बन गये हैं, उनमें अग्निकोण से प्रारम्भ करके आठ देवताओं का पूजन करें। अग्निकोण में ऊपर वाले अर्धकोष्ठक में शर्व की और नीचे वाले अर्धकोष्ठक में गुह की पूजा करें। नैर्ऋत्य कोण के दोनों अर्धकोष्ठकों में उपरि-अधः के क्रम से अर्यमण तथा जम्भक की तथा वायव्य कोण में इसी क्रम से ऊपर पिलिपिञ्जक तथा अधोभाग में चरकी की पूजा करें। ईशान कोण में ऊपर-अधः के क्रम से विदारी और पूतना की पूजा करें॥२८-२९॥

पूर्वादिदिक्चतुष्केषु सार्द्धाद्यन्तपदेष्विमान्।
अष्टावष्टौ विभागेन क्रमादीशावधिं सुधीः॥३०॥
यजेदीशानपर्जन्यौ जयन्तं शक्रभास्करौ।
सत्यो वृषान्तरीक्षौ तत्तदग्निपूषणावथ॥३१॥
वितथाश्रमसंज्ञश्च गृहरक्षकसंज्ञकः।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगश्च निर्ऋतिस्तथा॥३२॥
दौवारिकाख्यः सुग्रीवो वरुणः पुष्पदन्तकः।
असुरः शोषरोगौ च वायुनागाख्यमुख्यकाः॥३३॥
सोमभल्लाटकावर्गलाख्योदित्यदितीति च॥३४॥

अथ पूर्वादिदिक्कोष्ठप्रक्रियामाह—पूर्वादीति। सार्द्धाद्यन्तपदेषु—आदि च अन्तञ्च आद्यन्ते अर्द्धे च ते आद्यन्ते चेति अर्द्धाद्यन्ते ताभ्यां सह वर्त्तमानानि यानि पदानि तेषु इति

समासः। एवञ्च प्रागुक्तकोणरेखाविभाजिताद्यन्तकोणार्धपदेषु पदान्तरेषु च पूर्वादिक्रमेणेशानपर्यन्तं प्रतिदिशमष्टाविति क्रमेण वक्ष्यमाणान् ईशानादिदेवानर्चयेदित्यर्थः।

तथाच पूर्वस्यामीशानकोणार्द्धे ईशम्, ततः पर्जन्यम्, ततो जयन्तम्, ततः शक्रम्, ततो भास्करम्, ततः सत्यम्, ततोऽग्निकोणपूर्वार्द्धेऽन्तरीक्षम् इत्येतान् पूजयेत्। तदुक्तं शारदायां तृतीयपटले—

क्रमादीशानपर्जन्यजयन्ताः शक्रभास्करौ।
सत्यो वृषान्तरीक्षौ च दिशि प्राच्यामवस्थिताः।। इति।

एवं दक्षिणस्याम् अग्निकोणार्द्धे—अग्निं ततश्च क्रमेण पूषणं वितथम् अश्रमं (यमं) गृहरक्षकं गन्धर्वं भृङ्गराजं मृगञ्च पूजयेत्। तदुक्तं तत्रैव—

अग्निः पूषा च वितथो यमश्च गृहरक्षकः।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगो दक्षिणदिग्गताः।।

एवं प्रतीच्याम्—नैर्ऋतकोणार्धतो वायुकोणार्धं यावत् क्रमेण निर्ऋतिः, दौवारिकः, सुग्रीवः, वरुणः, पुष्पदन्तः, असुरः, शोपः (शेषः), रोगः (रागः) इत्येते पूजनीयाः। तदुक्तं तत्रैव—

निर्ऋतिर्दौवारिकश्च सुग्रीववरुणौ ततः।
पुष्पदन्तासुरौ शेषरोगौ प्रत्यग्दिशि स्थिताः।। इति।

एवमुत्तरस्याम्—वायुकोणार्द्धत ईशानकोणार्धं यावत् क्रमेण वायुः, नागः, मुख्यः, सोमः, भल्लाटः, अर्गलः, दितिः, अदितिश्चेत्येते पूजनीयाः। तदुक्तं तत्रैव—

वायुर्नागश्च मुख्यश्च सोमो भल्लाट एव च।
अर्गलाख्यो दित्यदिती कुबेरस्य दिशि स्थिताः।। इति।

अयं चतुःषष्टिमण्डलदेवतास्थापनक्रमो दर्शितः।

हयशीर्षपञ्चरात्रे तु ब्रह्मस्थानादूर्द्ध्वकोणकोष्ठद्वये ईशानादिक्रमेणापापवत्सादीनां पूजनमभिधाय पूर्वादिक्रमेणैशानीं यावन्मण्डलाद् बहिः स्कन्दादीनां चरक्यन्तानां पूजनमभिहितम्।

अत्र विशेषानभिधानेऽपि पूर्वस्यां जयन्तसत्ययोर्दक्षिणस्यां वितथगन्धर्वयोः प्रतीच्यां सुग्रीवासुरयोरुत्तरस्याञ्च मुख्यार्गलयोरुर्द्ध्वाधो द्विपदस्थत्वमवगन्तव्यम्। स्फुटमभिहितमेतद्धयशीर्षपञ्चरात्रेऽष्टमपटले—'द्विपदस्थो जयो ज्ञेयः' तथा 'द्विपदः सत्य उच्यते' इत्यादिभिः।

अब पूर्वादि चारो दिशाओं में रहने वाले देवताओं का पूजनक्रम बताया जा रहा है। पूर्वादि अर्थात् पूर्व-दक्षिण-पश्चिम और उत्तर। चूँकि कर्णसूत्र खींचने से पूर्वादि दिशाओं के प्रथम कोष्ठकों के दो-दो भाग हो जाते हैं; अतः पूजन का क्रम ईशानकोण से प्रारम्भ किया जाता है। तदनुसार ईशान कोण के द्वितीय अर्धकोष्ठक से प्रारम्भ कर अग्निकोण के प्रथम अर्धकोष्ठ-पर्यन्त आठ कोष्ठों में पूर्व दिशा के

आठ देवताओं अर्थात् (१) ईश, (२) पर्जन्य, (३) जयन्त, (४) शक्र, (५) भास्कर, (६) सत्य, (७) वृष एवं (८) अन्तरिक्ष की पूजा करें।

अग्निकोण के द्वितीय अर्धकोष्ठ से प्रारम्भ कर नैर्ऋत्य कोण के प्रथम अर्धकोष्ठ-पर्यन्त आठ कोष्ठों में दक्षिण दिशा में रहने वाले देवताओं का यथाक्रम पूजन करें। इस दिशा के देवता हैं—(१) अग्नि, (२) पूषा, (३) वितथ, (४) यम, (५) गृहरक्षक, (६) गन्धर्व, (७) भृङ्गराज और (८) मृग।

निर्ऋति कोण के द्वितीय अर्धकोष्ठ से प्रारम्भ कर वायव्य कोण के प्रथम अर्धकोष्ठ-पर्यन्त आठ कोष्ठों में पश्चिम दिशा के देवताओं अर्थात् (१) निर्ऋति, (२) दौवारिक, (३) सुग्रीव, (४) वरुण, (५) पुष्पदन्त, (६) असुर, (७) शेष और (८) रोग का यथाक्रम पूजन करें।

इसके वाद वायव्य कोण के द्वितीय अर्धकोष्ठक से प्रारम्भ कर ईशान कोण के प्रथम अर्धकोष्ठ-पर्यन्त आठ कोष्ठों में उत्तर दिशा के देवताओं अर्थात् (१) वायु, (२) नाग, (३) मुख्य, (४) सोम, (५) भल्लाट, (६) अर्गल, (६) दिति और (८) अदिति का यथाक्रम पूजन करें॥३०-३४॥

[रजोभिर्मण्डलपदानामापूरणं वलिदानोपक्रमश्च]

उक्तानामपि देवानां पदान्यापूर्य पञ्चभिः।
रजोभिस्तेष्वथो तेभ्यो दद्यादेभिर्वलीनथ।।३५।।

उक्तानामिति। पञ्चमी रजोभिरित्यनेन—

पीतं हरिद्राचूर्णं स्यात् सितं तण्डुलसम्भवम्।
कुसुम्भवर्णमरुणं कृष्णं दग्धपुलाकजम्।
विल्वादिपत्रजं श्याममित्युक्तं वर्णपञ्चकम्॥१२३-१२४॥

इति शारदातिलकतृतीयपटलोक्तरूपैः पञ्चविधरजोभिः पदानामापूरणमुपदिष्टम्। तत्रापि मण्डलपदस्थदेवानां यो यद्वर्णस्तत्तद्देवताधिष्ठितानां तत्तत्पदानामापूरणमपि तेन तेनैव वर्णेन विधेयम्। मण्डलपदस्थानां देवानां वर्णानाह राघवभट्टधृततन्त्रान्तरे—

मरीचिः श्वेतवर्णः स्याद् विवस्वानुक्तवर्णकः।
शातकुम्भसमो मित्रः कृष्णवर्णस्तु भूधरः॥
सविता नीलवर्णाभः सावित्रो धूमविग्रहः।
इन्द्रश्चारुणवर्णाभः शुक्लश्चेन्द्रजयस्तथा॥
रुद्रः प्रवालसदृशः पीतो रुद्रजयस्तथा।
आपो गोक्षीरधवल आपवत्सो जपाद्युतिः॥
ईशानः क्षीरधवलः पर्जन्योऽञ्जनसन्निभः।
जयन्तोऽञ्जनसङ्काशो महेन्द्रश्चामलद्युतिः॥

आदित्यो रक्तवर्णः स्यात् सत्यकश्चित्रवर्णकः।
वृषो बन्धूकपुष्पाभः कुन्दाभश्चान्तरीक्षकः।।
उद्यद्दिनकराभोऽग्निः पूषा रक्ताब्जसन्निभः।
वितथश्चेन्द्रचापाभो विद्युद्वर्णो गृहक्षतः।।
यमश्चाञ्जनसङ्काशो गन्धर्वः पद्मरागवत्।
भृङ्गराजस्तु भृङ्गाभो मृगो जीमूतसन्निभः।।
निर्ऋतिः पावकाभश्च पीतो दौवारिकः स्मृतः।
सुग्रीवो नीलकण्ठाभश्चन्द्राभः पुष्पदन्तकः।।
वरुणः स्फटिकाभाङ्गो भृङ्गाभश्चासुरो मतः।
शेषश्चोत्पलसङ्काशः पापयक्ष्मेन्द्रनीलवत्।।
वायुः कृष्णाभवर्णः स्यान्नागः शङ्खेन्दुसन्निभः।
मुख्यो मौक्तिकसङ्काशो भल्लाटः श्वेतपद्मवत्।।
सोमः स्फटिकसङ्काशोऽर्गलो रक्तोत्पलद्युतिः।
दितिः कुन्देन्दुधवला कपिला चादितिः स्मृता।।
चरकी शङ्खसदृशी विदारी पावकद्युतिः।
पूतना हिमसङ्काशा मेघाभा पिलपिच्छिका।
तथा— सितो रक्तश्च पीतश्च कृष्णः स्कन्दादिका ग्रहाः।। इति।

अत्र तन्त्रान्तरवचने व्युत्क्रमेण निर्देशेऽपि पददेवतानां वर्णभेदा एभ्यो ज्ञातव्याः। तन्त्रान्तरे ब्रह्मणो वर्णो न निरूपितः, स तु—

सर्वमध्ये यजेत् सम्यग् ब्रह्माणं कमलोद्भवम्।
हेमाभञ्च चतुर्वक्त्रं वेदाध्ययनशीलिनम्।।१५।।

इति तन्त्रराजत्रिंशपटलवचनादवगन्तव्यः।

हयशीर्षपञ्चरात्रादौ बहिरारभ्य क्रमेण ब्रह्मान्तानां देवानां पूजनमभिहितम्। अत्र तु प्रथममेव मध्यचतुष्कस्थस्य ब्रह्मणस्ततः क्रमेण तत्तद्बहिर्देवानां पूजनमुपदिष्टमिति विशेषः। तन्त्रराजशारदातिलकादावप्येवमेव।

उपर्युक्त देवताओं के कोष्ठकों को पाँच रंग से रंगा जाय, तदनन्तर उन्हें बलि दी जाय।।३५।।

विमर्श—मूल ग्रन्थ में पीठदेवताओं तथा पीठशक्तियों की स्थापना और पूजा का निरूपण नहीं किया गया है, अतः तन्त्रशास्त्र में बताये गये सामान्य क्रम के अनुसार ये कार्य किये जाएँ। सर्वप्रथम मध्यवर्ती चार कोष्ठकों में मण्डूकादि परतत्त्वान्त पीठदेवताओं और ब्रह्माजी की अणिमा आदि पीठशक्तियों की स्थापना और अर्चन के बाद 'ॐ सर्वज्ञानक्रियाव्यक्तकमलासनाय योगपीठाय नमः' इस पीठमन्त्र से समग्र पीठ का अर्चन करके 'ॐ नमो ब्रह्मणे' इस मन्त्र से सरस्वती-

सहित ब्रह्माजी का आवाहन करके उनका पूजन करें। पूजन के बाद वक्ष्यमाण मन्त्र से ब्रह्माजी के लिये निर्दिष्ट द्रव्यों की बलि प्रदान करें। बलिद्रव्य और बलिमन्त्र आगे बताये गये हैं।

इसके बाद शेष देवताओं का यथाक्रम उनके नाम मन्त्रों से आवाहन एवं पूजन करने के बाद यथानिर्दिष्ट मन्त्र से यथा-निर्दिष्ट द्रव्यों की बलि दें। यथा—ब्रह्मा के बाद पूर्ववर्ती कोष्ठचतुष्टय में अर्यमण का आवाहन नाममन्त्र से करें। 'ॐ अर्यमणे नमः, आवाहयामि पूजयामि।' गन्ध-पुष्प-धूप-दीप समर्पण करने के बाद बलिमन्त्र से यथानिर्दिष्ट द्रव्य की बलि प्रदान करें।

पूजन करते समय यह ध्यान रखें कि वास्तुमण्डल के सभी देवता अपने-अपने स्थान पर ब्रह्माजी की ओर मुख करके सुखपूर्वक बैठे हैं। ब्रह्माजी की ओर किसी देवता की पीठ नहीं है। वास्तुमण्डल के सभी देवताओं का यथाक्रम एक-एक करके आवाहन-पूजन एवं बलि प्रदान किया जाना उत्तम कल्प है। इन देवताओं के बलिमन्त्र और बलिद्रव्य अगले ५३ श्लोकों में बताये गये हैं।

[तत्र ब्रह्मणो वलिमन्त्रः]

पायसौदनलाजैश्च युक्तं धूपप्रसूनकैः।
अक्षतं तिलसंयुक्तं माषभक्तादिमण्डितम्।
गृहाणेमं वलिं ब्रह्मन् वास्तुदोषं प्रणाशय (१)।।३६।।

ब्रह्माजी—पायस, ओदन (भात), धूप, प्रसून, अक्षत, तिल, उड़द की दाल की बलि उपर्युक्त मन्त्र से ब्रह्माजी को प्रदान करें(१)।।३६।।

[अर्यम्णः]

गन्धादिशर्करापूपं पायसोपरि संस्थितम्।
अर्यमन् वै गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय (२)।।३७।।

अर्यमण्—खीर, अपूप (पुआ), शर्करा तथा गन्ध आदि की बलि उक्त मन्त्र से अर्यमण को प्रदान करें(२)।।३७।।

[विवस्वतः]

चन्दनाद्यर्चितं नाथ कर्पूरागुरुमण्डितम्।
विवस्वन् वै गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय (३)।।३८।।

विवस्वान्—चन्दन, कपूर, अगरु-सहित पायस की बलि विवस्वान् को प्रदान करें।।३८।।

[मित्रस्य]

सगुडं पायसं नाथ पुष्पादिसुसमन्वितम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यं मित्रं शान्तिं प्रयच्छ मे (४)।।३९।।

मित्र—गुड़ और पुष्पसहित पायस की बलि उक्त मन्त्र से दें॥४॥३९॥

[महीधरस्य]

माषौदनं समांसञ्च गन्धादिक्षीरसंयुतम्।
गृहाणेमं महीभृत् त्वं सर्वदोषं प्रणाशय (५)।।४०।।

महीधर—उड़द की दाल, भात, दूध, गन्ध और मांस बलिद्रव्य हैं। उक्त मन्त्र से बलि प्रदान करें॥४०॥

[बाह्यदेवतानां वलि:]

एवमन्तर्वलीन् दत्त्वा चान्येषामीशतो हरेत्।
दक्षावर्त्तक्रमेणैव वलिः सामान्यभाषितः।।४१।।
सर्वेषां खलु वास्तूनां विशेषः पदनिर्णयः।।४२।।

एवमन्तर्देवतापञ्चकानां पूजनक्रमेणैव वलिर्विधेयः। आपादीनां बहिर्देवानां प्रागुक्तरीत्या केषाञ्चिदग्न्यादिक्रमेण, केषाञ्चन वा ईशादीनाम् ईशानादिक्रमेणैव पूजनं विहितम्। वलिस्तु सर्वेषामेव ईशानादिक्रमेण प्रादक्षिण्येन कर्त्तव्य इत्येवाह **अन्येषामीशतो हरेदित्यादिना।** राघवभट्टेनापि महीधरान्तानाम् ईशानादिक्रमेण पूजनं वलिञ्चाभिधाय, 'एवमन्तर्वलिं दत्त्वा अन्येषां सर्वेषां यद्यप्यर्च्चा आग्नेयादिक्रमेण तथापीशानादिक्रमेण वलिं दद्याद् वचनानुरोधात्। वचनं यथा—

ईशादिदक्षिणावर्त्तो वलिः सामान्यभाषितः।
सर्वेषां खलु वास्तूनां विशेषः पदनिर्णयः॥ इति।

अनेन बाह्यदेवतानामीशानादिक्रमेणैव वलिरभिहितः।

ब्रह्मा आदि अन्तर्वर्ती पाँच देवताओं को इस प्रकार पूजनक्रम से बलि प्रदान करने के बाद 'आप्' आदि बहिरंग देवताओं को ईशानादि प्रदक्षिणा क्रम से बलि प्रदान की जाय। सभी वास्तुदेवताओं के सम्बन्ध में यही पदनिर्णय है॥४१-४२॥

विमर्श—वास्तुमण्डल के देवताओं के अर्चन एवं बलि-विधानक्रम में आचार्यों में मतैक्य नहीं है। हयग्रीवपञ्चरात्र में बाहर से प्रारम्भ कर अन्त में ब्रह्मा के पूजन का क्रम बताया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में मध्यचतुष्क के ब्रह्मा आदि देवताओं के पूजन के बाद बहिर्देवताओं का विधान बताया गया है। तन्त्रराजतन्त्र और शारदातिलक में भी यही क्रम बताया गया है। कतिपय आचार्यों का मानना है कि 'आप्' आदि बहिर्देवताओं का अर्चन आग्नेय क्रम से करना चाहिए तो कुछ आचार्य ईशानादि प्रदक्षिणा क्रम से पूजन के पक्षधर हैं; लेकिन इन देवताओं को बलि ईशानादि प्रदक्षिणा क्रम से ही दी जाय, जैसा कि उपर्युक्त श्लोक में कहा गया है।

[तत्रापस्य]

क्षीरखण्डसमायुक्तं पुष्पादिभिः सुशोभितम्।
गृहाणेमं वलिं ह्यमाप शान्तिं प्रयच्छ मे (६)।।४३।।

आप्—ब्रह्मचतुष्क के ऊपर ईशान कोण के अधोकोष्ठक में 'आप्' देवता को उक्त मन्त्र से क्षीर (दूध) और खण्ड (खाँड़) की बलि पुष्प-सहित प्रदान करें। (६)॥४३॥

[आपवत्सस्य]

दधीदं गुडसंमिश्रं गन्धादिस्रक्सुमण्डितम्।
गृहामेणं वलिं वत्स विघ्नमत्र प्रणाशय (७)॥४४॥

आपवत्स—ईशानकोण के उपरिवर्ती अर्धकोष्ठ में 'आप्' के ऊपर 'आपवत्स' को गन्ध (चन्दन) माला-सहित दही और गुड़ की बलि उपर्युक्त मन्त्र से प्रदान करें (७)॥४४॥

[सावित्रस्य]

पुष्पादिकुशपानीयं कर्पूरागुरुवासितम्।
सावित्र वै गृहाणेमं शान्तिमत्र प्रयच्छ मे (८)॥४५॥

सावित्र—ईशान से प्रदक्षिणा क्रम से अग्निकोण में आकर उपरिवर्ती अर्धकोष्ठ में सावित्र को पुष्प, कुश, जल, कपूर, अगरु की बलि उपर्युक्त मन्त्र से प्रदान करें (८)॥४५॥

[सवितुः]

पिष्टकं सगुडं नाथ रक्तगन्धादिशोभितम्।
गृहाणेमं वलिं सूर्य विघ्नमत्र प्रणाशय॥४६॥

सवितृ—रक्त चन्दन-सहित गुड़ और पिष्टक की बलि सूर्य को समर्पित करें॥४६॥

[इन्द्रस्य]

सितमन्नं तथा पुष्पं कुङ्कुमादिसमन्वितम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यं शक्रदेव नमोऽस्तु ते (१०)॥४७॥

शक्र (इन्द्र)—प्रदक्षिणा क्रम से नैर्ऋत्य में आकर ऊपर वाले अर्धकोष्ठक में पुष्प-कुंकुम, मिसरी तथा अन्न की बलि इन्द्र को दें (१०)॥४७॥

[इन्द्रजयस्य]

ओदनं घृतसंयुक्तं वस्त्रगन्धादिमण्डितम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यमिन्द्रजय नमोऽस्तु ते (११)॥४८॥

इन्द्रजय—इन्द्र के नीचे वाले अर्धकोष्ठक में चन्दन, वस्त्र, घीसहित भात की बलि इन्द्रजय को दें (११)॥४८॥

[रुद्रस्य]

पक्वापक्वमिदं मांसं वस्त्रपुष्पादिसंयुतम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यं रुद्रदेव नमोऽस्तु ते (१२)॥४९॥

रुद्र—वायव्य के अधोकोष्ठ में वस्त्र, पुष्पसहित पके हुए मांस की बलि रुद्र को दें (१२)॥४९॥

[रुद्रजयस्य]

हृन्मांसं सघृतं पक्वं गन्धपुष्पादिवासितम्।
गृहाणेमं वलिं रुद्रजय स्वस्ति नमोऽस्तु ते (१३)।।५०।।

रुद्रजय—रुद्र के उपरिवर्ती अर्धकोष्ठ में विराजित रुद्रजय को गन्ध और पुष्प से सुवासित पका हुआ मांस घृतसहित दें (१३)॥५०॥

ईशान कोण से प्रारम्भ कर चारो विदिशाओं में प्रदक्षिणा क्रम से आठ देवताओं का बलिप्रदानक्रम पूर्ण हुआ। अब प्रदक्षिणा का दूसरा क्रम ईशान कोण से प्रारम्भ किया जाता है।

[विदार्य्याः]

रक्तपुष्पं समांसं वै रक्तवस्त्रादिसंयुतम्।
विदारि वै गृहाणेमं रक्षोविघ्नं विनाशय (१४)।।५१।।

विदारी—ईशान कोण के अधोवर्ती अर्धकोष्ठ में विराजित विदारी को उपर्युक्त मन्त्र से रक्त पुष्प एवं रक्त पुष्प-सहित मांस की बलि दें (१४)॥५१॥

[पूतनायाः]

पित्तरक्तास्थिसंयुक्तं रक्तगन्धादिमण्डितम्।
गृहाणेमं पूतने त्वं रक्षोविघ्नं विनाशय (१५)।।५२।।

पूतना—लाल चन्दन से मण्डित रक्त अस्थि की बलि उक्त मन्त्र से पूतना को दें। (१५)॥५२॥

[शर्वस्य]

सघृतं माषभक्तञ्च गन्धवस्त्राद्यलङ्कृतम्।
वलिं गृहाण शर्वेमं रक्षोविघ्नं विनाशय (१६)।।५३।।

शर्व—आग्नेय कोण के उपरिवर्ती अर्ध प्रकोष्ठ में विराजित शर्व को गन्ध, वस्त्र आदि-सहित उड़द की दाल, भात और घृत की बलि दें (१६)॥५३॥

[स्कन्दस्य]

मांसं पुष्पादिसंयुक्तं माषभक्तोपरि स्थितम्।
गृहाणेमं वलिं स्कन्द रक्षोविघ्नं विनाशय (१७)।।५४।।

स्कन्द (गुह)—शर्व के अधोवर्ती अर्ध प्रकोष्ठ में विराजित स्कन्द को पुष्पादि सहित उड़द की दाल, भात और मांस की बलि दें (१७)॥५४॥

[अर्यम्णः]

समांसं पिष्टकैर्युक्तं पक्वमांसोदकान्वितम्।
अर्यमन् वै गृहाणेमं रक्षोविघ्नं विनाशय (१८)।।५५।।

अर्यमण्—नैर्ऋत्य कोण के प्रथम अर्ध प्रकोष्ठ में विराजित अर्यमण् को पिष्टक-सहित मांस और शोरबा की बलि उक्त मन्त्र से दें (१८)॥५५॥

[जम्भकस्य]

रक्तमांसौदनं मत्स्य-गन्धधूपसमन्वितम्।
जम्भक त्वं गृहाणेमं रक्षोविघ्नं विनाशय (१९)॥५६॥

जम्भक—अर्यमण के अधोवर्ती अर्ध प्रकोष्ठ में विराजित जम्भक को गन्ध, धूपसहित रक्त-मांस-भात और मछली की बलि दें (१९)॥५६॥

[पिलिपिञ्जस्य]

छागकर्णान्वितं मांसं वस्त्रगन्धादिसंयुतम्।
पिलिपिञ्ज गृहाणेमं रक्षोविघ्न प्रणाशय (२०)॥५७॥

पिलिपिञ्जक—वायव्य कोण के अधोप्रकोष्ठ में विराजित पिलिपिञ्जक को चन्दन एवं वस्त्र तथा छागकर्ण (बकरे का कान) सहित मांस की बलि उपर्युक्त मन्त्र से प्रदान करें (२०)॥५७॥

[चरक्याः]

घृतेन साधितं मांसं वस्त्रगन्धादिसंयुतम्।
चरकि वै गृहाणेमं रक्षोविघ्नं प्रणाशय (२१)॥५८॥

चरकी—वायव्य कोण के ऊर्ध्व प्रकोष्ठ में विराजित चरकी को उक्त मन्त्र से घी से पकाये गये मांस की बलि, वस्त्र और चन्दनसहित प्रदान करें (२१)॥५८॥

अब पूर्व दिशा में रहने वाले आठ देवताओं को बलि प्रदान करने के मन्त्र बताये जा रहे हैं। वास्तुमण्डल के सबसे ऊपर वाली पंक्ति में ईशान कोण के ऊर्ध्ववर्ती अर्ध प्रकोष्ठ से यह क्रम प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम ईशान को बलि प्रदान करें। यथा—

[ईशानस्य]

सघृतञ्चाक्षतान्नञ्च रक्तवस्त्राद्यलङ्कृतम्।
गृहाणेमं वलिं त्वीश वास्तुदोषापहारकम् (२२)॥५९॥

ईशान—ईशान कोण के ऊर्ध्ववर्ती अर्ध प्रकोष्ठ में विराजित ईशान को लाल वस्त्र आदि से अलंकृत अक्षत अन्न की बलि घी-सहित प्रदान करें (२२)॥५९॥

[पर्जन्यस्य]

उत्पलं पायसैर्युक्तं रक्तवस्त्रादिसंयुतम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यं देवराज नमोऽस्तु ते (२३)॥६०॥

पर्जन्य—ईशान कोण से अगले कोष्ठक में विराजित पर्जन्य को रक्त वस्त्र-सहित पायस की बलि और उत्पल (कमल) समर्पित करें (२३)॥६०॥

[जयन्तस्य]

पञ्चहस्तं सुपीतञ्च ध्वजं भक्तादिमण्डितम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यं विष्णुसुत नमोऽस्तु ते (२४)।।६१।।

जयन्त—पाँच हाथ लम्बा पीत ध्वज-सहित भात की बलि विष्णुसुत जयन्त को प्रदान करें (२४)॥६१॥

[इन्द्रस्य]

ओदनं घृतसंयुक्तं पञ्चरत्नादिमण्डितम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यं देवराज नमोऽस्तु ते (२५)।।६२।।

इन्द्र—पञ्चरत्न-सहित घी और भात की बलि देवराज इन्द्र को प्रदान करें (२५)॥६२॥

[सूर्यस्य]

रक्तपुष्पयुतं भक्तं रक्तगन्धादिभिर्युतम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यं भास्कर त्वं नमोऽस्तु ते (२६)।।६३।।

सूर्य—रक्त चन्दन एवं रक्त पुष्प-सहित भात की बलि भगवान् सूर्य को प्रदान करें (२६)॥६३॥

[सत्यस्य]

वितानं धूम्रवर्णाभं गन्धादिकसुशोभितम्।
रक्तयुक्तं गृहाणेमं वलिं सत्य नमोऽस्तु ते (२७)।।६४।।

सत्य—गन्ध आदि से सुशोभित धूम्र वर्ण के वितान-सहित पायस की बलि दें (२७)॥६४॥

[वृषस्य]

इदन्तु मांसभक्तं वै गन्धपुष्पादिपूजितम्।
गृहाणेमं वृष वलिं वास्तुदोषं प्रणाशय (२८)।।६५।।

वृष—गन्ध-पुष्प आदि से अच्छी तरह पूजित मांस और भात की बलि वृष को प्रदान करें (२८)॥६५॥

[अन्तरीक्षस्य]

इदन्तु शाकुलं मांसं नैवेद्यादिसुसंयुतम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यं व्योम शान्तिं प्रयच्छ मे (२९)।।६६।।

अन्तरिक्ष—मांस और नैवेद्य की बलि अन्तरिक्ष को दें (२९)॥६६॥

पूर्व दिशा के आठ देवताओं को बलि अर्पित करने के बाद दक्षिण दिशा में रहने वाले देवताओं का बलि विधान बताया जा रहा है।

[हुताशनस्य]

सुवर्णं पिष्टकञ्चाथ वस्त्रगन्धादिभिर्युतम्।
घृतान्वितं गृहाणेमं सप्तजिह्व नमोऽस्तु ते (३०)।।६७।।

हुताशन (अग्नि)—चन्दन, वस्त्र एवं घृतसहित पिष्टक की बलि अग्नि को समर्पित करें। पिष्टक का अर्थ है—आटे की बनी बाटी/तिल के लड्डू और गजक को भी पिष्टक कहते हैं (३०)॥६७॥

[पूष्णः]

क्षीरं लाजादिसंयुक्तं रक्तपुष्पादिमण्डितम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यं पूषदेव नमोऽस्तु ते (३१)।।६८।।

पूषा—रक्त पुष्प से मण्डित दूध और लाई की बलि पूषा को प्रदान करें (३१)॥६८॥

[वितथस्य]

दधिगन्धादिभिर्युक्तं पीतपुष्पैः समन्वितम्।
वलिं वितथ गृह्णेमं विघ्नमत्र प्रणाशय (३२)।।६९।।

वितथ—चन्दन और पुष्प-सहित दही की बलि वितथ को दें (३२)॥६९॥

[यमराजस्य]

आरक्तं मधुसंप्लुतं वस्त्रादिपरिमण्डितम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यं यमराज नमोऽस्तु ते (३३)।।७०।।

यमराज—रक्त वस्त्र से मण्डित शहद की बलि यम को दें (३३)॥७०॥

[गृहरक्षस्य]

पक्वमांसौदनं चर्व्यं पीतवस्त्रादिमण्डितम्।
प्रीतिकरं गृहाणेमं गृहरक्ष नमोऽस्तु ते (३४)।।७१।।

गृहरक्षक—पीत वस्त्र एवं चबैना-सहित भात और पके हुए मांस की बलि गृहरक्षक को दें (३४)॥७१॥

[गन्धर्वस्य]

नानागन्धसमायुक्तं रक्ताधूपादिभिर्युतम्।
वलिं गृहाण गन्धर्व सर्वदोषं प्रणाशय (३५)।।७२।।

गन्धर्व—विभिन्न प्रकार के गन्ध तथा धूप आदि से समन्वित बलि गन्धर्व को प्रदान करें (३५)॥७२॥

[भृङ्गराजस्य]

इमान्तु शाकुनीं जिह्वां माषभक्तोपरि स्थिताम्।
गृहाणेमं वलिं भृङ्गराज शान्तिं प्रयच्छ मे (३६)।।७३।।

भृङ्गराज—उड़द की दाल और भात पर चिड़िया की जीभ की बलि भृङ्गराज को प्रदान करें (३६)॥७३॥

[मृगस्य]

यवं घृततिलोपेतं गन्धपुष्पादिभिर्युतम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यं मृगदेव नमोऽस्तु ते (३७)।।७४।।

मृग—गन्ध-पुष्पसहित यव (जौ), घृत और तिल की बलि मृग को प्रदान करें (३७)॥७४॥

[निर्ऋते:]

शर्करासंयुतं खण्डं रक्तगन्धादिमण्डितम्।
प्रीतो वलिं गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय (३८)।।७५।।

निर्ऋति—पश्चिम दिशा के आठ देवताओं में निर्ऋति प्रथम हैं। रक्त चन्दन आदि से मण्डित शर्करा-मिश्रित श्रीखण्ड की बलि निर्ऋति को प्रदान करें (३८)॥७५॥

[दौवारिकस्य]

चन्दनागुरुकाष्ठञ्च गन्धपुष्पादिभिर्युतम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यं दौवारिक नमोऽस्तु ते (३९)।।७६।।

दौवारिक—गन्ध, पुष्प, चन्दन, अगरु और काष्ठ (लाठी) सहित बलि दौवारिक को दें (३९)॥७६॥

[सुग्रीवस्य]

इदन्तु पायसं नाथ गन्धपुष्पादिमण्डितम्।
सुग्रीव वै गृहाणेमं वलिं शान्तिं प्रयच्छ मे (४०)।।७७।।

सुग्रीव—गन्ध-पुष्पसहित पायस की बलि सुग्रीव को दें (४०)॥७७॥

[वरुणस्य]

यवाग्राणि च गोदुग्धं भक्तोपरि सुशोभितम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यं जलराज नमोऽस्तु ते (४१)।।७८।।

वरुण—गाय का दूध, चावल का भात और यव (जौ) की बलि जलाधिप वरुण को प्रदान करें (४१)॥७८॥

[पुष्पदन्तस्य]

कुशान्त:स्थं माषभक्तं घृतगन्धादिसंयुतम्।
पुष्पदन्त गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय (४२)।।७९।।

पुष्पदन्त—गन्ध और कुश आदि के सहित उड़द की दाल, चावल का भात, घी और कुश की बलि पुष्पदन्त को दी जाय (४२)॥७९॥

[असुरस्य]

मधुना सहितं पिष्टं गन्धाद्यैरुपशोभितम्।
वलिं गृहाणासुरेन्द्र सर्वदोषं प्रणाशय (४३)।।८०।।

असुर—गन्ध आदि के साथ मधु और पिष्ट (बाटी) की बलि असुर को प्रदान करें (४३)॥८०॥

[शेषस्य]

घृतमन्नसमायुक्तं कर्पूरादिसमन्वितम्।
गृहाणेमं वलिं शेष सर्वशान्तिं प्रयच्छ मे (४४)।।८१।।

शेष—कपूर और घी-सहित अनाज की बलि शेष को प्रदान करें (४४)॥८१॥

[रोगस्य]

यवजं तण्डुलं नाथ गन्धपुष्पादिशोभितम्।
गृहाणेमं वलिं रोग सर्वदोषं प्रणाशय (४५)।।८२।।

रोग—रोग को बलि में दिये जाने वाले द्रव्य हैं—गन्ध-पुष्पसहित भुना हुआ जौ और चावल (४५)॥८२॥

[वायोः]

सघृतं मण्डकश्चेदमन्नाद्यैरुपशोभितम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यं मृगवाह नमोऽस्तु ते (४६)।।८३।।

मृगवाहो वायुस्तस्य सम्बुद्धिः।

वायु—घृत और अन्नसहित मण्डक (चावल का माँड़) की बलि वायु को प्रदान करें (४६)॥८३॥

[नागराजस्य]

इदन्तु कृशरश्चान्नं गन्धपुष्पादिमण्डितम्।
नागराज गृहाणेमं विघ्नमत्र प्रणाशय (४७)।।८४।।

नागराज—गन्ध-पुष्पसहित खिचड़ी की बलि नागराज को प्रदान करें (४७)॥८४॥

[मुख्यस्य]

नारिकेलोदकं भक्तं पीतवस्त्रादिसंयुतम्।
गृहाणेमं वलिं मुख्य वास्तुदोषं प्रणाशय (४८)।।८५।।

मुख्य—पीत वस्त्रसहित नारियल का पानी और भात की बलि दें (४८)॥८५॥

[सोमस्य]

ओदनं मधुना मिश्रं नानापूजोपशोभितम्।
गृहाणेमं वलिं सोम सर्वदोषं प्रणाशय (४९)।।८६।।

सोम—पूजा के विविध उपचारों-सहित शहद-मिश्रित ओदन (भात) की बलि सोम को प्रदान करें (४९)।।८६।।

[भल्लाटस्य]

ओदनं घृतसंमिश्रं गन्धपुष्पसमन्वितम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यं भल्लाट त्वं नमोऽस्तु ते (५०)।।८७।।

भल्लाट—गन्ध-पुष्पसहित घी-भात की बलि भल्लाट को दें (५०)।।८७।।

[अर्गलस्य]

माषान्नन्तु घृताभ्यक्तं गन्धपुष्पादिमण्डितम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यमर्गलाख्य नमोऽस्तु ते (५१)।।८८।।

अर्गल—गन्ध-पुष्पसहित घी मिली हुई उड़द की दाल की बलि अर्गल को दें (५१)।।८८।।

[अदितेः]

पूलिकां मधुसंमिश्रां वस्त्रगन्धादिसंयुताम्।
गृहाणेमं वलिं हृद्यं देवमातर्नमोऽस्तु ते (५२)।।८९।।

पूलिका पिष्टकविशेषः, 'पूली' इति वङ्गेषु यस्याः प्रसिद्धिः।

अदिति—वस्त्र-गन्धसहित शहद लगी हुई पूड़ी की बलि अदिति को दें (५२)।।८९।।

[दितेः]

क्षीरखण्डसमायुक्तं नानापूजोपशोभितम्।
दैत्यमातर्गृहाणेमं सर्वदोषं प्रणाशय (५३)।।९०।।

दिति—पूजा की विविध सामग्रियों के साथ क्षीरखण्ड की बलि दिति को दें (५३)।।९०।।

[वलिदाने साधारणं क्रमान्तरम्]

अथवा पायसान्नैस्तु सर्वेषां वलिमाहरेत्।
नामादौ प्रणवं दत्त्वा नमोऽन्तेन च मन्त्रवित्।।९१।।

अथवेति। एतत्तु कल्पान्तरम्। पूर्वं 'दद्यादेभिर्वलीनथे'त्यनेन प्रागुक्तवलि-मन्त्रैर्वलिमन्त्रोक्तैरुपचारैश्च वलिरुपदिष्टः। तदलाभे तु पायसान्नैर्वलिः कर्त्तव्य इति। तदुक्तं गौतमीयतन्त्रे पञ्चमपटले—

पायसैर्मधुरैः सर्वान् संयजेन् मधुरान्वितान्।
तत्तद्द्रव्यैर्वा मतिमान् पूजयेद्दोषशान्तये।। इति।

अत्र कल्पे वलिमन्त्रं निरूपयति—**नामादाविति**। नाम्न आदौ प्रणवः अन्ते च नम इति। एवञ्च नमःशब्दयोगान्नाम्नश्चतुर्थ्यन्ततापि लभ्यते, तेन 'एषः पायसवलिः ॐ ब्रह्मणे नमः' इति वलिक्रमः।

विकल्प—प्रत्येक देवता के लिये यथानिर्दिष्ट बलिद्रव्य के अभाव में सभी देवताओं को पायस की बलि दें। नाम के प्रारम्भ में 'ॐ' तथा अन्त में 'नमः' की योजना करने से बलिमन्त्र बनता है। यथा—एषः बलिः ॐ दित्यै नमः।।९१।।

[उपसंहारः]

अयं वास्तुवलिः प्रोक्तः सर्वविघ्नविनाशकः।।९२।।

(तत्र तत्र वलेरननुष्ठाने दोषश्रवणात् तस्य कर्त्तव्यता।)

गृहादिकरणे यैस्तु नार्चितं वास्तुदैवतम्।
तत्र शून्यं भवेत् सर्वं रक्षोविघ्नादिभिर्युतम्।
तस्माद् वास्त्वर्चनं कार्य्यं सर्वसम्पदभीप्सुभिः।।९३।।

अत्रादिपदेन मण्डपादीनां परिग्रहः।

इति श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचिते श्रीतत्त्वचिन्तामणौ तृतीयः प्रकाशः।।३।।

सभी विघ्नों को दूर करने वाला यह वास्तुबलि-विधान है। घर तथा मण्डप आदि के निर्माण तथा जीर्णोद्धार आदि के समय यदि वास्तुदेवता की पूजा नहीं की जाती तो राक्षसों के उपद्रव से उस घर में तरह-तरह के विघ्न आते रहते हैं और अन्ततः वह घर सूना हो जाता है। अतएव सुख-सम्पत्ति चाहने वाले सभी व्यक्तियों को वास्तु-अर्चन अवश्यमेव करना चाहिए।।९२-९३।।

विमर्श—बलि और नैवेद्य में अन्तर है। देवता को समर्पित नैवेद्य प्रसाद के रूप में सर्वथा ग्राह्य है तथा प्रसाद ग्रहण नहीं करने से प्रत्यवाय होता है। इसके विपरीत बलि के रूप में समर्पित द्रव्य सर्वथा अग्राह्य होता है। बलिद्रव्य या तो बलिभोजी प्राणियों को दे दिये जाते हैं अथवा उन्हें जल आदि में विसर्जित कर दिया जाता है।

श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचित श्रीतत्त्वचिन्तामणि के तृतीय प्रकाश का
'भावना' भाष्य पूर्ण हुआ।।३।।

●

चतुर्थः प्रकाशः

[मण्डपनिर्माणम्, तोरणध्वजपताकादिनिरूपणम्,
अङ्कुरार्पणमङ्कुरपरीक्षा च]

पिछले अध्याय (प्रकाश) में वास्तुपूजन एवं वास्तुबलि की विधि बताने के बाद इस अध्याय में दीक्षा के लिये मण्डल-निर्माण, तोरण एवं पताका लगाने और अंकुरार्पण की विधि बताई जा रही है।

[मण्डपयोग्यदिनस्थानादिनिरूपणम्]

अथ लग्ने शुभे स्थाने तुषाङ्गारविवर्जिते।
निःशर्करे शल्यहीने तृणादिरहिते समे।।१।।

पूर्वप्रकाशे वास्तुवलिप्रक्रियान्तमभिधाय प्रकाशेऽस्मिन् मण्डपनिर्माणक्रमे वाच्ये तदनुगुणं लग्नादिकं स्थानादिकञ्च निरूपयति—**अथेति**। अथ वास्तुदेवतावलिसमापनानन्तरम्। **शुभे लग्न इति**। अत्र लग्न इति वारादीनामुपलक्षणम्। तदुक्तं शारदायां तृतीयपटले—

नक्षत्रराशिवाराणामनुकूले शुभेऽहनि।
ततो भूमितले शुद्धे तुषाङ्गारविवर्जिते।
पुण्याहं वाचयित्वा तु मण्डपं रचयेच्छुभम्।। इति।

राघवभट्टेनापि तद्व्याख्यानावसरे 'ज्योतिःशास्त्रसमुक्तप्रकारेण नक्षत्रवारराशीनां मध्ये साध्यानुकूले नक्षत्रे साध्यानुकूलराशौ अनुकूलवारे शुभेऽहनि ज्योतिःशास्त्रसमुक्तशुभतिथौ ततो मण्डपं रचयेत्' इत्यभिहितम्। तदुक्तं राजमार्त्तण्डे—

आदित्यद्वयरोहिणीमृगशिरो हस्तो धनिष्ठोत्तरा
पूषा विष्णुमघानुराधपवनैः शुद्धैः सुतारान्वितैः।
सौम्यानां दिवसेषु पापरहिते योगे विरिक्ते तिथौ
विष्टित्यक्तदिने वदन्ति मुनयो वेश्मादिकार्यं शुभम्।। इति।

सर्वमन्यज्ज्योतिःशास्त्रादवगन्तव्यम्।

शुभे स्थान इति। अनेन दीक्षाङ्गमण्डपयोग्यभूमिपरीक्षायाः कर्तव्यतोपदिश्यते, परीक्षामन्तरेण भूमेः शुभत्वाशुभत्वनिर्णयासम्भवात्। तन्मण्डपनिर्माणोपयोगिस्थाननिरूपणाय किञ्चिदुच्यते हयशीर्षपञ्चरात्रे आदिकाण्डे पञ्चमपटले—

एवं ज्ञात्वा विशेषेण ततो भूमिं परीक्षयेत्।
लक्षणैर्देशिकश्रेष्ठो यथा तदधुनोच्यते।।

सुरभीणां रतिर्यत्र पुरुषैः सह सत्तम।
राज्ञां पूर्वं गृहं यस्यामग्नीनां यज्वनां तथा।।
काश्मीरचन्दनामोदा कर्पूरागुरुगन्धिनी।
कमलोत्पलगन्धा च जातीचम्पकगन्धिनी।।
पाटलामल्लिकागन्धा नागकेशरगन्धिनी।
दधिक्षीराज्यगन्धा च मदिरासवगन्धिनी।।
सुगन्धिर्व्रीहिगन्धा च शुभद्रव्यस्वना च या।
सर्वेषां वर्णिनां भूमिः सर्वसाधारणा मता।। (१९-२४) इति।

एवं वर्णनिर्विशेषेण प्रशस्तां भूमिं निरूप्य वर्जनीयभूमिरपि तत्रैव निरूपिता। यथा—

दुर्गन्धा दुःस्वना या च नानावर्णा च दुःपुरा।
वृत्तार्द्धचन्द्रसदृशा विस्ताराद् द्विगुणायता।।
विकर्णा कर्णहीना च वक्रा सूचीमुखी तथा।
द्विकर्णा सूर्पसदृशी गोमुखी च त्रिकोणिका।
षडस्रा शूलसदृशी दन्तिपृष्ठोपमा च या।
सरीसृपसमा या च दिङ्मूढा शकटाकृतिः।
एवं प्रकारा या भूमिर्वर्ज्या यत्नेन देशिकैः।। (२५-२८) इति।

पूर्वं सुरभीणां रतिर्यत्रेत्यादिवचनैर्या प्रशस्ता भूमिरभिहिता, तस्या एव—

सुपद्मा भद्रिका पूर्णा धूम्राऽऽवेगिन्यथापरा।

इत्यनेन सुपद्मा, भद्रा, पूर्णा, धूम्रा चेति चातुर्विध्यमुद्दिश्य तासां लक्षणानि निरूपितानि तत्रैव षष्ठपटले—

तत्र सुपद्मामाह—

चन्दनागुरुकर्पूरगन्धा शुभस्वनार्ज्जुनैः।
तिलकैर्नारिकेलैश्च बर्हिःकाशैश्च शोभिता।
पद्मेन्दीवरसंयुक्ता सा सुपद्मेति विश्रुता।।

भद्रामाह—

नदीसमुद्रायतनतीर्थपर्यन्तशोभिता।
पुष्पवृक्षसमाकीर्णा क्षीरिवृक्षोपशोभिता।।
वनोद्यानलतागुल्मफुल्लस्तम्बसमावृता।
यज्ञीयवृक्षसुक्षेत्रयुक्ता भद्रेति कीर्त्तिता।।

पूर्णामाह—

बकुलाशोकबहुला तथा प्लक्षाम्रलोहितैः।
माधवीवेष्टिता या च मुद्गनिष्पावकोद्रवैः।।

शूकधान्यैश्च पुन्नागैर्गिरिपार्श्वगता च या।
तोयञ्च स्वल्पकं यस्यां पूर्णा सा परिकीर्त्तिता।।

धूम्रामाह—

विल्वार्कस्नुहिपीलूनां वनैर्या परितो वृता।
सशर्करा च कठिना युक्ता कण्टकिभिर्द्रुमैः।।
गृध्रगोमायुकाकानां श्येनानां याऽऽकुला कुलैः।
धूम्रेति कीर्त्तिता सा तु तां यत्नात् परिवर्जयेत्।। (१-९) इति।

एवञ्च प्रागुक्तासु चतसृषु भूमिषु सुपद्मा-भद्रा-पूर्णाख्यानां तिसृणामुपादेयत्वम्, अन्त्यायास्तु धूम्राया वर्जनीयत्वमित्युक्तं भवति। एतदर्थमेव धूम्राया आवेगिनीति विशेषणम्। आवेगिनी शर्करा-कण्टक-गृध्रादिकृतसम्भ्रमेत्यर्थः।

एवं भूमिं निरूप्य तस्याः परीक्षणमाह तत्रैव षष्ठपटले—

ततो भूमिं परीक्षेत पूर्वोदक्प्लवनां शुभाम्।
असङ्कटां तथाच्छन्दामल्पतोयां परिप्लुताम्।।
सम्पूर्यमाणे खाते तु तथाधिकमृदं शुभाम्।।
कुसुम्भसदृशं वर्णं यस्यां न ग्लानिमृच्छति।
न निर्वाति तथा दीपं तोयं शीघ्रं न जीर्यति।।

अत्र सम्पूर्यमाण इत्यादिना प्रतिपादितः क्रमो विशदीकृतो विश्वकर्मप्रकाशे प्रथमाध्याये—

निखनेद्धस्तमात्रन्तु पुनस्तेनैव पूरयेत्।
पांशुनाधिकमध्योना श्रेष्ठा मध्याधमा स्मृता।। इति।

मयमते चतुर्थाध्यायेऽपि—

पूरिते तन्मृदा खाते समता मध्यमा मता।
उत्तमा भूर्मृदाधिक्या हीना हीनमृदा मही।। इति।

कुसुम्भसदृशमित्यादिपरीक्षायाः क्रमस्तु विशदीकृतो हयशीर्षे सौरकाण्डे—

श्वभ्रे वा वर्णसदृशान् कुसुमान् सन्निवेशयेत्।
प्रदोषे पूर्ववत् सूर उद्यमे तान् निरीक्षयेत्।
अम्लानं यस्य वर्णस्य तस्यासौ शुभदा भवेत्।। इति।

तदिदमत्रावधेयम्—

श्वेतारुणा पीतकृष्णा विप्रादीनां प्रशस्यते।

इति हयशीर्षपञ्चरात्रीयषष्ठपटलद्वादशश्लोकेन श्वेता ब्राह्मणानाम्, रक्ता क्षत्रियाणाम्, पीता वैश्यानाम्, कृष्णा शूद्राणां प्रशस्ता भूमिरिति निरूपितम्। एवञ्च श्वेतरक्तपीतकृष्णकुसुमानि प्रदोषकाले श्वभ्रे सन्निवेश्य प्रातर्यद्वर्णकुसुमस्य म्लानिर्न दृश्यते, तद्वर्णस्य सा भूमिः प्रशस्तेति।

'न निर्वाति तथा दीपमि'ति सामान्यतो यः परीक्षाक्रम उक्तस्तत्र विशेषमाह हयशीर्षे सौरकाण्डे—

श्वभ्रान्तःकुम्भवक्त्रेषु आमपात्रं निवेशयेत्।
गव्येन हविषाऽऽपूर्य पूर्ववद् वर्त्तिकल्पना।।
पूर्वादिक्रमयोगेण ज्वलनं वीक्षयेत्ततः।
यद्देशे भिद्यते पात्रं या च वर्त्तिर्विनश्यति।।
तस्य सा शस्यते नैव शस्यते यस्य दीप्यते।
सर्वा ज्वलति वै यत्र सर्वकामप्रदा तु सा।। इति।

तथाच श्वभ्रमेकं विधाय तत्र चतुर्दिक्षु चतुरः कुम्भान् संस्थाप्य तन्मुखेष्वेकैकमामपात्रं निधाय तत् पात्रं घृतेनापूर्य तत्र प्रत्येकं वर्त्तिं प्रज्वाल्य ज्वलनं वीक्षेत। प्राच्यां दीपशिखाया उज्ज्वलत्वे तत्र मण्डपादिनिर्माणं ब्राह्मणस्य प्रशस्तम्, दक्षिणादिषु दिक्षु तथात्वे यथाक्रमं क्षत्रियादेः, सर्वासां शिखानां समत्वे सर्वेषाम्। अत्र सर्वकामप्रदेति सर्वेषां कामप्रदेत्यर्थः। यत्र तु पात्रभेदो दीपशिखाविनाशो वा जायते सा भूमिस्तद्-वर्णस्य न प्रशस्तेति फलितम्।

तोयं शीघ्रं न जीर्यतीत्यस्य परीक्षाक्रमं स्फुटमाह तत्रैव—

प्रदोषे वारिणा गर्त्तं पूर्य सूर्योदये गुरुः।
वीक्षेद् यत्नेन मतिमानुत्तमाधममध्यमाम्।।
तोये तिष्ठति श्रेष्ठा स्यात् सपङ्का मध्यमा भवेत्।
शुष्का विस्फुटिता हीना वर्ज्या यत्नेन वै मही।। इति।

सुगममेतत्।

वास्तुपूजन के बाद शुभ लग्न देखकर शुभ स्थान में मण्डप का निर्माण करना चाहिए। शुभ लग्न का तात्पर्य है कि जिस दिन ज्योतिषशास्त्र के अनुसार राशि, नक्षत्र एवं ग्रह आदि अनुकूल हों तथा दिन भी दीक्षाकार्य के लिये अनुकूल एवं शुभ हो। शुभ-स्थान अर्थात् ऐसा स्थान जो समतल हो और जहाँ न तो कँटीली झाड़ियाँ हों और न जहाँ राख, कोयला आदि बिखरा पड़ा हो।।१।।

विमर्श—कर्मकाण्ड परक ग्रन्थों में भूमिचयन का विस्तार से निरूपण किया गया है। वस्तुतः शुभ लक्षणों वाली भूमि का चयन वास्तुयाग के पहिले ही कर लिया जाता है। वास्तुयाग के बाद ज्योतिषशास्त्र के अनुसार अनुकूल राशि और नक्षत्र वाले दिन को शुभ लग्न में मण्डप का निर्माण प्रारम्भ करना चाहिए।

[मण्डपपरिमाणनिरूपणार्थं हस्तस्वरूपम्]

पुण्याहं वाचयित्वा तु मण्डपं रचयेत् सुधीः।
पद्महस्तेन विधिवत् पूर्वोक्तेन करेण वा।।२।।

हस्तषोडशको वाऽपीत्यादिवक्ष्यमाणमण्डपपरिमाणनिरूपणाय हस्तपरिमाणमाह—**पद्मेति**। पद्महस्तेन पूर्वोक्तेन चतुर्विंशत्यङ्गुलाढ्यमित्यादिना तृतीयप्रकाशेऽभिहितेन वा करेण मण्डपं रचयेदिति सम्बन्धः।

अन्य शुभ कार्यों की तरह पुण्याहवाचन कराने के बाद पिछले अध्याय में बताये गये हस्तमान से सोलह (१६) या बारह (१२) हाथ का अथवा विकल्पतः सोलह या बारह पद्महस्त का मण्डप बनाया जाना चाहिए।।२।।

[तत्र पद्महस्तस्वरूपम्]

मानहस्तो यदि भवेद् वेदाङ्गुलसमन्वितः।
स एव पद्महस्तः स्यादिति तन्त्रविदो विदुः।।३।।

तत्र किं पद्महस्तस्वरूपमित्याह—**मानेति**। कर्त्तुर्दक्षिणहस्तस्येत्यादिमानाङ्गुलपरिमाणपरिमितचतुर्विंशत्यङ्गुलात्मको मानहस्तः, स यदि चतुरङ्गुलसमन्वितो भवेत् तदा स पद्महस्त इति तन्त्रविदो विदुः। एतेन तान्त्रिकोपासनाङ्गमण्डपादिनिर्माणमुक्तलक्षणहस्तपरिमाणानुसारेणैव कर्त्तव्यमिति सूच्यते।

पद्महस्त का अर्थ है—एक हाथ चार अंगुल। एक हाथ की लम्बाई २४ अंगुल मानी गई है। उस तरह पद्महस्त का अर्थ है—२४ + ४ = २८ अंगुल।।३।।

विमर्श—अन्य तन्त्र ग्रन्थों में चौदह (१४) हाथ के मण्डप का भी विधान है। इनमें से १६ हाथ का मण्डप उत्तम, १४ हाथ का मण्डप मध्यम और १२ हाथ का मण्डप अधम परिमाण वाला माना जाता है। इस सम्बन्ध में शास्त्र का निर्देश है कि यदि मण्डप का निर्माण गृह-परिसर में किया जा रहा है तो उसे घर के ईशान कोण में बनाया जाय।

[मण्डपस्य परिमाणभेदाः]

हस्तषोडशको वाऽपि मण्डपोऽर्ककरोऽपि वा।

[मण्डपस्वस्वरूपम्, स्तम्भानां संख्यापरिमाणस्थानानि च]

चतुरस्र-चतुर्द्वार-वेदिकादिसमन्वितः ।।४।।
षोडशस्तम्भसंयुक्तश्चत्वारस्तेषु मध्यगाः।
अष्टहस्तसमुच्छ्राया वेदिकापरितः स्थिताः।।५।।
पञ्चहस्तप्रमाणास्त ऋजवो द्वादशाभितः।

[स्तम्भनिखननक्रमः]

तत्पञ्चमांशं निखनेन्मेदिन्यां देशिकोत्तमः।।६।।

मण्डपस्वरूपमाह—**हस्तेति**। मण्डपः षोडशहस्तो द्वादशहस्तो वा। एतेन मण्डपस्योत्तममधमञ्च परिमाणं प्रदर्शितम्। तत्र षोडशहस्तो मण्डप उत्तमपरिमाणः, द्वादशहस्तोऽधमपरिमाण इति। अत्रापिशब्देन चतुर्दशहस्तात्मको मध्यमपरिमाणोऽपि मण्डपः समुच्चीयते। अत एव राघवभट्टेन—

स्वल्पो द्वादशहस्तोऽयं द्विद्विवृद्ध्या ततः क्रमात्।

इति प्रतिष्ठासारसंग्रहवचनमभिधाय 'एतेन चतुर्द्दशहस्तस्य मध्यमतोक्ता षोडशहस्तस्योत्तमता च' इत्यनेन द्वादशचतुर्द्दशषोडशहस्तानां मण्डपानां प्रथमपरिमाणतो द्विद्विवृद्ध्या क्रमेणाधममध्यमोत्तमपरिमाणत्वमुपपादितम्। तथा तेनैवान्यत्रापी'त्यभिधाय—

गृहस्येशानकोणे तु मण्डपं कारयेद् बुधः।
द्वादशैरष्टषड्हस्तैः षोडशैर्वा समन्ततः।। इत्युक्तम्।

अत्राष्टषड्हस्तैश्चतुर्द्दशहस्तैरित्यर्थः। एवञ्च प्रकृतेऽपि षोडशहस्त उत्तमपरिमाणः द्वादशहस्तोऽधमपरिमाणः। अपिशब्देन समुच्चीयमानश्चतुर्द्दशहस्तो मध्यमपरिमाण इति त्रिविधो मण्डपः श्रीमत्पूर्णानन्दपरमहंसानामप्यभिमत इत्यवधेयम्।

यत्तु शारदायां तृतीयपटले—

पञ्चभिः सप्तभिर्हस्तैर्नवभिर्वा मितान्तरम्।
षोडशस्तम्भसंयुक्तं चत्वारस्तेषु मध्यगाः।।

इत्यादिमण्डपलक्षणमुक्तं तेनापि प्रागुक्तपरिमाणत्रयमेव सूचितमाचार्यैः। तथाहि तत्र पञ्चभिः सप्तभिरिति समुच्चयेन द्वादशसंख्या लभ्यते, एवं पञ्चभिर्नवभिरित्येतयोः समुच्चयेन चतुर्द्दशसंख्या लभ्यते। तथा सप्तभिर्नवभिरित्येतयोः समुच्चयेन षोडशसंख्यावगम्यते। ततश्च पञ्चभिः सप्तभिर्नवभिर्वा मितमन्तरं यस्येत्यर्थे श्रीमल्लक्ष्मणाचार्यमतेऽपि मण्डपानां प्रागुक्तरीत्याधममध्यमोत्तमपरिमाणत्वमुक्तं भवति। एतदभिप्रायेणैव राघवभट्टेन 'पञ्चभिः सप्तभिरिति समुच्चितम्' तथा 'पञ्चभिर्नवभिरित्यन्वेति' तथा 'सप्तभिर्नवभिरित्यन्वेती'ति चोक्तम्। वेदिकादीत्यादिपदेन ध्वजादीनां परिग्रहः। द्वारवेदिकादिलक्षणन्त्वग्रे वक्ष्यते।

षोडशेति। स मण्डपः षोडशस्तम्भसंयुक्तो भवतीत्यर्थः। तेषां स्तम्भानां स्थानविभागमाह—**चत्वार इत्यादिना।** तेषु षोडशस्तम्भेषु मध्ये चत्वारो मध्यगाः मण्डपमध्यप्रदेशगा वेदिकायाश्चतुष्कोणेषु स्थितास्ते चाष्टहस्तसमुच्छ्राया भवन्ति। अष्टहस्तमौन्नत्यं चतुर्णां वेदिकाकोणस्थस्तम्भानामित्यर्थः।

पञ्चेति। बहिर्द्वादशस्तम्भास्तु पञ्चहस्तप्रमाणा भवन्ति। **ऋजव इति।** ते षोडशस्तम्भा एव ऋजवः अवक्रा ग्राह्या इत्यर्थः। शारदायां तृतीयपटलेऽपि—

......................चत्वारस्तेषु मध्यगाः।
अष्टहस्तसमुच्छ्रायाः संस्थाप्या द्वादशाभितः।
पञ्चहस्तप्रमाणास्ते विच्छिद्रा ऋजवः शुभाः।। इति।

अत्र मूले स्तम्भनिर्माणे विहितो वृक्षादिनोपदिष्ट इत्यन्यतः प्रदर्श्यते। तथाच राघवभट्टधृतपञ्चरात्रे—

सारदारुभवान् स्तम्भान् दृढान् कुर्यादृजून् समान्। इति।

विशिष्याह राघवभट्टधृतक्रियासारे—

यज्ञीवृक्षो वेणुर्वा क्रमुकः स्तम्भकर्मणि।
अन्ये विशुद्धवृक्षा वा भवेयुर्नान्यभूरुहाः।। इति।

स्तम्भे निषिद्धोऽपि वृक्ष उपदिष्टस्तत्रैव यथा—

गृहशल्यः स्वयं शुष्कः कुटिलश्च पुरातनः।
असौम्यभूमिजनितः सन्त्याज्यः स्तम्भकर्मणि।। इति।

तत्र स्तम्भानां बाह्याभ्यन्तरभेदेन यदष्टहस्तपञ्चहस्तपरिमाणत्वमुक्तं तदुत्तमपरिमाणमण्डपविषयं मध्यमाधमयोस्तु तदनुसारेण परिमाणं निर्णेयम्। एतदभिप्रायेणैव राघवभट्टेनापि 'मध्यमाधमयोर्द्वादशस्तम्भप्रमाणं त्रैराशिकेनानेयम्' इत्युक्तम्।

अत्र बहिरन्तश्च स्तम्भन्यास आग्नेयादिक्रमेणैव कर्त्तव्यः। तथाच राघवभट्टधृतं वचनम्—

वेदिकोणेषु विन्यस्येत् स्तम्भान् वेदस्वरूपकान्।
आग्नेयादिक्रमेणैव..............................इति।।

तेन वेदिबहिर्द्वादशस्तम्भस्थापनमपि आग्नेयादिक्रमेणैवेति बोध्यम्।

तत्पञ्चमांशमिति। तत्पञ्चमांशं तेषां प्रागुक्ततत्तत्परिमाणपरिमितानां स्तम्भानां पञ्चमांशमित्यर्थः। तथाच 'स्तम्भोच्छ्रायं पञ्चधा विभज्य पञ्चमांशं मेदिन्यां निखनेदिति' राघवभट्टः।

इस चौकोर मण्डप में चार द्वार और वेदी का निर्माण किया जाय। सोलह खम्भों पर टिके इस मण्डप में वेदी के समीप के चारो खम्भों की ऊँचाई आठ हाथ तथा बाहरी खम्भों की ऊँचाई पाँच हाथ होनी चाहिए। इन खम्भों को जमीन में जिन गड्ढों में गाड़ा जाय, उसकी गहराई खम्भे की लम्बाई का पञ्चमांश (एक बटा पाँच) होनी चाहिए।।४-६।।

विमर्श—दीक्षामण्डप-निर्माण के लिये यज्ञीय काष्ठ (वट-आम-पीपल-पाकड़ आदि) के सुन्दर, सुडौल, सीधे, सरल और घुनरहित बिना छेद वाले खम्भे ही ग्राह्य हैं।

[बहिर्द्वादशस्तम्भस्थानं द्वारपरिमाणञ्च]

द्वारस्य पार्श्वयोर्द्वौ द्वौ कोणे चत्वार एव च।
हस्तद्वयप्रमाणेन द्वारं कुर्याद् विचक्षणः।।७।।

द्वादशाभित इत्युक्तम्, तस्यैव क्रमं दर्शयति—**द्वारस्येति**। प्रतिदिशं द्वौ द्वाविति चतुर्दिक्षु अष्टौ स्तम्भा आग्नेयादिचतुष्कोणेषु चत्वार इति मिलित्वा द्वादश स्तम्भा भवन्तीत्यर्थः। **हस्तद्वयेति**। अत्र—

कनीयसि स्याद् द्विकरं चतुरङ्गुलवृद्धितः।
मध्यमोत्तमयोर्द्वारम्...............................।।

इति राघवभट्टधृतपाञ्चरात्रप्रमाणानुसारेण द्वारस्य द्विहस्तत्वमधमपरिमाणमण्डपे, मध्यमोत्तमयोस्तु चतुश्चतुरङ्गुलवृद्ध्या परिमाणान्तरत्वमवगम्यते। तदत्र विशेषाभावेऽपि प्रागुक्तपाञ्चरात्रवचनैकवाक्यतया हस्तद्वयप्रमाणेनेत्यस्याधमपरिमाणमण्डपद्वारपरत्वं मध्यमोत्तमयोस्तु चतुश्चतुरङ्गुलवृद्ध्या द्वारपरिमाणनिर्णयः कर्त्तव्यः। इत्येव विचक्षणपदेन सूचितमिति प्रतिभाति।

[स्थलान्मण्डपभूमेरुच्छ्रायः]

स्थलादर्काङ्गुलोच्छ्रायं मण्डपस्थलमीरितम्।

[मण्डपवेष्टनम्]

नारिकेलदलैर्वंशैर्वेष्टयेद् द्वारपार्श्वतः।।८।।

[द्वारनिर्णयः]

समसूत्रं चतुर्द्वारं चतुस्तोरणभूषितम्।

स्थलादिति। स्थलान्मण्डपस्थलस्यौन्नत्यं द्वादशाङ्गुलमित्यर्थः।

बाहर लगाये जाने वाले बारह खम्भों में एक-एक खम्भा मण्डप के चारो कोनों में और दो-दो खम्भे चारो दिशाओं में बनाये गये चारो द्वारों में लगाये जायँ। भूमितल से बारह अंगुल ऊँचे इस मण्डप के प्रत्येक द्वार की चौड़ाई दो-दो हाथ होनी चाहिए। मण्डप को खुला नहीं रखा जाता। अतः इसे नारियल के पत्तों अथवा बाँस से बनी टट्टियों से घेर दिया जाय। चारो द्वार पर भी बाँस या नारियल के पत्तों का फाटक लगाया जाय। चारो दिशाओं में जो चार द्वार बनाये गये हैं, उन पर अलग-अलग वृक्षों के पत्तों का तोरण लगाया जाय।।७-८।।

[दिग्भेदेन तोरणभेदाः]

न्यग्रोधतोरणं पूर्वे याम्ये चौदुम्बरं मतम्।।९।।
पश्चिमेऽश्वत्थसंभूतमुत्तरे प्लक्षतोरणम्।

[प्रागुक्तन्योग्राधीनामभावे कर्त्तव्यम्]

पूर्वे वा प्लक्षसंभूतं न्यग्रोधश्चोत्तरे तथा।।१०।।

[तोरणस्तम्भानामुच्छ्रायपरिणाहौ]

एतेषामेव वृक्षाणामभावे तु शमीद्रुमः।
जम्बूखदिरसाराश्च शाला वा तोरणे स्मृताः।।११।।

समसूत्रमित्यादि मण्डपं कुर्यादिति सम्बन्धः। तत्र दिग्भेदेन तोरणव्यवस्थामाह—**न्यग्रोधेत्यादि।** न्यग्रोधो वटवृक्षः। प्लक्षः पर्कटीवृक्षः। स्पष्टमन्यत्।

कल्पान्तमाह—**पूर्वे वेति।** कल्पद्वयमेवैतत् प्रदर्शितं वैदिकसर्वस्वधृतसोमशम्भुना—

प्लक्षमौडुम्बराश्वत्थवटं वै तोरणं न्यसेत्।
पूर्वादितो विधातव्यो यद्वाद्यन्तविपर्ययः।। इति।

अत्राद्यन्तविपर्यय इत्यनेन पूर्वे वटतोरणमुत्तरे प्लक्षतोरणमिति श्रीतत्त्वचिन्तामण्युक्तः प्रथमः कल्पो दर्शितः। अन्यच्च वैदिकसर्वस्वधृतं वचनम्—

न्यसेन्न्यग्रोधमैन्द्र्यान्तु याम्यामौडुम्बरं तथा।
वारुण्यां पिप्पलञ्चैव कौवेर्यां प्लक्षकं न्यसेत्।। इति।

शारदायां तृतीयपटले—

द्वारे द्वारे तोरणाः स्युः क्रमात् क्षीरिमहीरुहाम्।

इत्येक एव कल्पोऽभिहितः। तत्र क्षीरिमहीरुहामित्यस्य व्याख्याने राघवभट्टेन क्षीरिमहीरुहामिति वटोडुम्बराश्वत्थप्लक्षाणाम्—

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षाः क्षीरिमहीरुहाः।

इति परिभाषणादित्युक्तम्।

एतेषामिति। एतेषां प्रागुक्तन्यग्रोधादीनामभावे शमीद्रुम एव सर्वत्र तोरणे विनियोज्य इत्यर्थः। अत्र सर्वेषामिति बहुवचननिर्देशेन प्रागुक्तानां चतुर्णामेवालाभे शमीद्रुमविनियोगव्यवस्था सूचिता। एकस्यापि लाभे तेनैव सर्वे तोरणाः कर्त्तव्या इति बोध्यम्। अत एव राघवभट्टधृतसोमशम्भुना—

अलाभादेकमेवैषां सर्वाशासु निवेशयेत्।

इत्युक्तम्। अत्र सोमशम्भुवचने एकमेवेति सावधारणनिर्द्देशेन द्वयोस्त्रयाणां वा लाभेऽपि तेषां विनियोगमकृत्वा एकतमेनैव सर्वे तोरणा निष्पादनीया इति सूचितम्।

राघवभट्टधृतसिद्धान्तशेखरे—

एकमेषामलाभे स्यात्तदभावे शमीद्रुमः।
जम्बूखदिरसाराश्च तालो वा तोरणे स्मृताः।।

इत्यनेन शमीद्रुमस्याप्यलाभे क्रमेण जम्बूखदिरादीनां तोरणे विनियोग उक्तः।

तोरणलक्षणं विशिष्याह हयशीर्षपञ्चरात्रे आदिकाण्डे—

अश्वत्थोडुम्बरश्चैव न्यग्रोधः प्लक्ष एव च।
तोरणार्थे च कथिताः पूर्वादिषु यथाक्रमम्।।
एकहस्तं न्यसेद् भूमौ चतुर्हस्तं तथोच्छ्रयेत्।
तिर्यक्फलकमानं स्यात् स्तम्भानामर्द्धमानतः।।
द्विहस्तान्तरमन्योऽन्यं तोरणं सम्प्रकल्पयेत्।
शुक्लवस्त्रयुगाच्छन्नान् दर्भपिञ्जलसंयुतान्।।

पुष्पमालापरिक्षिप्तांस्तोरणान् परिकल्पयेत्।
वृत्तं वा चतुरस्त्रं वा द्विषट्काष्टाङ्गुलन्तु वा।।
षट्-चतुर्द्व्यङ्गुलं कार्यं तोरणं निर्व्रणं समम्।
तोरणस्तम्भमूलेषु कलसान् मङ्गलाङ्कुरान्।।
प्रदद्यादुपरिष्टात्तु दद्याच्चक्रं सुदर्शनम्।
कलसं वर्द्धमानं वा वसुभागेन कल्पयेत्।।
स्योना पृथीति मन्त्रेण स्थाप्याः पूज्याश्च तोरणाः।। इति।

अत्र हयशीर्षवचने 'दद्याच्चक्रं सुदर्शन'मिति वैष्णवमण्डपपरम्। तत एषां तोरणानां नामान्यपि निर्दिष्टानि—

सुशोभनं भवेत् पूर्वे सुभद्रं दक्षिणे तथा।
सुकर्मा पश्चिमे भागे सुहोत्रन्तु तथोत्तरे।। इति।

अत्र सुशोभन-सुभद्र-सुकर्म-सुहोत्राख्या देवताः पूर्वादितोरणचतुष्करूपेण यज्ञविघ्ननिवारणार्थमवस्थिता इति तत्तद्देवताधिष्ठितत्वात् तोरणानामपि तत्तन्नाम्ना व्यपदेशः। तदुक्तं राघवभट्टधृतमहाकपिलपञ्चरात्रे—

देवास्तोरणरूपेण संस्थिता यज्ञमण्डपे।
विघ्नविध्वंसनार्थाय रक्षार्थं त्वध्वरस्य च।। इति।

अत एव देवानाममीषां तोरणेषु पूजनमुपदिष्टं तत्रैव—

सुशोभनं तं पूर्वस्यामृग्वेदादिसुमन्त्रितम्।
ईषे त्वेति च मन्त्रेण सुभद्राख्यन्तु दक्षिणे।।
सुकर्माख्यन्तु वारुण्यां सामवेदादिकेन तु।
शन्नो देवीति मन्त्रेण सुहोत्रं तूत्तरे न्यसेत्।। इति।

पूर्व दिशा वाले द्वार पर वटवृक्ष के पत्तों का, दक्षिण द्वार पर उदुम्बर (गूलर) के पत्तों का, पश्चिम द्वार पर पीपल के पत्तों का तथा उत्तरी द्वार पर प्लक्ष (पाकड़) के पत्तों का तोरण लगाया जाय। विकल्पतः पूर्व द्वार पर पाकड़ और उत्तर द्वार पर बरगद के पत्तों का तोरण लगाया जा सकता है। यदि ये उपलब्ध नहीं हों तो शमी, जामुन और शाल के पत्तों के तोरण भी लगाये जा सकते हैं।।९-११।।

[तोरणस्तम्भानामुच्छ्रायपरिणाहौ]

स्तम्भोच्छ्रायः स्मृतस्तेषां सप्तहस्तैः पृथक् पृथक्।
दशाङ्गुलप्रमाणेन तत्परीणाह ईरितः।।१२।।

तोरणस्तम्भानामुच्छ्रायं निर्दिशति—**स्तम्भेति।** सप्तहस्तैरित्युत्तमपरिमाणमण्डप-तोरणविषयम्, पृथक्पृथगित्यनेन मध्यमाधमपरिमाणमण्डपयोस्तोरणस्तम्भानां क्रमेण षट्-पञ्चहस्तरूपभिन्नपरिमाणता सूचिता। स्फुटमाह वास्तुशास्त्रे—

पञ्चहस्तप्रमाणास्ते विस्तारेण द्विहस्तकाः।
षड्ढस्ता मध्यमाः प्रोक्ताः सप्तहस्तास्तथोत्तमाः।। इति।

अत्र विस्तारेण द्विहस्तका इति तिर्यक्फलकमानमुक्तम्। एवञ्च षोडश-हस्तात्मकोत्तमपरिमाणमण्डपे सप्तहस्तप्रमाणाः, चतुर्दशहस्तात्मकमध्यमपरिमाणमण्डपे षड्हस्तप्रमाणाः, द्वादशहस्तात्मकाधमपरिमाणमण्डपे तु तोरणस्तम्भाः पञ्चहस्तप्रमाणा भवन्तीति बोध्यम्।

स्तम्भानां व्यासमाह—दशेति। परीणाहो विस्तारः।

वृत्तं वा चतुरस्रं वा द्विषट्काष्टाङ्गुलन्तु वा।

इत्यादिप्रागुल्लिखितहयशीर्षवचनेन स्तम्भानां वृत्तत्वं चतुरस्रत्वं वेति कल्पद्वयं द्वादशाङ्गुलादिविस्तारपरिमाणभेदाश्च दृश्यन्ते।

तोरण के लिये जो खम्भे लगाये जायँ, उनका विस्तार (मोटाई) दस अंगुल तथा ऊँचाई सात हाथ के मान से अलग-अलग होनी चाहिए।।१२।।

विमर्श—तोरण के खम्भे की ऊँचाई का जो सात हाथ का मान बताया गया है, वह सोलह हाथ के उत्तम परिमाण वाले मण्डप के लिये है। चौदह (१४) हाथ वाले मध्यम परिमाण के मण्डप के लिये तोरणस्तम्भ की ऊँचाई ६ हाथ तथा १२ हाथ वाले मण्डप के लिये पाँच हाथ होनी चाहिए।

[तोरणस्तम्भशिरसि फलकन्यासस्तत्र शूलारोपणञ्च]

तिर्यक्फलकमानं स्याद्दैर्घ्ये सार्द्धकरद्वयम्।
शूलान्याकल्पयेन्मध्ये तोरणे हस्तमानतः।।१३।।

तिर्यगिति। तोरणस्तम्भयोरुपरि देहलीरूपं यत् तिर्यक् फलकं तस्य परिमाणं दैर्घ्ये दीर्घतायां सार्द्धकरद्वयं स्यादित्यर्थः। एतच्च परिमाणं 'स्तम्भोच्छ्रायः स्मृतस्तेषां सप्तहस्तैरि'त्युक्तोत्तमपरिमाणतोरणफलकविषयम्। मध्यमाधमपरिमाणतोरणफलक-परिमाणन्तु क्रमेण षट्षडङ्गुलन्यूनतया कल्पनीयम्। एतदर्थप्रतिपादनायैव—

तिर्यक्फलकमानं स्यात् स्तम्भानामर्द्धमानतः।

इति शारदातिलकतृतीयपटलवचनव्याख्याने राघवभट्टेन 'इदं तिर्यक्फलक-मानमुत्तमस्यैव। अन्ययोः षट्षडङ्गुलन्यूनता ज्ञेया' इत्युक्तम्। एवञ्च उत्तमपरिमाण-तोरणे सार्द्धकरद्वयम्, मध्यमपरिमाणे ततः षडङ्गुलन्यूनम्, अधमपरिमाणेऽङ्गुले ततोऽपि चतुरङ्गुलन्यूनतया करद्वयमात्रं फलकं कल्पनीयमिति पर्यवस्यति।

यत्तु हयशीर्षपञ्चरात्रे आदिकाण्डे चतुर्विंशपटले पञ्चहस्तपरिमाणतोरणस्तम्भं प्रकृत्य—

एकहस्तं न्यसेद् भूमौ चतुर्हस्तं तथोच्छ्रयेत्।
तिर्यक्फलकमानं स्यात् स्तम्भानामर्द्धमानतः।

इति स्तम्भार्द्धपरिमाणत्वं फलकस्याभिहितं तन्निखननावशिष्टचतुर्हस्तार्द्धमान-परमित्यवधेयम्। ततश्च तत्रापि पञ्चहस्तस्तम्भकल्पे फलकस्य द्विहस्तत्वमेव पर्यवस्यतीति सर्वं निर्विवादम्।

शूलानीति। मध्ये निरुक्तफलकमध्यप्रदेशे शूलानि आकल्पयेन्निवेशयेदित्यर्थः। अयं शूलारोपः प्रतितोरणमेकैकशः कर्त्तव्यः। तदुक्तं राघवभट्टेन शारदातिलक-टीकायाम्—'शूलानीति बहुवचनं चतुःसंख्यापरम्, तोरण इत्येकवचनं जातौ, तेन प्रतितोरणमेकमेकं शूलं कार्यम्' इति। अत्र—

तोरणं घटयित्वैव मूर्ध्नि शूलत्रयं न्यसेत्।।
अग्रयोर्मध्यभागे च पट्टिकायां त्रिशूलकान्।।

इति राघवभट्टधृत-क्रियासार-मन्त्रमुक्तावलीवचनैकदेशाभ्यां प्रतितोरणफलकं शूलत्रयनिवेशनमित्यपि कल्पान्तरमस्ति। अत्र परिणाहः षड्भागः एतच्च मण्डपत्रये समानमिति राघवभट्टाः।

तोरण के खम्भों के ऊपर देहली के रूप में जो तिरछा फलक लगाया जाता है, उसकी लम्बाई अढ़ाई हाथ होनी चाहिए। प्रत्येक तोरण में एक-एक हाथ के शूल भी स्थापित किये जायँ।।१३।।

विमर्श—फलक की जो अढ़ाई हाथ की लम्बाई बताई गई है, वह सात हाथ लम्बे उत्तम परिमाण वाले स्तम्भ के लिये है। मध्यम और अधम परिमाण वाले खम्भों के लिये इनकी लम्बाई यथा अनुपात छः और चार अंगुल छोटी होती है।

शूल का अर्थ है—त्रिशूल। यह त्रिशूल समजातीय लकड़ी का बनाया जाता है। इसकी लम्बाई एक हाथ होती है।

सरलं मध्यशृङ्गं स्यात् किञ्चिद्वक्रञ्च पक्षयोः।
उभयं तत्समाख्यातं द्व्यङ्गुलं रोपयेत्तदा।।१४।।

शूलस्वरूपमाह—सरलमिति। शूलास्त्रिशृङ्गा भवन्ति, तत्र मध्यशृङ्गं सरलमवक्रं पक्षयोः मध्यशृङ्गपार्श्वयोः उभयं तच्छृङ्गं किञ्चिद् वक्रं स्यात्। तेषाञ्च शूलानां द्व्यङ्गुलं रोपयेत् तोरणफलक इति शेषः। तदुक्तं राघवभट्टेन मध्यकील-स्तीक्ष्णाग्र ऋजुस्तमभितो द्वौ तीक्ष्णाग्रौ वक्रौ मध्यकीलदेशगतवक्रभागाविति। राघवभट्टधृतपिङ्गलामतेऽपि—

शूलेन चिह्निताः कार्या द्वारदेशाः स्वमस्तके।
ऋजुर्वै मध्मशृङ्गं स्यात् किञ्चिद्वक्रन्तु पक्षयोः।
उभयं तत् समाख्यातं द्व्यङ्गुलं रोपयेत्तदा।। इति।

अत्र यस्यां दिशि यद् यत्तोरणकाष्ठं विहितं शूलान्यपि तत्र तत्र तेन तेनैव कर्त्तव्यानीत्यवधेयम्, एवमेव राघवभट्टाः।

शूल या त्रिशूल का मध्यवर्ती शृंग (नोक) सीधी लकड़ी का और दोनों बाजुओं के शृंग वक्र (टेढ़ी) लकड़ियों के बनाये जायँ। इन्हें तोरणफलक के मध्य में दो अंगुल की ऊँचाई पर लगाया जाय॥१४॥

[अत्र वैष्णवानां विशेषः]

वैष्णवेषु च तन्त्रेषु विशेषोऽत्र निगद्यते।।१५।।
मस्तके द्वादशांशेन शङ्ख-चक्र-गदाम्बुजम्।
प्रागादिक्रमयोगेण न्यसेत्तेषां स्वदारुजम्।।१६।।

तोरणफलक पर त्रिशूल लगाये जाने का विधान शैव और शाक्त दीक्षा के लिये है। वैष्णव दीक्षा में शूल के स्थान पर शंख-चक्र और पद्म लगाये जाते हैं। ये विष्णु-आयुध उसी लकड़ी से बनाये जायँ, जिनसे तोरणफलक बनाया गया है। इनका मान बारह अंगुल है। वैष्णव विधान के अनुसार पूर्व दिशा के तोरणफलक पर शंख, दक्षिण में चक्र, पश्चिम में गदा और उत्तर के तोरणफलक पर पद्म (कमल) की स्थापना की जाय॥१५-१६॥

गन्धपुष्पाम्बरोपेतान् कुम्भांस्तेषु विनिक्षिपेत्।
ध्रुवं धरां वाक्पतिञ्च विघ्नेशं तत्र पूजयेत्।
मण्डपस्य च कोणस्थकलसेषु क्रमादमी।।१७।।
गलितोदकसम्पूर्णा वाम्रपत्रोपशोभितौ।
स्वर्णादिकलसौ द्वौ द्वौ द्वारे द्वारे निवेशयेत्।।१८।।
अमृतो दुर्जयश्चैव सिद्धार्थो मङ्गलस्तथा।
गन्धपुष्पादिभिर्मन्त्रैः क्रमादेतान् प्रपूजयेत्।।१९।।

एवं शूलन्यासे शैवागमप्रक्रियामभिधाय वैष्णवागमप्रक्रियामाह—वैष्णवेष्विति। अत्र प्रागुक्तशूलस्थाने पूर्वादिक्रमेण फलकानां मस्तके स्वदारुजं तोरणदारुमयं शङ्ख-चक्र-गदाम्बुजं न्यसेदित्यर्थः। तथाच पूर्वतोरणे शङ्खम्, दक्षिणतोरणे चक्रम्, पश्चिमतोरणे गदाम्, उत्तरतोरणे च पद्मं न्यसेदिति। द्वादशांशेनेति तोरणस्तम्भद्वादशांशेनेत्यर्थः। अत्र वैष्णवानामयं विशेषः शारदायां नोक्तः। राघवभट्टेन तु—

वैष्णवे द्वादशांशेन शङ्खचक्रगदाम्बुजम्।
प्रागादिक्रमयोगेण न्यसेत्तेषां स्वदारुजम्॥

इति वास्तुशास्त्रीयवचनमुल्लिख्य एषां स्वदारुजत्वोक्तेः शैवे एतत्स्थानीयानां शूलानां न्यासादेव स्वदारुजत्वं प्राप्तमित्यभिहितम्। तच्छैवे वैष्णवे च तोरणे दारुमयाण्येव शूलशङ्खादीनि कर्त्तव्यानीति निष्कर्षः।

पुष्पहार और वस्त्र से अलंकृत तथा चन्दन-चर्चित एक-एक कलश प्रत्येक तोरणफलक में स्थापित करके उनमें ध्रुव, धरा, वाक्पति और गणेश की पूजा की

जाय। इसी तरह प्रत्येक द्वार के दोनों बाजुओं में स्वर्ण आदि के दो-दो कलश तथा प्रत्येक कोण में एक-एक कलश स्थापित किये जायँ। उनमें सुगन्धित जल भरकर वस्त्र और पुष्पमालाओं से उन्हें अलंकृत किया जाय। ये अमृत, दुर्जय, सिद्धार्थ और मङ्गलकलश हैं। द्वार पर स्थापित कलशों में शक्र (इन्द्र) आदि लोकपालों की पूजा उनके मन्त्रों से की जाय॥१७-१९॥

पूज्या द्वारस्थकुम्भेषु शक्राद्यास्तन्मनूत्तमैः।
दिक्षु ध्वजान् निबध्नीयाल्लोकपालसमप्रभान्॥२०॥
पञ्चहस्त ध्वजाः कार्या व्यायामेन द्विहस्तकाः।
सप्तहस्ता ध्वजा वा स्युर्विस्ताराद्द्वादशाङ्गुलाः॥२१॥
दण्डश्च वंशजस्तेषां दशहस्तप्रमाणतः।
दिग्गजान् विलिखेन्मन्त्री ध्वजमध्ये सुलक्षणान्॥२२॥

ध्वजारोपणमाह—**दिक्ष्वित्यादिना सुलक्षणानित्यन्तेन।** पूर्वादिदिक्षु मण्डप-तोरणयोर्मध्यभागे क्रमेण लोकपालसमप्रभान् अष्टौ ध्वजान् निबध्नीयादित्यर्थः। तदुक्तं वैदिकसर्वस्वधृतहयशीर्षे—

बाह्यदेशे तोरणस्य मण्डपाभ्यन्तरे तथा।
अष्टौ ध्वजाः स्थापनीयाः पूर्वादिक्रमयोगतः॥ इति।

लोकपालसमप्रभानिति लोकपालानां वर्णानाह शारदायां चतुर्थपटले—

पीतो रक्तोऽसितो धूम्रः शुक्लो धूम्रः सितावुभौ।
गौरोऽरुणः क्रमादेते वर्णतः परिकीर्त्तिताः॥ इति।

एते लोकपाला इत्यर्थः। अत्र वचने गौरोऽरुण इत्येताभ्यामनन्तस्य ब्रह्मणश्च वर्णो निरूपितः, सोऽत्राप्राकरणिकः। अत्र तु इन्द्रादीनामीशानान्तानां वर्णाः सितावुभावित्यन्तेन निरूपणीयाः। तथाच पूर्वस्यां ध्वजः पीतः, आग्नेय्यां रक्तः, याम्यां कृष्णः, नैर्ऋत्यां धूम्रः, वारुण्यां शुक्लः, वायव्यां धूम्रः, कौवेर्यामैशान्याञ्च श्वेत इति फलितम्। हयशीर्षपञ्चरात्रे तु—

अरुणोऽग्निनिभश्चैव कृष्णः शुक्लोऽथ पीतकः।
रक्तवर्णस्तथा श्वेतः सर्ववर्णस्तथैव च॥

इति वचनेन दिक्पालेषु केषाञ्चित् पूर्वतोऽन्यादृशा वर्णा निरूपिताः। तदेवं स्थिते मतभेदे सत्सम्प्रदायानुसारेणैकतरः पक्ष आश्रयणीय इति हृदयम्।

ध्वजानां परिमाणमाह—**पञ्चेति।** व्यायामेन विस्तारेण। परिमाणान्तरमाह—**सप्तेति।** ध्वजदण्डपरिमाणमाह—**दण्डश्चेति।** दशहस्तपरिमितो वंशजो ध्वजदण्डः कर्त्तव्य इत्यर्थः। राघवभट्टेनापि—

द्विपञ्चहस्तैर्दण्डैस्ते वंशजैः संयुता मताः।

इति वचनमेतदनुकूलमाहृतम्। तत्र द्विपञ्चहस्तैरिति दशहस्तैरित्यर्थः।

दिग्गजानिति। दिग्गजानाहामरसिंहः—

ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः।
पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकाश्च दिग्गजाः।। इति।

तथाच पूर्वाद्यष्टध्वजेषु क्रमेणैरावतादीनष्टौ सुलक्षणान् दिग्गजान् लिखेदित्यर्थः। राघवभट्टेन तु—

मातङ्गास्तहरिणसिंहमत्स्यैनवाजिनः ।
वृषभञ्च यथान्यायं ध्वजमध्ये क्रमाल्लिखेत्।
अथवा दिग्गजानष्टावैरावतपुरःसरान्।।

इति क्रियासारवचनेन मातङ्गादीन् दिग्गजान् वा ध्वजमध्ये लिखेदिति कल्पद्वयमुपदर्शितम्।

तोरण और मण्डप के मध्यभाग में चारो दिशाओं और चारो विदिशाओं में इन्द्र आदि लोकपालों के ध्वज लगाये जायँ। इस तरह कुल आठ ध्वज लगाये जाते हैं। इन ध्वजों का रंग सम्बन्धित दिशा या कोण के अधिपति लोकपाल का होना चाहिए। सात या पाँच हाथ लम्बे और दो हाथ चौड़े ये ध्वज दस हाथ ऊँचे बाँस पर लगाये जायँ तथा इनके मध्य में दिग्गजों के चित्र बनाये जायँ।।२०-२२।।

विमर्श—(१) 'लोकपालसमप्रभान्' के अनुसार पूर्व दिशा का ध्वज पीले रंग का, अग्निकोण का ध्वज लाल रंग का, दक्षिण का काले रंग का, नैर्ऋत्य का ध्वज धूम्र वर्ण का, पश्चिम का ध्वज शुक्ल वर्ण का, वायव्य में धूम्र वर्ण का तथा उत्तर एवं ईशान का ध्वज सफेद रंग का होना चाहिए।

(२) दिग्गजान् लिखेन्मन्त्री—लोकपालों के ध्वज के मध्य में दिग्गजों के चित्र बनाये जायँ। चारो दिशाओं और चारो विदिशाओं (कोणों) में स्थित होकर जिन आठ गजों ने पृथ्वी को सम्हाल रखा है, उन्हें दिग्गज कहते हैं। तदनुसार पूर्व दिशा के पीले ध्वज में ऐरावत, अग्निकोण के लाल ध्वज में पुण्डरीक, दक्षिण दिशा के काले रंग के ध्वज में वामन, नैर्ऋत्य कोण के धूम्र ध्वज में कुमुद, पश्चिम के शुक्ल वर्ण के ध्वज में अञ्जन, वायव्य कोण के धूम्र वर्ण के ध्वज में पुष्पदन्त, उत्तर के श्वेत ध्वज में सार्वभौम और ईशान के सफेद ध्वज में सुप्रतीक नामक दिग्गज की प्रतिष्ठा करनी चाहिये।

पूजाहोमादिकं सर्वं यागाद्यं यत् कृतं बुधैः।।२३।।
रक्षणेन विना यद्वत् क्षेत्रं नश्यति क्षेत्रिणाम्।
ध्वजं विना देवगृहं तथा नश्यति सर्वदा।।२४।।

ध्वजारोपणस्याकरणे यो दोषस्तत्र दृष्टान्तमाह—**रक्षणेनेति।**

पूजेति। अत्र पूजाहोमादिकं यत् कृतं तत्रैव पूजादिस्थले दिक्षु ध्वजान् निबध्नीयादिति पूर्वेण सम्बन्धः।

जिस तरह रक्षण कार्य के बिना खेत और खेत की फसल विनष्ट हो जाती है, उसी तरह ध्वज के बिना देवगृह तथा वहाँ किये गये पूजा, होम तथा यज्ञ के फलों का नाश हो जाता है। अतः देवालयों में ध्वज अवश्य लगाये जाने चाहिये।।२३-२४।।

ततः कार्याः पताका हि ध्वजेनैव समन्विताः।
सप्तहस्ताः पताकाः स्युः सप्तमांशेन विस्तृताः।।२५।।

पताकारोपणमाह—**तत इति।** ततो ध्वजारोपणानन्तरम्। ध्वजेनैव समन्विताः समनुगताः पताकाः कार्याः। एतेन ध्वजे यादृशो दण्डादीनां वर्णानाञ्च विधिः प्रदर्शितः पताकारोपणेऽपि स एव विधिरादरणीय इति सूचितम्। अत एव सप्तहस्ताः पताकाः स्युरित्यादिना पताकावस्त्रपरिमाणमात्रमभिहितम्। अत्र परिमाणेऽपि विशेषमाह हयशीर्षे आदिकाण्डे—

सप्तहस्तास्ततो दीर्घा विस्ताराद्द्वादशाङ्गुला।
द्विपञ्चहस्तदण्डेषु पताकास्तु निवेशयेत्।। इति।

पताकानां वर्णभेदान् विशिष्याह वैदिकसर्वस्वधृतकापिले—

अथातो लक्षणं वक्ष्ये पताकानां यथाविधि।
पताकां पीतवर्णाभामैन्द्र्यां दिशि विनिक्षिपेत्।।
आग्नेय्यां रक्तवर्णाभां कृष्णाभां याम्यगोचरे।
नैर्ऋत्यां नीलवर्णाभां वारुण्यां वै सितान्तथा।।
वायव्यां धूम्रवर्णाभां कौवेर्य्यां पीतवर्णिकाम्।
पताकां सर्ववर्णाभामैशान्यां दिशि विन्यसेत्।
आनन्त्यां श्वेतवर्णाभां ब्राह्मयां रक्तञ्च विन्यसेत्।। इति।

अत्र कपिलवचने दशानामेव वर्णनिर्णयाद्दशलोकपालदेवताका दश पताकाः स्थापनीया इति स्फुटं प्रतीयते। वैदिकसर्वस्वधृतभविष्यपुराणे तु तोरणफलकचतुष्टये एकहस्तद्विहस्तान्यतरपरिमाणपताकाचतुष्टयस्थापनमप्याह। यथा—

एकहस्तप्रमाणास्तास्तोरणार्था द्विहस्तिकाः।
नानावर्णविचित्रास्ता न्यसेद् वै प्रतितोरणे।। इति।

अत्र तोरणपदेन तोरणैकदेशतिर्यक्काष्ठमुच्यत इति वैदिकसर्वस्वम्।

ध्वज लगाये जाने के बाद उन्हीं के अनुरूप पताकाएँ भी लगाई जायँ। पताका की लम्बाई सात हाथ और चौड़ाई एक हाथ होती है। ध्वज के समान इन्हें भी दस हाथ लम्बे बाँस पर लगाया जाय।।२५।।

विमर्श—'कपिलपञ्चरात्र' में विभिन्न दिशाओं/विदिशाओं में लगाई जाने वाली पताकाओं के रंग भी बताये गये हैं। तदनुसार पूर्व दिशा में पीले रंग की, अग्निकोण में लाल रंग की, दक्षिण में काले रंग की, नैर्ऋत्य में नीले रंग की, पश्चिम में सफेद रंग की, वायव्य में धुँयें (Smoky) के रंग की, उत्तर में पीले रंग की, ईशान में सर्ववर्ण (चितकबरे) की पताकायें लगाई जायँ। इन्द्र और ईशान के मध्य में ब्रह्माजी की पताका लाल रंग की तथा निर्ऋति और वरुण के मध्य में अनन्त की श्वेत रंग की एक-एक पताका लगाई जाय। इस तरह दीक्षा-मण्डप के चारो ओर आठ ध्वजों और दक्ष पताकाओं की स्थापना की जाती है।

[मण्डपशोभासम्पादनक्रमः]

चूतपल्लवमालाढ्यं वितानैरुपशोभितम्।
विचित्रवस्त्रसंयुक्तं चित्रकुम्भसमन्वितम्।।२६।।
कलसैर्घटिकाभिश्च दर्पणैश्चामरैस्तथा।
फलैर्नानाविधैर्भोज्यैरङ्कुरैर्धूपदीपकैः ।
भूषितं मण्डपं कुर्याद्रत्नपुष्पसमुज्ज्वलम्।।२७।।

मण्डप की सजावट—दीक्षा-मण्डप का वितान आम के पत्तों तथा रंग-बिरंगे कपड़ों की झालर और विभिन्न प्रकार की मालाओं से अलंकृत किया जाय। स्थान-स्थान पर मनोरम चित्र तथा दर्पण लगाये जायँ। कुम्भ, कलश एवं धूपदान रखे जायँ। प्रकाश के लिये प्रचुर दीपों की व्यवस्था की जाय। स्थान-स्थान पर सुस्वादिष्ट फलों और व्यञ्जनों के थाल रखे जायँ। तात्पर्य यह कि दीक्षा-मण्डप रत्न-निर्मित पुष्प की तरह नयनाभिराम, चित्ताकर्षक एवं रमणीक होना चाहिए।।२६-२७।।

[वेदीलक्षणम्]

तत्त्रिभागमिते क्षेत्रे मध्यभागे तु वेदिकाम्।
हस्तमात्रं तदुत्सेधं चतुरस्त्रं समं तथा।।२८।।
इष्टकाभिर्मृदा वापि वेदी दर्पणसन्निभा।।२९।।

राघवभट्टधृतक्रियासारे—

वक्रपार्श्वक्लिन्नमध्या परुषा दृगशोभना।
मानहीनाधिका या सा कर्त्तुः कर्मविनाशिनी।।

इत्यनेन वक्रपार्श्वत्वादिदोषदुष्टवेदिकाया अनिष्टफलकत्वश्रवणादिष्टफलसाधनानुकूलवेदिकानिर्माणमाह—तदिति।

तस्य मण्डपस्य त्रिभागस्तृतीयो भागस्तन्मिते क्षेत्रे मध्यभागे वेदिकां कुर्यादित्यर्थः। तृतीयो भागो दिक्संस्थोऽपि भवितुमर्हति तन्निरासायाह—मध्यभाग

इति। एवञ्च मण्डपसूत्रं त्रिगुणीकृत्य पूर्वतः पश्चिमतो दक्षिणत उत्तरतश्चैकमेकमंशं परित्यज्य अवशिष्टे मध्यभागे वेदिका-निर्माणमनेनोपदिश्यते। तदुत्सेधं तस्या वेदिकाया उच्छ्रायं हस्तमात्रं चतुरस्रं चतुष्कोणं समञ्च कुर्यात्, न तु उत्सेधस्य तारतम्यं कर्त्तव्यमित्यर्थः।

इष्टकाभिरिति प्रथमः कल्पस्तदभावे मृदा वा दर्पणसन्निभा दन्तुरत्वादिदोषहीना वेदी कर्त्तव्येत्यर्थः। तदुक्तं राघवभट्टधृतक्रियासारे—

त्रिभागं मण्डपं कृत्वा मध्यभागस्तु वेदिका।
हस्तमानं तदुत्सेधं चतुरस्रं समं यथा।।
पक्वाभिर्वाऽप्यपक्वाभिरिष्टकाभिर्दृढं यथा।
कर्त्तव्या वेदिका श्रेष्ठा तदभावे मृदाऽपि वा।
अवक्रपार्श्वा सुस्निग्धा दर्पणोदरसन्निभा।। इति।

तन्त्रराजे एकोनत्रिंशपटलेऽपि मण्डपलक्षणानन्तरं—

.........................तत्त्रैभागप्रमाणतः।
विदध्यान्मध्यतो वेदीं करमात्रसमुन्नताम्।
दर्पणोदरसङ्काशमध्याम्.......................।

इति वेदिलक्षणमुक्तम्।

वेदी का निर्माण—मण्डप की लम्बाई और चौड़ाई को नापकर मध्यवर्ती एक तिहाई भाग के ठीक बीचों-बीच ईंटों अथवा विकल्पतः मिट्टी से एक हाथ ऊँची वर्गाकार वेदी बनाई जाय, जो दर्पण की तरह समतल और चिकनी हो।।२८-२९।।

[अङ्कुरार्पणम्]

प्रतिष्ठायाञ्च दीक्षायां स्थापने चोत्सवे तथा।
सम्प्रोक्षणे च शान्त्यर्थं विवाहे मौञ्जिबन्धने।।३०।।
नववेश्मप्रवेशे च तथाभिषेककर्मणि।
सर्वलक्षणकार्येषु विदध्यादङ्कुरार्पणम्।।३१।।

अथ कर्मणः शुभाशुभपरीक्षार्थमङ्कुरार्पणे वक्तव्ये प्रथमं तस्य विषयानाह— प्रतिष्ठायामित्यादिना। प्रतिष्ठायां तड़ागादीनाम्, स्थापने देवादीनाम्, उत्सवे दैवतयात्रोत्सवे, सम्प्रोक्षणे अभिषेकादौ, शान्त्यर्थं शान्तिकयागादिषु; मौञ्जिबन्धने उपनयने, अभिषेककर्मणि राज्ञामभिषेके, सर्वलक्षणकार्येषु सर्वेषु शुभकर्मसु अङ्कुरार्पणं विदध्याद् वक्ष्यमाणक्रमेणेति शेषः। शारदायां तृतीयपटलेऽपि—

दीक्षायामभिषेकेषु नववेश्मप्रवेशने।
उत्सवेषु च सम्पत्तौ विदध्यादङ्कुरार्पणम्।। इति।

तडाग आदि की प्रतिष्ठा, देवमन्दिरों की स्थापना, देवता के यात्रा आदि उत्सव, अभिषेक, विवाह, उपनयन, नूतनगृहप्रवेश, राज्याभिषेक तथा दीक्षा आदि सभी शुभ कार्यों में शुभाशुभ जानने के लिये अंकुरार्पण की क्रिया यथाविधि की जाती है॥३०-३१॥

[अङ्कुरार्पणकालः]

प्रतिष्ठादिदिनात् पूर्वं नवमे सप्तमे दिने।
पञ्चमे वा तृतीये वा सद्यो वा चाङ्कुरार्पणम्॥३२॥

प्रतिष्ठादीत्यादिपदेन प्रागुक्तानां दीक्षास्थापनोत्सवादीनां परिग्रहः। प्रकृते तु दीक्षाया एवाभिधास्यमानत्वात् निरुक्तदीक्षादिनतः पूर्वं नवमे सप्तमे पञ्चमे तृतीये वा दिवसे सद्यो वा अङ्कुरार्पणं कर्त्तव्यमित्यर्थः। एषु च कल्पपञ्चकेषु पूर्वपूर्वासम्भवे परः परः कल्पो ग्राह्यः। तत्र प्रथमकल्पे दीक्षादिनं दशमं यथा भवति तथाऽङ्कुरार्पणं कर्त्तव्यमित्येवाह—**पूर्वमित्यनेन**। शारदायां तृतीयपटलेऽपि—

प्रागेव दीक्षादिवसात् सप्तभिर्विधिवद्दिनैः।

इत्यत्र दीक्षादिवसात् प्रागित्यनेन दीक्षादिवसस्याष्टमत्वमभिहितम्। तद्व्याख्यानेऽपि राघवभट्टेन—'एतेन दीक्षादिनमष्टमं यथा भवति तथा कर्त्तव्यमित्युक्तम्। ततश्च दीक्षादिनपूर्वदिनतो नवमे वा सप्तमे वेत्येवंक्रमेणाङ्कुरार्पणदिवसा निरूपणीयाः' इत्युक्तम्।

अंकुरार्पण का समय—प्रतिष्ठा आदि उपर्युक्त शुभ कार्यों के नौ, सात, पाँच या तीन दिन पूर्व अथवा उसी दिन यह अंकुरार्पण क्रिया की जाती है। अंकुर अर्पण के दसवें, आठवें या चौथे दिन दीक्षा आदि संस्कार होते हैं॥३२॥

[अङ्कुरार्पणे शालानिर्माणम्]

मण्डपस्योत्तरे भागे शालां पूर्वापरायताम्।
दशहस्तसुविस्तारां पञ्चहस्तसुविस्तृताम्।
गूढां कुर्यात्ततस्तस्यां मण्डलं रचयेत् सुधीः॥३३॥

अङ्कुरार्पणकर्माङ्गभूतशालानिर्माणमाह—**मण्डपस्येति**। मण्डपस्य पूर्वमभिहितस्य उत्तरे भागे पूर्वापरायतां दक्षहस्तसुविस्तारां दैर्घ्येण दशहस्ताम्, पञ्चहस्तसुविस्तृताम् आयामेन पञ्चहस्तपरिमिताम्, गूढां कटादिभिरावृतां वातप्रवेशायोग्यामित्यर्थः, शालां कुर्यात्। राघवभट्टेन शारदातिलकतृतीयपटलटीकायाम्—

मण्डपस्योत्तरे भागे शालां पूर्वापरायताम्।
गूढां कुर्यात्ततस्तस्यां मण्डपं रचयेत् सुधीः॥

इति वचनमुल्लिख्य तद्व्याख्यानावसरे—'दीर्घचतुरस्ररूपां गूढां परितः कटादिपरिवृतां दक्षिणैकद्वारवतीं निवाताञ्च कुर्यादि'त्युक्तम्। तत्र मण्डलनिर्माणमाह—**तत इति**।

अंकुरार्पण शाला—मण्डप के उत्तरी भाग में पूर्व-पश्चिम दस हाथ लम्बी और उत्तर-दक्षिण पाँच हाथ चौड़ी शाला बनवाकर उसे चारो ओर से अच्छी तरह घेर दिया जाय।।३३।।

[मण्डलनिर्माणक्रमः]

पञ्चहस्तप्रमाणानि पञ्च सूत्राणि पातयेत्।
पूर्वापरायतान्येषामन्तरं द्वादशाङ्गुलम्।।३४।।
दक्षिणोत्तरसूत्राणि तद्वदेकादशाऽर्पयेत्।
पदानि तत्र जायन्ते चत्वारिंशत् प्रमार्जयेत्।।३५।।

अङ्कुरमण्डलनिर्माणपरिपाटीमाह—पञ्चहस्तेत्यादिना सम्प्रदायविधानत इत्यन्तेन। पूर्वापरायतानि पञ्चहस्तप्रमाणानि द्वादशाङ्गुलान्तरितानि पञ्च सूत्राणि पातयेत्। एवं पूर्वापरायतसूत्रपातनानन्तरं दक्षिणोत्तरायतान्येकादश सूत्राणि पातयेत्। तद्वदिति द्वादशाङ्गुलान्तरितानीत्यर्थः। एवं द्वादशाङ्गुलान्तरितैकादशसूत्रपातेन पूर्वापरायताः पञ्च हस्ताः संगृहीताः स्युः। पदानीति। एवं पूर्वापरायतदक्षिणोत्तरायतसूत्रपातेन तत्र मण्डले चत्वारिंशत् पदानि भवन्ति। प्रमार्जयेदित्युत्तरत्राभिसम्बध्यते। एवञ्चायं क्रमः पर्यवस्यति—प्रागुक्तशालाविस्तारमध्यभागे पञ्चहस्तप्रमाणं पूर्वपश्चिमायतमेकं सूत्रं दत्त्वा तद्दक्षिणोत्तरभागयोर्द्वादशदलान्तरिते द्वे द्वे सूत्रे पातयेत् ततस्तत्सूत्रव्यतिभेदीनि दक्षिणोत्तरायतान्येकादश सूत्राणि पातयेदिति। राघवभट्टधृतप्रयोगसारे त—

प्रसार्यास्फोटयेत् सूत्रं यथा याम्योत्तरायतम्।
पञ्चहस्तप्रमाणेन द्वे द्वे पार्श्वे च पातयेत्।।
तद्वत् पूर्वोक्तमानेन द्वादशद्वादशाङ्गुले।
प्राक् प्रत्यक् च समं पश्चात् सूत्राण्येकादश क्रमात्।
पातयेत्तासु रेखासु पूर्वसूत्रान्तरान्तरम्।। इति।

अत्र याम्योत्तरायताः पञ्च रेखाः, पूर्वपश्चिमायताश्चैकादशेति मूलोक्तक्रमाद्रेखापाते विशेषो दृश्यते। तदेवमत्र रेखापाते विशेषदर्शनात् स्वस्वसम्प्रदायानुसारेणैकतरं मतमाश्रयणीयमिति सिद्धान्तः। अत एव सम्प्रदायविधानतः इति वक्ष्यति।

उस शाला के मध्य भाग में पूर्व से पश्चिम की ओर पाँच हाथ का सूत्र देकर उसमें दक्षिण से उत्तर की ओर १२-१२ अंगुल के दो-दो सूत्र के आधार पर ग्यारह सूत्र लगायें। फिर उसमें वीथियों का निर्माण करें। पूर्व से चार कोष्ठक की एक वीथी, दक्षिण से आठ कोष्ठक की एक वीथी, पश्चिम से चार कोष्ठक की एक वीथी और उसी प्रकार उत्तर से आठ कोष्ठक की एवं वीथी मार्जित करें।।३४-३५।।

[तत्र पदविभागः]

पङ्क्त्या वीथीश्चतस्रोऽन्तश्चतुष्कोभयपार्श्वयोः।
वीथ्यौ द्वे च चतुःकोष्ठत्रयमेवावशिष्यते।।३६।।

तेषु पदेषु वीथ्यादिनिर्माणमाह—**पङ्क्त्येति**। पङ्क्त्या चतस्रो वीथीः प्रमार्जयेत् इति पूर्वेणान्वयः। अन्तरिति वक्ष्यमाणत्वादेता बहिर्वीथ्य इत्यवधेयम्। तथाच पूर्वे चतुःकोष्ठामेकां वीथीम्, दक्षिणेऽष्टकोष्ठामपराम्, पश्चिमे चतुःकोष्ठामन्याम्, उत्तरे चाष्टकोष्ठामितरां कुर्वीतेत्युक्तं भवति। अथान्तर्वीथिद्वयमाह—**अन्तरिति**। अन्तश्चतुष्काणां चतुष्कत्रयस्येत्यर्थः, उभयपार्श्वयोर्द्वे वीथ्यौ द्विद्विकोष्ठरूपे मार्जयेदित्यर्थः। एवं कृते फलितमाह—**चतुःकोष्ठत्रयमेवावशिष्यत इति**।

मध्यवर्ती चतुष्कोष्ठक के दोनों पार्श्वों में दो-दो कोष्ठकरूप दो वीथियों की रचना करें। ऐसा करने से तीन-तीन चतुष्कोष्ठक अर्थात् बारह कोष्ठक शेष रह जायेंगे।।३६।।

[रजसां न्यासः]

पदानि रञ्जयेत् तानि श्वेतपीतारुणासितैः।।३७।।
ईशानादिक्रमेणैव रजोभिः श्यामलेन च।
वीथीरापूरयेन्मन्त्री सम्प्रदायविधानतः।।३८।।

अथान्तश्चतुष्कत्रयस्य रजसाऽऽपूरणमाह—**पदानीति**। ईशानादिक्रमेणैव तानि पदानि अन्तःप्रतिचतुष्कस्थचतुश्चतुःपदानि क्रमेण श्वेतपीतारुणासितै रजोभिः आपूरयेदित्यर्थः। एवञ्च प्रतिचतुष्कम् ईशानकोष्ठं श्वेतम्, आग्नेयं पीतम्, नैर्ऋतं रक्तम्, वायव्यञ्च कृष्णम् इत्युक्तं भवति।

शारदायां तृतीयपटले—

पदानि रञ्जयेत्तानि श्वेतपीतारुणासितैः।
रजोभिः श्यामलेनाथ वीथीरापूरयेत्ततः।।

इति वचनेन पदानां रजोभिः पूरणमात्रमभिहितम्; न तु रजोन्यासस्य क्रमोऽभिहित इति। एतद्व्याख्याने राघवभट्टेन—

पीतारक्तसितासितं प्रतिपदं वह्न्यादिशर्वान्तकम्।

इति प्रपञ्चसारवचनैकदेशमुलिख्य वह्न्यादिक्रमेण पीतादिरजसां न्यासः प्रमाणीकृतः। एतन्मते आग्नेयपदं पीतम्, नैर्ऋतपदं रक्तम्, वायव्यपदं श्वेतम्, ऐशानपदञ्च कृष्णमित्यवगम्यते।

न च प्रसार्य्यास्फालयेत् सूत्रमित्यादिप्रागुक्तप्रयोगसारवचनप्राप्तयाम्योत्तरायतपञ्चरेखापातकल्पे वह्न्यादिक्रमेण पीतादिवर्णानां न्यासः कल्प्यतां, श्रीतत्त्वचिन्तामणौ पूर्वापरायतपञ्चरेखापातकल्पे ईशानादिक्रमेण पीतादिरजसां न्यासस्य विशिष्याभिधानात्तत्रैव ईशानादिक्रमोऽस्त्विति वाच्यम्, पीतारक्तसितासितमित्यादिप्रागुक्तप्रपञ्चसारवचनैकदेशस्य याम्योदीच्यसमायतं प्रणिगदन्त्यन्येऽपि तन्मन्त्रिणः। इति परपादपर्य्यालोचनया रेखापातस्य द्विविधेऽपि कल्पे श्रीमदाचार्यपादैर्वह्न्यादिक्रमेणैव रजोन्यासाभिधानात्।

तस्मात् प्रागुक्तश्रीतत्त्वचिन्तामणिप्रपञ्चसारवचनपर्य्यालोचनया सम्प्रदायानुसारेणोभयविधेऽपि मण्डले ईशानादिक्रमतो वा वह्न्यादिक्रमतो वा पीतादिरजसां न्यासः कर्त्तव्य इत्युभयसम्प्रदायज्ञापनार्थमेव मूले 'सम्प्रदायविधानत' इत्युक्तमिति सर्वमवदातम्।

श्यामलेन चेति। श्यामलवर्णेन वीथीः बहिश्चतुर्दिक्संस्था अन्तश्च पूर्वापरसंस्था द्विद्विपदा आपूरयेदित्यर्थः।

हयशीर्षपञ्चरात्रे तु—

पञ्चहस्तप्रमाणानि दश सूत्राणि पातयेत्।
नवधा भेदिते क्षेत्र एकाशीतिपदं भवेत्।।
वीथ्यौ मध्ये द्वे च षट्कं मार्जयेत् कोणपार्श्वयोः।
शोभार्थं रचयेन्मध्ये पद्मं नवभिरेव च।।
पदानि रञ्जयेत् पश्चाद् श्वेतपीतारुणासितैः।
रजोभिः श्यामलेनाथ वीथीरापूरयेत्ततः।।

इत्यनेनैकाशीतिपदात्मकमण्डलमभिहितम्। एवञ्चायमप्यपरः सम्प्रदाय इत्यवधेयम्।

चार-चार कोष्ठकों से निर्मित इन वीथियों को अपने सम्प्रदाय के विधान के अनुसार ईशानादि क्रम से श्वेत, पीत, अरुण और असित (काला) रंग के रजों से रञ्जित करना चाहिये। यथा—ईशान श्वेत, आग्नेय पीला, नैर्ऋत्य लाल तथा वायव्य काला। इसका अन्य क्रम है—आग्नेय में पीला, नैर्ऋत्य में लाल, वायव्य में श्वेत और ईशान में काला।।३७-३८।।

[तत्राङ्कुरार्पणपात्राणि]

पात्राणि त्रिविधान्याहुरङ्कुरार्पणकर्मणि।
पालिकाः पञ्चमुख्यश्च शरावाश्च चतुःक्रमात्।
प्रोक्ताः स्युः सर्वतन्त्रज्ञैर्हरिब्रह्मशिवात्मकः।।३९।।

अथाङ्कुरपात्राण्युपदिशति—**पात्राणीति।** पालिकाः पञ्चमुख्यः शरावाश्चेति त्रिविधानि पात्राणि अङ्कुरार्पणकर्मणि विहितान्याहुरिति सम्बन्धः। तत्र पालिकादीनामर्थाः प्रदर्शिता राघवभट्टेन—'स्थूलान्युच्चानि शरावाण्येव पालिकाशब्देनोच्यन्ते। पालिका एव किञ्चिन्नीचाः पञ्चमुखयुक्ताः पञ्चमुख्य उच्यन्ते। शरावाः प्रसिद्धाः' इति। एतत्समानानुपूर्वीकशारदातिलकवचनव्याख्याने—'सर्वतन्त्रज्ञैरित्यनेन पञ्चदेवतादीक्षादिकर्मसु पात्रभेदो नास्तीति' राघवभट्टाः। चतुःक्रमादित्यनेन मध्यचतुष्कत्रये प्रतिचतुष्कं चत्वारि चत्वारि पालिकादीनि स्थापनीयानीत्युक्तम्। स्थापनञ्चेदं पश्चिमादिक्रमेणेति स्वयमेव वक्ष्यति। हरिब्रह्मशिवात्मका इति पालिका हरिरूपाः, पञ्चमुख्यो ब्रह्मरूपा;, शरावाश्च शिवरूपा इत्यर्थः, एतेनैतेषु पात्रेषु क्रमेण हरिब्रह्मशिवाः पूजनीया इत्युक्तम्।

तदुक्तं वैदिकसर्वस्वधृतकापिले—

वैष्णवी पालिका ज्ञेया ब्राह्मी तु घटिकोच्यते।
शाङ्करन्तु शरावं स्यात् त्रयमेतत् त्रिदैवतम्।। इति।

अङ्कुरार्पण कर्म के लिये (१) पालिका, (२) पञ्चमुखी और (३) शराव—ये तीन प्रकार के चार-चार अर्थात् कुल १२ पात्र चाहिए। तन्त्रविदों ने इनमें से 'पालिका' को विष्णुस्वरूप, पञ्चमुखी को ब्रह्मास्वरूप और शराव को शिवस्वरूप माना है।।३९।।

[तत्र पालिका]

पालिकावक्त्रविस्तारः षोडशाङ्गुल उच्यते।
भवेत् कण्ठविलञ्चास्यास्तदष्टाङ्गुलविस्तृतम्।।४०।।
पादपीठस्य विस्तारः षडङ्गुल उदीरितः।
चतुरङ्गल उत्सेधस्तत्सन्धिश्चाङ्गुलं भवेत्।
तत्सन्धिश्च भवेद् द्वौ वा पादपीठार्द्धमेव च।।४१।।

इदानीं क्रमप्राप्तं पालिकालक्षणमाह—पालिकेति। पालिका शरावविशेषः, तस्य मुख्यस्य विस्तारः षोडशाङ्गुलः। कण्ठस्थविलस्य विस्तारोऽष्टाङ्गुलः। पादपीठस्य अधःप्रदेशस्य विस्तारः षडङ्गुल इति। उत्सेधश्चतुरङ्गुलः। तत्सन्धिरिति। तस्य पादपीठस्य सन्धिः शरावपादपीठयोः संयोगस्थलमित्यर्थः। इदं सन्धिपरिमाणं द्व्यङ्गुलं वा त्र्यङ्गुलं वापि भवितुमर्हति इत्येवाह—तत्सन्धिश्चेत्यादिना। अत्र पादपीठस्योत्सेधार्द्धेन द्व्यङ्गुलम्, विस्तारार्द्धेन त्र्यङ्गुलं वेत्यवधेयम्।

पालिका के मुख का विस्तार १६ अंगुल, कण्ठ का विस्तार आठ अंगुल तथा पादपीठ (निचले तल) का विस्तार छः अंगुल होना चाहिए। पालिका की ऊँचाई चार अंगुल की होती है। इसके अधोभाग और ऊर्ध्वभाग की सन्धि २ या ३ अंगुल पर होनी चाहिए।।४०-४१।।

[पञ्चमुखी]

भवेत् पञ्चमुखी चैव घटिका सर्वकामदा।
चतुरङ्गुलविस्ताराण्याहुर्वक्त्राणि पञ्च वै।।४२।।
चत्वारि च चतुद्दिक्षु ऊद्ध्वमेकं यथाविधि।
घटिकाऽऽयामविस्तारो द्वादशाङ्गुल उच्यते।।४३।।
आचार्याः कथयन्त्येके षोडशाङ्गुलमेव वा।।४४।।

पञ्चमुखीलक्षणमाह—भवेदिति। अस्याः पञ्चमुख्याः पञ्च मुखानि तानि च सर्वाण्येव चतुश्चतुरङ्गुलविस्ताराणि। तेषाञ्च मुखानां स्थानमाह—चत्वारीति। चतुर्दिक्षु चत्वारि मध्ये चैकमिति पञ्च। अस्या घटिकेति नामान्तरम्। घटिकैव पञ्चमुखयुक्ता

पञ्चमुखीत्यर्थः। अत एव घटिकायामविस्तार इत्यादिना पञ्चमुख्या एवायामविस्तारौ प्रतिपादितौ। घटिकाया आयामो दैर्घ्यम् औन्नत्यमित्यर्थः, विस्तारो व्यासश्च द्वादशाङ्गुलपरिमाणः। न च विस्तार इत्येकवचनाद् आयामस्य विस्तार इति षष्ठीसमास इति वाच्यं वचनान्तरेणौन्नत्यस्याप्रतिपादनात्,

आयामविस्तराभ्यान्तु घटिका द्वादशाङ्गुला।

इति हयशीर्षपञ्चरात्रीयसङ्कर्षकाण्डवचनसंवादाच्च आयामविस्तारयोरुभयोरेव द्वादशाङ्गुलपरिमाणत्वप्रतिपादनात्। तस्मादायामेन सहितो विस्तार इत्येवार्थः सम्यक्। आचार्या इति केचिदाचार्य्या घटिकाया विस्ताराऽयामौ षोडशाङ्गुलाविति वदन्तीत्यर्थः।

पञ्चमुखी—जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, पञ्चमुखी में चारो दिशाओं में एक-एक और मध्य में एक—इस तरह पाँच मुख होते हैं। प्रत्येक मुख का विस्तार चार अंगुल का होता है। इसका दूसरा नाम 'घटिका' भी है, जिसका आयाम-विस्तार बारह अंगुल का होता है। कुछ आचार्य १६ अंगुल मानते हैं।।४२-४४।।

[शरावः]

द्वादशाङ्गुलविस्तारं शरावस्य मुखं स्मृतम्।
चतुरङ्गुलविस्तारमधस्तान्मूलमुच्यते ।।४५।।

क्रमप्राप्तं शरावस्वरूपमाह—द्वादशेति। शरावस्य मुखं द्वादशाङ्गुलपरिमाणं मूलं चतुरङ्गुलमिति।

एषामुच्छ्राय उपदिष्टः शारदायां तृतीयपटले—

पात्राणि त्रिविधान्याहुरङ्कुरार्पणकर्मणि।
पालिकाः पञ्चमुख्यश्च शरावाश्च चतुःक्रमात्।।
प्रोक्ताः स्युः सर्वतन्त्रज्ञैर्हरि-ब्रह्म-शिवात्मकाः।
एषामुच्छ्राय उन्नेयः षोडश-द्वादशाष्टभिः।। इति।

एवञ्च पालिकाया उच्छ्रायः षोडशाङ्गुलः, पञ्चमुख्या द्वादशाङ्गुलः शरावस्याष्टाङ्गुल इति।

शराव—शराव के मुख का विस्तार बारह अंगुल तथा तलप्रदेश का विस्तार चार अंगुल होता है।।४५।।

विमर्श—शारदातिलक (३/३५) में पालिका की ऊँचाई १६ अंगुल, पञ्चमुखी की ऊँचाई १२ अंगुल और शराव की ऊँचाई ८ अंगुल मानी गई है।

[पालिकादीनां परिमाणे विशेषः]

यथासम्भवमानं वा केनापीत्यभिधीयते।।४६।।

[पालिकादीनामुपादानानि]

सुवर्णरूप्यताम्रैर्वा मृदा वा रचयेत्सुधीः।

यथासम्भवमिति। प्रागुक्तानां पालिकादीनां प्रागुक्ततत्तत्परिमाणसम्पादनासम्भवे यथासम्भवं परिमाणं कर्त्तव्यमित्यर्थः। तदुक्तं राघवभट्टधृतसिद्धान्तशेखरे—

यथासम्भवमानं वा पालिकादि समाचरेत्। इति।

हयशीर्षपञ्चरात्रे सङ्कर्षकाण्डेऽङ्कुरपात्राण्येवमभिहितानि। यथा—

पात्रं त्रिविधमुद्दिष्टं मङ्गलाङ्कुरकर्मणि।
शरावो घटिका पाली तेषां लक्षणमुच्यते।।
द्वादशाङ्गुलविस्तारं शरावस्य मुखं भवेत्।
षोडशाङ्गुलकस्यापि मूलं स्याच्चतुरङ्गुलम्।।
पञ्चवक्त्रा घटी ज्ञेया सर्वकामफलप्रदा।
ऊद्र्ध्वमेकं भवेद्वक्त्रं शेषान् दिक्षु प्रकल्पयेत्।।
चतुरङ्गुलमात्राणि मुखानि परिकल्पयेत्।
आयामविस्तराभ्यान्तु घटिका द्वादशाङ्गुला।।
षोडशाङ्गुलमात्रा वा घटिकाऽऽयामविस्तरा।
पालिकाविस्तराः प्रोक्ताः षोडशाङ्गुलसम्मिताः।।
स्मृतं वक्त्रं तथा चास्या अर्द्धमात्रं सुसंवृतम्।
षडङ्गुलमधोभागे तावदेव तु विस्तृतम्।।
तन्मानं पादपीठन्तु चतुरङ्गुलमुच्छ्रितम्।
तत्सन्धिश्चाङ्गुलो ज्ञेय उन्नाहस्त्र्यङ्गुलो भवेत्।।

अत्र 'चतुरङ्गुलमुच्छ्रितं' 'तत्सन्धिश्चाङ्गुलो ज्ञेयः' इत्युक्त्या चतुरङ्गुलोच्छ्रितस्य पादपीठस्यैकाङ्गुलसन्धौ कृते पादपीठस्योच्छ्रायस्त्र्यङ्गुल इति हृदयम्।

सुवर्णेति। सुवर्णेनेति प्रथमः कल्पः, तदसम्भवे रौप्येण वा ताम्रेण वा मृत्तिकया वा पात्राणि रचयेद् इति क्रमेणोत्तरोत्तरोपादानानामपकर्ष इति प्रतिपादितम्। सुधीरित्यनेन च पूर्वपूर्वसम्भवे क्वचिदप्युत्तरोत्तरोपादानानामादानं न कर्त्तव्यमिति सूचितम्। तथाच राघवभट्टधृतवचनम्—

सम्भवे कनकरूप्यताम्रता मार्त्तिकान्यभिनवान्यथवा स्युः।। इति।

यदि उपर्युक्त मान के पात्र नहीं मिलें तो यथासम्भव मिलते-जुलते मान वाले पात्र ग्रहण किये जायँ। ये पात्र वरीयता-क्रम से स्वर्ण, रजत, ताम्र अथवा मिट्टी के होने चाहिए।।४६।।

[पात्रन्यासक्रमः]

त्रिगुणीकृतसूत्रेण शुभान्यावेष्टयेत् त्रिधा।।४७।।
प्रक्षाल्य देशिकस्तेषु पदेष्वाहितशालिषु।
सगन्धदर्भकूर्च्चेषु पश्चिमादि निवेशयेत्।।४८।।

करीषवालुकामृद्भिस्तानि पात्राणि पूरयेत्।
प्रोक्तेषु तेषु पात्रेषु हरिब्रह्मशिवान् यजेत्।।४९।।

त्रिगुणीकृतेति। तानि च शुभानि कृष्णवर्ण-व्रणादिरहितानीत्यर्थः। पात्राणि प्रक्षाल्य त्रिगुणीकृतसूत्रेण त्रिधा वेष्टयेत्। न चादौ वेष्टनं पश्चात् प्रक्षालनमिति वाच्यम्, राघवभट्टेन 'पूर्वं प्रक्षालनं पश्चात्तन्तुवेष्टनमि'त्यनेन तन्तुवेष्टनात् पूर्वमेव प्रक्षालनाभिधानात्। ततश्च आहितशालिषु धान्ययुक्तेषु पदेषु प्रागुक्ताङ्कुरमण्डलान्तर्वर्त्तिद्वादशपदेषु गन्धदर्भकूर्चयुक्तेषु पश्चिमादिक्रमेण पात्राणि निवेशयेदित्यर्थः; दर्भकूर्चलक्षणन्तु— 'सप्तविंशतिदर्भाणां वेण्या ग्रन्थिविभूषित'मित्यादिना स्वयमेव पञ्चमप्रकाशे वक्ष्यते।

एतदुक्तं भवति—प्रागुक्तद्वादशपदेषु प्रथमं धान्यानि गन्धदर्भकूर्च्चानि च निधाय पश्चिमचतुष्के एकैकशः पालिकाचतुष्कम्, मध्यमकोष्ठचतुष्के पञ्चमुखीचतुष्कम्, पूर्वकोष्ठचतुष्के शरावचतुष्कं निवेशयेदिति।

अत्र प्रतिचतुष्कं पालिकादीनां न्यास आग्नेयादिक्रमेण। तदुक्तं प्राणतोषणीधृतप्रयोगसारे—

एवं कृत्वा साधकस्तु तत्र पात्राणि विन्यसेत्।
वह्न्यादीशानपर्यन्तं चतुष्केषु पृथक् पृथक्।। इति।

तेषां पात्राणामापूरणमाह—**करीषेति**। करीषं शुष्कगोमयं, वालुकामृदः प्रसिद्धाः। अनेन प्रतिपात्रं प्रथमं करीषं तदुपरि वालुका, तदुपरि च मृद इत्यनया रीत्या पूरणमुपदिश्यते। तदुक्तं हयशीर्षपञ्चरात्रे आदिकाण्डे—

करीषबालुकामृद्भिः पूरयेदुत्तरोत्तरम्।। इति।

राघवभट्टधृतप्रयोगसारेऽपि—

मृद्वालुकाकरीषैश्चोद्ध्र्वतः पात्राणि पूरयेत्।। इति।

राघवभट्टेनापि एतैरुत्तरोत्तरं सर्वाण्यपि पात्राणि पूरयेदित्युक्तम्। एतदपि पात्रस्थापनवदाग्नेयादिक्रमेणैव कर्त्तव्यम्। **प्रोक्तेष्विति**—पश्चिमपात्रचतुष्के हरिम्, मध्यमचतुष्के ब्रह्माणम्, पूर्वचतुष्के च शिवं यजेदित्यर्थः।

अत्र मृत्तिकाहरणे विशेषमाह राघवभट्टधृतसिद्धान्तशेखरे—

गन्धादिभिश्च कुद्दालं पूजयित्वा दिनान्तरे।
गीतनृत्यसमायुक्तं गजवाजिसमन्वितम्।।
गुर्वादयो रथारूढा गजारूढास्तथाऽपरे।
गत्वा तीरं तडागस्य नद्याः पुष्पवनस्य वा।।
तत्र शुद्धं भुवो भागं दर्भैः सम्मृज्य चास्त्रतः।
अभ्युक्ष्य चार्घ्यतोयेन तत्तन्मन्त्रमनुस्मरन्।।

हृदा भूमिं समावाह्य गन्धपुष्पैः समर्चयेत्।
कुद्दालीमस्त्रमन्त्रेण खात्वा भूमिमथो मृदम्।।
गृहीत्वा वामदेवेन पूरयेत् कांस्यपात्रके।
हृदा मृदञ्च सम्मृज्य वस्त्रेणाच्छाद्य धारयेत्।।
पुरं वा नगरं वापि सर्वमङ्गलनिस्वनैः।
गुरुं प्रदक्षिणं कृत्वा मण्डपं त्वानयेत्ततः।। इति।

इन पात्रों को स्थापित करने के पूर्व अच्छी तरह धोकर उनके कण्ठ में तीन-तीन बार धागा लपेटें। फिर उन्हें चन्दन और कूर्च दर्भ-सहित पश्चिमादि क्रम से चावल की ढेरी पर स्थापित करें। क्रम इस प्रकार है—पश्चिम के चार कोष्ठकों में पालिका वर्ग के चारो पात्र, मध्यवर्ती चार कोष्ठकों में पञ्चमुखी वर्ग के चारो पात्र और पूर्ववर्ती चार कोष्ठकों में चारो शरावों को रखें। फिर इनमें क्रमशः करीष, बालू और मिट्टी भरें। इसके बाद पालिका में विष्णु की, पञ्चमुखी में ब्रह्मा की और शरावों में शिव की पूजा करें।।४७-४९।।

विमर्श—(१) दर्भकूर्च सत्ताइस कुशाओं को गूँथ कर वेणी के आकार का बनाया जाता है।

(२) करीष का अर्थ है—सूखे हुए गोबर का तृण आदि-रहित सूखा चूर्ण।

(३) इन पात्रों में डाली जाने वाली मिट्टी नदी या तडाग के स्वच्छ-पवित्र तट अथवा पुण्य उद्यान से मंगलगानपूर्वक लाई जाती है। पात्रों में भरने के पूर्व इसे अच्छी तरह कूटकर और कंकड़-पत्थर छाँटकर भुरभुरा कर लिया जाता है। इसी तरह रेत (बालू) को भी छानकर और धोकर सुखा लिया जाता है।

इन पात्रों में सर्वप्रथम करीष, फिर बालू और उसके ऊपर मिट्टी भरी जाती है। कुछ ग्रन्थों में सर्वप्रथम मिट्टी, उसके बाद बालू और फिर करीष भरे जाने का भी विधान बताया गया है। तात्पर्य यह कि ये तीनों पदार्थ क्रम-क्रम से भरे जायँ। तीनों को एक साथ मिलाकर न भरा जाय।

[प्रागुक्तकर्मणां दिवैव कर्त्तव्यत्वम्]

एतत् कर्म दिवाकाले कुर्याद्रात्रौ न बुद्धिमान्।।५०।।

एतदिति। एतदङ्कुरार्पणाङ्गमण्डलादि-हरिहरशिवपूजान्तं कर्म दिवैव कुर्यान्न रात्रावित्यर्थः।

पात्र-स्थापना और पूजन का कार्य दिन में ही किया जाय, रात्रि में ये कार्य नहीं किये जायँ।।५०।।

[बीजारोपणस्य रात्रिकर्तव्यत्वम्]

बीजारोपणकार्यन्तु निशायां तन्त्रवित्तमैः।
बीजानामधिपो यस्मान्नित्यं कुमुदबान्धवः।।५१।।

बीजरोपणकर्मणो निशायां कर्त्तव्यत्वमाह—**बीजेति**। अत्र कारणमाह—**बीजानामिति**। एवञ्च चन्द्रस्यैव निशाया अधीश्वरत्वेन तदधिपतिकानां बीजानां तत्रैव वपनं शुभाय कल्पत इत्याशयः।।५१।।

चूँकि कुमुदबन्धु चन्द्रमा बीजों का नित्य अधिप (स्वामी) है, अतः बीजवपन का कार्य रात्रि में ही किया जाय।।५१।।

इस तरह पात्रस्थापना का कार्य दिन में और उनमें बीजवपन का कार्य रात्रि में किये जाने का शास्त्रीय निर्देश है।

[बीजनिर्वपणम्]

जलबीजेन बीजानि दुग्धैः प्रक्षाल्य मन्त्रवित्।
मूलमन्त्राभिजप्तानि पञ्चघोषपुरःसरम्।।५२।।
आशीर्वाग्भिर्द्विजातीनां मङ्गलाचारपूर्वकम्।
निर्वपेत्तेषु पात्रेषु प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः।।५३।।

बीजवपनमाह—**जलेति**। जलबीजेन वमिति वरुणबीजेन। प्रक्षाल्येति वक्ष्यमाणानि बीजानीति शेषः। **मूलमन्त्रैः** देयतत्तद्देवता-तत्तन्मन्त्रैरभिजप्तानि। जपश्चाष्टोत्तरशतमष्टोत्तरसहस्रं वा।

संख्याऽनुक्तौ शतं साष्टं सहस्रं वा जपादिषु।

इति राघवभट्टधृतमहाकपिलपञ्चरात्रवचनात्। **पञ्चघोषपुरःसरमिति**। पञ्चघोषास्तु पटह-कांस्य-मृदङ्ग-मुखवाद्य-शङ्खा इति राघवभट्टः। **मङ्गलेति**, मङ्गलाचारास्तु हुलहुलध्वनिप्रभृतयः। **निर्वपेदिति**। प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा तेषु पात्रेषु पालिकादिषु बीजानि निर्वपेदित्यर्थः। तदुक्तं राघवभट्टधृतसिद्धान्तशेखरे—

बीजमुख्येन मूलेन प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः।
वापयेत् सर्वबीजानि पालिकादिष्वनुक्रमात्।
बीजानामधिपः सोमस्तस्माद्रात्रौ तु निर्वपेत्।। इति।

बीजवपन—तन्त्रवेत्ता विद्वान् जलबीज (वं) का जप करते हुए गाय के दूध से बीजों को प्रक्षालित करे। फिर मूल-मन्त्र अर्थात् देय मन्त्र का १०८ बार जप करके पञ्चघोष के मध्य मंगलगानपूर्वक ब्राह्मणों का आशीर्वाद प्राप्त करके उक्त पात्रों में बीजों का वपन करे। बीजवपन का कार्य पूर्व अथवा उत्तर की ओर मुख करके किया जाय।। ५२-५३।।

विमर्श—(१) पञ्चघोष—पटह, कांस्य (झाँझ), मृदङ्ग, मुखवाद्य तथा शंख को जब एक साथ बजाया जाता है, उसे पञ्चघोष कहते हैं।

(२) शारदातिलक (३/४१) की पदार्थादर्श टीका में राघवभट्ट द्वारा यथा उद्धृत 'प्रयोगसार' के अनुसार बीजवपन का मन्त्र है—

त्रियम्बकाय शर्वार्य शङ्कराय शिवाय च।
सर्वलोकप्रधानाय शाश्वताय नमो नमः।।

पालिका आदि इन पात्रों में बोये जाने वाले बीजों का नामोल्लेख अगले श्लोक में किया जा रहा है—

[वपनीयानि बीजानि]

शालीश्यामाढकीमुद्गनिष्पावतिलसर्षपाः ।
कुलत्थ-कङ्गु-माषाश्च बीजान्यङ्कुरकर्मणि।।५४।।

शालीति। शालयः हैमन्तिकधान्यानि, श्यामाकः शामा इति वङ्गेषु प्रसिद्धं धान्यम्। आढकी अडहर इति वङ्गेषु प्रसिद्धो द्विदलविशेषः। निष्पावा राजमाषाः। कङ्गुः काउनी, काअन् इति च यस्य वङ्गेषु प्रसिद्धिः।

इन पात्रों में बोये जाने वाले बीज हैं—(१) धान, (२) श्यामाक अर्थात् सांवा, (३) आढकी अर्थात् अरहर, (४) निष्पावा अर्थात् राजमाष, (५) मूंग, (६) तिल, (७) सरसों, (८) कुलथी, (९) कंगु और (१०) माष अर्थात् उड़द।।५४।।

[तेषु स्कन्दादिदशदेवतापूजा]

स्कन्दं कङ्गौ च निष्पावे वायुमग्निं कुलत्थके।
आढक्यां निर्ऋतिं सोमं मुद्गे वैवस्वतं तिले।।५५।।
प्रजापतिं शालिबीजे चानन्तं सर्षपेऽर्चयेत्।
श्यामायामर्चयेदिन्द्रं माषे तु वरुणं यजेत्।।५६।।
सोमं सम्पूजयेन्नित्यमधिवासदिनावधि।।५७।।

एतेषु दशसु बीजेषु स्कन्दादीनां वरुणान्तानां दशदेवतानां क्रमेण पूजनमुपदिशति—स्कन्दमित्यादिना वरुणं यजेदित्यन्तेन।

सोममिति। नित्यमिति अङ्कुरार्पणदिवसात् प्रभृत्यधिवासदिनपर्यन्तं सोममर्चयेदित्यर्थः।

तदुक्तं राघवभट्टधृतसिद्धान्तशेखरे—

सोमं सम्पूजयेन्नित्यमधिवासदिनावधि।
अधिवासदिने प्राप्ते सोममुद्वासयेद् गुरुः।। इति।

इन दस प्रकार के अनाज के बीजों पर स्कन्द आदि दस देवताओं का पूजन किये जाने का विधान है। तदनुसार कंगु पर स्कन्द की, निष्पावा-बीजों पर वायु की, कुलथी बीजों पर अग्नि की, अरहर के बीजों पर निर्ऋति की, मूंगबीजों पर सोम की, तिल-बीजों पर वैवस्वत की, धानबीजों पर प्रजापति की, सरसों-बीजों पर अनन्त की, श्यामाक (सांवा) बीजों पर इन्द्र की तथा माष (उड़द) बीजों पर वरुण की पूजा वपन के पूर्व की जाय। बीज-वपन की रात्रि से दीक्षादिवस तक प्रतिदिन उन बीजों पर सोम (चन्द्रमा) की पूजा की जाय।।५५-५७।।

[वलिविधानम्]

हरिद्राद्भिः समभ्युक्ष्य वस्त्रैराच्छाद्य देशिकः।
बलिं त्रिविधपात्राणां दिक्षु पूर्वादितः क्षिपेत्।
प्रणवाद्यैर्नमोऽन्तैश्च रात्रौ रात्रीशनामभिः।।५८।।

[सप्तानां रात्रीणामधिपतयः]

भूतानि पितरो यक्षा नागा ब्रह्मा शिवो हरिः।
सप्तानामपि रात्रीणां देवताः समुदाहृताः।।५९।।

हरिद्राद्भिरिति। हरिद्राद्भिः हरिद्राचूर्णमिश्रितजलैः समभ्युक्ष्य बीजानीति शेषः। तदुक्तं राघवभट्टधृतप्रयोगसारे—

त्रियम्बकाय शर्वाय शङ्कराय शिवाय च।
सर्वलोकप्रधानाय शाश्वताय नमो नमः।।
विकीर्यानेन मन्त्रेण हरिद्राचूर्णमिश्रितम्।
तोयं प्रवर्षयेत्तेषु सिञ्चेत्तोयैर्दिनं प्रति।।

अत्र दिनं प्रतीति प्रतिदिनमित्यर्थः। **वस्त्रैरिति।** नूतनवस्त्रैराच्छाद्य। अत्र वस्त्रैरिति बहुवचनेन वस्त्राणां त्रिसंख्याकत्वं सूचितम्। तथाच प्रत्येकचतुष्टयमेकैकेनाच्छाद्य इत्यर्थः। एतदेव देशिक इत्यनेन सूचितम्। **बलिमिति।** त्रिविधपात्राणां प्रागुक्तपालिका-पञ्चमुखीशरावाणाम्, बलिं वक्ष्यमाणभूतादीनामित्यर्थः। पूर्वादित इति पात्रन्यासस्य पश्चिमादित्वेऽपि बलिं पूर्वादिक्रमेणैव कुर्यादित्यर्थः। **प्रणवाद्यैरिति।** प्रणवाद्यैर्नमोऽन्तैश्च मन्त्रे रात्रीशानां भूतानि पितरावित्यादिवक्ष्यमाणलक्षणानां नामभिर्बलिं क्षिपेदिति सम्बन्धः। ततश्च 'एष बलिः ॐ भूतेभ्यो नमः' इत्यादयो बलिक्रमाः।

रात्रीशनामभिरित्युक्तम्, के ते रात्रीशा इत्याकाङ्क्षायामाह—**भूतानीति।** एवञ्च भूतानि प्रथमाया रात्रेर्देवताः, पितरो द्वितीयाया रात्रेरित्येवंक्रमेण सप्त देवताः सप्तरात्रेश्वरा इति। तासां वलिरपि प्रथमाया रात्रेः सप्तमीं रात्रिं यावत् क्रमेण विधेय इत्यर्थः।

उपर्युक्त बीजों पर यथानिर्दिष्ट रेखाओं का अर्चन करके उन्हें पालिका आदि पात्रों में बिखेर कर बो दिया जाय। तत्पश्चात् उन पर हल्दी-पानी का अच्छी तरह छिड़काव करके रात्रीश और इन्द्र आदि लोकपालों को यथानिर्दिष्ट बलि प्रदान की जाय। तत्पश्चात् इन्हें हल्दी से रंगे गये तीन वस्त्रखण्डों से पृथक्-पृथक् ढँक दिया जाय। भूत, पितर, यक्ष, नाग, ब्रह्मा, शिव और हरि अधिवास अवधि की एक-एक रात्रि के स्वामी हैं। प्रणव (ॐ) रात्रीश का चतुर्थ्यन्त नाम और उसके बाद 'नमः' की योजना करने से रात्रीश का बलि-मन्त्र निष्पन्न होता है। यथा—एषः बलिः ॐ भूतेभ्यो नमः।'

[बलिद्रव्यभेदाः]

भूतेभ्यः स्युर्लाजतिलहरिद्रादधिशक्तवः।
सान्नाः पितृभ्यः सतिलास्तण्डुलाः परिकीर्त्तिताः।।६०।।
करम्भलाजा यक्षेभ्यो नारिकेलोदकान्विताः।
शक्तुः पिष्टञ्च नागेभ्यो ब्रह्मणे पङ्कजाक्षतम्।।६१।।
सापूपमन्नं शर्वाय विष्णवे स्याद् गुडौदनम्।।६२।।

अथ देवताभेदेन बलिद्रव्यभेदानाह—भूतेभ्य इत्यादिना। करम्भेति। 'करम्भो दधिशक्तव' इत्यमरः। तेन मिश्रिता लाजाः। सापूपमिति पिष्टकसहितम्, 'पूपोऽपूपः पिष्टकः स्यादि'त्यमरः।

इन तीन श्लोकों में रात्रि-देवताओं के बलिद्रव्य का निरूपण किया गया है। यह बलि प्रथम रात्रि से ही प्रदान की जाती है। तदनुसार प्रथम राशि में भूतों के लिये लाजा (लाई), तिल, हरिद्रा, सत्तू और अनाज की बलि, दूसरी रात में पितरों के लिये तिल-सहित अक्षत (बिना टूटा साबूत चावल) की बलि, तीसरी रात में यक्षों के लिये दधिमिश्रित सत्तू (कारम्भ) और लाजा की बलि, चौथी रात में नागों के लिये नारियल जलयुक्त सत्तू और पिष्टक की बलि, पाँचवीं रात में ब्रह्माजी को कमलसहित अक्षत की बलि, छठवीं रात में शिव के लिये अपूप (पुआ) सहित अनाज की बलि और सातवीं रात में विष्णु के लिये गुड़ में पकाये गये ओदन (भात) की बलि प्रदान करें। यह सात दिवसीय कल्प का विधान है।।६०-६२।।

[तत्र विशेषः]

नवरात्रविधौ मन्त्री दुग्धान्नं कृशरं पुनः।।६३।।
प्रदद्याद् विष्णवे चैवं सर्वेभ्यः पायसैश्च वा।

पूर्वं नवमे सप्तमेऽपि (४।३२) इत्यनेन नवरात्र्यात्मको यः कल्प उक्तस्तत्र **बलेर्विशेषमाह—नवरात्रविधाविति।** तत्र सप्तमीं रात्रिं यावत् प्रागुक्तक्रमेण बलिं विधाय. अष्टम्यां रात्रौ विष्णवे दुग्धान्नम्, नवम्यां रात्रौ च विष्णव एव कृशरं प्रदद्यादिति। तदुक्तं राघवभट्टेन—'यदा नवरात्रेषु बलिदानं तदा रात्रिद्वये बलिद्रव्यं देवता चोक्ताचार्यैः—वैष्णवञ्च दौग्धान्नं कृशरञ्च वैष्णवेयं यदि नवरात्रक्रमेण बलिरुक्त' इति। **सर्वेभ्य इति।** प्रागुक्तबलिद्रव्याणामलाभे भूतादिभ्यः सर्वेभ्य एव पायसैः एव पूर्व्वोक्तक्रमेण बलिं प्रदद्यादित्यर्थः।

नौ (९) दिवसीय कल्प में आठवीं रात में विष्णु के लिये दूध और अनाज की तथा नवीं रात में पुनः विष्णु के लिये कृसरान्न (खिचड़ी) की बलि प्रदान करें। यदि रात्रि-देवताओं के लिये उपर्युक्त बलि द्रव्य की व्यवस्था न हो सके तो उन्हें उपर्युक्त रात्रिक्रम से पायस (खीर) की बलि प्रदान की जाय।।६३।।

[दिक्पालबलिः]

ततश्च लोकपालेभ्यः पायसान्नैर्बलिं हरेत्।।६४।।

ततश्चेति। ततो भूतादिबलिदानानन्तरं पायसान्नैर्लोकपालेभ्यो बलिं हरेत् इति। अयं बलिः पूर्वादिक्रमेणैव। तत्रानन्तस्य बलिर्निर्ऋतिवरुणयोर्मध्ये, ब्रह्मणस्त्विशानेन्द्रयोर्मध्ये इति विशेषः।

रात्रिदेवताओं को बलि प्रदान करने के बाद रुद्र आदि लोकपालों को पायस-बलि दी जाय।।६४।।

प्रयोगक्रम—दूसरी रात में अंकुरशाला को अच्छी तरह साफ करने के बाद बीजपात्रों से वस्त्रों को हटा दें। हल्दी-मिश्रित जल से बीजों पर अच्छी तरह छिड़काव करके रात्रिदेवता को बलि प्रदान करें।

बलि प्रदान करने की विधि—सर्वप्रथम बलिमण्डल बनाकर रात्रिदेवता का आवाहन करें। उसे गन्ध-पुष्प-धूप-दीप प्रदान करने के बाद 'एषः बलि ॐ भूतेभ्यो नमः' आदि मन्त्रों से बलि प्रदान करें। दूसरी रात में 'भूतेभ्यो' के स्थान पर 'पितृभ्यो', तीसरी रात में 'यक्षेभ्यो नमः' आदि की योजना करें।

रात्रि-देवताओं के बाद इन्द्र आदि दस लोकपालों को उनकी पूर्व आदि दिशाओं में उपर्युक्त विधि से पायस-बलि दें। तत्पश्चात् वस्त्रों को हरिद्रा जल से आर्द्र करके यथावत् पात्रों पर ढंक दें।

[अङ्कुरपरीक्षा]

अथाङ्कुरं परीक्षेत यजमानः शुभाशुभम्।।६५।।

[तत्र शुभान्यङ्कुराणि]

सम्यगूद्ध्वर्प्ररूढानि कोमलानि सितानि च।
अङ्कुराणि शुभान्याहुरिति मन्त्रविदो जनाः।।६६।।

[अशुभान्यङ्कुराणि]

धूम्रवर्णान्यपूर्णानि तथा तिर्यग्गतानि च।
श्यामलानि च कुब्जानि वर्जयेदशुभानि च।।६७।।

अथाङ्कुरपरीक्षायां शुभान्यङ्कुराण्याह—सम्यगिति। सितानि शुभ्राणि। मितानीति पाठे मितानि समपरिमाणाग्राणीत्यर्थः।

अशुभान्यङ्कुराण्याह—धूम्रेत्यादिना। अपूर्णानि विरलसन्निवेशानि। तिर्यग्गतानि वक्राणि। कुब्जानि मध्यतो भङ्गुराणि। अत्र शुभाशुभाङ्कुरपरीक्षामाह राघवभट्टधृत-सिद्धान्तशेखरे—

यजमानाभिवृद्ध्यर्थमङ्कुराणि परीक्षयेत्।
सम्यगूद्ध्वं प्ररूढानि कोमलानि सितानि च।।

धूम्रवर्णान्यपूर्णानि तथा तिर्यग्गतानि च।
श्यामलानि च कुब्जानि वर्जयेदशुभानि तु।।
अवृष्टिं कुरुते कृष्णं धूम्राभं कलहं तथा।
अपूर्णं जननाशञ्च दुर्भिक्षं श्यामलाङ्कुरम्।
तिर्यग् गते भवेद् व्याधिः कुब्जे शत्रुभयं तथा।। इति।

बोये गये बीजों से उत्पन्न अंकुर से शिष्य के लिये दीक्षाग्रहण के शुभाशुभ का ज्ञान होता है। यदि इन बीजों से उत्पन्न अंकुर सीधा-सरल, कोमल एवं सफेद है तो उसे शुभ समझिये। यदि अंकुर का वर्ण धुयें के समान है तथा वह सीधा नहीं; अपितु वक्र या झुका हुआ है तो अशुभ समझिये।।६५-६७।।

[अशुभाङ्कुरोद्गमे शान्तिः]

तद्दोषशमनार्थञ्च शान्तिहोमं समाचरेत्।
गुरुर्मूलेन जुहुयाच्छतं वापि सहस्रकम्।।६८।।

इति श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचिते श्रीतत्त्वचिन्तामणौ चतुर्थः प्रकाशः।।४।।

अशुभाङ्कुरोद्गमे प्रतीकारमाह—**तद्दोषेति**। मूलेनेति देयमन्त्रेणेत्यर्थः। **शतं वापीति**। दोषस्याल्पत्वे शतं प्राचुर्य्ये सहस्रमित्यर्थः। सिद्धान्तशेखरेऽपि—

अशुभे चाङ्कुरे जाते शान्तिहोमं समाचरेत्।
मूलमन्त्रेण जुहुयाद् गुरुर्मूत्तिधरैः सह।
अघोरास्त्रेण चास्त्रेण शतं वाथ सहस्रकम्।। इति।

यदि अंकुर अशुभ है तो इस दोष के निवारण के लिये शान्ति होम करना चाहिए। मूल मन्त्र से एक सौ अथवा एक हजार आहुति प्रदानपूर्वक किया गया होम शान्तिहोम कहा जाता है। अल्प दोष होने पर एक सौ और दोष-प्राचुर्य की स्थिति में एक हजार आहुति दी जाती है।।६८।।

श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचित श्रीतत्त्वचिन्तामणि के चतुर्थ प्रकाश का
'भावना' भाष्य पूर्ण हुआ।।४।।

पञ्चमः प्रकाशः

[दीक्षाङ्गाधिवासनविधिर्दीक्षाविधिश्च]

[अधिवासस्य दीक्षापूर्वदिनकर्त्तव्यत्वम्]

अथ दीक्षादिनात् पूर्वमधिवासं चरेद् गुरुः।

[गणेशादिपञ्चदेवतापूजनम्]

गणेशं सवितारञ्च शङ्करं शङ्करप्रियाम्।।१।।
पूजयेत् कमलानाथं षोडशैरुपचारकैः।

एवं चतुर्थेऽङ्कुरार्पणान्तं कर्माभिधाय पञ्चमे दीक्षाक्रमं विवक्षः प्रथमं तदङ्गमधिवासमाह—**अथेति**। तत्र च गणेशादिदेवतापञ्चकमादौ पूजयेत्।

(दीक्षाङ्गधिवासनविधि)

चतुर्थ प्रकाश (अध्याय) में दीक्षोपयोगी अंकुरार्पण आदि की विधि बताने के बाद इस अध्याय में अधिवास और दीक्षा की विधि बताई जा रही है। दीक्षा-दिन के पूर्व गुरु और शिष्य अधिवास करें। अधिवास का अर्थ है—एक साथ रहें। अधिवास के दिन दीक्षादाता गुरुदेव गणेश, सूर्य, शिव, शिवाप्रिया पार्वती (भवानी) और भगवान् विष्णु की षोडशोपचारों से पूजा करें।।१-२।।

[तत्र पञ्चायतनदीक्षायां शिवस्य पूजाक्रमः]

यदा तु शङ्करं मध्य ऐशान्यां श्रीपतिं यजेत्।।२।।
आग्नेय्यां च तथा हंसं नैर्ऋत्यां पार्वतीसुतम्।
वायव्याञ्च समापूज्या भवानी भक्तवत्सला।।३।।

पञ्चायतनदीक्षायां प्रागुक्तानां पूजने विशेषमाह—**यदा त्विति**। अत्र उपास्यत्वेन मुख्यं देवं मध्यं यजेदितरांस्तु चतुरः कोणचतुष्टये। एवञ्च शङ्करोपासकः मुख्यतया यदा शङ्करं मध्ये यजेत्तदा ऐशान्यां श्रीपतिम्, आग्नेय्यां सूर्यम्, नैर्ऋत्यां गणेशम्, वायव्याञ्च अम्बिकां यजेदिति। एवं वक्ष्यमाणविष्णुसूर्याम्बिकाहेरम्बपूजनेऽपि ईशानादिक्रमेण पूजनं परं परं वक्ष्यते।

अत्र चतुर्दिक्षु कलसचतुष्टयं मध्ये च कलसमेकं संस्थाप्य तेषु पूजनमनुष्ठेयम्। एकदेवताकदीक्षास्थले तु एकमेव कलसमारोप्य तत्र देवतां पूजयेत्। अत एव प्रपञ्चसारे–

प्रोक्तेनैवं कलसविधिनैकेन वाऽनेककुम्भैः।

इत्यनेनाचार्यैरेकानेककुम्भस्थापनं व्यवस्थापितम्।

तन्त्रसारधृतगणेशविमर्षिणीवचने एकत्रैव सर्वेषां संग्रहो दृश्यते। यथा—

शम्भौ मध्यगते हरीन-हरभू-देव्यो हरौ शङ्करे-
भास्येनागसुता रवौ हरगणेशाऽजाऽम्बिका: स्थापिता:।
देव्यां विष्णुहरैकदन्तरवयो लम्बोदरेऽजेश्वरे-
नार्य्या: शङ्करभागतोऽतिसुखदा व्यस्तास्तु ते हानिदा:।। इति।

अत्र ऐशान्यां श्रीपतिं यजेदित्यादिना ईशानादिक्रमेणैव सर्वासामङ्गेवतानां पूजनमभिहितम्। तन्त्रसारधृतरामार्चनचन्द्रिका-गौतमीययोस्तु—

यदा तु मध्ये गोविन्दमाग्नेय्यां गणनायकम्।
नैर्ऋत्यां हंसमभ्यर्च्य वायव्यामर्चयेच्छिवाम्।
ऐशान्यां शङ्करञ्चैव भोगमोक्षफलाप्तये।।

इत्यादिना आग्नेयादिक्रमेणाङ्गदेवतानां पूजनमुक्तम्, एवं स्थिते प्रस्थानद्वये स्वस्वसम्प्रदायानुगत्यैकतरदाश्रयणीयम्। अत एव 'वस्तुतो वैकल्पिकमिति साम्प्रदायिका' इति तन्त्रसारकृत:।

दीक्षा का प्रसंग प्राप्त होने पर सर्वप्रथम पञ्चायतनी-दीक्षा में पूजा का क्रम बताया जा रहा है। इस दीक्षा में शिव, विष्णु, सूर्य, भवानी और गणेश में से कोई एक देवता प्रधान या मुख्य होता है। अन्य चार देवता उसके अंग होते हैं। अत: उनमें परस्पर अङ्ग-अङ्गी सम्बन्ध होता है। अतएव इन पाँचों देवताओं की पूजा एक पीठ पर की जाती है। एतदर्थ पाँच कलश या पाँच प्रतीकचिह्न एक ही पीठ पर स्थापित किये जाते हैं। इनमें से मुख्य या प्रधान देवता का कलश या प्रतीकचिह्न मध्य में और गौण देवताओं के पूजन-कलश या प्रतीकचिह्न एक विशिष्ट क्रम से ईशान आदि कोणों में स्थापित किये जाते हैं। मुख्य या प्रधान देवता के अनुसार गौण देवताओं के पूजन-कलश का स्थान बदल जाता है और तदनुसार उनकी पूजा विशेष क्रम से की जाती है। अगले श्लोकों में उस क्रम का निरूपण किया गया है—

शिव—यदि शिवजी मुख्य या अङ्गी देवता हैं तो उन्हें मध्य में स्थापित करके ईशान कोण में श्रीपति (विष्णु) की, अग्निकोण में हंस (सूर्य) की, नैर्ऋत्य कोण में गणेश की तथा वायव्य कोण में भवानी की स्थापना और पूजा करें।।२-३।।

[विष्णो:]

यदा तु मध्ये गोविन्दमैशान्यां शङ्करं यजेत्।
आग्नेय्यां गणनाथञ्च नैर्ऋत्यां तपनं तथा।
वायव्यामम्बिकाञ्चैव यजेन्मन्त्री समाहित:।।४।।

विष्णु—यदि भगवान् विष्णु मुख्य देवता हैं तो ईशान में शिव की, अग्निकोण में गणेशजी की, नैर्ऋत्य में तपन (सूर्य) की तथा वायव्य में अम्बिका (पार्वती) की स्थापना और पूजा करें।।४।।

[सूर्यस्य]

सहस्रांशुं यदा मध्य ऐशान्यां पार्वतीप्रियम्।
आग्नेय्यामेकदन्तञ्च नैर्ऋत्यामच्युतं यजेत्।
वायव्यां पूजयेद्देवीं भोगमोक्षैकभूमिकाम्।।५।।

सूर्य—यदि सूर्यनारायण प्रधान देवता हैं तो ईशान में शिव की, अग्निकोण में गणेश की, नैर्ऋत्य में विष्णु और वायव्य में भोग एवं मोक्षदायिनी भगवती पार्वती की पूजा करें॥४-५॥

[भवान्याः]

भवानीन्तु यदा मध्य ऐशान्यां माधवं यजेत्।
आग्नेय्यां पार्वतीनाथं नैर्ऋत्यां गणनायकम्।
प्रद्योतनन्तु वायव्यामाचार्यस्तत्र पूजयेत्।।६।।

भवानी—यदि भवानी मध्य में हैं तो ईशान में विष्णु, अग्निकोण में शिव, नैर्ऋत्य में गणेश और वायव्य में प्रद्योत (सूर्य) की स्थापना और पूजा करें॥५-६॥

[गणेशस्य]

हेरम्बन्तु यदा मध्य ऐशान्यामच्युतं यजेत्।
आग्नेय्यां पञ्चवक्त्रञ्च नैर्ऋत्यां जगदम्बिकाम्।
वायव्यां द्युमणिञ्चैव यजेन्मन्त्री समाहितः।।७।।

गणेश—यदि भगवान् हेरम्ब (गणेश) प्रधान देवता हों तो ईशान में विष्णु, अग्निकोण में पञ्चवक्त्र शिव, नैर्ऋत्य में अम्बिका (पार्वती) तथा वायव्य में द्युमणि (सूर्य) की पूजा करें॥६-७॥

विमर्श—उपर्युक्त श्लोकों में ईशान आदि जिस क्रम से अंग-देवताओं की स्थापना का क्रम बताया गया है, उसी क्रम से उनकी पूजा भी की जाती है। ईशान आदि अर्थात् ईशान-आग्नेय, नैर्ऋत्य एवं वायव्य।

[एषां निरुक्तस्थानादन्यत्र पूजने दोषः]

स्वस्थानवर्जिता देवाः शोकमोहभयप्रदाः।
मन्त्ररत्नावलेश्चैतत् प्रसङ्गान्मतमीरितम्।।८।।

मन्त्रेति। प्रसङ्गादिति। प्रागुक्तपूजनक्रमः पञ्चायतनदीक्षायामेव विहितः, परन्तु—

श्यामायां भैरवीताराच्छिन्नमस्तासु भैरवि।
मञ्जुघोषे तथा रौद्रे पञ्चाङ्गं नेष्यते बुधैः।।

इति तन्त्रसारधृतरुद्रजामलवचनेनात्र पञ्चायतनदीक्षाया अनुपयोगात् प्रसङ्गादित्युक्तम्। एवञ्चात्रानुपयोगित्वेऽपि अन्यत्रान्यत्रोपयोगित्वाद् दीक्षास्वरूपनिरूपणे पञ्चायतनदीक्षायां यो विशेषस्तस्याप्यभिधानमुचितमेवेति ग्रन्थकृतामाशयः।

समाहितेन मनसा ध्यायन्मन्त्रस्य देवताम्।
प्राणप्रतिष्ठां कुर्वीत तन्त्रमन्त्रविचक्षणः।।

इति शारदातिलकचतुर्थपटलवचनव्याख्याने राघवभट्टेन 'मन्त्रस्य देवतामित्येकमन्त्रदीक्षायाम्, पञ्चायतनदीक्षापक्षे पञ्च कलसान् संस्थाप्य तत्तत्कलसे तत्तद्देवतामावाहयेद्' इत्युक्तम्। एवञ्चैकदेवतादीक्षाविषये पञ्चाङ्गप्रक्रियाया उपयोगो नास्तीति राघवभट्टमतेनापि प्रसङ्गादिति साधु सङ्गच्छते।

पञ्चायतनी दीक्षा में अंग-देवताओं की स्थापना का उक्त क्रम 'मन्त्ररत्नावली' नामक ग्रन्थ के अनुसार है। अंग-देवताओं की स्थापना इनके लिये निर्दिष्ट स्थान पर ही की जाय। अपने स्थान से हटाये गये देवता भली-भाँति पूजित होने पर भी शोक और सन्ताप देते हैं।।७-८।।

विमर्श—(१) 'मन्त्ररत्नावली' के अतिरिक्त ज्ञानमाला, रामार्चनचन्द्रिका, गौतमीय तन्त्र, सनत्कुमार संहिता आदि अन्य कतिपय ग्रन्थों में भी पञ्चायतनी पूजा का विधान बताया गया है। इन ग्रन्थों में अंगदेवताओं की दिशा (स्थान) तो पूर्ववत् ही बताई गई है; मगर पूजन प्रारम्भ करने के क्रम में अन्तर है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अङ्ग-देवताओं की पूजा ईशान से प्रारम्भ किये जाने का विधान बताया गया है तो 'तन्त्रसार' में यथा-उद्धृत रामार्चनचन्द्रिका और गौतमीय तन्त्र के अनुसार अंग-देवताओं की पूजा अग्निकोण से प्रारम्भ करने का निर्देश दिया गया है। इस मत-विभिन्नता का समाधान करते हुए राघवभट्ट का अभिमत है कि अपने-अपने सम्प्रदाय और अपनी-अपनी गुरुपरम्परा के अनुसार ईशानादि अथवा आग्नेयादि क्रम से अंग-देवताओं का पूजन किया जाय। इन दोनों क्रमों में घालमेल नहीं किया जाय।

(२) सभी पाँचों देवताओं की पूजा एक साथ की जाय अथवा एक-एक कर क्रम से की जाय? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए मन्त्रमहोदधि (३२/४३) में कहा गया है—

काण्डानुसमयेनात्र पूजा प्रोक्ता मनीषिभिः।

अर्थात् काण्डानुसमय से पूजा की जाय। एक देवता के पूजाकाण्ड को समाप्त कर अन्य देवता की पूजा करने को काण्डानुसमय कहते हैं।

(३) इन पाँचों देवताओं में गौण और प्रधान देवताभेद से अर्चन-क्रम का निरूपण अगले श्लोक में किया गया है।

[एषु गौणमुख्यभेदेनार्चनक्रमभेदः]

मुख्ये पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा गणेशाद्यर्चनं चरेत्।
गणेश एव मुख्यश्चेत्तत्र सूर्यक्रमाद् भवेत्।।९।।

मुख्य इति। मुख्ये उपास्यतया प्रधाने पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा तत्तत्कल्पविहितं गणेशादीनामर्चनं कुर्यादित्यर्थः। अत्र मुख्यदेवतायै प्रथमं पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा गणेशादीनां

पूजनं निर्वर्त्त्य मुख्यदेवतापूजनं कुर्यादिति केचित्। अपरे तु अत्र पुष्पाञ्जलिशब्देन पूजासमाप्तौ देयं पुष्पाञ्जलिमाचक्षते। तथाच प्रधानदेवतायाः पूजनं समाप्य तस्यै पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा गणेशादीनामर्चनं चरेदिति वदन्ति। तदेवं स्थिते वचनस्योभयथा व्याख्याने स्वस्वसम्प्रदायानुसारेणैकतरः पक्षः समाश्रयणीय इति बोध्यम्। अत एव राघवभट्टेन—'एतच्च स्वस्वगुरुसम्प्रदायानुसारेण ज्ञेयम्' इत्युक्तम्।

तन्त्रसारकृता तु—'अङ्गदेवतापूजाकालस्तु पीठदेवतापूजानन्तरम्, तथाच सनत्कुमारतन्त्रे—

पीठस्यार्चनमङ्गदेवयजनं प्राणप्रतिष्ठा ततः।
आह्वानं निजमुद्रिकाविरचनं ध्यानं प्रभोः पूजनम्।।

इत्यनेन प्रधानदेवतापीठपूजानन्तरं गणेशादीनामर्चनमभिहितम्। मुख्ये पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा इत्यादिवचनानान्तु स्थापितप्रतिमायन्त्रादिपरत्वमुपपादितम् 'यत्तूक्तम्–

मुख्ये पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा अङ्गदेवान् समर्चयेत्।

तत्तु स्थापितप्रतिमायन्त्रादिपरमि'त्यन्तेन ग्रन्थेन।

मुख्य देवता को पुष्पाञ्जलि देकर तत्-तत् कल्प में यथाविहित गणेश आदि देवताओं का अर्चन किया जाय। यदि भगवान् गणेश मुख्य देवता हैं तो पूजा-क्रम का समारम्भ सूर्य-पूजा से किया जाय।।९।।

विमर्श—(१) 'मुख्ये पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा'—इस निर्देशवाक्य के दो अर्थ निकलते हैं। कतिपय आचार्यों का कथन है कि मुख्य देवता को पुष्पाञ्जलि देकर अपने-अपने कल्प के अनुसार गणेश आदि अङ्गदेवताओं की यथाक्रम पूरी पूजा कर लेने के बाद मुख्य देवता का अर्चन किया जाय। इसके विपरीत कुछ अन्य आचार्यों का मत है कि प्रधान देवता का सम्पूर्ण पूजन करके पूजा के अन्त में दी जाने वाली पुष्पाञ्जलि समर्पित करने के बाद अङ्गदेवताओं की यथाक्रम पूजा की जाय। इन उभय अभिमतों की समीक्षा करके राघवभट्ट ने यह समाधान प्रस्तुत किया है कि अपने-अपने सम्प्रदाय और अपनी-अपनी गुरुपरम्परा में प्रचलित क्रम का अनुसरण करना ही उचित एवं श्रेयस्कर है।

(२) पूजन की उपर्युक्त व्यवस्था पहिले से स्थापित प्रतिमा या यन्त्र आदि पर दैनिक पूजा के लिये है। प्रतिमा या यन्त्र आदि की प्रथम बार स्थापना के अवसर पर 'तन्त्रसार' में यथा उद्धृत 'सनत्कुमारतन्त्र' की यह व्यवस्था लागू होगी—

पीठस्यार्चनमङ्गदेवता यजनं प्राण प्रतिष्ठा ततः।
आह्वानं निजमुद्रिकाविरचनं ध्यानं प्रभोः पूजनम्।।

पीठदेवताओं की पूजा के बाद अङ्गदेवताओं का यजन, फिर प्राणप्रतिष्ठा, आवाहन, मुद्रा-प्रदर्शन, ध्यान और प्रधान देवता का पूजन।

(३) 'अङ्ग-अङ्गी' का सम्बन्ध केवल पञ्चायतनी दीक्षा या उपासना में मान्य है। अतः इस पक्ष में शिष्य को मुख्य देवता के साथ अंग-देवताओं के मन्त्र की भी दीक्षा दी जाती है। अंग-देवताओं के मन्त्र के सन्दर्भ में सिद्ध-अरि आदि का विचार नहीं किया जाता। पाँचों देवताओं की पूजा एक ही पीठ पर की जाती है। एक देवता की दीक्षा या उपासना के क्रम में न तो इनमें अङ्ग-अङ्गी का सम्बन्ध होता है और न एक पीठ पर उनकी पूजा की जाती है। श्यामा, तारा, छिन्नमस्ता, भैरवी आदि महाविद्याओं की उपासना में उनमें कोई अंग-अंगी सम्बन्ध नहीं होता और न ही एक पीठ पर उनकी पूजा होती है।

[एतेषामपूजने दोषः]

अनभ्यर्च्य नरो याति नरकं नात्र संशयः।।१०।।

इन देवताओं का पूजन नहीं करने से मनुष्य निश्चय ही नरक में जाता है।।१०।।

[दिक्पालबलिः]

अथ दिक्पालदेवेभ्यो बलिं दद्याद् गुरूत्तमः।।११।।

अथेति। पूजादिकं समाप्य। दिक्पालबलिक्रमस्तु नवमपटले वक्ष्यते।

इन देवताओं का अर्चन करने के बाद दिग्पालों को बलि देनी चाहिए।।११।। दिक्पालों को बलि देने की विधि अगले नवम पटल में बताई गई है।

[अथ शिष्ये गुरोः कृत्यम्]

अथ शिष्यं समानीय सुस्नातं समलङ्कृतम्।
तद्गात्रे मातृकान्यासं तथा ऋष्यादिकं न्यसेत्।।१२।।
देयमन्त्रं तस्य मूर्ध्नि जपेदष्टोत्तरं शतम्।
शङ्खतोयेन तन्मन्त्रैस्ततः सम्प्रोक्षयेच्छिशुम्।।१३।।

अनन्तरकरणीयमाह—**अथ शिष्यमिति**। एतच्च सर्वमात्मसमर्पणान्तं कर्म समाप्य कर्त्तव्यमित्यवधेयम्। **ऋष्यादिकमिति**। एतत्कल्पोक्त ऋष्यादिन्यासस्तु पूजाक्रमे वक्ष्यते।

दिक्पालों को बलि देने के बाद गुरुदेव अपने शिष्य के शरीर में मातृका-न्यास तथा देय मन्त्र के ऋष्यादि न्यास करने के बाद उसके सिर पर देय मंत्र का १०८ बार जप करें तथा देय मन्त्र से शंख का जल छिडकें।।१२-१३।।

[शिष्यकृत्यम्]

ततः पुष्पादिकं दत्त्वा बालकः प्रणमेद् गुरुम्।।१४।।

शंखजल से अभिसिंचन के बाद दीक्षार्थी शिष्य गुरुदेव को पुष्प आदि समर्पित करके प्रणाम करे।।१४।।

[ततः शिष्यं प्रति गुरोः कृत्यम्]

आशीर्वादं गुरुर्दत्त्वा ब्राह्मणैः सह साधकैः।
दर्भशय्यां परिष्कृत्य शिष्यं तत्र निवेशयेत्।
स्वापमन्त्रेण मन्त्रज्ञः शिशोः शिखां प्रबन्धयेत्।।१५।।

स्वापमन्त्रेणेति वक्ष्यमाणस्वप्नमानवमन्त्रेण। अत्र शिखाबन्धनं स्वप्नमानवमन्त्रेणाभिहितम्। गन्धर्वतन्त्रे षड्विंशपटले तु—

मूलेनैव शिखां बद्ध्वा ततः शय्यागतं शिशुम्।
स्वप्नमानवमाश्रित्य स्वापयेत् पूर्वमस्तकम्।।

इत्यनेन मूलमन्त्रेण शिखाबन्धनम्, स्वप्नमानवमन्त्रेण स्वापनमुपदिश्यते। एवं स्थिते क्रमभेदे स्वस्वगुरुसम्प्रदायानुसारेणैकतरः क्रमः समाश्रयणीय इत्यवधेयम्।

ब्राह्मणों तथा वहाँ उपस्थित अन्य साधकों-सहित दीक्षार्थी को आशीर्वाद देकर गुरुदेव शिष्य को दर्भ-शय्या (कुश की चटाई) पर बिठाकर स्वाप मन्त्र से उसकी शिखा में गाँठ बाँध दें।।१४।।

[शिष्यस्य शयनकाले श्रीगुरुदत्तस्वप्नमानवमन्त्रपाठः]

तन्मन्त्रं स्वापसमये पठेद् वारत्रयं शिशुः।
श्रीगुरोः पादुकां ध्यात्वा उपवासी जितेन्द्रियः।।१६।।

शिष्य को उस दिन उपवास रखना चाहिए। वह उस रात में सोने के पूर्व गुरुदेव के चरण-कमलों का ध्यान करके तीन बार स्वाप मन्त्र का जप करे।।१६।।

[स्वप्नमानवमन्त्रः]

तारो हिलिद्वयं शूलपाणये द्विठ ईरितः।
स्वप्नमानवमन्त्रोऽयं शम्भुना परिकीर्त्तितः।।१७।।

स्वप्नमानवमन्त्रमाह—तार इत्यादि। तारः प्रणवः द्विठः स्वाहा। एवञ्च ॐ हिलि हिलि शूलपाणये स्वाहा इति स्वप्नमानवमन्त्रः। इमं मन्त्रं स्वापकाले वारत्रयं पठेत् इत्याह पूर्ववचने वारत्रयमित्यनेन।

स्वाप मन्त्र—'ॐ हिलि हिलि शूलपाणये स्वाहा'—यह स्वाप मन्त्र है। इस मन्त्र का तीन बार जप करने के बाद शिष्य भगवान् से प्रार्थना करे—

[प्रार्थनामन्त्रः]

नमोऽजाय त्रिनेत्राय पिङ्गलाय महात्मने।
वामाय विश्वरूपाय स्वप्नाधिपतये नमः।।१८।।
स्वप्ने कथय मे तथ्यं सर्वकार्येष्वशेषतः।
क्रियासिद्धिं विधास्यामि त्वत्प्रसादान्महेश्वर।।१९।।

एतन्मन्त्रपाठानन्तरप्रार्थनामन्त्रमाह—**नम इति।** गन्धर्वतन्त्रे षड्विंशपटलेऽपि इतः प्रभृति सिद्धिमवाप्नुयादित्यन्तानि वचनानि तुल्यान्येव दृश्यन्ते।

उपर्युक्त प्रार्थना करने के बाद दीक्षार्थी शिष्य भगवान् शिव का ध्यान करते हुए दर्भ-शय्या पर सो जाय॥१८-१९॥

[शिष्यस्य प्रार्थनापूर्वकं शयनम्]

इति मन्त्रेण सच्छिष्यो देवं प्रार्थ्य स्वपेच्च वा।

[प्रातः शिष्यं प्रति स्वप्नदर्शनप्रश्नः]

स्वप्ने शुभाशुभं दृष्टं पृच्छेत् प्रातः शिशुं गुरुः।।२०।।

दूसरे दिन प्रात:काल निद्रात्याग के उपरान्त गुरुदेव दीक्षार्थी से यह पूछें कि उसन रात में क्या स्वप्न देखा॥२०॥

[स्वप्ने वक्ष्यमाणानां दर्शनं सिद्धिकरम्]

कन्यां छत्रं रथं दीपं प्रासादं काननं नदीम्।
कुञ्जरं वृषभं माल्यं समुद्रं फणिनं द्रुमम्।।२१।।
पर्वतं तुरगं मेध्यमाममांसं सुरालयम्।
एवमादीनि सर्वाणि दृष्ट्वा सिद्धिमवाप्नुयात्।।२२।।

अत्र कन्यां छत्रं रथमित्यादिना सिद्धिमाप्नुयादित्यन्तेन स्वप्ने शुभसूचकानामेव निर्देशः कृतः। शुभाशुभं गुरुर्ज्ञात्वेति वक्ष्यमाणग्रन्थेनाशुभानामप्यपेक्षितत्वात् तानि प्रदर्श्यन्ते, यथाह गन्धर्वतन्त्रे षड्विंपटले—

चाण्डालं गर्दभं काकं रुजाऽशून्यममङ्गलम्।
तैलाभ्यक्तं नरं नग्नं शुष्कवृक्षं सकण्टकम्।
प्रासादमतलं दृष्ट्वा नरो रोगमवाप्नुयात्॥ इति।

राघवभट्टधृतमहाकपिलपञ्चरात्रेऽपि कन्यां छत्रं रथमित्यादिमूलसंवादिशुभ-शकुनान्यभिधाय—

चाण्डालं करभं कारुं गर्त्तं शून्यममङ्गलम्।
तैलाभ्यक्तं नरं नग्नं शुष्कवृक्षं सकण्टकम्।
प्रासादमतलं दृष्ट्वा नरो रोगमवाप्नुयात्॥

इत्यनेनाशुभान्यपि प्रदर्शितानि।

शुभ स्वप्न—स्वप्न में कन्या, छत्र (छाता), रथ, दीपक, महल, वन, नदी, हाथी, बैल, समुद्र, सर्प, हरे-भरे वृक्ष, पर्वत, घोड़ा, कच्चा-मांस एवं देवमन्दिर का देखना शुभ और सिद्धि का सूचक है॥२१-२२॥

विमर्श—गन्धर्वतन्त्र और कपिलपञ्चरात्र में शुभ स्वप्नों के साथ अशुभ स्वप्न भी बताये गये हैं। तदनुसार चाण्डाल पुरुष, करभ, कौआ, गहरा गड्ढा, तेल लगाया हुआ नग्न पुरुष, सूखे हुए काँटेदार वृक्ष आदि को देखना अशुभ है।

[अशुभस्वप्नदर्शने तच्छान्त्यर्थं होमः]

शुभाशुभं गुरुर्ज्ञात्वा जुहुयादशुभे शतम्।
अस्त्रेणेति क्रमात् प्रोक्तो विधिः शिष्याधिवासने।।२३।।

अस्त्रेणेति। फट् स्वाहेति मन्त्रेण शतं जुहुयादित्यर्थः। एतदधिवासनं मन्त्रग्रहणपूर्वरात्रौ कर्त्तव्यम्। राघवभट्टधृतपिङ्गलामते तु सद्योऽधिवासनमप्यभिहितम्। यथा—

सद्योऽधिवासमथवा प्रकुर्वीत यथाविधि।

राघवभट्टधृतमन्त्रतन्त्रप्रकाशेऽपि—

दिनद्वयेनैव कुर्याद्दीक्षाकर्म विचक्षणः।
सद्योऽधिवासनं वा स्यादेकस्मिन् दिवसे यदि।। इति।

अधिवासशब्दार्थमाह राघवभट्टधृतमहाकपिलपञ्चरात्रे—

वसतेरधिपूर्वस्य भावे घञ्प्रत्यये कृते।
अधिवास इति ह्येष प्रयोगः सिद्धिमेति च।।
गुर्वादिसहितो वासो रात्रौ नियमपूर्वकः।
सोऽस्यार्थो हि निपातानामनेकार्थतया मतः।। इति।

यदि शिष्य ने रात्रि में अशुभ स्वप्न देखा है तो उसकी अशुभता की शान्ति के लिये गुरुदेव अस्त्र-मन्त्र (फट्) से एक सौ आहुतियाँ देकर हवन करें।।२३।।

[दीक्षादिनकृत्यम्]

अथ दीक्षादिने मन्त्री स्नात्वा तन्त्रानुसारतः।
जलशङ्खकरो मन्त्री यागस्थानं समाश्रयेत्।।२४।।
क्षालयेद्धस्तपादौ च आचामेद् विधिपूर्वकम्।

[सामान्यार्घ्यस्थापनम्]

पूर्वद्वारे तोरणस्य समीपेऽर्घ्यं प्रकल्पयेत्।।२५।।

अथेति अधिवासानन्तरम्। **स्नात्वा तन्त्रानुसारत इति।** तान्त्रिकस्नानन्तु ग्रन्थकारः स्वयमेव पञ्चदशप्रकाशे वक्ष्यति। **जलशङ्खकर इति** अर्घ्यस्थापनार्थम्।

क्षालयेदिति। एतदाचमनाङ्गहस्तपादप्रक्षालनम्। तदुक्तम्—

प्रक्षाल्य पाणी पादौ च गोकर्णाकृतिहस्ततः।
माषमज्जनमात्रन्तु त्रिः पिबेदम्बु वीक्षितम्।।

इत्यादि। **आचामेद् विधिपूर्वकमिति।** अत्र विधिपूर्वकमित्यनेन श्रीविद्योक्तविधिनाचमनमुपदिश्यते। तदुक्तं हरतत्त्वदीधितिधृतभैरवतन्त्रे—

बालाबीजैस्त्रिभिः पीत्वा द्वाभ्यामोष्ठौ प्रमार्जयेत्।
दुर्गाद्वाभ्यां द्विरुन्मृज्य मायया क्षालयेत् करम्।।

श्रीमायावाक्परा-काम-त्रिपुटायोनिवर्त्तुलैः ।
कामकलाङ्कुशाभ्याञ्च मुखनासाक्षिकर्णकान्।।
नाभ्युरस्कं भुजौ स्पृष्ट्वाप्यधिकारी जपादिषु।। इति।

अत्र बालाबीजैरिति ऐँ क्लीं सौँः। दुर्गाद्वाभ्यामिति दूँ दूँ। माययेति ह्रीँ। श्रीबीजं श्रीँ। वाग्बीजं ऐँ। पराबीजं ह्रीँ। कामबीजं क्लीं। त्रिपुटेति श्रीँ ह्रीँ क्लीँ। योनिः ऐँ। वर्त्तुलं बिन्दुः। वर्त्तुलैरित्यनेन पूर्वोक्तानि बीजानि विशेषितानि। कामकला ईँ। अङ्कुशः क्रोँ इति।

तथा चायं प्रयोगः—ऐँ क्लीं सौंः इति बीजत्रयेण त्रिर्जलं पीत्वा दूँ दूँ इत्योष्ठौ प्रमार्ज्य ह्रीँ इति करौ प्रक्षालयेत्। श्रीँ इति मुखे, ह्रीँ इति दक्षिणनसि, ऐँ इति वामनसि, ह्रीँ इति दक्षिणचक्षुषि, क्लीँ इति वामचक्षुषि, श्रीँ इति दक्षकर्णे, ह्रीँ इति वामकर्णे, क्लीँ इति नाभौ, ऐँ इति वक्षसि, ईँ इति दक्षिणभुजे, क्रोँ इति वामभुजे इति हरतत्त्वदीधितिः।

दीक्षा दिन के कृत्य—दीक्षा के दिन दीक्षादाता गुरुदेव तान्त्रिक विधि से स्नान करके याग-मण्डप में आकर हाथ-पैर धोयें और यथाविधि आचमन करें। तत्पश्चात् मण्डप के पूर्व द्वार पर सामान्य-अर्घ्य की स्थापना करें।।२४-२५।।

आचमन-विधि—तान्त्रिक स्नान की विधि पन्द्रहवें पटल में बताई गई है। विधिवत् आचमन से तात्पर्य है—श्रीविद्या-अर्चन के लिये विहित विशेष विधि। भैरवतन्त्र के अनुसार यह विधि निम्नानुसार है—

'ऐं क्लीं सौः'—इन बालाबीजों से तीन बार जल पान करे। दुर्गा बीज-द्वय—'दुं दुं' से ओठों को साफ करे। 'ह्रीं' बीज से हाथ धोकर शरीर के विभिन्न अंगों का स्पर्श करे—

श्रीं नमः—मुखे। ह्रीं नमः—दक्षनासायाम्। ऐं नमः—वामनासायाम्।
ह्रीं नमः—दक्षिणनेत्रे। क्लीं नमः—वामनेत्रे। श्रीं नमः—दक्षकर्णे।
ह्रीं नमः—वामकर्णे। क्लीं नमः—नाभौ। ऐं नमः —वक्षसि।
ईं नमः—दक्षिणभुजे। क्रों नमः—वामभुजे।

[सामान्यार्घ्यक्रमः]

अस्त्रेण पात्रं प्रक्षाल्य हृन्मन्त्रेण प्रपूरयेत्।
निक्षिपेत्तीर्थमावाह्य गन्धादीन् प्रणवेन तु।।२६।।
दर्शयेद्धेनुमुद्रां वै सामान्यार्घ्यमिदं स्मृतम्।

[द्वारपूजायाः कर्त्तव्यता]

स्वकल्पोक्तविधानेन द्वारपूजां समाचरेत्।।२७।।

अस्त्रेण 'फट्' इत्यनेन। हृन्मन्त्रेण 'नमः' इत्यनेन।

सामान्य अर्घ्य की स्थापना—अस्त्र-मन्त्र (फट्) से अर्घ्य-पात्र को धोयें। 'नम:' का उच्चारण करते हुए उसमें जल भरें। जल में गंगा आदि सरित् तीर्थों का आवाहन करके 'ॐ' का जप करते हुए उसमें गन्धाक्षत डालें। धेनु-मुद्रा दिखाएँ। सामान्य अर्घ्य-स्थापना की यह सामान्य विधि है। इसके बाद अपने कल्प के अनुसार द्वारदेवताओं का पूजन करें।।२६-२७।।

[गुरोर्यागमण्डपप्रवेश:]

किञ्चित् स्पृशन् वामशाखां देहलीं लङ्घयेद् गुरुः।
अङ्गं सङ्कोचयन्नन्तः प्रविशेद्दक्षिणाङ्घ्रिणा।।२८।।

द्वारपूजा मूलदेवतापूजाक्रमे वक्ष्यते। **किञ्चिदिति**। मण्डपद्वारस्य वामशाखां किञ्चित् स्पृशन्।

ततो दक्षिणशाखायां विघ्नं क्षेत्रेशमन्ततः।

इति शारदातिलकपञ्चमपटलवचनेन दक्षिणशाखायां सामान्यतो विघ्नेशक्षेत्रपालपूजनाभिधानात् तत्स्पर्शपरिहाराय वामशाखास्पर्शपूर्वकगमनमुपदिश्यते। देहलीलङ्घनमपि तथैव—

देहल्यामर्चयेदस्त्रं प्रतिद्वारमितिक्रमात्।

इति शारदावचनात्। अत एव राघवभट्टेनापि किञ्चित् स्पृशन्नित्यादिशारदावचनव्याख्याने अत: स्पृशन्नित्यादित्रयं दृष्टार्थं देहल्यामपि देवस्य पूजितत्वादित्युक्तम्। **अङ्गमिति**। वामाङ्गं सङ्कोचयन्नित्यर्थः। अङ्गसङ्कोचनन्तु नि:सरतां विघ्नानामवकाशदानार्थम्।

उत्सारितानां विघ्नानां ददद् वर्त्म तु वामतः।
तथा— निर्गच्छतां विघ्नकृतामथैषां वामाङ्गसङ्कोचनचेष्टितेन।
प्रदाय मार्गम् ....।।

इत्यादिराघवभट्टधृतवचनेन तथाभिधानात्। **दक्षिणाङ्घ्रिणेति**। दक्षिणपादं पुरस्कृत्य यागमण्डपं प्रविशेदित्यर्थः। तन्त्रसारादावप्येवमेव। यत्तु हरतत्त्वदीधितिकृता—

किञ्चित् स्पृशन् वामशाखां वामपादपुर:सरम्।
स्मरन् देव्या: पदाम्भोजं मण्डपं प्रविशेत् सुधी:।।

इति तन्त्रान्तरवचनम्,

वामपादं पुरस्कृत्य प्रविशेद् यागमण्डपम्।

इति शिवार्चनचन्द्रिकाधृतत्रिपुरार्णववचनम्,

दक्षपादं पुरस्कृत्य प्रविशेद्देवमन्दिरम्।
शाक्तस्तु वामपादम्....................।।

इति मेरुतन्त्रपञ्चमप्रकाशवचनञ्च स्वमतसमर्थनानुकूलमुल्लिख्य पुंदेवतामन्दिरप्रवेशे दक्षपादपुरःसरत्वं शक्तिमन्दिरप्रवेशे वामपादपुरःसरत्वञ्चोपपाद्य, 'यत्तु तन्त्रसारकारेण दक्षपादपुरःसरं वामशाखां स्पृशन् दक्षिणाङ्गं सङ्कोचयन् मण्डपान्तः प्रविश्येति सामान्येनोक्तं तदेतद्वचनमनालोच्यैवे'त्यादिना तन्त्रसारकारशिरसि दण्डं पातयितुमुद्युक्तम्, तदपि गन्धर्वतन्त्रवचनमनालोच्यैवेति प्रतीमः।

अङ्गं सङ्कोचयन्नन्तः प्रविशेद्दक्षिणाङ्घ्रिणा।
यागमन्दिरगांस्तत्र विघ्नानुत्सारयेत्ततः।।

इति गन्धर्वतन्त्रसप्तमपटलवचनेन शक्तिविषये दक्षिणपादपुरःसरमण्डपान्तः प्रवेशस्याप्यभिधानात्। न च तर्हि प्रागुक्ततन्त्रान्तरादिवचनानां विरोध इति वाच्यम्, गन्धर्वतन्त्रस्य श्रीविद्यामात्रप्रतिपादकतया श्रीविद्येतरशक्तिविषये तन्त्रान्तरादिवचनानां चरितार्थत्वात्। एवञ्च श्रीविद्येतरशक्तिमण्डपप्रवेशो वामपादपुरःसरः, श्रीविद्यायान्तु दक्षपादपुरःसर एव मण्डपप्रवेशो विहित इति स्थितम्। अत एव तत्रभवता पूर्णानन्देन प्रविशेद्दक्षिणाङ्घ्रिणेत्युक्तम्। यत्तु तन्त्रसारकारेण दक्षपादपुरःसरमित्युक्तं तत् प्रागुक्तगन्धर्वतन्त्रवचनस्याविशेषेण शक्तिमात्रपरत्वमभिप्रेत्य स्त्रीपुरुषदेवतासाधारण्येन। न तु तेन स्त्रीदेवतामण्डपे वामपादपुरःसरः प्रवेशः क्वापि प्रतिषिद्धः। शक्तिमण्डपप्रवेशे क्वचिद् वामपादपुरःसरत्वस्य क्वचन वा दक्षपादपुरःसरत्वस्य दर्शनाद् दक्षपादस्य स्त्रीपुरुषदेवतासाधारण्यात् तन्त्रसारस्य च स्त्रीपुरुषसाधारणदेवताप्रतिपादकत्वात् तत्र दक्षपादपुरःसरत्वं सामान्येनाभिहितमिति संक्षेपः।

दाहिने अंग को कुछ सिकोड़कर तथा वाम (बाँयें) भाग में द्वार का स्पर्श करते हुए दीक्षादाता गुरुदेव अपना दाहिना पैर बढ़ाकर यागमण्डप में प्रवेश करें।।२८।।

[पूजा]

नैर्ऋत्यां दिशि वास्त्वीशान् ब्रह्माणञ्च प्रपूजयेत्।

[मण्डपप्रोक्षणम्]

पञ्चगव्यार्घ्यतोयाभ्यां प्रोक्षयेद् यागमण्डपम्।।२९।।

यागमण्डप में प्रवेश करके पञ्चगव्य और अर्घ्यजल से मण्डप को सींचें तथा नैर्ऋत्य कोण में वास्तुपुरुष और ब्रह्मा की पूजा करें।।२९।।

[पञ्चगव्यपरिमाणम्]

मूत्रं प्रस्थं गोमयं स्यात् क्षीरतोऽप्यर्द्धमेव वा।
आज्यं दध्नोऽप्यर्द्धमानं प्रमाणं तत् प्रकीर्त्तितम्।
स्वैः स्वैर्मन्त्रैश्च मन्त्रज्ञो योजयेत् पञ्चगव्यकम्।।३०।।

गोमूत्र, गोमय (गोबर), गाय के दूध, गाय की दही और गाय के घी से पञ्चगव्य बनाया जाता है। गोमूत्र का आधा गोमय, दूध एक प्रस्थ, दूध का आधा

दही और दही का आधा घी। यथानिर्दिष्ट मन्त्रों से इन वस्तुओं को लेकर पञ्चगव्य बनाया जाता है॥३०॥

[प्रस्थस्वरूपम्]

चतुःपलः स्यात् कुडवस्तच्चतुः प्रस्थ उच्यते।

चार पल का एक कुडव और चार कुडव का एक प्रस्थ होता है।

[मण्डपशोधनम्]

चतुःपथान्तां तच्छुद्धिं विदध्याद्वीक्षणादिभिः।।३१।।
वीक्षणं मूलमन्त्रेण शरेण प्रोक्षणं मतम्।
तेनैव ताडनं दर्भैर्वर्मणाभ्युक्षणं मतम्।।३२।।

मण्डपशोधनमाह—**चतुःपथान्तामिति।** अत्र चतुःपथशब्देन चतुर्दिक्षु मण्डपाद् बहिस्तोरणस्तम्भपर्यन्तो हस्तमात्रपरिमितः प्रदेश उच्यते। तथाच वीक्षणादिभिर्वक्ष्यमाणैश्चतुःपथान्तां तच्छुद्धिं मण्डपशुद्धिं कुर्यादित्यर्थः।

वीक्षणमिति। मूलमन्त्रेण देयमन्त्रेण। शरेण अस्त्रमन्त्रेण फट् इत्यनेनेत्यर्थः। वर्मणा कवचेन हुँ इत्यनेन।

मण्डप-शोधन के उपक्रम में चतुःपथ का भी शोधन किया जाय। मण्डप के चारो ओर मण्डप और बाहरी तोरण-स्तम्भों के बीच में जो एक हाथ चौड़ी खाली जगह होती है, उसे चतुष्पथ कहते हैं। मूल मन्त्र अर्थात् देय मन्त्र का जप करते हुये चतुष्पथ का भली-भाँति निरीक्षण करके अस्त्रमन्त्र (फट्) का जप करते हुए उस पर अच्छी तरह जल छिड़कें। तत्पश्चात् कवच-मन्त्र (हुम्) का जप करते हुए कुशों से उसे ताडित करें॥३१-३२॥

चन्दनागुरुकर्पूरैर्धूपयेदन्तरं सुधीः।
विकिरान् विकिरेत्तत्र सप्तजप्ताञ्छराणुना।।३३।।

शराणुना फट् इत्यस्त्रमन्त्रेण सप्तधा जप्तानित्यर्थः।

अगर, चन्दन का चूर्ण (बुरादा) और कपूर जलाकर मण्डप को सुवासित करें। अस्त्रमन्त्र (फट्) का सात बार जप करके मण्डप में विकिरों को बिखेर कर फैला दें॥३३॥

[विकिरलक्षणम्]

लाज-चन्दन-सिद्धार्थभस्मदूर्वाक्षताः कुशाः।
विकिरा इति निर्दिष्टाः सर्वविघ्नौघनाशनाः।।३४।।

लाई (लाजा), चन्दन का चूर्ण, सिद्धार्थ (पीली सरसों), भस्म (यज्ञभस्म), दूर्वा, अक्षत और कुश के टुकड़ों को मिलाकर 'विकिर' बनाया जाता है। मण्डप

में विकिर बिखेरने से वहाँ सूक्ष्म रूप से विद्यमान सभी विघ्नों का शमन हो जाता है।।३४।।

[मार्जनम्]

अस्त्रजप्तेन दर्भाणां मुष्टिना मार्जयेच्च तान्।

[गुरुपूजादि]

गुरुपूजादिकं कार्यं सम्प्रदायविधानतः।।३५।।

[पुण्याहवाचनादि]

पुण्याहं वाचयित्वा तु ब्राह्मणान् परितोष्य च।

कुशाओं से बनाई गई मुष्टि (झाड़ू) को अस्त्र मन्त्र (फट्) से अभिमन्त्रित करें और फिर उस झाड़ू से विकिरों को बहार दें। तत्पश्चात् पुण्याहवाचन कराकर उन वेदपाठी ब्राह्मणों को यथोचित दक्षिणा देकर सन्तुष्ट करें। तदुपरान्त दीक्षादाता गुरुदेव अपने सम्प्रदाय के अनुसार पूजा आदि कार्य प्रारम्भ करें।।३५।।

[चक्रराजनिर्माणम्]

सिन्दूररजसा वापि कुङ्कमेनाथवा ततः।।३६।।
वेदिकायां लिखेन्मन्त्री चक्रराजं मनोहरम्।।३७।।
षट्कोणं विलिखेदादौ त्रिकोणं मध्यदेशतः।
वृत्तं वसुदलञ्चैव द्वादशारं वसुद्वयम्।।३८।।
द्विर्दशारं समालिख्य ततोऽष्टदलमालिखेत्।
चतुरस्रं लिखेद्बाह्ये चतुर्द्वारसमन्वितम्।।३९।।

[तत्र प्रकारान्तरम्]

अथवा नवकोणन्तु चतुरस्रयुतं लिखेत्।।४०।।

दीक्षायां पूजार्थं चक्रे व्याख्येये प्रथमं चक्रनिर्माणोपकरणद्रव्यमाह—**सिन्दूरेति**। वेदिकायामिति मण्डपान्तर्वेदिकोपरि।

चक्रराजनिर्माणमाह—**षडिति**। प्रथमं षट्कोणं तदन्तस्त्रिकोणम्, षट्कोणाद् बहिर्वृत्तम् ततोऽष्टदलपद्मम्, ततो वृत्तं द्वादशदलपद्मञ्च, ततो वृत्तं षोडशदलपद्मञ्च, तद्बहिर्वृत्तं विंशतिदलपद्मञ्च, तद्बहिर्वृत्तमष्टदलपद्मञ्च, तद्बहिश्चतुर्द्वारसमन्वितं चतुरस्रमिति। अत्र वृत्तात् परं दलनिर्माणनियमनात् प्रतिदलमूले सीमासम्पादनार्थमेकैकं वृत्तं कर्त्तव्यमित्यवधेयम्।

प्रागुक्तचक्रकरणाशक्तौ क्रमान्तरमाह—**अथवेति**। कल्पेऽस्मिन् प्रथमं नवकोणं ततश्चतुरस्रं तदपि द्वारसहितमेव कार्यं चतुरस्रस्य भूगृहरूपतया तस्य सद्वारकत्वौचित्यात् प्रागुक्तचक्रराजे तथा दर्शनाच्च।

पूजा के लिये बनाई गई वेदी पर सिन्दूर अथवा कुंकुम के चूर्ण से चक्रराज का अङ्कन करें। चक्र बनाने के लिये सर्वप्रथम षट्कोण बनाकर उसके भीतर त्रिकोण (अधोमुख) बनायें। षट्कोण को वृत्त से घेरकर उस पर अष्टदल कमल बनायें। उसे वृत्त से घेरकर द्वादशदल कमल, फिर वृत्त, उस पर षोडश दल कमल, वृत्त, विंशति (२०) दल कमल, वृत्त और उस पर पुनः अष्टदल कमल बनाकर चतुर्द्वार-युक्त भूपुर से घेर दें।

यदि यह चक्र नहीं बना पायें तो विकल्पतः नौ कोणात्मक यन्त्र बनाकर उसे चार द्वार वाले भूपुर से घेर दें॥३६-४०॥

[पूजाद्रव्यस्थापनम्]

बद्धपद्मासनो मन्त्री देवतापूजने रतः।
स्थापयेद्दक्षिणे भागे पूजाद्रव्यं मनोहरम्॥४१॥
सुवासिताम्बुसम्पूर्णं सव्ये कुम्भं सुशोभनम्।
प्रक्षालनाय करयोः पात्रं पश्चान्निवेशयेत्॥४२॥
घृतप्रज्वालितान् दीपान् स्थापयेत् परितः शुभान्।
दर्पणं चामरं छत्रं तालवृन्तं मनोहरम्।
मङ्गलाङ्कुरपात्राणि स्थापयेद्दिक्षु देशिकः॥४३॥

बद्धपद्मासन इति। पद्मासनमाह राघवभट्टधृततन्त्रान्तरे—

सव्यं पादमुपादाय दक्षिणोपरि विन्यसेत्।
तथैव दक्षिणं सव्यस्योपरिष्टान्निधापयेत्॥
विष्टभ्य कट्योः पार्ष्णी तु नासाग्रन्यस्तलोचनः।
पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामपि पूजितम्॥ इति।

पूजाद्रव्यं पुष्पादिकम्। अर्घ्यपात्राचमनीयादिकन्तु वामत एव स्थापनीयम्। दीपदर्पणचामरादिकन्तु यथेच्छं दिक्षु स्थापयेदित्यर्थः। मङ्गलाङ्कुरपात्राणि प्रागङ्कुरार्पणे विनियुक्तानि।

इन तीन श्लोकों में पूजाद्रव्यों को सुव्यवस्थित रूप से रखने की विधि बताई गई है। गुरुदेव अपने आसन पर पद्मासन लगाकर बैठें। चन्दन, फल आदि पूजा- द्रव्यों को अपनी दाहिनी ओर तथा सुगन्धित जल से भरा घड़ा बाँयीं ओर रखें। घी के दीपक वेदी पर चारो ओर रखे जायँ। दर्पण, छत्र, चामर, तालवृन्त (पंखा) तथा अंकुरपात्रों को यथा-सुविधा चारो ओर रखें। अर्घ्य और आचमन पात्र बाँयीं ओर रखे जाते हैं। हाथ धोने के लिये एक पात्र अपने पीछे रखना चाहिये॥४१-४३॥

[शिष्यस्यानयनमुपवेशनञ्च]

ततः शिष्यं समानीय दक्षिणे सन्निवेशयेत्।
नानालङ्कारसंश्लिष्टं धौतवस्त्रयुगान्वितम्॥४४॥

[तिल-काञ्चनोत्सर्गः]

तत आचमनं कृत्वा शिष्योऽपि विजितेन्द्रियः।
आजन्मकृतपापार्थमुत्सृजेत्तिलकाञ्चनम् ।।४५।।

[स्वस्तिवाचनादिपूर्वकगुरुवरणम्]

उपविश्य गुरोर्वामे सङ्कल्प्य स्वस्तिपूर्वकम्।
गुरुञ्च वरयेद् विद्वान् विधिवद् भक्तिसंयुतः।।४६।।

उपविश्येति। प्रथमं गुरोर्दक्षिणे उपविश्य तिलकाञ्चनमुत्सृज्य तत उत्थाय वामे समुपविश्य स्वस्तिवाचनादिकं कुर्यादित्यर्थः।

स्नान के बाद भली-भाँति अलंकृत तथा दो श्वेत वस्त्र धारण किये हुये दीक्षार्थी को मण्डप में बुलाया जाय। वह मण्डप में आकर दीक्षादाता गुरुदेव के दाहिनी ओर बैठकर अच्छी तरह आचमन करके पिछले जन्मों के पापों के क्षरण के लिये तिल और स्वर्ण का दान करे। तत्पश्चात् वह गुरुदेव के वामभाग में आकर बैठ जाय। आचार्यों के द्वारा स्वस्तिवाचन के बाद वह दीक्षा के लिये पूर्ण श्रद्धा और भक्ति-सहित गुरुदेव का वरण करे।।४४-४६।।

[गुरोरर्चनम्]

गोभूहिरण्यवस्त्राद्यैः कुण्डलादिभिरुज्ज्वलैः।
अन्यैराभरणैश्चैव तथा वित्तमवञ्चयन्।।४७।।
गुरुं सम्पूजयेद् भक्त्या कृताञ्जलिपुरःसरम्।
गुरुं प्रदक्षिणीकृत्य स्वात्मानञ्च समर्पयेत्।।४८।।

गन्ध-पुष्प आदि से गुरुदेव का अर्चन करने के बाद वह (शिष्य) उन्हें गो-धन, स्वर्ण, वस्त्र, कुण्डल आदि आभूषण एवं नकद-द्रव्य देकर भली-भाँति सन्तुष्ट करे। गुरुदेव की प्रदक्षिणा करके उन्हें आत्मसमर्पण करे।।४७-४८।।

[गुरोः पुरतः प्रार्थनम्]

अथातो भगवन् परमात्मस्वरूप परमकारुणिक गुरो सकलपुरुषार्थ-साधनविद्यादीक्षाभिषेकपूर्वकं मां प्रसाधय।

प्रदक्षिणा करके वह गुरुदेव के दाहिनी ओर बैठकर उनसे इस प्रकार प्रार्थना करे—हे भगवन्! हे परम दयालु गुरुदेव! अभिषेकपूर्वक समस्त पुरुषार्थ प्रदान करने वाली विद्या की मुझे दीक्षा प्रदान कीजिये।

[गायत्रीजपस्तत्संख्या च]

इत्युक्त्वा सुचिरं तिष्ठेद् विनयी दक्षिणे गुरोः।
सहस्रं प्रजपेच्छिष्यो गायत्रीं देवनाम वा।।४९।।

गायत्रीं देवनाम वेत्यधिकारिभेदेन। द्विजो गायत्रीं जपेत् स्त्रीशूद्रादयस्तु तत्रानधिकारादुपास्यदेवनाम जपेयुरित्यर्थः। अथवा देवनाम वेत्यनेन द्विजो गायत्रीं जपेत् तत्रासामर्थ्ये स्वोपास्यदेवनाम जपेदित्युक्तम्।

यह अनुरोध करने के बाद वह मौन होकर गुरुदेव के आदेश की प्रतीक्षा करें। उनका आदेश मिलने पर गायत्री मन्त्र का अथवा देवता के नाम का एक हजार जप करे।।४९।।

विमर्श—यदि दीक्षार्थी द्विज जाति का है और उसका उपनयन संस्कार हो गया है तो वह गायत्री मन्त्र का जप करे। चूँकि स्त्रियों और शूद्रों को गायत्री मन्त्र के जप का अधिकार नहीं हैं; अतः वे देय-मन्त्र के देवता के नाम का जप करें। उपनयन-संस्कारसम्पन्न ऐसे द्विज दीक्षार्थी, जिन्हें गायत्री मन्त्र का विधिवत् जप करने का अभ्यास नहीं है, वे भी उपास्य देवता के नाम का विकल्पतः जप कर सकते हैं।

[भूतशुद्ध्याद्यनुष्ठानम्]

भूतशुद्ध्यादिकं कृत्वा कल्पोक्तन्यासमाचरेत्।

[मन्त्रसंस्कारः]

अथवा पूर्वमार्गेण संस्कुर्यान्मन्त्रमुत्तमम्।।५०।।

कल्पेति। अत्र भूतशुद्धि-त्रिपुराकल्पोक्तन्यासादिकन्तु पूजाक्रमे वक्ष्यते। **अथवेति**। अथ पूर्वमार्गेण द्वितीयप्रकाशोक्तक्रमेण मन्त्रं संस्कुर्यात् देयमन्त्रस्य जननजीवनादिरूपसंस्कारं विदधीतेत्यर्थः।

यत्र दीक्षापूर्वदिने मन्त्रसंस्कारो न विहितस्तत्रैवायं मन्त्रसंस्कारविधिः। न तु पूर्वं कृतेऽपि मन्त्रसंस्कारे पुनर्मन्त्रसंस्कारापेक्षा।

दीक्षार्थी को गायत्री-मन्त्र अथवा देवता के नाम का जप करने का आदेश देने के बाद दीक्षादाता गुरुदेव भूत-शुद्धि आदि अर्थात् भूत-शुद्धि, प्राण-प्रतिष्ठा, प्राणायाम, अन्तर्मातृका एवं बहिर्मातृका तथा कल्पोक्त न्यास करें। इसके बाद द्वितीय प्रकाश में बताई गई विधि से देय मन्त्र का जनन आदि संस्कार करें।।५०।।

विमर्श—यदि अधिवास-काल में देय मन्त्र के जनन आदि संस्कार कर लिये गये हैं तो उनका फिर से संस्कार करने की आवश्यकता नहीं है। यदि पूर्व में मन्त्र-संस्कार नहीं किये गये हों तो ये संस्कार इसी समय किये जायँ।

[पीठन्यासः]

पीठन्यासं ततः कुर्यात् स्वदेहे साधकोत्तमः।।५१।।
धर्म्मं ज्ञानञ्च वैराग्यमैश्वर्यञ्च क्रमेण तु।
प्रादक्षिण्येन चांसोरुयुगयोरथ विन्यसेत्।।५२।।
मुखपार्श्वनाभिपार्श्वेष्वधर्मादीन् क्रमेण तु।
धर्मादयः स्मृताः पादाः पीठगात्राणि चापरे।।५३।।

अनन्तं हृदयाम्भोजे पद्मं सूर्येन्दुपावकान्।
एषां स्वस्वकला न्यस्य स्वमन्त्राक्षरपूर्विकाः।।५४।।
सत्त्वादींस्त्रिगुणान् न्यस्य तथैवात्र गुरूत्तमः।
आत्मान्तरात्म-परमज्ञानात्मनः प्रविन्यसेत्।।५५।।

पीठन्यासमिति। अनेन स्वकल्पोक्तपीठन्यासं विधाय वक्ष्यमाणान् धर्मादीन् न्यसेत् इत्यवधेयम्। स्फुटमुक्तं राघवभट्टेन—

कल्पयेदात्मनो देहे पीठं धर्मादिभिः क्रमात्।

इति शारदातिलकचतुर्थपटलवचनव्याख्याने 'मण्डूकाय नमः इत्याधारे, कालाग्निरुद्राय नमः इति स्वाधिष्ठाने, कूर्माय नमः इति नाभौ, ततो हृदि आधारशक्त्यादिन्यासं कृत्वा पश्चाद्धर्मादिन्यास' इत्यनेन ग्रन्थेन। **प्रादक्षिण्येनेति।** तथाच दक्षस्कन्धे धर्मम्, वामस्कन्धे ज्ञानम्, वामोरौ वैराग्यम्, दक्षोरौ अवैराग्यं न्यसेदित्यर्थः। **मुखेति।** तथाच मुखे अधर्मम्, नाभौ अवैराग्यम्, दक्षपार्श्वे अनैश्वर्य्यं न्यसेत्। **धर्मादय इति।** धर्मादयश्चत्वारः पीठस्य पादाः अपरेऽधर्मादयश्चत्वारः पीठगात्राणि इति सम्बन्धः।

इसके बाद गुरुदेव अपनी देह में पीठ-न्यास करें। दोनों कन्धों और जंघाओं में क्रमशः धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य का और मुख, दोनों पार्श्व और नाभि में क्रम से अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य का न्यास करें। इनमें से धर्म आदि चतुष्टय पीठ के पाये तथा अधर्म आदि चतुष्टय पीठ के गात्र अर्थात् फलक (तख्ता) हैं। इसके बाद हृदयकमल में अनन्त का, अनन्त के ऊपर अपनी-अपनी कलाओं के साथ सूर्य, चन्द्र और अग्नि का, उन पर सत्त्व आदि तीनों गुणों का और फिर आत्मा-अन्तरात्मा-ज्ञानात्मा और परमात्मा का न्यास करें।।५१-५५।।

विमर्श—इन पीठदेवताओं का न्यास किये जाने के बाद इष्टदेवता की कल्पोक्त पीठशक्तियों का न्यास किया जाता है।

[देहमयपीठे इष्टदेवताचिन्तनम्]

पीठमन्त्रं प्रविन्यस्य चिन्तयेदिष्टदेवताम्।

[मुद्राप्रदर्शनमर्घ्यादिस्थापनञ्च]

मुद्रां प्रदर्श्य विधिवदर्घ्यस्थापनमारभेत्।।५६।।

पीठमन्त्रमिति। पीठमन्त्रं प्रविन्यस्य स्वदेह इति शेषः। देहे पीठकल्पनमेतन्मानसयागार्थम्। एतदभिप्रायेणैव शारदायां चतुर्थपटले पीठन्यासनिरूपणानन्तरम्—

एवं देहमये पीठे चिन्तयेदिष्टदेवताम्।

इत्युक्तम्।

पीठन्यास के बाद इष्टदेवता का मानसिक अर्चन करके वक्ष्यमाण मुद्राएँ दिखाएँ और उसके बाद पात्र स्थापित करें। यथा—

सामान्यार्घ्यं स्ववामे तु विशेषार्घ्यं स्वसम्मुखे।
अर्घ्यस्योत्तरतः कार्यं पाद्यमाचमनं मधु।।५७।।

सामान्यार्घ्यमिति। एतद्द्वारपूजायामुक्तमेव।

सामान्य अर्घ्यपात्र को अपनी बाँयीं ओर, विशेष अर्घ्यपात्र को अपने सामने तथा पाद्य-आचमन-मधुपर्क आदि पात्रों को अर्घ्य के उत्तर में स्थापित किया जाता है।।५७।।

[देव्या अष्टाङ्गार्घ्यम्]

कुशाग्राण्यक्षतञ्चैव यवव्रीहितिलानपि।
आज्यसिद्धार्थपुष्पैश्च देव्यर्घ्यमपरं तथा।।५८।।

कुशाग्राणीति। अर्घ्यस्थापने विशेषस्त्वष्टादशपटले स्वयमेव वक्ष्यते।

भगवती को समर्पित किये जाने वाले अर्घ्य में जो आठ द्रव्य डाले जाते हैं, वे हैं—(१) कुशा की फुनगी, (२) अक्षत, (३) जौ, (४) धान, (५) तिल, (६) घी, (७) सिद्धार्थ (सरसों) और (८) पुष्प।

[सर्वदेवसाधारणमष्टाङ्गार्घ्यम्]

पुष्पगन्धाक्षतयवकुशाग्रतिलसर्षपैः।
सदूर्वैः सर्वदेवानामेतदर्घ्यमुदीरितम्।।५९।।

सभी देवताओं को दिये जाने वाले अर्घ्य में अर्थात् सर्वदेवोपयोगी अष्टाङ्ग अर्घ्य में डाले जाने वाले द्रव्य हैं—(१) पुष्प, (२) गन्ध, (३) अक्षत, (४) कुशाग्र, (५) तिल, (६) सरसों, (७) जौ और (८) दूर्वा।।५९।।

[पाद्यम्]

उशीरं चन्दनञ्चैव पयः पाद्ये परं तथा।
पाद्यं श्यामाकदूर्वाब्जविष्णुक्रान्ताभिरीरितम्।।६०।।

पाद्य—उशीर (खस), चन्दन और दूध—ये तीन द्रव्य पाद्य में डाले जाते हैं। श्यामाक (साँवा चावल), दूब, कमल और विष्णुक्रान्ता डालकर अपर पाद्य बनाया जाता है।।६०।।

[आचमनीयम्]

जातीकर्पूरकक्कोल-मन्दुमूलतमालकान्।
चूर्णयित्वा क्षिपेदाचमनीये त्वपरं यथा।।६१।।
जातीलवङ्गकक्कोलजलैराचमनीयकम्।।६२।।

आचमनीय—आचमन के जल में जाती (चमेली), कपूर, कंकोल और तमाल का चूर्ण डाला जाता है। जाती, कंकोल और लौंग को पीसकर दूसरे प्रकार का आचमनीय बनाया जाता है।।६१-६२।।

[मधुपर्कः]

माक्षिकं शर्करासर्पिर्दधिक्षीराक्षतं तथा।
अथवा माक्षिकं सर्पिर्जलं दधियुतं मधु।
मधुपर्कं कल्पयित्वा प्रदद्याद् विधिपूर्वकम्।।६३।।
सर्वतः क्षौद्रमधिकं मधु सर्पिः सिता समम्।
जलन्तु सर्वतः स्वल्पं मधुपर्क उदाहृतः।।६४।।

मधुपर्क—शक्कर, घी, दही, दूध और अक्षत चूर्ण को अथवा शहद, घी, जल और दही को मिलाकर मधुपर्क बनाया जाता है। जल केवल नाममात्र को होता है। घी और शक्कर की मात्रा बराबर-बराबर और शहद की मात्रा घी से अधिक (दुगुनी) होती है।।६३-६४।।

[पुनराचमनीयम्]

पुनराचमनीयन्तु केवलेन जलेन च।

[उपचारदाने पात्रनियमः]

एकस्मिन्नथवा पात्रे पाद्यादीनि प्रकल्पयेत्।।६५।।

एकस्मिन्निति। अत्र पूर्वं पात्रभेदस्यानुक्तेरथवेति कल्पान्तरबोधकपदं कथमुपपन्नमिति चेदुच्यते, सम्मोहनतन्त्रे पञ्चमपटले—

अर्घ्यपाद्यप्रदानार्थं मधुपर्कार्थमप्यथ।
तथैवाचमनार्थञ्च न्यस्येत् पात्रचतुष्टयम्।।

इत्यनेन प्रत्येकमेकैकपात्रविधानमुक्तं तदशक्तौ एकस्मिन्नेव पात्रे सर्वे उपचाराः कल्पनीयाः, तथाच राघवभट्टधृतवचनम्—

एकस्मिन्नथवा पात्रे पाद्यार्घ्यादीनि कल्पयेत्। इति।

श्रीमत्पूर्णानन्देनापि प्रागुक्तसम्मोहनतन्त्रोक्तक्रमं मनसिकृत्य तमपेक्ष्यैव अथवेत्युक्तम्। एवञ्च शक्तौ विभिन्नान्युपचारपात्राणि कल्पनीयानि। अशक्तावेकस्मिन्नेव सर्वे उपचारा देयाः। यत्तु—

सम्भवे त्रीणि पात्राणि चान्यथा द्वे सकृच्चरेत्।
पाद्यादिषु महेशानि नैकपात्रं कदाचन।।

इति श्यामार्चनचन्द्रिकाधृतस्वतन्त्रतन्त्रवचनेनैकपात्रनिषेधः ससजातीयपात्रपरः—

पाद्यपात्रमर्घ्यपात्रं तथाचमनपूर्वकम्।
ताम्रं शङ्खं कांस्यपात्रं क्रमेण विनिवेदयेत्।।

इति महानीलतन्त्रदशमपटलवचनेन पाद्यादौ पात्रभेदाभ्युपगमात्।

पूजा चाहे पञ्चोपचार हो, चाहे षोडशोपचार। किसी भी उपचारवती पूजा में मधुपर्क, स्नान, पुष्प, वस्त्र, धूप, दीप, नैवेद्य आदि प्रत्येक उपचार समर्पित करने

के बाद आचमन कराया जाता है। इसे 'पुनराचमनीय' कहते हैं। बार-बार कराये जाने वाले इस पुनराचमन में केवल शुद्ध-पवित्र जल दिया जाता है॥६५॥

विमर्श—'सम्मोहनतन्त्र' तथा अन्य अनेक तन्त्रग्रन्थों का कथन है कि अर्घ्य, पाद्य, मधुपर्क और आचमनीय के लिये अलग-अलग पात्र स्थापित किये जायँ। 'श्यामार्चन-चन्द्रिका' के अनुसार पाद्य के लिये ताम्रपात्र, अर्घ्य के लिये शंख तथा आचमन के लिये कांस्यपात्र प्रशस्त है। इन विविध उपचारों के लिये अलग-अलग पात्र स्थापित करने में असमर्थ होने पर केवल एक पात्र से काम चलाया जाता है। एक पात्र की व्यवस्था में एक ही पात्र रखा जाता है। उसमें सामान्य-अर्घ्य का जल लेकर उसमें पाद्य आदि के लिये विहित उपर्युक्त द्रव्य डालकर देवता को समर्पित करते हैं। उस पात्र को धोकर अन्य उपचार समर्पित किया जाता है।

[गन्धम्]

घृष्टो मलयजो गन्धः शबलश्च नमेरुणा।
अगुरुप्रभृतिश्चापि तथा मृगमदेन तु॥६६॥
कुङ्कुमागुरुकस्तूरी-चन्द्रभागैः समाहृतः।
त्रिपुराप्रीतिदो गन्धस्तथा न चान्यवस्तुना॥६७॥

गन्ध—घिसा हुआ मलयागिरि चन्दन, लाल चन्दन, शबल, अगरु (अगर), कस्तूरी, कुंकुम तथा कपूर को मिलाकर बनाया गया गन्ध भगवती त्रिपुरा को अत्यन्त प्रिय है। वे इस गन्ध से जितना प्रसन्न होती हैं, उतना किसी अन्य वस्तु से नहीं॥६६-६७॥

[स्वदेहे पीठपूजा]

न्यासक्रमेण देहेषु धर्मादीन् पूजयेत्ततः।
पुष्पाद्यैः पीठमन्वन्तं तस्मिंश्च परदेवताम्॥६८॥

[पञ्चपुष्पाञ्जलिदानम्]

पञ्चकृत्वः पुनर्दद्यात् पुष्पाञ्जलिमनन्यधीः।
उत्तमाङ्गहृदाधारपादसर्वाङ्गके क्रमात्॥६९॥

अन्तर्याग—अपने शरीर में धर्म आदि पीठदेवताओं और कल्पोक्त पीठ-शक्तियों का यथाक्रम न्यास करके हृदय-कमल पर पुष्प आदि उपचारों से इष्टदेवता का अर्चन (पूजन तथा मानसिक जप) करके उन्हें सिर, हृदय, मूलाधार, पैर और सर्वांग में पाँच पुष्पाञ्जलि दें॥६८-६९॥

विमर्श—इष्टदेवता का अर्चन अनाहत चक्र के नीचे 'आनन्दकन्द' नामक ऊर्ध्वमुख अष्टदल कमल पर किया जाता है। अन्तर्याग की विधि ग्रन्थ के सोलहवें प्रकाश में बताई गई है। अन्तर्याग के बाद बहिर्याग किया जाता है।

[मण्डलपूजा मण्डले पीठपूजा च]

पूर्वोक्तमण्डलं मन्त्री गन्धाद्यैः परिपूजयेत्।।७०।।
कूर्चमक्षतसंयुक्तं दर्भानास्तीर्य तत्र वै।
पीठपूजां तत्र कुर्यात् स्वकल्पोक्तक्रमेण तु।।७१।।

बहिर्याग—बहिर्याग अर्थात् इष्टदेवता का विविध उपचारों से बहिरंग पूजन। यह अर्चन करने के लिये दीक्षादाता गुरुदेव पूर्वोक्त मण्डल पर अपने कल्प में बताई गई विधि के अनुसार पीठपूजा करके उस पर अक्षतसहित कुश बिछाकर 'कूर्च' स्थापित करे।।७०-७१।।

विमर्श—अन्तर्याग के लिये मूलाधार से अनाहत (हृदय)-पर्यन्त जिन मण्डूकादि पीठदेवताओं का न्यास और अर्चन किया गया था, बहिर्याग के लिये मण्डप पर उन्हीं देवताओं और शक्तियों का न्यास और अर्चन करना मण्डल पर पीठ-पूजा है।

[कूर्चलक्षणम्]

सप्तविंशतिदर्भाणां वेण्या ग्रन्थिविभूषितम्।
वेष्टयेत् सर्वयज्ञेषु तत् कूर्चं परिकीर्त्तितम्।।७२।।

कूर्च—सत्ताइस कुशाओं को बाँधकर और उन्हें चोटी के समान गूँथकर कूर्च बनाया जाता है।।७२।।

[यन्त्रे देवतापूजाक्रमः तत्र मध्ये त्रिपुरार्चनम्]

यन्त्रमध्ये यजेदादौ त्रिपुरां कुलभूषणाम्।

[षट्कोणे पूजनस्य क्रमः]

षट्कोणे च षडङ्गानि—

[तदन्तस्त्रिकोणे]

—त्रिकोणे पूजयेत्ततः।।७३।।

रतिं सम्मुखकोणे च प्रीतिमुत्तरकोणके।
मनोभवां दक्षकोणे—

[षट्कोणाद् बहिरष्टदले]

—मातॄरष्टदले ततः।।७४।।

ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा तदनन्तरम्।
महालक्ष्मीः क्रमादेताः पूजयेत् साधकोत्तमः।।७५।।

अथेदानीं प्रागुक्तचक्रराजे देवतापूजामवतारयति—यन्त्रेति। यन्त्रमध्य इति त्रिकोणमध्ये मूलदेवतां त्रिपुरामादौ पूजयेत्। ततस्त्रिपुरापूजानन्तरं षट्कोणे क्रमेण

मूलदेवताषडङ्गानि पूजयेत्। ततः षट्कोणाभ्यन्तरीणत्रिकोणे क्रमेण रतिं प्रीतिं मनोभवाञ्च पूजयेत्। तत्र च त्रिकोणस्य सम्मुखकोणे रतिमुत्तरकोणे प्रीतिं दक्षकोणे च मनोभवामित्याह **सम्मुखेत्यादिना**।

मातृरिति। वृत्तोद्ध्वाष्टदले पूर्वादिक्रमेण वक्ष्यमाणा **मातृः पूजयेदित्यर्थः**।

मातरष्टौ निर्दिशति—**ब्राह्मीत्यादिना**।

बहिर्याग का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि दीक्षादाता गुरुदेव सर्वप्रथम 'यन्त्र' के मध्य बिन्दु पर कुलभूषणा भगवती त्रिपुरा का तथा षट्कोणों में हृदय आदि षडङ्गों का पूजन करें। इसके बाद त्रिकोण के सम्मुख कोण पर 'रति' का, उत्तर कोण में 'प्रीति' का और दक्षिण कोण में 'मनोभवा' का पूजन करें। षट्कोण के बाहर जो अष्टदल कमल है, उस पर पूर्व से प्रारम्भ करके एक-एक दल में क्रमशः ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी, चामुण्डा और महालक्ष्मी का पूजन करें। ये अष्ट मातृकाएँ हैं।।७३-७५।।

[तद्बहिर्द्वादशदले]

द्वादशारे तथा वामां ज्येष्ठां रौद्रीं तथैव च।
अम्बिकेच्छे तथा ज्ञानां क्रियाञ्च कुब्जिकामथ।।७६।।
विचित्राञ्च ततो मन्त्री विषघ्निकाञ्च भूचरीम्।
आनन्दाञ्च क्रमेणैव—

एवमष्टदलप्रक्रियामभिधाय द्वादशदले पूर्वादिक्रमेण पूज्या देवता निर्दिशति—**द्वादशार इत्यादिना आनन्दाञ्च क्रमेणैवेत्यन्तेन**।

अष्टदल कमल के बाहर जो द्वादश दल कमल है, उसके एक-एक दल पर पूर्व से प्रारम्भ करके यथाक्रम—(१) वामा, (२) ज्येष्ठा, (३) रौद्री, (४) अम्बिका, (५) इच्छा, (६) ज्ञाना, (७) क्रिया, (८) कुब्जिका, (९) विचित्रा, (१०) विषघ्निका, (११) भूचरी और (१२) आनन्दा का पूजन करें।।७६-७७।।

[तद्बहिः षोडशदले]

—कलापत्रे यजेदथ।।७७।।
नित्या निरञ्जना क्लिन्ना क्लेदिनी मदनातुरा।
मदद्रावा द्राविणी च रुचिरा रागवत्यथ।।७८।।
कामेश्वरी तथा कामदीपनी वामकेश्वरी।
ललिता क्षोभणी क्षुद्रा स्वच्छन्दललिता क्रमात्।।७९।

अथ षोडशारे नित्यादीनां षोडशानां पूजनमाह—**कलापत्रे** इत्यादिना **क्रमादित्यन्तेन**। कलापत्रे षोडशपत्रेषु।

षोडशदल कमल में पूर्व से प्रारम्भ करके एक-एक दल में यथाक्रम—(१) नित्या, (२) निरञ्जना, (३) क्लिन्ना, (४) क्लेदिनी, (५) मदनातुरा,

(६) मदद्रवा, (७) द्राविणी, (८) रुचिरा, (९) रागवती, (१०) कामेश्वरी, (११) कामदीपनी, (१२) वामकेश्वरी, (१३) ललिता, (१४) क्षोभिणी, (१५) क्षुद्रा और (१६) स्वच्छन्दललिता का पूजन करें॥७८-७९॥

[तद्बहिर्विंशतिदले]

ततो विंशतिपत्रेषु पूर्वादिक्रमतो यजेत्।
मायावती महाक्षी च ततः सर्ववशङ्करी॥८०॥
झङ्कारा त्वीशभावा च कमला कमलेश्वरी।
नीलग्रीवा विशालाक्षी भेरुण्डा डामरेश्वरी॥८१॥
समया समयेशानी नित्यानन्दा महोदरी।
सर्वसौभाग्यदाऽऽनन्दा चन्द्रिका चन्द्रशेखरा॥८२॥
सर्वेश्वरी च सम्पूज्याः—

अथ षोडशदलाद् बहिर्विंशतिदलेषु पूर्वादिक्रमेण मायावत्यादीनां विंशतिदेवतानां पूजनमुपदिशति—**मायावतीत्यादिना सर्वेश्वरी च सम्पूज्या** इत्यन्तेन।

बीस दल वाले कमल के एक-एक दल में पूर्व से प्रारम्भ कर यथाक्रम—(१) मायावती, (२) महाक्षी, (३) सर्ववशंकरी, (४) झंकारा, (५) ईशभावा, (६) कमला, (७) कमलेश्वरी, (८) नीलग्रीवा, (९) विशालाक्षी, (१०) भेरुण्डा, (११) डामरेश्वरी, (१२) समया, (१३) समयेशानी, (१४) नित्यानन्दा, (१५) महोदरी, (१६) सर्वसौभाग्यदा, (१७) आनन्दा, (१८) चन्द्रिका, (१९) चन्द्रशेखरी और (२०) सर्वेश्वरी की पूजा करें॥८०-८२॥

[तद्बहिरष्टदले]

—पीठानि वसुपत्रके।

[पीठाष्टकम्]

कामरूपञ्च मलयं कोलगिरिं कुलान्तकम्॥८३॥
चौहारञ्च ततो मन्त्री जालन्धरमतः परम्।
उड्डीयानं देविकोट्टं पीठाष्टकमिदं स्मृतम्॥८४॥

[विंशतिदलाद् बहिर्भूगृहे]

भूगृहे त्रिपुरेशानीं पूजयेत् साधकोत्तमः॥८५॥

पीठानीति। विंशतिदलाद् बहिरष्टदले पूर्वादिक्रमेण कामरूपादिपीठाष्टकं पूजयेत्। पीठाष्टकं निरूपयति—**कामरूपञ्चेत्यादिना।**

अष्टदलाद् बहिर्भूगृहे त्रिपुरेश्वरीपूजनमाह—**भूगृह** इति।

विंशति दल कमल के बाहर जो 'वसुपत्रक' अर्थात् आठ दल वाला कमल है, उसके एक-एक दल में पूर्व से प्रारम्भ कर कामरूप आदि आठ शक्तिपीठों का

अर्चन करें। ये शक्तिपीठ हैं—(१) कामरूप, (२) मलय, (३) कोलगिरि, (४) कुलान्तक, (५) चौहार, (६) जालन्धर, (७) उड्डीयान और (८) देवीकोट।

अष्टदल के बाहर भूपुर में 'त्रिपुरेशानी' की पूजा करे।

विमर्श—इस अध्याय के ३६ से ४० पर्यन्त पाँच श्लोकों में दो प्रकार के यन्त्रों का विधान बताया गया है। इनमें से किसी भी यन्त्र पर देवता का अर्चन करने का विकल्प है। उपर्युक्त ७३ से ८५ श्लोकों में जो विधान बताया गया है, वह प्रथम प्रकार के यन्त्र पर पूजन का है। दूसरे प्रकार के नव योन्यात्मक यन्त्र पर पूजा की विधि अब आगे बताई जा रही है।

[यन्त्रान्तरं तत्रार्चनव्यवस्था च]

शेषमण्डलपक्षे तु षडङ्गमग्नितो यजेत्।
रत्यादिकं त्रिकोणेषु मध्ये सर्वं प्रपूजयेत्।
पीठाष्टकं भूमिगृहे त्रिपुरेशीञ्च मध्यमे।।८६।।

पूर्वं 'षट्कोणं विलिखेदादौ' इत्यादिना यन्मण्डलमुक्तं तत्र पूजायाः क्रममभिधाय, 'अथवा नवकोणन्तु' इत्युक्तनवकोणात्मकमण्डले पूजायाः क्रममुपदिशति—शेषेत्यादिना। अग्नितः अग्निकोणादारभ्य मूलदेवताषडङ्गानि यजेदित्यर्थः। तदाभ्यन्तरत्रिकोणे स्वसम्मुखदक्षोत्तरकोणेषु क्रमेण रत्यादिकं रतिं प्रीतिं मनोभवाञ्च पूजयेत्। मध्ये सर्वमिति ब्राह्म्याद्यष्टमातृतः सर्वेश्वर्यन्तं प्रागुक्तम्। भूमिगृह इति षट्कोणाद् बहिर्भूमिगृहे, पीठाष्टकं प्रागुक्तम्। मध्यम इति त्रिकोणमध्ये त्रिपुरेशीं यजेदित्यर्थः।

'शेषमण्डलपक्षे तु' से अभिप्राय नव कोण वाले दूसरे अर्चन यन्त्र से है। षट्कोण में अग्निकोण से प्रारम्भ कर हृदय आदि अंग-देवताओं का पूजन करें। मध्य त्रिकोण के सम्मुख कोण में रति का, दक्षिण कोण में प्रीति का और वाम (उत्तर) कोण में मनोभवा का पूजन-तर्पण करने के बाद मध्य-त्रिकोणों में ही ब्राह्मी से सर्वेश्वरी-पर्यन्त (सन्दर्भ श्लोकसंख्या-७४ से ८२ तक) सभी देवताओं का पूजन करें। षट्कोण के बाहर भूपुर में कामरूप आदि आठ पीठों का पूर्व आदि दिशाओं और विदिशाओं में पूजन करें। त्रिपुरेशी का अर्चन मध्य त्रिकोण के मध्य बिन्दु पर किया जाता है।।८६।।

विमर्श—त्रिकोण के मध्य बिन्दु पर सर्वप्रथम भगवती त्रिपुरा का अर्चन करने के बाद षट्कोणों में अग्निकोण से प्रारम्भ कर हृदय आदि अंगदेवताओं का पूजन करें। मध्य त्रिकोण के तीनों कोणों में रति, प्रीत और मनोभवा का पूजन करने के बाद मध्य त्रिकोणों में ही ब्राह्मी से सर्वेश्वरी-पर्यन्त सभी ५६ परिवार देवताओं का अर्चन करें। तत्पश्चात् भूपुर में पूर्व से प्रारम्भ कर कामरूप आदि आठ शक्तिपीठों का अर्चन करें।

आवरण-पूजन के लिये 'ऐं ह्रीं श्रीं' के बाद देवता के चतुर्थ्यन्त नाम के बाद 'नमः' और इसके आगे 'श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः' की योजना करने से परिवारदेवता का पूजन मन्त्र बनता है। यथा—ऐं ह्रीं श्रीं रत्यै नमः। रतिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

उपर्युक्त पूजन मन्त्र बोलकर यन्त्र पर परिवारदेवता के यथा-निर्दिष्ट स्थान को लक्ष्य करके दाहिने हाथ से गन्धाक्षत समर्पित करके तुरन्त ही बाँयें हाथ से यथा-निर्दिष्ट पात्र के द्रव्य से, अभाव में विशेष अर्घ्य के द्रव्य से तर्पण किया जाता है। दक्षिणाचारी साधक पुष्प को यथाविहित द्रव्य में डुबोकर उसकी बूंदें सम्बन्धित स्थान पर टपकाकर तर्पण करते हैं। कुलाचारी साधक पुष्प के स्थान पर माष प्रमाण शुद्धि खण्ड को संशोधित 'कारण' द्रव्य में डुबोकर उससे तर्पण करते हैं। पूजन और तर्पण की दोनों क्रियाएँ एक साथ की जाती हैं।

[स्थापनीयकलसलक्षणम्]

सौवर्णं राजतं ताम्रं मृत्तिकारचितञ्च यत्।
कलसं क्षालयेन्मन्त्री शरमन्त्रपुरःसरम्।
चन्दनागुरुकर्पूरधूपेन धूपितं शुभम्।।८७।।
पञ्चदशाङ्गुलव्यास उत्सेधः षोडशाङ्गुलः।
कलसानां प्रमाणन्तु मुखमष्टाङ्गुलं भवेत्।।८८।।

सौवर्णमिति। अत्र पूर्वपूर्वासम्भवे तदुत्तरोत्तरपरिग्रहः। शरमन्त्रपुरःसरं फट् इत्युच्चारणपूर्वकम्। अत्र शिवमन्त्रेति पाठः प्रामादिकः, शारदायां चतुर्थपटले—

हेमादिरचितं कुम्भमस्त्राद्भिः क्षालितान्तरम्।

इत्यनेनास्त्रमन्त्रेणैव क्षालनाभिधानात्। शुभं शोभनाकृतिम्।

मण्डल पर स्थापित किया जाने वाला कलश स्वर्ण का होना चाहिए। अभाव में चाँदी, ताँबा या मिट्टी का बना कलश प्रशस्त है। इसका व्यास पन्द्रह अंगुल, ऊँचाई सोलह (१६) अंगुल और मुख ८ अंगुल होना चाहिए।।८७-८८।।

[सूत्रवेष्टनम्]

कन्याकर्तितसूत्रेण कलसं परिवेष्टयेत्।
गुणत्रयात्मकेनैव वेष्टयेदभितः समम्।।८९।।
वारत्रयं वेष्टयित्वा केनापीत्यभिधीयते।।९०।।

कन्या अज्ञातोपयमा बालिका। गुणत्रयात्मकेनेति त्रिगुणीकृत्यैकधा वेष्टनम्। वारत्रयमिति कल्पे एकेनैव गुणेन वारत्रयं वेष्टयित्वा त्रिगुणीकरणम्।

कुमारी कन्या के द्वारा काते गये सूत को कलश की गर्दन पर तीन बार लपेटें। कुछ लोग कहते हैं कि सूत को तीन बार बँटकर कलश पर एक बार लपेटें।।८९-९०।।

[कलसस्थापनम्]

अर्चितं गन्धपुष्पाद्यैः कूर्चाक्षतसमन्वितम्।
स्वर्णरत्नोदरं मध्ये स्थापयेत्तारमुच्चरन्।।९१।।
साधारं कलसं मन्त्री पीठबुद्ध्या ततः परम्।
ऐक्यं सम्भावयेन्मन्त्री पीठकलसयोरपि।।९२।।

कूर्चाक्षतेति। कूर्चमिदं पारिभाषिकं प्रागुक्तम्। स्वर्णरत्नोदरं साधारकलसं पीठबुद्ध्या मध्ये प्रागुक्तयन्त्रमध्ये स्थापयेदिति सम्बन्धः। स्वर्णरत्नोदरमिति अत्र रत्नशब्देन नवरत्नान्युच्यन्ते,

नवरत्नोदरं मन्त्री स्थापयेत्तारमुच्चरन्।

इति शारदातिलकचतुर्थपटलसंवादात्।

कलसे देवीपीठत्वसम्भावनमन्तरेण तत्र देव्याः स्थितेरयोगादित्यर्थः।

मण्डल पर आधार रखने के बाद उस पर प्रणव (ॐ) का जप करते हुए गन्ध, पुष्प से अर्चित तथा कूर्च-अक्षत-समन्वित कलश को रखें। कलश में देवी के पीठ की भावना करते हुए उसमें स्वर्ण और नवरत्न डालें॥९१-९२॥

[नवरत्नप्रमाणम्]

मुक्तावैदूर्यमाणिक्यगोमेदवज्रविद्रुमाः ।
पद्मरागं मरकतं नीलरत्नं नवेति च।।६३।।

मुक्ता (मोती), वैदूर्य, माणिक्य (रूबी), गोमेद, वज्र (हीरा), विद्रुम (मूँगा), पद्मराग (पुखराज), मरकत (पन्ना) तथा नीलरत्न (नीलम)—ये नवरत्न हैं॥९३॥

[कलसापूरणम्]

क्षीरिवृक्षकषायेण पलाशत्वग्भवेन च।
विशेषैरुदकैर्वापि कर्पूरगन्धवासितैः।।९४।।
पूरयेत् कलसं मन्त्री मातृकां प्रतिलोमतः।
जपन्मूलमनुं तद्वत् साधको देवताधिया।।९५।।

[कलसे श्रीचक्रनिक्षेपः]

श्रीमत्त्रिपुरसुन्दर्याश्चक्रं तत्र विनिक्षिपेत्।।९६।।

क्षीरिवृक्षकषायेणेति। अत्र 'अश्वत्थोडुम्बरप्लक्षवटत्वक्कषायेणेत्यर्थः। आयुर्वेदोक्तरीत्या चतुर्थांशावशेषः कषायो ग्राह्य' इति राघवभट्टः। इह पलाशत्वग्भवेन चेति चकारात् क्षीरिद्रुमचतुष्टयपलाशत्वग्भवकषायैः समुदितैः पूरणमिति प्रतीयते।

क्षीरद्रुमकषायेण पलाशत्वग्भवेन वा।

इति शारदातिलकचतुर्थपटलवचने तु वाशब्देन क्षीरद्रुमकषायालाभे पलाश-कषायेणापूरणमुपदिष्टम्। तन्त्रसारकृतापि क्षीरिद्रुमकषायेण पलाशत्वग्भवेन वा

तीर्थोदकैर्वा गन्धपुष्पसुवासितजलैर्वेत्युक्तम्, एवञ्च प्रामाणिकशारदातिलकतन्त्रसारयो: कल्पान्तरबोधकवाशब्ददर्शनादत्र चकारो वार्थे इत्यवधेयम्। विशेषैरुदकैस्तीर्थोदकै:। तदुक्तं शारदायां चतुर्थपटले—

तीर्थोदकैर्वा कर्पूरगन्धपुष्पसुवासितै:।। इति।

मातृकां प्रतिलोमत इति। विलोममातृकां जपन् तद्वदिति मूलमन्त्रञ्च जपन् इत्यर्थ:।

तत्पश्चात् दीक्षादाता गुरुदेव विलोम-मातृका और देय मन्त्र का जप करते हुए क्षीरी वृक्षों अथवा पलाश की छाल का कषाय अथवा कपूर और चन्दन से सुवासित तीर्थजल डालकर कलश को भरें। फिर उस कलश में भगवती त्रिपुरसुन्दरी का अर्चन-यन्त्र डाल दें।।९४-९६।।

विमर्श—पीपल, गूलर, बरगद और पाकड़ को क्षीरी वृक्ष कहते हैं। अन्य ग्रन्थों के प्रमाण से उपर्युक्त ९४वें श्लोक में 'पलाशत्वग्भवेन च' में 'च' का अर्थ 'और' नहीं; अपितु 'अथवा' सिद्ध होता है। इन पाँचों में से किसी भी वृक्ष की छाल को जल में डालकर पकाएँ। जब पानी एक चौथाई रह जाय, उसे ठण्ढ़ा करके कपड़े से छान लें। इसको 'कषाय' कहते हैं। भगवती त्रिपुरसुन्दरी के पूजन-चक्र का निरूपण आगे १७वें 'प्रकाश' में किया गया है।

[अत्र षोडशकामकलापूजा]

श्रद्धा प्रीति रतिश्चैव भूति: कान्तिर्मनोभवा।
विमला मोदिनी घोरा मदनोत्पादिनी मदा।।९७।।
मोहनी दीपनी चैव शोधनी चैव शाङ्करी।
रञ्जनी चैव मदनकला एता: प्रपूजयेत्।
षोडशस्वरसंयुक्ता गन्धपुष्पेण साधक:।।९८।।
वह्निसूर्यविधूनान्तु तन्मन्त्रै: पूजयेत् कला:।
प्रणवस्य कला: पञ्च पञ्चाशद्वर्णभेदत:।।९९।।
कलात्मकं शङ्खतोयं कुम्भे किञ्चिद्विनिक्षिपेत्।।१००।।

श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीचक्रन्तु सप्तदशपटले वक्ष्यते। तत्र षोडशमदनकलापूजनमुपदिशति—**श्रद्धेत्यादिना साधक इत्यन्तेन।** षोडशस्वरसंयुक्ता एता: श्रद्धादयो मदनकला: पूजयेदित्यर्थ:। तथाच—अं श्रद्धायै नम:। आं प्रीत्यै नम:। इं रत्यै नम: इति पूजाक्रम: पर्यवस्यति।

इस श्रीयन्त्र पर एक-एक स्वर की योजना करते हुए श्रद्धा-प्रीति आदि कामकलाओं का गन्ध-पुष्प से पूजन करें। ये १६ कामकलायें हैं—

(१) श्रद्धा, (२) प्रीति, (३) रति, (४) भूति, (५) कान्ति, (६) मनोभवा, (७) विमला, (८) मोदिनी, (९) घोरा, (१०) मदनोत्पादिनी, (११) मदा, (१२) मोहनी, (१३) दीपनी, (१४) शोधनी, (१५) शाङ्करी और (१६) रञ्जिनी।

तत्पश्चात् कलस में अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा की ३८ कलाओं तथा प्रणव (ॐ) के पाँच वर्णों से उद्भूत ५० (पचास) कलाओं का अर्चन करें। फिर शंख का कुछ जल कलस में डाल दें॥९७-१००॥

विमर्श—(१) श्रद्धा-प्रीति आदि मदनकलाओं के चतुर्थ्यन्त नाम के आगे 'अं', 'आं' आदि एक-एक स्वर तथा नाम के बाद 'नमः' लगाने से उनका पूजन मन्त्र बन जाता है। यथा—'अं' श्रद्धायै नमः। 'आं' प्रीत्यै नमः। 'इं' रत्यै नमः। आदि।

(२) अग्नि की धूम्रार्चि आदि दस (१०), सूर्य की तपिनी-तापिनी आदि बारह (१२) तथा चन्द्र की अमृता-मानदा आदि १६ (सोलह) कलायें होती हैं।

(३) प्रणव (ॐ) में पाँच वर्ण हैं—'अ'-'उ'-'म'-बिन्दु और नाद। इनसे ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-ईश्वर और सदाशिव की सृष्टि आदि ५१ कलायें उत्पन्न हुई हैं।

[कलसे पल्लवादिनिवेशनप्रक्रिया]

तथाऽऽम्रपनसाश्वत्थवटोदुम्बरपल्लवैः ।
किन्नाशपनसाश्वत्थचूतपल्लवकोमलैः ।
इन्द्रवल्लीसमाबद्धैः सुरद्रुमधिया गुरुः ॥१०१॥
कुम्भवक्त्रं पिधायास्मिंश्चषकं सफलीकृतम्।
संस्थापयेत् फलधिया विधिवत् कल्पशाखिनाम्॥१०२॥
ततः शुद्धदुकूलाभ्यां कलसं वेष्टयेत् सुधीः।
दध्यक्षतं गन्धपुष्पं सिन्दूरं बाह्यतः क्षिपेत्॥१०३॥

तथेति। अत्र पल्लवैः कोमलैरिति पृथङ्निर्देशात् तथेत्यादिना किन्नाशेत्यादिना च कल्पद्वयमुक्तमित्यवधेयम्। इन्द्रवल्ली इन्द्रवारुणीलताविशेषः। चषकं कलस-सजातीयं शरावादि।

उपर्युक्त कलाओं की पूजा करने के बाद आम, पनस (कटहल), पीपल, बरगद और गूलर के कोमल पत्ते अथवा किन्नाश, कटहल, पीपल तथा आम के कोमल पत्तों को इन्द्रवल्ली से बाँधकर उनसे दीक्षाकुम्भ के मुख को आच्छादित कर दें। उस पर अक्षत से भरा हुआ चषक (कटोरा) स्थापित कर उस पर फल रख दें। इस कुम्भ को अपनी फल-सिद्धि हेतु कल्पवृक्ष मानते हुए दो लाल वस्त्रों को सुरुचिपूर्वक कुम्भ पर लपेट दें। सिन्दूर, दही, अक्षत का टीका लगाकर कुम्भ की ग्रीवा को पुष्पमालाओं से अलंकृत करें॥१०१-१०३॥

[कोणकलसस्थापनम्]

वेदिकायाश्चतुष्कोणे शालितण्डुलकोपरि।
जलपल्लवसंयुक्तं चतुःकुम्भं विनिर्द्दिशेत्।।१०४।।

इस अध्याय के ३८ से ४० संख्यक श्लोकों में मण्डल-रचना के दो कल्प बताये गये हैं। यदि त्रिकोण, षट्कोण, अष्टदल कमल, द्वादशदल कमल वाला मण्डल बनाया गया है तो वेदी के चारो ओर धान की ढेरी पर सुप्रक्षालित एवं सुधूपित चार कलस स्थापित करके उनमें सुशीतल जल भरें तथा प्रत्येक कलस पर यथाविधि आम्र आदि के पत्ते रखें।।१०४।।

[द्वितीयमण्डलकल्पे कलसस्थापने विशेषः]

शेषमण्डलपक्षे तु नवकुम्भं सुशोभनम्।
स्वर्णरत्नादिसंयुक्तं नवयोनौ विनिक्षिपेत्।।१०५।।

यदि नौ कोणों वाला मण्डल बनाया गया है तो उसके प्रत्येक कोण पर स्वर्ण और रत्नादि-समन्वित कलस स्थापित करें।।१०५।।

विमर्श—इन कलसों को भी लाल वस्त्रों से लपेटकर उनके मुख पर यथाविधि पल्लव रखे जाते हैं।

[मूलशक्तिपूजनम्]

अथ कल्पोक्तमासाद्य पूजयेत् साधकोत्तमः।
आवाह्यास्मिन् कल्पतरोश्छायायां परमेश्वरीम्।।१०६।।
षोडशाद्युपचारैश्च नानाद्रव्यैर्मनोहरैः।
परिवारसमेताञ्च नैवेद्यादीन् पृथक् पृथक्।।१०७।।

कल्प में बताये गये विधान के अनुसार कुम्भरूपी कल्पवृक्ष की छाया में अर्थात् कुम्भ में भगवती का परिवार-सहित आवाहन करके उनका षोडशोपचार अर्चन करें। परिवार-देवताओं को पृथक्-पृथक् नैवेद्य समर्पित करें।।१०६-१०७।।

[नवकुम्भस्थापनकल्पे विशेषः]

नवकुम्भप्रकारे तु वशिन्याद्यष्टकं पुनः।
पाद्यादिभिस्तु मन्त्रज्ञो वसुकुम्भे प्रपूजयेत्।।१०८।।

यदि नौ (९) कुम्भ स्थापित किये गये हों तो मध्य कुम्भ में भगवती का अर्चन करके शेष आठ कुम्भों में वशिनी आदि आठ वाग्देवताओं का यथाविधि अर्चन करें।।१०८।।

विमर्श—(१) वशिनी, (२) कामेश्वरी, (३) मोदिनी, (४) विमला, (५) अरुणा, (६) जयिनी, (७) सर्वेश्वरी और (८) कौलिनी—ये आठ वाग्देवता हैं।

[होमः]

ततः स्वदक्षिणे मन्त्री कुण्डं विरचयेत् सुधीः।
हस्तमानं स्थण्डिलं वा रचयेद् विधिपूर्वकम्।।१०९।।
विधिवदग्निमारोप्य तत्र देवीं प्रपूजयेत्।
तिलाज्यैर्जुहुयान्मन्त्री शतमष्टोत्तरं क्रमात्।।११०।।

इसके बाद दीक्षादाता गुरुदेव अपने दाहिने ओर हस्त प्रमाण का कुण्ड अथवा स्थण्डिल का निर्माण करके यथाविधि अग्नि स्थापित करें। अग्नि में भगवती का आवाहन करके उन्हें घृत और तिल की १०८ होमाहुति प्रदान करें।।१०९-११०।।

[शिष्यानयनम्]

ततो होमसमीपे तु शिष्यं समानयेद् बुधः।।१११।।

हवन हो जाने पर गुरुदेव शिष्य को होमकुण्ड के समीप बुलायें।

[शिष्यदेहे षडध्वचिन्तनम्]

विलोक्य दिव्यदृष्ट्या तं षडध्वनोऽत्र चिन्तयेत्।
पादान्धुनाभिहृद्भालमस्तकेषु क्रमात् सुधीः।।११२।।

अथाऽध्वशोधने निरूपणीये प्रथमं शिष्यदेहे षडध्वचिन्तनमाह—**विलोक्य दिव्यदृष्ट्येति**। दिव्यदृष्टिरनिमेषदृष्टिः। तदुक्तं विश्वसारे द्वितीयपटले—

अनिमेषचक्षुषा दृष्टिर्दिव्यदृष्टिः प्रकीर्त्तिता। इति।

षडध्वानस्त्वग्रे वक्ष्यन्ते। अध्वचिन्तनस्थानमाह—**पादेति**। अन्धुः कूपः पायुरित्यर्थः। एवञ्च शिष्यस्य पादयोः कलाध्वानम्; पायौ तत्त्वाध्वानम्, नाभौ भुवनाध्वानम्, हृदि वर्णाध्वानम्, भाले पदाध्वानम्, मस्तके मन्त्राध्वानं चिन्तयेदित्यर्थः।

दिव्य दृष्टि से देखकर शिष्य के अलग-अलग अवयव में क्रम-क्रम से अध्वाओं का चिन्तन करें। शरीर के ये छः अवयव हैं—(१) पैर, (२) पायु, (३) नाभि, (४) हृदय, (५) ललाट और (६) सिर। अध्वा हैं—(१) कलाध्वा, (२) भुवनाध्वा, (४) तत्त्वाध्वा, (३) वर्णाध्वा, (५) पदाध्वा और (६) मन्त्राध्वा। क्रम-क्रम से चिन्तन का अर्थ है—(१) पैरों में कलाध्वा का, (२) पायु में तत्त्वाध्वा का, (३) नाभि में भुवनाध्वा का, (४) हृदय में वर्णाध्वा का, (५) ललाट में पदाध्वा का और (६) सिर में मन्त्राध्वा का चिन्तन करें। दिव्य दृष्टि से तात्पर्य है—टकटकी लगाकर बिना पलक झपकाये एकटक देखना।।१११-११२।।

षडध्व-विमर्श—'षट्' का अर्थ है—छः (६) तथा अध्वन् का अर्थ है—मार्ग या प्रणाली अथवा चैनल (Channel)। इस तरह षडध्व का अर्थ है—उन छः

(६) रास्तों या मार्गों या प्रणालियों का समूह, जिनके माध्यम से अथवा जिन छः रूपों में परिणत होकर भगवान् परमशिव को महाशक्ति उनकी इच्छा के अनुरूप व्यष्टि और समष्टिरूप ब्रह्माण्ड के रूप में आविर्भूत या प्रकट होती है।

वेद भगवान् का कथन है कि जब यह व्यष्टि और समष्टिरूप ब्रह्माण्ड अपने बीजरूप में महाशक्ति के गर्भ में तिरोहित था, उस समय भगवान् परमशिव में लीला करने के लिये एक से अनेक होने की इच्छा हुई। तन्त्रागम में इसे इच्छाशक्ति कहा गया है। यह इच्छाशक्ति सृष्टि उन्मुखी महाशक्ति का प्रथम उन्मेष है। इस इच्छाशक्ति से ज्ञानशक्ति तथा ज्ञानशक्ति से क्रियाशक्ति का आविर्भाव या उद्भव हुआ। इन तीनों शक्तियों के संयोग से 'अर्थसृष्टि' तथा 'शब्दसृष्टि' की उत्पत्ति हुई। अर्थसृष्टि से कला, तत्त्व एवं भुवन—इन तीन अध्वाओं की तथा शब्दसृष्टि से वर्ण-पद और मन्त्र—इन तीन अध्वाओं का आविर्भाव हुआ।

मन्त्राध्वा च पराध्वा च वर्णाध्वा च शब्दशः।
भुवनाध्वा च तत्त्वाध्वा कलाध्वा चार्थतः क्रमात्॥

इसी का संक्षिप्त निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

[षडध्वानः]

कलाध्वा चैव तत्त्वाध्वा भुवनाध्वेति तत्त्रयम्।
वर्णाध्वा च पदाध्वा च मन्त्राध्वेत्यपरं त्रयम्॥११३॥

कला आदि ये छः अध्वायें तीन-तीन के क्रम से दो वर्गों के अन्तर्गत हैं। कलाध्वा, तत्त्वाध्वा और भुवनाध्वा एक वर्ग अर्थात् अर्थसृष्टि के अन्तर्गत हैं। शेष तीन अर्थात् वर्णाध्वा, पदाध्वा और मन्त्राध्वा दूसरे वर्ग अर्थात् शब्दसृष्टि के अन्तर्गत हैं, जैसा कि विमर्श में उद्धृत उपर्युक्त श्लोक से स्पष्ट है। अगले पाँच श्लोकों में उनका संक्षिप्त निरूपण किया गया है॥११३॥

[तत्र कलाध्वा]

निवृत्तिः सुप्रतिष्ठा स्याद् विद्या शान्तिरनन्तरम्।
शान्त्यतीतेति विज्ञेया कलाध्वेति प्रचक्षते॥११४॥

अध्वषट्कमाह—कलेति। अत्र षण्णामध्वनां त्रयं त्रयमित्येताभ्यां पृथक् पृथक् त्रित्वेन विभजनात् कलातत्त्वभुवनरूपाः प्रथमास्त्रयोऽध्वानोऽर्थरूपाः, वर्णपदमन्त्ररूपास्त्रयोऽपरे शब्दरूपा इति सूचितम्। व्यक्तमाह राघवभट्टधृतवायवीयसंहितायाम्—

तेऽत्र शब्दास्त्रयो धातस्त्रयस्त्वर्थाः समीरिताः। इति।

एतदर्थप्रतिपादकं वचनान्तरमपि प्रदर्शितं राघवभट्टेन—

मन्त्राध्वा च पदाध्वा च वर्णाध्वा चेति शब्दतः।
भुवनाध्वा च तत्त्वाध्वा कलाध्वा चार्थतः क्रमात्॥ इति।

अत्रेदं रहस्यम्—सृष्टेरादौ परमशिवस्य बहु स्यां प्रजाययेति इच्छायां समुत्पन्नायां तत इच्छाशक्तेर्ज्ञानशक्तिस्ततश्च क्रियाशक्तिरुद्भवति। एतच्छक्तित्रयसंयोगेनार्थसृष्टिः शब्दसृष्टिश्च सम्पद्येते। अत्र मूले कलाध्वेत्यादित्रयेणार्थसृष्टिर्वर्णाध्वेत्यादित्रयेण च शब्दसृष्टिर्दर्शिता। एवञ्च कलाध्वनस्तत्त्वाध्वा, तत्त्वाध्वनो भुवनाध्वा, भुवनाध्वनो वर्णाध्वा, वर्णाध्वनः पदाध्वा, पदाध्वनो मन्त्राध्वेति सृष्टिक्रमः। मन्त्राध्वनः पदाध्वा, पदाध्वनो वर्णाध्वा, वर्णाध्वनो भुवनाध्वा, भुवनाध्वनस्तत्त्वाध्वा, तत्त्वाध्वनः कलाध्वेति संहारक्रमः। तत्त्वानामेतेषां शोधनन्तु संहारक्रमेण परमशिवे विलयं कृत्वा पुनः सृष्टिक्रमेण जननम्। तदुक्तं शारदायां पञ्चमपटले—

आचार्यकुण्डे संशुद्धैस्तिलैराज्यपरिप्लुतैः।
शोधयाम्यमुमध्वानं स्वाहेति पृथगध्वनः।।
ताराद्यमाहुतीरष्टौ क्रमात्तान् विलयं नयेत्।
शिवे शिवान्तसंलीनाञ्जनयेत् सृष्टिमार्गतः।।

एवञ्चाध्वविशोधनशब्दस्य सृष्टिमार्गविशोधनमित्येवार्थः।

षडध्वमयमिदं शरीरम्, अध्वनां शोधनमन्तरेण शरीरशुद्धेरसम्भवादशुद्धशरीरे च शिष्ये दत्तोऽपि मन्त्रो नोपकाराय कल्पत इति गुरुर्मन्त्रदानात् पूर्वमध्वशोधनं विदधीत। तत्र प्रथमं कलाध्वशोधनम्, कलाध्वानस्तु निवृत्त्याद्याः पञ्च। तासां शोधनमाह राघवभट्टःपादे कलाध्वानं स्मृत्वा पद्गुह्यहृद्वक्त्रशिरःसु स्वबीजादिकाः कला विन्यस्य पश्चात् कलाध्वविशोधनमिति। प्रकारन्तु शोधयाम्यमुमध्वानमित्यादिना स्वयमेव वक्ष्यति। अथ तत्त्वान्याह शारदायां पञ्चमपटले—

तत्त्वाध्वा बहुधा भिन्नः शिवाद्यागमभेदतः।
षट्त्रिंशच्छिवतत्त्वानि द्वाविंशद् वैष्णवानि तु।।
चतुर्विंशतितत्त्वानि मैत्राणि प्रकृतेः पुनः।
उक्तानि दश तत्त्वानि सप्त च त्रिपदात्मनः।।

इत्यनेन शैववैष्णवादिभेदेन तत्त्वानां बहवो भेदाः प्रदर्शिताः। तत्र शिवतत्त्वानि शुद्धत्वेन शुद्धाशुद्धत्वेनाशुद्धत्वेन च त्रिविधानि। तत्र शुद्धानि—

तत्त्वानि शैवान्युच्यन्ते शिवः शक्तिः सदाशिवः।
ईश्वरो विद्यया सार्द्धं पञ्च शुद्धान्यमूनि हि।।

शुद्धाशुद्धानि यथा—

माया कालश्च नियतिः कलाविद्या पुनः स्मृताः।
रागः पुरुष एतानि शुद्धाशुद्धानि सप्त च।।

अशुद्धानि तु—

प्रकृतिर्बुद्ध्यहङ्कारो मनो ज्ञानेन्द्रियाण्यथ।
कर्मेन्द्रियाणि तन्मात्रा पञ्चभूतानि देशिकाः।।

एतान्याहुरशुद्धानि चतुर्विंशतिरागमे।
शैवानामिति तत्त्वानां विभागोऽत्र प्रदर्शितः।। इति।

एवं वैष्णवादितत्त्वान्यपि ज्ञेयानि।

शैवागमेष्वपि त्रिपुरायास्तत्त्वे विशेषः—

निवृत्त्याद्याः कलाः पञ्च ततो बिन्दुः कला पुनः।
नादः शक्तिः सदापूर्वशिवश्च प्रकृतिर्विदुः।।
आत्मविद्याशिवः पश्चाच्छिवो विद्या स्वयं पुनः।
सर्वतत्त्वञ्च तत्त्वानि प्रोक्तानि त्रिपदात्मनः।
तत्त्वाध्वा कथितो ह्येष तत्तदागमवेदिभिः।। इति।

मूले तु त्रिपुराया एव प्रकृतत्वात्त्रैपुराण्येव तत्त्वानि प्रदर्शितानि—**निवृत्त्याद्या इत्यादिना**। तत्रापि सप्तैव नामतो निर्दिष्टानि शारदोक्तानामपरेषामपि तत्त्वानामत्र ग्रहणमुन्नेयम्। अत्रेदमवधेयम्—प्रागुक्तेषु तत्त्वेषु च केचिज्जडाः स्वभावत एव मायिकत्वादशुद्धाः शिवशक्तिसदाशिवादीनान्तु स्वतो विशुद्धत्वेऽपि शरीरसम्पर्केण आणव-कार्मण-मायिकमलत्रयवत्त्वादशुद्धत्वम्। आणवादिमलत्रयस्वरूपमुक्तं राघवभट्टेन—आणवो नाम सदाशिवस्य स्वस्यानवमर्शः, कार्मो नाम पुण्यपापवानहमिति प्रतीतिः, मायीयो नामाहङ्कारादावात्मबुद्धिरिति। एवञ्चाशुद्धानां तत्त्वानां शोधनेन शरीरात्मादीनां शुद्धिः सम्पद्यत इति तदर्थमध्वशोधनमावश्यकमिति संक्षेपः।

कलाध्वा—निवृत्ति, सुप्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीत—ये पाँच कलायें हैं। इन्हें कलाध्वा कहा जाता है।।११४।।

[तत्त्वाध्वा]

निवृत्त्याद्याः कलाः पञ्च बिन्दुः कला च नादकः।
शक्तिः सदाशिवश्चैव तत्त्वाध्वा प्रकृतेरयम्।।११५।।

तत्त्वाध्वा—निवृत्ति आदि पाँच कलायें, बिन्दु, कला, नाद, शक्ति तथा सदाशिव—ये प्रकृतितत्त्व हैं। इनका परिगणन 'तत्त्वाध्वा' के रूप में होता है।।११५।।

विमर्श—यहाँ प्रयुक्त 'तत्त्व' शब्द आधुनिक रसायन शास्त्र के एलीमेण्ट (Element) का पर्याय नहीं है। 'तत्त्व' का लक्षण निरूपित करते हुए 'सूतसंहिता' में कहा गया है कि जो भी भोग्य पदार्थ अथवा भोग के साधन अथवा भोग के निमित्त (कारण) अथवा भोक्ता प्रलय काल तक विद्यमान रहते हैं, उन्हें 'तत्त्व' कहा जाता है—

आप्रलयं यत्तिष्ठन्ति, सर्वेषां भोगदायिभूतानाम्।
तत् तत्त्वमिति प्रोक्तं, न शरीरघटादितत्त्वमतः।।

शिवादि आगमभेद से तत्त्वों की संख्या पृथक्-पृथक् है। शैवागम के अनुसार ३६ तत्त्व हैं। वैष्णव आगम के अनुसार तत्त्वों की संख्या ३२, सांख्य मत के अनुसार २४, प्रकृति मत के अनुसार १० तथा त्रिपुरामत के अनुसार ७ है।

शैवागम के ३६ तत्त्व प्रकाशता एवं चेतनता के आधार पर तीन वर्गों में परिगणित हैं—शुद्ध, शुद्धाशुद्ध तथा अशुद्ध। (१) शिव, (२) शक्ति, (३) सदाशिव, (४) विद्या तथा (५) ईश्वर—ये पाँच शुद्धतत्त्व हैं।

(१) माया, (२) काल, (३) नियति, (४) कला, (५) विद्या, (६) राग और (७) पुरुष—ये ७ शुद्धाशुद्ध तत्त्व हैं।

(१) प्रकृति, (२) बुद्धि, (३) अहङ्कार, (४) मन, (५) श्रोत्र, (६) त्वक्, (७) चक्षु, (८) जिह्वा, (९) घ्राण आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; (१०) वाक्, (११) पाणि, (१२) पाद, (१३) पायु, (१४) उपस्थ आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ; (१५) शब्द, (१६) स्पर्श, (१७) रूप, (१८) रस एवं (१९) गन्ध—ये पाँच तन्मात्राएँ तथा (२०) आकाश, (२१) वायु, (२२) अग्नि, (२३) सलिल एवं (२४) पृथ्वी—ये पाँच महाभूत अशुद्ध तत्त्व हैं।

वैष्णव तत्त्व—वैष्णवागम के अनुसार जीव, प्राण, बुद्धि, चित्त, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्रायें, पाँच महाभूत, हृत्पद्म, सूर्य, चन्द्र और अग्निरूपी तीन ज्योतियाँ तथा वासुदेव आदि चतुर्व्यूह को मिलाकर ३२ तत्त्व हैं।

पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्रायें, दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और प्रकृति—ये २४ सांख्य तत्त्व हैं।

ये तत्त्व सामुदायिक रूप से 'तत्त्वाध्वा' कहे जाते हैं।

[भुवनाध्वा]

ईरितो भुवनाध्वेति भुवनानि चतुर्दश।।११६।।

भुवनाध्वा—पाताल से लेकर सत्यलोक आदि चौदह भुवनों को भुवनाध्वा कहते हैं।।११६।।

विमर्श—आर्ष मान्यता के अनुसार ब्रह्माण्ड में भुवनों की संख्या चौदह (१४) है। इनमें से (१) अतल, (२) वितल, (३) सुतल, (४) रसातल, (५) तलातल, (६) महातल और (७) पाताल—ये सात अधोवर्ती भुवन हैं। इसी प्रकार (१) भू, (२) भुव:, (३) स्व:, (४) मह:, (५) जन:, (६) तप: और (७) सत्य—ये क्रमश: ऊर्ध्ववर्ती भुवन हैं। 'यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे' के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के शरीर में ये चौदह भुवन स्थित हैं, जैसा कि निर्वाणतन्त्र (दशम पटल) में कहा गया है—

पातालं सप्तकं तत्र, तथैव सप्त स्वर्गकम्।
एवं क्रमात् सर्वदेहे भुवनानि चतुर्दश।।

राघवभट्ट के द्वारा यथा उद्धृत वायवीयसंहिता के अनुसार आधार (मूलाधार) से उन्मनी-पर्यन्त भुवनाध्वा की स्थिति है—

आधाराद्युन्मन्यन्तञ्च भुवनाध्वा प्रकीर्तितः।

अब वर्णाध्वा आदि का निरूपण किया जा रहा है—

[वर्णाध्वा]

अकारादिक्षकारान्ता वर्णाध्वा परिकीर्त्तितः।

[पदाध्वा]

विभक्त्यन्ता वर्णसङ्घाः पदाध्वेति प्रचक्षते।।११७।।

[मन्त्राध्वा]

मन्त्राध्वा मन्त्रराशिस्तु षडध्वानः प्रकीर्त्तिताः।।११८।।

ईरित इति। चतुर्दशभुवनानि भुवनाध्वेत्यर्थः। राघवभट्टधृतवायवीयसंहितायाम्—

आधाराद्युन्मन्यन्तञ्च भुवनाध्वा प्रकीर्त्तितः।

इत्यनेन भुवनाध्वनः स्थानं निरूपितम्। व्यक्तमाह निर्वाणतन्त्रे दशमपटले—

पातालसप्तकं तत्र तत्रैव सप्तस्वर्गकम्।
एवं क्रमात् सर्वदेहे भुवनानि चतुर्दश।। इति।

अकारेति। अकारादिक्षकारान्ता मातृकावर्णा देहे तत्तत्स्थानस्थिता इत्यर्थः। **विभक्त्यन्तेति।** मन्त्रघटको वर्णसमूहो विभक्त्यन्त एव पदाध्वा। तदुक्तं राघवभट्टधृतवायवीयसंहितायाम्—

अनेकभेदसम्भिन्नः पदाध्वा पदसंहतिः।
महामन्त्रोपमन्त्राणां वर्त्ततेऽवयवात्मना।
प्रधानावयवत्वेन सोऽध्वाऽयं पदवाचकः। इति।

राघवभट्टस्तु 'वर्णसङ्घः सबिन्दुवर्णा' इत्याह। **मन्त्राध्वेति** अ-क-च-ट-त-प-याः सप्त मन्त्रा ब्रह्मरन्ध्रे इति।

वर्णाध्वा—'अ'कार से लेकर 'क्ष'कार-पर्यन्त ५१ अक्षरों को वर्णाध्वा कहा जाता है।

पदाध्वा—विभक्तियुक्त (सार्थक) वर्णसमूह को पदाध्वा कहते हैं।

मन्त्राध्वा—मन्त्रसमूह या मन्त्रराशि को मन्त्राध्वा कहा जाता है।।११७-११८।।

विमर्श—वर्ण, पद और मन्त्र का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। यदि 'अ'कार आदि वर्ण (अक्षर) न हों तो न तो सुबन्त और तिङन्त 'पद' बनेंगे और न ही वर्णों/पदों के बिना मन्त्रों का प्रकाशन होगा। 'अ'कार आदि ये वर्ण विशुद्ध आदि षट्चक्रों में तथा शरीर के ललाट आदि अवयवों में स्थित हैं। वर्णों के रूप

में 'पद' और 'मन्त्र' की भी मानव शरीर में संस्थिति है। इस तरह मनुष्य का शरीर 'षडध्व'मय है। शरीर में विद्यमान ये षडध्व अपने प्रकृत रूप में शिवरूप आत्मा की मलीनता के कारण हैं; अतः दीक्षा के समय इनका शोधन किया जाता है, ताकि देय मन्त्र शिष्य के लिये फलदायी हो सके। अगले श्लोकों में षडध्व-शोधन का प्रयोगक्रम बताया जा रहा है।

[अध्वशोधनक्रमः]

अथ कूर्चेन शिष्यन्तु स्पृशन्नाज्यतिलैर्हुनेत्।
शोधयाम्यमुमध्वानममुष्याष्टाहुतीर्गुरुः ।
स्वाहान्तं तारपूर्वन्तु क्रमेण पृथगध्वनः।।११९।।

अथाऽध्वशोधनक्रममाह—**अथेति**। कूर्चेन प्राक्परिभाषितेनेत्यर्थः। शोधयामीति। तथाच—ॐ अमुष्य कलाध्वानं शोधयामि स्वाहेत्यष्टाहुतीर्जुहुयादित्यर्थः। विलयसृष्ट्यादिक्रमेण शोधनस्य क्रमस्तु आचार्यकुण्डे संशुद्धैरित्यादिना पूर्वमेव प्रदर्शितः।

अध्वशोधन—कूर्च से शिष्य का स्पर्श करते हुए दीक्षादाता गुरु शिष्य के प्रत्येक अध्व-शोधन के लिये घृतसिक्त तिलों की आठ-आठ आहुतियाँ दें। आहुति देने का मन्त्र है—'ॐ अमुष्य अमुक अध्वानं शोधयामि स्वाहा।'

विमर्श—उक्त मन्त्र में 'अमुष्य' के स्थान पर शिष्य के षष्ठ्यन्त (यथा देवदत्तस्य) नाम और 'अमुक' के स्थान पर अध्वा के नाम की योजना कर लेनी चाहिए। यथा—'ॐ देवदत्तस्य कलाध्वनं शोधयामि स्वाहा।'

आहुति देने के पूर्व शिष्य के पाद, गुह्य, नाभि, हृदय एवं शिरःप्रदेश में क्रमशः कलाध्वा, तत्त्वाध्वा, भुवनाध्वा, वर्णाध्वा, पदाध्वा तथा मन्त्राध्वा का विधिवत् न्यास किया जाता है, जैसा कि 'शारदातिलक' (५/९३) में बताया गया है। दीक्षादाता गुरुदेव अपने बाँयें हाथ में कूर्च को पकड़कर उससे शिष्य का स्पर्श करते हुए दाहिने हाथ से तिलाज्य की आहुति देते हैं।

[शिष्यदेहे चैतन्ययुक्तिः]

शिष्यं विलोक्य चैतन्यं तस्य देहे नियोजयेत्।।१२०।।

शिष्यमिति। व्यक्तमाह शारदायां पञ्चमपटले—

विलोकयन् दिव्यदृष्ट्या तं शिशुं देशिकोत्तमः।
आत्मस्थितं तच्चैतन्यं पुनः शिष्ये नियोजयेत्।। इति।

दीक्षादाता गुरुदेव दिव्य दृष्टि से देखकर आत्मगत चैतन्य को शिष्य में पुनः स्थापित करें।।१२०।।

विमर्श—षडध्व-शोधन के लिये दीक्षार्थी शिष्य को कुण्ड के समीप बुलाकर जब गुरुदेव दिव्यदृष्टि से (टकटकी बाँधकर) देखते हैं, उस समय वे उसकी चैतन्य

शक्ति को उसके हृदय-कमल से खींचकर अपनी आत्मा में संयोजित कर लेते हैं। षडध्व-शोधन के उपरान्त पुन: दिव्य दृष्टि से देखकर शिष्य की चैतन्य शक्ति उसके हृदय-कमल में प्रतिष्ठित कर दी जाती है।

[पूर्णाहुतिदानपूर्विका पञ्चोपचारपूजा]

ततः पूर्णाहुतिं दत्त्वा कुम्भे देवीं प्रपूजयेत्।
पञ्चोपचारैः सम्पूज्य प्रदद्याच्छत्रचामरम्।।१२१।।

दीक्षादाता गुरुदेव पूर्णाहुति देने के बाद कुम्भ में भगवती का आवाहन करके उनका पञ्चोपचारपूजन करें तथा छत्र-चामर आदि राजोपकरण समर्पित करें॥१२१॥

[देव्यै कर्पूरादिदानम्]

ततः कर्पूरताम्बूलं देव्यै तस्यै निवेदयेत्।।१२२।।

तत्पश्चात् भगवती को कपूर से सुवासित ताम्बूल (पान का बीड़ा) प्रदान करें॥१२२॥

[जप:]

अष्टोत्तरसहस्रन्तु जप्त्वा देव्यै समर्पयेत्।।१२३।।

[व्याहृतिभिर्देव्या होम आत्मसमर्पणादिकञ्च]

देव्या व्याहृतिभिर्हुत्वा शेषमन्यत् समापयेत्।।१२४।।

अष्टोत्तरेति। अयं जपः स्वशक्तिरक्षार्थं विहितः। तदुक्तं राघवभट्टेन—

अष्टोत्तरसहस्रं स्वशक्तिहानानवाप्तये जप्यात्। इति।

राघवभट्टधृतमहाकपिलपञ्चरात्रेऽपि—

मन्त्रं दत्त्वा सहस्रं वै स्वसिद्ध्यै देशिको जपेत्। इति।

तत्पश्चात् दीक्षादाता गुरुदेव देय-मन्त्र का एक हजार आठ बार जप करके देवी को समर्पित करने के बाद व्याहृतियों से देवी को आहुतियाँ प्रदान करें॥१२३-१२४॥

[मन्त्रोपदेशाय शिष्यस्यानयनम्]

नेत्रमन्त्रेण शिष्यस्य नेत्रं वस्त्रेण बन्धयेत्।
करे गृहीत्वा तं शिष्यं पूजास्थाने समानयेत्।।१२५।।

नेत्रमन्त्रेण 'वौषट्' इत्यनेन।

इस प्रकार जप और हवन के बाद दीक्षादाता गुरुदेव 'नेत्रमन्त्र' अर्थात् 'वौषट्' का जप करते हुए किसी शुद्ध वस्त्रखण्ड से शिष्य की आँखों पर पट्टी बाँध दें। हाथ पकड़कर शिष्य को पूजा-स्थान पर लायें॥१२५॥

[पुष्पाञ्जलिदानम्]

पुष्पाञ्जलिं तस्य करे दत्त्वा मूलं समुच्चरन्।
कलसे क्षेपयेन्मन्त्री देवताप्रीतिहेतवे।।१२६।।

पुष्पाञ्जलिमिति। दीक्षयिष्यमाणस्य शिष्यस्य तदानीं मन्त्राज्ञानान्मूलमन्त्रजपो गुरुणा कर्त्तव्यस्तदनुज्ञातेन शिष्येणामन्त्रकं पुष्पाञ्जलिर्देय इत्यर्थः।

उसके हाथ में फूल देकर देवता को पुष्पाञ्जलि देने के लिये कहें। यह पुष्पाञ्जलि वेदी पर स्थापित कलस पर दी जाती है। पुष्पाञ्जलि-दान के समय गुरुदेव देय मन्त्र का जप करते रहें और दीक्षार्थी शिष्य सर्वथा मौन रहे। किसी मन्त्र का जप नहीं करे।।१२६।।

[पुष्पपातेन शुभाशुभनिरूपणमशुभे तत्प्रतिकारश्च]

पश्चिमोत्तररुद्रेन्द्रे पुष्पपातः शुभो भवेत्।
अस्त्रमन्त्रेण जुहुयादशुभेऽष्टशतं गुरुः।।१२७।।

पश्चिमेति। पश्चिमे उत्तरे ईशाने पूर्वे वा अञ्जलिपुष्पाणां पातः शुभकरः वायुनैर्ऋतयाम्याग्निषु पुष्पपातस्त्वशुभकर इत्यर्थः। एवमशुभे पुष्पपातेऽष्टशतं जुहुयात्। अष्टशतम् अष्टाधिकं शतमित्यर्थः। व्यक्तमाह राघवभट्टधृतपिङ्गलामते—

पुष्पैरञ्जलिमापूर्य योगपीठे प्रदापयेत्।
पश्चिमोत्तररुद्रेन्द्रे पुष्पपातः शुभोऽशुभे।
अष्टोत्तरशतं शान्त्यै जुहुयादस्त्रमन्त्रतः।। इति।

अब पुष्पपात से शुभाशुभ बता रहे हैं। पुष्पाञ्जलि में समर्पित किये गये पुष्प यदि पश्चिम, उत्तर, ईशान या पूर्व में गिरें तो उसे शुभ समझिये। वायव्य, नैर्ऋत्य और दक्षिण दिशा में गिरें तो अशुभ होता है। अशुभ की शान्ति के लिये गुरुदेव अस्त्र-मन्त्र (फट्) से १०८ (एक सौ आठ) आहुतियाँ देकर हवन करें।।१२७।।

[नेत्रबन्धापनयनम्]

नेत्रबन्धं परित्यज्य कुशासने विशेच्छुचिः।

तत्पश्चात् शिष्य के आँखों की पट्टी खोलकर उसे पवित्र कुशासन पर बैठा दें।

[पुष्पाञ्जलिदानानन्तरप्रक्रिया]

पुष्पाञ्जलित्रयं दत्त्वा पुनः सम्पूजयेद् गुरुः।।१२८।।
यथाविधिविधानेन हृदि देवीं समानयेत्।।१२९।।
कुशान्तरे शम्भुदेशे गर्गरीं नालसंयुताम्।
संस्थाप्य जलसम्पूर्णां वस्त्रयुग्मेण वेष्टिताम्।।१३०।।
तन्मध्ये निक्षिपेन्मन्त्री त्रिकटु त्रिफलां तथा।
भस्मदूर्वामृत्तिकाश्च कर्पूररोचनान्तथा।।१३१।।

चन्दनं कुङ्कमञ्चैव चक्रराजं तथैव च।
अस्त्रमन्त्रेण संरक्ष्य धेनुयोन्यौ च दर्शयेत्।।१३२।।

कुशान्तर इति। शम्भुदेशे ईशानभागे।

तत्पश्चात् दीक्षादाता गुरुदेव भगवती को तीन पुष्पाञ्जलि देकर अपने हृदय में विसर्जित करें।

ईशान कोण में कुशासन बिछाकर उस पर टोंटीदार कलस स्थापित करें। उसमें शुद्ध-स्वच्छ जल भरकर कलस पर दो लाल वस्त्र लपेट दें। कलस के जल में त्रिकटु, त्रिफला, भस्म, दूर्वा, सप्तमृत्तिका, कपूर, रोचना, चन्दन और कुंकुम डालें। चक्रराज को कलस के जल में डाल दें। अस्त्र-मन्त्र (फट्) से उसका संरक्षण करके धेनुमुद्रा दिखाकर योनिमुद्रा से उसे प्रणाम करें।।१२८-१३४।।

[अस्त्रदेवतापूजादिप्रक्रिया]

सिंहसंस्थां महारौद्रीं खड्गखेटकधारिणीम्।
घोररूपां पश्चिमास्यां पूजयेदस्त्रदेवताम्।।१३३।।
तस्या उपरि मन्त्रज्ञो दशधा मूलमाजपेत्।।१३४।।

अस्त्रदेवता का ध्यान—इसके बाद गुरुदेव अस्त्रदेवता का ध्यान करें—

'घोररूपा और उग्र स्वभाव वाली अस्त्र-देवी सिंह पर सवार हैं। उनका मुख पश्चिम की ओर है तथा वे अपने हाथों में खड्ग और खेटक धारण किये हुए हैं।'

ध्यान करने के बाद उनका पूजन करें तथा उस कलस पर मूल-मन्त्र (देय मन्त्र) का दस बार जप करें।।१३३-१३४।।

अथवा शङ्खपात्रन्तु जलेनापूर्य साधकः।
वह्निसूर्यविधूनान्तु कलास्तत्र प्रपूजयेत्।।१३५।।
अथ मन्त्रं विनिक्षिप्य षडङ्गेनार्चयेत्ततः।
अस्त्रमन्त्रेण सम्पूज्य मूलञ्च दशधा जपेत्।।१३६।।

यदि टोंटीदार कलस न मिले तो उसके अभाव में कुशों पर शंख स्थापित कर उसमें जल भरें। अग्नि-सूर्य और चन्द्रमा की ३८ कलाओं का पूजन करके शंख के जल में मन्त्र लिखे होने की भावना करके षडङ्ग मन्त्रों से अर्चन करें। अस्त्र-मन्त्र से शंख की पूजा करके उस पर दस बार मूल मन्त्र का जप करें।।१३५-१३६।।

[यन्त्रे शिष्यस्योपवेशनम्]

ततः पद्मं लिखेद्वामे केशरेषु स्वराल्लिँखेत्।
युग्मयुग्मक्रमेणैव कादिवर्णाल्लिँखेत्ततः।।१३७।।
सप्तपत्रे चाष्टमे च ल-क्षवर्णं लिखेत् सुधीः।
तन्मध्ये कर्णिकायान्तु शिष्यं संस्थापयेद् गुरुः।।१३८।।

ततः पद्ममिति। मातृकायन्त्रोक्तपद्मानुरूपमिदं पद्मम्। प्रथमं वृत्तरूपा कर्णिका, ततो वृत्तं तत्संसक्तान्यष्टौ दलानि। प्रथमवृत्ताद्दलमूलेषु केशराणि, केशरेषु युगशः षोडश स्वराः, पूर्वादितः प्रादक्षिण्येन पञ्चसु दलेषु पञ्च वर्गाः, षष्ठे यरलवाश्चत्वारो वर्णाः, सप्तमे शषसहाः, अष्टमे ळ-क्षवर्णद्वयम्। इति पद्मनिर्माणक्रमः। तत्पद्म-कर्णिकायां शिष्यमुपवेशयेत्।

दीक्षादाता गुरुदेव अपनी बाँयीं ओर भूमि पर सिन्दूर अथवा कुंकुम से मातृका-यन्त्र की तरह एक बृहदाकार चक्र बनायें। यह चक्र बनाने के लिये सर्वप्रथम वृत्तरूपा कर्णिका बनायें। इस वृत्त से संलग्न अष्टदल कमल बनायें। पूर्व से प्रारम्भ कर प्रत्येक दल पर 'अ-आ' आदि दो-दो स्वरवर्ण लिखें। तत्पश्चात् पूर्व से प्रारम्भ करके पाँच कमलदलों में क्रमशः 'क'कार आदि पाँच वर्गों के व्यञ्जनों को स्वरवर्णों के नीचे लिखें। छठवें कमलदल में अन्तःस्थ वर्ण (य र ल व), सातवें दल में ऊष्माण वर्ण (श ष स ह) और आठवें दल में केवल 'ळ' और 'क्ष' लिखें। यह चक्र बनाकर उसकी कर्णिका में शिष्य को कुशासन पर बिठायें॥१३७-१३८॥

[शिष्यशिरसि श्रीचक्रन्यासः]

षडध्वरूपं श्रीचक्रं तस्य मूर्ध्नि विचिन्तयेत्॥१३९॥

तत्पश्चात् दीक्षादाता गुरुदेव मातृका-चक्र पर आसीन शिष्य के शिरोप्रदेश में षडध्वरूप श्रीचक्र का चिन्तन करें अर्थात् यह भावना करें कि दीक्षार्थी के शिरोप्रदेश में षडध्वमय श्रीचक्र अंकित है॥१३९॥

विमर्श—षडध्वरूपं श्रीचक्रं विचिन्तयेत्—अर्थात् श्रीचक्र में षडध्व का चिन्तन। इससे संकेत मिलता है कि श्रीचक्र में षडध्व अंकित हैं अथवा श्रीचक्र षडध्वमय है। भगवती के अर्चन-चक्र अर्थात् श्रीयन्त्र के षडध्वमय होने का रहस्योद्घाटन श्रीज्ञानार्णव तन्त्र (१०/८९ से ९८) में विस्तार से किया गया है।

श्रीयन्त्र में कुल ९ चक्र हैं। इनमें से प्रथम तीन अर्थात् भूपुर, षोडशार और अष्टार सृष्टिचक्र हैं। चतुर्दशार और दोनों दशार स्थितिचक्र तथा अष्टार, मध्य त्रिकोण और बिन्दु—ये तीनों संहारचक्र हैं। इस तरह श्रीयन्त्र के नौ चक्रों में तीन सन्धियाँ बनती हैं। चक्र की इन तीन सन्धियों में भुवनाध्वा तथा चक्र के पत्रों में पदाध्वा की संस्थिति है—

चक्रपत्रेषु देवेशि! पदाध्वा तु निगद्यते॥८९॥
चक्रत्रिसन्धिभागेषु भुवनाध्वा व्यवस्थितः।

भुवनाध्वा और पदाध्वा के बाद वर्णाध्वा की संस्थिति बताई गई है। यथा—

षोडशार अर्थात् षोडश दल कमल के प्रत्येक दल में कलावर्ण अर्थात् 'अ' से 'अः' तक १६ स्वर स्थित हैं। अष्टपत्र अर्थात् अष्टार के प्रत्येक कमलदल में एक-एक कर 'क'वर्ग-'च'वर्ग आदि अष्टवर्ग स्थित हैं। शक्रकोणों अर्थात् चतुर्दश कोणों में 'क'

कार से 'ढ़'कार-पर्यन्त १६ वर्ण स्थित हैं। प्रथम दशार (दस कोणों) में 'ण'कार से 'भ'कार-पर्यन्त १० वर्ण तथा द्वितीय दशार में 'म'कार से 'क्ष'कार के १० वर्ण स्थित हैं। दोनों दशारों के बाद वाले अष्टार (आठ कोणों) में अष्ट वर्ण (अ-क-च-ट-त-प-य और श) तथा मूल त्रिकोण के प्रत्येक कोण में क्रमश: 'अ' एवं 'क' तथा 'थ' स्थित हैं। मूलबिन्दु और बैन्दव चक्र में 'ह' एवं 'क्ष'—इन दो वर्णों की संस्थिति है।

.... षोडसारं कलात्मकम्।।९१।।
अष्टपत्रं कादिवर्णै: क्षान्तैर्दिक्षु विदिक्षु च।
कादिढान्ता शक्रवर्णा: शक्रकोणेषु संस्थिता:।।९२।।
णकरादि-भकरान्ता दश वर्णा: दशारके।
मकारादि-शकारान्ता द्वितीयेऽपि दशारके।।९३।।
वर्णाष्टकं चाष्टकोणे त्रिकोणे कथयामि ते।
अकथादि त्रिकोणान्तं ळक्षयुग्मं तु मध्यमम्।।९४।।

इस तरह भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का पूजन यन्त्र अर्थात् श्रीचक्र 'वर्णाध्वा'मय है।

तत्त्वाध्वा—जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है, शैवागम के अनुसार शिव से पृथ्वी-पर्यन्त ३६ तत्त्व हैं। इन ३६ तत्त्वों के क्रमिक विकास से व्यष्टि एवं समष्टिरूप ब्रह्माण्ड का आविर्भाव होता है। मूल बिन्दु से भूपुर-पर्यन्त नौ चक्रमय यह श्रीयन्त्र शिव से पृथ्वी-पर्यन्त ३६ तत्त्वों के क्रमिक विकास का ज्यामितीय स्वरूप होने के कारण तत्त्वाध्वामय है—

षट्त्रिंशत् तत्त्वभरितं चक्रं मूलानुसारत:।
तत्त्वाध्वा कथितो देवि! तत्त्वरूपो वरानने।।९५।।

कलाध्वा—श्री श्रीचक्र में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर एवं मध्य के क्रम से पाँच सिंहासन हैं। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति तथा शान्त्यतीता—ये पाँच कलायें हैं, जो श्रीचक्र में उपर्युक्त पाँच सिंहासनों के रूप में स्थित हैं। इस तरह श्रीचक्र कलाध्वामय है—

पञ्चसिंहासनोत्रद्ध कलाध्वा चक्रशासनात्।।९६।।

मन्त्राध्वा—बाला विद्या, भैरवी विद्या तथा महात्रिपुरसुन्दरी महाविद्या—ये भगवती त्रिपुरा के तीन रूपभेद हैं। इसके ये तीनों रूप-भेद श्रीचक्र में प्रतिष्ठित हैं, अत: श्रीयन्त्र मन्त्राध्वामय है—

स बाला भैरवीयुक्ता महात्रिपुरसुन्दरी।
त्रिपुरा त्र्यम्बिकान्साढ्या चक्रं प्राप्य विजृम्भते।।९७।।
मन्त्राध्वा समाख्यातो निश्चयेन सदानघे।
एवं षडध्वविमलं श्रीचक्रं परिचिन्तयेत्।।९८।।

मातृकाओं के क्रोड में आसीन दीक्षार्थी शिष्य के सहस्रार में षडध्वमय श्रीचक्र का चिन्तन वह भावमयी प्रक्रिया है, जिसके जरिये दीक्षार्थी के शुद्ध-विशुद्ध शरीर में विद्या का सूक्ष्म संचार होता है।

[शिष्यस्नपनम्]

शिष्यस्य मुखमावेष्ट्य वस्त्रेणोत्थाय गर्गरीम्।
मूलं पठन् नालमुक्तजलैः स्नायाच्च बालकम्।।१४०।।

गर्गरीं गृहीत्वेत्यर्थः।

मातृका यन्त्र के क्रोड में आसीन दीक्षार्थी के शिरो-प्रदेश में षडध्वमय श्रीचक्र का चिन्तन करने के बाद दीक्षादाता गुरुदेव किसी स्वच्छ और शुद्ध वस्त्रखण्ड से उसके (शिष्य के) मुख पर पट्टी बाँध दे। गर्गरी (टोंटीदार कलस) को (अभाव में शंख को) उठाकर मूल मन्त्र का जप करते हुए कलस की टोंटी से धीरे-धीरे जल गिराते हुए शिष्य को स्नान करायें।।१४०।।

[शिष्याभिषेकः]

कुम्भमुद्धृत्य विधिवत्तन्मुखस्थान् सुरद्रुमान्।
मातुर्वर्णं विलोमेन जपन्मूर्ध्नि शिशोस्तरेत्।।१४१।।
ततस्तत्पल्लवेनैव घटस्थतीर्थवारिणा।
मूलमन्त्रेण मन्त्रज्ञस्त्रिवारं प्रोक्षयेच्छिशुम्।।१४२।।
एवमेवाभिषेकेण भवेच्च देशिकाग्रणीः।
शुद्धेन वाससा गात्रं सम्मार्ज्यालङ्कृतो भवेत्।।१४३।।

मातुरिति। विलोमेन मातुर्वर्णं जपन्निति क्षकारादकारान्तं मातृकावर्णमुच्चरन्नित्यर्थः।

शिष्य को इस तरह स्नान कराने के बाद गर्गरी (टोंटीदार कलस या शंख) को भूमि पर रख दें। पूर्व में स्थापित मूल कलस (जिसमें भगवती का अर्चन किया गया था) को उठाकर विलोम मातृकाओं का जप करते हुए उसके (कलस के) मुख पर स्थापित पल्लवों से शिष्य के सिर पर कलस का जल छिड़कें। इसके बाद मूलमन्त्र का जप करते हुए उन्हीं पल्लवों से तीन बार दीक्षार्थी के सिर पर जल से अभिषेक करें। इस अभिषेक के पुण्य-प्रभाव से दीक्षार्थी शिष्य साधना-पथ में क्रमशः अग्रसर होता हुआ देशिकों में अग्रणी बन जाता है। अभिषेक के बाद दीक्षार्थी शिष्य गीले वस्त्रों को उतारकर नये शुद्ध एवं पवित्र वस्त्र तथा अलंकार आदि धारण करके मन्त्र-ग्रहण के लिये प्रस्तुत हो जाय।।१४१-१४३।।

[गुरोरनन्तरकरणीयम्]

स्ववामभागे तं शिष्यं शुद्धासने निवेशयेत्।
करे पुष्पफलं कृत्वा ब्रह्मरन्ध्रे फलं क्षिपेत्।।१४४।।

ततो ब्रह्म त्वमेवासि वाक्यमेवं वदेद् गुरुः।

[षट्चक्रविज्ञानोपदेश:]

पश्चाद् षट्चक्रविज्ञानं शिष्याय प्रतिबोधयेत्।।१४५।।

पश्चादिति। षट्चक्रविज्ञानन्तु षष्ठे प्रकाशे स्वयमेव वक्ष्यति।

स्वच्छ और नवीन वस्त्र धारण कर जब दीक्षार्थी यागमण्डप में पुन: उपस्थित हो, दीक्षादाता गुरुदेव उसे अपने वामभाग में बिठायें। अपने हाथ में फल और पुष्प लेकर अपना वह हाथ शिष्य के ब्रह्मरन्ध्र पर रखकर कहें—'तुम ब्रह्म हो'। इसके बाद शिष्य को षट्चक्र-विज्ञान का उपदेश दें॥१४४-१४५॥

विमर्श—श्रीज्ञानार्णव-तन्त्र के २४वें पटल में कहा गया है कि गुरुदेव के पुष्प और फलयुक्त हाथ के स्पर्श से दीक्षार्थी शिष्य को 'ब्रह्म त्वमेव असि' इस महावाक्य के अर्थ की अनुभूति होने लगती है। हे परमेशानि! इस स्पर्श के फलस्वरूप शिष्य के ब्रह्मरन्ध्रवर्ती सहस्रार में कपूर के समान धवल, वर एवं अभय मुद्रा से लसित पाणि, निज स्थान प्रकाशक, सदा-सर्वदा निष्पाप सनातन ब्रह्मरूपी गुरु (अर्थात् गुरुतत्त्व) जागृत हो जाते हैं—

करे पुष्पफलान् कृत्वा ब्रह्मरन्ध्रे करं क्षिपेत्।
तस्माद् ब्रह्म त्वमेवाऽसि वाक्यार्थ: कराद् भवेत्॥४२॥
अनिर्वचनीयोपदेशोऽयं स्पर्शनाद् ब्रह्मरन्ध्रके।
ब्रह्मरन्ध्रे सहस्रारे कर्पूरधवलो गुरु:॥४३॥
वराभयकरौ नित्यौ ब्रह्मरूप सदानघ:।
जागर्ति परमेशानि! निजस्थानप्रकाशक:॥४४॥

ज्ञानार्णवतन्त्र में आगे कहा गया है कि षट्चक्र-विज्ञान का उपदेश देने के बाद दीक्षादाता गुरुदेव शिष्य को उदात्त, अनुदात्त और स्वरित्, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत आदि-सहित वर्णों के शुद्ध उच्चारण की शिक्षा दें; ताकि शिष्य से मन्त्र-जप आदि में कोई उच्चारणगत त्रुटि न होने पाये।

षट्चक्र-विज्ञान का निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ के अगले अध्याय में किया गया है।

[शिष्यदेहे ऋष्यादिन्यास:]

ऋष्यादिमातृकान्यासं तस्य देहे न्यसेद् गुरुः।

[तान्त्रिकाद्वैतोपदेश:]

शिवोक्ताद्वैतकाण्डन्तु शिष्यस्थाने प्रकाशयेत्।।१४६।।

षट्चक्र निरूपण आदि के बाद दीक्षादाता गुरुदेव शिष्य के शरीर में मातृका न्यास और कल्पोक्त ऋष्यादि न्यास करायें तथा उसे भगवान् शिव के द्वारा उपदिष्ट अद्वैत विज्ञान का उपदेश दें॥१४६॥

[कौलदीक्षायां विशेषः]

यदि प्राणाधिकः शिष्यो भवेत् कौलक्रमे रतः।
तत्तन्मन्त्रैस्तत्त्वशुद्धिं कारयित्वा विधानतः।।१४७।।

इस प्रकाश (अध्याय) में अभी तक दीक्षा की जो विधि बताई गई है, वह दक्षिणाचारपरक है। यदि प्राणप्रिय शिष्य को कुलाचार की दीक्षा दी जा रही है तो सर्वप्रथम यथा-विधान मकारपञ्चक द्रव्यों का तद्-तद् मन्त्रों से शोधन कर लिया जाय।।१४७।।

विमर्श—कुलाचारी दीक्षा में भगवती को कारण (मद्य), शुद्धि (मांस), तृतीया (मछली) आदि मकारपञ्चक द्रव्य समर्पित किये जाते हैं; अतः पात्रासादन के समय ही इन द्रव्यों को यथानिर्दिष्ट मन्त्रों तथा यथा-निर्धारित विधि से शोधन करके उन्हें शुद्ध और संस्कृत कर लिया जाता है। कुलाचारी-अर्चन में कलस और विशेषार्घ्य/श्रीपात्र में नदी आदि का जल नहीं; अपितु मन्त्र-शुद्ध कारण (मद्य) द्रव्य भरा जाता है तथा माषप्रमाण शुद्धि (मांस) खण्ड को कारणद्रव्य में डुबोकर उससे गुरुमण्डल, भगवती एवं उनके परिवारदेवताओं का तर्पण किया जाता है। यह कुलाचार सबके लिये नहीं है। सुयोग्य एवं अधिकारी व्यक्तियों को ही कुलाचार की दीक्षा दी जाती है।

[मन्त्रोपदेशः]

ततो बालामनुं दक्षे कर्णे वारत्रयं वदेत्।

शिवोपदिष्ट अद्वैत-विज्ञान का उपदेश देने के बाद दीक्षादाता गुरुदेव शिष्य के दाहिने कान में भगवती बाला का त्र्यक्षरी मन्त्र सुनायें।

[गण्डूषदानम्]

गण्डूषतीर्थं शिष्यस्य हस्ते दद्याद् यथाविधि।।१४८।।
आवयोः सफलञ्चास्तु वदेदेवं गुरूत्तमः।
विभावयंस्ततः सोऽहं गृह्णीयाच्छिष्यसत्तमः।।१४९।।
गण्डूषदाने शिष्यस्य विकल्पो यदि जायते।
न सिद्धिस्तस्य कुत्रापि श्रीविद्या च पराङ्मुखी।।१५०।।

गण्डूषेति। दद्याद् विद्यां ततस्तस्मै विनीतायाम्बुपूर्वकम्। इति शारदातिलक-पञ्चमपटलवचनव्याख्याने राघवभट्टेनाम्बुपूर्वकमिति ब्राह्मणविषयमित्युक्तम्। एवञ्च गण्डूषतीर्थं जलमित्यर्थः। पूर्वं कौलक्रमे रत इत्यभिधानात् कौलिकानां कारण-गण्डूषदानमुक्तमिति प्रतिभाति। तच्च 'न दद्याद् ब्राह्मणो मद्यं महादेव्यै कदाचन' इति वक्ष्यमाणत्वाद् ब्राह्मणेतरविषयम्। अत एव राघवभट्टेन अम्बुपूर्वकमिति ब्राह्मण-विषयमित्युक्तम्।

तत्पश्चात् गुरुदेव दीक्षार्थी के हाथ में यथाविधि गण्डूषतीर्थ प्रदान करें और यह कामना करें कि यह दीक्षा-कर्म हम दोनों के लिये शुभ और कल्याणकारी हो। शिष्य भी 'सोऽहम्' की भावना करते हुए गण्डूषतीर्थ को ग्रहण करे। यदि गण्डूष-ग्रहण की क्रिया में शिष्य को रंचमात्र भी विकल्प (हिचक या घृणा) होता है तो उसे साधना में कभी भी सिद्धि नहीं मिलती और श्रीविद्या उससे पराङ्मुखी रहती हैं॥१४८-१५०॥

विमर्श—'गण्डूष' का शाब्दिक अर्थ है—कुल्ला करना। अतः गण्डूषतीर्थ या गण्डूषजल का अर्थ हुआ—कुल्ला करके मुख से निकाला गया पानी। गुरुदेव मन्त्र का जप करते हुए जल को पीकर गण्डूष करने की भावना करते हुए वह जल शिष्य को प्रदान करते हैं। इस जल को उच्छिष्ट या अपवित्र समझकर उसे ग्रहण करने में शिष्य को कोई हिचक या संकोच नहीं होना चाहिए।

कुलाचारी दीक्षा मे शिष्य को पान-पात्र में 'कारण-द्रव्य' (शोधित एवं संस्कृत मद्य) दिया जाता है। इस पात्र को प्रथम बार स्वीकार करके शिष्य 'पशुत्व' से मुक्त होकर 'कुलाचारी वीर' बनता है।

[पुनर्मूलदेवतार्चा]

ततो भूमौ लिखित्वा तु विद्यां पुष्पादिभिर्यजेत्।।१५१।।

[गुरोरनन्तरकरणीयम्]

दक्षिणं चरणाम्भोजं शिष्यमूर्ध्नि निवेश्य च।
शिष्याय दर्शयेद् विद्यां तज्जपेत् साधकोत्तमः।।१५२।।

गण्डूषदान के बाद दीक्षादाता गुरुदेव देय मन्त्र को भूमि पर लिखकर गन्ध-पुष्प-अक्षत आदि से उसकी पूजा करें तथा शिष्य के सिर पर अपना दाहिना पैर रखकर उसे (शिष्य को) भूमि पर लिखा हुआ मन्त्र दिखायें। इस तरह दीक्षार्थी को मन्त्रदान किया जाता है। मन्त्र प्राप्त करके शिष्य उस मन्त्र का वहीं पर जप करे॥१५१-१५२॥

यदि स्यान्महती प्रीतिः शिष्यस्य प्राणदस्य च।
तदोच्चारणमात्रेण दक्षकर्णे जपेत् पराम्।।
श्रीविद्यां ब्रह्मरूपान्तु सुखमोक्षप्रदायिनीम्।।१५३।।

यदि शिष्य से अतिशय प्रेम है तो उसके दाहिने कान में सुख और मोक्ष-प्रदायिनी श्रीविद्या का उच्चारण करके भी मन्त्र दिया जा सकता है॥१५३॥

ऋषिच्छन्दोदेवतानां विभागञ्च प्रकाशयेत्।
ततो मन्त्ररहस्यन्तु सच्छिष्याय प्रबोधयेत्।।१५४।।

मन्त्ररहस्यं मन्त्रप्रकरणे वक्ष्यते।

इसके बाद शिष्य को मन्त्र के ऋषि, छन्द तथा देवता आदि का परिचय देकर उसे मन्त्ररहस्य समझाया जाय॥१५४॥

[गुरुनामकल्पनक्रमः]

किमप्यङ्गं ततः शिष्यः स्पर्शयेच्छ्रीगुरोस्ततः।
तदङ्गे मातृकावर्णं कल्पयित्वा गुरूत्तमः॥१५५॥
द्व्यक्षरं त्र्यक्षरं वापि चतुरक्षरमेव वा।
आनन्दनाथशब्दान्तं तस्य नाम प्रकल्पयेत्॥१५६॥

नामकरण—मन्त्रदीक्षा के बाद गुरुदेव शिष्य को अपने किसी अंग का स्पर्श करने के लिये कहें। इस पर शिष्य जिस किसी अंग का स्पर्श करे, उस अंग में न्यास किये जाने वाले वर्ण (अक्षर) से प्रारम्भ होने वाला दो अक्षर, तीन अक्षर या चार अक्षर का 'आनन्दनाथ' युक्त नाम प्रदान करें॥१५५-१५६॥

विमर्श—स्त्रीशिष्या के नाम के अन्त में 'आनन्दनाथ' के स्थान पर 'देव्यम्बा' की योजना की जाती है, यथा—'सुदर्शनानन्दनाथ' और 'सुदर्शना देव्यम्बा'।

[गुरोः प्रदक्षिणादि]

ततः प्रदक्षिणीकृत्य गुरुं वारत्रयं शिशुः।
अष्टाङ्गनमनं कृत्वा स्वात्मानञ्च समर्पयेत्॥१५७॥

[दक्षिणादानम्]

ततश्च दक्षिणां दद्यात् सम्पूज्य गुरुपादुकाम्।
सर्वस्वं वा तदर्द्धं वा चतुर्थांशमथापि वा॥१५८॥

अष्टाङ्गप्रणामक्रममाह बृहन्नीलतन्त्रे द्वितीयपटले—

पद्भ्यां कराभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा।
मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः॥ इति।

तत्पश्चात् शिष्य गुरुदेव की तीन बार प्रदक्षिणा करके उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम करे। गुरुपादुका की पूजा करके अपना सर्वस्व अथवा उसका आधा अथवा उसका चौथाई गुरुदेव को दक्षिणा के रूप में समर्पित करे॥१५७-१५८॥

[गुरोरात्मविशोधनप्रकारः]

ततः स्वात्मविशुद्ध्यर्थं लक्षमेकं जपेद् गुरुः।
सहस्रं प्रजपेद् वापि देशिको विजितेन्द्रियः॥१५९॥

मन्त्र का दान करने से गुरु की मन्त्र-शक्ति क्षीण होती है। अतः अपनी मन्त्र-शक्ति के संवर्धन और शक्तिह्रासजन्य मलीनता को दूर करने के लिये मन्त्र-दान के बाद गुरुदेव को प्रदत्त मन्त्र का एक लाख अथवा एक हजार जप करना चाहिए॥१५९॥

[दीक्षादिवसे गुरुशिष्ययोरुपवासनिषेधः]

मन्त्रं दत्त्वा गुरुश्चैव उपवासं चरेद् यदि।
मोहाद्वा कामतो वापि कृमिर्भवति नान्यथा।।१६०।।
दीक्षां कृत्वा तु यो मन्त्री उपवासं चरेद् यदि।
तस्य देवः सदा रुष्टः शापं दत्त्वा व्रजेत् पुरम्।।१६१।।

दीक्षा के बाद गुरु और शिष्य दोनों के लिये उपवास करना मना है। यदि मन्त्रदान के बाद गुरुदेव किसी भी कारण से उपवास करते हैं तो उन्हें प्रत्यवाय होता है। उसके कारण उन्हें कीड़े की योनि में अगला जन्म मिलता है। यदि शिष्य उपवास करता है तो देवता उससे रुष्ट हो जाता है तथा उसे साधना में कभी भी सिद्धिलाभ नहीं होता। अतः दीक्षादिवस को गुरु और शिष्य दोनों के लिये उपवास सर्वथा निषिद्ध है॥१६०-१६१॥

[संक्षेपदीक्षा]

अथ दीक्षां प्रवक्ष्यामि संक्षिप्तां सिद्धिदायिनीम्।
यदैवेच्छा तदा दीक्षा गुरोराज्ञानुसारतः।।१६२।।
न तिथिर्न व्रतं होमो न स्नानं न जपक्रिया।
दीक्षायाः कारणं किन्तु स्वेच्छाप्राप्ते तु सद्गुरोः।।१६३।।
तदेव लग्नं सुदिनं तदेव ताराबलं चन्द्रबलं तदेव।
विद्याबलं दैवबलं तदेव तदेव मासादिबलं यथार्थम्।।१६४।।

अत्र 'स्वेच्छाप्राप्तिस्तु सद्गुरोः' इत्येवं पाठः समीचीन इति प्रतिभाति। 'स्वेच्छाप्राप्ते तु सद्गुरोः' इति पाठे 'प्राप्ते' इति भावक्तप्रत्ययेन सद्गुरोः स्वेच्छाप्राप्तौ दीक्षा प्रशस्तेति कथञ्चित् समाधेयम्।

अब सिद्धिदायिनी दीक्षा की संक्षिप्त विधि बताई जा रही है। जिस किसी भी दिन गुरुदेव अनायास ही प्रसन्न होकर दीक्षा देना चाहें, उस दिन तिथि, नक्षत्र, राशि आदि का कोई विचार नहीं करके फौरन ही दीक्षा ले लेनी चाहिए। बिना किसी पूर्व तैयारी के सम्पन्न इस दीक्षा में न तो व्रत करने की आवश्यकता है, और न ही होम करना अनिवार्य है। उस दिन दीक्षा के समय दिन, वार, नक्षत्र, राशि, चन्द्र, लग्न, विद्या तथा देवता आदि के बल स्वयं ही उपस्थित हो जाते हैं॥१६२-१६४॥

विमर्श—इस तरह अचानक और अनायास ही औचक रूप से सम्पन्न इस दीक्षा को दैवी प्रेरणा का कृपा-प्रसार माना जाता है, अतः इसे ग्रहण करने में किसी प्रकार की ज्योतिषीय प्रतिकूलता का विचार नहीं किया जाता। यह तो दैवीप्रसाद है।

[ग्रहणादौ विशेषः]

अथवा ग्रहणे तीर्थे सिद्धक्षेत्रे शिवालये।
मन्त्रमात्रप्रकथनमुपदेशः स उच्यते।।१६५।।

इति श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचिते श्रीतत्त्वचिन्तामणौ पञ्चमः प्रकाशः।।५।।

अथवा सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण के समय, प्रयाग आदि किसी तीर्थ में अथवा श्रीशैल आदि जैसे किसी सिद्ध क्षेत्र में अथवा किसी सुप्रतिष्ठित शिवालय में गुरुदेव के द्वारा शिष्य को मन्त्र का कथनमात्र मन्त्रोपदेश कहा जाता है। मन्त्रोपदेश-प्राप्त व्यक्ति भी दीक्षित समझा जाता है और उसे उस मन्त्र की यथाविधि साधना करने का अधिकार होता है।।१६५।।

श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचित 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि' के पञ्चम प्रकाश का
'भावना'-भाष्य पूर्ण हुआ।।५।।

●

षष्ठः प्रकाशः

[षट्चक्रनिरूपणम्]

प्रस्तावना—प्रस्तुत ग्रन्थ के एतत् पूर्व पञ्चम प्रकाश में आत्मतत्त्व की उपलब्धि के लिये दीक्षा-विधान का निरूपण करते हुए कहा गया है कि दीक्षाभिषेक के बाद और मन्त्रदान के पूर्व दीक्षार्थी शिष्य को षट्चक्र-विज्ञान की शिक्षा दी जाय—'पश्चात् षट्चक्रविज्ञानं शिष्याय प्रतिबोधयेत्।' (५/१४५)

प्रश्न यह है कि यह षट्चक्र-विज्ञान क्या है तथा दीक्षा और मन्त्र-साधना से इसका क्या सम्बन्ध है? इसका समाधान तन्त्र-उपदिष्ट साधना के मर्म में निहित है। इसे स्पष्ट करते हुए इस युग के महान् तन्त्रविद् और तन्त्रसाधक सर जान उडरफ लिखते हैं—

> तन्त्र की दृष्टि में साधक का शरीर ही ब्रह्माण्ड है और उसमें जो आत्मशक्ति स्थित है, वही उसका आराध्य देव है।.... अतः यह तान्त्रिक साधन-विधान न तो केवल पूजा-उपासना है, न केवल प्रार्थना और स्तवन है और न अपने इष्टदेव के आगे रोना-गिड़गिड़ाना और प्रायश्चित्त करना है। यह साधना पुरुष और प्रकृति को एक करने की क्रिया है। यह साधना शरीर के भीतर विद्यमान पुरुष और मातृतत्त्व का संयोग करती है तथा सगुण को निर्गुण बनाने का प्रयास करती है। तान्त्रिक साधक का ध्येय 'स्वराट्' का 'विराट्' में विलय करना है। यह साधना शरीर में निहित शक्तियों को जागृत करके की जाती है। जब वह षट्चक्र का भेदन करके कुण्डलिनी को जागृत करने में सफल हो जाता है, वह साधक से सिद्ध बन जाता है।
>
> (शक्ति ऐण्ड शाक्त)

उपर्युक्त उद्धरण से दीक्षा और साधना में षट्चक्र-ज्ञान की आवश्यकता और महत्ता स्पष्ट है। इसी का निरूपण इस प्रकाश में किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के इस प्रकाश (अध्याय) की महत्ता और प्रतिष्ठा का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि इसे सम्पूर्ण तन्त्र-साहित्य में एक स्वतन्त्र और स्वत:प्रमाण ग्रन्थ का दर्जा प्राप्त है। इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ मानकर विश्वनाथ, शंकर और कालीचरण ने इस पर बृहद् भाष्य लिखे हैं। सर जान उडरफ का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'दि सर्पेण्ट पावर' (The Serpent Power) इस प्रकाश का अंग्रेजी में विशद् भाष्य है। षट्चक्र-निरूपण के नाम से संस्कृत और हिन्दी में भी यह प्रकाश एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध और साधकों में लोकप्रिय है।

षट्चक्र-विज्ञान का उपक्रम करते हुए श्री पूर्णानन्द परमहंस कहते हैं—

षट्चक्रस्वरूपम्

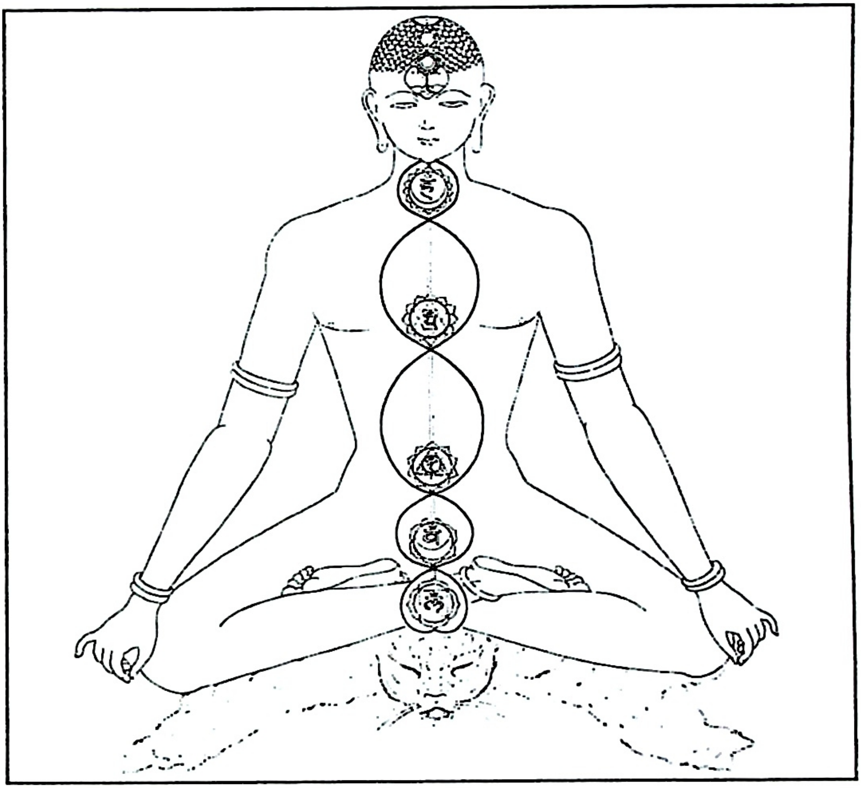

[षट्चक्रनिरूपणप्रतिज्ञा]

अथ तन्त्रानुसारेण षट्चक्रादिक्रमोद्गतः।
उच्यते परमानन्दनिर्वाहप्रथमाङ्कुरः।।१।।

पूर्वप्रकाशे ततः षट्चक्रविज्ञानं शिष्याय प्रतिबोधयेदित्युक्तम्, तस्यैव षट्चक्रविज्ञानस्य निरूपणाय प्रकाशमिममारभते—अथेत्यादिना। अथेति दीक्षानिरूपणानन्तरम्। षट्चक्रादेर्यः क्रमः मूलाधारस्वाधिष्ठानादिरूपः। आदिशब्देन नाड्यादीनां परिग्रहः। तेन उद्गत आविर्भूतः परमानन्दस्य 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपमि'ति श्रुतेर्निरञ्जनस्वरूपस्य ब्रह्मणो यो निर्वाहः अवबोधस्तस्य प्रथमाङ्कुर आदिबीजभूतः षट्चक्रविमर्ष इत्यर्थः, उच्यते मयेति शेषः। ननु मानुषवचने का श्रद्धा इत्यत आह—तन्त्रानुसारेणेति। स्वतःप्रमाणभूतशिवोक्ततन्त्रानुसारेणेत्यर्थः। एवञ्च भगवता शिवेन नानातन्त्रेषु यत् षट्चक्रविज्ञानं प्रतिपादितम्, तदेव साधकानां सुखबोधनार्थमेकत्र समाहृत्य स्वरचितपद्यैरुपस्थाप्यत इति तात्पर्यम्।

अब मैं तन्त्र-शास्त्र में यथाप्रतिपादित उस षट्चक्र आदि क्रम का निरूपण करूँगा, जिनसे ब्रह्मानन्द की निष्पत्ति का प्रथम अंकुरण होता है।।१।।

विमर्श—'परमानन्द' से तात्पर्य परं ब्रह्म से है; क्योंकि ब्रह्म ही आनन्दघन एवं आनन्दसन्दोह रसरूप सनातन है। इस ब्रह्म की प्राप्ति एवं निष्पत्ति साधना का परम लक्ष्य है। निर्वाह से अभिप्राय ब्रह्मसाक्षात्कार एवं रूपनिष्पत्ति है।

षट्चक्रक्रमोदितः—उदित का अर्थ है, उन्मेष या प्रस्फुटन। इस ब्रह्मानन्द की निष्पत्ति के अंकुर का उन्मेष या प्रस्फुटन षट्चक्रक्रम से होता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा—ये ६ चक्र हैं, जो हमारे शरीर में स्थित हैं। 'आदि' से तात्पर्य है—सुषुम्ना आदि नाड़ियाँ, स्वयम्भू आदि लिङ्ग, पञ्च महाभूत, शिवशक्ति। 'क्रम' से तात्पर्य है—मूलाधारादि इन चक्रों, नाड़ियों, लिङ्गों तथा पञ्चमहाभूतों के रूपों का ज्ञान एवं शरीर में इनकी अवस्थिति का चिन्तन। फिर देवी कुण्डलिनी का जागरण, जागृत होकर इन चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रारगमन, शिवसायुज्य तथा विलोमक्रम से सहस्रार से पुनरागमन। इसी क्रम से साधना करने से ब्रह्मरूप आत्मा में ब्रह्मानन्द की निष्पत्ति होती है।

तन्त्रानुसारेण—तन्त्र के अनुसार। यह तान्त्रिक वाङ्मय शिवोपदिष्ट है। षट्चक्र-विज्ञान तथा उसका यह क्रम तन्त्रोपदिष्ट होने के कारण अपौरुषेय एवं स्वतःप्रमाण है।

नाड़ियों आदि के साथ षट्चक्र-विज्ञान के निरूपण की उपर्युक्त प्रतिज्ञा करके ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम इडा आदि नाड़ियों के स्वरूप का निरूपण किया है—

[इडा-पिङ्गला-सुषुम्णा-वज्रानाडीसंस्थितिः]

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे
मध्ये नाडी सुषुम्णा त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा।
धुस्तूरस्मेरपुष्पग्रथिततमवपुः कन्दमध्याच्छिरःस्था
वज्राख्या मेढ्रदेशाच्छिरसि परिगता मध्यमेऽस्या ज्वलन्ती।।२।।

मेरोरिति। मेरोर्मेरुदण्डस्य बाह्यप्रदेशे बहिर्भागे सव्यदक्षे वामदक्षिणभागयोः शशिमिहिरशिरे चन्द्रसूर्यनाड्यौ इडा-पिङ्गलाख्ये निषण्णे स्थिते। मेरुदण्डस्य वामभागे इडा चन्द्ररूपा, दक्षभागे पिङ्गला सूर्यरूपेत्यर्थः। तदुक्तं तन्त्रसारधृतगौतमीये—

इडा वामे स्थिता नाडी शुक्ला तु चन्द्ररूपिणी।
शक्तिरूपा च सा नाडी साक्षादमृतविग्रहा।
दक्षिणे पिङ्गलाख्या तु पुंरूपा सूर्यविग्रहा।। इति।

मध्य इति मेरुदण्डस्य मध्यभागे त्रितयगुणमयी वज्राचित्रिणीभ्यां मिलिता सती सुषुम्णा त्रितयगुणमयी सूत्रत्रयात्मिका भवतीत्यर्थः। तदुक्तं भूतशुद्धितन्त्रे—

तदन्तर्द्व्यङ्गुलोद्‌र्ध्वे तु वज्राख्या चित्रिणी तथा।
अतः सुषुम्णा त्रिगुणा ललन्ती ललना यथा।।

चन्द्रेति। तथाच सत्त्वगुणात्मिका चित्रिणी चन्द्ररूपा, रजोगुणात्मिका वज्रा सूर्यरूपा, तमोगुणात्मिका सुषुम्णा चाग्निरूपेत्यर्थः।

सत्त्वादित्रिगुणाधारा चन्द्रसूर्याग्निरूपिणी।
मेरुमध्ये स्थिता या तु मूलादाब्रह्मविग्रहा।
सर्वतेजोमयी सा तु सुषुम्णा बहुरूपिणी।। इति।

इति तन्त्रसारधृतगौतमीयवचनेऽपि सर्वतेजोमयीति पदेन चन्द्रसूर्याग्निरूपत्वं बहुरूपिणीति पदेन च गुणत्रयात्मकं सुषुम्णायाः प्रतिपादितम्।

कन्देति। कन्दलक्षणमाह भूतशुद्धितन्त्रे—

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूद्‌र्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः।
चतुरङ्गुलविस्तारं कन्दमूलं खगाण्डवत्।। इति।

एवञ्चोक्तलक्षणकन्दमध्याच्छिरःस्था शिरःपद्मपर्यन्तस्थिता। तस्या आकार–माह—धुस्तूरेति। धुस्तूरस्य यत् स्मेरं विकसितं पुष्पं तद्वत् प्रथिततमं वपुर्यस्याः तथाभूता विकसितधुस्तूरपुष्पाकारा सुषुम्णेत्यर्थः।

वज्रेति। अस्याः सुषुम्णाया मध्यदेशे ज्वलन्ती दीप्तिं कुर्वती मेढ्रदेशात् प्रागुक्तकन्दद्व्यङ्गुलोद्‌र्ध्वाल्लिङ्गदेशात् शिरसि परिगता शिरःपर्यन्तगामिनीत्यर्थः। वज्राख्या नाडी वर्त्तत इत्यर्थ। तदुक्तं शाक्तानन्दतरङ्गिण्याम्—

तन्मध्ये वज्रिणी नाडी द्व्यङ्गुलोद्‌र्ध्वा ततः प्रिये। इति।

मेरु के बाह्य प्रदेश में वाम और दक्षिण पार्श्व में दो नाड़ियाँ हैं। इनकी संज्ञा शशि (चन्द्र) और मिहिर (सूर्य) है। बाँयीं ओर वाली नाड़ी इडा है और दाहिनी ओर वाली नाड़ी पिंगला है। मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है, जिसका वर्ण धतूरे के खिले हुए फूल के समान है। यह त्रिगुणमयी और चन्द्र-सूर्य-अग्निस्वरूपा है। यह कन्द से निकलकर सिर के मध्य तक जाती है। इसके मध्य में (अर्थात् अन्दर में) वज्रा नाड़ी है, जो मेढ्र (शिश्न) से निकलकर सिर तक गयी है। यह वज्रा नाड़ी देदीप्यमान है।।२।।

विमर्श—मेरुदण्ड है रीढ़ की हड्डी (Spinal Column)। यह मेरुदण्ड ग्रीवा से लेकर कमर-पर्यन्त है।

इडा नाड़ी वाम अण्डकोष से निकलती है। उसका वर्ण पीला है। यह चन्द्र-स्वरूपिणी है, शक्तिरूपा है तथा अमृतविग्रहा है। पिंगला नाड़ी दक्षिण अण्डकोष

से निकलती है। इसका वर्ण अनार-पुष्प के समान लाल है। यह सूर्यस्वरूपिणी पुंरूपा है। रौद्रात्मिका है। ये दोनों नाड़ियाँ अपने उद्गम से निकलकर चोटी की लटों के समान कभी बाँयें और कभी दाहिने ओर घुमती हुई ऊपर की ओर आगे बढ़ती हैं। जब ये भ्रूमध्य-पर्यन्त पहुँचती हैं तब सुषुम्ना के साथ मिलकर एक ग्रन्थि बनाती हैं, जिसे त्रिवेणी कहते हैं। इडा में यमुना, पिंगला में सरस्वती और सुषुम्ना में गंगा का वास माना जाता है।

सुषुम्णा नाड़ी मेरु के मध्य में है अर्थात् उसका स्थान मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त है। यह त्रिगुणमयी है। 'गुण' शब्द का अर्थ यदि सूत या धागा लें तो इसका अर्थ होगा—यह तीन सूत्रों (तन्तुओं) से बनी है अथवा इसके तीन आवरण हैं—सुषुम्ना बाह्य आवरण, चित्रिणी अभ्यन्तर तथा चित्रिणी के अन्तर में ब्रह्मनाड़ी। इस सुषुम्णा नाड़ी के अन्तर वज्र या वज्रिणी नाड़ी है।

कन्दमध्याच्छिर:स्था—कन्द सभी नाड़ियों का मूल है। गुदा से दो अंगुल ऊपर तथा शिश्न से दो अंगुल नीचे उसकी स्थिति बताई गई है।

[चित्रिणीब्रह्मनाड्यो: संस्थिति:]

तन्मध्ये चित्रिणी सा प्रणवविलसिता योगिनां योगगम्या
लूतातन्तूपमेया सकलसरसिजान् मेरुमध्यान्तरस्थान्।
भित्त्वा देदीप्यते तद्ग्रथनरचनया शुद्धबोधप्रबोधा
तस्यान्तर्ब्रह्मनाडी हरमुखकुहरादादिदेवान्तसंस्था।।३।।

तन्मध्य इति। तन्मध्ये तस्या वज्राया मध्ये सा प्रसिद्धा चित्रिणी नाडी विलसति। चित्रिणीं विशेषयति—**प्रणवविलसितेति।** प्रणवेन आज्ञाचक्रावस्थितेन विलसिता विशेषेण लसिता प्रकाममुद्दीप्यमानेत्यर्थः। गगनधरणीमध्यमिलितमिति ग्रन्थेन प्रणवज्योतिषाज्ञाचक्रान्मूलाधारपर्यन्तव्यापकत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। योगिनां योगगम्या योगमात्रवेद्या, लूतातन्तूपमेया मर्कटसूत्रवदतिसूक्ष्मा। मेरुमध्यान्तरस्थान् मेरुमध्यस्थिते सुषुम्णावज्रानाड्यौ तयोरन्तरस्थान् अभ्यन्तरस्थितान् सकलसरसिजान् मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरानाहत-विशुद्धाज्ञाख्यषट्पद्मानि भित्त्वा तद्ग्रथनरचनया तेषां षण्णां पद्मानां ग्रथनस्य पतनप्रतिबन्धकीभूतस्य रचनया देदीप्यते। तस्यान्तरिति तस्याश्चित्रिण्या अन्तर्मध्ये शुद्धबोधप्रबोधा शुद्धौ निर्मलौ बोधप्रबोधौ सामान्य-विशेषज्ञाने यस्यास्तथाभूता। शुद्धं बोधं प्रबोधयतीति वा। हरमुखकुहरात् मूलाधारस्थ-स्वयम्भूलिङ्गच्छिद्रात् आदिदेवान्तसंस्था सहस्रारविलासिपरमशिवपर्यन्तगामिनी ब्रह्म-नाडी वर्त्तते। तदुक्तं शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां चतुर्थोल्लासे चित्रामभिधाय—

तस्या मध्ये ब्रह्मनाडी मृणालतन्तुरूपिणी। इति।

उसके अर्थात् वज्रा के मध्य में चित्रिणी नामक नाड़ी है। प्रणव की कान्तिमयी ज्योति से देदीप्यमान एवं मकड़ी के जाले के रेशे से भी सूक्ष्म यह चित्रिणी नाडी

मेरु के अन्दर विद्यमान मूलाधार आदि चक्रों का भेदन करने के कारण शुद्ध ज्ञान-स्वरूपा तथा अत्यन्त कान्तिमयी है। इस चित्रिणी नाड़ी के मध्य में ब्रह्मनाड़ी है, जो हरमुख-कुहर से आदिदेव के धाम-पर्यन्त जाती है॥३॥

विमर्श—मूलाधार में स्वयम्भू लिङ्ग की स्थिति है। इसके ऊपर एक छिद्र है, जिसे हरमुख-कुहर कहा गया है। आदिदेव अर्थात् परमशिव का वास सहस्रार की कर्णिकाओं के मध्य में है। यह ब्रह्मनाड़ी मूलाधार-स्थित स्वयंभूलिंग से सहस्रार-स्थित परमशिव के स्थान तक परिव्याप्त है। यह नाड़ी सर्वथा खोखली है तथा मूलाधार से सहस्रार तक देवी कुण्डलिनी का संचार-पथ है।

[ब्रह्मनाडीस्वरूपम्]

विद्युन्मालाविलासा मुनिमनसि लसत्तन्तुरूपा सुसूक्ष्मा
शुद्धज्ञानप्रबोधा सकलगुणमयी शुद्धबोधस्वभावा।
ब्रह्मद्वारं तदास्ये प्रविलसति सुधासाररम्यप्रदेशं
ग्रन्थिस्थानं तदेतद् वदनमिति सुषुम्णाख्यनाड्या लपन्ति।।४।।

प्रागुक्तां ब्रह्मनाडीं विशेषयति—**विद्युन्मालेति**। विद्युन्मालाविलासा विद्युन्माला विद्युच्छ्रेणी तस्या विलास इव विलासो यस्याः सा विद्युत्पुञ्जसमानदीप्तिशालिनीत्यर्थः, तथा मुनिमनसि मननशीलानां चित्ते लसद् विलसत् तन्तोर्मृणालसूत्रस्य रूपमिव रूपं यस्यास्तादृशी, अत एव सुसूक्ष्मा। तदुक्तं शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां चतुर्थोल्लासे चित्रिणी–मभिधाय—

तस्या मध्ये ब्रह्मनाडी मृणालतन्तुरूपिणी। इति।

एवञ्च ये मननशीलास्त एव मृणालतन्तुतनीयसीमिमां ब्रह्मनाडीमनुभवितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः। तथा शुद्धज्ञानप्रबोधा शुद्धस्य संशयविकल्पादिरहितस्य ज्ञानस्य ब्रह्मज्ञानस्य प्रबोधो यस्याः सा। यद्वा शुद्धं निष्कलं ब्रह्म तद्विषयकं ज्ञानम्, प्रबोधयतीति प्रबोधा पचादित्वादच्। ततश्च शुद्धज्ञानस्य प्रबोधा इति षष्ठीतत्पुरुषः। यद्वा शुद्धञ्च तज्ज्ञानञ्चेति शुद्धज्ञानं निष्कलं ज्ञानस्वरूपं ब्रह्म तस्य प्रबोधा समुन्मीलनकारिणीत्यर्थः। सकलगुणमयी त्रिगुणात्मिका। तथा शुद्धबोधस्वभावा निर्मलज्ञानस्वरूपा ब्रह्मनाडी देदीप्यत इति पूर्वेणान्वयः।

तदास्य इति। तदास्ये ब्रह्मनाड्या मुखे ब्रह्मद्वारं विलसति। ब्रह्मद्वारं विशेषयति—**सुधेत्यादिना**। सुधायाः शिवशक्तिसामरस्यसम्भूतामृतस्य य आसारः स गम्यते यस्मात् तथाभूतः प्रदेशो यत्र तत्। अस्मादेव ब्रह्मद्वाररूपप्रदेशान्मूलाधारस्थित–शिवशक्तिभ्यां निरुक्तामृतं पीयत इत्यर्थः। तथा ग्रन्थिस्थानं पद्मानामिति शेषः। तदेतत् सुषुम्णाख्यनाड्या वदनं मुखमिति लपन्ति कथयन्ति योगिन इति शेषः।

कमलनाल के रेशे से भी सूक्ष्म यह ब्रह्मनाड़ी विद्युत् माला के समान कान्तिमती (चमकीली एवं सुन्दर) सर्व आनन्दमयी तथा शुद्ध बोध अर्थात् तत्त्वज्ञान की स्वभाव वाली है। इसके मुख में ब्रह्मद्वार स्थित है। कन्द और सुषुम्णा नाड़ी की ग्रन्थि (अर्थात् सन्धिस्थान) तथा परमशिव एवं शक्ति के महामिलन से क्षरित सुधा से सिंचित स्थान का प्रवेशद्वार है; अतः अत्यन्त मननशील मुनिगण ही इसका अनुभव कर पाते हैं॥४॥

[मूलाधारपद्मस्य स्वरूपम्]

अथाऽऽधारपद्मं सुषुम्णास्यलग्नं ध्वजाधो गुदोद्‌र्ध्वं चतुःशोणपत्रम्।
अधोवक्त्रमुद्यत्सुवर्णाभवर्णैर्वकारादिसान्तैर्युतं वेदवर्णैः॥५॥

एवं नाडीमभिधाय मूलाधारपद्ममाह—**अथेत्यादिनवभिः**। अथेति नाडीनिरूपणानन्तरम् आधारपद्मं व्याख्यास्याम इति शेषः। आधारपद्मं मूलाधारपद्मम् अन्येषां पद्मानां मूलरूपतयाधिकरणरूपतया चास्य मूलाधारपद्ममिति संज्ञा। सुषुम्णास्यलग्नं सुषुम्णाया निरुक्तरूपाया आस्ये मुखे लग्नम्, ध्वजाधः लिङ्गमूलादधः गुदोद्‌र्ध्वं पायुस्थानादूद्‌र्ध्वम्, तथा चतुःशोणपत्रं चत्वारि शोणानि रक्तवर्णानि पत्राणि यस्य तथाभूतम्। तथा अधोवक्त्रम्। तत्र वर्णानां स्थितिमाह—उद्यदिति। उद्यत्सुवर्णाभवर्णैः उद्यती उद्‌गच्छन्ती सुवर्णस्य हेम्नः आभेव आभा येभ्यस्तथाभूता वर्णा येषां तादृशैः वकारादिसान्तैः व-श-ष-स-रूपैर्वेदवर्णैश्चतुर्भिर्वर्णैर्युतम् वर्त्तते इति शेषः। तदुक्तं तन्त्रसारधृतगौतमीये—

तद्वाह्ये हेमवर्णाभं व-सवर्णं चतुर्दलम्।
द्रुतहेमसमप्रख्यं पद्मं तत्र विभावयेत्॥ इति।

अत्रायं निष्कर्षः—प्रथमं मूलाधारपद्मं पायुलिङ्गयोर्मध्ये सुषुम्णाया मुखलग्नमधोमुख-मवस्थितम्। तस्य चत्वारि रक्तवर्णानि पत्राणि, तेषु च पत्रेषु पूर्वादितः प्रादक्षिण्येन व-श-ष-स-रूपं तप्तहेमाभं वर्णचतुष्टयं वर्त्तते इति।

मूलाधार पद्म, इड़ा-पिंगला आदि नाड़ियों का निरूपण करने के बाद पद्मों का निरूपण किया जा रहा है। इस क्रम में सर्वप्रथम मूलाधार की स्थिति बताई गई है। यह मूलाधार चक्र या पद्म गुदाद्वार से ऊपर तथा लिंग मूल के नीचे है। सुषुम्णा नाड़ी के मुख से संलग्न है। इसके रक्त वर्ण के चार अधोमुखी दल हैं, जिनमें स्वर्ण वर्ण के 'वं शं सं षं' ये चार वर्ण अंकित हैं॥५॥

विमर्श—इसके दल अधोमुखी अर्थात् नीचे की ओर लटके हुए हैं। दलों का रंग खून के समान लाल तथा उन पर क्रमशः अंकित अक्षरों का रंग सुनहरा है। प्रदक्षिणा क्रम से इन वर्णों का ध्यान किया जाता है।

[तत्र स्वबीजयुक्तपृथिवीमण्डलम्]

अमुष्मिन् धरायाश्चतुष्कोणचक्रं समुद्भासिशूलाष्टकैरावृतं तत्।
लसत्पीतवर्णं तडित्कोमलाङ्गं तदन्तः समास्ते धरायाः स्वबीजम्।।६।।

अमुष्मिन् आधारपद्मे समुद्भासिभिः शूलाष्टकैः अष्टभिः शूलैरावृतं धरायाः पृथिव्याश्चतुष्कोणचक्रं चतुष्कोणं पृथ्वीमण्डलं समास्ते। तदन्तः धरामण्डलस्य मध्ये धरायाः स्वबीजं लम् इति पृथ्वीबीजम् आस्ते। तद् विशेषयति—लसत्पीतवर्णं पीतिम्ना शोभमानम्, तडिदिव कोमलमङ्गं यस्य तदिति स्वबीजमित्यस्य विशेषणम्।

तथा च मूलाधारपद्मे पृथ्वीदेवताकं चतुष्कोणमण्डलं तस्याष्टदिक्षु शूलाष्टकं मध्ये च पीतोज्ज्वलो लकार इति।

इस आधार पद्म में चतुष्कोणात्मक धरा (पृथ्वी) मण्डल है। इस मण्डल के चारो कोणों और दिशाओं में आठ त्रिशूल बने हैं तथा इसके मध्य में पीले रंग का धराबीज (लँ) अंकित है।।६।।

[धराबीजस्य स्वरूपं तदङ्के ब्रह्मणोऽवस्थितिश्च]

चतुर्बाहुभूषं गजेन्द्राधिरूढं तदङ्के नवीनार्कतुल्यप्रकाशः।
शिशुः सृष्टिकारी लसद्वेदबाहुर्मुखाम्भोजलक्ष्मीश्चतुर्भागभेदः।।७।।

प्रागुक्तं धराबीजमेव विशेषयति—चतुरित्यादिविशेषणद्वयेन। तत्र चत्वारो बाहवो भूषा अलङ्कारा इव यस्य तत्, अलङ्कारायमाणबाहुचतुष्टयविशिष्टमित्यर्थः। तथा गजेन्द्राधिरूढं गजवराधिष्ठितमित्यर्थः। धराया बीजं समास्ते इति पूर्वेणान्वयः। तदुक्तं निर्वाणतन्त्रे चतुर्थपटले—

अधोवक्त्रं हि तत् पद्मं धरामध्ये चतुर्दलम्।
पद्ममध्ये बीजकोषे क्षितिचक्रं मनोहरम्।।
वलयाकाररूपेण समुद्राः सप्त संस्थिताः।
जम्बूद्वीपं मध्यदेशे चतुष्कोणं मनोहरम्।।
त्रिकोणं मदनागारं कन्दर्पश्चाधिदेवता।
ऐन्द्ररूपं हि लं-बीजं गजेन्द्रवाहनं शिवे।। इति।

अत्र रामवल्लभकृतटीकायां 'चतुर्बाहुभूषो गजेन्द्राधिरूढ' इति प्रथमान्तमभिधाय पदद्वयमिदं सृष्टिकारीत्यस्य विशेषणत्वेन समयोजयत्।

तदङ्क इति। तस्य धराबीजस्याङ्के नवीनार्कतुल्यप्रकाशः लसद्वेदबाहुश्चतुर्भुजः मुखाम्भोजलक्ष्मीः मुखेषु अम्भोजलक्ष्मीः पद्मशोभा यस्य तथाभूतः, तथा चतुर्भागभेदः चत्वारो भागभेदा यस्य मुखावच्छेदे इति शेषः, तादृशः सृष्टिकारी ब्रह्मा समास्ते इति पूर्वेण सम्बन्धः। अत्र—

ऐन्द्रबीजं वरारोहे लिङ्गस्य वामदेशके।
सुसिद्धं ब्रह्मसदनं नादोपरि सुसुन्दरम्।
तत्रैव निवसेद् ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता प्रजापतिः।।

इति निर्वाणतन्त्रचतुर्थपटलवचनेन नादोपरि ब्रह्मसदनस्थितेरभिधानान्नादोद्ध्वं-बिन्दौ स्थितिरित्यवधेयम्। 'लिङ्गस्य वामदेशक' इति तु न ग्रन्थकारसम्मतं मूले तथाऽनभिधानात्, अत्र तन्त्रेषु मतभेददर्शनाच्च।

तदङ्के च चतुर्बाहुं रक्तवर्णं शिशुं शिवम्।
चतुर्वक्त्रं हंसपृष्ठे ब्रह्माणं विद्धि पार्वति।।

इति षट्चक्रटीकाधृतभूतशुद्धितन्त्रवचनदर्शनादत्र हंसपृष्ठे ब्रह्मणः स्थितिरवगन्तव्या।

अयमत्र निष्कर्षः—पूर्वश्लोके यत् पृथ्वीबीजमुक्तं तस्य चत्वारो बाहवः वाहनञ्च गजेन्द्रः। धराबीजान्तर्नादोद्ध्वें नवोदयमानरविप्रभाभास्वरश्चतुर्बाहुः कमलोपमचतुराननविशिष्टः शिशुर्ब्रह्मा वर्त्तत इति।

धराबीज का ध्यान—इस धराबीज की चार भुजाएँ हैं। वाहन ऐरावत है। इसके अंक में अर्थात् अनुस्वार-बिन्दु के ऊपर शिशुरूप ब्रह्माजी बैठे हुए हैं। ब्रह्माजी की चार भुजाएँ और चार मुख हैं।।७।।

[मूलाधारपद्मे डाकिनीस्थितिः]

वसेदत्र देवी च डाकिन्यभिख्या लसद्वेदबाहूज्ज्वला रक्तनेत्रा।
समानोदितानेकसूर्यप्रकाशा प्रकाशं वहन्ती सदा शुद्धबुद्धेः।।८।।

अत्र डाकिनीशक्तेः स्थितिमुपपादयति—**वसेदिति**। अत्र डाकिन्यभिख्या डाकिनीति संज्ञया प्रसिद्धा देवी द्योतनशीला शक्तिः वसेत् वसतीत्यर्थः। तां विशेषयति—**लसदिति**। लसन्तः शोभमाना ये वेदबाहवश्चत्वारो बाहवस्तैरुज्ज्वला, ब्रह्मशक्तित्वादस्याश्चतुर्बाहुत्वमित्यर्थः। शुद्धबुद्धेः शुद्धबोधस्य तत्त्वज्ञानस्येत्यर्थः प्रकाशं वहन्ती तत्त्वज्ञानं सम्पादयन्तीत्यर्थः।

तदयं निष्कर्षः—अत्र मूलाधारपद्मे बाहुचतुष्टयैः काञ्चन शोभां वहन्ती रक्तनयना युगपदुदयमानानेकदिनकरसमानप्रकाशशालिनी डाकिनी देवी वसन्ती साधकानां तत्त्वज्ञानं सम्पादयतीति।

इस धरामण्डल में देवी डाकिनी का वास है। वे अत्यन्त कान्तिमयी एवं सौन्दर्यशालिनी हैं। उनके मुख की शोभा अनेकानेक सूर्यों के समान है। उनके नेत्र रक्तिम और चमकीले हैं। वे शुद्ध-बुद्धि अर्थात् तत्त्वज्ञान-प्रदायिका हैं।।८।।

विमर्श—मूलाधार आदि प्रत्येक चक्र की एक-एक अधिष्ठात्री देवी हैं। उनके शुभ नाम डाकिनी, राकिनी, लाकिनी, साकिनी और हाकिनी हैं। इनमें से डाकिनी मूलाधार चक्र की अधिष्ठात्री हैं।

[तत्कर्णिकान्तस्त्रिकोणे कन्दर्पवायोरवस्थितिः]

वज्राख्ये वक्त्रदेशे विलसति सततं कर्णिकामध्यसंस्थं
कोणं तत् त्रैपुराख्यं तडिदिव विलसत् कोमलं कामरूपम्।
कन्दर्पो नाम वायुर्विलसति सततं तस्य मध्ये समन्ता-
ज्जीवेशो बन्धुजीवप्रकरमभिहसन् कोटिसूर्यप्रकाशः।।९।।

एतत्पद्मकर्णिकायां त्रिकोणं निरूपयति—**वज्राख्येति**। वज्राख्यायाः 'वज्राख्या मेढ्रदेशाच्छिरसि परिगते'त्यादिना निरुक्ता वक्त्रदेशे मुखप्रदेशे कर्णिकामध्यसंस्थं मूलाधारपद्मकर्णिकाया मध्ये वर्त्तमानं तडिदिव विलसत् विद्युदुज्ज्वलं कोमलं स्निग्धं तत् प्रसिद्धं त्रैपुराख्यं त्रिपुरासम्बन्धि कामरूपं मदनागारात्मकं त्रिकोणं विलसति। अत्र कामशब्देन कामप्रधानागारभूता योनिरुच्यते, तथा च कामरूपं त्रिकोणमित्यस्य योन्याकारं त्रिकोणमित्यर्थः। अत्र कामरूपमित्यनेन त्रिकोणेऽस्मिन् कामबीजस्यापि स्थितिः सूच्यते। व्यक्तमाह शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां नवमोल्लासे—

आधारे कन्दमध्यस्थं त्रिकोणमतिसुन्दरम्।
त्रिकोणमध्ये देवेशि कामबीजं सुलक्षणम्।। इति।

तथा तत्रैव चतुर्थोल्लासे—

कर्णिकायां स्थिता योनिः कामाख्या परमेश्वरी।
तद्योनिः परमेशानि इच्छाज्ञानक्रियात्मिका।
अपराख्यं हि कन्दर्पमाधारे तत्त्रिकोणके।।

इत्यादि। कन्दर्प इति तस्य त्रिकोणस्य मध्ये कन्दर्पो नाम जीवेशो जीवनरक्षाविधायको वायुः समन्तात् त्रिकोणे व्याप्य निवसति। वायोः स्वरूपमाह—**बन्धुजीवेति**। बन्धुजीवप्रकरं रक्तवर्णबन्धूकपुष्पसमूहं स्वगतरक्तिम्ना अभिहसन् उपहसन्। तथा कोटिसूर्यप्रकाशः कोटिसंख्यकसूर्यसदृशदीप्त्यतिशयशालीत्यर्थः। अत्र कामबीजस्थितेरभिधानात् पूर्वोक्तरीत्या कामस्यापि स्थितिरुक्तेत्यवधेयम्।

कन्दर्प वायु वज्रा नाड़ी के मुखप्रदेश तथा मूलाधार चक्र की कर्णिका में एक त्रिकोणमण्डल है। विद्युत् के समान देदीप्यमान और अत्यन्त मसृण (नर्म और स्निग्ध) इस त्रिकोण मण्डल को त्रैपुर कहा जाता है। इसकी अपर संज्ञा 'कामरूप' है। इस मण्डल में व्यापक रूप से कंदर्प नामक वायु का प्रसार है, जो करोड़ों सूर्यों के समान जाज्वल्यमान एवं दुपहरिया के फूल से भी अधिक गहरे लाल रंग का है। इसे 'जीवेश' कहते हैं।।९।।

[तत्र स्वयम्भुलिङ्गावस्थितिः]

तन्मध्ये लिङ्गरूपी द्रुतकनककलाकोमलः पश्चिमास्यो
ज्ञानध्यानप्रकाशः प्रथमकिशलयाकाररूपः स्वयम्भुः।

विद्युत्पूर्णेन्दुबिम्बप्रकरकरचयस्निग्धसन्तानहासी
काशीवासी विलासी विलसति सरिदावर्त्तरूपप्रकार:।।१०।।

प्रागुक्तत्रिकोणमध्ये स्वयम्भुलिङ्गस्यावस्थितिमाह—तन्मध्य इति। प्रागुक्त-त्रिकोणमध्ये लिङ्गरूपी स्वयम्भुः स्वयम्भुलिङ्गं विलसतीति सम्बन्धः। स्वयम्भुवं विशेषयति—**द्रुतेत्यादिना।** द्रुतकनककलाकोमलः द्रवीभूतसुवर्णकमनीयमूर्त्तिः पश्चिमास्यः अधोमुखः, तथा ज्ञानध्यानप्रकाशः ज्ञानेन तत्त्वज्ञानेन ध्यानेन स्वरूपचिन्तया च प्रकाशो यस्य तादृशः। ज्ञानिनस्तत्त्वज्ञानेन ध्यानशीलाश्च ध्यानप्रभावेण तं पश्यन्तीत्यर्थः। प्रथमं नवोद्गतं यत् किशलयं तदाकारं रूपं यस्य तादृशः। अत्र किशलयशब्देनैव नवोद्गतपत्राभिधानसम्भवे प्रथमपदोपन्यासोऽचिर-प्ररूढत्वसूचनाय। **विद्युदिति**—विद्युत्-पूर्णेन्दुबिम्बयोर्यः प्रकरः समूहः विद्युत्समूहः पूर्णचन्द्रमण्डलसमूहश्चेत्यर्थः। तस्य यः करचयः किरणसमूहः तद्वत् स्निग्धः सन्तानः प्रवाहो यस्य तादृशो हासः प्रकाशोऽस्यास्तीति विद्युत्पूर्णेन्दुबिम्बप्रकरकरचयस्निग्ध-सन्तानहासी अनेकविद्युच्चन्द्रकिरणसदृशस्निग्धदीप्तिविशिष्ट इत्यर्थः। काशीवासी काश्यां वासशीलः स्वयम्भुः अत्र विलासी कुण्डलिन्या सह विलासशीलः। काशीवासीत्यभिधानात् काश्यां विलासे स्वयम्भोर्यत् सुखमत्रापि तदनुभवतीति सूचितम्। एवञ्चाधारत्रिकोणान्तराधोमुखं नवकिशलयाकारं स्वयम्भुलिङ्गं वर्त्तत इति निष्कर्षः।

स्वयम्भू लिङ्ग—मूलाधार चक्र के त्रिकोण में भगवान् शिव का नव-किसलय के आकार का अधोमुख स्वयम्भू लिङ्ग विराजित है, जो नदी में पड़े हुए भँवर के प्रकार का है। पिघले हुए सोने की तरह का रंग वाला यह स्वयम्भू लिङ्ग विद्युत् की तरह देदीप्यमान तथा पूर्णिमा के चन्द्रबिम्ब की तरह स्निग्ध और शीतल है। केवल ज्ञान और ध्यान से अवगम्य स्वयम्भू लिङ्गरूप भगवान् शिव यहाँ काशी वास की तरह प्रसन्न हैं॥१०॥

विमर्श—१. पश्चिमास्य अर्थात् अधोमुख।

२. प्रथमकिशलयाकाररूपः—अनखिली कली की तरह नीचे की ओर स्थूल (चौड़ी) तथा ऊपर की तरफ संकुचित एवं नोकदार।

३. सरिदावर्तप्रकारः—नदी में पड़ा भँवर। सतह पर क्षोभ के कारण जिसका मध्य एवं केन्द्रीय भाग शङ्ख के आकार का बन जाता है।

[तदूर्ध्वे कुलकुण्डलिन्याः स्थितिः]

तस्योर्ध्वे विसतन्तुसोदरलसत्सूक्ष्मा जगन्मोहिनी
ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं सञ्छादयन्ती स्वयम्।
शङ्खावर्त्तनिभा नवीनचपलामालाविलासास्पदा
सुप्ता सर्पसमा शिवोपरिलसत्सार्द्धत्रिवृत्ताकृतिः।।११।।

स्वयम्भुलिङ्गोद्र्ध्वे कुलकुण्डलीस्थितिमाह—**तस्याद्र्ध्व** इत्यादि। तस्य स्वयम्भुलिङ्गस्योद्र्ध्वे कुलकुण्डली विलसतीति परेणान्वयः। कुलकुण्डलीं विशेषयति—**विसतन्त्वित्यादिना**। विसतन्तुसोदरलसत्सूक्ष्मा मृणालतन्तुतनीयसी। तथा जगन्मोहिनी जगतां मोहजनिका मायारूपिणीत्यर्थः। तथा मधुरं सहस्रार–गलितामृतप्रवाहेणेति शेषः, ब्रह्मद्वारमुखं ब्रह्मद्वारं 'ब्रह्मद्वारं तदास्य' इत्यादिना पूर्वमुक्तं तस्य मुखं मुखेन स्वमुखेन सञ्छादयन्ती। तदुक्तं शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां चतुर्थोल्लासे—

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं निरामयम्।
मुखेनाच्छाय तद् द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।। इति।

एवञ्च स्वमुखेन ब्रह्मद्वारं सञ्छाद्य सहस्रारगलितामृतधारां पिबतीति गम्यते। शङ्खावर्त्तनिभा शङ्खान्तरालावर्त्तसदृशी। **नवीनेति**—नवीना वर्षागमे प्रथमाविर्भूता या चपलामाला विद्युत्समूहः तस्या यो विलासो दीप्तिस्तस्य आस्पदा वसतिस्थानभूता नवीनोदितविद्युत्पटलसदृशदीप्तिशालिनीत्यर्थः। **सुप्तेति**—सुप्ता शिवोपरि स्वयम्भु–लिङ्गस्योपरि लसन्ती सार्द्धत्रिवृत्ता आकृतिर्यस्यास्तथाभूता अत एव सर्पसमा। सर्पाः स्वापकाले वलयाकारेण वर्त्तन्त इति सुप्तत्रिवृत्ताकृतेः कुण्डलिन्याः सर्पसमत्वम्। अत्रास्पदेति स्त्रीत्वमार्षम्।

कुण्डलिनी—कमलनाल के रेशे से भी सूक्ष्म तथा नवीन मेघमाला की छटा के समान कान्ति वाली देवी कुण्डलिनी अपने शंखाकार सार्ध (साढ़े तीन) त्रिवलयों से इस स्वयम्भू लिंग को लपेटकर उस पर शीतकाल में निद्रामग्न सर्पिणी के समान सोई हुई हैं। सम्पूर्ण जगत् को मोहित करने वाली ये देवी कुण्डलिनी ब्रह्मद्वार के मुख में अपना मुख डालकर अमृतपान कर रही हैं।।११।।

कूजन्ती कुलकुण्डली च मधुरं मत्तालिमालास्फुटं
वाचं कोमलकाव्यबन्धरचनाभेदप्रभेदक्रमैः।
श्वासोच्छ्वासविभञ्जनेन जगतां जीवो यया धार्यते
सा मूलाम्बुजगह्वरे विलसति प्रोद्दामदीप्त्यावलिः।।१२।।

कुण्डलिनीमेव विशेषयति—**कूजन्तीति**। मत्तालिमालास्फुटं मत्तभ्रमरावलीवद–स्फुटमनभिव्यक्तवर्णं मधुरं कूजन्ती एतेन ध्वन्यात्मकशब्दानां कुण्डलिनीतोऽभि–व्यक्तिरभिहिता। एवं ध्वन्यात्मकशब्दसृष्टिमभिधाय वर्णात्मकशब्दानामपि कुण्डलिन्या अभिव्यक्तिमाह—**वाचमिति। कोमलकाव्यबन्धरचनाभेदप्रभेदक्रमैः**—कोमलानि माधुर्यव्यञ्जकवर्णमयानि यानि काव्यानि बन्धाः पद्मादिबन्धाश्चित्रकाव्यात्मकाः तेषां या रचना तत्र ये भेदाः। यद्वा कोमलः माधुर्यव्यञ्जकवर्णमयः यः काव्यानां बन्धः रचना तदितरगद्यपद्यादिमयवाक्यनिर्माणं तयोर्यो भेदः विशेषः इति। तथा प्रभेदाः

प्रकृष्टभेदविशिष्टाः प्राकृतादिबन्धाः तत्र ये क्रमाः काव्यप्रकर्षाधायकतत्तद्रसानुगुणा रीतयः तैः वाचं कण्ठताल्वाद्यभिघातजन्यवर्णात्मकवाक्यं जनयन्ती कुलकुण्डली विलसतीत्यन्वयः। तदुक्तं शारदायां प्रथमपटले—

भिद्यमानात् परात् बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत्। इति।

तथा—

तत् प्राप्य कुण्डली रूपं प्राणिनां देहमध्यगम्।
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः।। इति।

तथा यया कुण्डलिन्या श्वासोच्छ्वासविभञ्जनेन जगतां जीवः प्राणो धार्यते देहावच्छेदे स्थाप्यते। तदुक्तं शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां नवमोल्लासे—

मूलकन्दे तु या देवी भुजगाकाररूपिणी।
तद्भ्रमावर्त्तवातो यः प्राण इत्युच्यते बुधैः।। इति।

तथा प्रोद्दामदीप्त्यावलिः। प्रोद्दामा गुर्वी दीप्त्यावलिः दीप्तिश्रेणी यस्यास्तथाभूता अतिशयदीप्तिशालिनीत्यर्थः।

देवी कुलकुण्डलिनी का मधुर गुञ्जन मधुमक्खियों के प्रेमातुर रव के समान है। वे ही वाणी का रूप ग्रहण कर गद्य-पद्यरूप काव्यों और ग्रन्थों की रचना करती हैं। वे ही श्वास और उच्छ्वास की प्रक्रिया से प्राणिमात्र को जीवित रखती हैं। वे ही मूलाधार पद्म के गह्वर में प्रकाशमान हैं।।१२।।

विमर्श—'शारदातिलक' में कहा गया है कि 'पराबिन्दु के विस्फोट से अव्यक्त रव अर्थात् वर्णहीन रव का प्रादुर्भाव हुआ। वही अव्यक्त रव जीवित प्राणियों में कुण्डलिनी के रूप में स्थित होकर गद्य-पद्य में वर्णाक्षरों के द्वारा वैखरीरूप में अभिव्यक्त होता है। प्रेमातुर मधुमक्खियों की 'भनभनाहट' और 'कोमल काव्यबन्ध रचना' देवी कुण्डलिनी से उद्भूत वर्णहीन (अव्यक्त) तथा वर्णरूप—दोनों ही प्रकार की ध्वनियों के वाचक हैं।

बन्ध—'बन्ध' का आशय चित्रकाव्य से है। संस्कृत के प्राचीन कवियों में श्लोकों को पद्म-खड्ग आदि की विशिष्ट-विशिष्ट आकृतियों में एक विशिष्ट ढंग से लिखने का प्रचलन था। ऐसी कविता को चित्रबन्ध काव्य कहा जाता था।

[तत्र परशक्तिस्थितिः]

तन्मध्ये परमा कलातिकुशला सूक्ष्मातिसूक्ष्मा परा
नित्यानन्दपरम्परा च चपलामालालसद्दीधितिः।
ब्रह्माण्डादिकटाहमेव सकलं यद् भासया भासते
सेयं श्रीपरमेश्वरी विजयते नित्यप्रबोधोदया।।१३।।

स्वयम्भुलिङ्गमध्ये कुण्डलिन्यूदर्ध्वे परशक्तेरवस्थितिमाह—तन्मध्य इति। यद्भासया यस्याः परशक्तेर्दीप्त्या ब्राह्माण्डादिकटाहमाब्रह्मस्तम्भपर्यन्तं भासते दीप्यते

सेयं नित्यप्रबोधोदया नित्यप्रबोधस्य ब्रह्मज्ञानस्य उदयो यस्याः सा ब्रह्मज्ञानजननीत्यर्थः। तथाभूता श्रीपरमेश्वरी सर्वेषामीश्वराणामुपरि वर्त्तमाना परमा कला अनिर्वाच्यस्वरूपा माया विजयते। तां विशेषयति—अतिकुशला दृश्यमानजगन्निर्माणे निरतिशयनिपुणा। सूक्ष्मातिसूक्ष्मा अतिशयसूक्ष्मेत्यर्थः। परा गुणैरनाक्रान्ता। नित्यानन्दपरम्परा नित्या कालाद्यनवच्छिन्ना आनन्दपरम्परा यस्याः सा सदानन्दरूपिणी। तथा चपला मालालसद्दीधितिः चपलामालेव विद्युच्छ्रेणीरेव लसन्ती दीधितिर्यस्यास्तथाभूता।

एवञ्च स्वयम्भुवो निरुक्तकुण्डलीसार्द्धत्रिवेष्टनादूद्र्ध्वे जगन्निर्माणकुशला सूक्ष्मतमा विद्युद्दीप्ता नादात्मिका परमा कला विलसन्ती स्वतेजसा जगदखिलं भासयतीति फलितम्।

पराशक्ति की स्थिति—तन्मध्ये अर्थात् स्वयम्भूलिंग में कुण्डलिनी के ऊपर सूत्ररूप में पराशक्ति का वास है। ये अत्यन्त सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम हैं, इस दृश्यमान जगत् के निर्माण में अतिशय प्रवीण हैं, इनकी कान्ति विद्युत् माला के समान चमकीली है और इनकी ही रीति से यह समस्त ब्रह्माण्ड दीप्त और प्रकाशित है। नित्य अर्थात् शाश्वत तत्त्व प्रदान करने वाली ये भगवती परा नित्यानन्द परम्परा वाली हैं॥१३॥

विमर्श—(१) परमा कला अर्थात् अनिर्वाच्यस्वरूपा माया। (२) नित्यानन्द परम्परा, षट्चक्रनिरूपण और दि सर्पेण्ट पावर में इस श्लोक की द्वितीय पंक्ति का पाठ है—

नित्यानन्दपरम्परातिविगलत् पीयूषधाराधरा।

नित्यानन्दपरम्परा—परब्रह्म ही नित्य और आनन्दस्वरूप है, शाश्वत आनन्द का स्रोत है। यह शाश्वत आनन्द एक परम्परा से एक क्रम से, प्रवाहित होता है। निर्गुण ब्रह्म से सगुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म से शक्ति, शक्ति से नाद, नाद से बिन्दु और बिन्दु से कुण्डलिनी और कुण्डलिनी से चित् कला, जो कुण्डलिनी का ही अवान्तर रूप है। इस तरह वे नित्यानन्द से उद्भूत सुधाप्रवाह की परम्परा वाली हैं।

नित्यानन्दपरम्परा की एक और भी व्याख्या की जा सकती है। परमशिव और शक्ति के सामरस्य से आनन्दरूप सुधा की जो धारा बहती है, उसे वे ही ग्रहण करती हैं। आनन्दरूप यह सुधाधारा परम्परा के क्रम से परंबिन्दु को प्राप्त होती है। परंबिन्दु से आज्ञाचक्र, आज्ञाचक्र से विशुद्धचक्र, विशुद्ध से अनाहत, अनाहत से मणिपूरक, वहाँ से स्वाधिष्ठान और स्वाधिष्ठान से मूलाधार तक पहुँचती है, जिसे वे ही ग्रहण करती हैं (द्रष्टव्य : दि सर्पेण्ट पावर, पृष्ठ-३५२)।

[कुलकुण्डलिनीध्यानफलम्]

ध्यात्वैतन्मूलचक्रान्तरविवरलसत्कोटिसूर्यप्रकाशां
वाचामीशो नरेन्द्रः स भवति सहसा सर्वविद्याविनोदी।
आरोग्यं तस्य नित्यं निरवधि च महानन्दचित्तान्तरात्मा
वाक्यैः काव्यप्रबन्धैः सकलसुरगुरून् सेवते शुद्धशीलः।।१४।।

कुण्डलिनीध्यानफलमाह—**ध्यात्वेति।** एतस्य मूलचक्रस्य मूलाधारचक्रस्य अन्तरे अभ्यन्तरे यद् विवरं गह्वरं तत्र लसन् कोटिसूर्याणां प्रकाश इव प्रकाशो यस्यास्तादृशीं कुण्डलिनीं ध्यात्वा सर्वविद्याविनोदी वाचामीशः बृहस्पतितुल्यो भवति। तस्य नित्यम् आरोग्यं जायते। तथा महानन्दचित्तान्तरात्मा महानन्द ईश्वरः तत्र चित्तं यस्य तादृशोऽन्तरात्मा यस्य तथाभूतो भवति, ईश्वरध्यानपरायणो भवतीत्यर्थः। तथा शुद्धशीलः सकलमोहापगमात् पवित्रान्तःकरणः सन् अनितरसाधारणैः काव्यप्रबन्धैः काव्यानां प्रकृष्टो बन्धो यत्र तथाभूतैर्वाक्यैः सकलसुरगुरून् सकलान् सुरगुरून् ब्रह्मविष्णुमहेश्वरादीन् सेवते। सारार्थपरिपूर्णस्तोत्राद्यात्मकप्रबन्धरचनया सुरश्रेष्ठान् तोषयतीत्यर्थः। यद्वा सकलसुरगुरून् वृहस्पतितुल्यानखिलानपि पण्डितान् सुमधुर-काव्यप्रबन्धरचनया प्रीणयतीत्यर्थः।

इस श्लोक में कुल-कुण्डलिनी के ध्यान का फल बताया गया है। कोटि-कोटि सूर्यों के समान देदीप्यमाना देवी कुल-कुण्डलिनी का मूलाधार के गह्वर में ध्यान करने से मनुष्य को क्रम से वाक्सिद्धि मिलती है, उसकी वाणी रस से ओतप्रोत हो जाती है, वह मनुष्यों में इन्द्र के समान प्रतापी एवं सर्वविद्याओं का जानकार हो जाता है। उसकी आत्मा ईश-चिन्तन में निमग्न रहती है तथा ऐसा शुद्ध शील व्यक्ति काव्य-रचना कर समस्त सुर-गुरुओं अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु-महेश की सेवा (स्तवन) करता है।।१४।।

मूलाधार-निरूपण—मूलाधार चक्र में चार कमलदल हैं। ये कमलदल अधोमुखी हैं। इनका वर्ण लाल है तथा इन पर (क्रमशः) 'वं शं षं सं'—ये चार अक्षर अंकित हैं। इन अक्षरों का रंग सुनहरा है। चक्र की कर्णिका में पीले रंग का चतुष्कोणात्मक धरा-मण्डल है। इसके मध्य में धराबीज (लँ) ऐरावत पर आसीन है। इसकी चार भुजायें हैं तथा वह वज्रपाणि है। धराबीज के अनुस्वार-बिन्दु के ऊपर शिशुरूपी ब्रह्माजी विराजमान हैं। इनकी चार भुजाएँ और चार मुख हैं। उनके चारो हाथों में क्रमशः दण्ड, कमण्डलु, रुद्राक्ष माला और अभय मुद्रा है। ब्रह्माजी के समीप ही लाल कमल के आसन पर चक्र की अधिष्ठात्री देवी 'डाकिनी' प्रतिष्ठिता हैं। वे अपने चारो हाथों में क्रमशः त्रिशूल, खट्वांग, खड्ग और पानपात्र धारण किये हुए हैं।

धरा- बीज के गह्वर में विद्युद्वत् देदीप्यमान अधोमुख त्रिकोण है––त्रैपुर-संज्ञक इस त्रिकोण में कामबीज अंकित है तथा 'कन्दर्प' नामक वायु का प्रवाह है। इस त्रिकोणमण्डल में 'स्वयम्भूलिंग' है। इस श्यामवर्ण स्वयम्भू लिंग को साढ़े तीन फेरों में लपेटकर देवी कुण्डलिनी निद्रामग्न है। लिंग के शीर्ष भाग पर सूत्र के रूप में 'चित्-कला' स्थित है।

मूलाधार

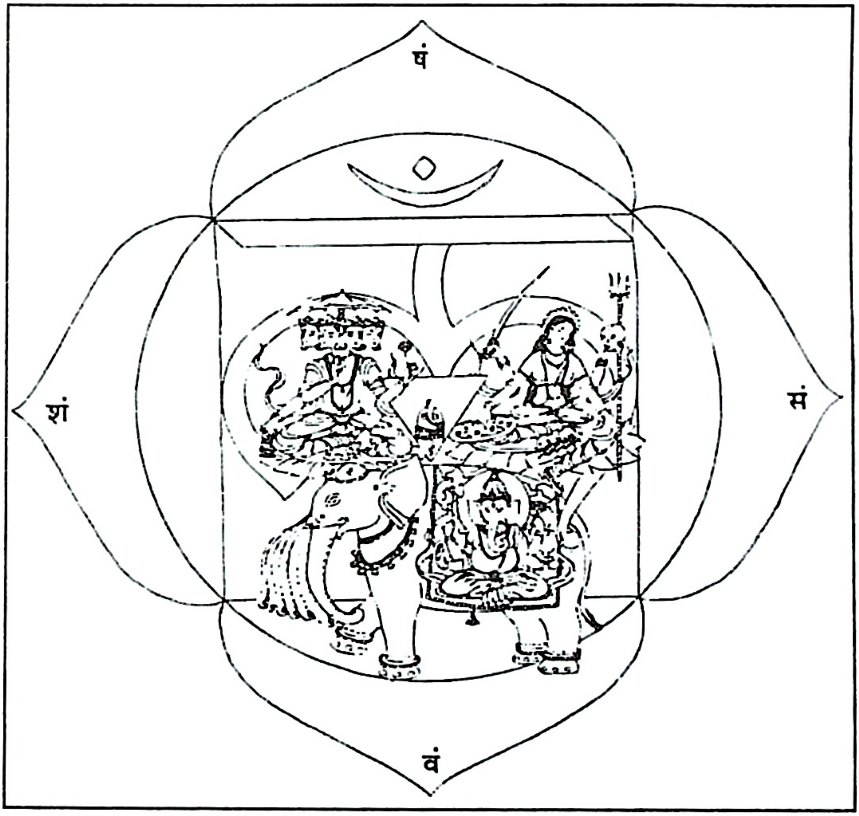

सिन्दूरपूररुचिरारुणपद्ममन्यत् सौषुम्णमध्यघटितं ध्वजमूलदेशे।
अङ्गच्छदैः परिवृतं तडिदाभवर्णैर्वाद्यैः सबिन्दुलसितैश्च पुरन्दरान्तैः।।१५।।

एवं प्रथमं मूलाधारचक्रं निरूप्य द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रमाह—सिन्दूरेत्यादिना ज्ञानसन्दोहलक्ष्मीरित्यन्तेन श्लोकपञ्चकेन। स्वाधिष्ठानपदव्युत्पत्तिस्तु गन्धर्वतन्त्रे पञ्चमपटले—

स्वशब्देन परं लिङ्गं स्वाधिष्ठानं ततो विदुः।

इत्येवं निरूपिता। तत्र पद्मस्वरूपमाह—**सिन्दूरेति**। ध्वजमूलदेशे लिङ्गमूले सौषुम्णमध्यघटितं सुषुम्णाया इदं सौषुम्णं यन्मध्यं सुषुम्णानाडीमध्यप्रदेश इत्यर्थः, तत्र घटितं सम्बद्धम् अङ्गच्छदैः षड्भिर्दलैः परिवृतं सिन्दूरपूररुचिरारुणं सिन्दूरपुञ्ज-वन्मनोहररक्तवर्णं पद्मं वर्त्तत इति शेषः।

छदान् विशेषयति—**तडिदित्यादिना**। सबिन्दुलसितैः सानुस्वारैः बाद्यैर्बकाराद्यैः पुरन्दरान्तैः लकाररूपेन्द्रबीजान्तैः तडिदाभवर्णैः विद्युत्सदृशप्रभाविशिष्टैः वर्णैः बं भं मं यं रं लं इत्येतैश्च परिवृतम्। एतेन षट्पत्रेषु निरुक्ताः षड् वर्णा वर्त्तन्त इति तात्पर्यादुन्नेयम्।

अयमस्य निष्कर्षः—लिङ्गमूलप्रदेशे सुषुम्णामध्ये सिन्दूरारुणमतिमनोहरं स्वाधिष्ठानपद्मं वर्त्तते, तस्य षट् पत्राणि, तेषु च पत्रेषु क्रमेण विद्युदाकारा बं भं मं यं रं लं इत्येते वर्णा विलसन्तीति।

स्वाधिष्ठान चक्र-निरूपण—मूलाधार चक्र का निरूपण करने के बाद इस श्लोक से प्रारम्भ कर पाँच श्लोकों में स्वाधिष्ठान चक्र का निरूपण किया जा रहा है। रुद्रयामल के अनुसार 'स्व' शब्द 'परं लिंग' का वाचक है। इसका निरूपण करते हुए कहते हैं—

सुषुम्णा नाड़ी में मूलाधार चक्र के ऊपर ध्वजमूल अर्थात् लिंगमूल के समीप सिन्दूर अरुण वर्ण का षट्दल कमल वाला स्वाधिष्ठान चक्र है। इसके छः दलों में एक-एक कर क्रमशः बिन्दुयुक्त 'बादि-पुरन्दरान्त' अर्थात् 'बं भं मं यं रं लं' ये ६ वर्ण अंकित हैं। इन वर्णों का रंग सुनहरा है।

विमर्श—पुरन्दर अर्थात् इन्द्र। इन्द्र का बीजवर्ण है—'लं'।

[तत्राम्भोजमण्डलं तत्र च वरुणबीजस्थितिः]

तस्यान्तरे प्रविलसद्विशदप्रकाश-
मम्भोजमण्डलमथो वरुणस्य तस्य।
अर्द्धेन्दुरूपलसितं शरदिन्दुशुभ्रं
वङ्कारबीजममलं मकराधिरूढम्।।१६।।

तस्येति। तस्य स्वाधिष्ठानपद्मस्य अन्तरे मध्ये प्रविलसत् शोभमानं विशद-प्रकाशं शुक्लवर्णम् अर्द्धेन्दुरूपलसितम् अर्द्धचन्द्रयुक्तं तस्य जलाधिदैवततया प्रसिद्धस्य वरुणस्य अम्भोजमण्डलम्। तत्र च शरदिन्दुशुभ्रं मकराधिरूढं मकरवाहनम् अमलं वंकारबीजं वर्त्तत इति शेषः। एवञ्च बीजस्य तत्तद्देवतारूपतया अत्र वमिति वरुणवीजस्थित्या वरुणस्यापि स्थितिरवगन्तव्या।

अयमस्य निष्कर्षः—निरुक्तपद्मकर्णिकायाम् अर्द्धचन्द्रयुक्तमम्भोजमण्डलं शुक्लवर्णं तत्र शारदशशधरविशदं मकरवाहनं वरुणबीजमवतिष्ठत इति।

इस स्वाधिष्ठान चक्र के मध्य में जलतत्त्व के अधिष्ठाता वरुणदेव का अर्धचन्द्राकार जल-मण्डल है। विशद प्रकाश वाले इस जलमण्डल में शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान शुभ्र वर्ण वाला वरुण-बीज 'वं' मकर पर प्रतिष्ठित है।।१६।।

[वरुणबीजस्याङ्के विष्णोरवस्थानम्]

तस्याङ्कदेशलसितो हरिरेव पाया-
न्नीलप्रकाशरुचिरश्रियमादधानः।
पीताम्बरः प्रथमयौवनगर्वधारी
श्रीवत्सकौस्तुभधरो धृतवेदबाहुः।।१७।।

तस्येति। तस्य वरुणबीजस्य अङ्कदेशे लसितः विलसितः हरिर्विष्णुरेव पायात् त्रिभुवनमिति शेषः। एवकारः पालनकर्तृत्वं हरेरेवेति सूचनार्थः। अत्राङ्कदेशलसित इति स्थितेऽपि—

सुसिद्धं ब्रह्मसदनं नादोपरि सुसुन्दरम्।

इत्यादिनिर्वाणतन्त्रचतुर्थपटलवचनदर्शनान्नादोर्द्ध्वबिन्दौ ब्रह्मस्थितिवद्दृष्टपरिकल्पनन्यायेनात्रापि वरुणबीजनादोर्द्ध्वबिन्दौ विष्णोः स्थितिरिति केचित्। तथात्वेऽङ्कपदवैयर्थ्यं स्यात्। हरिं विशेषयति—**नीलेत्यादिना**। नीलश्च प्रकाशश्च नीलप्रकाशौ ताभ्यां नीलवर्णेन तेजसा चेत्यर्थः, रुचिरश्रियं मनोज्ञकान्तिमादधानः धारयन् नीलतेजःपुञ्जशरीरीत्यर्थः। सुगममन्यत्।

इस वरुणबीज के अंक में प्रतिष्ठित नवयौवन-सम्पन्न मनोज्ञ कान्ति एवं नील वर्ण के वे भगवान् विष्णु हमारी रक्षा करें, जो चतुर्भुज एवं पीताम्बरधारी हैं और जिनके वक्षःस्थल पर कौस्तुभ मणि एवं श्रीवत्स का लांछन है।।१७।।

विमर्श—कौस्तुभ मणि की उत्पत्ति समुद्र से हुई है और इसे सभी आत्माओं का प्रतीक माना जाता है। 'श्रीवत्स' का शाब्दिक अर्थ है—श्री अर्थात् भगवती लक्ष्मी को प्रिय। भगवान् विष्णु और उनके पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर घुँघराले केशपुञ्ज की आकृति का जो चिह्न है, उसे 'श्रीवत्स' कहते हैं।

[अत्र स्थिताया राकिणीशक्तेः स्वरूपम्]

अत्रैव भाति सततं खलु राकिणी सा
नीलाम्बुजोदरसहोदरकान्तिशोभा ।
नानायुधोद्यतकरैर्लसिताङ्गलक्ष्मी-
र्दिव्याम्बराभरणभूषितमत्तचित्ता ।।१८।।

पद्मेऽस्मिन् राकिणीशक्तेरवस्थितिमाह—**अत्रैवेति**। अत्र नीलाम्बुजेत्यादि-विशेषणेन वैष्णवीशक्तिरियमित्यवधेयम्। मूलाधारादिषट्पद्मान्तर्गतशक्तीनां स्थितौ—

विशुद्धौ डाकिनी देवी अनाहते तु राकिणी।
लाकिनी मणिपूरस्था काकिनी लिङ्गगोचरे॥
आधारे शाकिनी देवी आज्ञायां हाकिनी तथा।
षाकिणी ब्रह्मरन्ध्रस्था सर्वकामफलप्रदा॥

इति शाक्तानन्दतरङ्गिणीचतुर्थोल्लासधृतवचनेन तु स्वाधिष्ठाने काकिन्या मूलाधारे शाकिन्या अनाहते राकिण्या विशुद्धौ डाकिन्या अवस्थितिरिति प्रस्थानभेदो दृश्यते।

इस चक्र की अधिष्ठात्री देवी राकिणी हैं। भगवान् विष्णु के पास ही नीलकमल के आसन पर श्यामवर्णा देवी राकिणी प्रतिष्ठिता हैं। उनके हाथ ऊपर की ओर उठे हुए हैं तथा इन हाथों में वे विविध प्रकार के अस्त्र धारण किये हुए हैं। विविध आभूषणों से अलंकृता भगवती राकिणी के वस्त्र दिव्य एवं मनोहर हैं। सुधापान के कारण उनका चित्त आह्लादपूर्ण है॥१८॥

[एतत्पद्मचिन्तनफलम्]

स्वाधिष्ठानाख्यमेतत् सरसिजममलं चिन्तयेद् यो मुनीन्द्र-
स्तस्याहङ्कारदोषादिकसकलरिपुः क्षीयते तत्क्षणेन।
योगीशः सोऽपि मोहाद्भुततिमिरचये भानुतुल्यप्रकाशो
गद्यैः पद्यैः प्रबन्धैर्विरचयति सुधाकाव्यसन्दोहलक्ष्मीः॥१९॥

स्वाधिष्ठान नामक इस चक्र का ध्यान करने से साधक के अहंकार आदि समस्त शत्रुओं का नाश हो जाता है। माया-मोहरूपी अन्धकार का नाश होकर सूर्य के समान ज्ञान का प्रकाश फैलने लगता है। योगियों और मुनियों में अग्रगण्य ऐसे साधक की सुधामयी वाणी प्रबन्धरचना और व्याख्यान में प्रवहमान होती है॥१९॥

स्वाधिष्ठान चक्र—स्वाधिष्ठान चक्र का रंग सिन्दूर अरुण है। इसमें ६ कमलदल हैं। इन दलों पर क्रम से 'बं भं मं यं रं लं'—ये ६ वर्ण अंकित हैं। इन वर्णों का रंग विद्युत् के समान है। इस चक्र के मध्य में अर्धचन्द्राकार जलमण्डल है। इस जलमण्डल में वरुणबीज 'वं' प्रतिष्ठित है; जिसका वर्ण शरत्कालीन चन्द्र के समान शुभ्र है। वह मकर पर सवार हैं। 'वं' बीज पर चतुर्भुज भगवान् विष्णु का वास है। वे पीताम्बरधारी हैं। वक्षःस्थल पर कौस्तुभ मणि और श्रीवत्स है। नवयौवन-सम्पन्न भगवान् विष्णु का वर्ण नीला है। इस चक्र की अधिष्ठात्री देवी राकिणी हैं। उनका वर्ण श्याम है और वे नील-कमल पर आसीना हैं। वे चतुर्भुजा एवं ऊर्ध्वबाहु हैं। दिव्याम्बर और सभी आभूषणों से भूषिता देवी राकिणी के हाथों में विविध आयुध हैं।

स्वाधिष्ठान

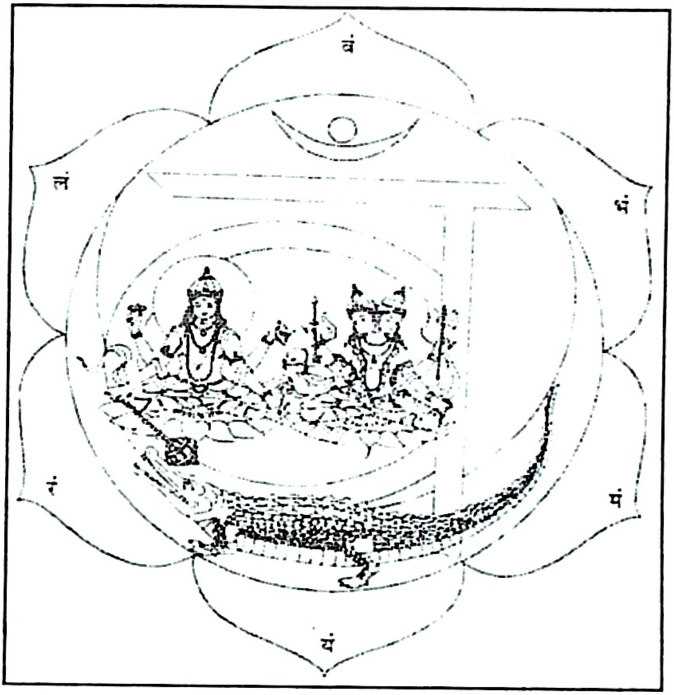

[मणिपूरपद्मम्, तत्र त्रिकोणे वह्निबीजस्य स्थितिश्च]

तस्योद्ध्र्वे नाभिमूले दशदललसिते पूर्णमेघप्रकाशे
नीलाम्भोजप्रकाशैरुपहितजठरे डादि-फान्तैः सचन्द्रैः।
ध्यायेद् वैश्वानरस्यारुणमिहिरसमं मण्डलं तत्त्रिकोणं
तद्बाह्ये स्वस्तिकाख्यैस्त्रिभिरभिलसितं तत्र वह्नेः स्वबीजम्।।२०।।

एवं द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं निरूप्य तृतीयं मणिपूरचक्रमाह—तस्योद्ध्र्वे इति। तस्य स्वाधिष्ठानस्य ऊद्ध्र्वे नाभिमूलप्रदेशे पूर्णमेघप्रकाशे पूर्णो गाढो यो मेघस्तस्य प्रकाश इव प्रकाशो यस्य तथाभूते गाढकृष्णवर्णे इत्यर्थः, दशदललसिते दशभिर्दलैः शोभमाने तथा नीलाम्भोजप्रकाशैः नीलपद्मकान्तिभिः सचन्द्रैः अत्र चन्द्रशब्देन बिन्दुरपि बोध्यः तेन सचन्द्रैः अर्द्धचन्द्रबिन्दुसहितैः डादि-फान्तैः डकारादि-फकारान्तैर्दशभिर्वर्णैरुपहितं जठरं मध्यं यस्य तथाभूते पद्मे इति शेषः। अरुणमिहिर-समम् अरुणवर्णो यो मिहिरः सूर्यः बालार्क इत्यर्थः तत्सदृशं रक्तोज्ज्वलं त्रिकोणं तद् वैश्वानरस्य मण्डलं वह्निमण्डलम्, तद्बाह्ये च त्रिभिः स्वस्तिकाख्यैर्द्वारविशेषैरभिलसितं युक्तम् इति त्रिकोणविशेषणम्। तत्रेति वह्निमण्डले वह्नेः स्वबीजं रम् इति ध्यायेदिति परेण सम्बन्धः।

अत्र उपहितजठरे इत्युक्तावपि शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां चतुर्थोल्लासे मणिपूरपद्मं प्रकृत्य—

डादि-फान्तान्वितदलैर्वरुणैर्दशभियुतम्।

इत्यभिधानाद् डादि-फान्तवर्णानां स्थितिर्दशसु दलेष्ववगन्तव्या। तथात्र पूर्ण-मेघप्रकाशे इति विशेषणेन पद्मस्य नीलवर्णता प्रतीयते प्रागुक्तशाक्तानन्दतरङ्गिणीवचनेन तु रक्तवर्णत्वं स्पष्टमुक्तम्। गन्धर्वतन्त्रे पञ्चमपटले तु—

तदूद्र्ध्वे नाभिदेशे तु मणिपूरं महत् पुरम्।
हेमाभं वैद्युताभञ्च बहुतेजोमयं तथा।।

इत्यनेन हेमाभत्वादिकं पद्मस्य विशेषणत्वेनोपपादितम्। एवञ्च स्थिते स्वरूपभेदे, श्रीनाथस्याज्ञया ध्यानार्थम् एकतरः पक्षः समाश्रयणीय इति तत्त्वम्। मणिपूरपदव्युत्पत्तिमाह गन्धर्वतन्त्रे पञ्चमपटले—

मणिमद्भिन्नं तं पूरं मणिपूरं ततो विदुः। इति।

अयमस्य निष्कर्षः—स्वाधिष्ठानोद्ध्र्वे नाभिमूले गाढजलधरप्रभदशदलं मणिपूराख्यं कमलम्। दलानि चोद्ध्र्वनादबिन्दुसहितैर्नीलप्रभाभास्वरैः ड-ढ-ण-त-थ-द-ध-न-प-फ-रूपैर्दशभिर्वर्णैरुपेतानि। पद्मस्य कर्णिकायामरुणारुणप्रभाभास्वरं त्रिकोणं रंबीजगर्भं स्वस्तिकाख्यद्वारत्रययुक्तं वह्निमण्डलमिति।

स्वाधिष्ठान के बाद तीन श्लोकों में मणिपूरक चक्र का निरूपण किया जा रहा है—

स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर नाभिमूल क्षेत्र में वर्षाकालीन मेघ के प्रगाढ़ कृष्ण वर्ण का मणिपूरक चक्र है। इस चक्र में दस कमलदल हैं। इन दलों पर अनुस्वार-युक्त 'ड' से 'फ'-पर्यन्त दस वर्ण अंकित हैं। इन वर्णों का रंग चमकदार नीला है। ये वर्ण हैं—'डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं'। कमलदल की कर्णिका में त्रिकोणाकार वह्निमण्डल है। इस मण्डल का वर्ण उगते हुए सूर्य के समान अरुण है। मण्डल के बाहर तीनों ओर तीन स्वस्तिक चिह्न हैं। मण्डल के अन्दर अग्निबीज 'रं' अंकित है।।२०।।

[तत्र रुद्रमूर्त्तेरवस्थितिः]

ध्यायेन्मेषाधिरूढं नवतपननिभं वेदबाहूज्ज्वलाङ्गं
तत्क्रोडे रुद्रमूर्त्तिर्निवसति सततं शुद्धसिन्दूररागः।
भस्माऽऽलिप्ताङ्गभूषाभरणसितवपुर्वृद्धरूपी त्रिनेत्रो
लोकानामिष्टदाताऽभयलसितकरः सृष्टिसंहारकारी।।२१।।

पूर्वश्लोके तत्र वह्नेः स्वबीजमित्युक्तम्, तदेव वह्निबीजं विशेषयति—ध्यायेदित्यादिना। तद् वह्निबीजं कीदृशमित्यत आह—मेषाधिरूढं मेषवाहनम्, तथा नवतपननिभं तरुणारुणरागं रक्तवर्णमित्यर्थः, तथा वेदबाहूज्ज्वलाङ्गं वेदैश्चतुर्भि-

र्बाहुभिरुज्ज्वलं शोभमानमङ्गं यस्य बाहुचतुष्टयेन काञ्चनशोभामावहदित्यर्थः। एवंविधं वह्निबीजं ध्यायेदिति पूर्वेण सम्बन्धः।

अत्र रामवल्लभादिभिर्मेषाधिरूढं छागवाहनमिति व्याख्यातम्। तदसत् 'छागस्थः साक्षसूत्रोऽग्नि'रित्यादिनाऽन्यत्र तस्य छागवाहनत्वेऽभिहितेऽपि—

मेषस्थं साक्षसूत्रञ्च शक्तिहस्तं स्मरेत्ततः।

इति कालीचरणकृतषट्चक्रटीकाधृतवचनेन प्रकृते वह्निबीजस्य मेषवाहनत्वेनैव ध्यानस्याभिधानात् प्रसिद्धार्थपरित्यागेनार्थान्तरकल्पनस्यानौचित्याच्च मेषवाहनत्वेन ध्यानमेव समीचीनमिति पश्यामः। अत्र वह्निबीजस्य स्थितेस्तत्र वह्नेरपि स्थितिरित्यवधेयम्, मन्त्रदेवतयोरभेदस्य सर्वतन्त्रसिद्धत्वेन वह्निबीजस्थितिं वदता ग्रन्थकृता वह्निदेवतास्थितेरप्यभिधानात्। एवं सर्वत्र।

तत्र रुद्रावस्थितिमाह—**तत्क्रोड इति**। तस्य वह्निबीजस्य क्रोडे। अत्र लोकानामिष्टदाता वरद इत्यर्थः।

तदयमस्य निष्कर्षः—प्रागुक्तत्रिकोणस्थितं वह्निबीजं मेषवाहनं तरुणारुणशोणं चतुर्भुजञ्च। वह्निबीजमध्ये तु वृद्धो रुद्रो निरुक्तविशेषविशिष्टो निवसतीति।

इस वह्निबीज की आभा प्रात:कालीन सूर्य के समान है। इसकी चार भुजाएँ हैं तथा उसके सभी अंग उज्ज्वल हैं। इस बीज के अंक में रुद्रदेव प्रतिष्ठित हैं। उनका वर्ण (रंग) लाल है; मगर भस्म (राख) के लेप एवं धवल वस्त्र-आभूषण के कारण उनके शरीर का वर्ण शुभ्र और धवल प्रतीत होता है। वे त्रिलोचन हैं तथा उनका शरीर वृद्ध है। उनके दोनों हाथों में वर और अभय मुद्राएँ हैं।।२१।।

[अत्र पद्मे लाकिनीशक्तेरवस्थितिरेतत्पद्मचिन्तनफलञ्च]

अत्रास्ते लाकिनी सा सकलशुभकरी वेदबाहूज्ज्वलाङ्गी
श्यामा पीताम्बराद्यैर्विविधविरचनालङ्कृता मत्तचित्ता।
ध्यात्वैतन्नाभिपद्मं प्रभवति नितरां संहृतौ पालने वा
वाणी तस्याननाब्जे विलसति सततं ज्ञानसन्दोहलक्ष्मीः।।२२।।

तत्र लाकिनीशक्तेः स्थितिमाह—**तत्रास्त इति**। अत्र पद्मकर्णिकायां सा सर्वतन्त्रप्रसिद्धा लाकिनीशक्तिरास्ते। लाकिनीं विशेषयति—**सकलेत्यादिना। पीताम्बराद्यैः** पीतवस्त्रादिभिरलङ्करणसाधनैरित्यर्थः, या विविधा विचित्रप्रकारा विरचना वेशविन्यासः तया अलङ्कृता। पीताम्बराद्यैरुपलक्षिता तथा विविधविरचनालङ्कृता इति वा। एतन्मणिपूरचक्रचिन्तनफलमाह—**ध्यात्वैतदिति।**

इस चक्र में देवी लाकिनी का वास है। उनका वर्ण श्याम है, चार भुजाएँ हैं। विविध अलंकारों से आभूषिता देवी लाकिनी के वस्त्र पीत वर्ण के हैं। इस मणिपूरक चक्र का ध्यान करने से साधक को संहार और सृष्टि की शक्ति प्राप्त

होती है। वाणीविलास-सहित उसके ज्ञानलक्ष्मी की आभा उसके मुख से उद्भासित होती रहती है॥२१॥

मणिपूरक-सारांश

मणिपूरक चक्र की स्थिति नाभिमूल के पास है। इस चक्र का वर्ण वर्षाकालीन मेघ के समान सान्द्र काला है। इसमें दस कमलदल हैं, जिन पर बिन्दु और नादसहित—'डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं' ये दस वर्ण अंकित हैं। इन वर्णों का रंग चमकीला नीला है। त्रिकोणाकार वह्नि मण्डल है जिस पर मेष पर आरूढ़ अग्निबीज 'रं' प्रतिष्ठित हैं। इस बीज वर्ण के अंक में भगवान् रुद्र हैं। भगवान् रुद्र का वर्ण यद्यपि रक्ताभ है तथापि भस्मलेपन और धवल आभूषणों के कारण शुक्लवर्ण का प्रतीत होता है। कर-कमलों में वर और अभय मुद्राएँ हैं। कमल की कर्णिका में नील वर्णा तथा चतुर्भुजा देवी लाकिनी विराजिता है।

मणिपूरक

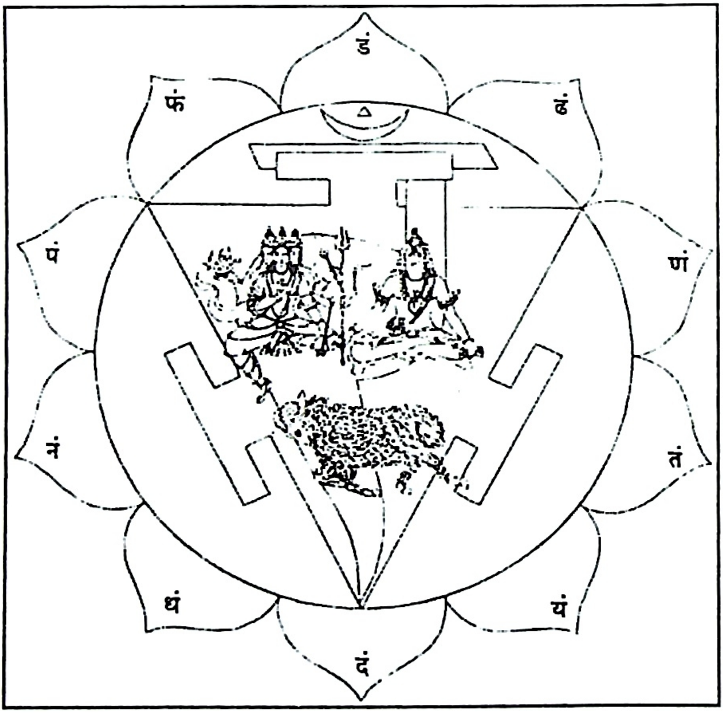

[अनाहतपद्मं तत्कर्णिकायां वायुमण्डलञ्च]

तस्योद्ध्र्वे हृदि पङ्कजं सुललितं बन्धूककान्त्युज्ज्वलं
काद्यैर्द्वादशवर्णकैरुपकृतं सिन्दूररागाञ्चितैः।

नाम्नाऽनाहतजीवितं सुरतरुं वाञ्छातिरिक्तप्रदं
वायोर्मण्डलमत्र धूमसदृशं षट्कोणशोभान्वितम्।।२३।।

एवं मणिपूरचक्रं निरूप्याऽनाहतचक्रमाह—**तस्योद्ध्वं इति।** तस्य मणिपूरपद्मस्य ऊद्ध्वें हृदि हृदयप्रदेशे नाम्ना अनाहतमीरितम् अनाहतसंज्ञयाभिहितमित्यर्थः पङ्कजं ध्यायेदित्यर्थः। पङ्कजं विशेषयति—**सुललितमित्यादिना।** सुललितं सुस्निग्धं बन्धूककान्त्युज्ज्वलं बन्धूककुसुमवदरुणवर्णम्, तथा सिन्दूररागाञ्चितैः सिन्दूरवद्रक्तवर्णैः काद्यैः ककारादिभिष्ठकारान्तैः क-ख-ग-घ-ङ-च-छ-ज-झ-ञ-ट-ठ रूपैर्द्वादशवर्णैरुपकृतम् उपकरणविशिष्टं युक्तमित्यर्थः। अत्र उपहितमिति कालीचरणटीकायां उपहृतमिति च रामवल्लभटीकायां पाठो दृश्यते तयोरपि तत्र तत्र युक्तमित्येवार्थः; तथा वाञ्छातिरिक्तप्रदं सुरतरुम् अन्यः कल्पवृक्षो वाञ्छितमेव वस्तु प्रार्थिनेऽर्पयति एतत्पङ्कजरूपकल्पवृक्षस्तु वाञ्छितादप्यधिकं ददातीति तात्पर्यम्। **वायोरिति।** अत्र पद्मकर्णिकायां धूमसदृशं धूम्रवर्णं वायोर्मण्डलं ध्यायेत्। किम्भूतम्? षट्कोणशोभान्वितम्। एतेन वायुमण्डलं षट्कोणमिति दर्शितम्। व्यक्तमाह निर्वाणतन्त्रे सप्तमपटले—

एतत्पद्मस्योद्ध्वदेशे विमलं पद्मसुन्दरम्।
शोभितं द्वादशैः पत्रैः शोणवर्णसमन्वितम्।।
पद्ममध्ये बीजकोषे षट्कोणमण्डलं शुभम्।
मण्डलस्य मध्यदेशे वायुबीजं मनोहरम्।। इति।

एवञ्च बीजकोषान्तःषट्कोणे वायुबीजस्थितिरिति गम्यते। अनाहतपदव्युत्पत्तिमाह तन्त्रसारे—

शब्दब्रह्ममयं शब्दोऽनाहतस्तत्र दृश्यते।
अनाहताख्यं पद्मं तन्मुनिभिः परिकीर्त्यते।। इति।

अत्र शब्दब्रह्ममयमिति प्रक्रान्तपद्मविशेषणम्।

अयमस्य निष्कर्षः—मणिपूरोद्ध्वें हृदये बन्धूककुसुमशोणं सुस्निग्धं द्वादशदलं चतुर्थमनाहताख्यं पद्मम्, तस्य च दलेषु एकैकशः सिन्दूरसवर्णाः क-ख-ग-घ-ङ-च-छ-ज-झ-ञ-ट-ठ-रूपान् द्वादश वर्णान् कर्णिकायां धूमधूम्रं षट्कोणं वायुमण्डलं ध्यायेदिति।

मणिपूरक चक्र के बाद अब ६ श्लोकों के अनाहत चक्र का निरूपण किया जा रहा है।

सुषुम्णा नाड़ी में मणिपूरक चक्र के ऊपर हृदयप्रदेश के समीप अनाहत नामक चक्र है। इसका रंग बन्धूकपुष्प के समान है। इस चक्र में बारह कमलदल हैं। इन दलों में 'क'कार से 'ठ'कार-पर्यन्त बारह अक्षर बिन्दु और नादसहित अंकित हैं। वर्णों का रंग सिन्दूरी है। यह चक्र नन्दनकानन के कल्पवृक्ष के समान है और

साधकों को उनकी मनोवांछित कामनाओं से भी अधिक फल प्रदान करता है। इस चक्र में वायुमण्डल है, जिसकी आकृति षट्कोणाकार है॥२३॥

[तत्र वायुबीजं तत्रेशस्थितिश्च]

तन्मध्ये पवनाक्षरञ्च मधुरं धूमावलीधूसरं
ध्यायेत् पाणिचतुष्टयेन लसितं कृष्णाधिरूढं परम्।
तन्मध्ये करुणानिधानममलं हंसाभमीशाभिधं
पाणिभ्यामभयं वरञ्च दधतं लोकत्रयाणामपि।।२४।।

तन्मध्य इति। तस्य वायुमण्डलस्य मध्ये पवनाक्षरं यम् इति वायुबीजं ध्यायेदिति शेषः। वायुबीजं विशेषयति—**मधुरमित्यादिना।** मधुरं माधुर्यविशिष्टम् आनन्दमयमित्यर्थः।

अनाहताख्यं पद्मं तन्मुनिभिः परिकीर्त्यते।
आनन्दसदनं तत्तु पुरुषाधिष्ठितं परम्॥

इति तन्त्रसारवचनात्। धूमावलीधूसरमिति धूमपुञ्जधूसरवर्णं पाणिचतुष्टयेन लसितं चतुर्बाहुं कृष्णाधिरूढं कृष्णसारवाहनं परं श्रेष्ठमिति विशेषणचतुष्टयं वायुबीजस्य। अत्र वायुबीजस्थित्या समानवर्णवाहनवायुदैवतस्थितिरपि पूर्ववदुन्नेया।

एवं वायुबीजस्य स्वरूपं निरूप्य तदन्तरीश्वरावस्थितिमाह—**तन्मध्य इति।** तन्मध्ये वायुबीजमध्ये ईशाभिधम् ईश्वराख्यं शिवं चिन्तयेदित्यर्थः।

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।

इत्यादि ईश्वराख्यस्याऽनाहतपद्माधिष्ठातृत्वावधारणात्। ईशं विशेषयति—**हंसाभमित्यादिना।** हंसाभं शुक्लवर्णं तथा पाणिभ्यां लोकत्रयाणामपि अभयं वरञ्च दधतं विदधानमित्यर्थः।

तथा चायमस्य निष्कर्षः—प्रागुक्तवायुमण्डलान्तर्धूमधूम्रं कृष्णसारवाहनं चतुर्भुजं वायुबीजम्। तदन्तर्वराभयकरं शुक्लवर्णं करुणामयम् ईश्वराभिधानं शिवं ध्यायेदिति।

इस चक्र में धूम्रवर्ण के पवनाक्षर अर्थात् वायुबीज 'यं' का ध्यान करना चाहिये। वायुबीज की चार भुजायें हैं तथा कृष्णसार मृग उसका वाहन है। वायुबीज के अंक में हंस के समान धवल वर्ण वाले 'ईश्वर'-संज्ञक शिव प्रतिष्ठित हैं। वे करुणानिधान हैं तथा वर और अभयमुद्रा लसित उनके दो कर-कमल हैं॥२४॥

[एतत्पद्मकर्णिकायां काकिनीशक्तेरवस्थितिः]

अत्रास्ते खलु काकिनी नवतडित्पीता त्रिनेत्रा शुभा
सर्वालङ्करणान्विता हितकरी सम्यग् जनानां मुदा।
हस्तैः पाशकपालशोभनवरान् सम्बिभ्रती चाभयं
मत्ता पूर्णसुधारसार्द्रहृदया कङ्कालमालाधरा।।२५।।

अत्र पद्मे पद्मकर्णिकायामित्यर्थः काकिनीशक्तिरास्ते। अत्राविशेषेणोक्तावपि ईशपार्श्वे काकिन्याः स्थितिरवधेया रुद्रजामलोत्तरखण्डे सप्तपञ्चाशत्तमपटले—

ईश्वरं योगिनामीशं ध्यायेद् हृत्पद्ममण्डले।

इत्यनेनेश्वरध्यानमभिधाय—

तत्पार्श्वे ध्यानमाकुर्यात् काकिनीं परमेश्वरीम्।

इत्यनेन काकिन्या ईश्वरपार्श्ववर्त्तित्वप्रतिपादनादिति ध्येयम्। सा कीदृशीत्याह—**नवेत्यादि**। **पूर्णसुधारसार्द्रहृदया**—**पूर्णः** पूर्णानन्दकरो यः सुधारसः सहस्रारान्तरालवर्त्तिशिवशक्तिसामरस्यगलितामृतरसः तेनार्द्रं हृदयं यस्यास्तथाभूता तदुक्तं रुद्रजामलोत्तरे सप्तपञ्चाशत्तमपटले—

त्रैगुण्यललितां सूक्ष्मां वराभयकराम्बुजाम्।
सुधापानरतां मत्तां परिपूर्णां कुलेश्वरीम्।। इति।

रहस्यमिदं सहस्रारव्याख्याने विशदीकरिष्यामः। स्पष्टमन्यत्।

अयमस्य निष्कर्षः—एतत्पद्मकर्णिकायां त्रिनेत्रा चतुर्भुजा पीतवर्णा शुभकारिणी नानालङ्करणकृतवेशविन्यासा आनन्देन साधकानां हितं सम्पादयन्ती पाशकपालवराभयकरा मदमत्ता सहस्रारगलितामृतरसेनार्द्रीकृतहृदया कङ्कालमालिनी काकिनीशक्तिः शोभत इति।

भगवान् ईश्वर के पार्श्व में देवी काकिनी समासीना हैं। देवी काकिनी का वर्ण नव-तडित् के समान पीला है, वे त्रिनेत्रा हैं, सभी अलंकारों से आभूषिता हैं। उनकी चार भुजाएँ हैं, जिनमें वे क्रम से पाश-कपाल धारण किये हुए हैं। शेष दो हाथों में वर और अभय मुद्राएँ हैं। कंकालमाला-धारिणी देवी काकिनी सुधापान से प्रमुदिता हैं और वे अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक जन-जन के हितों का सम्पादन करती हैं।।२५।।

[एतत्पद्मकर्णिकान्तस्त्रिकोणाकारा शक्तिर्बाणलिङ्गञ्च]

एतन्नीरजकर्णिकान्तरलसच्छक्तिस्त्रिकोणाभिधा
विद्युत्कोटिसमानकोमलवपुः सास्ते तदन्तर्गता।
बाणाख्यः शिवलिङ्गकोऽपि कनकाकाराङ्गरागोज्ज्वलो
मौलौ सूक्ष्मविभेदयुङ्मणिरिव प्रोल्लासलक्ष्म्यालयः।।२६।।

अनाहतपद्मस्यास्य कर्णिकायां त्रिकोणाकारशक्तेर्बाणाख्यलिङ्गस्य चावस्थितिमाह—**एतदित्यादिना**। एतस्य अनाहताख्यस्य नीरजस्य पद्मस्य या कर्णिका तस्या अन्तरे वायुबीजादधस्तात् लसन्ती या शक्तिः सा त्रिकोणाभिधा त्रिकोणाकारतया त्रिकोणेति नाम्ना प्रसिद्धा आस्ते। अत्र शक्तेस्त्रिकोणाकारत्वाभिधानात् त्रिकोणस्य योनिरूपतया तस्याऽधोमुखत्वमिति सूच्यते। शक्ते रूपमाह—**विद्युदिति**। विद्युत्-

कोटिसमानं कोटिकोटिविद्युत्समानतेजःपुञ्जं कोमलञ्च वपुर्यस्यास्तादृशी। तदन्तर्गता तस्य त्रिकोणस्यान्तर्गता इत्यर्थः। अत्र त्रिकोणशक्त्योरभेदेऽपि तदन्तर्गतेति पदमौपचारिकं तदभिन्नेत्यर्थः। रुद्रजामले सप्तपञ्चाशत्तमपटले—

तत्पीठध्याननिकरे त्रिकोणां परिचिन्तयेत्।
पीठशक्तिं सुवर्णाढ्यां विद्युत्कोटिसमोदयाम्।
काकिनीसदृशीं मत्तां पूर्णान्तःकरणोद्यताम्।।

इत्यनेन त्रिकोणशक्त्योरभेदाभिधानात्। यत्तु कालीचरणेन तदन्तर्गत इति पाठं बाणाख्यः शिवलिङ्गक इत्यस्य विशेषणत्वेनाङ्गीकृत्य—

त्रिकोणान्तर्बाणलिङ्गं कनकाभरणैर्युतम्।

इत्यादिवचनं स्वमतसमर्थनानुकूलमुदाहृतं तदपि त्रिकोणाकारशक्तिदक्षपार्श्वे बाणाख्यलिङ्गस्थितिपरत्वेन व्याख्येयम्, रुद्रयामलोत्तरखण्डे सप्तपञ्चाशत्तमपटले त्रिकोणशक्तिमुपक्रम्य—

तद्दक्षिणे पार्श्वभागे चिन्तयेद् बाणलिङ्गकम्।
सुवर्णशुद्धसङ्काशं निर्मलं चारुतेजसम्।
महालक्ष्मीप्रियानन्दं सर्वाकारं निरञ्जनम्।
ज्ञानयोगोदयं ब्रह्मरूपिणं बहुरूपिणम्।
प्रदीपकलिकाकारं चिन्तयेदीश्वरं शिवम्।।

इत्यनेन तद्दक्षे बाणलिङ्गस्थितेरभिधानात्। एवञ्च बाणाख्य इत्यादेरयमर्थः—निरुक्तत्रिकोणशक्तिदक्षभागे बाणाख्यः शिवलिङ्गकोऽपि आस्ते। स कीदृशः? कनकाकाराङ्गरागोज्ज्वलः कनकवदुज्ज्वलकान्तिः। तथा मौलौ मस्तके सूक्ष्मविभेदयुक् सूक्ष्मच्छिद्रयुक्तो मणिरिव, मणेरुपरि सूक्ष्मं छिद्रमिव बाणशिरसि सूक्ष्मो बिन्दुः प्रकाशत इत्यर्थः। **प्रोल्लासेति।** प्रकृष्ट उल्लासो यस्यास्तादृशी या लक्ष्मीस्तस्या आश्रयः शोभातिशयविशिष्ट इत्यर्थः। शृङ्गाररसोल्लासवानिति वा।

तथा चायमस्य निष्कर्षः—निरुक्ताऽनाहतकमलकर्णिकायां वायुबीजादधः कोटिविद्युद्दीप्ता कोमला च त्रिकोणाकारा शक्तिः, तद्दक्षिणपार्श्वे कनकोज्ज्वलकान्तिः सार्द्धचन्द्रबिन्दुशिरस्कः शोभातिशयसम्पन्नो बाणलिङ्गाख्यः शिवो वर्त्तत इति।

इस कमल की कर्णिका में अधोमुख त्रिकोण है, जिसमें शक्ति का वास है। देवी शक्ति की अत्यन्त कोमल देहयष्टि की कान्ति कोटि-कोटि विद्युत् लताओं के समान है। इस त्रिकोण के दक्षिण में शिवलिंग है, जिसे बाणलिंग कहते हैं। यह लिंग स्वर्ण के समान देदीप्यमान है। इसके शिर पर एक अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र का चिह्न है, जो भगवती लक्ष्मी का प्रिय निवासस्थान है।।२६।।

[एतदनाहतपद्मचिन्तनफलम्]

ध्यायेद् यो हृदि पङ्कजं सुरतरुं शर्वस्य पीठालयं
देवस्यानिलहीनदीपकलिकाहंसेन संशोभितम्।
भानोर्मण्डलमण्डितान्तरलसत्किञ्जल्कशोभाकरं
वाचामीश्वर ईश्वरोऽपि जगतां रक्षाविनाशक्षमः।।२७।।

अथाऽनाहतपद्मस्यावशिष्टं स्वरूपं चिन्तनफलञ्चाह—**ध्यायेदिति**। यः साधको हृदि पङ्कजमनाहताख्यं ध्यायेत्, स वाचामीश्वरः बृहस्पतितुल्यः सर्वशास्त्रार्थवेत्ता वाक्पटुश्च भवति। तथा जगतां रक्षाविनाशक्षम ईश्वरोऽपि भवति। अत्रापिशब्देन सृष्टेरपि संग्रहः, ततश्च सृष्टिस्थितिसंहारक्षमो भवतीत्यर्थः। यद्वा न केवलं वाचामीश्वरः जगतामपि ईश्वरः अधिपतिर्भवति, कीदृशः? रक्षाविनाशक्षमः। एतत्पद्मध्यानफलभूतमाधिपत्यमधिगम्य भगवत्सृष्टस्य जगतः पालनं विनाशञ्च कर्त्तुं प्रभवतीत्यर्थः। पद्मं कीदृशमित्यत आह—सुरतरुं कल्पवृक्षस्वरूपम् अभीष्टसम्पादकमित्यर्थः। तथा देवस्य द्योतनशीलस्य शर्वस्य पीठालयं निवासस्थानम्। तथा अनिलहीनदीपकलिकाहंसेन अनिलहीना निर्वाता या दीपकलिका वायुसञ्चाररहितनिष्कम्पदीपशिखा तदाकारेण हंसेन जीवात्मना संशोभितम्। निर्वातनिष्कम्पदीपशिखानिश्चलो जीवात्मा हृत्पद्मेऽस्मिन् वर्त्तत इत्यर्थः। तथा भानोर्मण्डलेन सूर्यमण्डलेन मण्डितम् अन्तरं येषां तथाभूता अत एव लसन्तः अरुणकिरणसम्पर्केण शोभाविशेषं वहन्तः ये किञ्जल्काः केशराः तेषां या शोभा तस्या आकरम् आधारभूतमित्यर्थः। रुद्रयामलोत्तरखण्डे सप्तपञ्चाशत्तमपटले अनाहतपद्मं प्रकृत्य—

एतेषां ध्यानमाकृत्य वागीशो भवति क्षणात्।
राज्यसिद्धिं तत्र नाथ चिन्तयेत्तत्प्रसिद्धये।
तत्र भानोर्मण्डलञ्च चिन्तयेत् साधकाग्रणीः।।
पद्मकिञ्जल्कमध्ये तु चिन्तयेदरुणायुतम्।
मासैकसाधनादेव योगी स्याच्छीतलाङ्कधृक्।।

इत्यादिना पद्मस्य कर्णिकान्तर्भानुमण्डलचिन्तनमुपदिश्य केशरेष्वपि सूर्यायुतचिन्तनाभिधानात् प्रकृतेऽपि केशराणां भानुमण्डलमण्डितत्वमुपपद्यत एव।

एवञ्चायमस्य निष्कर्षः—प्रागुक्तबाणलिङ्गादधो निरुक्तरूपो जीवात्मा, पद्मस्य कर्णिकान्तः सूर्यमण्डलं किञ्जल्कानामभ्यन्तरप्रदेशाश्च सौरकिरणनिकरपरिशोभिता इति।

हृदय क्षेत्रवर्ती यह चक्र कल्पवृक्ष के समान सभी मनोरथों को पूरा करने वाला तथा भगवान् शर्व (शिव) का पीठ है। निष्कम्प दीपशिखाकार जीवात्मा (हंस) का निर्वात आवास है। वायुमण्डल के ऊपर सूर्यमण्डल है तथा सूर्य की किरणों से सभी कमलदल आलोकित हैं। इस अनाहत-चक्र का इस प्रकार ध्यान करने से साधक

देवगुरु बृहस्पति के समान सभी शास्त्रों का ज्ञाता तथा संसार की रक्षा एवं विनाश करने में ईश्वर के समान सक्षम हो जाता है॥२७॥

योगीशो भवति प्रियात् प्रियतमः कान्ताकुलस्यानिशं
ज्ञानीशोऽपि कृती जितेन्द्रियगणो ध्यानावधानक्षमः।
गद्यैः पद्यपदादिभिश्च सततं काव्याम्बुधारावहो
लक्ष्मी रङ्गणदैवतं परपुरे शक्तः प्रवेष्टुं क्षणात्।।२८।।

श्लोकान्तरेण फलान्तरमाह—**योगीश इति**। यः साधकः पद्ममिदं प्रागुक्तक्रमेण चिन्तयेत् स योगीशः योगिश्रेष्ठो भवति। तथा अनिशं कान्ताकुलस्य प्रियात् प्रियतमः अतिशयेन प्रिय इत्यर्थः। ज्ञानीशः ज्ञानिनां श्रेष्ठः। अत्र योगीश-ज्ञानीशपदद्वयेन कर्मज्ञानोभयाधीशत्वं प्रदर्शितम्। अपिशब्दस्तथार्थे। कृती पण्डितः। जितेन्द्रियगणः जितः इन्द्रियगणो येन, एतेन ज्ञानोदयाद् विषयासक्तिराहित्येन बीजरूपेण स्थितानामपि वासनानां सर्वथापगमादिन्द्रियजयः सुतरामेव भवतीत्युक्तम्। तदुक्तं श्रीमद्भगवद्गीतायाम्—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते।। इति।

तथा ध्यानावधानक्षमः ध्याने ब्रह्मस्वरूपचिन्तने यत् अवधानं सुतरामभिनिवेशस्तत्र क्षमो भवति। काव्याम्बुधारावहः निरन्तरकाव्यामृतरसास्वादनविदग्धः। तथा लक्ष्मी रङ्गणदैवतं लक्ष्म्या रङ्गणस्य क्रीडनस्य दैवतं देवता नारायणस्तत्सदृश इत्यर्थः। वृन्दारका दैवतानि पुंसि वेत्यमरः। दन्त्यनकारवत् पाठे तु तस्य लक्ष्मीः अङ्गनदैवतं भवतीति। स परपुरे परशरीरे क्षणात् प्रवेष्टुं शक्तः। एतच्चिन्तनेन परकायप्रवेशयोग्यतां लभत इत्यर्थः।

इस अनाहत चक्र का इस तरह ध्यान करने से साधक योगियों, ज्ञानियों और जितेन्द्रियों में सर्वश्रेष्ठ तथा महिला वर्ग का अत्यन्त एवं अतिशय प्रियपात्र बन जाता है। ध्यान, अवधान और क्षमा उसकी विशिष्टताएँ बन जाती हैं। गद्य-पद्य तथा श्लोक आदि उसके मुख से धाराप्रवाह निःसृत होते हैं अर्थात् भाषा एवं वाणी पर उसका नैसर्गिक अधिकार हो जाता है। इतना ही नहीं, योग की परम-सिद्धि—परकाय सिद्धि-प्राप्त वह साधक उस देवता के समान हो जाता है, जिससे देवी लक्ष्मी क्रीड़ा करती हैं॥२८॥

अनाहत चक्र

अनाहत चक्र का स्वरूप बन्धूकपुष्प के समान लाल है। इस चक्र में बारह पटल हैं, जिन पर सिन्दूर वर्ण के 'क'कार से 'ढ'कार-पर्यन्त बारह अक्षर अंकित हैं। इस चक्र की कर्णिका में धूम्रवर्ण का षट्कोणाकार वायुमण्डल है। वायुमण्डल के ऊपर सूर्यमण्डल है। वायुमण्डल में कृष्णमृग पर आरूढ़ वायुबीज (यं) अंकित

है। वायुबीज (यं) में शक्तिस्वरूप अधोमुखी त्रिकोण है। इस त्रिकोण पर बाणलिंग के रूप में भगवान् शिव प्रतिष्ठित हैं। स्वर्णिम वर्ण के बाण-लिंग के सिर पर अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र का चिह्न है। इस वायुबीज (यं) के अंक में त्रिनेत्रधारी ईश्वर बैठे हुए हैं। उनके पार्श्व में लाल कमल के आसन पर चतुर्भुजा देवी काकिनी बैटी हुई हैं। उनके दो हाथों में पाश और कपाल हैं तथा दो हाथों में वर और अभय मुद्राएँ हैं। बाण-लिंग के नीचे निष्कम्प दीपशिखावत् हंस अर्थात् जीवात्मा है। महानिर्वाण तन्त्र (५/१२९-१३०) के अनुसार इस कमल के नीचे एक अष्टदल कमल है, जिसमें कल्पवृक्ष के नीचे विभिन्न पताकाओं आदि से सज्जित वेदी है, जिस पर इष्टदेवता का मानसिक अर्चन किया जाता है।

अनाहत

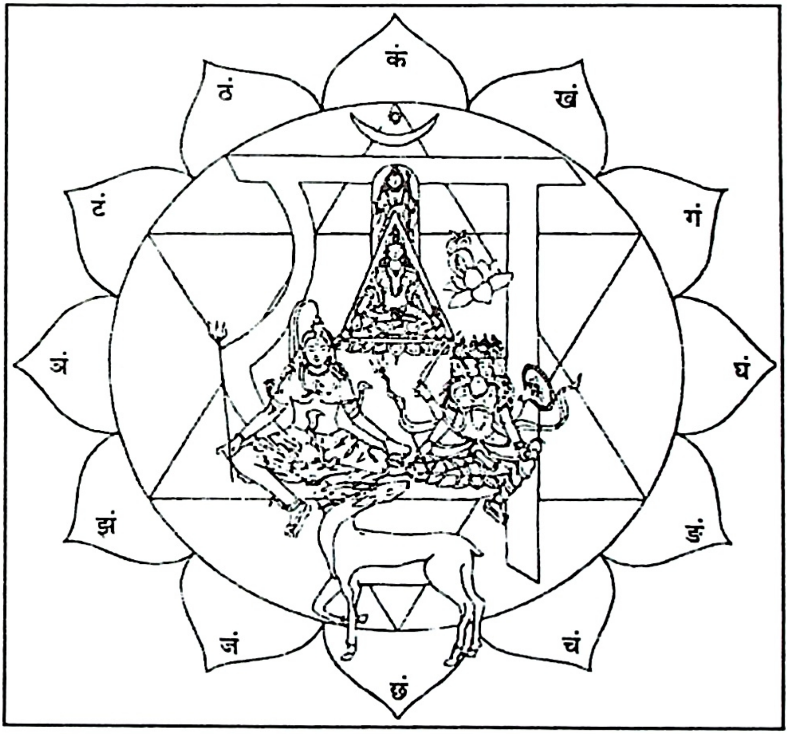

[विशुद्धपद्मं तत्कर्णिकायां नभोमण्डलस्थितिश्च]

विशुद्धाख्यं कण्ठे सरसिजममलं धूमधूम्रावभास
स्वरैः सर्वैः शोणैर्दलपरिलसितैर्दीपितं दीप्तबुद्धेः।
समास्ते पूर्णेन्दुप्रथिततमनभोमण्डलं वृत्तरूपं
हिमच्छायानागोपरि लसिततनोः शुक्लवर्णाम्बरस्य।।२९।।

एवमनाहतपद्मं निरूप्य विशुद्धाख्यं पद्ममाह—**विशुद्धेति**। पद्मस्यास्य विशुद्धसंज्ञाहेतुमाह शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां चतुर्थोल्लासे—

विशुद्धिस्तन्यते यस्माज्जीवस्य हंसलोकनात्।
विशुद्धपद्ममाख्यातमाकाशाख्यं महाद्भुतम्।। इति।

कण्ठे कण्ठप्रदेशे विशुद्धाख्यं विशुद्धाभिधानं सरसिजं पद्मं समास्ते। सरसिजं विशेषयति—**अमलमित्यादिना**। अमलं मलरहितम्। तथा धूमधूम्रावभासं धूमवत् धूम्रः अवभासो दीप्तिर्यस्य तथाभूतम्। एतेन धूम्रवर्णमिदं पद्ममित्युक्तं भवति। पत्रेषु वर्णानां संस्थितिं विशेषणप्रदर्शनमुखेनाह—**स्वरैरिति**। दलपरिलसितैः दलेषु षोडशसु परिलसितैः शोभमानैः शोणैः रक्तवर्णैः सर्वैः स्वरैः अकारादिविसर्गान्तषोडशस्वरैरित्यर्थः दीप्तबुद्धेः अनवरतयोगाभ्यासविशुद्धमतेः साधकस्य सम्बन्धे दीपितम्। निरन्तरयोगानुशीलननिरस्तमलाः समुन्मीलितज्ञानप्रकर्षाः साधका एव रहस्यमिदमवगन्तुं प्रभवेयुरित्यर्थः।

अत्र दलपरिलसितैरित्येतावन्मात्रेणानुक्तायामपि दलसंख्यायां स्वरैः सर्वैरित्यनेन पत्रेषु षोडशस्वराणां स्थितेरभिधानाद् दलानामपि षोडशसंख्याकत्वमवगम्यते। तेनैकैकस्मिन् दले एकमेकं स्वरं चिन्तयेदित्यर्थः। व्यक्तमाह शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां चतुर्थोल्लासे—

कण्ठदेशे विशुद्धाख्यं धूम्रवर्णं मनोहरम्।
अकारादिस्वरोपेतैर्दलैः षोडशभिर्युतम्।। इति।

कर्णिकायां नभोमण्डलस्थितिमाह—**पूर्णेति**। पूर्णेन्दुप्रथिततमनभोमण्डलं पूर्णचन्द्रसदृशभास्वरशुक्लवर्णं नभोमण्डलं समास्ते। मण्डलस्याकारमाह—**वृत्तरूपमिति**। वृत्ताकारमित्यर्थः।

परश्लोके मनोरङ्के इत्यनेनाभिधास्यमानं मनुं विशेषयति—**हिमेत्यादिना**। मनोः कीदृशस्य, हिमच्छायायुतो यो नागः श्वेतवर्णहस्ती तस्य उपरि लसिता तनुर्यस्य तादृशस्य, तथा शुक्लाम्बरस्य शुक्लवर्णपरीधानस्येति।

सुषुम्णा नाड़ी में अनाहत चक्र के ऊपर कण्ठक्षेत्र में धूम्र वर्ण का निर्मल विशुद्ध चक्र है। इस चक्र में सोलह (१६) कमलदल हैं, जिन पर एक-एक कर 'अ'कारादि स्वर वर्ण स्थित हैं। इन अक्षरों का रंग लाल है। उस चक्र में पूर्ण चन्द्राकार (अर्थात् गोलाकार) आकाशमण्डल है। आकाशमण्डल में आकाशबीज (हं) अंकित है। इस आकाशबीज के अंक में भगवान् सदाशिव आसीन हैं।।२९।।

[तत्र सदाशिवस्थितिः]

भुजैः पाशाभीत्यङ्कुशवरलसितैः शोभिताङ्गस्य तस्य
मनोरङ्के नित्यं निवसति गिरिजाभिन्नदेहो हिमाभः।

त्रिनेत्रः पञ्चास्यो ललितदशभुजो व्याघ्रचर्माम्बराढ्यः
सदापूर्वो देवः शिव इति च समाख्यानसिद्धिप्रसिद्धः।।३०।।

भुजैरिति। पाशाभीत्यङ्कुशवरलसितैर्भुजैः चतुर्भिरिति शेषः। अत्र पाशादीनां चतुर्णामभिधानाद् भुजानामपि चतुःसंख्याकत्वं बोध्यम्। तथाच निरुक्तलक्षणैर्भुजैः शोभितमङ्गं यस्य तादृशस्य मनोः 'हं' इत्यात्मकस्य नभोबीजस्य अङ्के क्रोडे सदापूर्वो देवः शिवः सदाशिवो देवः इत्यस्य समाख्यानस्य या सिद्धिस्तया प्रसिद्धः नित्यं कालाद्यनवच्छिन्नं यथा स्यात्तथा निवसति। अत्र नभोबीजस्थितेरभिधानान्नभसोऽपि स्थितिः पूर्ववदुन्नेया। सदाशिवं विशेषयति—**त्रिनेत्र इत्यादिना**। **गिरिजाभिन्नदेहः** गिरिजया भिन्नः सम्भिन्नः देहो यस्य सः अर्द्धनारीश्वर इत्यर्थः। सदाशिवस्य दशभुजत्वं वृषवाहनत्वञ्चाह महानिर्वाणतन्त्रे चतुर्दशपटले—

गङ्गाधरं दशभुजं शशिशोभितमस्तकम्।
हिमकुन्देन्दुसङ्काशं वृषासनविराजितम्।

इत्यनेन।

श्वेत वर्ण के गज पर सवार इस आकाशबीज की चार भुजाएँ हैं। इनमें से दो भुजाओं में पाश और अंकुश हैं तथा शेष दो भुजाओं में अभय एवं वर मुद्राएँ हैं। इस आकाशबीज में गिरिजा से अभिन्न अर्थात् अर्धनारीश्वर स्वरूप भगवान् सदाशिव विराजमान हैं। उनके तीन नेत्र, पाँच मुख और दस भुजाएँ हैं। वे बाघाम्बरधारी हैं।।३०।।

[एतत्पद्मकर्णिकायां शाकिनीशक्तेश्चन्द्रमण्डलस्य चावस्थितिः]

सुधासिन्धोः शुद्धा निवसति कमले शाकिनी पीतवस्त्रा
शरं चापं पाशं सृणिमपि दधती हस्तपद्मैश्चतुर्भिः।
सुधांशोः सम्पूर्णं शशपरिरहितं मण्डलं कर्णिकायां
महामोक्षद्वारं श्रियमभि मतशीलस्य शुद्धेन्द्रियस्य।।३१।।

सुधेति। अस्मिन् कमले कर्णिकायां शाकिन्याख्या शक्तिर्निवसति। सा च सुधासिन्धोः सुधासमुद्रादपि शुद्धा शुक्लवर्णा। अनेनामृतादपि साधकानां तृप्तिसम्पादिकेत्यपि सूच्यते। कर्णिकायां चन्द्रमण्डलस्थितिमाह—**सुधांशोरिति**। कर्णिकायां सुधांशोश्चन्द्रस्य शशपरिरहितं निष्कलङ्कं सम्पूर्णं मण्डलं विलसतीत्यर्थः। एवञ्च कर्णिकायां नभोमण्डलचन्द्रमण्डलयोरुभयोः स्थितेरभिधानात् कर्णिकान्तर्नभोमण्डलमध्ये चन्द्रमण्डलं तत्र नभोबीजं तत्रार्द्धनारीश्वरः सदाशिवः शाकिनीशक्तिश्चेत्यवधेयम्। मण्डलं विशेषयति—**महेति**। श्रियं योगलक्ष्मीमभि लक्षीकृत्य मतं प्रशस्तं शीलं यस्य तादृशस्य योगाभ्यासपरायणस्येत्यर्थः। अत एव शुद्धेन्द्रियस्य योगाभ्यासविशुद्धमनसः साधकस्य महामोक्षद्वारम् निर्वाणमुक्तिहेतुभूतमित्यर्थः।

अत्र पद्मकर्णिकायां वृत्तरूपनभोमण्डलान्तर्गतनभोबीजान्तः सदाशिवस्थितिमाह। निर्वाणतन्त्रेऽष्टमपटले तु—

पद्ममध्ये वराटे च जनर्लोकं सुसुन्दरम्।
महामोहान्ध्यशमनं तद्बाह्ये चन्द्रमण्डलम्।
तथा— बीजकोषे मणिद्वीपे षट्कोणचक्रमुत्तमम्।
यन्त्रमध्ये च वृत्ताभं महासिंहासनं ततः।
तस्योपरि सदा गौरी दक्षभागे सदाशिवः।
त्रिनेत्रः पञ्चवक्त्रश्च प्रतिवक्त्रे त्रिलोचनः।
विभूतिभूषिताङ्गश्च रजताचलसोदरः।
व्याघ्रचर्मधरो देवो मणिमालाविभूषितः।
तथा— सर्वानन्दकरो देवो अर्द्धनारीश्वरो विभुः।

इत्यादिना बीजकोषबाह्ये चन्द्रमण्डलं बीजकोषान्तः षट्कोणचक्रं तन्मध्ये वृत्तं तदन्तः सिंहासनं तत्रार्द्धनारीश्वरः सदाशिव इति क्रमो दृश्यते।

इस चक्र में सुधा-सागर से भी अधिक शुद्ध देवी शाकिनी का वास है, जिनकी चार भुजाएँ शर, चाप, पाश और सृणि से सुशोभित हैं। चक्र की कर्णिका में आकाशमण्डल के ऊपर शशांक-रहित अर्थात् निष्कलंक एवं सुधापूर्ण चन्द्रमण्डल स्थित है॥३१॥

विमर्श—इस चक्र के मण्डल आदि क्रम को और भी स्पष्ट करते हुए तन्त्रान्तर में कहा गया है कि चक्र की कर्णिका के मध्य में नभोमण्डल है। नभोमण्डल में त्रिकोण है और इस त्रिकोण में चन्द्र-मण्डल है और चन्द्र-मण्डल में श्वेत गजारूढ़ आकाशबीज (हं) है। आकाशबीज में श्वेत वसनधारी गिरिजा-अभिन्न भगवान् सदाशिव प्रतिष्ठित हैं।

योग-लक्ष्मी के अभिलाषी एवं शुद्ध चित्त तथा जितेन्द्रिय साधकों के लिये यह चक्र मोक्ष का द्वार है॥३१॥

[एतत्पद्मचिन्तनफलम्]

इह स्थाने चित्तं निरवधि विनिधायात्मसम्पूर्णयोगः
कविर्वाग्मी ज्ञानी स भवति नितरां साधकः शान्तचेताः।
त्रिलोकानां दर्शी सकलहितकरो रोगशोकप्रमुक्त-
श्चिरञ्जीवी जीवी निरवधिविपदां ध्वंसहंसप्रकाशः॥३२॥

इहेति। आत्मसम्पूर्णयोगः आत्मनि सम्पूर्णो योगो यस्य सः। स्पष्टमन्यत्।

आत्मा की नित्यता और व्यापकता को जानने वाला साधक इस चक्र का ध्यान करने से ऋषि (कवि), ज्ञानी, वाग्मी हो जाता है। मनोवृत्तियों का शमन हो

जाने के कारण सर्वथा शान्तचित्त साधक त्रिकालदर्शी हो जाता है। उसे न तो कोई रोग होता है और न कोई शोक होता है। हंसावस्था को प्राप्त ऐसा साधक समस्त विपदाओं को ध्वंस करने में समर्थ होता है॥३२॥

विमर्श—वेद में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को कवि कहा गया है। यहाँ 'कवि' से अभिप्राय मन्त्रों का दर्शन करने में समर्थ ऋषि से है। 'वाग्मी' का अभिप्राय बहुत बोलने वाला वाचाल नहीं; अपितु वाक्सिद्धि-प्राप्त साधक है।

'हंस' से तात्पर्य अन्तरात्मा से है, जिसका वास सहस्रार की कर्णिका में माना गया है। संकटों और विपत्तियों की उत्पत्ति शुभाशुभ कर्मों से होती है। इन समस्त आपदाओं का शमन करने का सामर्थ्य प्राप्त करके आत्मा हंसावस्था प्राप्त कर लेती है।

'हंस' का अर्थ सूर्य भी है और अज्ञान को अन्धकार माना गया है। अज्ञान-जनित अन्धकार को सूर्य का प्रकाश समाप्त कर देता है। इस चक्र की साधना करने वाला साधक अज्ञान-अन्धकार-जनित सभी विपत्तियों को ध्वंस करने में सूर्य के समान सामर्थ्यवान हो जाता है।

विशुद्ध-चक्र

सुषुम्णा नाड़ी में कण्ठ के मूल में विशुद्ध-चक्र है। इसमें धूम्र वर्ण के १६ पटल हैं, जिन पर बिन्दुयुक्त 'अ'कार आदि १६ स्वर अंकित हैं। इनका वर्ण लाल है। इसकी कर्णिका में वृत्ताकार श्वेत नभोमण्डल है। उसके अन्दर चन्द्रमण्डल और चन्द्रमण्डल में श्वेत गजारूढ़ वायुबीज (यं) प्रतिष्ठित है। वायुबीज के चार हाथ हैं। इनमें से दो हाथों में पाश और अंकुश तथा शेष दो हाथों में वर और अभय मुद्राएँ हैं। वायुबीज 'यं' के अंक में गिरिजा-अभिन्न अर्थात् अर्धनारीश्वर स्वरूप में धवल वर्ण वाले भगवान् सदाशिव विराजमान हैं। बाघाम्बरधारी भगवान् सदाशिव के पाँच मुख और तीन नेत्र हैं।

तन्त्रान्तर के अनुसार शिवपक्ष में भगवान् सदाशिव का वर्ण धवल श्वेत तथा गौरी पक्ष में सुनहरा है। उनके पाँच मुख हैं तथा प्रत्येक मुख में तीन नेत्र हैं। भुजाएँ दस हैं, जिनमें वे त्रिशूल, टंक, खड्ग, वज्र, दहन (अग्नि), सर्प, घण्टा और अंकुश धारण किये हुए हैं। शेष दो हाथों में अभय और वर मुद्राएँ हैं। शरीर पर भस्म का लेप और गले में सर्प लपेटे हैं।

चन्द्रमण्डल में ही चक्र की अधिष्ठात्री देवी शाकिनी निवास करती हैं। उनका वर्ण अमृत के समान श्वेत है। वे चतुर्भुजा हैं। दो हाथों में पाश एवं अंकुश तथा दो हाथों में वर और अभय मुद्राएँ हैं।

विशुद्ध चक्र

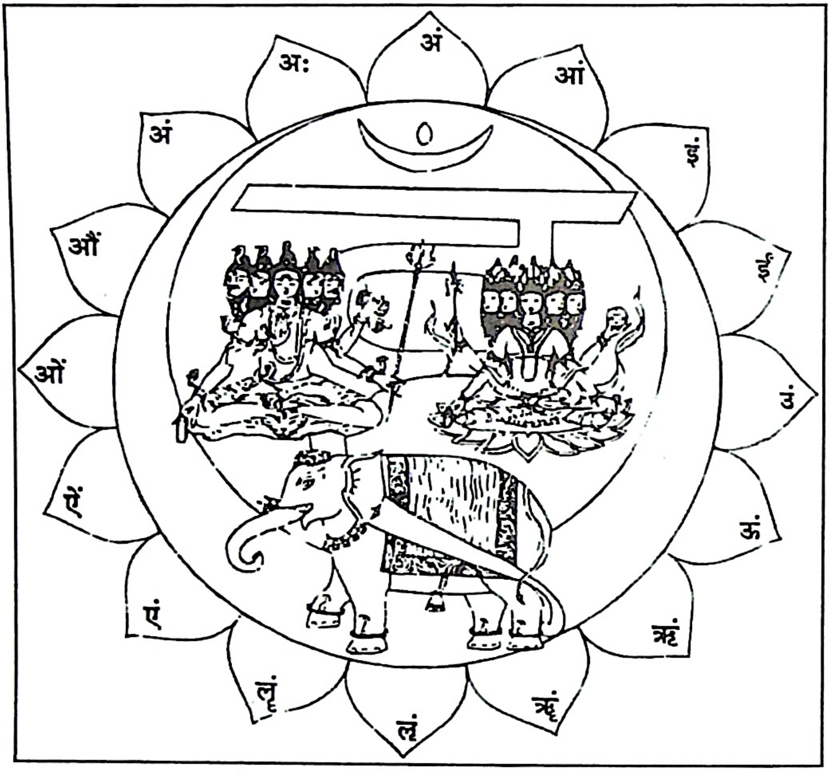

सर जान वुडरफ के अनुसार षट्चक्र-निरूपण के एक अन्य भाष्यकार बलदेव के संग्रह में विशुद्ध चक्र के क्रम में निम्नलिखित एक श्लोक अधिक है। षट्चक्र-निरूपण के दो अन्य भाष्यकारों—कालीचरण और शंकर ने इस श्लोक को न तो अपने संग्रह में स्थान दिया है और न ही उसकी व्याख्या की है। यह श्लोक 'दि सर्पेण्ट पावर' के पृष्ठ ३९३ में श्लोक संख्या ३१ए के रूप में उद्धृत है—

इह स्थाने चित्तं निरवधिनिधायत्तपवनो
यदि क्रुद्धो भवति च लयति समस्तं त्रिभुवनम् ।
न च ब्रह्मा न हरिर्हरो नैव खमणि-
स्तदीयं सामर्थ्यं शमयितुमलं नापि गणपः।।

कुम्भक प्राणायाम-पूर्वक इस चक्र का निरन्तर ध्यान करने से साधक को वह सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है कि यदि वह चाहे तो क्रोधित होकर तीनों लोकों को हिला सकता है तथा ब्रह्मा-विष्णु-शिव-सूर्य (खमणि) तथा गणेश भी उसके सामर्थ्य का शमन नहीं कर सकते।

मूलतः यह श्लोक कुछ पाठभेद के साथ त्रिपुरासारसमुच्चय (पञ्चम पटल) का २६वाँ श्लोक है। त्रिपुरासारसमुच्चय में इसकी पहिली पंक्ति है—'इह स्थाने चित्तं सततमवधायात्तमनसः'। प्रस्तुत ग्रन्थ में यह श्लोक नहीं है।

[भ्रूमध्ये द्विदलमाज्ञापद्मं तत्कर्णिकायां हाकिनीशक्तेरवस्थितिश्च]

आज्ञाख्यानाम्बुजं तद्धिमकरसदृशं ध्यानधामप्रकाशं
हक्षाभ्यां वै कलाभ्यां प्रविलसितवपुर्नेत्रपत्रं सुशुभ्रम्।
तन्मध्ये हाकिनी सा शशिसमधवला वक्त्रषट्कं दधाना
विद्यां मुद्रां कपालं डमरुजपवटीं बिभ्रती शुभ्रचित्ता।।३३।।

एवं विशुद्धचक्रमभिधायाज्ञाचक्रमाह—**आज्ञेति**। तत् प्रसिद्धमाज्ञेत्याख्यानं यस्य तथाभूतं नेत्रपत्रं द्विदलम् अम्बुजं वर्त्तत इति शेषः। अस्याज्ञानामबीजमाह शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां चतुर्थोल्लासे—

आज्ञासंक्रमणन्तत्र गुरोराज्ञेति विश्रुतम्। इति।

अत्र विशेषतोऽनभिधानेऽपि एतदम्बुजस्यावस्थितिर्भ्रूमध्य इति ज्ञेयम्। तदुक्तं शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां चतुर्थोल्लासे—

आज्ञा नाम भ्रुवोर्मध्ये चक्रञ्च द्विदलं परम्। इति।

हिमकरसदृशं शुक्लवर्णम्। तथा ध्यानस्य धाम्ना प्रकाशो यस्य तथाभूतम्। तथा कलाभ्यां हक्षाभ्यां कलाशब्देन देवतोच्यते। अत्र कलाया बीजभूते वर्णे कलात्वोपचारः। तथाच तत्तदुपास्यदेवताकारणीभूताभ्यां हकारक्षकारवर्णाभ्यां प्रविलसिते वपुषी ययोस्तथाभूते नेत्रपत्रे यस्य तादृशम् अत एव सुशुभ्रम् अतिशयेन शुभ्रमित्यर्थः। हिमकरसदृशमित्यनेन पद्मस्य स्वतः शुभ्रत्वम्, सुशुभ्रमित्यनेन च शुभ्रवर्णहकारक्षकारसंयोगात् शुभ्रत्वस्यातिशय्यमिति सूचितम्।

एतत्कर्णिकायां हाकिनीशक्तेरवस्थितिमाह—**तन्मध्य इति**। तस्य पद्मस्य मध्ये कर्णिकायां सा प्रसिद्धा हाकिनीशक्तिर्विलसतीत्यर्थः। तां विशेषयति—**शशीत्यादिना**। शशिसमधवला एतेनास्याः शीतलकिरणत्वं धावल्यञ्चोक्तम्। **विद्यामिति**। हस्ते विद्या मुद्रादिकं दधती। जपवटीं जपमालाम्। तथा शुभ्रचित्ता शुभ्रं चित्तं यस्याः सा।

तथाच भ्रुवोर्मध्य आज्ञापद्मं शुक्लवर्णं द्विदलं दलयोर्हक्षरूपवर्णद्वयमतिशुभ्रम्। पद्मस्य कर्णिकायां हाकिनीशक्तिः षड्वक्त्रा शुक्लवर्णा विद्यावराभयकपालडमरुजपवटीसमलङ्कृतषड्भुजा विराजत इति फलितम्।

विशुद्ध चक्र के बाद सात श्लोकों में आज्ञाचक्र का निरूपण प्रारम्भ किया जा रहा है। चूँकि गुरुदेव का आदेश इस चक्र में प्राप्त होता है, अतः इसे आज्ञाचक्र कहते हैं।

यह सुप्रसिद्ध आज्ञाचक्र दोनों भौहों के मध्य में स्थित है। चन्द्रमा के समान शुभ्र एवं श्वेत इस चक्र में दो कमलदल हैं। श्वेत वर्ण के 'ह' और 'क्ष' इस चक्र

के दोनों पक्षों में दमक रहे हैं, जिससे यह चक्र और भी दीप्यमान है। इस चक्र में चन्द्रमा के समान धवल वर्णा षण्मुखी हाकिनी शक्ति विराजिता हैं। उनके छः हाथ हैं। इन छः हाथों में विद्या (मतान्तर से पुस्तक) वर एवं अभय मुद्रायें तथा कपाल, डमरू और अक्षमाला है। वे अत्यन्त शुद्ध चित्ता है।।३३।।

[आज्ञापद्मकर्णिकायां मनसः, कर्णिकान्तस्त्रिकोणे इतराख्यशिवस्य प्रणवस्य च स्थितिः]

एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धं
योनौ तत्कर्णिकायां त्वितरशिवपदं लिङ्गचिह्नप्रकाशम्।
विद्युन्मालाविलासं परमकुलपदं ब्रह्मसूत्रप्रबोधं
वेदानामादिबीजं स्थिरतरहृदयश्चिन्तयेत्तत् क्रमेण।।३४।।

एतदिति। एतत्पद्मस्य आज्ञाख्यस्य अन्तराले कर्णिकायां मनो निवसति। मनः कीदृशमित्याह—सूक्ष्मरूपमतीन्द्रियम्। अतीन्द्रियञ्चेत्तस्यास्तित्वे किं मानमित्यत आह—**प्रसिद्धमिति**। सर्वशास्त्रप्रसिद्धमित्यर्थः। एतत् कर्णिकान्तस्त्रिकोणे इतराख्यशिवलिङ्गस्थितिमाह—**योनाविति**। तत्कर्णिकायां योनौ योन्याकारत्रिकोणे इतरशिवपदं इतराख्यशिवरूपं वस्तु वर्त्तते इतरशिवस्याकारं निरूपयति—**लिङ्गेति**। लिङ्गाकारमित्यर्थः।

अत्र स्थितं प्रणवं निरूपयति—**विद्युदिति**। इतः प्रभृति सर्वाण्येवादिबीजमित्यस्य विशेषणानि। विद्युन्मालाविलासं विद्युच्छ्रेणीसदृशकान्तिविशिष्टं, परमकुलपदम् अत्र कुलशब्देन त्रिकोणाकारशक्तिरुच्यते। तथाच परमं कुलं शक्त्यात्मकं त्रिकोणं पदं स्थानं यस्य तथाभूतम् एतेन निरुक्तेतरशिवोद्‌र्ध्वे त्रिकोणे वेदादिबीजस्य स्थितिरभिहिता। तथा ब्रह्मसूत्रप्रबोधं ब्रह्मसूत्रस्य ब्रह्मनाड्याः प्रबोधो यस्मात् तत्। अस्यैव प्रणवस्य तेजसा ब्रह्मनाड्यन्तःस्थितानां ज्ञानमुपजायत इत्यर्थः। स्थिरतरहृदयः साधकः एवंविधं वेदानामादिबीजं प्रणवं तत् निरुक्तं हाकिन्यादिकं क्रमेण चिन्तयेदित्यर्थः।

अत्र यद्यपि तन्मध्ये चित्रिणी सा प्रणवविलसितेत्यादितृतीयश्लोके प्रणवविलसितेत्यनेन चित्रिण्या एव प्रणवविलसितत्त्वमुक्तं तथापि आज्ञाचक्रस्थितेन प्रणवेन चित्रिण्यन्तःस्थिताया ब्रह्मनाड्या अपि प्रणवविलसितत्वमुन्नेयम् अतो ब्रह्मसूत्रप्रबोधमिति सुष्ठूपपद्यते। न च ब्रह्मसूत्रपदमत्र चित्रिणीनाडीबोधकमिति वाच्यं तत्साधकप्रमाणाभावात्।

तथाच तस्याज्ञानाम्नः पद्मस्य कर्णिकायां मनः, कर्णिकान्तस्त्रिकोणे इतराख्यं शिवलिङ्गं, तदूद्‌र्ध्वत्रिकोणे विद्युन्मालासदृशदीप्तिशाली प्रणवो वर्त्तते इति फलितम्।

लोक और शास्त्र में परम्परा से प्रख्यात 'मन' का इस चक्र में सूक्ष्म रूप से निवास है। चक्र की कर्णिका में योन्याकार त्रिकोण है। इस त्रिकोण में इतर शिव अपने लिंगरूप में विराजित हैं। यह इतर शिवलिंग बिजली की कौंध के समान देदीप्यमान और जाज्वल्यमान है। अपनी आभा से ब्रह्मसूत्र को प्रकाशित करके

दृश्यमान बनाने वाला वेदों का प्रथम बीज प्रणव (ॐ), जो परम शक्ति का धाम है, इसी चक्र में स्थित है। साधक को स्थिरचित्त होकर यथानिर्दिष्ट क्रम से इन सबका ध्यान करना चाहिए।।३४।।

विमर्श—'कुल' का अर्थ है—शक्ति। 'परम' का अर्थ है—सर्वश्रेष्ठ और 'वेद' का अर्थ है—धाम-निवास आदि। 'परमकुलपदम्' का अर्थ हुआ—शक्ति का सर्वश्रेष्ठ धाम। 'वेदानां आदिबीजम्'—वेदों का आदिबीज अर्थात् प्रणव—'ॐ'कार। 'ब्रह्मसूत्र' से तात्पर्य है, चित्रिणी नाड़ी, जिसे प्रणव के प्रकाश से आलोकित बताया गया है। (देखें—तृतीय श्लोक) यथाक्रम से ध्यान किया जाय अर्थात् चक्र की कर्णिका में हाकिनी, फिर त्रिकोण, इतरलिंग, प्रणव और सबसे अन्त में प्रणवः 'ॐ'।

[एतच्चिन्तनफलम्]

ध्यानात्मा साधकेन्द्रो भवति परपुरे शीघ्रगामी मुनीन्द्रः
सर्वज्ञः सर्वदर्शी सकलहितकरः सर्वशास्त्रार्थवेत्ता।
अद्वैताचारवादी विलसति परमापूर्वसिद्धिप्रसिद्धो
दीर्घायुः सोऽपि कर्त्ता त्रिभुवनभवने संहृतौ पालने च।।३५।।

एतच्चिन्तनफलमाह—**ध्यानात्मेति**। ध्यानात्मा एतत्पद्मध्याननिष्ठः साधकेन्द्रः साधकश्रेष्ठः परपुरे शीघ्रगामी भवति, ध्यानप्रभावेण तूर्णं परकायप्रवेशक्षमो भवतीत्यर्थः। तथा मुनीन्द्रो मननशीलानां श्रेष्ठः सर्वज्ञः सर्ववेत्ता सर्वदर्शी एकत्र स्थितोऽपि करतलकलितामलकफलवदखिलजगदवलोकनक्षम इत्यर्थः, सकलहित-करः कायमनोवाग्भिः सर्वेषां हितसाधकः सर्वशास्त्रार्थवेत्ता च भवतीत्यर्थः। अद्वैताचारवादी सर्वं खल्विदं ब्रह्मेत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यं यद् ब्रह्माद्वैतज्ञानं तत्र य आचारः जीवात्मपरमात्मनोरभेदचिन्तनादिरूपो योगस्तं वदतीति। स्वयं ब्रह्माद्वैतमनुभूय तस्यैव पारमार्थिकतां प्रमाणयतीत्यर्थः। परमा प्रकृष्टा अपूर्वा इतरयोगिभिः पूर्वमनधिगता या सिद्धिस्तया प्रसिद्धः तथा दीर्घायुस्त्रिभुवनभवने त्रिभुवनस्य सृष्टौ संहारे पालने च कर्त्ता भवतीत्यर्थः।

इस श्लोक में इस चक्र के ध्यान के फल बताये गये हैं। उपर्युक्त क्रम से इस चक्र का ध्यान करने वाला साधक अपनी इच्छा से जब चाहे दूसरे शरीर में प्रवेश कर सकता है। परम, अपूर्व सिद्धि-प्राप्त के रूप में प्रसिद्ध ऐसा साधक मुनियों अर्थात् मननशीलों में श्रेष्ठ, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सकल-हितकर, सर्वशास्त्रवेत्ता, अद्वैताचार-वादी एवं दीर्घायु होता है। संसार की सृष्टि-पालन और संहारकर्ता बन जाता है।।३५।।

विमर्श—मायाप्रधान शुद्धाशुद्ध वर्ग के कला, विद्या (अविद्या), राग, काल एवं नियति संज्ञक पाँच तत्त्वों के कञ्चुक में फँसकर सर्वसक्षम, सर्वज्ञ, नित्य तृप्त, सर्वकालिक (नित्य) एवं सर्वव्यापक शिवस्वरूप आत्मा अल्प सक्षम, अल्पज्ञ,

अतृप्त पुरुषरूप प्राप्त कर आणव-मायिक एवं कार्मिक मलों में लिप्त होकर सांसारिक दुःख भोगने लगता है। इन कंचुकों से मुक्त एवं निर्मल होकर अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-निर्मल एवं अद्वय आत्मारूप को प्राप्त करना साधना का लक्ष्य है तथा मानवशरीर में यह चक्र गुरुदेवरूपी परमशिव के सान्निध्य एवं कृपाप्राप्ति का स्थल है। अतः यथानिर्दिष्ट विधि से इस चक्र का सतत ध्यान करने से जो विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, उनसे उपर्युक्त कंचुकों और मलों का निरसन होने लगता है। यथा—सर्वज्ञता एवं सर्वशास्त्रवेत्तृता से अल्पज्ञता (कला) का, सर्वदर्शिता अर्थात् त्रिकाल-दर्शन-सिद्धि से कालबद्धता का, परकायप्रवेश से अल्प क्षमता का, सर्वहितकारिता से अतृप्तता का तथा अद्वैताचारिता से एक ही अद्वैत पदार्थ के प्रति द्वैत बुद्धिरूप मायिक मल का निरसन होने लगता है।

अद्वैताचारवादी इस परिदृश्यमान् चराचर जगत् में नाना रूपों में एक ही निराकार अद्वय ब्रह्मरूप सत्ता का प्रकटन हो रहा है; अतः पारमार्थिक दृष्टि से वह (आत्मा) इन सबसे सर्वथा अभिन्न है, फिर भी ज्ञानशक्ति में विकार एवं संकोच के कारण स्वयं को इन सबसे भिन्न एवं पृथक् समझना द्वैत-बुद्धि है। इस द्वैत बुद्धि का निरसन तथा ब्रह्मसहित सभी आत्माओं के साथ स्वयं को सर्वथा अभिन्न मानना तथा इसकी स्वयं अनुभूति करके सबको उपदेश देना अद्वैताचारवादी होना है।

इस अद्वैत अनुभूति के साथ अपरिमित एवं अप्रमेय ब्रह्मतत्त्व में स्थित हो जाने के फलस्वरूप साधक-आत्मा को ब्रह्मतत्त्व का क्षुद्र होने के बावजूद एकाकारता एवं साधर्म्य के कारण संसार की सृष्टि-पालन एवं संहार की क्षमता प्राप्त हो जाती है।

[आज्ञाचक्रे प्रणवघटकवर्णानामवस्थितिः]

तदन्तश्चक्रेऽस्मिन्निवसति सततं शुद्धबुद्धान्तरात्मा
प्रदीपाभज्योतिः प्रणवविरचनारूपवर्णप्रकाशः।
तदूद्ध्र्वे चन्द्रार्द्धस्तदुपरि विलसद्बिन्दुरूपी मकार-
स्तदाद्ये नादोऽसौ रसधवलसुधाधारसन्तानहासी।।३६।।

पूर्वं वेदानामादिबीजमित्यनेन प्रणवस्य चिन्तनमुपदिष्टम्, तमेव प्रणवं विशेषयति—तदन्तरिति। अस्मिन्नाज्ञाचक्रे तदन्तस्तस्य निरुक्तत्रिकोणस्यान्तः प्रणवस्य विरचनारूपेण स्थितो यो वर्णः अकारोकारसङ्घातरूप ओकारस्तस्य प्रकाशो निवसतीति सम्बन्धः तमेव वर्णं विशेषयति। शुद्धबुद्धान्तरात्मस्वरूपः तथा प्रदीपाभज्योतिः प्रदीपाभं ज्योतिर्यस्य सः प्रकाशशील इत्यर्थः। तदूद्ध्र्वे चन्द्रार्द्धः अर्द्धचन्द्राकारचिह्नम्, तदुपरि अर्द्धचन्द्रोद्ध्र्वे विलसन् शोभमानो यो बिन्दुस्तद्रूपधारी मकारो निवसति मकार एव बिन्दुरूपेण तत्र वर्त्तत इत्यर्थः। तदाद्ये निरुक्तबिन्दुरूपिणो मकारस्याद्ये स्थितोऽसौ नादः रसधवलसुधाधारसन्तानहासी रसधवलः पारदश्वेतः

तथा सुधाधारश्चन्द्रः तस्य सन्तानो विस्तारः तमुपहसितुं शीलमस्येति तादृशः। ततश्च रसधवलश्चासौ सुधाधारसन्तानहासी चेति कर्मधारयः। एतेन नादस्यातिशय-शुक्लत्वमुक्तम्।

एवञ्च निरुक्तः प्रणवोऽकारोकारनादबिन्दुमयः अन्तरात्मस्वरूपः प्रदीपशिखोज्ज्वलः श्वेतवर्णश्चेति फलितम्।

इस चक्र कर्णिकावर्ती त्रिकोण में 'अ'कार और 'उ'कार की सन्धि के निष्पन्न त्रयोदश स्वर 'ओ'कार से प्रकाशित प्रणव विराजित है। 'ओ'कार वर्ण-स्वरूप यह प्रणव दीपक के समान भास्वर तथा शुद्ध बुद्ध अन्तरात्मा-स्वरूप है। इस प्रणवाक्षर के ऊपर अर्धचन्द्र और अर्धचन्द्र के ऊपर बिन्दु के रूप में मकार स्थित है। उसके ऊपर धवलता में चन्द्रकिरणों को भी पराभूत करने वाला 'नाद' स्थित है। इस तरह अकार, उकार, मकार, चन्द्रबिन्दु और नाद से प्रणवाक्षर की निष्पत्ति होती है॥३६॥

[आज्ञाचक्रे प्रणवस्वरूपचिन्तनफलम्]

इह स्थाने लीने सुसुखसदने चेतसि पुरं
निरालम्बां बद्ध्वा परमगुरुसेवासुविदिताम्।
सदाऽभ्यासाद् योगी पवनसुहृदां पश्यति कला-
स्ततस्तन्मध्यान्तः प्रविलसितरूपानपि पदान्।।३७।।

इहेति। सुसुखसदने निरवच्छिन्नानन्दधामनि इह स्थाने आज्ञाचक्रस्थितप्रणवमभितश्चेतसि लीने सति परमगुरुसेवासुविदितां गुरुपरम्परापरिप्राप्तयोगाभ्यासकुशलो गुरुः परमगुरुस्तस्य सेवया सुविदितां सम्यगधिगतां निरालम्बां निर्नास्ति आलम्बः विषयसंस्पर्शो यत्र तथाभूतां विषयसम्बन्धोच्छेदकारिणीं पुरं योनिमुद्रां खेचरीमुद्रां वा मनःस्थैर्यसम्पादिनीं बद्ध्वा सदाऽभ्यासात् निरन्तरप्रणवानुशीलनाद् योगी जनः पवनसुहृदां वह्नीनां कलाः अंशान् स्फुलिङ्गानित्यर्थः, पश्यति। इह योगं विदधतो योगिन इतस्ततो विसृमरवह्निकणायमानं ज्योतिर्मानसप्रत्यक्षतामापद्यत इत्यर्थः। तत इति। निरुक्ताभ्यासानन्तरं तन्मध्यान्तः तन्मध्यं पद्ममध्यस्थितं त्रिकोणं तदन्तः प्रविलसितं प्रकर्षेण शोभमानं रूपं येषां तथाभूतान् पदान् प्रणवघटकवर्णानपि पश्यतीत्यर्थः।

जब मुमुक्षु साधक गुरुदेव की प्रदीर्घ सेवा करके जाने गये निरालम्ब का आश्रय लेकर सतत अभ्यास करते हुए अपने चेतस् को निरवच्छिन्न आनन्द के इस धाम में विलीन कर देता है, उसे इस चक्र के मध्यवर्ती त्रिकोण के मध्य में प्रणव के घटक वर्ण अग्नि की चिनगारियों के समान दिखाई देने लगते हैं॥३७॥

विमर्श—निरालम्ब का शाब्दिक अर्थ है—जिसका कोई आलम्बन नहीं है। यहाँ निरालम्ब का तात्पर्य उस स्थिति से है, जब मन का संसार से और सांसारिक विषयों से सम्बन्ध पूर्णतया विच्छिन्न हो गया हो। एतदर्थ योगशास्त्र में योनि-मुद्रा

का उल्लेख किया गया है। योनिमुद्रा के सतत अभ्यास से मन का अवरोध होने लगता है। अतः यहाँ 'निरालम्बां पुरं बध्वा' का अर्थ है—योनिमुद्रा बाँधकर।

[अत्र वह्निकणावान्तरभेदाः परमशिवस्थितिश्च]

ज्वलद्दीपाकारं तदनु च नवीनार्कबहुल-
प्रकाशं ज्योतिर्वा गगनधरणीमध्यमिलितम्।
इह स्थाने साक्षाद् भवति भगवान् पूर्णविभवो-
ऽव्ययः साक्षी वह्नेः शशिमिहिरयोर्मण्डल इव।।३८।।

पूर्वश्लोके पवनसुहृदां पश्यति कला इत्युक्तं तत्र विशेषमाह—ज्वलदिति। तदनु निरुक्तवह्निकणदर्शनसमनन्तरं ज्योतिः पश्यतीति पूर्वेण सम्बन्धः। कीदृशं तज्ज्योतिरित्याकाङ्क्षायामाह—**ज्वलद्दीपाकारमिति**। ज्वलतो दीपस्याकार इव आकारो यस्य तथाभूतं ज्योतिरित्यर्थः। तथा नवीनार्कबहुलप्रकाशं नवीनार्कः प्रातःकालीनसूर्यः तद्वद् बहुलः प्रचुरः प्रकाशो यस्य तादृशं नवोदयमासूर्यसदृशदीप्तिविशिष्टम्, तथा गगनधरणीमध्यमिलितम्, अत्र गगनशब्देन प्रागुक्तशङ्खिनीनाड्यूर्ध्वसहस्राराधः-स्थशून्यभागो बोध्यः। धरणीशब्देन च 'अमुष्मिन् धरायाश्चतुष्कोणबीजम्' इत्युक्त-मूलाधारस्थधरामण्डलं बोध्यम्। एवञ्च गगनधरण्योर्निरुक्तयोर्मध्ये मिलितं सहस्रारान्मूलाधारपर्यन्तं परिव्याप्तं तज्ज्योतिरित्यर्थः।

इहेति। इह स्थाने निरुक्तायामाज्ञाचक्रकर्णिकायां वह्नेः अग्नेः शशिमिहिरयोश्चन्द्र-सूर्ययोश्च मण्डले इव भगवान् परमशिवः साक्षाद् भवति स्वयं वर्त्तते। यथा सहस्रारकमलस्थवह्निचन्द्रसूर्यमण्डलेषु परमशिवो वर्त्तते तद्वदत्रापीत्यर्थः। परमशिवं विशेषयति—**पूर्णेति**। पूर्णः सर्वव्यापकः विभवः विभुत्वं सृष्टि-स्थिति-संहारकर्त्तृत्वं यस्य सः। अयमेव भगवान् परमशिवः सर्वप्रपञ्चानां सृष्टिस्थितिसंहारान् स्वविभवेन निर्वर्त्तयतीत्यर्थः। तथाऽव्ययः सर्वत्राविकृतरूपः, तथा साक्षी द्रष्टा निर्लेप इत्यर्थः। अत्रेदमवधेयम्, परमार्थतः सृष्ट्यादिकर्त्तृत्वं शक्त्या एव—

तस्याः पुनः पुनः सृष्टिर्जायते लीयते सदा।

इत्यादिगन्धर्वतन्त्रतृतीयपटलवचनेन शक्त्या एव सृष्ट्यादिकर्त्तृत्वाभ्युपगमात्। एवञ्च स्वाभिन्नशक्तिकृतप्रपञ्चसृष्ट्यादिकं कूटस्थरूपेण पश्यतीति साक्षीत्यनेन सूचितम्। आज्ञाचक्रेऽपि परमशिवस्थितिमाह निर्वाणतन्त्रे नवमपटले—

एवं हंसो मणिद्वीपे तस्य क्रोडे परः शिवः।
वामभागे सिद्धकाली सदानन्दस्वरूपिणी।। इति।

तदनु अर्थात् इसके पश्चात् अर्थात् प्रणव के घटक वर्णों को चिनगारियों के रूप में देखने के बाद साधक को गगन से धरती-पर्यन्त जलते हुए दीपक की आकार वाली ज्योति के दर्शन होते हैं, जिसकी दीप्ति प्रातःकालीन सूर्य की द्युति के समान है। अग्नि, सूर्य और चन्द्रमण्डल के समान इस स्थान पर भी सर्वथा

अव्यय एवं साक्षीभूत भगवान् शिव की उनके सम्पूर्ण वैभव के साथ प्रतीति होती है।।३८।।

विमर्श—गगन से धरती-पर्यन्त का आशय है—मूलाधार के धरामण्डल से सहस्रार में शंखिनी नाड़ी के ऊर्ध्व भाग में स्थित गगन अर्थात् आकाशमण्डल-पर्यन्त।

[अत्र प्राणत्यागस्य फलम्]

इह स्थाने विष्णोरतुलपरमामोदमधुरे
समारोप्य प्राणान् प्रमुदितमनाः प्राणनिधने।
परं नित्यं देवं पुरुषमजमाद्यं त्रिजगतां
पुराणं योगीन्द्रः प्रविशति च वेदान्तविदितम्।।३९।।

अत्र प्राणत्यागस्य फलमाह—**इहेति**। योगीन्द्रः प्राणत्यागकाले प्रमुदितमनाः ब्रह्मनिर्वाणं मे भविष्यतीति प्रकर्षेण हृष्टमानसः सन् परमामोदमधुरे निरवच्छिन्नानन्द-सन्तानरमणीये इह विष्णोर्व्यापकस्य भगवतः स्थाने आज्ञाचक्रे प्राणान् समारोप्य योगानुशासनक्रमेण प्राणानां लयं विधाय परं पुरुषं प्रविशति निर्वाणमुक्तिं लभते इत्यर्थः। पुरुषं विशेषयति—**देवमिति**। प्रपञ्चादिरूपेण द्योतनशीलम्। अजं नित्यम्, तथा त्रिजगतामाद्यं कारणभूतमित्यर्थः। पुराणं पुराणपुरुष इत्याख्यया सर्वशास्त्रेषु प्रसिद्धम्। तथा वेदान्तविदितम् 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे'त्यादिश्रुति-भिरवाङ्मनसगोचरत्वनिरूपणात् तदवगमासम्भवेऽपि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतिभिर्विदितं ब्रह्मप्रतिपादकश्रुतिमात्रगम्यमित्यर्थः।

अत्र विष्णुशब्देन व्यापको भगवान् परमशिव एव बोध्यः। निर्वाणतन्त्रे नवमपटले आज्ञाचक्ररूपे तपोलोके परमशिवस्यैव स्थितेरभिधानात्। अस्य निर्वाण-मुक्तिदातृत्वमाह तत्रैव—

सालोक्यं महर्लोके स्यात् सारूप्यं जनलोकके।
सायुज्यं तपोलोकेषु निर्वाणं हि तदूर्ध्वके।। इति।

जो योगिश्रेष्ठ मृत्यु के समय भगवान् विष्णु के अतुल एवं आनन्दमय धाम-स्वरूप इस आज्ञाचक्र में प्रमुदित मन से अपने प्राणों का समारोपण करके शरीर का त्याग करता है, वह मृत्यु के बाद तीनों लोकों के आद्य उस पुराणपुरुष में प्रवेश कर जाता है; जो नित्य है, शाश्वत है तथा जिसका ज्ञान वेदान्त से ही होता है।।३९।।

विमर्श—यहाँ विष्णु शब्द परमशिव का उपलक्षण है।

आज्ञाचक्र-सारांश

आज्ञाचक्र में दो दल हैं। इनका वर्ण श्वेत है। इन दलों पर श्वेत वर्ण के 'ह' और 'क्ष' लिखे हैं। कमल की कर्णिका में देवी हाकिनी प्रतिष्ठिता हैं। वे

शुक्ल वर्णा हैं तथा उनके रक्त वर्ण के छः मुख हैं। प्रत्येक मुख में तीन-तीन आँखें हैं। उनके ६ हाथ हैं। दो हाथों में वर और अभय मुद्रा है। शेष चार हाथों में अक्षमाला, कपाल, डमरू और पुस्तक हैं। उनके ऊपर त्रिकोण में देदीप्यमान इतरलिंग है। इसके ऊपर प्रणवाकृति अन्तरात्मा है, जो दीपक की ज्योति के सदृश है। यह ज्योति अपनी ही प्रभा से मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त व्याप्त है।

आज्ञाचक्र

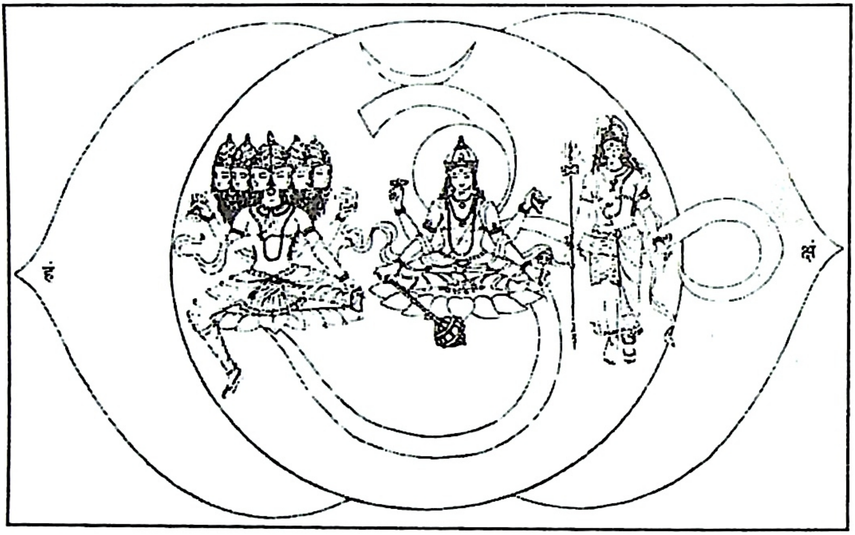

[आज्ञाचक्रोद्ध्वें शिवशक्तिरूपो महानादस्तद्दर्शनफलञ्च]

लयस्थानं वायोस्तदुपरि च महानादरूपं शिवार्द्धं
शिवाकारं शान्तं वरदमभयं शुद्धबुद्धिप्रकाशम्।
यदा योगी पश्येद् गुरुचरणयुगाम्भोजसेवासुशील-
स्तदा वाचां सिद्धिः करतलकमले तस्य भूयात् सदैव।।४०।।

एवमाज्ञाचक्रं निरूप्य तदूद्ध्वें शिरःस्थितसहस्रदलकमलादधो महानादं निरूपयति—लयस्थानमिति। गुरुचरणयुगाम्भोजसेवासुशीलः गुरोर्योगानुशीलन-विशुद्धमतेः श्रीगुरुदेवस्य चरणाम्भोजयोः सेवया ततो योगाभ्यासेनेत्यर्थः, शुद्धं दृढतरचित्तैकाग्र्यपरिपूर्णं शीलं स्वभावो यस्य तादृशो योगी तदुपरि निरुक्ताज्ञा-चक्रस्योद्ध्वें यदा महानादरूपं महानादस्य रूपं स्वरूपं पश्येत्, तदा तस्य करतलकमले सदैव वाचां सिद्धिर्भूयादिति सम्बन्धः। महानादरूपं निरूपयति—लयस्थानमित्यादिना। वायोर्लयस्थानं महानादादेव वायोरुत्पत्तेः कारणभूते महानाद एव तस्य लयसम्भवादित्यर्थः। तथा शिवार्द्धम् अत्र शिवोऽर्द्धनारीश्वरस्तदर्द्धं

शक्तिस्तद्रूपं शक्तिरूपमित्यर्थः, तथा शिवाकारं शिवरूपम्। एवञ्च शिवार्द्ध-शिवाकारमित्येताभ्यां शिवशक्तिमयोऽयं नाद इत्युक्तं भवति। तदुक्तं शारदायां प्रथमपटले—

बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः।
समवायः समाख्यातः सर्वागमविशारदैः।। इति।

राघवभट्टेनापि—

एवमालोक्य सर्गादौ सच्चिदानन्दरूपिणीम्।
समस्ततत्त्वसङ्घातस्फूर्त्यधिष्ठानरूपिणीम् ।
व्यक्तां करोति नित्यां तां प्रकृतिं परमः पुमान्।।

इति पाञ्चरात्रवचनमुल्लिख्य तस्या एव नादबिन्दू सृष्ट्युपयोगावस्थारूपौ इत्यभिधाय,

नादात्मना प्रबुद्धा सा निरामयपदोन्मुखी।
शिवोन्मुखी यदा शक्तिः पुंरूपा सा तदा स्मृता।।

इत्युक्तम्।

सा तत्त्वसंज्ञा चिन्मात्रज्योतिषः सन्निधेस्तदा।
विचिकीर्षुर्घनीभूता क्वचिदभ्येति बिन्दुताम्।

इति राघवभट्टधृतवचनेनापि शिवशक्त्योरभेद एव प्रतिपद्यते। शान्तं सौम्यमूर्त्तिम्, तथा शुद्धबुद्धिप्रकाशं शुद्धाया ज्ञानोज्ज्वलाया बुद्धेः प्रकाशो यस्मात् तथाभूतं ब्रह्मज्ञानसम्पादकमित्यर्थः।

आज्ञाचक्र के ऊपर महानाद है। यह वायु का लयस्थान है अर्थात् महानाद में वायु का लय हो जाता है। यह शिवार्ध (अर्थात् शक्ति) तथा शिवाकार अर्थात् शिव-शक्तिमय है। गुरुदेव के चरण-कमलों की भली-भाँति सेवा करके दृढ़ योगाभ्यास से शुद्ध और दृढ़चित्त साधक जब इस शिव-शक्तिमय, शान्त, वर एवं अभय देने वाले एवं शुद्धि, बुद्धि के प्रकाशक महानाद का दर्शन कर लेता है, वाक्सिद्धि उसके लिये हाथ में रखे फल की तरह सामान्य उपलब्धि हो जाती है।।४०।।

विमर्श—जिसमें लय होता है, उसी से उत्पत्ति भी होती है अर्थात् किसी वस्तु का उत्पत्ति और लयस्थान एक ही होता है, यह सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार इसे वायु का लयस्थान कहे जाने से स्पष्ट है कि वायु की उत्पत्ति भी इसी स्थान से होती है।

'शिवार्द्धं शिवाकारम्'—यहाँ शिव से तात्पर्य है—भगवान् शिव की अर्धनारीश्वर मूर्ति। अर्धनारीश्वर मूर्ति में शिव का आधा भाग अर्थात् शक्ति। शिवाकार का अर्थ हुआ—शिव। इस तरह 'शिवार्द्धम्—शिवाकारम्' का अर्थ हुआ— शिव-शक्तिमय।

[सहस्रारपद्मम्]

तदूर्ध्वे शङ्खिन्या निवसति शिखरे शून्यदेशे प्रकाशं
विसर्गाधः पद्मं दशशतदलं पूर्णपूर्णेन्दुशुभ्रम्।
अधोवक्त्रं कान्तं तरुणरविकलाकान्तकिञ्जल्कपुञ्जं
ललाटाद्यैर्वर्णैः परिलसितवपुःकेवलानन्दरूपम्।।४१।।

अथ शिरसि स्थितं सहस्रदलकमलं निरूपयति—तदूर्ध्वे इति। निरुक्तमहानादोर्ध्वे शङ्खिन्यास्तन्नामकनाड्याः शिखरे अग्रभागे शून्यदेशे शून्याकारस्थाने तथा विसर्गाधः ब्रह्मरन्ध्रस्थिताद् विसर्गात् प्रकृतेरधःप्रदेशे दशशतदलं सहस्रदलं पद्मं निवसतीति सम्बन्धः। विसर्गस्य ब्रह्मरन्ध्रे स्थितिमाह कङ्कालमालिनीतन्त्रे द्वितीयपटले—

ततो वायुर्महानादो ब्रह्मरन्ध्रं ततः परम्।
तस्मिन् रन्ध्रे विसर्गञ्च नित्यानन्दं निरञ्जनम्।। इति।

विसर्गस्य प्रकृतिवाचकत्वन्तु—

विन्दुः पुरुष इत्युक्तो विसर्गः प्रकृतिः स्मृतः।

इत्यनेन पूर्वमेव (१।१।टी०) प्रदर्शितम्।

पद्मं विशेषयति—**प्रकाशमित्यादिभिः**। प्रकाशं प्रकाशस्वरूपम्। शून्यदेशप्रकाशमिति पाठे तु शून्यदेशे यस्य तथाभूतमित्यर्थः। तथा पूर्णपूर्णेन्दुशुभ्रं परिपूर्णचन्द्रवदतिशयशुक्लवर्णम्। तदुक्तं कङ्कालमालिनीतन्त्रे द्वितीयपटले—

सहस्रारं नित्यपद्मं शुक्लवर्णमधोमुखम्।। इति।

निर्वाणतन्त्रे दशमपटले तु सहस्रारं प्रकृत्य—

शुक्लं रक्तं तथा पीतं कृष्णं हरितमेव च।
नानाविचित्ररूपेण नानावर्णेन शोभितम्।।
शुक्लं क्षणे क्षणे रक्तं क्षणे पीतं सुशोभनम्।
कस्मिन् क्षणे कृष्णवर्णं हरितं वर्णमुत्तमम्।।
चित्ररूपञ्च चार्वङ्गि धत्ते कस्मिन् क्षणे प्रिये।
एवं नानाविधैर्देवि तत् पद्मं शोभितं सदा।।

इत्यादिना तस्य क्षणभेदेन वर्णभेदानाह। अधोवक्त्रमधोमुखम्। कान्तं कमनीयाकृतिम्। तथा तरुणरविकलाकान्तकिञ्जल्कपुञ्जम्, तरुणस्य रवेर्याः कलाः प्रातःकालीसूर्यमरीचयः तद्वत् कान्तः कमनीयो रक्तभास्वर इत्यर्थः किञ्जल्कपुञ्जः केशरसमूहो यस्य तथाभूतम्, तथा ललाटाद्यैः ललाटादिषु विन्यस्तैरकारादिक्षकारान्तैः पञ्चाशद्वर्णैः प्रविलसितं वपुर्यस्य तादृशम्। मातृकान्यासे ललाटे अं नम इत्यादिक्रमदर्शनाल्ललाटाद्यैरित्यनेनाकाराद्यैरित्यर्थो लभ्यते। व्यक्तमाह कङ्कालमालिनीतन्त्रे द्वितीयपटले सहस्रारं प्रकृत्य—

अकारादिक्षकारान्तैः स्फुरद्वर्णैर्विराजितम्। इति।

तथा शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां चतुर्थोल्लासे—

मातृकाक्षरसम्भूतं सहस्रारं सरोरुहम्। इति।

तथा केवलानन्दरूपं निरवच्छिन्नानन्दस्वरूपं तत् पद्ममित्यर्थः।

अत्रेदमवधेयम्—पद्मेऽस्मिन् पत्राणां विंशतिरावर्त्तनानि, प्रत्यावर्त्तनञ्च पञ्चाशत् पत्राणि, तेषु प्रतिपञ्चाशत्पत्रेषु अकारादिक्षकारान्ताः पञ्चाशद्वर्णाः शोभन्त इति।

तद् ऊर्ध्वे अर्थात् महानाद के ऊपर शंखिनी नाड़ी के शिखर प्रदेश में और विसर्ग के नीचे शून्य प्रदेश में हजार दलों वाला कमल है। यह कमल ऊर्ध्वमुख नहीं; अपितु अधोमुख है अर्थात् औंधा है। पूर्णिमा के चन्द्रमा से भी अधिक धवल है। इसके किञ्जल्कपुञ्ज अर्थात् केसरसमूह का वर्ण बालसूर्य के समान अरुण है। इसके दलों पर 'अ'कार आदि वर्ण अंकित हैं। यह शुद्ध ब्रह्मानन्द-स्वरूप है।।४१।।

विमर्श—तद् ऊर्ध्वे—अर्थात् मूलाधार पद्म से महानाद-पर्यन्त जिन सबका अभी तक निरूपण किया गया है, उनके ऊपर। शंखिनी नाड़ी के शिखर पर शून्य प्रदेश में। शून्य प्रदेश से यह संकेत मिलता है कि यहाँ सुषुम्णा नाड़ी समाप्त हो गई है। 'विसर्गाधः'—ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर वाले भाग को विसर्ग या प्रकृति कहते हैं। अतः 'विसर्ग-अधः' का अर्थ हुआ—ब्रह्मरन्ध्र के नीचे। 'ललाटाद्यैः वर्णैः'—मातृकान्यास में अकार का न्यास ललाट में किया जाता है; अतः 'ललाटाद्यैः' का अर्थ हुआ—'अ'कारादि समस्त पचास वर्ण। इस गणना में द्वितीय लकार (अर्थात् 'ळ'कार) की गणना नहीं की जाती। इस पद्म में पचास-पचास दलों के बीस दल-समूह माने जाते हैं और प्रत्येक समूह के प्रत्येक दल पर 'अ'कार से 'क्ष'कार-पर्यन्त ('ळ' को छोड़कर) पचास अक्षर एक-एक कर अंकित हैं।

[तत्कर्णिकायां चन्द्रमण्डलं तदन्तस्त्रिकोणं तदन्तः परं बिन्दुश्च]

समास्ते तस्यान्तः शशपरिरहितः शुद्धसम्पूर्णचन्द्रः
स्फुरज्ज्योत्स्नाजालः परमरसचयस्निग्धसन्तानहासः।
त्रिकोणं तस्यान्तः स्फुरति च सततं विद्युदाकाररूपं
तदन्तः शून्यं तत् सकलसुरगणैः सेवितञ्चातिगुह्यम्।।४२।।

एतत्पद्मकर्णिकायां चन्द्रमण्डलावस्थितिमाह—समास्त इति। तस्य पद्मस्यान्तर्मध्ये कर्णिकायामित्यर्थः। शशपरिरहितः अत एव शुद्धो निर्मलः सम्पूर्णचन्द्रः चन्द्रमण्डलं समास्ते। चन्द्रं विशेषयति—स्फुरदिति। स्फुरज्ज्योत्स्नाजालः स्फुरति ज्योत्स्नाजालानि यस्मात् तथाभूतः। तथा परमरसचयस्निग्धसन्तानहासः परमरसचयेन परमामृतसमूहेन स्निग्धः सन्तानो विस्तारो यस्य तथाभूतो हासो विकाशो यस्य तादृशः परमरमणीयामृतप्रवाहेणानन्दं जनयन्नित्यर्थः।

निरुक्तचन्द्रमण्डलाभ्यन्तरे ध्येयं त्रिकोणमाह—त्रिकोणमिति। तस्यान्तश्चन्द्रमण्डलमध्ये विद्युदाकाररूपं विद्युत्सदृशदीप्तिमत् त्रिकोणं समास्ते। तदन्तरिति तस्य त्रिकोणस्यान्तर्मध्ये अतिगुह्यं यथा स्यात्तथा सकलसुरगुणैः सेवितं शून्यं परंबिन्दुरूपं स्फुरतीति सम्बन्धः।

इस पद्म में शश से रहित अर्थात् निष्कलंक चन्द्रमण्डल है। यह चन्द्रमण्डल अपने ज्योत्स्नाजाल से दमक रहा है तथा अमृत के समान शीतल प्रकृति का है। इस चन्द्रमण्डल में विद्युत् के समान दीप्ति वाला अधोमुखी त्रिकोण है, जिसके मध्य में अत्यन्त गुप्त शून्य (बिन्दु) है। समस्त देवता इस गुप्त शून्य की पूजा करते हैं।।४२।।

विमर्श—'शून्य' से तात्पर्य उस 'परं-बिन्दु' से है, जो गौतमीय तन्त्र के अनुसार सृष्टि-स्थिति-लयात्मक है और जिसे 'योगिनी-हृदय' में 'परमानन्दकन्द' कहा गया है।

[परंबिन्दोर्गोप्यत्वं परमशिवस्थितिश्च]

सुगोप्यं तद् यत्नादतिशयपरमामोदसन्तानराशेः
परं कन्दं सूक्ष्मं सकलशशिकलाशुद्धरूपप्रकाशम्।
इह स्थाने देवः परमशिवसमाख्यानसिद्धिप्रसिद्धः
स्वरूपी सर्वात्मा रसविरसमितोऽज्ञानमोहान्धहंसः।।४३।।

सुगोप्यमिति। तन्निरुक्तं शून्यं यत्नात् सुगोप्यं साधकैर्यस्मै कस्मैचिन्न प्रकाशनीयमित्यर्थः। शून्यं विशेषयति—अतिशयेति। अतिशयपरमामोदसन्तानराशेः अतिशयः परमामोदसन्तानराशिर्यत्र तस्य महामोक्षस्येत्यर्थः, परं कन्दं प्रधानमूलभूतम्। सूक्ष्मं दुर्लक्ष्यम्, तथा सकलशशिकलाशुद्धरूपप्रकाशम्, अत्र कलाशब्देन वक्ष्यमाणा निर्वाणकला गृह्यते, तथाच कलया निर्वाणकलया सह वर्त्तमाना या शशिकला तया शुद्धरूपः प्रकाशो यस्य तथाभूतम्। सूक्ष्मतमस्यापि निरुक्तपरंबिन्दुरूपस्य प्रागुक्तत्रिकोणान्तःस्थिताभ्याममाकलानिर्वाणकलाभ्यां प्रकाशो भवतीत्यर्थः।

एतत्कर्णिकायां परमशिवस्य स्थितिमाह—इहेति। इह स्थाने एतत्पद्मकर्णिकान्तःस्थितचन्द्रमण्डलमध्यवर्त्तिनो हंसपीठापरनाम्नोऽन्तरात्मन उपरि इत्यर्थः, परमशिवसमाख्यानसिद्धिप्रसिद्धः परमशिव इति यत् समाख्यानं तस्य या सिद्धिः सर्वतन्त्रेषु निष्पत्तिः तया प्रसिद्धः परमशिव इति नाम्ना ख्यात इत्यर्थः। देवः यतेः स्वात्मज्ञानं दिशतीति परेण सम्बन्धः। परमशिवं विशेषयति—स्वरूपीत्यादिना। स्वरूपी परब्रह्मरूपः, सर्वात्मा सर्वेषामात्मा जीवात्मस्वरूपः। अत्र स्वरूपी सर्वात्मेति पदद्वयेन सर्वजीवात्मस्वरूपोऽपि परमात्मस्वरूपं न जहातीति प्रतिपादितम्। तथा रसविरसमितः रसं परमानन्दरसं विरसं तद्विलक्षणं शिवशक्तिसामरस्यानन्दरसञ्च इतः प्राप्तः। स्वरूपेणावस्थितोऽपि शक्तिसमागमरसमनुभवतीत्यर्थः। अयमेव परशिवः श्रीगुरुस्वरूप इति प्रथमश्लोकव्याख्याने प्रतिपादितं परश्लोके च प्रतिपादयिष्यते।

अत्र शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां चतुर्थोल्लासे आज्ञाचक्रमभिधाय—

तदूर्ध्वे तु महेशानि पद्ममूर्ध्वमुखं सदा।
तस्योपरि महेशानि ध्यायेत् सदाशिवं प्रभुम्।

इति वचनमभिधाय ऊर्ध्वमुखमिति अधोमुखसहस्रदलपद्मान्तर्गतोर्ध्वमुखद्वादशदलपद्मोपरि सदाशिवं ध्यायेदित्युक्तम्। पादुकापञ्चकस्तोत्रेऽपि—

ब्रह्मरन्ध्रसरसीरुहोदरे नित्यलग्नमवदातमद्भुतम्।

इत्यादिना,

तस्य कन्दलितकर्णिकापुटे क्लृप्तरेखमकथादिरेखया।

इत्यादिना चाधोमुखसहस्रदलकमलस्याधस्तादूर्ध्वमुखद्वादशदलकमलकर्णिकान्तरकथादित्रिकोणे श्रीगुरुरूपस्य परमशिवस्य स्थितिमाह। परन्तु शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां चतुर्थोल्लासेऽन्यत्र—

सहस्रारं महापद्मं नादबिन्दुत्रयान्वितम्।
अकथादित्रिरेखासु हलक्षत्रयकोणके।।
तन्मध्ये परबिन्दुञ्च सृष्टिस्थितिलयात्मकम्।
वामावर्त्तेन विलिखेदकथादि त्रिकोणकम्।।

इत्यादिना,

सहस्रारान्तरे शून्ये दिव्यतोरणशोभिते।

इत्यादि—पूर्वोपदर्शितमहाकालीतन्त्रप्रथमपटलवचनेन च सहस्रारपद्म एव परमशिवस्य स्थितिरुक्ता। एवञ्च विभिन्नतन्त्रपर्यालोचनया प्रस्थानद्वयावगतेः स्वस्वगुरुसम्प्रदायानुसारेणैकतरः कल्पः समाश्रयणीय इति सिद्धान्तः। श्रीभगवत्पूर्णानन्दपरमहंसपादानान्तु सहस्रार एव परमशिवस्य स्थितिरभिमता, मूले द्वादशदलकमलस्य लेशतोऽप्यनभिधानादित्यवधेयम्।

यह 'परं बिन्दु' परम आनन्द अर्थात् मोक्ष का प्रधान कन्द अर्थात् उत्स है। यद्यपि यह अत्यन्त सूक्ष्म है और सहज ही दृश्यमान नहीं है और अमा कला-सहित निर्वाण कला से प्रकाशित एवं आभासित होता है। इस स्थान पर ही सभी प्राणियों के आत्मस्वरूप परमशिव का वास है। भगवान् परमशिव रसमय और विरसमय तथा अज्ञान और मोहजनित अन्धकार का नाश करने वाले सूर्य हैं। हरसम्भव प्रयास करके इसे (बिन्दु को) गुप्त रखना चाहिए।।४३।।

विमर्श—'सकलशशिकलाशुद्धरूपप्रकाशम्'—'सकल' का अर्थ है—कलासहित। यहाँ कला से अभिप्रेत है—निर्वाणकला और 'शशिकला' से अभिप्रेत है—चन्द्रमा की सोलहवीं (१६वीं) अमा कला। अतः 'सकलशशिकला' का अर्थ हुआ—निर्वाण कला-सहित अमा कला। निर्वाणकला १७वीं कला है और उसकी

स्थिति 'अमा कला' में मानी गई है। इन कलाओं से ही अमृत का क्षरण होता है। इन कलाओं का निरूपण आगे ४७वें और ४८वें श्लोक में किया गया है। 'सकलशशिकला ....' का भाव यह है कि अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण यह 'परं बिन्दु' सामान्यतः दृष्टिगोचर नहीं होता; तथापि ध्यान के द्वारा अमा कला और निर्वाण कला के साथ त्रिकोण में दिखाई देता है।

रसविरसमितः—रस से अभिप्रेत है—परमानन्द रस और 'विरस' का अर्थ है—शिव-शक्ति के समायोग से क्षरित आनन्दरस। यह परमशिव अपने स्वरूप में स्थित होते हुए भी शक्तिसमागम के रस का अनुभव करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम श्लोक में गुरु के रूप में इन्हीं परमशिव की वन्दना की गई है।

सुधाधारासारं निरवधि विमुञ्चन्नतितरां
यतेः स्वात्मज्ञानं दिशति भगवान् निर्मलमतेः।
समास्ते सर्वेशः सकलसुखसन्तानलहरी-
परीवाहो हंसः परम इति नाम्ना परिचितः।।४४।।

सुधाधारासारमिति। निरुक्तः परमशिवः सुधाधारासारं सुधाधारा अमृतप्रवाहः तद्वत् सारं श्रेष्ठं मन्त्रात्मकवाक्यमित्यर्थः। एवञ्च सुधाधारासारम् अमृतवदानन्दविधायकं वाक्यं मन्त्रात्मकं निरवधि सर्वदा अतितरां साधकानां पुरुषार्थलाभाय विमुञ्चन् श्रीगुरुरूपेणोच्चरन् निर्मलमतेः परमानुरक्तिसहकृतश्रीगुरुचरणसेवाविशुद्धचेतसो यतेः साध्यदेवतायां नियतमनसः साधकस्य स्वात्मज्ञानं स्वं जीवात्मा, आत्मा परमात्मा तयोर्ज्ञानं तत्त्वमसीत्यादिश्रुतिसिद्धं जीवात्मपरमात्मनोरभेदज्ञानं दिशति उपदिशतीत्यर्थः। अत्रेदमवधेयम्—निरुक्तः परशिव एव श्रीगुरुरूपो दीक्षागुरुरूपेण धरायामवतीर्यामृतमयतत्तदुपास्यदेवतातत्तन्मन्त्रदीक्षया साधकानां परमपुरुषार्थं निर्वर्त्तयतीति। एतच्च—

मनुष्यचर्मणा नद्धः साक्षात् परशिवः स्वयम्।

इत्यादि कुलार्णवत्रयोदशपटलोक्तैरन्यैश्च प्रमाणैर्विस्तरतः प्रतिपादितं 'दशशतदलपद्मप्रोल्लसत्पूर्णचन्द्र' इत्यादि प्रथमप्रकाशप्रथमश्लोकटीकायामस्माभिरिति नेह प्रपञ्च्यते।

समास्त इति। रमशिवस्याधस्तात् सर्वेशः सर्वेषामीश्वरः हंसः पुंप्रकृत्यात्मकोऽन्तरात्मा समास्ते। पुंप्रकृत्यात्मकान्तरात्मनो हंसत्वन्तु एतद्ग्रन्थप्रथमश्लोकव्याख्याने—

हंकारो बिन्दुरित्युक्तो विसर्गः स इति स्मृतः।

इत्यादि प्रपञ्चसारवचनेनोपपादितम्। हंसः कीदृश इत्यत आह—सकलसुखसन्तानलहरीपरीवाहः सकलसुखानां यः सन्तानो विस्तारः तस्य या लहरी श्रेणी तस्याः परीवाहो निःसरणं यस्मात् तथाभूतः निरवच्छिन्नप्रचुरसुखसम्पादक इत्यर्थः।

एतेन तत एव विलक्षणसुखपरीवाहस्योदयात्तस्यापि तादृशसुखमयत्वमुन्नेयम्, धनधातुः प्रचुरतरधनशालित्ववत्। तथा परम इति नाम्ना परिचितः। परम इति तस्य नामान्तरं परमहंस इति वा।

वे भगवान् परमशिव निर्मल चित्त वाले यतियों को सतत धाराप्रवाह रूप से स्वात्मज्ञान का उपदेश देते रहते हैं। भगवान् परमशिव के नीचे निरवच्छिन्न सुख के सम्पादक एवं सर्वव्यापी तथा सभी प्राणियों के ईश्वर पुंप्रकृत्यात्मक उस 'हंस' का वास है, जो परम नाम से जाना जाता है।

विमर्श—अपने इष्टदेवता की साधना-उपासना में निरन्तर रत रहने वाले साधक को यति कहा जाता है। भगवान् परमशिव को ऐसे निर्मल चित्त वाले यतियों को स्वात्म अर्थात् आत्मा एवं परमात्मा तथा उनकी परस्पर एकता का ज्ञान-प्रदाता कहे जाने से सिद्ध है कि वे भगवान् परमशिव ही दीक्षागुरु के रूप में अवतरित होकर स्वयं ही मुमुक्षु दीक्षार्थी को दीक्षा देते हैं। इसीलिये दीक्षागुरु के बारे में कहा गया है—'मनुष्यचर्मणा बद्धः साक्षात् परशिवः स्वयम्।'

[एतत्पद्मकर्णिकायां सर्वेषां देवानामवस्थितिः]

शिवस्थानं शैवाः परमपुरुषं वैष्णवगणा
लपन्तीति प्रायो हरिहरपदं केचिदपरे।
पदं देव्या देवीचरणयुगलानन्दरसिका
मुनीन्द्रा अप्यन्ये प्रकृतिपुरुषस्थानममलम्।।४५।।

एतदेव सर्वदेवतानिवासस्थानमित्याह—**शिवस्थानमिति**। शैवाः शिवोपासका एतत् शिवस्थानमिति लपन्ति, वैष्णवगणाः परमपुरुषस्य विष्णोः स्थानमिति लपन्ति। अपरे हरिहरोभयोपासका हरिहरपदमेतदिति लपन्ति, देवीचरणयुगलानन्दरसिकाः शाक्ता इत्यर्थः, देव्याः पदं स्थानमिति लपन्ति, अन्ये मुनीन्द्रा योगिश्रेष्ठा अपि एतदमलं प्रकृतिपुरुषस्थानमेतदिति लपन्तीत्यर्थः। एतेन स्वस्वोपास्यानां सर्वेषामेव देवानां स्थानमेतदित्यवगन्तव्यम्।

यह 'परं बिन्दु' सभी देवताओं का निवासस्थान है। सभी साधक एवं उपासक इसे अपने-अपने इष्टदेवता का धाम कहते हैं। शिव के उपासक शैव गण उसे शिव-स्थान कहते हैं। वैष्णवजन इसे परमपुरुष विष्णु का स्थान मानते हैं। हरि और हर की युगल मूर्ति के उपासक उसे हरिहर स्थान कहते हैं। देवी के भक्त शाक्तों के लिये यह देवी का स्थान है। अन्य मुनिगण इसे प्रकृति-पुरुष का स्थान कहते हैं।।४५।।

[एतत्पद्मज्ञानफलम्]

इह स्थानं ज्ञात्वा नियतनिजचित्तो नरवरो
न भूयात् संसारे पुनरपि न बद्धस्त्रिभुवने।

समग्रा शक्तिः स्यान्नियतमनसस्तस्य कृतिनः
सदा कर्त्तुं हर्त्तुं खगतिरपि वाणी सुविमला।।४६।।

एतत्पद्मज्ञानफलमाह—इहेति। इह अस्मिन् सहस्रदलकमले स्थानम् इष्टदेवतावस्थितिं ज्ञात्वा, स्वेष्टदेवतावस्थितिरत्रैवेति विदित्वेत्यर्थः। अत्र 'इदं स्थानं ज्ञात्वे'ति कालीचरणधृतः पाठः। नियतनिजचित्तः नियतं स्वस्वाभीष्टदेवे नियुक्तं निजचित्तं येन तादृशो नरवरः साधकश्रेष्ठः न भूयात् संसारे पुनर्जन्मपरिग्रहं न करोतीत्यर्थः, तत्र हेतुमाह बद्धस्त्रिभुवने इति स्वर्गे मर्त्त्ये पाताले वा बद्धो न भवति शुभाशुभसकलकर्मक्षयाद् भोगहेतुभूतकर्मान्तरानुदयाच्चेति भावः। तथा तस्य कृतिनः सदा कर्त्तुं स्वाभीष्टकार्याणि सम्पादयितुं हर्त्तुमनभीष्टानि परिहर्त्तुञ्च समग्रा सकलकार्यसम्पादिका शक्तिः स्यात्। तथा तस्य खगतिराकाशगमनं सुविमला वाणी च स्यादिति सम्बन्धः।

जिन लोगों ने इस स्थान को जान लिया है अर्थात् जिन्हें इस सहस्रार का ज्ञान प्राप्त हो गया है तथा जिन्होंने अपने चित्त का संयम कर लिया है, वे इस संसार में फिर से जन्म नहीं ग्रहण करते; क्योंकि इसका ज्ञान हो जाने के बाद तीन लोकों में कोई ऐसी चीज नहीं होती जो उन्हें बन्धन में बाँध सके। मन पर संयम तथा नियन्त्रण कर लेने के फलस्वरूप वे सर्वशक्तिसम्पन्न हो जाते हैं। वे जो चाहें, कर सकते हैं और जिसे न चाहें, उसे होने से रोक सकते हैं। वे ब्रह्म में रमण करते हैं और आकाश में चल सकते हैं। उनकी वाणी शुद्ध और आह्लादकारी होती है।।४६।।

[एतत्पद्मकर्णिकान्तस्त्रिकोणे चन्द्रकलायाः स्थितिः]

अत्रास्ते शिशुसूर्यसोदरकला चन्द्रस्य सा षोडशी
शुद्धा नीरजसूक्ष्मतन्तुशतधाभागैकरूपा परा।
विद्युद्दामसमानकोमलतनुर्नित्योदिताधोमुखी
पूर्णानन्दपरम्परातिविगलत्पीयूषधाराधरा ।।४७।।

निरुक्तसहस्रदलकमलान्तर्वर्त्तित्रिकोणे अमाकलावस्थितिमाह—अत्रास्त इति। अत्र कर्णिकान्तस्त्रिकोणे सा प्रसिद्धा चन्द्रस्य षोडशभागैकभागरूपा शिशुसूर्यसोदरकला प्रातःकालीनसूर्यसदृशी रक्तवर्णेत्यर्थः, अमानाम्नी कला आस्ते। अमाकलास्वरूपमाह तिथितत्त्वधृतस्कन्दपुराणीयप्रभासखण्डे—

अमा षोडशभागेन देवि प्रोक्ता महाकला।
संस्थिता परमा माया देहिनां देहधारिणी।। इति।

कलां विशेषयति—शुद्धेति। शुद्धा कलङ्करहिता। नीरजेति। नीरजसूक्ष्मतन्तोरतिसूक्ष्ममृणालसूत्रस्य शतधाभागैकरूपा शतभागैकभागरूपा, तथा परा परमशक्तिरूपा। विद्युद्दामसमानकोमलतनुः विद्युन्मालासदृशकोमलोज्ज्वलकान्तिविशिष्टा। नित्योदिता क्षयोदयरहितत्वान्नित्यप्रकाशशालिनीत्यर्थः। अधोमुखी अधोवक्त्रा। पूर्णा व्यापिनी

आनन्दपरम्परा अविच्छिन्नानन्दधारा यस्याः सा। तथा अतिविगलन्तीं पीयूषधारां धरतीति तथाभूता प्रचुरामृतस्राविणीत्यर्थः। एवंभूता अमानाम्नी कला सहस्रदल-कमलकर्णिकान्तस्त्रिकोणे वर्त्तत इत्यर्थः।

यहीं पर चन्द्रमा की सोलहवीं कला है। यह कला बालसूर्य के समान रक्ताभ है। कमलनाल के रेशे के सौवें भाग से भी सूक्ष्म है, कोमल है, निष्कलंक है, कोटि-कोटि बिजलियों के समान कान्ति वाली और अधोमुखी है। उसकी परम्परा नित्य आनन्दस्वरूप ब्रह्म से है; अतः उससे अनवरत रूप से अमृत का क्षरण होता रहता है। (अथवा 'पर' अर्थात् शिव एवं 'परा' अर्थात् शक्ति के समागम से उद्भूत क्षुधा को यह आहाररूप में ग्रहण करती है)।।४७।।

विमर्श—इस श्लोक में चन्द्रमा की सोलहवीं कला का स्पष्ट नामोल्लेख नहीं है। तन्त्रान्तर के अनुसार यह षोडशी कला 'अमा' है, जैसा कि कहा गया है—

अमा षोडशभागेन देवि! प्रोक्ता महाकला।
संस्थिता परमा माया देहिनां देहधारिणी।।

परा अर्थात् चित् शक्तिरूपा है। यह चित् शक्ति है। परमा माया है, जो समस्त देहधारियों के देह अर्थात् जीवन को धारण करती है।

[तच्चन्द्रकलान्तर्निर्वाणकलायाः स्थितिः]

निर्वाणाख्यकला परात् परतरा साऽऽस्ते तदन्तर्गता
केशाग्रस्य सहस्रधा विभजितस्यैकांशरूपा सती।
भूतानामधिदैवतं भगवती नित्यप्रबोधोदया
चन्द्रार्द्धाङ्गसमानभङ्गुरवती सर्वार्कतुल्यप्रभा।।४८।।

अमाकलान्तर्वर्त्तिनीं निर्वाणकलामाह—**निर्वाणेति**। तदन्तर्गता तस्या अमा-कलाया अन्तर्गता सा मुक्तिदातृत्वेन प्रसिद्धा निर्वाणकला आस्ते। निर्वाणदायिनी कला प्रकृतिरिति निर्वाणकलाशब्दनिरुक्तिः। तां विशेषयति—**परादिति**। परात् परतरा श्रेष्ठा। 'परा परतरे'ति कालीचरणधृतः पाठः। तत्र तु परा अमाकला ततः परतरा निर्वाणकलेत्यर्थः। सहस्रधाविभजितस्य केशाग्रस्य एकांशरूपा केशाग्रसहस्रभागै-कभागरूपा अतिशयसूक्ष्मेत्यर्थः। अत्र विभजितस्येति छन्दोऽनुरोधादाकारलोप आर्षः। सती अतिसूक्ष्मतया दुर्विज्ञेयत्वेऽपि सर्वतन्त्रसिद्धत्वात् सद्रूपा। भूतानां प्राणिनामधिदैवतं चैतन्यस्वरूपा। नित्यप्रबोधोदया नित्यप्रबोधो ब्रह्मज्ञानं तस्य उदयो यस्या ब्रह्मज्ञान-दायिनीत्यर्थः। चन्द्रार्द्धाङ्गसमानभङ्गुरवती अर्द्धचन्द्रवत् कुटिलाकारा। तथा सर्वार्क-तुल्यप्रभा द्वादशादित्यसदृशप्रकाशशालिनीत्यर्थः। अमाकला-निर्वाणकलयोः स्वरूप-माह कङ्कालमालिनीतन्त्रे द्वितीयपटले—

अत्र नित्योदिता वृद्धिक्षयहीना अमाकला।
तन्मध्ये कुटिला निर्वाणाख्या सप्तदशी कला।। इति।

अमा कला के अन्तर्गत निर्वाण नाम की कला है, जो केश के अग्रभाग के हजारवें भाग से भी सूक्ष्म तथा द्वादश आदित्यों के समतुल्य प्रभा वाली है। सभी भूतों की अधिष्ठातृ देवता के रूप में भगवती स्वरूपा तथा तत्त्वज्ञान का बोध कराने वाली यह कला अर्धचन्द्र की तरह वक्र है।।४८।।

विमर्श—कंकालमालिनी तन्त्र में इसे चन्द्रमा की सत्रहवीं (१७वीं) कला कहा गया है—

अत्र नित्योदिता वृद्धिक्षयहीना अमा कला।
तन्मध्ये कुटिला निर्वाणाख्या सप्तदशी कला।।

[तदन्तर्बिन्दुस्वरूपाया निर्वाणशक्तेरवस्थितिः]

एतस्या मध्यदेशे विलसति परमापूर्वनिर्वाणशक्तिः
कोट्यादित्यप्रकाशा त्रिभुवनजननी कोटिभागैकरूपा।
केशाग्रस्यातिगुह्या निरवधिविगलत्प्रेमधाराधरा सा
सर्वेषां जीवभूता मुनिमनसि मुदा तत्त्वबोधं वहन्ती।।४९।।

निर्वाणकलान्तर्निर्वाणशक्तेरवस्थितिमाह—**एतस्या इति**। एतस्या निर्वाणकलाया मध्यदेशे परमा परब्रह्मस्वरूपा तथा अपूर्वा नास्ति पूर्वं यस्याः सा निखिल-प्रपञ्चसृष्टेरादौ वर्त्तमानत्वादित्यर्थः, निर्वाणशक्तिः विलसतीति सम्बन्धः। निर्वाणशक्तिं विशेषयति—कोट्यादित्यप्रकाशा अनन्तादित्यसदृशदीप्तिशालिनी, तथा त्रिभुवनजननी स्वर्गमर्त्त्यपातालरूपभुवनत्रयप्रसविनी। तथा केशाग्रस्य कोटिभागैकरूपा सूक्ष्म-तमेत्यर्थः। अत एवातिगुह्या सूक्ष्मतया दुर्विज्ञेया। निरवधिविगलत्प्रेमधाराधरा निरवधि अनवरतं विगलन्ती स्रवन्ती या प्रेमधारा सामरस्यानन्दजनिता परमामृतधारा तां धरतीति तथाभूता। **सर्वेषामिति**। सर्वेषां प्राणिनां जीवभूता जीवात्मस्वरूपा। तथा मुदा हर्षेण मुनिमनसि योगिनां हृदये तत्त्वबोधं वहन्ती परं बिन्दुरूपा निर्वाणशक्तिर्विलसतीत्यन्वयः।

अत्र एतस्या मध्यदेशे इत्यनेन निर्वाणकलान्तर्निर्वाणशक्तिस्थितेरभिधानेऽपि नादोपरि तस्याः स्थितिरित्यवधेयम्। तदुक्तं कङ्कालमालिनीतन्त्रे द्वितीयपटले—

निर्वाणाख्यान्तरगता वह्निरूपा निबोधिका।
नादोऽव्यक्तस्तदुपरि कोट्यादित्यसमप्रभा।
निर्वाणशक्तिः परमा सर्वेषां योनिरूपिणी।। इति।

इस निर्वाणकला के मध्य में परम और अपूर्व निर्वाणशक्ति प्रकाशित हैं। इसका प्रकाश करोड़ों सूर्यों के प्रकाश के सदृश है। यही शक्ति तीनों लोकों की माता और सभी प्राणियों की जीवनाधारस्वरूपा है। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। केश के अग्रभाग के करोड़वें भाग के समान सूक्ष्म है। निरन्तर प्रवहमान आनन्द की धारा

को इन्होंने धारण कर रखा है। मुनियों के हृदय में भगवती निर्वाण शक्ति ही तत्त्वज्ञान का बोध कराती हैं।।४९।।

विमर्श—'परमापूर्वशक्ति' परमा अर्थात् परब्रह्मस्वरूपा शक्ति। अपूर्वा अर्थात् जिसके पूर्व कुछ नहीं था। इस निखिल प्रपञ्चसृष्टि के पूर्व भी वे वर्तमान थीं।

निरवधि विगलत् प्रेमधाराधरा—शिव और शक्ति के समागम से उद्भूत होकर प्रेम अर्थात् आनन्द की जो धारा बह रही है, उस प्रेमधारा को इन्होंने धारण कर रखा है।

सर्वेषां जीवभूता—इस चराचर ब्रह्माण्ड के सभी जीव उनके ही अंश हैं। कहा भी गया है—जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी तरह शिव-शक्त्यात्मक बिन्दु से जीव निकलते हैं।

[निर्वाणशक्तेरन्तः परब्रह्मस्थानम्]

तस्या मध्यान्तराले शिवपदममलं शाश्वतं योगगम्यं
नित्यानन्दाभिधानं सकलसुखमयं शुद्धबोधप्रकाशम्।
केचिद् ब्रह्माभिधानं पदमिति सुधियो वैष्णवं तल्लपन्ति
केचिद्धंसाख्यमेतत् किमपि सुकृतिनो मोक्षवर्त्मप्रबोधम्।।५०।।

निरुक्तनिर्वाणशक्त्यन्तः शिवस्थानमाह—**तस्या इति**। तस्या निर्वाणशक्त्या मध्यान्तराले अभ्यन्तरस्थशून्ये अमलं निर्मलं मायामलरहितमित्यर्थः, शिवपदं परब्रह्मस्थानं वर्त्तते। तस्य स्वरूपमाह—शाश्वतं नित्यस्वरूपम्, योगिगम्यं योगिभिः स्वनुष्ठितयोगमात्रवेद्यं नित्यानन्दाभिधानं नित्यश्चासावानन्दश्चेति नित्यानन्दः तत्स्वरूपत्वान्नित्यानन्द इत्यभिधानं लोकव्यवहारो यस्य तत्, 'सच्चिदानन्दं ब्रह्मे'त्यादिश्रुतेर्नित्यानन्द इति नाम्नैव साधकास्तं कीर्त्तयन्तीत्यर्थः। तथा सकलसुखमयं सकलानां सुखमयं सर्वे साधकाः सुखमयत्वेनैव तदनुभवन्तीत्यर्थः। तथा शुद्धबोधप्रकाशं शुद्धबोधस्य तत्त्वज्ञानस्य प्रकाशो यस्मात् तत्, शुद्धं बोधं प्रकाशयतीति शुद्धबोधप्रकाशमिति वा।

सम्प्रदायभेदेनास्य संज्ञाभेदानाह—**केचिदिति**। केचित् सुधियो वेदान्तिकाः तत् शिवपदं परब्रह्माभिधानं लपन्ति कथयन्ति। अपरे वैष्णवाः तद्वैष्णवं पदं लपन्ति। केचिद् योगिनस्तत् हंसाख्यं हंसनामकं लपन्ति। अन्ये तु किमपि अनिर्वचनीयम् आत्मप्रबोधम् आत्मसाक्षात्कारस्थानं मोक्षरूपमालपन्तीत्यर्थः। एवञ्च सम्प्रदायभेदेन संज्ञाभेदेऽपि शैवशाक्तवैष्णवादीनां सर्वेषामेवोपासकानां चरमलक्ष्यभूतं पदमिदमित्यवधेयम्।

इस निर्वाण शक्ति के मध्य में मायामल से रहित शाश्वत शिवपद अर्थात् शिव का स्थान है। केवल योगमार्ग से अर्थात् योग का आश्रय ग्रहण करके ही इस तक पहुँचा जा सकता है। यही नित्यानन्द है, सकल (समस्त) सुखमय है, शुद्ध-बुद्ध-

स्वरूप है। सम्प्रदायभेद से इसके अलग-अलग नाम हैं। वेदान्ती लोग इस शिवपद को परब्रह्म कहते हैं। वैष्णव इसे विष्णुपद कहते हैं। कुछ लोग इसे 'हंस' कहते हैं और कुछ लोग इसे मोक्षस्थान कहते हैं।।५०।।

सहस्रार-सारांश

सुषुम्णा नाड़ी के ऊपरी भाग के अन्त में सहस्रदल कमल है। यह शुक्ल वर्ण और अधोमुखी है। इसके प्रत्येक दल में 'अ'कार से 'ल'कार-पर्यन्त वर्ण एक-एक के क्रम से अंकित हैं। वर्णों का रंग श्वेत है। कर्णिका में चन्द्रमण्डल है। चन्द्रमण्डल में त्रिकोण है, त्रिकोण में 'परंबिन्दु' है। इस 'परंबिन्दु' में चन्द्रमा की सोलहवीं अमा कला है। अमा कला में निर्वाण कला और निर्वाण कला में निर्वाण शक्ति है। उसकी कर्णिका में परमशिव का स्थान है। परमशिव ही गुरु हैं। निर्वाण शक्ति के अन्दर परब्रह्म का स्थान है।

सहस्रार

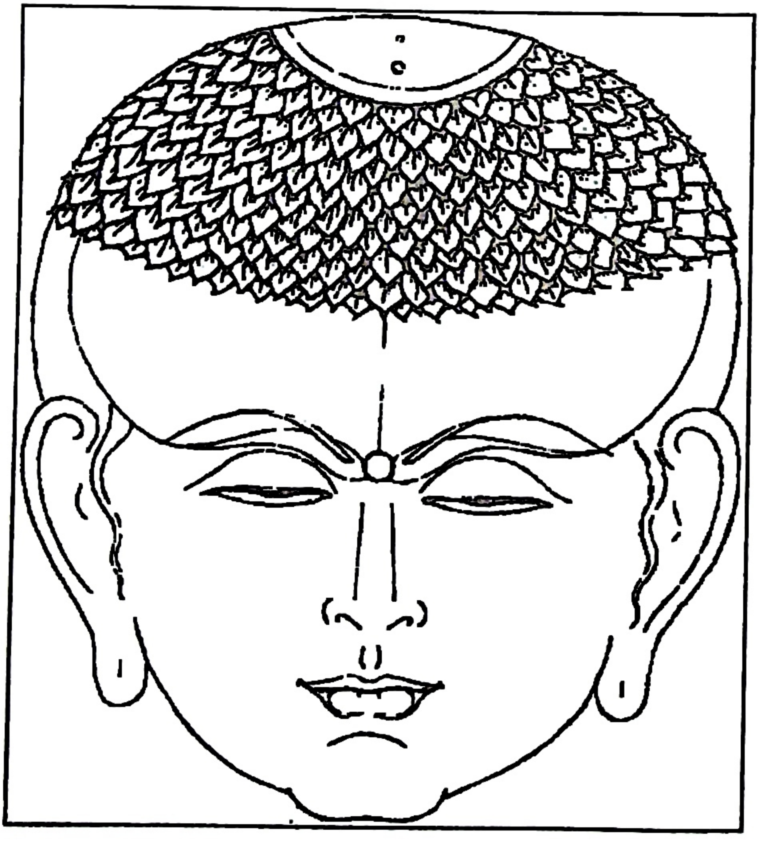

[कुण्डलिन्युत्थापनक्रमः]

हूङ्कारेणैव देवीं यमनियमसमभ्यासशीलः सुशीलो
ज्ञात्वा श्रीनाथवक्त्रात् क्रममपि च महामोक्षवर्त्मप्रकाशम्।
ब्रह्मद्वारस्य मध्ये विरचयति सतां शुद्धबुद्धस्वभावो
भित्त्वा तल्लिङ्गरूपं पवनदहनयोराक्रमेणैव तप्ताम्।।५१।।

एवं सहस्रदलकमलपर्यन्तमभिधाय सहस्रारे कुण्डलिन्या उत्थापनस्य क्रममुपदिशति—हूङ्कारेणेति। यमनियमसमभ्यासशीलः यमानां 'अहिंसा सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा' इत्युक्तलक्षणानां, नियमानां 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमा' इत्युक्तलक्षणानाञ्च योगाङ्गानां यः समभ्यासः सम्यग् दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारपूर्वकमनुष्ठानं तदेव शीलं यस्य तथाभूतः, अनवरतकठोर-तरयोगाभ्यासपरायण इत्यर्थः, सुशीलः योगप्रतिबन्धकीभूतानुष्ठानपरित्यागेन शिष्टतया प्रसिद्धयोगी श्रीनाथवक्त्राद् गुरुमुखान् महामोक्षवर्त्मप्रकाशं महामोक्षवर्त्मनो निर्वाण-मुक्तिमार्गस्य प्रकाशो यस्मात् तादृशं क्रमं मूलाधारतः सहस्रारे कुण्डलिन्युत्थापन-स्येतिकर्त्तव्यतां ज्ञात्वा शुद्धबोधस्वभावः शुद्धबोधे केवलज्ञानस्वरूपे परे ब्रह्मणि स्वो भावो यस्य तथाभूतः श्रीगुरुकृपया स्वयं ब्रह्मरूपतामापन्न इत्यर्थः। तां प्रसिद्धां देवीं कुण्डलिनीं पवनदहनयोराक्रमेणैव पवनः पूरकयोगेण देहाभ्यन्तरे समाहृतः कुम्भक-योगेन धृतश्च, दहनः निरुक्तपवनोद्दीप्तो मूलाधारकर्णिकान्तर्गतत्रिकोणस्थः कामाग्निः, तयोराक्रमणेन तप्तां तां प्रसिद्धां देवीं मूलाधारस्थितां कुण्डलिनीं स्वयम्भूलिङ्गं वेष्टयित्वा स्थितां सार्द्धत्रिवलयाकारां प्रसुप्तभुजगरूपिणीं जागरयित्वेत्यर्थः तल्लिङ्गरूपं स्वयम्भूलिङ्गच्छिद्रं भित्त्वा ब्रह्मद्वारस्य 'ब्रह्मद्वारं तदास्ये प्रविलसति सुधासाररम्य-प्रदेशम्' इत्येतत्प्रकाशीयतृतीयश्लोकोक्तस्य ब्रह्मनाडीमुखस्थितस्य मध्ये विरचयति स्थापयतीत्यर्थः। ब्रह्मनाडी तु तृतीयश्लोकेऽभिहिता। यत्तु केनचित् टीकाकारेण नड् गताविति धातोर्नाडीति पदं निष्पाद्य ब्रह्मनाडीशब्दस्य कुण्डलिन्याः परमशिवसन्निधि-गमनपथरूपचित्रिणीनाड्यन्तर्गतशून्यभाग इत्यर्थममूलकं कल्पयित्वा 'न तु चित्रिणी-मध्ये नाड्यन्तरमस्तीति निष्कर्ष' इत्युक्तम्, तन्न—

ईडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा चित्रिणी तथा।
ब्रह्मनाडी च तन्मध्ये पञ्च नाड्यः प्रकीर्त्तिताः।।

इति तोडलतन्त्राष्टमोल्लासवचनेन निरुक्तानां पञ्चानामन्यतमत्वेन ब्रह्मनाड्या निरूपणात्। कुण्डलिन्याः स्वरूपन्तु पूर्वमेवोपदर्शितम्। श्लोकेनानेन मूलाधाराद् ब्रह्मद्वारपर्यन्तं कुण्डलिन्या उत्थापनक्रमो दर्शितः। हुङ्कारेण कुण्डलिन्या उत्थापनस्य क्रममाह शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां चतुर्थोल्लासे—

हुङ्कारवर्णसम्भूता कुण्डली परदेवता।
विभर्त्ति कुण्डली देहमात्मानं हंसमन्त्रतः।।

प्रवृद्धवह्निसंयोगे मनसा मारुतैः सह।
ऊद्ध्वं नयेत् कुण्डलिनीं जीवात्मसहितां पराम्।। इति।

तथा—

षट्चक्रसन्धिमार्गेण सुषुम्णावर्त्मना तथा।
हंसेन मनुना देवीं सहस्रारं समानयेत्।। इति।

अत्र हूङ्कारेणैवेत्यादिपूर्ववचनेन हूङ्कारेण कुण्डलिन्या उत्थापनमभिहितम्। षट्चक्रसन्धिमार्गेणेत्याद्युत्तरवचनेन तु हंसमन्त्रेणेति क्रमभेदो दृश्यते। कङ्कालमालिनीतन्त्रे द्वितीयपटले—

आकृष्य प्रणवेनैव जीवात्मानं नगेन्द्रजे।
कुण्डलिन्या सह प्राणं गन्धमादाय साधकः।
सोऽहन्तु मनुना देवीं स्वाधिष्ठानं समानयेत्।।

इत्यनेन हृदयाज्जीवात्मानं प्रणवेन मूलाधारे नीत्वा हंसमन्त्रेण जीवात्मना सह कुण्डलिन्या उत्थापनमुपदिष्टम्।

हृदयाद्धंसमनुना नीत्वा जीवं मुखाम्बुजे।
हूङ्कारेण समुत्थाप्य कुण्डलीं परदेवताम्।।

इति कालीकुलामृतवचनेन तु हंसमनुना जीवात्मनो मूलाधारनयनं हूङ्कारेण जीवात्मसहितायाः कुण्डलिन्या उत्थापनमिति लभ्यते। एवञ्च पूर्वपूर्वप्रमाणपर्यालोचनया प्रणवेन जीवात्मानं कुण्डलिन्यां नीत्वा हंसमन्त्रेणोत्थापनमित्येकः कल्पः, हंसमन्त्रेण जीवात्मानं तत्र नीत्वा हूङ्कारेणोत्थापनमित्यपर इत्यवगम्यते। ग्रन्थकृता तु हूङ्कारेणैवेत्येवकारेण द्वितीय एव कल्पः स्वाभिमतत्वेनोपदर्शित इति सिद्धान्तः।

मूलाधार से सहस्रार-पर्यन्त नाड़ीचक्र एवं षट्चक्रों की शरीर में स्थिति, उनके वर्ण, आकृति, उनकी विभूतियों तथा विशेषताओं का यथाक्रम निरूपण करने के बाद अब इस श्लोक से कुण्डलिनी-योग का निरूपण प्रारम्भ किया जा रहा है। एतदर्थ सर्वप्रथम कुण्डलिनी के उत्थापन या जागरण की क्रिया बताई जा रही है।

यम और नियम का सम्यक् रूप से अभ्यास करते हुए गुरुदेव से महामोक्षमार्ग के क्रम का भली-भाँति ज्ञान प्राप्त करके कुण्डलिनी उत्थापन की क्रिया प्रारम्भ की जाय। योगाभ्यास-निरत ऐसा साधक 'हूं'कार-पूर्वक पवन (वायु) और दहन (अग्नि) के आक्रमण से देवी कुण्डलिनी को जगाकर स्वयम्भू लिंग के छिद्र का भेदन करते हुए उसे ब्रह्मद्वार तक ले आये।।५१।।

विमर्श—कुण्डलिनी के उत्थापन के लिये पहिले से ही शारीरिक-मानसिक और आध्यात्मिक तैयारी करनी पड़ती है। एतदर्थ सर्वप्रथम यम, नियम, आसन और प्राणायाम का अभ्यास करना पड़ता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया,

क्षमा, आर्जव, धृति, मिताहार और शौच—ये दस यम हैं। अस्तेय अर्थात् अपरिग्रह, आर्जव—शिष्टता एवं कोमलता, धृति (सहिष्णुता) मिताहार है—यथोचित् खान-पान। जप, सन्तोष, आस्तिकता, देवपूजन, दान, सिद्धान्त, श्रवण, ह्रीं, मति और तप—ये दस नियम हैं। यम-नियम के अभ्यास से लोभ, काम, क्रोध, मोह, मद, अहंकार आदि दुष्प्रवृत्तियों का शमन होगा। यह मनो-आध्यात्मिक तैयारी है।

साधना के लिये सुखपूर्वक यथा-उपयोगी ढंग से बैठने की मुद्रा 'आसन' है। विभिन्न आसनों का अभ्यास करके शरीर को सक्षम एवं लचकदार बनाया जाता है। श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति को विच्छेदित करके प्राण-वायु का सुखपूर्वक रोधन प्राणायाम है। कुण्डलिनी-जागरण के लिये ये शारीरिक तैयारियाँ हैं। इनके साथ ही गुरुमुख से मोक्षद्वार के उद्घाटन एवं उस पर आरोहण-क्रम का ज्ञान प्राप्त करना होता है। इसके बाद ही कुण्डलिनी उत्थापन का उपक्रम किया जाता है।

कुण्डलिनी-जागरण या उत्थापन एक व्यावहारिक क्रिया है। अतः केवल पुस्तक पढ़कर इसे सीखा नहीं जा सकता। गुरुदेव से इसकी व्यावहारिक शिक्षा ली जाती है, फिर भी विभिन्न तन्त्र-ग्रन्थों में इस क्रिया का सैद्धान्तिक निरूपण किया गया है, जिसका सारांश निम्नानुसार है—

साधक को चाहिए कि वह यथा अभ्यस्त आसन पर बैठे। बाँयीं हथेली पर दाहिनी हथेली को रखकर उन्हें अपने अंक में स्थापित कर ले। खेचरी मुद्रा बाँधकर चित्त को स्थिर कर ले। तत्पश्चात् यथाविधि पूरक करे। प्राणवायु को शरीर में भरकर जालन्धर मुद्रा से हृदय को आकुञ्चित करे। ऐसा करने से जब उसे यह लगे कि नाड़ीमार्ग से वायु का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर होने लगा है, गुदाद्वार को सिकोड़कर अपान की गति भी अवरुद्ध कर दे। ऊपर और नीचे के अर्थात् दोनों मार्ग अवरुद्ध होने से प्राणवायु सम्पीडित (Compressed) होगी। इस सम्पीडित वायु को मूलाधार में ले आये। मूलाधार में लाकर इस सम्पीडित वायु का बाँयीं ओर से दाहिनी ओर आवर्तन करे। वायु के इस तीव्र आवर्तन से मूलाधार की कर्णिका में स्थित 'काम अग्नि' प्रदीप्त होगी। काम अग्नि के ताप से निद्रा मग्न कुण्डलिनी उत्तप्त और उत्तेजित होगी। इसके बाद सम्पीडित वायु से स्वयम्भू लिंग के शिरोवर्ती छिद्र का भेदन करके कुण्डलिनी को उसमें प्रविष्ट कराया जाय। इस तरह कुण्डलिनी ब्रह्मद्वार में पहुँचकर ऊर्ध्वगामिनी होगी।

[कुण्डलिनीयोगप्रकारः]

भित्त्वा लिङ्गत्रयं तत् परमरसशिवे सूक्ष्मधाम्नि प्रदीप्ते
सा देवी शुद्धसत्त्वा तडिदिव विलसत्तन्तुरूपा सुसूक्ष्मा।
ब्रह्माख्यायाः शिरायाः सकलसरसिजं प्राप्य देदीप्यते तन्
मोक्षाख्यानन्दरूपं घटयति सहसा सूक्ष्मतालक्षणेन।।५२।।

अथ सहस्रारे कुण्डलिनीयोजनक्रममाह—**भित्त्वेति**। सा देवी निरुक्तलक्षणा कुण्डलिनी तल्लिङ्गत्रयं मूलाधारचक्रस्थितं स्वयम्भूलिङ्गम्, अनाहतचक्रस्थं बाणाख्यलिङ्गम्, आज्ञाचक्रस्थम् इतराख्यलिङ्गञ्चेति त्रितयमित्यर्थ:, भित्त्वा लिङ्गैरेतै: कृतं सहस्रारगमनपथसंरोधमपाकृत्य ब्रह्माख्याया: शिराया निरुक्तब्रह्मनाड्या: सम्बन्धि सकलसरसिजं प्राप्य मूलाधारत: स्वाधिष्ठानं ततो मणिपूरं ततोऽनाहतमित्येवंक्रमेण निरुक्तपद्मानि गत्वा शुद्धसत्त्वा तुरीयचैतन्यस्वरूपा तथा तडिदिव विद्युत्सदृश-दीप्तिशालिनी सूक्ष्मतालक्षणेन सूक्ष्मतास्वरूपेण विलसत्तन्तुरूपस्वरूपा विलसत: शोभमानस्य तन्तोर्मृणालसूत्रस्य रूपमिव स्वरूपं यस्या: तथाभूता सा देवी कुण्डलिनी प्रदीप्ते प्रकृष्टदीप्तिशालिनी, तथा सूक्ष्मधाम्नि सूक्ष्मं धाम तेजो यस्य तादृशे परमरसशिवे 'तस्या मध्यान्तराले शिवपदममलं शाश्वतं योगिगम्यम्' इत्युक्तपरंबिन्दुरूपे शिवे परमशिवे इति वा। क्रमेण गत्वेत्यर्थ:। सहसा मोक्षाख्यानन्दरूपं साधकानां निरवच्छिन्नानन्दरूपां मुक्तिं घटयति निर्वर्त्तयतीत्यर्थ:।

देवी कुण्डलिनी मूलाधार-स्थित स्वयम्भू लिंग, अनाहत चक्र में स्थित बाण-लिंग तथा आज्ञाचक्र में स्थित इतरलिंग का भेदन करके सहस्रारगमन पथ के संरोधों को हटाते हुए ब्रह्मनाड़ी के मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरक-अनाहत-विशुद्ध एवं आज्ञा-संज्ञक षट्चक्रों का संक्रमण करके कमलतन्तुवत् अपनी सूक्ष्मता तथा विद्युद्वत् देदीप्यमान अपनी कान्ति के साथ परमशिव के अत्यन्त तेजोमय सूक्ष्म धाम में पहुँचकर साधक को सहसा ही मोक्षरूप निरवच्छिन्न आनन्द प्रदान करती हैं।।५२।।

[प्रागुक्तबिन्दुमयशिवे कुलकुण्डलीयोजनक्रम:]

नीत्वा तां कुलकुण्डलीं लयवशाज्जीवेन सार्द्धं सुधी-
र्मोक्षे धामनि शुद्धपद्मसदने शैवे परे स्वामिनि।
ध्यायेदिष्टफलप्रदां भगवतीं चैतन्यरूपां परां
योगीशो गुरुपादपद्मयुगलालम्बी समाधौ यत:।।५३।।

अथ निरुक्तपरंबिन्दुरूपशिवे कुण्डलिनीयोजनस्य क्रममाह—**नीत्वेति**। गुरुपाद-पद्मयुगलालम्बी श्रीगुरुचरणसरोरुहैकशरण: समाधौ चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणे योगे यत: तदेकनिष्ठ इत्यर्थ:, योगीश: योगिश्रेष्ठ: तां निरुक्तलक्षणां कुलकुण्डलीं जीवेन सार्द्धं—

हृदयाद्धंसमनुना नीत्वा जीवं मुखाम्बुजे।

इत्यादि पूर्वोपदर्शितकालीकुलामृतवचनानुसारेण अनाहतचक्रात् मूलाधारे नीतेन जीवेन जीवात्मना सार्द्धं शैवे परंबिन्दुरूपे परे श्रेष्ठे स्वामिनि स्वामिसमीपे। यद्वा परे शैवे परशिवरूपे स्वामिनि तत्सन्निधाने लयवशात् लयक्रमेण नीत्वा। स्वामिन: स्थानं विशेषणप्रदर्शनमुखेनाह—**शुद्धेति**। शुद्धं पद्मं सहस्रारपद्मं सदनं यस्य तथाभूते सहस्रारवर्त्तिनीत्यर्थ:, तथा मोक्षे धामनि मुक्तिसम्पादके स्थाने इत्यर्थ:। जीवात्मना सह कुण्डलिन्या उन्नयनमाह शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां चतुर्थोल्लासे—

प्रवृद्धवह्निसंयोगे मनसा मारुतैः सह।
ऊद्ध्वं नयेत् कुण्डलिनीं जीवात्मसहितां पराम्।। इति।

एवं सहस्रारे कुण्डलिनीयोगमभिधाय तस्या ध्यानप्रकारमाह—**ध्यायेदिति।** इष्टफलप्रदां स्वाभीष्टफलदायिनीमिष्टदेवतारूपामित्यर्थः, परां परंबिन्दुरूपां परशिवरूपां वा, तथा चैतन्यरूपाम्, एतेनास्याः परंबिन्दुरूपत्वचैतन्यरूपत्वयोः तद्रूपेण शिवेनाभिन्नरूपतां चिन्तयेदित्यर्थादुक्तं भवति। व्यक्तमाह शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां चतुर्थोल्लासे कुण्डलिनीं प्रकृत्य—

मूलाधारान्महेशानि सहस्रारे समानयेत्।
शम्भुगतां परां शक्तिमेकीभावं विचिन्तयेत्।
ध्यायेत् कुण्डलिनीं तत्र इष्टदेवस्वरूपिणीम्।। इति।

अत्र मूले लयवशादित्युक्तम्। लयक्रमेणोन्नयनप्रकारस्तु—मूलाधारकमलकर्णिकान्तर्गतत्रिकोणगह्वरस्थितायां कुण्डलिन्यामनाहतचक्राज्जीवात्मानं हंसमन्त्रेण समानीय निरुक्तत्रिकोणस्थितानामैन्द्रबीजब्रह्मकामदेवादीनां पृथिव्यां पृथिव्याश्च स्वकारणभूते गन्धतत्त्वे विलयं विधाय जीवात्मानं कुण्डलिनीं गन्धतत्त्वञ्च हूङ्कारेण स्वाधिष्ठाने विलापयेत्। तदुक्तं कङ्कालमालिनीतन्त्रे द्वितीयपटले मूलाधारपद्मं प्रकृत्य—

तत्कर्णिकायां देवेशि त्रिकोणमतिसुन्दरम्।
तथा— त्रिकोणाख्ये तु देवेशि लङ्कारं चिन्तयेत्तथा।
ब्रह्माणं तत्र सञ्चिन्त्य कामदेवञ्च चिन्तयेत्।।

इत्याद्यभिधाय,

एतानि गिरिजे मातः पृथ्वीं नीत्वा गणेश्वरि।
तन्मध्ये लिङ्गरूपन्तु कुण्डलीवेष्टितं प्रिये।।

इत्यादिना स्वयम्भूलिङ्गकुण्डलिन्योः स्वरूपं निर्णीय,

पूर्वोक्तां पृथिवीं धन्यां गन्धे नीत्वा महेश्वरि।
आकृष्य प्रणवेनैव जीवात्मानं नगेन्द्रजे।।
कुण्डलिन्या सह प्राणं गन्धमादाय साधकः।
सोऽहन्तु मनुना देवि स्वाधिष्ठाने प्रवेशयेत्।। इति।

अत्र वचने यत् प्रणवेनाकर्षणं सोऽहमित्यनेनोत्थापनमुपदिष्टं तन्मतान्तरम्, नेदं पूर्णानन्दसम्मतमिति विस्तरतः प्रतिपादितं 'हूङ्कारेणैव देवी'मित्याद्येकपञ्चाशत्तमश्लोकटीकायाम्। इति कुण्डलिन्याः स्वाधिष्ठानोन्नयनप्रक्रिया।

ततश्च तत्र कर्णिकान्तःस्थितवारुणबीजविष्णुशक्त्यादीनां जले जलस्य च स्वकारणभूते रसतत्त्वे लयं विधाय तद्रसतत्त्वं जीवात्मानं कुण्डलिनीञ्च हूङ्कारेण मणिपूरे विलापयेत्। तदुक्तं तत्रैव—

तत्कर्णिकायां वरुणं तत्रापि भावयेद्धरिम्।
युवानं राकिणीं शक्तिं चिन्तयित्वा वरानने।।
रसनेन्द्रियपूपस्थं जलञ्च कामलालसे।
एतानि गन्धञ्च शिवे रसे नीत्वा वरानने।।
जीवात्मानं कुण्डलिनीं रसञ्च मणिपूरके।
नीत्वा परमयोगेण तत् पद्मं दिग्भवं प्रिये।।

इति मणिपूरोन्नयनप्रक्रिया।

ततश्च तत्कर्णिकान्तर्विलसद्वह्निबीजरुद्रलाकिनीशक्त्यादीनां तेजसि तेजसश्च स्वकारणभूते रूपतत्त्वे लयं विधाय तद्रूपतत्त्वं जीवात्मानं कुण्डलिनीञ्च अनाहतचक्रे विलापयेत्। तदुक्तं तत्रैवानाहतपद्मं प्रकृत्य—

तत्कर्णिकायां सुश्रोणि वह्निं सञ्चिन्त्य साधकः।
तत्र रुद्रः स्वयं कर्त्ता संहारे सकलस्य च।।
लाकिनीशक्तिसंयुक्तं भावयेत्तं मनोहरम्।
तत्र चक्षुरिन्द्रियञ्च ध्यात्वा तेजोमयं शिवे।।
एतद्रसञ्च सुभगे रूपे नीत्वा महाभगे।
जीवात्मानं कुण्डलिनीं रूपञ्चानाहते नयेत्।। इति।

इति अनाहतोन्नयनप्रक्रिया।

ततश्चानाहतचक्रकर्णिकान्तरालस्थवायुबीजेश्वरकाकिनीशक्त्यादीनां वायौ वायोश्च स्पर्शतत्त्वे लयं विधाय तत् स्पर्शतत्त्वं जीवात्मानं कुण्डलिनीञ्च निरुक्तविशुद्धचक्रे विलापयेत्। तदुक्तं तत्रैव अनाहतचक्रं प्रकृत्य—

तत्कर्णिकायां वायुञ्च जीवस्थाननिवासिनम्।
तत्र योनेर्मण्डलञ्च बाणलिङ्गविराजितम्।।
काकिनीशक्तिसंयुक्तं तत्र वायुं त्वगिन्द्रियम्।
एतानि रूपं संयोज्य स्पर्शे त्वमलकारिणि।
जीवं कुण्डलिनीं स्पर्शं विशुद्धे स्थापयेत्ततः।। इति।

इति विशुद्धचक्रोन्नयनप्रक्रिया।

ततश्चैतत् षोडशदलकमलकर्णिकान्तरालस्थितानामाकाशबीजसदाशिवशाकिनीशक्त्यादीनाम् आकाशे आकाशस्य च शब्दतत्त्वे लयं विधाय तच्छब्दतन्मात्रं जीवात्मानं कुण्डलिनीञ्च निरुक्ताज्ञाचक्रे विलापयेत्। तदुक्तं तत्रैव विशुद्धं प्रकृत्य—

तत्कर्णिकायामाकाशं शिवञ्च शाकिनीयुतम्।
वाचं श्रोत्रञ्च आकाशे संस्थाप्य नगनन्दिनि।।
एतानि स्पर्शं शब्दे वै नीत्वा शङ्करि मत्प्रिये।
जीवं कुण्डलिनीं शब्दमाज्ञाचक्रे निधापयेत्।। इति।

इत्याज्ञाचक्रोन्नयनप्रक्रिया।

ततश्चाज्ञाचक्रकर्णिकान्त:स्थितानामितरशिवहाकिनीशक्त्यादीनां सर्वेषां मनसि लयं विधाय जीवात्मानं कुण्डलिनीं मनश्च सहस्रारे नयेत्। तदुक्तं तत्रैव—

जीवात्मानं कुण्डलिनीं मनश्चापि महेश्वरि।
सहस्रारे महापद्मे मनश्चापि (?) नियोजयेत्।। इति।

अत्र निरुक्तशब्दतत्त्वस्याहङ्कारेऽहङ्कारस्य महत्तत्त्वे महत्तत्त्वस्य हिरण्यगर्भाख्यसूक्ष्मप्रकृतौ तस्याश्च परबिन्दौ विलापनं कर्त्तव्यमिति लयक्रम:। तदुक्तं कालीचरणकृतषट्चक्रटीकाधृतमन्त्रतन्त्रप्रकाशे—

अहङ्कारे हरेद् व्योम सशब्दं तन्महत्यपि।
महच्च सर्वशक्तीनामव्यक्ते कारणे परे।।

सच्चिदानन्दरूपं यद् वैष्णवं कारणं परम्।
पृथिव्यादिक्रमात् सर्वं तत्र लीनं विचिन्तयेत्।। इति।

एवञ्च सर्वेषामेव पृथिव्यादीनां तदाश्रितानाञ्च स्वस्वकारणे लय इति फलितम्।

गुरुदेव के चरणयुगलों के प्रति एकनिष्ठ साधक 'लयक्रमपूर्वक' देवी कुण्डलिनी को उनके स्वामी परमशिव के श्वेत पद्म में स्थित मोक्षधाम में लाकर अभीष्ट फलदायिनी इष्टदेवता के रूप में ध्यान करे।।५३।।

विमर्श—'लयक्रमपूर्वक'—परमशिव का सामरस्य पाने के लिये देवी कुण्डलिनी मूलाधार चक्र से एकाकी नहीं; अपितु इन चक्रों में स्थित तत्त्वों, तन्मात्राओं, अधिष्ठातृ शक्तियों और देवताओं का लय करते हुए जीवात्मा के साथ परमशिव के धाम में आती हैं। तन्त्रग्रन्थों में यथा-विस्तार से निरूपित यह लयक्रम निम्नानुसार है—

(१) अनाहतचक्र में स्थित प्रदीपकलिकाकार 'जीवात्मा' को 'हंस' मन्त्र का जप करते हुए मूलाधार की कर्णिका के अन्तर्गत त्रिकोण में स्थित कुण्डलिनी में लायें। वहाँ स्थित इन्द्रबीज 'लं', ब्रह्मा, डाकिनी शक्ति और कामदेव का पृथ्वी में, पृथ्वी का अपने कारणभूत गन्धतन्मात्रा में विलीन करें। जीवात्मा-कुण्डलिनी और गन्ध को 'हुं' मन्त्र का जप करते हुए स्वाधिष्ठान में लायें।

(२) स्वाधिष्ठान चक्र की कर्णिका में स्थित वरुणबीज 'वं', विष्णु तथा राकिनी का जल में, जल का उसके कारणभूत 'रस' तन्मात्रा में लय करे। जीवात्मा, कुण्डलिनी और 'रस' को मणिपूरक चक्र में लाकर विलीन कर दे।

(३) मणिपूरक चक्र की कर्णिका में स्थित अग्निबीज 'रं', रुद्र और लाकिनी शक्ति का तेज में, तेज का 'रूप' तन्मात्रा में और इन सबका अनाहत में विलय कर दें।

(४) अनाहत चक्र की कर्णिका में स्थित वायुबीज 'यं', ईश्वर और काकिनी शक्ति का वायु में, वायु का स्पर्श तन्मात्रा में लय करें। जीवात्मा-कुण्डलिनी और स्पर्श को विशुद्ध चक्र में लाकर विलीन कर दें।

(५) विशुद्ध चक्र की कर्णिका में स्थित आकाशबीज 'हं', सदाशिव एवं शाकिनी शक्ति का आकाशतत्त्व में विलय करें। आकाश का 'शब्द' तन्मात्रा में लय करें। जीवात्मा-कुण्डलिनी तथा शब्द को आज्ञाचक्र में लाकर विलीन कर दें।

इसके बाद आज्ञाचक्र की कर्णिका में स्थित इतरशिव तथा हाकिनी शक्ति का 'मन' में लय करें। मन-सहित जीवात्मा और कुण्डलिनी को सहस्रार में लायें। यहाँ मन का अहंकार में, अहंकार का महत् तत्त्व में, महत् तत्त्व का सूक्ष्म प्रकृति में और सूक्ष्म प्रकृति का परं बिन्दु में लय करें।

इसके बाद अक्षरों का विलोमक्रम से एक अक्षर का दूसरे अक्षर में विलय करें। यथा—'क्ष'कार का 'ळ'कार में, 'ळ'कार का 'ह'कार में। यह लय-क्रम है।

[पुनः कुण्डलिन्या मूलाधारप्रापणममृतधारया स्वेष्टदैवततर्पणञ्च]

लाक्षाभं परमामृतं परशिवात् पीत्वा ततः कुण्डली
पूर्णानन्दमहोदयात् कुलपथान्मूले विशेत् सुन्दरी।
तद्दिव्यामृतधारया स्थिरमतिः सन्तर्पयेद्दैवतं
योगी योगपरम्पराविदितया ब्रह्माण्डभाण्डे स्थितम्।।५४।।

पुनः कुण्डलिन्याः सहस्रारान्मूलाधारप्रापणमाह—लाक्षाभमिति। ततः सा कुण्डलिनी परशिवात् लाक्षाभं लाक्षासदृशवर्णविशिष्टं परमामृतं परशिवसामरस्यामृतं पीत्वा नित्यानन्दमहोदयात् नित्यानन्दस्य महान् उदयो यत्र तथाभूतात् तस्मात्, कुलपथादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी। निरुक्तसहस्रारगमनपथं प्राप्य पुनर्मूले मूलाधारचक्ररूपस्वावासस्थाने विशेत् प्रविशति। येन क्रमेण पूर्वं सहस्रारं गता तेनैव क्रमेण प्रत्यावृत्य पुनः सार्द्धत्रिवलायाकारेण स्वयम्भूलिङ्गं वेष्टयित्वा तिष्ठतीत्यर्थः। व्यक्तमाह शाक्तानन्दतरङ्गिण्यां चतुर्थपटले सहस्रारं प्रकृत्य—

सदाशिवो महादेवो यत्रास्ते परमेश्वरि।
तत्र गत्वा महादेवी कुण्डली परदेवता।।
देवीं रूपवतीं कामसमुल्लासविहारिणीम्।
मुखारविन्दगन्धेन मोदितं परमं शिवम्।।
प्रबोध्य परमेशानि तत्रोपरि वसेत् प्रिये।
शिवस्य मुखपद्मं हि चुचुम्बे कुण्डली शिवे।।
सदाशिवेन देवेशि क्षणमात्रं रमेत् प्रिये।
अमृतं जायते देवि तत्क्षणात् परमेश्वरि।।

तदुद्भवामृतं देवि लाक्षारससमोपमम्।
तेनामृतेन देवेशि तर्पयेत् परदेवताम्।।
षट्चक्रदेवतास्तत्र सन्तर्प्यामृतधारया।
आनयेत्तेन मार्गेण मूलाधारं पुनः सुधीः।। इति।

सहस्रारान्मूलाधारे कुण्डलिन्या अवतरणस्य क्रमोऽपि स्फुटं प्रदर्शितस्तत्रैव—

सदा षोडशवर्षीयां पीनोन्नतपयोधराम्।

इत्यादि कुण्डलीध्यानमभिधाय—

एवं ध्यात्वा जपेन्मन्त्रं शतमष्टोत्तरं शिवे।
मातृकामालया जप्ता आज्ञाचक्रं समानयेत्।।
तत्रेतरशिवलिङ्गेन योजयेत् कुण्डलीं पराम्।
ध्यात्वा ब्रह्ममयीं तत्र शतमष्टोत्तरं जपेत्।।
ततो विशुद्धौ तां नीत्वा शिवेन सह योजयेत्।
तामिष्टदेवतां ध्यात्वा जपेदष्टशतं प्रिये।।
हृत्पद्मे तां ततो नीत्वा बाणेन सह योजयेत्।
देवीरूपाञ्च तां ध्यात्वा जपेदष्टोत्तरं शतम्।।
मणिपूरे तु तां नीत्वा शिवेन सह योजयेत्।
देवीरूपान्तु तां ध्यात्वा शतमष्टोत्तरं जपेत्।।
स्वाधिष्ठाने तु तां नीत्वा शिवेन सह योजयेत्।
योजयित्वा जपेन्मन्त्रं देवीं ध्यात्वा प्रियंवदे।।
शतमष्टोत्तरं जप्त्वा मूलाधारे तु तां नयेत्।
तत्र लिङ्गं स्वयम्भूञ्च ध्यायेत् कुन्दसमप्रभम्।। इत्यादि।

निरुक्तामृतधाराकरणकेष्टदेवतातर्पणमाह—**तदिति**। स्थिरमतिर्निरुक्तयोगानुष्ठाने दृढप्रत्ययविशिष्टो योगी योगपरम्पराविदितया निरन्तरयोगाभ्यासानुभूतस्वरूपया तद्दिव्यामृतधारया पूर्वमभिहितयेत्यर्थः। दैवतम् इष्टदेवीं सन्तर्पयेत्। दैवतं विशेषयति—**ब्रह्माण्डभाण्डे स्थितमिति**। ब्रह्माण्डस्य भाण्डं पात्रं योनिरूपमित्यर्थः कुण्डलिनी तत्र स्थितमित्यर्थः।

सौन्दर्यशालिनी देवी कुण्डलिनी परशिव से लाल रंग के परम अमृत का पान करके कुलपथ से होती हुई वापस आकर मूलाधार में प्रवेश करती हैं। स्थिरमति योगी को गुरुपरम्परा से अवगत ब्रह्माण्डभाण्ड में स्थित इस दिव्य अमृत से इष्टदेवता और षट्चक्रों के डाकिनी आदि देवताओं का तर्पण करना चाहिए।।५४।।

विमर्श—'लाक्षाभं परमामृतम्'—शिव और शक्ति के समागम से क्षरित परम अमृत, जिसका रंग लाक्षा (लाख) के समान लाल है। यद्यपि कविपरम्परा में सुधा

का श्वेत वर्ण प्रसिद्ध है; मगर शिव-शक्ति के समागम से उद्भूत इस रस को अमृत माना गया है; क्योंकि मूलाधार से सहस्रार की ओर गमन करते समय देवी कुण्डलिनी ने जिन पदार्थों को स्वयं में विलीन कर लिया था, अपनी वापिसी यात्रा में वे उन्हीं पदार्थों को यथाक्रम स्थापित करके उनमें इसी रस का संचार करती हैं और इसके प्रभाववश वे पुन: जीवन्त और दृश्यमान हो जाते हैं। यह अमृत ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधार-पर्यन्त धारा के रूप में क्षरित होता है। कुलार्णवतन्त्र (५/१०७) में उसे ही पारमार्थिक 'मद्य' कहा गया है।

कुलपथ—चित्रिणी नाड़ी की अन्तर्वर्तिनी ब्रह्मनाड़ी, जिसका एक सिरा मूलाधार से और दूसरा सिरा सहस्रार से जुड़ा है। चूँकि देवी कुण्डलिनी इसी नाड़ी से मूलाधार से सहस्रार और सहस्रार से मूलाधार तक गमनागमन करती हैं; अत: आरोहक्रम से इसे ब्रह्मपथ और अवरोहक्रम में कुलपथ कहते हैं।

[षट्चक्रक्रमज्ञानफलम्]

ज्ञात्वैतत् क्रममुत्तमं यतमना योगी समाधौ युतः
श्रीदीक्षागुरुपादपद्मयुगलामोदप्रवाहोदयात् ।
संसारे न हि जन्यते न हि कदा संक्षीयते संक्षये
पूर्णानन्दपरम्पराप्रमुदितः शान्तः सतामग्रणीः।।५५।।

एवं षट्चक्रप्रक्रियामभिधाय तज्ज्ञानफलमाह—ज्ञात्वेति। समाधौ युतः समाधिनिष्ठो योगी एतत् श्रीदीक्षागुरोः पादपद्मयुगले य आमोदप्रवाहः तत्सेवयाधिगता ब्रह्मज्ञानानन्दपरम्परा तस्य उदयात् एतत्क्रमं प्रागुक्तप्रक्रियां ज्ञात्वा संसारे न जन्यते नोत्पद्यते, संक्षयेऽपि प्रलयकालेऽपि न संक्षीयते। स नित्यानन्दपरम्परया धारावाहिकब्रह्मस्वरूपानन्दानुभवेन शान्तः सतामग्रणीश्च भवति।

श्रीदीक्षागुरु के निरन्तर आनन्ददायी चरण-युगलों की सेवा करके जिस यम एवं नियमशील योगी ने इस षट्चक्र-योग के क्रम का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसका संसार में पुनर्जन्म नहीं होता। महाप्रलय होने पर भी उसका संक्षय नहीं होता। वह अपने शाश्वत आनन्द में स्थित एवं प्रमुदित रहता है। मन की चंचल वृत्तियों के शमन के फलस्वरूप शान्तचित्त ऐसे योगी की गणना सर्वश्रेष्ठ योगियों में की जाती है॥५५॥

[एतत्षट्चक्रप्रकरणाध्ययनफलम्]

योऽधीते निशि सन्ध्ययोरथ दिवा योगी स्वभावस्थितो
मोक्षद्वारनिदानमेतदमलं शुद्धं सुगुप्तक्रमम्।
श्रीमच्छ्रीगुरुपादपद्मयुगलालम्बी यतान्तर्मना-
स्तस्यावश्यमभीष्टदैवतपदे चेतो नरीनृत्यते।।५६।।

इति श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचिते श्रीतत्त्वचिन्तामणौ षष्ठः प्रकाशः॥६॥

एतत्षट्चक्रप्रकरणाध्ययनफलमाह—**योऽधीत इति।** यः श्रीमत् श्रीगुरुपाद-पद्मयुगलम् आलम्बितुं शीलमस्य सः तथा यतान्तर्मना यतम् अन्तरात्मनि मना यस्य तथाभूतः योगी स्वभावस्थितः स्वस्मिन् आत्मनि भावो यस्य तादृशः सन्, निशि रात्रौ सन्ध्ययोः प्रातः सायञ्च, अथवा दिवा मोक्षद्वारनिदानमेतद् योगविवरणं अधीते तस्य योगिनः अभीष्टदैवतपदे स्वेष्टदेवताचरणे चेतो नरीनृत्यते। एतद्योगप्रभावेण स्वेष्टदेवता-स्वरूपावलोकनात् तत्र चित्तमतिमात्रमुल्लासमधिगच्छतीत्यर्थः।

अपने दीक्षादाता गुरुदेव के चरण-कमलों के प्रति पूर्णतः समर्पित एवं स्वभाव-स्थित अर्थात् अपने आध्यात्मिक उत्थान में निरन्तर प्रयासशील जो योगी मोक्षज्ञान-प्रदाता इस शुद्ध, विमल और सर्वथा गुप्त षट्चक्र-रहस्य का प्रतिदिन दिन में या रात में अथवा सन्ध्याकाल में अध्ययन करता है, निश्चय ही उसकी समस्त चित्तवृत्तियाँ अपने इष्टदेवता के चरण-कमलों के इर्द-गिर्द नृत्य करती रहती हैं। अपने आत्मानन्द में लीन ऐसे साधक का संसार के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह जाता।।५६।।

श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचित श्रीतत्त्वचिन्तामणि के छठे प्रकाश का
'भावना' भाष्य पूर्ण हुआ।।६।।

●

सप्तमः प्रकाशः

[कुण्डानां लक्षणानि, भेदाः, मेखलादिस्वरूपम्, वर्णभेदेन कुण्डभेदाः,
कुण्डकरणासम्भवे स्थण्डिले होमविधानम्, स्रुक्स्रुवयोर्लक्षणञ्च]

[कुण्डस्वरूपनिरूपणप्रतिज्ञा]

कुण्डानां लक्षणं वक्ष्ये यथातन्त्रानुसारतः।

[चतुरस्रकुण्डम्]

हस्तमात्रमितं सूत्रं परितो लाञ्छयेत्ततः।।१।।
चतुःकोष्ठात्मकं कृत्वा कोणसूत्रे निपातयेत्।
चतुरस्रं भवेत् कुण्डं सर्वसिद्धिप्रदायकम्।।२।।

पञ्चमप्रकाशे—

'ततः स्वदक्षिणे मन्त्री कुण्डं विरचयेत् सुधीः' (१।१०९)

इत्यनेन कुण्डस्य निर्माणमुद्दिष्टम्; इदानीं तस्य स्वरूपमाह—**कुण्डानामित्यादिना**। कुण्डशब्दार्थमाह तन्त्रसारधृतविश्वसारे—

कौ पृथिव्यां विलं देवि दृश्यते सुमनोहरम्।
तस्मात् कुण्डं समाख्यातं साधकानां हिताय वै।। इति।

तत्र कुण्डलक्षणे वक्तव्ये—

योन्यादिसर्वकुण्डानि चतुरस्राद् भवन्ति हि।

इति राघवभट्टधृतसिद्धान्तशेखरवचनेन तन्त्रान्तरे एकोनविंशपटले चतुरस्रकुण्डं प्रक्रम्याभिहितेन—

तस्मिन्नन्यानि कुण्डानि वदामि तव मानतः।

इति वचनेन च कुण्डानामितरेषां चतुरस्रप्रकृतिकत्वाभिधानात् प्रथमं चतुरस्रकुण्डं लक्षयति—**हस्तमात्रमित्यादिना**। परितश्चतुर्दिक्षु। चतुःकोष्ठात्मकमिति। निरुक्तचतुरस्रं मध्यतः पूर्वतः पश्चिमान्तामेकानुत्तरतो दक्षिणान्तामपरां रेखां कृत्वेत्यर्थः। एवं कृते चत्वारि कोष्ठानि सम्पद्यन्ते। कोणसूत्रे इति आग्नेयाद् वायव्यान्तमेकमैशानान्नैर्ऋतान्तम्परमिति सूत्रद्वयमित्यर्थः। खननन्त्वग्रे वक्ष्यते।

पिछले पाँचवें प्रकाश में दीक्षाप्रकरण में कहा गया है कि दीक्षादाता गुरुदेव अपने दक्षिण (दाहिने) भाग में कुण्ड का निर्माण करें। इसी के अनुक्रम में इस प्रकाश में कुण्डों के लक्षण एवं मान आदि का निरूपण किया जा रहा है। 'कुण्ड' का अर्थ है—'कु' अर्थात् पृथ्वी में मेखला आदि से सुसज्जित बिल। तन्त्र-ग्रन्थों में

आठ प्रकार के कुण्ड बताये गये हैं। इनमें 'चतुरस्र' कुण्ड सर्वाधिक प्रशस्त है। अत: सर्वप्रथम इसी का लक्षण और बनाने की विधि बताई जा रही है।

जब इन ग्रन्थों की रचना हुई थी, उस समय आजकल के स्केल और चाँदा आदि नहीं थे। एक मोटा और मजबूत धागा लेकर उसे हल्दी आदि से रंगकर गीला कर लिया जाता था। इसे 'सूत्र' कहा जाता है। भूमि पर रखकर इस सूत्र (गीले धागे) को धनुष की प्रत्यञ्चा (डोरी) के समान खींचकर छोड़ दिया जाता था। इसे 'सूत्रपात' कहते हैं। इस तरह 'सूत्रपात' करने से पृथ्वी पर रेखा बन जाती थी। ग्रन्थकार इसी तरह सूत्रपात करके 'चतुरस्र कुण्ड' के निर्माण की विधि बता रहे हैं।

चतुरस्र-कुण्ड—परित: अर्थात् पूर्व-पश्चिम-दक्षिण-उत्तर—इन चारो दिशाओं में एक-एक हस्त के मान से चार सरल रेखाएँ खींचने से चतुरस्र कुण्ड की आकृति बन जाती है। यह आकृति बनाने के लिये सूत्र की सहायता से भूमि पर पश्चिम से पूर्व की ओर एक हाथ लम्बी रेखा बनायें। सूत्र को घुमाकर ईशान कोण से वायव्य कोण की ओर सरल रेखा खींचें। वायव्य कोण से सूत्र को घुमाकर नैर्ऋत्य की ओर एक हाथ लम्बी उत्तर-दक्षिण रेखा खींचें। सूत्र को घुमाकर नैर्ऋत्य और अग्निकोण को जोड़ने वाली सरल रेखा खींचें। इस तरह एक हाथ के प्रमाण वाले चतुरस्र कुण्ड की आकृति भूमि पर उभर आएगी॥१-२॥

[योनिकुण्डम्]

क्षेत्रं पञ्चांशकं कृत्वा पूर्वस्यामेकमंशकम्।
न्यसेत्तस्या न्यसेत् सूत्रे पार्श्वयोर्मध्यमावधि।।३।।
ततः प्रत्यक्पदद्वन्द्वं भ्रामयेत्तत्तदर्द्धतः।
पृथक् पृथग् यथा सम्यक् तथा कोणत्रयावधि।।४।।
एवं कृते स्थितं कुण्डं भवेदश्वत्थपत्रवत्।
उत्तराभिमुखं कुण्डं योन्याख्यं सिद्धिदायकम्।।५।।

योनिकुण्डमाह—**क्षेत्रमिति।** अत्रापि पूर्ववच्चतुरस्रं सम्पाद्य तत् क्षेत्रं पञ्चांशकं कृत्वेत्यर्थ:। तत्र दक्षिणोत्तरपातितसूत्रस्योत्तरभागस्यैव पञ्चधा विभाग: कार्य:। तदुक्तं राघवभट्टेन—तत्र सर्वस्य क्षेत्रफलस्य विभागे प्रयोजनाभावान्मध्यसूत्रस्यैव विभाग: कार्य इति।

योनि-कुण्ड—योनिकुण्ड पीपल के पत्ते की तरह नीचे की ओर वर्तुल और ऊपर की ओर संकरा होता हुआ त्रिकोणाकार होता है। सर्वप्रथम उपर्युक्त विधि से चतुरस्र आकृति बनायें। उसके क्षेत्रफल को पाँच बराबर भागों में बाँट दें। यह कुण्ड उत्तराभिमुख बनाया जाता है। कुण्ड के बीचोबीच उत्तर-दक्षिण एक रेखा खींचे। इसे पञ्चमांश बढ़ा दें। फिर इसके शीर्ष बिन्दु को घुमाव देते हुए दोनों ओर की पूर्व-पश्चिम रेखाओं के मध्य बिन्दु से जोड़ दें। नीचे वाली उत्तर-दक्षिण रेखा के मध्य

में बिन्दु बनायें। दोनों ओर की पूर्व-पश्चिम रेखाओं के नैर्ऋत्य और आग्नेय बिन्दुओं से अर्धवृत्त बनायें। नैर्ऋत्य बिन्दु से प्रारम्भ कर उत्तर-दक्षिण रेखा के मध्य बिन्दु को एक अर्धवृत्त से और आग्नेय कोण से एक अर्धवृत्त बनाकर इसे मध्यवर्ती बिन्दु से जोड़ दें। योनि-कुण्ड की आकृति बन जायगी॥३-५॥

[त्र्यस्रकुण्डम्]

द्वात्रिंशदङ्गुलं सूत्रं पातयेत् परितः सुधीः।
त्रिकोणाकाररूपेण पूर्ववक्त्रं यथा भवेत्।
त्रिकोणकुण्डमाख्यातं सर्वसिद्धिप्रदायकम्।।६।।

त्र्यस्रकुण्ड—बत्तीस अंगुल मान का चतुरस्र कुण्ड बनायें। ऊपर वाली पूर्व-पश्चिम रेखा पर मध्य बिन्दु बनायें। इस मध्य बिन्दु को नीचे वाली पूर्व-पश्चिम रेखा के नैर्ऋत्य और वायव्य कोणों को जोड़ दें। त्रिकोणाकृति के बाहर की रेखाओं को मिटा दें। त्र्यस्र अथवा त्रिकोणाकार कुण्ड की आकृति बन गई॥६॥

[वृत्तकुण्डम्]

तत्क्षेत्राष्टादशं भागं कृत्वैकं बाह्यतः क्षिपेत्।
भ्रामयेत्तेन मानेन मध्ये सूत्रं निधाय च।
तदा वृत्तं भवेत् कुण्डं प्राचीमुखमनुत्तमम्।।७।।

तत्क्षेत्रेति। प्रागुक्तचतुरस्रीकृतक्षेत्रमष्टादशधा विभज्य तदष्टादशभागैकभागं बाह्यतः क्षिपेत्, करिष्यमाणवृत्ताद् बहिः परितो न्यसेदित्यर्थः। भ्रामयेदिति मध्ये निरुक्तक्षेत्रसममध्यप्रदेशे सूत्रं निधाय तत्सूत्रं तेन मानेन निरुक्तसप्तदशभागेभ्यो बहिर्बाह्यतः स्थितस्याष्टादशभागस्य वाभ्यन्तरे भ्रामयेदित्यर्थः। व्यक्तमाह तन्त्रसार-धृतवशिष्ठसंहितायाम्—

चतुरस्रीकृतं क्षेत्रं विभज्याष्टादशांशतः।
एकं भागं बहिर्न्यस्य भ्रामयेत्तेन वर्त्तुलम्॥ इति।

वृत्तकुण्ड—पूर्वोक्त विधि से चतुरस्र वर्ग बनाकर उसके अठारह भाग करें। चारो ओर के एक-एक भाग को छोड़ दें। वर्ग के मध्य बिन्दु पर सूत्र का एक सिरा रखकर सूत्र के दूसरे सिरे को यथा-मान शेष सत्रह (१७) भागों का स्पर्श करते हुए चारो ओर घुमायें। इससे वृत्त अर्थात् गोल कुण्ड की आकृति वन जायगी॥७॥

[अर्द्धचन्द्रकुण्डम्]

क्षेत्रं विभज्य दशधा त्यजेदूद्र्ध्वमधःक्रमात्।
एकमेकं ततो दद्याद् वामदक्षिणकोणयोः।।८।।

सूत्रद्वयं यथामानं ज्यासूत्रञ्च यथा भवेत्।
तन्मध्यादूद्र्ध्वमानान्तं सूत्रमेकं निपात्य च।।९।।
भ्रामयेत्तेन मानेन चन्द्रार्द्धञ्च यथा भवेत्।
याम्ये तन्मारणे शस्तमुत्तराभिमुखं सदा।।१०।।

अर्धचन्द्र कुण्ड—यह कुण्ड उत्तराभिमुखी बनाया जाता है। एक चतुरस्र बनाकर उसे दस भागों में विभाजित करें। उसके उत्तर और दक्षिण अर्थात् ऊपर और नीचे की ओर एक-एक भाग को छोड़ दें। नीचे वाली उत्तर-दक्षिण रेखा के मध्य बिन्दु पर सूत्र का एक सिरा रखकर उसे पूर्व-पश्चिम रेखाओं का स्पर्श करते हुए अर्ध-वृत्ताकार घुमायें। इससे एक अर्धवृत्त बन जायगा। इस अर्धवृत्त के अन्दर पूर्व-पश्चिम के एक-एक भाग को छोड़कर इसी विधि से दूसरा अर्धवृत्त बनायें। अर्धचन्द्र कुण्ड की आकृति बन जायगी।।८-१०।।

[पद्मकुण्डम्]

वृत्तकुण्डं समुद्धृत्य समभागेन साधकः।
मध्याद् वृत्तत्रयं कुर्यादाद्यभागे तु कर्णिकाम्।।११।।
केशराणि च तद्बाह्ये दलमध्यानि तद्बहिः।
तद्बाह्येऽष्टदलाग्राणि कल्पयेद्देशिकोत्तमः।।१२।।
कर्णिकां त्र्यङ्गुलोच्छ्रायां संलिख्य निखनेत्ततः।
अधोभागे केशराणि पद्मकुण्डं समीरितम्।।१३।।

पद्मकुण्ड—यह कुण्ड खिले हुए कमल की आकृति का होता है। इसके निर्माण के लिये पूर्वोक्त विधि से चतुरस्र का निर्माण करें। उसे अठारह भागों में विभक्त करें। चारो ओर एक-एक भाग को छोड़कर उसके मध्य भाग से सूत्र घुमाकर वृत्त अंकित करें। तत्पश्चात् कर्णिका के बाहर तीन वृत्तों का निर्माण करें। उनमें अष्टदलों और केसरों की रचना करें।।११-१३।।

[कुण्डखननक्रमः]

कुण्डानां खननं वक्ष्ये यथातन्त्रानुसारतः।
पञ्चदशाङ्गुलं खातं रमणीयन्तु कारयेत्।।१४।।

[चतुरस्रादिकुण्डेषु मेखलानामपि चतुरस्रत्वादित्वम्]

कुण्डानां यादृशं रूपं मेखलानाञ्च तादृशम्।।१५।।

कुण्डानामिति। एवञ्च चतुरस्रकुण्डे चतुरस्रा, मेखलास्त्र्यस्रकुण्डे त्र्यस्रा, वृत्तकुण्डे वृत्ताकारा इत्येवंक्रमेण तत्र तत्र मेखलापरिपाटी निरूपणीयेति ध्येयम्।

चौरस भूमि पर कुण्ड की आकृति बनाने के बाद तन्त्रशास्त्र में यथा-निर्धारित विधि से कुण्ड की रचना करें। इस क्रम में सर्वप्रथम कुण्ड की खुदाई की जाय।

कुण्ड की गहराई पन्द्रह अंगुल होनी चाहिए। तत्पश्चात् मेखला का निर्माण किया जाय। जिस आकृति का कुण्ड हो, उसी आकृति की मेखला भी होनी चाहिए। यथा यदि कुण्ड चतुरस्र (वर्गाकार) है तो मेखला भी वर्गाकार होगी। यदि त्रिकोणाकार कुण्ड है तो मेखला भी त्रिकोणाकार होगी॥१४-१५॥

[मेखलानिर्णयः]

कण्ठमेकाङ्गुलं त्यक्त्वा मेखला रचयेत् सुधीः।
एकहस्तस्य कुण्डस्य वर्द्धयेत् तत्क्रमेण तु।
दशहस्तान्तमन्येषामर्द्धाङ्गुलं पृथक् पृथक्॥१६॥

मेखलास्थानमाह—**कण्ठमिति**। कण्ठस्तु परितः कुण्डमेखलयोरन्तर्वर्त्ती प्रदेशः। तथाच कण्ठत्वेन परिभाषितं कुण्डाद् बहिः परित एकैकाङ्गुलं प्रदेशं त्यक्त्वा मेखला विदधीतेत्यर्थः। इयमेकहस्तकुण्डे व्यवस्था, द्विहस्तादौ तु कण्ठस्यार्द्धार्द्धाङ्गुलवृद्धिः।

मेखला का निर्माण करने के पूर्व कुण्ड के कण्ठ की रचना कर लें। कण्ठ का अर्थ है—कुण्ड के मुख और मेखला की मध्यवर्ती भूमि। यदि एक हाथ का कुण्ड है तो कुण्ड के मुख के चारो ओर एक-एक अंगुल भूमि छोड़कर मेखला का निर्माण करें। यदि कुण्ड का मान एक हाथ से अधिक है तो प्रत्येक एक हाथ के मान पर कण्ठ को आधा-आधा अंगुल बढ़ायें। इस तरह दस हाथ तक के मान का कुण्ड बनाया जा सकता है॥१६॥

[मेखलानामुत्सेधः]

प्रधानमेखलोत्सेधमुक्तमत्र नवाङ्गुलम्।
तद्वाह्य-मेखलोत्सेधं पञ्चाङ्गुलमिति स्मृतम्।
तद्वाह्य-मेखलोत्सेधमङ्गुलद्वितयं भवेत्॥१७॥

पूर्वं कुण्डानां यादृशं रूपमित्यादिना मेखलानां कुण्डाकारत्वमुपपादितम्। इदानीं तासामुत्सेधमाह—**प्रधानेति**। मेखलास्तिस्रो भवन्ति, तत्र प्रथमाया औन्नत्यं नवाङ्गुलम्, द्वितीयायाः पञ्चाङ्गुलम्, तृतीयायाश्च द्व्यङ्गुलमिति फलितार्थः।

अत्रेदमवधेयम्—पञ्चदशाङ्गुलं ज्ञातमित्यादिना खातस्य पञ्चदशाङ्गुलत्वम्, प्रधानमेखलाया उत्सेधस्य नवाङ्गुलत्वञ्चोपदिष्टम्, एवञ्च तत्र पञ्चदशाङ्गुल-कुण्डखात-नवाङ्गुलमेखलोत्सेधयोर्मेलनेन परमार्थतः स्नातस्य चतुर्विंशत्यङ्गुलत्वमुपपन्नम्। तथाच—

कुण्डस्य विस्तरं यावत्तावत् खन्यादधः समम्।

इति वैदिकसर्वस्वधृतहयशीर्षपञ्चरात्रीयसौरकाण्डवचनेन यत् खातस्य कुण्डविस्तार-समयपरिमाणत्वमुक्तम्, तत् प्रधानमेखलापरिमाणसमभिव्याहारेणेति। व्यक्तमाह वैदिकसर्वस्वधृतसिद्धान्तशेखरे—

खातं कुण्डप्रमाणं स्यादूर्ध्वमेखलया सह। इति।

एवं परत्रापि।

कण्ठ का मान बताने के बाद अब मेखलाओं का मान बता रहे हैं। कुण्ड पर तीन मेखलायें बनाई जायँ। इनमें से प्रधान मेखला नौ (९) अंगुल, दूसरी मेखला पाँच (५) अंगुल तथा तीसरी मेखला दो (२) अंगुल ऊँची होनी चाहिए।।१७।।

विमर्श—यहाँ प्रधान मेखला से तात्पर्य सबसे ऊपर वाली मेखला से है। सबसे ऊपर वाली यह मेखला कण्ठ से ९ (नौ) अंगुल, बीच वाली मेखला कण्ठ से पाँच अंगुल और सबसे नीचे वाली मेखला कण्ठ से दो अंगुल ऊँची होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि कुण्ड के मुख पर यथानिर्दिष्ट कण्ठ क्षेत्र छोड़कर दो अंगुल ऊँची मेखला बनायें। इसके ऊपर तीन अंगुल ऊँची मेखला बनायें। इस तरह यह दूसरी मेखला भूमितल से पाँच अंगुल ऊँची होगी। इस दूसरी मेखला पर चार अंगुल ऊँची मेखला बनायें। इस तरह प्रधान मेखला कण्ठ क्षेत्र से ९ अंगुल ऊँची होगी। कुण्ड की गहराई १५ अंगुल बताई जा चुकी है। कण्ठ से भूमि में कुण्ड की गहराई १५ अंगुल तथा कण्ठ से प्रधान मेखला की ऊँचाई ९ (नौ) अंगुल होने से कुण्ड का मान १५ + ९ = २४ अंगुल अर्थात् एक हाथ हो जाता है। कुण्ड की लम्बाई-चौड़ाई एक-एक हाथ है ही।

[विस्तारः]

वेदाग्निपक्षविस्ताराः कर्तव्या मेखलाः शुभाः।।१८।।

मेखलानामुत्सेधमभिधाय विस्तारमाह—**वेदाग्नीति**। तथाच प्रथमा चतुरङ्गुल-विस्तारा, द्वितीया त्र्यङ्गुलविस्तारा, तृतीया च द्व्यङ्गुलविस्तारेत्यर्थः।

विस्तार या चौड़ाई—मेखलाओं की ऊँचाई बताने के बाद उनके विस्तार का मान अर्थात् चौड़ाई बताई जा रही है। सबसे नीचे वाली मेखला चार अंगुल, उसके ऊपर वाली मेखला तीन अंगुल तथा सबसे ऊपर वाली मेखला दो अंगुल चौड़ी बनाई जाय।।१८।।

[खातकरणे कल्पान्तरम्]

कर्तव्यमथवा खातं द्वादशाङ्गुलसम्मितम्।।१९।।

[तत्र मेखलापरिमाणभेदाः]

द्वादशाष्टचतुर्भिश्च प्रमाणाङ्गुलिभिः शुभाः।
उच्छ्रिता मेखलाः सर्वाश्चतुरङ्गुलविस्तृताः।।२०।।

कुण्डखातमेखलयोः कल्पान्तरमाह—**कर्त्तव्यमिति**। तथा चात्र कल्पे कुण्डस्य खातं द्वादशाङ्गुलपरिमाणं प्रधानमेखलापि द्वादशाङ्गुलपरिमाणा, अनयोः खातपरिमाण-

मेखलापरिमाणयोर्मेलनेन एकहस्तविस्तारकुण्डसमपरिमाणत्वमुपपन्नं खातस्येति ध्येयम्। कल्पेऽस्मिन् प्रधाना मेखला द्वादशाङ्गुलोत्सेधा, द्वितीयाष्टाङ्गुलो-त्सेधा, तृतीया च चतुरङ्गुलोत्सेधा। विस्तारस्तु तिसृणामपि मेखलानां चतुरङ्गुल एव न तु पूर्ववत् विस्तारपरिमाणभेद इति फलितम्। व्यक्तमाह तत्रैव—

कर्तव्या प्रथमा रम्या चतुरङ्गुलमुच्छ्रिता।
अष्टाङ्गुला द्वितीया च तृतीया द्वादशाङ्गुला।
सर्वासामेव विस्तारं कुर्वीत चतुरङ्गुलम्।। इति।

द्वितीय कल्प—कुण्ड की गहराई और मेखलाओं की ऊँचाई का एक दूसरा कल्प भी है। इसके अनुसार बारह (१२) अंगुल गहरा कुण्ड खोदकर चार-आठ और बारह अंगुल के मान से तीन मेखलाएँ बनाई जायँ। इस तरह कुण्ड की गहराई १२ अंगुल और कण्ठ प्रदेश से मेखलाओं की ऊँचाई १२ अंगुल होने से कुण्ड का मान १२ + १२ = २४ अंगुल अर्थात् एक हाथ होगा। इस कल्प में तीनों मेखलाओं की चौड़ाई चार-चार अंगुल होती है।।१९-२०।।

[कुण्डमेखलयोः क्रमान्तरम्]

अथैकमेखलापक्षे गजान्तकदिगङ्गुलम्।
खनेत् षडङ्गुलोत्सेधा मेखला वेदविस्तृता।।२१।।

एकमेखलककुण्डे खननादिप्रक्रियामाह—**अथेति**। अत्र गजान्तकदिगङ्गुलम् अष्टादशाङ्गुलं खनेत्। मेखलाया उत्सेधः षडङ्गुलः विस्तारश्च चतुरङ्गुलः।

एक मेखला वाले कुण्ड की गहराई १८ अंगुल तथा कण्ठप्रदेश से मेखला की ऊँचाई ६ अंगुल और चौड़ाई चार अंगुल रखी जाती है।।२१।।

[कुण्डनिर्माणं कल्पान्तरम्]

अथवा सर्वकुण्डं हि खनेद्धस्तैकमानतः।।२२।।
एकहस्तस्य कुण्डस्य द्विहस्तादौ प्रचक्ष्यते।
यावत् कुण्डस्य विस्तारः खननं तावदीरितम्।।२३।।

कल्पान्तरमाह—**अथवेति**। एकेति क्रमोऽयमेकहस्तकुण्डस्येत्यर्थः। द्विहस्तेति द्विहस्तादौ क्रमः प्रचक्ष्यते। अथ कः स इत्यत आह—**यावदित्यादि**।

अथवा सभी कुण्डों की गहराई एक हाथ के मान से रखी जाय। कुण्ड का जितना आकार-प्रकार हो, उसकी गहराई भी उसी अनुपात में होनी चाहिए।।२२-२३।।

[तत्र मेखला]

मेखला पञ्च कार्या हि षट्पञ्चाब्धित्रिपक्षकैः।

[तत्र विकल्पः]

अथवा त्रितयी कार्या वेदाग्निनयनाङ्गुलैः।।२४।।

अथवा मेखलैका हि वेदाङ्गुलिसमन्विता।
उत्तमा मध्यमा न्यूना क्रमेण परिकीर्त्तिताः।।२५।।

अत्र मेखलायास्त्रिविधां परिपाटीमाह—**मेखला इति**। तत्र क्रमेण षट्-पञ्च-चतुस्त्रिद्व्यङ्गुलात्मिकाः पञ्च मेखला इत्येकः कल्पः। अथवेति क्रमेण चतुस्त्रि-द्व्यङ्गुलास्तिस्त्र इत्यपरः। अथवेति चतुरङ्गुलपरिमाणैकेत्यन्यः। **उत्तमेति**। तत्र प्रथमः पञ्चमेखलापक्ष उत्तमः, द्वितीयस्त्रिमेखलापक्षो मध्यमः, तृतीय एकमेखलापक्षोऽधम इत्यर्थः।

मेखला-निर्माण के तीन कल्प हैं। प्रथम कल्प पाँच मेखलाओं का है। इस कल्प में मेखलायें क्रमशः छः, पाँच, चार, तीन और दो अंगुल की होती हैं। दूसरा कल्प चार, तीन और दो अंगुलों वाली तीन मेखलाओं का है। तीसरा कल्प चार अंगुल वाली एक मेखला का है। इनमें पाँच मेखला का कल्प उत्तम, तीन मेखलाओं का कल्प मध्यम और एक मेखला का कल्प अधम होता है।।२४-२५।।

[कुण्डपरिमाणभेदेन मेखलापरिमाणभेदाः]

मुष्टिमात्रमिते कुण्डे द्व्येकार्द्धाङ्गुलसम्मिताः।
अरत्निमात्रकुण्डे तु त्रिद्व्येकाङ्गुलसंयुताः।।२६।।

अथ कुण्डपरिमाणभेदेन मेखलापरिमाणभेदान् दर्शयति—**मुष्टीत्यादिना सर्वतो बुधैरित्यन्तेन। मुष्टिमात्रमित इति**। अत्र प्रधानमेखला द्व्यङ्गुला, द्वितीया एकाङ्गुला, तृतीयाऽर्द्धाङ्गुला। एवं परत्रापि। **अरत्निमात्र इति**। त्रिद्व्येकाङ्गुलसम्मिताः ३।२।१।

कुण्ड के परिमाणभेद से मेखला का परिमाणभेद होता है। एक मुष्टि के कुण्ड में प्रधान मेखला दो अंगुल, दूसरी मेखला एक अंगुल तथा तीसरी मेखला आधे अंगुल की होती है। अरत्निमात्र के कुण्ड में मेखलायें क्रमशः तीन, दो और एक अंगुल की होती हैं।।२६।।

एकहस्तमिते कुण्डे वेदाग्निनयनाङ्गुलाः।
मेखला द्विकरे कुण्डे रस-वेदगुणाङ्गुलाः।।२७।।
चतुर्हस्ते त्वष्टतर्कवेदाङ्गुलसमन्विताः।
दशाष्टाङ्गाङ्गुलैर्ज्ञेया रसहस्ते तु मेखलाः।।२८।।
अष्टहस्तमिते कुण्डे रविदिग्दन्तिभिः क्रमात्।
दशहस्ते शक्रभानुदशाङ्गुलसमन्विताः।
उत्सेधायामतो ज्ञेया मेखलाः सर्वतो बुधैः।।२९।।

एकेति। वेदाग्निनयनाङ्गुलाः—४।३।२। **मेखलेति**। रसवेदगुणाङ्गुलाः—६।४।३। चतुरिति अष्टतर्कवेदाङ्गुलसमन्विताः—८।६।४। रसहस्ते षड्ढस्ते।

दशाष्टाङ्गाङ्गुलैः–१०।८।६। **अष्टेति।** रविदिग्दन्तिभिः–१२।१०।८। **दशहस्त इति।** शक्रभानुदशाङ्गुलसमन्विताः–१४।१२।१०। इति एतेन सर्वकुण्डस्य मध्यमपरिमाणे मेखलारचनमुपदर्शितमिति साम्प्रदायिकाः।

एक हाथ के परिमाण वाले कुण्ड में मेखला का विस्तार चार, तीन और दो अंगुल; दो हाथ के कुण्ड में क्रमशः छः, चार और दो अंगुल; चार हाथ के कुण्ड में आठ, छः और चार अंगुल; छः (६) हाथ के कुण्ड में दस, आठ और छः अंगुल, आठ हाथ के कुण्ड में बारह, दस और आठ अंगुल तथा दस हाथ के कुण्ड में क्रमशः चौदह, बारह और दस अंगुल की मेखलायें होती हैं॥२७-२९॥

[अथ योनिः]

कुण्डस्य पश्चिमे भागे योनिं मध्ये सुलक्षणाम्।
अश्वत्थपत्ररूपां वा त्रिकोणां वा विचक्षणः॥३०॥
षट्चतुर्द्व्यङ्गुलायामविस्तारोन्नतिशालिनीम् ।
एकाङ्गुलन्तु योन्यग्रं कुर्यादीषदधोमुखम्॥३१॥
मुष्ट्यरत्न्येकहस्तानां कुण्डानां योनिरीरिता।

मेखलां निरूप्य योनिं निरूपयति—**कुण्डस्येति।** योनिरियं कुण्डस्य पश्चिम-मेखलोपरि कर्त्तव्या। तदुक्तं शारदायां तृतीयपटले—

होतुरग्रे योनिरासामुपर्यश्वत्वपत्रवत्। इति।

आसां मेखलानाम्।

षडिति। कल्पेऽस्मिन् योनेर्दैर्घ्यं षडङ्गुलम्, विस्तारश्चतुरङ्गुलः, उन्नति-**द्व्यङ्गुलेत्यर्थः।** कल्पान्तरस्तु वक्ष्यते।

कुण्ड के पश्चिमी भाग के मध्य में पीपल के पत्ते के समान अथवा त्रिकोणाकार सुन्दर योनि बनाई जाय। यह योनि छः अंगुल लम्बी, चार अंगुल चौड़ी तथा दो अंगुल ऊँची होनी चाहिए। योनि सपाट नहीं बनाई जाती; अपितु उसके अग्रभाग को एक अंगुल झुकाकर बनाया जाता है। मुष्टि, अरत्नि तथा एक हाथ के परिमाण वाले कुण्ड में योनि का यही मान माना गया है॥३०-३१॥

[द्विहस्तादिकुण्डेषु विशेषः]

एकैकाङ्गुलतो योनिं कुण्डेष्वन्येषु वर्द्धयेत्॥३२॥
यवद्वयक्रमेणैव योन्यग्रमपि वर्द्धयेत्॥३३॥

पिछले श्लोक में बताया गया योनि का मान एक हाथ-परिमित कुण्ड का है। दो-चार-छः-आठ और दस हाथ के प्रमाण वाले कुण्डों में योनि का मान क्रमशः एक-एक अंगुल बढ़ाया जाय। इसी तरह योनि के अग्रभाग में दो-दो यव की वृद्धि की जाय॥३२-३३॥

[योनिनिर्माणे क्रमान्तरम्]

अथवान्यप्रकारेण योनिं कुर्याद्विचक्षणः।
द्वादशाङ्गुलदीर्घान्तु तथाष्टाङ्गुलविस्तृताम्।।३४।।
योनिं प्रकल्पयेन्मन्त्री तस्याग्रं द्व्यङ्गुलं भवेत्।
दशहस्तान्तकं मानं पूर्ववद् वर्द्धयेत् क्रमात्।।३५।।

द्वादशेति। विशेषानभिधानादत्राप्यौन्नत्यं द्व्यङ्गुलमिति बोध्यम्। स्फुटमाह राघवभट्टधृतसिद्धान्तशेखरे—

दीर्घार्कपर्वभिर्योनिर्विस्तारेणाष्टकाङ्गुला ।
उन्नतिर्द्व्यङ्गुलेनास्याः...................।। इति।

प्रयोगसारेऽपि—

त्रिभागां मध्यतो योनिमायाग्रे द्वादशाङ्गुलाम्।
द्वादशांशोच्छ्रितां कुर्यात् किञ्चित्कुम्भनिवेशिनीम्।। इति।

द्वादशांशोच्छ्रितां द्व्यङ्गुलोन्नतामित्यर्थः।

अत्र निरुक्तयोनौ छिद्रस्य कर्त्तव्यत्वमाह शारदायां तृतीयपटले—

स्थलादारभ्य नालं स्यात् योन्या मध्यं सरन्ध्रकम्। इति।

योनि के मान में अन्य प्रकार से वृद्धि का विधान बता रहे हैं। उपर्युक्त विधि से प्रत्येक एक-एक हाथ के प्रमाण से योनि के मान में एक-एक अंगुल की वृद्धि किये जाने से दस हाथ के कुण्ड में योनि की लम्बाई बारह अंगुल, चौड़ाई आठ अंगुल तथा योनि के अग्रभाग का विस्तार (एक-एक यव की दर से) दो अंगुल होगा। एक हाथ से अधिक तथा दस हाथ से कम प्रमाण वाले कुण्डों में योनि का मान यथा-अनुपात होगा।।३४-३५।।

[नालम्]

योन्या पश्चिमतो नालं सरन्ध्रं चतुरङ्गुलम्।
त्रिद्व्येकाङ्गुलविस्तारं क्रमान्मूलाग्रमिष्यते।।३६।।

नालमाह—**योन्या** इति। मूलाग्रमिति मूलतोऽग्रं यावदित्यर्थः, क्रमात् त्रिद्व्येकाङ्गुलविस्तारमिष्यत इति सम्बन्धः। तथाच नालस्य मूलं त्र्यङ्गुलम्, मध्यं द्व्यङ्गुलमग्रमेकाङ्गुलमित्यर्थः। तदुक्तं राघवभट्टधृतप्रयोगसारे—

योन्याः पश्चिमतो नालमायामे चतुरङ्गुलम्।
त्रिद्व्येकाङ्गुलविस्तारं क्रमान्न्यूनाग्रमिष्यते।।

नालस्य स्थानादिकं व्यक्तमाह वैदिकसर्वस्वटिप्पणीधृतगणेशविमर्षिण्याम्—

मेखलानां बहिःस्थानं स्थलमित्यभिधीयते।
चतुरस्रं स्थलारब्धं नालं मध्ये सरन्ध्रकम्।।

स्थूलमूलन्तु सूक्ष्माग्रं तन्नालं स्यान्मनोहरम्।
बाह्यस्थमेखलाबाह्यस्थलादारभ्य कारयेत्।। इति।

अत्र चतुरङ्गुलोत्सेधविस्तारां बाह्यमेखलासन्दष्टां वेदीं कृत्वा तदुपरि नालं स्थापयेदिति राघवभट्टः।

द्वितीयमेखलोपरि परिधिस्थापनाय रन्ध्रनिर्माणमाह वैदिकसर्वस्वे—

योन्याः पश्चिमतो नालमायामेन षडङ्गुलम्।
मेखलानालयोर्मध्ये परिधेः स्थापनाय च।
रन्ध्रं कुर्यात्तदा विद्वान् द्वितीयमेखलोपरि।। इति।

नाल का निर्माण—योनि के मध्य में पश्चिम से प्रारम्भ कर रन्ध्र (छिद्र)-सहित नाल का निर्माण किया जाय। मूल में नाल का विस्तार तीन अंगुल, मध्य में दो अंगुल तथा अग्रभाग में एक अंगुल होना चाहिए।।३६।।

[नाभिः]

कुण्डान्तर्नाभिमब्जाभं कुण्डरूपं क्षिपेच्च वा।
मुष्ट्यरत्न्येकहस्तानां नाभिरुत्सेधभावतः।।३७।।
द्वित्रिवेदाङ्गुलोपेतः कुण्डेष्वन्येषु वर्द्धयेत्।
यवद्वयक्रमेणैव नाभिं पृथगुदारधीः।।३८।।

कुण्डान्तरिति। षट्चतुर्द्व्यङ्गुलोपेतो नाभिः कर्त्तव्य इत्यर्थः। मुष्टिपरिमाणे द्व्यङ्गुलः, अरत्निपरिमाणे त्र्यङ्गुलः, हस्तपरिमाणे चतुरङ्गुलो नाभेरुत्सेध इत्यर्थः। अन्येषु तु यवद्वयवृद्धिः।

नाभि का निर्माण—कुण्ड के भीतर कमल के आकार की अथवा जिस आकृति का कुण्ड हो, उस आकृति के अनुरूप नाभि बनानी चाहिए। अब नाभि का मान बता रहे हैं। मुष्टि, अरत्नि तथा एक हाथ के कुण्ड में नाभि की ऊँचाई क्रमशः दो, तीन और चार अंगुल होनी चाहिए। अन्य प्रमाण वाले कुण्डों में दो-दो यव के क्रम से नाभि की ऊँचाई बढ़ाई जानी चाहिए।।३७-३८।।

[योनिकुण्डे योनेरब्जकुण्डे च नाभेर्वर्जनीयत्वम्]

योनिकुण्डे त्यजेद् योनिमब्जे नाभिं विवर्जयेत्।।३९।।

योनिकुण्डे निरुक्तां योनिं पद्मकुण्डे च नाभिं न कुर्यादित्यर्थः।

अब कुछ विशेष अपवाद बता रहे हैं। योनि कुण्ड में पृथक् से योनि नहीं बनाई जाती और न पद्मकुण्ड के अन्दर कमल के आकार की नाभि बनाई जाती है।।३९।।

[नाभिनिर्माणपरिपाटी]

नाभिस्थानं त्रिधा कृत्वा मध्यभागे च कर्णिकाम्।
पत्राणि विलिखेदष्टौ बहिरंशद्वये सुधीः।।४०।।

नाभिक्षेत्र का तीन भाग कर मध्यभाग में कर्णिका तथा बाहर के दो भागों में आठ कमलदल का निर्माण करना चाहिए॥४०॥

[होमसंख्याभेदेन कुण्डभेदः]

मुष्टिमात्रं शतार्द्धे तु शते चारत्निमात्रकम्।
हस्तमात्रं सहस्रं तु द्विहस्तमयुते तथा।।४१।।

शतार्ध अर्थात् पचास आहुतियों के लिये मुष्टि प्रमाण कुण्ड का, सौ आहुतियों के लिये अरत्नि-प्रमाण कुण्ड का, एक हजार आहुतियों के लिये एक हाथ के कुण्ड का तथा दस हजार आहुतियों के लिये दो हाथ के कुण्ड का निर्माण करना चाहिये॥४१॥

[कुण्डाकारवृद्धिक्रमः]

एकहस्तस्य कुण्डस्य कोणसूत्रप्रमाणतः।
समन्ताद् वर्द्धयेत्तेन कुण्डं तत् स्याद्द्विहस्तकम्।।४२।।
एवमेव विधानेन तत् सर्वं वर्द्धयेत् सुधीः।।४३।।

एक हाथ के कुण्ड के कोणसूत्र के प्रमाण से चारो ओर मान की वृद्धि करने से दो-दो हाथ-प्रमाण का कुण्ड बन जायगा। इससे बड़े कुण्ड का निर्माण करने के लिये इसी विधान से वृद्धि करनी चाहिये॥४२-४३॥

[तत्र क्रमान्तरम्]

अथ तोडलतन्त्रस्य मतमन्यत् प्रचक्ष्यते।।४४।।
हस्तमात्रमिते कुण्डे समन्ताच्चतुरङ्गुलम्।
वर्द्धयेत्तेन मानेन द्विहस्तञ्च प्रचक्ष्यते।।४५।।

तोडलतन्त्र के अनुसार एक हाथ के प्रमाण वाले कुण्ड के चारो ओर चार-चार अंगुल के मान से वृद्धि करने से दो हाथ प्रमाण का कुण्ड बनाया जा सकता है॥४४-४५॥

[लक्षादिहोमभेदे कुण्डपरिमाणगौरवम्]

चतुर्हस्तं लक्षहोमे षड्ढस्तं दशलक्षके।
अष्टहस्तं कोटिहोमे दशहस्तं तथैव च।।४६।।

एक लाख आहुतियों के लिये चार हाथ का, दस लाख आहुतियों के लिये छः हाथ का तथा एक करोड़ आहुतियों के लिये आठ हाथ का कुण्ड बनाना चाहिए॥४६॥

[तत्र कल्पान्तरम्]

अथवा कारयेदेकहस्ते लक्षं तथा क्रमात्।
लक्षाणां दशकं यावत्तावद्धस्तेन वर्द्धयेत्।।४७।।

दशहस्तात् परं कुण्डं नास्ति सर्वागमेष्वपि।।४८।।

कुण्डों के प्रमाण (मान) का दूसरा कल्प बता रहे हैं। कुछ आचार्यों का कथन है कि एक लाख आहुतियों के लिये एक हाथ का कुण्ड बनाया जाय। इस विधान से एक लाख से अधिक आहुतियों के लिये प्रति एक लाख के लिये कुण्ड का मान एक-एक हाथ बढ़ाया जाय; मगर दस हाथ से अधिक बड़े कुण्ड के निर्माण का किसी भी तन्त्रग्रन्थ में विधान नहीं मिलता।।४७-४८।।

[खातस्य यथोक्तपरिमाणवैषम्ये दोषः]

खाताधिके भवेद्रोगी न्यूने याति धनक्षयम्।
वक्रतुण्डे तु सन्तापो मरणं छिन्नमेखले।।४९।।

जो भी कुण्ड बनाया जाय, उसकी लम्बाई-चौड़ाई और गहराई शास्त्र में बताये गये प्रमाण के अनुसार होनी चाहिए। यदि कुण्ड की गहराई निर्दिष्ट मान से अधिक है तो यजमान को भीषण रोग होता है। यदि गहराई कम है तो धन का क्षय होता है। यदि कुण्ड टेढ़ा-मेढ़ा है तो सन्ताप-दुःख होता है और यदि मेखला टूटी-फूटी और छिन्न-भिन्न हो तो मरण होता है।।४९।।

[कुण्डस्य स्वेष्टदेवतास्वरूपत्वम्]

कुण्डस्य रूपं जानीयात् परमं प्रकृतेर्वपुः।।५०।।
प्राच्यां शिरो भवेद् बाहू दक्षिणोत्तरयोः क्रमात्।
उदरं कुण्डमित्युक्तं योनिः पादौ च पश्चिमे।।५१।।

कुण्ड में जिस देवता के उद्देश्य से आहुति प्रदान की जाती है, वह कुण्ड वस्तुतः परम प्रकृतिरूपिणी इष्टदेवता का स्वरूप है। पूर्व की ओर इसका सिर है, उत्तर और दक्षिण की ओर इसके दोनों बाहु हैं, कुण्ड इसका उदर है तथा पश्चिम की ओर बनी योनि उसके पैर हैं।।५०-५१।।

[कुण्डस्य चतुरस्रत्वादिभेदेन फलभेदाः]

चतुरस्रं शान्तिलक्ष्मी-पुष्टिवृद्धेस्तु कारणम्।
योनिकुण्डं वाक्प्रदं स्यादाकृष्टिकरणं भगम्।।५२।।
लक्ष्मीप्रदं वर्त्तुलञ्च चन्द्रार्द्धत्रितयं भवेत्।
पद्माख्यं सर्वसम्पत्तेः कारणं पुष्टिदं भवेत्।।५३।।

चन्द्रार्द्धत्रितयमर्द्धचन्द्रकुण्डं त्र्यस्रकुण्डञ्चेत्यर्थः।

शान्ति और पुष्टि कर्म के लिये चतुरस्र कुण्ड प्रशस्त है। योनि-कुण्ड वाक्प्रद होता है। आकर्षण के लिये भगाकार कुण्ड प्रशस्त है। वर्तुल एवं अर्ध-चन्द्राकार तथा त्र्यस्र कुण्ड लक्ष्मीप्रद हैं। पद्माकार कुण्ड सर्वसम्पत्तिकर एवं पुष्टि देने वाला है।।५२-५३।।

[वर्णभेदेन कुण्डभेदाः]

चतुरस्त्रं ब्राह्मणानां राज्ञाश्च वर्त्तुलं मतम्।
वणिजामर्द्धचन्द्रञ्च त्र्यस्त्रन्तु शूद्रजन्मनाम्।।५४।।

ब्राह्मणों के लिये चतुरस्त्र, क्षत्रियों के लिये वर्तुलाकार, वैश्यों के लिये अर्धचन्द्र तथा शूद्रों के लिये त्र्यस्त्र (त्रिकोणाकार) कुण्ड का विधान है।।५४।।

[चतुरस्त्रकुण्डं सर्ववर्णसाधारणमिति मतान्तरम्]

आचार्याः कथयन्त्येके सर्वेषां चतुरस्त्रकम्।।५५।।

कुछ आचार्यों का मत है कि चतुरस्त्र कुण्ड सभी वर्णों के लिये प्रशस्त है।।५५।।

[निरुक्तमेखलादिराहित्ये दोषः]

मेखलारहिते शोको ह्यधिके वित्तसंक्षयः।
भार्याविनाशनं प्रोक्तं कुण्डं योन्या विना कृतम्।
अपत्यध्वंसनं प्रोक्तं कुण्डं यत् कण्ठवर्जितम्।।५६।।

कुण्ड पर मेखला नहीं बनाने से शोक और मेखला का मान यथा-निर्दिष्ट मान से अधिक होने से वित्तनाश होता है। योनिरहित कुण्ड में हवन करने से पत्नी का मरण (वियोग) होता है तथा कण्ठरहित कुण्ड में हवन करने से सन्तान-हानि होती है।।५६।।

[कुण्डकरणासम्भवे स्थण्डिले होमविधानम्]

नित्यं नैमित्तिकं होमं स्थण्डिले वा समाचरेत्।।५७।।

नित्यमिति। स्थण्डिले वा समाचरेत् कुण्डकरणासम्भव इत्यर्थः। स्थण्डिललक्षणमाह शारदायां तृतीयपटले—

हस्तमात्रेण तत् कुर्याद् वालुकाभिः सुशोभनम्।
अङ्गुलोत्सेधसंयुक्तं चतुरस्त्रं समन्ततः।। इति।

कुण्ड के अभाव में नित्य-नैमित्तिक हवन स्थण्डिल में करना चाहिए।।५७।।

विमर्श—शारदातिलक (३/९०) में कहा गया है कि काम्य कर्म के लिये भी स्थण्डिल में हवन किया जा सकता है। वहीं स्थण्डिल के लक्षण भी बताये गये हैं। स्थण्डिल (वेदी) शुद्ध और पवित्र बालू (रेत) से बनाई जाती है। उसकी लम्बाई-चौड़ाई एक हाथ तथा ऊँचाई एक अंगुल होनी चाहिए।

[स्रुक्स्रुवयोर्लक्षणम्]

अथाऽतः सम्प्रवक्ष्यामि स्रुक्स्रुवस्य च लक्षणम्।।५८।।
श्रीपर्णीशिंशपाक्षीरिशाखिष्वेकतमं गुरुः।
गृहीत्वा विभजेद्धस्तमात्रं षट्त्रिंशता पुनः।।५९।।

विंशत्यंशैर्भवेद्दण्डो वेदिस्तैरष्टभिर्भवेत्।
एकांशेन मितः कण्ठः सप्तभागमितं सुखम्।।६०।।
वेदीत्र्यंशेन विस्तारः कण्ठस्य परिकीर्त्तितः।
मुखं कण्ठसमानं स्यान्मुखवर्त्म प्रकल्पयेत्।
कनिष्ठाङ्गुलिमानेन सर्पिषो निर्गमाय च।।६१।।

एवं कुण्डलक्षणमभिधाय क्रमेण स्रुक्स्रुवयोर्लक्षणं वक्तुं प्रतिजानीते—अथात इति। षट्त्रिंशतेति—

स्रुग् बाहुमात्रा विज्ञेया कदलीपुष्पसन्निभा।

इति वैदिकसर्वस्वधृतागमवचनेन स्रुवः प्रमाणं बाहुमात्रमित्युपदिष्टम्। एवञ्च बाहुमात्रप्रमाणं निरुक्तखादिराद्यन्यतमकाष्ठं षट्त्रिंशता भागैर्विभज्य तस्य विंशत्या भागैर्दण्डम्, अष्टभिर्भागैर्वेदिकाम्, भागेनैकेन कण्ठम्, सप्तभिर्भागैर्मुखं विदधीतेति। एवं कृते षट्त्रिंशतोंऽशानामत्रान्तर्भुक्तिः स्यात्।

कण्ठादेर्विस्तारमाह—वेदीत्र्यंशेनेति। निरुक्तवेदीतृतीयांशेनेत्यर्थः। कण्ठसमानमिति वेदिकातृतीयांशैकांशरूपम्। मुखेति। होतव्यस्य हविषो निर्गमाय कनिष्ठाङ्गुलिमानेन मुखवर्त्म हविर्निर्गमनपथं प्रकल्पयेत्। निरुक्ते मुखे हविर्निर्गमार्थं तादृशं छिद्रं कर्त्तव्यम्, येन तत्र कनिष्ठाङ्गुलिप्रवेशो भवतीत्यर्थः। छिद्रमिदं तप्तलोहशलाकया कर्त्तव्यम्, तदुक्तं राघवभट्टधृतमन्त्रमुक्तावल्याम्—

कण्ठाधः कारयेन्मार्गं विद्वानाज्यस्य निर्गमे।
वेधञ्च मुखतः कुर्यात्तप्तलोहशलाकया।। इति।

स्रुच का लक्षण—कुण्डों के भेद तथा लक्षण बताने के बाद अब स्रुच और स्रुव के लक्षण बताये जा रहे हैं। ये यज्ञकाष्ठ श्रीपर्णी, शिंशिपा अथवा बरगद आदि क्षीरी वृक्षों में से किसी एक वृक्ष की लकड़ी के बनाये जाते हैं। स्रुचा बनाने के लिये उपर्युक्त में से किसी एक वृक्ष की एक हाथ लम्बी शाखा लेकर उसे छत्तीस भागों में विभक्त करें। इसमें से बीस भाग दण्ड के लिये और आठ भाग वेदी के लिये छोड़ दें। शेष आठ भाग में से एक भाग में कण्ठ तथा सात भाग में मुख बनायें। वेदी के तीन अंश (भाग) में कण्ठ का विस्तार कहा गया है। उसका अग्रभाग अर्थात् मुख वेदी के तीन भाग के बराबर विस्तृत होना चाहिए। घी गिराने के लिये उसके मुख में कनिष्ठा अंगुली की मोटाई का छिद्र बनाना चाहिए।।५८-६१।।

वेदीमध्ये विधातव्या भागेनैकेन कर्णिका।
विदधीत बहिस्तस्या एकांशेनाभितोऽवटम्।।६२।।

तस्य खातं त्रिभिर्भागैर्वृत्तमर्द्धांशतो बहिः।
अंशेनैकेन परितो दलानि परिकल्पयेत्।
मेखला मुखवेद्योः स्यात् परितोऽर्द्धांशमानतः।।६३।।
दण्डमूलाग्रयोः कुम्भौ गुणवेदाङ्गुलैः क्रमात्।
गण्डी युगयमांशैः स्याद्दण्डस्यानाह ईरितः।
षड्भिरंशैः पृष्ठभागो वेद्याः कूर्माकृतिर्भवेत्।।६४।।
हंसस्य वा हस्तिनो वा पोत्रिणो वा मुखं लिखेत्।
मुखस्य पृष्ठभागेऽस्याः सम्प्रोक्तं लक्षणं स्रुचः।।६५।।

वेद्यां मेखलादिप्रक्रियां दर्शयति—**वेदीमध्य इति**। निरुक्तवेद्या मध्यप्रदेशे एकांशेन कर्णिकां तद्बहिरेकांशेन अभितः अवटं गर्त्तम्, तद्बहिस्त्रिभिरंशैः खातं, तद्बहिरर्द्धांशेन वृत्तं, तद्बहिरेकांशेन परितो दलानि, निरुक्तमुखवेद्योः परितः अर्द्धांशमानतो मेखलां रचयेदित्यर्थः। एवञ्च कर्णिका १, अवटं १, खातं ३, वृत्तं $\frac{१}{२}$, दलानि १, मेखला $\frac{१}{२}$ इत्यापतति।

दण्डेति। गुणवेदाङ्गुलैरिति। दण्डस्य मूले त्र्यङ्गुलपरिमितः कुम्भः अग्रे च चतुरङ्गुलः। **गण्डीति।** गण्डी कङ्कणाकारं वेष्टनम्, तत्परिमाणमाह—**युगयमांशैरिति।** मूलाग्रयोरिति पूर्वोक्तमत्रानुकर्षणीयम्—

मूले चाग्रे च दण्डस्य गण्डी कङ्कणवद् भवेत्।

इति राघवभट्टधृतसोमशम्भुवचनसंवादात्। तथाच दण्डस्य मूल एका गण्डी द्व्यंशा अग्रे चापरा तत्परिमाणा स्यादित्यर्थः। दण्डस्य विस्तारमाह—**दण्डस्येति।** षड्भिरंशैर्दण्डस्य आनाहो विस्तार ईरित इत्यर्थः। तदुक्तं राघवभट्टधृतमन्त्रमुक्तावल्याम्—

षडङ्गुलपरीणाहो दण्डमध्य उदाहृतः। इति।

हंसस्येति। अस्याः स्रुचो मुखस्य पृष्ठभागे लिखेदिति सम्बन्धः। पोत्रिणो वराहस्य।

वेदी के मध्य में एक भाग के बराबर कर्णिका बनायें। कर्णिका के बहिर्भाग में चारो ओर एक अंश के बराबर 'गर्त' बनायें। गर्त के तीन भाग के बराबर खात बनाकर उसके बाहर आधे अंश के बराबर 'वृत्त' बनायें। वृत्त के चारो ओर एक अंश में दलों का निर्माण करें। वेदी और मुख के मध्य में मेखला का निर्माण चारो ओर आधे अंश के प्रमाण में करना चाहिए। दण्ड और मूल के अग्रभाग में क्रमशः तीन और चार अंगुल के प्रमाण से दो कुण्डों का निर्माण करें। दो-दो अंश अर्थात् दो-दो अंगुल के दो 'गण्डी' अर्थात् कंकण बनायें। दण्ड के अनाह का मान छः अंश अर्थात् छः अंगुल

है। वेदी का पृष्ठ भाग कछुवे के पीठ की तरह बनाया जाता है। स्रुचा के मुख के पृष्ठ भाग में हंस, हाथी या शूकर का मुख अंकित करें॥६२-६५॥

[स्रुवलक्षणम्]

चतुर्विंशतिभिर्भागैः स्रुचश्च रचयेत् स्रुवम्।
द्वाविंशत्या दण्डमानमंशैरेतस्य कीर्त्तितम्।।६६।।
चतुर्भिरंशैरानाहः कर्षाज्यग्राहि तच्छिरः।
अंशद्वयेन निखनेत् पङ्के मृगपदाकृति।।६७।।
दण्डमूलाग्रयोः कुम्भौ कार्यो कङ्कणभूषणौ।
पूर्ववच्च स्रुवस्यैव लक्षणं समुदाहृतम्।।६८।।

एवं स्रुचो लक्षणमभिधाय स्रुवलक्षणमाह—चतुरिति। प्रागुक्तस्रुचः चतुर्विंशति-भागैः स्रुवं रचयेदित्यर्थः। द्वाविंशत्या अंशैर्दण्डमानमिति सम्बन्धः।

आनाहो विस्तारः। कर्षेति अंशद्वयेन कर्षाज्यग्राहि कर्षपरिमिताज्यग्रहणयोग्यं तच्छिरः निखनेदिति सम्बन्धः। कर्षपरिमाणमाह राघवभट्टः—

माषो दशगुञ्जः स्यात् षोडशमाषो निगद्यते कर्षः। इति।

पङ्क इति। पङ्के मृगपदस्य मृगपदचिह्नस्य आकृतिरिव आकृतिर्यस्य तथाभूतं शिर इति सम्बन्धः। वैदिकसर्वस्वधृतागमे—

चतुष्कोणसमायुक्तो हस्तमात्रः स्रुवो भवेत्।
यथाल्पपङ्के गोष्पादं रुचिरं दृश्यते सदा।। इति।

पूर्ववदिति। एतत्कुम्भ-गण्डीरचनापरिपाटी पूर्ववत् स्रग्विहितकुम्भगण्डीक्रमेण कर्त्तव्येत्यर्थः।

स्रुव-लक्षण—पूर्वोक्त स्रुच के २४ भाग के बराबर स्रुव का मान होता है। इसमें २२ अंश (भाग) का दण्ड तथा दो अंश (भाग) सिर का भाग होता है। शिरोप्रदेश की चौड़ाई चार अंश के बराबर होती है। इस शिरोप्रदेश में लौह शलाका से खोदकर इतना बड़ा मुख बनाया जाय, जिसमें एक कर्ष घी आ सके। मुख की आकृति पंक में पड़े हुए मृग के खुर के समान होनी चाहिए। दण्ड के मूल भाग और अग्र भाग में कंकणाकार गण्डी बनाई जाय॥६६-६८॥

विमर्श—दस घुंघची (गुञ्जा) का एक माष तथा १६ माष का एक कर्ष होता है।

[तयोरभावे व्यवस्था]

स्रुक्स्रुवाणामभावे तु प्रकारान्तरमुच्यते।।६९।।

मध्यमाभ्यां पलाशस्य पत्राभ्यां हूयते हविः।
अथवाश्वत्थपत्राभ्यां संक्षिप्ते होमकर्मणि।।७०।।

इति श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचिते श्रीतत्त्वचिन्तामणौ सप्तमः प्रकाशः।।७।।

उपर्युक्त मान के स्रुक् और स्रुव का अभाव होने पर पलाश के मध्यमाकार के पत्ते अथवा पीपल के पत्ते से इन यज्ञीय काष्ठों का विकल्प बनाया जा सकता है।।६९-७०।।

श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचित श्रीतत्त्वचिन्तामणि के सप्तम प्रकाश का
'भावना' भाष्य पूर्ण हुआ।।७।।

●

अष्टमः प्रकाशः

[होमविधानम्]

[होमविधिनिरूपणप्रतिज्ञा]

अथ होमविधिं वक्ष्ये शक्तितन्त्रानुसारतः।

[कुण्डस्य वीक्षणाद्यष्टादश संस्काराः]

आदौ कुण्डस्य संस्कारानष्टादश च कारयेत्।।१।।

एवं सप्तमे कुण्डप्रकरणमभिधाय प्रकाशेऽस्मिन् होमविधानं निरूपयति—**अथेति**। तत्र च—

यागे कुण्डानि संस्कुर्यात् संस्कारैरेभिरीरितैः।

इत्यादिशारदातिलकपञ्चमपटलवचनेन कुण्डसंस्काराणामवश्यकर्त्तव्यत्वश्रवणात् प्रथमं तानेवाह—**आदाविति**।

होम-विधान—ग्रन्थ के पञ्चम प्रकाश में दीक्षा-विधान के अन्तर्गत हवन कर्म तथा सप्तम प्रकाश में कुण्डों के प्रकार एवं लक्षण का निरूपण करने के पश्चात् इस प्रकाश में हवन की विधि बताई जा रही है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम कुण्डों के संस्कार की विधि का निरूपण किया जा रहा है—

अब मैं शक्तितन्त्र के अनुसार होम करने की विधि बता रहा हूँ। इस विधि के अनुसार सर्वप्रथम कुण्डों के अठारह (१८) संस्कारों का सम्पादन करना चाहिए।।१।।

विमर्श—कुण्ड के ये १८ संस्कार हैं—(१) वीक्षण, (२) प्रोक्षण, (३) ताडन, (४) अभ्युक्षण, (५) खनन, (६) मृत्तिकोद्धार, (७) पूरण, (८) समीकरण, (९) सेचन, (१०) कुट्टन, (११) मार्जन, (१२) विलेपन, (१३) सोमसूर्य अग्निकला कल्पनम् , (१४) त्रिसूत्रीकरण, (१५) प्रपूजन, (१६) वज्रीकरण, (१७) चतुष्पथ-विभाग और (१८) अक्षपाटन।

मूलेन वीक्षणं कुर्याच्छरेण प्रोक्षणं मतम्।
तेनैव ताडनं दर्भैर्वर्मणाभ्युक्षणं मतम्।।२।।
खननं मृत्तिकोद्धारमस्त्रमन्त्रेण पूरणम्।
हृदयेनास्त्रमन्त्रेण समीकरणमेव च।।३।।

सेचनं कवचेनैव हेतिमन्त्रेण कुट्टनम्।
मार्जनं वर्ममन्त्रेण ततः कुर्याद्विलेपनम्।।४।।
सोमसूर्यानलानान्तु कलास्तेनैव कल्पयेत्।
त्रिसूत्रीकरणञ्चैव हृन्मन्त्रेण प्रपूजयेत्।।५।।
वज्रीकरणमस्त्रेण हृन्मन्त्रेण कुशैः शुभैः।
चतुष्पथभागरूपं नयनेनाक्षपाटनम्।।६।।

मूलेनेति। मूलेन देयमन्त्रेण। शरेणास्त्रमन्त्रेण। तेनैव शरेणैव। खननमिति। मृत्तिकोद्धारः खातमृद उत्तोलनम्। पूरणं कुण्डेऽन्यमृदासेचनम्। अत्र अस्त्रमन्त्रेण खननं मृत्तिकोद्धारश्च, तथा हृदयेन नम इत्यनेन पूरणमस्त्रमन्त्रेण समीकरणं कुर्यादिति सम्बन्धः। व्यक्तमाह शारदायां पञ्चमपटले—

अस्त्रेण खननोद्धारौ हृन्मन्त्रेण प्रपूरणम्।
समीकरणमस्त्रेण सेचनं वर्मणा मतम्।।

सेचनमिति। हेतिमन्त्रेणास्त्रमन्त्रेण। मार्जनं विलेपनम्, सोमसूर्यानलकलाकल्पनम्, त्रिसूत्रीकरणञ्चेति चत्वारः संस्कारा वर्ममन्त्रेण कर्त्तव्या इति फलितार्थः। त्रिसूत्रीकरणं सूत्रत्रयवेष्टनम्।

वज्रीकरणमिति। अस्त्रेण वज्रीकरणं वज्रवद्दृढीकरणम्। हृन्मन्त्रेणेति शुभैः कुशैः चतुष्पथभागरूपं चतुर्दिक्षु मार्गचतुष्टयनिर्माणरूपं कर्म कुर्यादित्यर्थः। 'चतुष्पथं भागरूपम्' इति पाठे तु भागो विभाग एव रूपं स्वरूपं यस्य तादृशं चतुष्पथं कुर्यान्न त्वन्यादृशचतुष्पथमित्यर्थः। नयनेनेति वौषट् इत्यनेन अक्षपाटनम् इन्द्रियोद्घाटनम्।

एवञ्च वीक्षणम् १। प्रोक्षणम् २। ताडनम् ३। अभ्युक्षणम् ४। खननम् ५। मृत्तिकोद्धारः ६। पूरणम् ७। समीकरणम् ८। सेचनम् ९। कुट्टनम् १०। मार्जनम् ११। विलेपनम् १२। सोमसूर्याग्निकलाकल्पनम् १३। त्रिसूत्रीकरणम् १४। प्रपूजनम् १५। वज्रीकरणम् १६। चतुष्पथविभागः १७। अक्षपाटनम् १८। इत्यष्टादश संस्काराः कुण्डस्य।

मूल मन्त्र अर्थात् देय मन्त्र से कुण्ड (कुण्ड की आकृति) का वीक्षण (निरीक्षण) किया जाय। अस्त्रमन्त्र (फट्) से प्रोक्षण, अस्त्रमन्त्र से ही ताडन, वर्म मन्त्र (हुम्) का जप करते हुए दर्भों से अभ्युक्षण करें। अस्त्र-मन्त्र (फट्) से खनन और मृत्तिकोद्धार, हृदयमन्त्र (नमः) से प्रपूरण, अस्त्रमन्त्र से समीकरण, कवचमन्त्र (हुम्) से सेचन, हेतिमन्त्र (अस्त्र-फट्) से कुट्टन (कूटना), वर्ममन्त्र से (कवच अर्थात् हुम्) से मार्जन, विलेपन, सोम-सूर्य-अग्नि कलाओं का कल्पन (चिन्तन), अस्त्रमन्त्र (फट्) से वज्रीकरण, हृदयमन्त्र (नमः) से चतुष्पथ भाग का निर्माण तथा नेत्रमन्त्र (वौषट्) से अक्षपाटन नामक संस्कार सम्पादित किये जायँ।।२-६।।

विमर्श—कुण्ड के संस्कारों के ये पारिभाषिक नाम हैं। 'वीक्षण' का अर्थ है—कुण्ड की आकृति का निरीक्षण। प्रोक्षण अर्थात् जल छिड़कना। ताडन अर्थात् कुश से प्रहार करना। खनन—कुण्ड को खोदना। मृत्तिकोद्धार अर्थात् मिट्टी निकालना। पूरण अर्थात् अन्य स्थान से लाई गई मिट्टी को कुण्ड में भरना। समीकरण अर्थात् समतल करना। कुट्टन अर्थात् मिट्टी को कूटना। मार्जन—पानी का छिड़काव करके कंकड़-पत्थर आदि निकालना। विलेपन अर्थात् कुण्ड को गोबर से लीपना। कुण्ड में सूर्य-चन्द्रमा और अग्नि की कलाओं का चिन्तन करना। कुण्ड की मेखला को पवित्र धागे से तीन बार लपेटना त्रिसूत्रीकरण है। अक्षपाटन अर्थात् नेत्रोन्मीलन या इन्द्रिय-उद्घाटन।

आवसथ्यं मध्यभागे प्राच्याञ्च पश्चिमे तथा।
आहवनीयं ततोऽन्वाहार्यं दक्षिणदेशतः।।७।।
गार्हपत्यञ्च मन्त्रज्ञो भावयेद् भागमित्यथ।

विद्वान् मन्त्रज्ञ इस हवन कुण्ड के मध्य में आवसथ्य, पूर्व में आहवनीय, पश्चिम में अन्वाहार्य तथा दक्षिण में गार्हपत्य अग्नि के भाग की कल्पना करे।।७।।

विमर्श—आवसथ्य, आहवनीय, अन्वाहार्य, गार्हपत्य और सभ्य—ये पाँच प्रकार की यज्ञ-अग्नियों की संज्ञाएँ हैं। इनका सामूहिक नाम पञ्चाग्नि है।

चतुष्टयं वा मूलेन वीक्षणञ्च शरानुना।।८।।
प्रोक्षणं ताडनं दर्भैस्तेनोत्तानेन पाणिना।
प्रोक्षणं कवचेनैव संस्काराश्च समीरिताः।।९।।

निरुक्ताष्टादशसंस्काराशक्तौ संस्कारचतुष्टयरूपं कल्पान्तरमाह—**चतुष्टयमिति**। चतुष्टयं वा संस्काराणामिति शेषः। तच्चतुष्टयं विशेषयति—**मूलेनेति**। तथाच मूलेन वीक्षणम् १। शराणुना प्रोक्षणम् २। तेनैव दर्भैस्ताडनम् ३। वर्म्ममन्त्रेण प्रोक्षणम् ४। प्रोक्षणम् अभ्युक्षणम्। तदुक्तं शारदायां पञ्चमपटले—

अथवा तानि संस्कुर्य्याश्चतुर्भिर्वीक्षणादिभिः। इति।

व्यक्तमाह तन्त्रसारे—

वीक्षणं मूलमन्त्रेण शरेण प्रोक्षणं मतम्।
तेनैव ताडनं दर्भैर्वर्मणाभ्युक्षणं मतम्।। इति।

हवन-कुण्ड के संस्कारों का दूसरा कल्प बता रहे हैं। उपर्युक्त अठारह संस्कार सम्पन्न करने में असमर्थ होने की स्थिति में केवल चार संस्कार किये जायँ। मूल मन्त्र अर्थात् देय मन्त्र से वीक्षण। शर (अस्त्र-फट्) से प्रोक्षण। अस्त्र मन्त्र से ही कुशों से ताडन। वर्म (कवच-मन्त्र अर्थात् हुम्) से प्रोक्षण अर्थात् अभ्युक्षण। यह ताडन कर्म उत्तानपाणि अर्थात् उलटी हथेली से किया जाय।।८-९।।

[स्थण्डिले होमः]

अथवा स्थण्डिले होमं कुर्यात् साधकसत्तमः।
अङ्गुष्ठमध्यमोत्सेधवालुकामयमण्डलम् ।।१०।।
चतुरस्रं हस्तमानं गोमयेन विलेपितम्।
शोधनं कारयेत् स्थानं वीक्षणादिचतुष्टयैः।।११।।

वीक्षणादिचतुष्टयैः चतुष्टयं वेत्यादिना पूर्वमुक्तैरित्यर्थः। एवञ्च कुण्डेऽष्टादशसंस्कारकरणं प्रथमः कल्पः, तदसम्भवे तत्र वीक्षणादयश्चत्वारः संस्काराः। स्थण्डिले तु वीक्षणादिसंस्कारचतुष्टयमात्रम्।

कुण्ड का विकल्प स्थण्डिल (वेदी) है। उत्तम साधक को कुण्ड के अभाव में स्थण्डिल पर हवन करना चाहिए। यह स्थण्डिल बालू (रेत) से बनाया जाता है। इसकी लम्बाई एक हाथ, चौड़ाई एक हाथ तथा ऊँचाई अंगुष्ठप्रमाण रखी जाती है। इसे गोमय (गोबर) से लीप लिया जाता है। स्थण्डिल के वीक्षण आदि उपर्युक्त चार संस्कार ही किये जाते हैं।।१०-११।।

[प्रागग्ररेखात्रयम्]

रेखात्रयं सुधीः कुर्यात् पश्चिमात् पूर्वदिग्गतम्।
प्रादेशमात्रं विज्ञेयं मुकुन्देशेन्द्ररूपिणम्।।१२।।

कुण्ड में या स्थण्डिल पर पश्चिम से पूर्व की ओर एक-एक बित्ते की तीन रेखाएँ खींचें। इन रेखाओं को मुकुन्द, ईश और इन्द्ररूप समझें।।१२।।

[उत्तराग्ररेखात्रयम्]

हृदयेनैव मन्त्रेण दक्षिणादुत्तरावधि।
रेखात्रयं तथा ब्रह्मवैवस्वतेन्दुरूपकम्।।१३।।
लेखनीं निक्षिपेत्तत्र तर्जन्यङ्गुष्ठयोगतः।
रजस्तासां समुद्धृत्य प्रोक्षयेत् प्रणवेन तु।।१४।।

हृदयमन्त्र (नमः) का जप करते हुए दक्षिण से उत्तर की ओर एक-एक बित्ते की तीन रेखायें खींचें। लेखनी को फेंक दें। इन रेखाओं को ब्रह्मा-वैवस्वत और इन्दु (चन्द्र)-रूप समझा जाय। प्रणव (ॐ) का उच्चारण करते हुए इन रेखाओं से धूल (मिट्टी) उठाकर फेंक दें और उन पर पानी छिड़कें।।१३-१४।।

विमर्श—तन्त्रसार के अनुसार इन रेखाओं का तन्नामपूर्वक गन्धाक्षत से अर्चन किया जाता है।

[योगपीठविरचनापरिपाटी]

योगपीठञ्च सिन्दूरकर्पूरकुङ्कुमेन वा।
धान्यपिष्टेन वा मध्ये चूर्णेन वा हरिद्रया।।१५।।

त्रिकोणञ्चैव षट्कोणं भूपुरं द्वारसंयुतम्।
लिखित्वा बालया पुष्पं तन्मध्ये च विनिक्षिपेत्।।१६।।

योगपीठनिर्माणपरिपाटीमाह—**योगपीठञ्चेत्यादिना विनिक्षिपेदित्यन्तेन**। अत्र त्रिकोणञ्चैव षट्कोणमेतावन्मात्राभिधानेऽपि प्रथमतस्त्रिकोणम्, तद्बाह्ये पट्कोणम्, तद्बहिर्वृत्तम्, ततोऽष्टदलकमलम्, ततश्चतुर्द्वारसंयुक्तं भूपुरं मूलोक्तं लेखनीयमित्येवं क्रमोऽवगन्तव्यः। अन्यथा 'अष्टमूर्त्तीस्त्वष्टपत्रे' इति वक्ष्यमाणग्रन्थो नोपपद्यते तत्पूर्वं पत्रनिर्माणस्य लेशतोऽप्यनुल्लेखात् । तस्मात् यदत्र त्रिकोणञ्चैव पट्कोणमित्युक्तं तद् वह्नियन्त्रान्तर्गतयोगदपीठनिर्णयाभिप्रायेण। परमार्थतस्तु निरुक्तपट्कोणात् परं वृत्तादीन्यपि कर्त्तव्यानि। व्यक्तमाह गन्धर्वतन्त्रे होमविधिप्रतिपादकैकत्रिंशपटले—

दक्षिणास्तिस्रो रेखा वै विलिख्य तदनन्तरम्।
रेखाः स्युश्च वैवस्वतब्रह्मानन्तस्वरूपकाः।।

इत्यनन्तरम्—

त्रिकोणं मध्यतो देवि कृत्वा बाह्ये ततः परम्।
षट्कोणं विधिना चैव कारयेदतिसुन्दरम्।
अष्टपत्रञ्च तद्बाह्ये वृत्तेन कर्णिका शुभा।। इत्यादिना।

बालया ऐँ क्लीँ सौः इति वक्ष्यमाणबालामन्त्रेण।

कुण्ड में सिन्दूर, कपूर, कुंकुम अथवा चावल के आटे या हल्दी के चूर्ण से त्रिकोण-गर्भित षट्कोण, वृत्त, अष्टदल कमल और द्वारसहित भूपुरयुक्त योगपीठ बनाकर उसके मध्य भाग में बाला-मन्त्र (ऐं क्लीं सौः) से पुष्पाञ्जलि दें।।१५-१६।।

[पीठदेवतापूजा]

उपर्युपरिभेदेन तत्र पीठं समर्चयेत्।
मण्डूकं पूजयेद्रुद्रमाधारकूर्मशूकरान्।।१७।।
धर्मं ज्ञानञ्च वैराग्यमैश्वर्यं पीठदिक्षु च।
अ-पूर्वांस्तेषु कोणेषु पीठस्योपरि पूजयेत्।।१८।।

अपूर्वानिति। पूर्वं धर्मं ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यमित्युपक्रान्तम् । अ-पूर्वानित्यनेन च अकारः पूर्वो येषां तथाभूतान् धर्मादीन् तेषु कोणेषु पूजयेदित्यर्थस्य संग्रहात् कोणेष्वधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याणां पूजनमुपदिष्टमित्यवधेयम्।

इस योगपीठ के मध्य में एक के ऊपर एक के होने की भावना करते हुए मण्डूक, कालाग्नि रुद्र, आधारशक्ति, कूर्म और वराह की पूजा करें। पीठ की चारो दिशाओं में पूर्व से प्रारम्भ कर क्रमशः धर्म-ज्ञान-वैराग्य तथा ऐश्वर्य की पूजा करें। पीठ के आग्नेय आदि कोणों में क्रमशः अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य की पूजा करें।।१७-१८।।

विमर्श—'तन्त्रसार' में आग्नेय आदि कोणों में धर्म आदि का तथा पूर्वादि दिशाओं में अधर्म आदि के पूजन का क्रम बताया गया है। शारदातिलक में पीठ-देवताओं के अर्चन का विधान नहीं बताया गया है।

[योगपीठार्चनम्]

पुनस्तारेण मन्त्रज्ञो योगपीठं यजेत्ततः।।१९।।
तारो माया च कामेशी कामेश्वरयुतेति च।
योगपीठं ङेनमोऽन्तं पीठमन्त्रोऽयमीरितः।।२०।।

तारेण प्रणवेन। तार इति। तारः प्रणवः। माया ह्रीँ। तथाच 'ॐ ह्रीँ कामेश्वरीकामेश्वरयुतयोगपीठाय नमः' इति पीठमन्त्र इत्यर्थः।

इसके बाद 'ॐ ह्रीं कामेश्वरीकामेश्वरयुतयोगपीठाय नमः' इस मन्त्र से समस्त योगपीठ की पूजा करें॥१९-२०॥

[कामेश्वरीध्यानम्]

मध्ये ॠतुमतीं देवीं मातरं विश्वमातरम्।
कामेश्वरीं महाप्रौढां नीलेन्दीवरसन्निभाम्।।२१।।
कामेश्वरेण संयुक्तां ध्यात्वा पाद्यादिभिर्यजेत्।
शक्तिबीजेन कामेशीं कामेशं साध्यमन्त्रतः।।२२।।

पीठ के मध्य में कामेश्वर शिव-सहित नील-कमल के समान नीलाभ ॠतुमती विश्वमाता कामेश्वरी का ध्यान करना चाहिए। ध्यान के बाद शक्तिमन्त्र (ह्रीं) से कामेश्वरी की तथा साध्य (देय) मन्त्र से कामेश्वर की पाद्य आदि से पूजा करनी चाहिए॥२१-२२॥

[अग्निचयनम्]

श्रोत्रियागारजं वापि सूर्यकान्तोद्भवन्तु वा।
अरणीसम्भवं वापि क्षिप्तं स्वर्णादिभाजने।।२३।।
ताम्रपात्रादिना मन्त्री पिहितन्तु समानयेत्।
अथवाऽऽनीतमभितः स्थापयेत् कांस्यभाजने।।२४।।
तस्मात् समानयेत् किञ्चिद् वह्निबीजेन याजकः।।२५।।

अग्निचयन—होम करने के लिये श्रोत्रिय के घर की अग्नि, सूर्यकान्त मणि से उद्भूत अग्नि अथवा अरणि-मन्थन से उद्भूत अग्नि प्रशस्त है। इनमें से किसी भी प्रकार की अग्नि को स्वर्ण, ताम्र अथवा काँसे के बर्तन में समान धातु से बने ढक्कन से ढाँककर लाया जाय॥२३-२५॥

[अग्निसंस्कार:]

मूलेन वीक्षणं कार्यमस्त्रेण रक्षणं चरेत्।
प्रोक्षयेत् कवचेनैव तथावगुण्ठनं चरेत्।।२६।।

मूल मन्त्र अर्थात् देय मन्त्र से इस अग्नि का वीक्षण, अस्त्रमन्त्र (फट्) से रक्षण, कवचमन्त्र से (हुम् से) संरक्षण करके अवगुण्ठनी मुद्रा से अवगुण्ठन करें॥२६॥

[दिग्बन्धनादि]

दशदिग्बन्धनं कृत्वा धेनुमुद्रां प्रदर्शयेत्।।२७।।
त्रिर्भ्राम्य कुण्डं परितो दक्षिणात्तारमुच्चरन्।
कूर्च्चास्त्राभ्याञ्च नैर्ऋत्यां क्रव्यादांशं परित्यजेत्।।२८।।

दक्षिणादिति। स्वदक्षिणभागादग्निमुद्धृत्य कुण्डं परितस्त्रिः परिभ्राम्य इत्यर्थः। **कूर्च्चेति।** तारमुखम् इति तारशब्देन मूलमन्त्रो बोध्यः। कूर्च्च हूँ, अस्त्रं फट्। ततश्च मूलमुच्चार्य हूँ फट् क्रव्यादेभ्यः स्वाहा इति क्रव्यादांशत्यागक्रमः। एवमेव तन्त्रसारकाराः।

छोटिका मुद्रा से दशों दिशाओं का बन्धन करके धेनुमुद्रा से अग्नि का अमृतीकरण करें। अपने दाहिने ओर से उक्त अग्नि को पात्र-सहित उठाकर मूल मन्त्र का जप करते हुए कुण्ड पर तीन बार घुमायें। उसे पृथ्वी पर रखकर 'हूं फट् क्रव्यादेभ्यो स्वाहा' कहकर क्रव्यांश का त्याग करें अर्थात् उक्त मन्त्र का जप करते हुए उस अग्नि का कुछ भाग उठाकर नैर्ऋत्य कोण की ओर फेंक दें॥२७-२८॥

विमर्श—सामान्य अग्नि में अग्नि के हव्यवाह और कव्यवाह—ये दोनों रूप समाहित रहते हैं। जिस अग्नि में देवताओं के लिये हव्य (आहुति) दी जाती है, उसे हव्यवाह कहते हैं। जो अग्नि मांस और शव को जलाती है, उसे कव्यवाह कहते हैं। चूँकि हवन के लिये केवल हव्यवाह अग्नि ही ग्राह्य है; अत: पात्रस्थ उस अग्नि के कुछ भाग को कव्यवाह मानकर नैर्ऋत्य कोण की ओर फेंक दिया जाता है; क्योंकि कच्चा मांस खाने वाले राक्षसों का निवास नैर्ऋत्य दिशा में है।

[अनन्तरकृत्यानि]

पश्चात् प्रज्वालयेद् वह्निं ज्ञानाग्निं संक्रमय्य च।
दीपाद्दीपान्तरं न्यायात् स्फुरन्तं सर्वतोमुखम्।
श्वासमार्गेण मनुवित् कवचेन ततोऽर्चयेत्।।२९।।
भूमौ च जानुनी कृत्वा कूर्चबीजञ्च वह्नितः।
चैतन्यं ङे नमोऽन्तं स्यादनेनोत्थापयेच्छुचिम्।।३०।।

[वह्निस्थापनम्]

शिवबीजधिया तस्या योनौ वह्निं विनिक्षिपेत्।
आत्मनोऽभिमुखं कृत्वा पूर्वोक्तमण्डलान्तरे।।३१।।

क्रव्यांश-त्याग के बाद ज्ञान-अग्नि को श्वास मार्ग से बाहर लाकर दीपात् दीपान्तर न्याय से पात्रस्थ अग्नि में संयोजित करके उसे प्रदीप्त करें। अपने आसन पर घुटने टेककर बैठ जायँ। 'हूं वह्निचैतन्याय नमः' का जप करते हुए उक्त अग्निपात्र को हाथों में उठा लें। उक्त अग्नि को शिवबीज समझते हुए उसे कुण्ड में अपने सामने वाले त्रिकोण में स्थापित कर दें॥२९-३१॥

विमर्श—एक दीपक से दूसरे दीपक को आलोकित करना दीपात् दीपान्तर न्याय है। ज्ञान अग्नि का वास साधक के शरीर में (मणिपूरक चक्र) है। इस ज्ञान अग्नि का ध्यान करके उसे श्वास मार्ग से बाहर लायें तथा भावना द्वारा उसे पात्रस्थ अग्नि में संयोजित कर दें।

[प्रज्वालनम्]

आदौ व्याहृतिभिः पश्चाद् वह्निमन्त्रश्च वर्त्तुलम्।
चित्पिङ्गलं हनद्वन्द्वं दहद्वन्द्वं पचद्विधा।
सर्वज्ञाज्ञापय स्वाहा वह्निं प्रज्वालयेत् सुधीः।।३२।।

आदाविति। अत्र आदौ व्याहृतिभिः सार्द्धं वर्त्तुलमुच्चार्य पश्चात् वह्निमन्त्रञ्च, अत्र चकाराद् वह्निमन्त्रस्यादौ वर्त्तुलञ्चेति लभ्यते। तथाच ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ चित्पिङ्गल हन हन दह दह पच पच सर्वज्ञाज्ञापय स्वाहा इति वह्निप्रज्वालनमन्त्र इति पर्यवस्यति। वह्निप्रज्वालने विशेषमाह राघवभट्टधृतवायवीयसंहितायाम्—

जुहूस्रुश्च हुताग्निश्च पाणिशूर्पस्रुवादिभिः।
न कुर्यादग्निधमनं न कुर्याद् व्यजनादिना।
मुखेनैव धमेदग्निं मुखादेष ह्यजायत।। इति।

कुण्ड में स्थापित अग्नि को जलायें। अग्नि-प्रज्ज्वलन का मन्त्र है— 'ॐ भूर्भुवः स्वः ॐ चित् पिङ्गल हन हन दह दह पच पच सर्वज्ञाज्ञापय स्वाहा'॥३२॥

विमर्श—कुण्ड की अग्नि को पंखा आदि झलकर नहीं जलाना चाहिये; क्योंकि इससे प्रत्यवाय होता है। मुँह से फूँककर ही अग्नि को जलाया जाना चाहिए; क्योंकि मुख से ही अग्नि की उत्पत्ति होती है।

[ज्वालिनी मुद्रा]

मणिबन्धौ समौ कृत्वा करौ तु प्रसृताङ्गुली।
मध्यमे मिलिते कृत्वा तन्मध्येऽङ्गुष्ठकौ क्षिपेत्।
इमाञ्च ज्वालिनीं मुद्रां दर्शयेत् साधकोत्तमः।।३३।।

ज्वालिनी मुद्रा—कुण्ड की आग जब जलने लगे, तब उसे ज्वालिनी मुद्रा दिखायें। दोनों हाथों को मणिबन्ध (कलाई) के पास जोड़ लें। अंगुलियों को फैला दें। दोनों मध्यमाओं के ऊपर भाग को जोड़ कर अंगूठों को मध्यमाओं के जड़ में स्थापित करने से ज्वालिनी मुद्रा बनती है। मुद्रा दिखाकर अग्नि का उपस्थान (स्तवन) करें।।३३।।

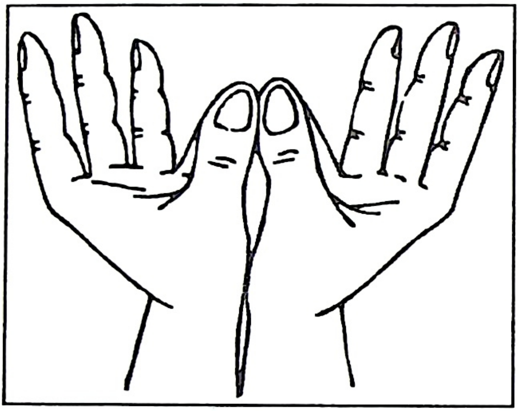

[अग्नेरुपस्थानम्]

अग्निं प्रज्वलितं वन्दे जातवेदं हुताशनम्।
सुवर्णवर्णममलं समिद्धो सर्वतोमुखम्।।३४।।

[चैतन्ययोजनम्]

उपस्थानं विधायेत्थं मनुना पावकं सुधीः।
कामबीजं समुच्चार्य वह्निमूर्त्तिं समर्चयेत्।।३५।।
बालामन्त्रं समुच्चार्य आं सोऽहमिति संलिखेत्।
वह्निचैतन्यमुच्चार्य ङेऽन्तं हृन्मनुसंयुतम्।
कामेश्वर्या गर्भदेशे वह्निमन्त्रेन भावयेत्।।३६।।

कामबीजमिति। तथाच क्लीं वह्निमूर्त्तये नमः इति पूजनक्रमः। **बालामन्त्रमिति।** तथाच ऐँ क्लीँ सौः आं सोऽहं वह्निचैतन्याय नमः इति कामेश्वरी गर्भेवह्निं चिन्तयेद् इत्यर्थः।

अग्नि का इस प्रकार उपस्थान करके 'क्लीं वह्निमूर्तये नमः' इस मन्त्र से पूजन करें। तत्पश्चात् 'ऐं क्लीं सौः आं सोऽहं वह्निचैतन्याय नमः'—इस मन्त्र का जप करते हुए यह भावना करें कि देवी कामेश्वरी के गर्भ में स्थित अग्नि चैतन्य हो रहा है।।३५-३६।।

[समित्प्रक्षेपः]

प्रादेशमात्रां समिधं मूलाग्रघृतसंयुताम्।
तूष्णीं वह्नौ समुत्क्षिप्य—

[अग्नेर्जिह्वासु देवतादीनां न्यासः]

—जिह्वायां देवता न्यसेत्।।३७।।
देवताः पितरश्चैव गन्धर्वा यक्षपन्नगाः।
पिशाचा राक्षसाश्चैव न्यस्तव्या एषु साधकैः।
स्वलिङ्गगुदमूर्द्धास्य-नासानेत्राङ्गके क्रमात्।।३८।।

तूष्णीमिति। समुत्क्षिप्य प्रादेशमात्रां समिधं तूष्णीमग्नौ हुत्वेत्यर्थः। जिह्वायाम् अग्नेर्हिरण्यादिसप्तजिह्वासु वक्ष्यमाणासु इत्यर्थः। देवता न्यसेत्। ता एव आह—**देवता** इत्यादिना। एष्विति स्वलिङ्गगुदमूर्द्धादिषु सप्तस्वङ्गेष्वित्यर्थः। एताश्च देवता एषु न्यसेदित्यर्थः। एवञ्च आदौ सप्त जिह्वा लिङ्गादिषु सप्तस्वङ्गेषु न्यस्य तासु जिह्वास्वधि-देवता न्यसेदिति सम्प्रदायः।

बालिश्त भर की समिधा के दोनों सिराओं को घी में डुबोकर चुपचाप अग्नि में डाल दें। अग्नि की जिह्वाओं में उनके अधिदेवताओं का न्यास करें। देवता, पितर, गन्धर्व, यक्ष, पन्नग (सर्प), पिशाच और राक्षस—इन जिह्वाओं के अधिदेवता हैं। लिंग, पायु (गुदा), मूर्ध्नि (सिर), आस्य (मुख), नासा (नाक), नेत्र और सर्वाङ्ग में इनका न्यास किया जाता है (न्यासविधि आगे बताई गई है)।।३७-३८।।

[षडङ्गेषु देवतान्यासः]

सहस्त्रार्च्चिः स्वस्तिपूर्ण उत्तिष्ठपुरुषस्तथा।
धूमव्यापी सप्तजिह्वो धनुर्द्धर इतीरितः।
चतुर्थ्यन्ताः षडङ्गेषु योजयेत् क्रमशः सुधीः।।३९।।

अग्नेरङ्गेषु देवतानां न्यासमाह—**सहस्त्रार्चिरित्यादिना।** सहस्त्रार्चिराद्या धनुर्धरान्ताश्चतुर्थ्यन्ताः षडङ्गदेवताः षट्स्वङ्गेषु योजयेदित्यर्थः। एवञ्च ॐ सहस्त्रार्च्चिषे हृदयाय नमः। ॐ स्वस्तिपूर्णाय शिरसे स्वाहा। ॐ उत्तिष्ठपुरुषाय शिखायै वषट् इत्येवं क्रमः पर्यवस्यति।

सहस्त्रार्चि, स्वस्तिपूर्ण, उत्तिष्ठपुरुष, धूम्रव्यापी, सप्तजिह्व और धनुर्धर—ये षडङ्ग देवता हैं। विद्वान् साधक इनके चतुर्थ्यन्त नाम के आगे 'ॐ' तथा नाम के पीछे 'नमः' आदि जातियों की योजना करके षडङ्ग में इनका न्यास करे; यथा—ॐ सहस्त्रार्चिषे—हृदयाय नमः। ॐ स्वस्तिपूर्णाय—शिरसे स्वाहा। ॐ उत्तिष्ठ-पुरुषाय—शिखायै वषट्। ॐ धूम्रव्यापिने—कवचाय हुम्। ॐ सप्तजिह्वाय नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ धनुर्द्धराय—अस्त्राय फट्।।३९।।

[अग्नेरष्टाङ्गेषु देवतान्यासः]

अष्टमूर्त्तीर्न्यसेत् पश्चात् प्रणवाद्येन वै क्रमात्।
अग्निना सह सर्वत्र मनुविज्जातवेदसम्।।४०।।
सप्तजिह्वं हव्यवाहमश्वोदरमपि न्यसेत्।
वैश्वानरञ्च कौमारतेजसं तदनन्तरम्।
विश्वमुखं देवमुखमेषु स्थानेषु विन्यसेत्।।४१।।
मूर्ध्नि दक्षांशके चैव तथा पार्श्वे कटौ तथा।
वामपायौ तस्य देशे पार्श्वांशे क्रमतो न्यसेत्।।४२।।

अष्टमूर्त्तीरिति। अग्नेर्मूर्द्धादिष्वष्टाङ्गेषु प्रणवाद्येन अग्निना सह चतुर्थ्यन्तेनेत्यर्थः। जातवेद-आद्याश्चतुर्थ्यन्ता अष्टमूर्त्तीर्विन्यसेदिति सम्बन्धः। अयञ्च न्यासः प्रादक्षिण्येन कर्त्तव्यः। तदुक्तं शारदायां पञ्चमपटले—

मूर्त्तीरष्टौ तनौ न्यस्येद्देशिको जातवेदसः।
मूर्द्धांसपार्श्वकट्यन्धुकटिपार्श्वांसके पुनः।।
प्रदक्षिणवशान्न्यस्येदुच्यन्ते ता यथाक्रमात्।
जातवेदाः सप्तजिह्वो हव्यवाहनसंज्ञकः।।
अश्वोदरजसंज्ञोऽन्यः पुनर्वैश्वानराह्वयः।
कौमारतेजाः स्याद्विश्वमुखो देवमुखः स्मृतः।
तारान्गये पदाद्याः स्युर्नत्यन्ता वह्निमूर्त्तयः।। इति।

नत्यन्ता नमोऽन्ताः।

तथाच—ॐ अग्नये जातवेदसे नमः। इति मूर्ध्नि। ॐ अग्नये सप्तजिह्वाय नमः। इति दक्षांसे। इत्येवं प्रयोगक्रमः। न्यासोऽयं वह्नेरष्टाङ्गभूतेषु निरुक्तयन्त्राष्टदलेषु कर्त्तव्यः। 'अष्टदलेषु अग्नये जातवेदसे' इत्यादि—गन्धर्वतन्त्रैकत्रिंशत्तमपटलोक्तेरिति ध्येयम्।

जातवेदस, सप्तजिह्व, हव्यवाह, अश्वोदर, वैश्वानर, कौमारतेजस, विश्वमुख और देवमुख—अग्नि की ये आठ मूर्तियाँ हैं। इनके चतुर्थ्यन्त नाम के आगे 'ॐ अग्नये' और नाम के अन्त में 'नमः' की योजना करके मूर्धा, दक्षांस, दक्षपार्श्व, दक्ष कटि, लिंग, वाम कटि, वाम पार्श्व और वामांस में न्यास करें। यथा—ॐ अग्नये जातवेदसे नमः—मूर्ध्नि। ॐ अग्नये सप्तजिह्वाय नमः—दक्षांसे। ॐ अग्नये हव्यवाहनाय नमः—दक्षपार्श्वे। ॐ अग्नये अश्वोदराय नमः—दक्षकट्याम्। ॐ अग्नये वैश्वानराय नमः—लिंगे। ॐ अग्नये कौमारतेजसे नमः—वामकट्याम्। ॐ अग्नये विश्वमुखाय नमः—वामपार्श्वे। ॐ अग्नये देवमुखाय नमः—वामांसे।।४०-४२।।

[स्वदेहे वह्नेर्जिह्वानां न्यासः]

विन्यसेदात्मनो देहे मन्त्रैर्जिह्वा हविर्भुजः।
स्वलिङ्गगुदमूर्द्धास्यनासानेत्रेषु सर्वतः।।४३।।
सादि-यान्ता वह्निवायुवामकर्णसमन्विताः।
बिन्दुनादकलायुक्ता जिह्वामन्त्राः प्रकीर्त्तिताः।।४४।।

विन्यसेदिति। लिङ्गगुदमूर्द्धादिषूक्तेषु सप्तस्वङ्गेषु मन्त्रैर्वक्ष्यमाणैः सप्त जिह्वा न्यसेदिति सम्वन्धः। मन्त्रमाह—**सादीति।** सादि-यान्ताः विलोमेन सकारादि यकारान्ताः सप्त वर्णाः, ते च प्रत्येकं वह्निना रकारेण तथा वायुवामकर्णेन यकारयुक्तदीर्घोकारेण समन्विताः, तथा बिन्दुना नादकलया चन्द्रार्द्धेन च युक्ता इत्यर्थः। एवञ्च सरयूँ हिरण्यायै नमः इति लिङ्गे। षरयूँ कनकायै नमः इति पायौ। शरयूँ रक्तायै नमः इति मूर्ध्नि। वरयूँ कृष्णायै नमः इति वक्त्रे। इति प्रयोगक्रमः। अत्र विशेषानभिधानात् वक्ष्यमाणसात्त्विकादिभेदभिन्नासु जिह्वास्वयमेव क्रम इति ध्येयम्।

अग्नि की जिह्वाओं का लिंग, गुदा, सिर, मुख, नाक, नेत्र और सर्वांग में न्यास करें। 'स'कार से 'य'कार-पर्यन्त ७ वर्णों को विलोम क्रम से वह्नि (र), वायु (य), वामकर्ण (इ) को बिन्दु और नाद से युक्त करने से अग्निजिह्वाओं का न्यास मन्त्र बनता है।।४३-४४।।

[जिह्वानां त्रैविध्यम्]

जिह्वास्तास्त्रिविधाः प्रोक्ता गुणभेदेन कर्मसु।।४५।।

गुण-भेद से अग्निजिह्वाओं के तीन भेद या वर्ग हैं।।४५।।

[तत्र सात्त्विककर्मविहिताः]

हिरण्या कपिला रक्ता कृष्णान्या सुप्रभा मता।
बहुरूपातिरूपा च सात्त्विके यागकर्मणि।।४६।।

हिरण्या, कपिला, रक्ता, कृष्णा, सुप्रभा, बहुरूपा और अतिरूपा—ये सात सात्त्विक जिह्वाएँ हैं।।४६।।

[राजसकर्मविहिताः]

पद्मरागा सुवर्णा च तथा च चन्द्रलोहिता।
लोहिता च तथा श्वेता धूमिनी च करालिनी।
रजोगुणसमुद्दिष्टा रसनाः काम्यकर्मसु।।४७।।

पद्मरागा, सुवर्णा, चन्द्रलोहिता, लोहिता, श्वेता, धूमिनी और करालिनी—ये सात रजोगुणी जिह्वाएँ हैं। काम्य कर्म में इनका पूजन-हवन किया जाता है।।४७।।

[तामसकर्मविहिताः]

विश्वमूर्त्तिस्फुलिङ्गिन्यौ धूम्रवर्णा मनोजवा।
लोहिन्या कनकाख्या च काली तामस्य ईरिताः।

विश्वमूर्ति, स्फुलिङ्गिनी, धूम्रवर्णा, मनोजवा, लोहिनी, कनका तथा काली—ये सात तामसी जिह्वायें हैं।

[अन्त्यानां क्रूरकर्ममात्रपरत्वम्]

एताः सप्त प्रपूज्यन्ते क्रूरकर्मसु मन्त्रिभिः।।४८।।

विश्वमूर्ति आदि ये जिह्वायें क्रूरकर्म में पूजनीया होती हैं।।४८।।

[जिह्वानां वर्णाः]

स्वस्वनामसमाभाः स्युर्जिह्वाः कल्याणरेतसः।।४९।।

अग्नि की ये जिह्वायें अपने-अपने नाम के अनुरूप वर्ण और आभा वाली हैं।।४९।।

विमर्श—तीनों प्रकार की जिह्वाओं के न्यास-बीज यथाक्रम एक से हैं। प्रयोगक्रम निम्नानुसार है—

सरयूं हिरण्यायै नमः—लिंगे। षरयूं कनकायै नमः—गुदे। शरयूं रक्तायै नमः—शिरसि। वरयूं कृष्णायै नमः—मुखे। लरयूं सुप्रभायै नमः—नासिकायाम्। ररयूं बहुरूपायै नमः—नेत्रयोः। यरयूं अतिरूपायै नमः—सर्वांगे।

[परिस्तरणम्]

एवं विन्यस्तदेहः सन् परिस्तरणमाचरेत्।
अर्घ्योदकेन चाभ्युक्ष्य मध्यस्थमेखलोपरि।।५०।।

उत्तराग्रं पूर्वदेशे पूर्वाग्रं दक्षिणे ततः।
उत्तराग्रं पश्चिमे तु प्रागग्रमुत्तरे क्रमात्।।५१।।

मूलमाच्छादनं कृत्वा त्रिवारन्तु परिस्तरेत्।
अस्योपरि सिचेत् तोयैर्मूलमन्त्रेण साधकः।।५२।।

अर्घ्योदकेनेति। अभिषेचनं बालाबीजेन। तदुक्तं तन्त्रसारे—'ततो मेखलानामुपरि बालया विशुद्धैस्तोयैः परिषिच्ये'ति। **मूलमाच्छादनमिति।** आ सम्यक् छादनं यस्य तत्। तथा च मूलमाच्छादितं कृत्वा अग्रेणेति शेषः। परिस्तरणमिदं गर्भशून्यदर्भैः कर्त्तव्यम्। तदुक्तं शारदायां पञ्चमपटले—

दर्भैरगर्भैर्मध्यस्थमेखलायां परिस्तरेत्। इति।

तन्त्रसारेऽपि—मध्यमेखलायां गर्भशून्यैर्दर्भैरग्रेण मूलमाच्छादयन् त्रिस्त्रिः परिवेष्टयेदिति।

इस प्रकार देह में न्यास करके परिस्तरण करे। अर्घ्य के जल से (बाला मन्त्र से) अभ्युक्षण करे। मध्यस्थ मेखला पर कुछ गर्भशून्य कुश लेकर उनके अग्रभाग से कुश के मूल देश को आच्छादित कर चारो दिशाओं में तीन-तीन बार परिस्तरण करें। इस पर मूल मन्त्र से शुद्ध जल छिड़कें॥५०-५२॥

[परिधिस्थापनम्]

निक्षिपेद्दिक्षु परिधीन् प्राचीवर्जं गुरूत्तमः।
प्रादक्षिण्येन सम्पूज्यास्तेषु ब्रह्मादिमूर्त्तयः॥५३॥

निक्षिपेदिति। परिधीन् परिवेष्टनानि। परिधिलक्षणमाह कात्यायनसंहितायां पञ्चदशखण्डे—

बाहुमात्रा परिधय ऋजवः सत्वचोऽव्रणाः।
त्रयो भवन्ति शीर्णाग्रा एकेषान्तु चतुर्दिशम्॥

प्रागग्रावभितः पश्चादुदगग्रमथापरम्।
न्यसेत् परिधिमन्यञ्चेदुदगग्रः स पूर्वतः॥ इति।

वैदिकसर्वस्वधृतपञ्चरात्रे च—

ततः परिधयो देयाः सत्वचो ब्रह्मवृक्षजाः।
बाहुमात्रप्रमाणेन विस्तारं द्वादशाङ्गुलम्॥ इति।

वैदिकसर्वस्वधृत आपस्तम्बः—त्रयः परिधयः पलाशकाश्मर्यखदिरोडम्बर-बिल्वरोहितकविकङ्कतानां ये वा यज्ञीया वृक्षा इत्यादि। एवञ्च दक्षिणोत्तरयोः पूर्वाग्रौ पश्चिमे उद्ग्म इति त्रयः परिधयो भवन्ति। प्रागुक्तकात्यायनवचने 'न्यसेत् परिधि-मन्यञ्चेदुदगग्रः स पूर्वत' इत्यनेन चतुर्थपरिधिन्यासरूपं यत् कल्पान्तरमुक्तं तदेव व्यावर्त्तयति मूले प्राचीवर्जमित्यनेन। पूर्वतः परिधिर्न विधेय इत्यर्थः।

इसके बाद पूर्व को छोड़कर शेष तीन दिशाओं में तीन परिधियाँ रखकर इन पर ब्रह्मा आदि की पूजा करें॥५३॥

विमर्श—पलाश, खदिर, उदुम्बर, बिल्व आदि यज्ञीय वृक्ष की एक हाथ लम्बी, सीधी और बिना गाँठ वाली लकड़ी को परिधि कहते हैं।

[अग्नेर्ध्यानम्]

ध्यायेद् वह्निं हेमवर्णं शक्तिस्वस्तिकधारिणम्।
वरदाभयशोभाढ्यं सुवर्णवरभूषणम्॥५४॥
शुक्लाम्बरपरीधानं पद्मोपरि च संस्थितम्।
त्रिनेत्रमुज्ज्वलं ध्यायेदूर्ध्वमौलिं जटादिभिः॥५५॥

इसके बाद अग्निदेव का ध्यान करें। अग्निदेव का वर्ण सोने के समान पीला है, चार हाथ हैं, जिनमें उन्होंने शक्ति-स्वस्तिक-वर और अभय मुद्रा धारण कर रखा

है। तीन उज्ज्वल नेत्र हैं। सिर पर जटा है। वे पद्म पर खड़े हैं। वस्त्र श्वेत रंग के हैं तथा उनका शरीर विभिन्न स्वर्ण आभूषणों से अलंकृत है।।५४-५५।।

[परिधिस्थापनम्]

वैश्वानर ततो जातवेद पश्चादिहावह।
लोहिताक्ष च सर्वान्ते कर्माण्यथ च साधय।।५६।।
वह्निजायान्तमन्त्रेण वह्नेरावाहनं चरेत्।
अनेनाग्निं समभ्यर्च्य—

[वह्निजिह्वासप्तकपूजनक्रमः]

—तन्मुखे रसनां यजेत्।।५७।।
ईशादारभ्य षट्कोणे मध्ये च साधकोत्तमः।

वह्नेरावाहनस्य मन्त्रमाह—**वैश्वानरेति**। एवञ्च 'वैश्वानर जातवेद इहावह लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय स्वाहे'तिमन्त्रः पर्यवस्यति। अनेनेति निरुक्तवैश्वानरेत्यादिमन्त्रेण। एवञ्च वह्नेरावाहनं पूजनञ्चेत्युभयमेवानेन मन्त्रेण विधेयमिति बोध्यम्। एवमग्नेरर्चनमभिधाय तन्मुखे जिह्वासप्तकपूजनमभिधत्ते—**तन्मुख इत्यादिना**। तथाच प्रागुक्तत्रिकोणबहिःषट्कोणे ईशानादिक्रमेण हिरण्याद्याः षट्, मध्ये च सप्तमीं पूर्वोक्तमन्त्रयोगेन सरयूँ हिरण्यायै नम इत्यादिमन्त्रेण यजेदित्यर्थः। षडङ्गावरणं यजेदिति ॐ सहस्रार्चिषे हृदयाय नम इति पूर्वोक्तक्रमेणेत्यर्थः।

वैश्वानर, इसके बाद 'जातवेद', फिर 'इहावह', इसके बाद 'लोहिताक्ष', इसके बाद 'सर्वः कर्माणि साधय स्वाहा' की योजना करने से अग्नि का आवाहन मन्त्र बनता है। मन्त्र का स्वरूप है—'ॐ वैश्वानर जातवेदसे इहावह लोहिताक्ष सर्वकर्माणि साधय स्वाहा।'

इस मन्त्र से अग्नि का आवाहन करके अग्नि के मुख में अर्थात् षट्कोण में ईशान से प्रारम्भ करके सभी ६ कोणों और मध्य में हिरण्या आदि जिह्वाओं का पूजन करें।।५६-५७।।

विमर्श—जिह्वाओं का पूजन-क्रम इस प्रकार है—
ईशान कोण में—सरयूं हिरण्यायै नमः।
पूर्व में—षरयूं कनकायै नमः।
अग्निकोण में—शरयूं रक्तायै नमः।
नैर्ऋत्य में—वरयूं कृष्णायै नमः।
पश्चिम में—लरयूं सुप्रभायै नमः।
वायव्य में—यरयूं अतिरूपायै नमः।
मध्य में—ररयूं बहुरूपायै नमः।

यद्यपि जिह्वाओं के नामक्रम में 'बहुरूपा' का नाम ६वें क्रम में 'अतिरूपा' के पूर्व में है, मगर अर्चनक्रम में 'बहुरूपा' का पूजन सबसे अन्त में होता है।

पूर्वोक्तमन्त्रयोगेण षडङ्गावरणं यजेत्।।५८।।
अष्टमूर्त्तीस्त्वष्टपत्रे भूविम्बे दिगधीश्वरान्।

[पुनरग्नेर्ध्यानादेः कर्त्तव्यता]

पुनर्वैश्वानरं ध्यात्वा पूजयेत् साधकोत्तमः।।५९।।

अष्टमूर्त्तीरिति। अग्निना सह सर्वत्र मनुविज्जातवेदसम् इत्यादिनोक्ता अष्टमूर्त्तीरित्यर्थः। अस्य ॐ अग्नये जातवेदसे नम इत्यादयः प्रयोगाः पूर्वमेवोपदर्शिताः। अत्र देवतान्तरपूजनमप्याह शारदायां पञ्चमपटले—

दलेषु पूजयेन्मूर्त्तीः शक्तिस्वस्तिकधारिणीः।
दलाग्रे मातरः पूज्याः सासिताङ्गादिभैरवाः।
लोकपालांस्ततो दिक्षु पूजयेदुक्तलक्षणान्।। इति।

इसके बाद अष्टदल कमल के केशरों में अग्निकोण से प्रारम्भ कर उपर्युक्त मन्त्रों से हृदय आदि अंगों का तथा दलों में पूर्व से प्रारम्भ करके 'जातवेदस' आदि अष्टमूर्तियों का पूजन करें। यथा—

अग्निकोण में — ॐ सहस्रार्चिषे हृदयाय नमः।
ईशान कोण में — ॐ स्वस्तिपूर्णाय शिरसे स्वाहा।
नैर्ऋत्य कोण में — ॐ उत्तिष्ठपुरुषाय शिखायै वषट्।
वायव्य कोण में — ॐ धूम्रव्यापिने कवचाय हुम्।
पूर्व में — ॐ सप्तजिह्वाय नेत्रत्रयाय वौषट्।
चारो दिशाओं में — ॐ धनुर्द्धराय अस्त्राय फट्।

कमल के अष्टदलों में पूर्व से प्रारम्भ करके अष्टमूर्ति-पूजन—

ॐ अग्नये जातवेदसे नमः।
ॐ अग्नये सप्तजिह्वाय नमः।
ॐ अग्नये हव्यवाहनाय नमः।
ॐ अग्नये अश्वोदराय नमः।
ॐ अग्नये वैश्वानराय नमः।
ॐ अग्नये कौमारतेजसे नमः।
ॐ अग्नये विश्वमुखाय नमः।
ॐ अग्नये देवमुखाय नमः।

शक्ति-स्वस्तिक-धारणी इन अग्निमूर्तियों का पूजन करने के बाद भूपुर में इन्द्र आदि लोकपालों एवं उनके वज्र आदि आयुधों का पूजन करें।

लोकपालों का पूजन करने के बाद फिर से अग्निदेव का पूजन करें। इसके बाद स्रुक् आदि पात्रों का संस्कार करें॥५८-५९॥

[पात्रसंस्कारः]

प्रोक्षयेदर्घ्यतोयेन पात्राणि शुद्धिहेतवे।
सम्मुखानि ततः कृत्वा बालया चाभिमन्त्रयेत्।
प्रणीताप्रोक्षणीयुग्मे जलपुष्पे विनिक्षिपेत्॥६०॥
स्रुवञ्चाधोमुखं कृत्वा त्रिःप्रताप्य च मन्त्रवित्।
आदाय वामहस्तेन दूर्वया मार्जयेत् त्रिधा॥६१॥
मूलादिवक्त्रपर्यन्तं दूर्वामग्नौ विनिक्षिपेत्।
आत्मनो दक्षिणे भागे स्थापयेदास्तरे कुशे॥६२॥

स्रुवञ्चेति चकारात् स्रुचञ्च। अधोमुखमिति ऊद्ध्‌र्वमुखमादाय तमधोमुखं कृत्वा प्रताप्येत्यर्थः। **मूलादिति।** मूलादग्रं यावत् त्रिधा मार्जयेत्। शारदायां पञ्चमपटले तु—

पश्चादादाय पाणिभ्यां स्रुक्स्रुवौ तावधोमुखौ।
त्रिः सम्प्रतापयेद् वह्नौ दर्भानादाय देशिकः।
तदग्रमध्यमूलानि शोधयेत्तैर्यथाक्रमात्॥

इत्यादिना क्रमेणाग्रमध्यमूलानां मार्जनं विहितम्। तट्टीकाकृता राघवभट्टेन दर्भमूलैस्तन्मूलम्, दर्भमध्यैस्तन्मध्यम्, दर्भाग्रैस्तदग्रमित्यादिना दर्भमूलमध्याग्रैः क्रमेण स्रुक्स्रुवयोर्मूलमध्याग्रमार्जनमुपदिष्टमिति दृश्यते।

अर्घ्य के जल से धोकर पात्रों को शुद्ध करें। उन्हें अपने सामने रखकर बाला-मन्त्र से अभिमन्त्रित करें। प्रणीता और प्रोक्षणी पात्र में जल भरकर पुष्प डालें। स्रुवा को अधोमुख करके तीन बार अग्नि से तपायें। उसे बाँयें हाथ में पकड़कर दूब से तीन बार मार्जित करें। मूल से मुख तक मार्जित करने के बाद दूब को तो अग्नि में डाल दें तथा स्रुवा को अपने दाहिने भाग में कुश के आसन पर रखें॥६०-६२॥

विमर्श—'स्रुवञ्च' से अभिप्राय स्रुव और स्रुक्—दोनों पात्रों से है। अतः इन दोनों पात्रों का संस्कार किया जाना चाहिए। शारदातिलक (५/४१-४२) और उसकी टीका के अनुसार कुश के अग्रभाग से स्रुक् और स्रुव के अग्रभाग (मुख) का, कुश के मध्य भाग से स्रुक् और स्रुव के मध्य भाग का तथा कुश की जड़ से स्रुक् और स्रुव के मूल भाग का मार्जन किया जाना चाहिएं।

[आज्यसंस्कारः]

आज्यस्थालीं पुरः कृत्वा शरेण क्षालनं चरेत्।
पवित्रं तत्र संस्थाप्य कुर्यादीशमुखं सुधीः॥६३॥

घृतं तत्रैव संस्थाप्य वीक्षणादिविशोधनम्।
कृत्वा चाङ्गारकं वायौ घृतमध्ये विनिक्षिपेत्।।६४।।
इदन्तापनमित्युक्तं दर्भं प्रज्वाल्य निक्षिपेत्।
हृदयेन च मन्त्रेण द्योतनं समुदीरितम्।।६५।।
घृतादङ्गारदर्भांश्च गृहीत्वाग्नौ परिक्षिपेत्।
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यान्तु तत् पवित्रञ्च धारयेत्।।६६।।
ततो व्यस्तक्रमेणैव तन्मध्येन घृतं क्षिपेत्।
त्रिधा हृदयमन्त्रेण पवित्रं प्रोक्षयेत्ततः।
तमग्नौ क्षेपयेदाज्यं बालया चाभिमन्त्रयेत्।।६७।।

पात्रों के बाद घृत का संस्कार करें। सर्वप्रथम आज्यस्थाली (घृतपात्र) को उठाकर उसे अर्घ्य जल-मिश्रित शुद्ध पानी से धोयें। जब वह सूख जाय, उसमें घी डालें। घी का वीक्षण आदि संस्कार करें। अग्निकुण्ड से कुछ अंगार निकालकर वायव्य कोण में रखें। घृतपात्र को उन अंगारों पर कुछ देर के लिये रखें। इसे घृत का 'तापन' संस्कार कहते हैं। दो दर्भों को जलाकर 'नमः' का उच्चारण करते हुए उन्हें 'घी' में डाल दें। यह घृत का द्योतन संस्कार होता है। घी से जले हुए दर्भों और अंगारों को अंगूठा और अनामा से निकाल कर अग्नि में डाल दें। कुशा की पवित्रा बनाकर उसे घी में डाल दें। हृदय मन्त्र (नमः) पढ़ते हुए उस पवित्रा को घी से निकालकर उनका तीन बार प्रोक्षण करें। पवित्रा को अग्नि में डाल दें। घी को बाला मन्त्र (ऐं क्लीं सौः) से अभिमन्त्रित करें।।६३-६७।।

विमर्श—'शारदातिलक' (पञ्चम पटल) एवं 'तन्त्रसार' में बताई गई आज्य-संस्कार की विधि में कुछ अन्तर है। उनके अनुसार कुण्ड के वायुकोण से कुछ अंगार निकालकर उन पर घृतपात्र को रखे जाने का विधान बताया गया है। यहाँ अग्निकुण्ड से अंगार निकाल कर घृत में डाल देने का विधान बताया गया है—'अंगारकम् वायौ घृतमध्ये विनिक्षिपेत्'।

दो कुशों को अग्नि से संदीप्त करके उन्हें घी में डुबायें। फिर 'नमः' पढ़ते हुए उन्हें आग में डाल दें। यह पवित्रीकरण है।

दो कुशाओं को जलाकर घी की आरती करें। अभिद्योतन संस्कार है। आजकल देवता-पूजन में जो आरती/महाआरती की जाती है, उसका उत्स यह 'नीराजन' कर्म है।

अणु मन्त्र का जप करते हुए कुशाओं को घृत में दिखाकर उन्हें अग्नि में डाल दें। यह उद्योतन संस्कार है।

अंगारों पर से घृतपात्र को उतार कर अंगारों को कुण्ड में डाल दें। अंगूठा और कनिष्ठा से दर्भ पकड़कर उसके सिरों को घी में डाल दें और कुशाओं के

माध्यम से घी को अपने सामने की ओर उछालें। यह घृत का 'उत्प्लावन' संस्कार है (सन्दर्भ—शारदा तिलक ५/४६-५०)।

[धूपदीपार्पणम्]

धूपं विस्तारयेत् सम्यक् कुण्डमण्डपपूरितम्।
मेखलासु च सर्वासु दीपमाला नियोजयेत्।।६८।।

घृत-संस्कार करने के बाद इतनी धूप जलायें कि सारा मण्डप और कुण्ड-प्रदेश महक उठे। मेखलाओं में दीपमाला करें।।६८।।

[होमपूर्वकृत्यम्]

सप्रादेशं दर्भयुग्मं ग्रन्थियुक्तं घृते क्षिपेत्।।६९।।
शुक्लकृष्णपक्षयुगं—

[आज्ये नाडीत्रयचिन्तनम्]

—ध्यात्वा वामे च नाडिकाम्।
इडां दक्षे पिङ्गलाञ्च सुषुम्णां मध्यभागतः।।७०।।

सप्रादेशमिति। प्रादेशमात्रं सग्रन्थिदर्भयुग्मं घृते क्षिपेदिति सम्बन्धः। **शुक्लेति।** प्रागुक्तधृतभागयोरेकं शुक्लपक्षत्वेनापरं कृष्णपक्षत्वेन ध्यात्वेत्यर्थः।

एक-एक बीते के दो गाँठदार कुश घी में डाल दें। घृतपात्र में शुक्ल और कृष्ण पक्ष की भावना करें। दो कुश डालने से तीन भाग में विभक्त घी में बाँयीं ओर इड़ा नाड़ी का, दाहिनी ओर पिंगला नाड़ी का और दोनों कुशाओं के मध्य में सुषुम्णा नाड़ी का ध्यान करें।।६९-७०।।

[अग्निनेत्रवक्त्रोद्घाटकहोमः]

ध्यात्वा स्रुवेण दक्षात्तु भागादाज्यं हृदाणुना।
जुहुयादग्नये स्वाहेत्यग्नेर्दक्षिणलोचने।।७१।।
वामतस्तद्वदादाय वामे वह्निविलोचने।
जुहुयादथ सोमाय स्वाहेति हृदयाणुना।।७२।।
मध्यादाज्यं समादाय वह्नेर्भालविलोचने।
जुहुयादग्नीषोमाभ्यां स्वाहेति हृदयाणुना।।७३।।
हृन्मन्त्रेण स्रुवेणाज्यं भागादादाय दक्षिणात्।
जुहुयादग्नये स्विष्टिकृते स्वाहेति तन्मुखे।।७४।।
हेतिं सम्पातयेद्भागे घृतस्याज्याहुतिक्रमात्।
इत्यग्नेर्नेत्रवक्त्राणां कुर्यादुद्घाटनं गुरुः।।७५।।

वाम इति। वामे चन्द्रनाडिकाम् इडाम्, दक्षे पिङ्गलाम् अर्थात् सूर्यरूपाम्, मध्ये सुषुम्णामर्थात् चन्द्रसूर्याग्निरूपां ध्यात्वेति सम्बन्धः। **हृदाणुनेति।** नम इति

हृन्मन्त्रेणेत्यर्थः। अत्र हृदाणुना दक्षिणाद् भागादाज्यमादाय अग्नये स्वाहेति जुहुयादिति सम्बन्धः। व्यक्तमुक्तं तन्त्रसारकृता 'नमः इति मन्त्रेण स्रुवेण दक्षिणभागादाज्यमादाय अग्नेर्दक्षिणलोचने ॐ अग्नये स्वाहेति जुहुया'दिति। क्रमोऽयमुत्तरत्रापि। हेतिमिति हेतिराहुतिशेषः। तथाच यस्मात् भागादाज्यमादाय यो यो होमो विहितः, तस्मिन् भागे प्रागुक्ताज्याहुतिक्रमात् हेतिं प्रत्याहुतिं सम्पातयेदित्यर्थः। इत्यग्नेरिति। अनेनाग्नये स्वाहेत्याद्याहुतिचतुष्टयेन अग्नेर्नेत्राणां वक्त्रस्य च क्रमेणोद्घाटनं कुर्यादित्यर्थः।

'नमः' का जप करते हुए घृतपात्र के दाहिने भाग से स्रुवा से घी लें। 'अग्नये स्वाहा' कहकर इसे अग्नि के दाहिने नेत्र में डाल दें। इसी प्रकार घृतपात्र के बाँयें भाग से घी लेकर 'सोमाय स्वाहा' बोलकर अग्नि के वामनेत्र में डाल दें। दोनों कुशाओं के मध्य भाग से घृत लेकर अग्नि के भाललोचन (अर्थात् ललाट-स्थित तृतीय नेत्र) में 'अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा' बोलकर आहुति दें। (कुशाओं को कुण्ड में समर्पित कर दें)। 'नमः' का उच्चारण करते हुए दाहिने भाग से घी लें, 'अग्नये स्विष्ट कृते स्वाहा' बोलकर अग्नि के मुख में आहुति दें।

घृतपात्र के जिस भाग से घृत लिया जाय, अग्नि के उसी भाग में घृत की आहुति दी जाय। इन चार आहुतियों से अग्निदेव के मुख और नेत्रत्रय का उद्घाटन होता है॥७१-७५॥

[महाव्याहृतिहोमः]

महाव्याहृतिहोमञ्च ताराद्येन चतुर्हुनेत्॥७६॥
भूरग्नये पृथिव्यै च महते वह्निवल्लभा।
भुवःपदाद् वायवे च अन्तरीक्षाय शब्दतः॥७७॥
दिव्याय महते चैव वह्निजायावधिः स्मृतः।
स्वरादित्यचन्द्रमसौ ङेऽन्तौ नक्षपदात्ततः॥७८॥
त्रेभ्यः स्वाहापदान्ताच्च भूर्भुवःस्वःपदं पुनः।
अग्न्यादित्यचन्द्रमसो ङेऽन्ता नक्षत्र इत्यपि।
भ्यसन्तश्चैव दिग्भ्यश्च महते वह्निवल्लभा॥७९॥

अनन्तरकरणीयं महाव्याहृतिहोममाह—महेत्यादिना। ताराद्येन प्रणवाद्येन वक्ष्यमाणमन्त्रचतुष्टयेन चतुर्धा हुनेदिति सम्बन्धः। वक्ष्यमाणमन्त्रचतुष्टयात् पूर्वं प्रणवयोजनं कृत्वा तत्प्रणवयुक्तमन्त्रेण जुहुयादिति ज्ञेयम्। एवञ्च ॐ भूरग्नये पृथिव्यै महते च स्वाहा १। ॐ भुवो वायवे अन्तरीक्षाय च दिव्याय महते च स्वाहा २। ॐ स्वरादित्याय चन्द्रमसे नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ३। ॐ भूर्भुवः स्वरग्नये आदित्याय चन्द्रमसे नक्षत्रेभ्यो दिग्भ्यो महते च स्वाहा ४। इति मन्त्रचतुष्टयं पर्यवस्यति। शाक्तानन्द-तरङ्गिणीगन्धर्वतन्त्रादिषु मन्त्राणामेतेषामंशतः स्वरूपभेदो दृश्यते। अत्र तन्त्रसारकृता

निरुक्तस्विष्टिकृद्धोमान्तरं सप्रणवव्याहृतिभिर्होममभिधाय तत्तत्कल्पोक्तहोमान्तरं ॐ भूरग्नय इत्यादिमन्त्रैर्होम उक्तः। गन्धर्वतन्त्रे एकत्रिंशपटले तु गर्भाधानादिसंस्कारतः पूर्वं महाव्याहृतिहोमो नाभिहितः। परन्तु कल्पोक्तहोमानन्तरं ॐ भूरग्नये इत्यादिभिर्होम उक्त इति क्रमभेदो दृश्यते।

मुख उद्घाटन के बाद महाव्याहृति होम करें। प्रत्येक आहुति मन्त्र के आगे तार (ॐ) की योजना कर लें।

(१) 'ॐ भूरग्नये पृथिव्यै महते च स्वाहा' प्रथम आहुति-मन्त्र है।

(२) 'ॐ भुवो वायवे अन्तरीक्षाय च दिव्याय महते च स्वाहा' यह द्वितीय आहुतिदान-मन्त्र है।

(३) 'ॐ स्वरादित्याय चन्द्रमसे नक्षत्रेभ्यो स्वाहा' यह तृतीय आहुतिदान-मन्त्र है।

(४) 'ॐ भूर्भुवः स्वरग्नये आदित्याय चन्द्रमसे नक्षत्रेभ्यो दिग्भ्यो महते च स्वाहा'— यह चतुर्थ आहुतिदान-मन्त्र है।।७६-७९।।

[ब्रह्मार्चनम्]

ब्रह्माणं दक्षिणेऽभ्यर्च्य विधिवत् साधकोत्तमः।।८०।।

इसके बाद दक्षिण भाग में कुश का आसन बिछाकर 'ॐ ब्रह्मणे नमः' मन्त्र से ब्रह्मा जी का आह्वान करके यथाविधि उनका पंचोपचार अर्चन करें।।८०।।

[अग्नेर्गर्भाधानादिसंस्काराः]

गर्भाधानादिसंस्कारं वह्नेश्च कारयेत्ततः।
इदमग्नेः करोम्येतद् गर्भाधानमतः परम्।।८१।।
प्रणवं पूर्वमुच्चार्य शेषे वह्निवधूं वदेत्।
हुत्वा सप्ताहुतीरेवं समिधः क्षेपणं तथा।।८२।।
एवंक्रमात् पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं ततः।
जातकर्म समाप्याथ नालापनोदनाय च।।८३।।
प्रादेशं पञ्चसमिधं मूलाग्रघृतसंयुतम्।
ॐ कामेश्वर-कामेश्वरीभ्यां स्वाहेति च निर्वपेत्।।८४।।
वह्नेश्च पितरौ मन्त्री स्वाहया विनियोजयेत्।
इष्टदेवस्य नाम्ना तु वह्नेर्नाम समाचरेत्।।८५।।
उपनिष्क्रमणं पश्चादन्नप्राशनमीरितम्।
चूडोपनयनं चैव समावर्त्तनमेव च।।८६।।
विवाहश्च शुभे कार्ये क्रूरकार्येषु मारणम्।।८७।।

अथाग्नेर्गर्भाधानादिसंस्कारानाह—**इदमित्यादिना**। एवञ्च ॐ इदमग्नेर्गर्भाधानं करोमि स्वाहा इति प्रयोगः पर्यवस्यति। मन्त्रेणानेन प्रत्येकं सप्ताहुतीर्दद्यात् । तन्त्रसारे तु सुन्दरीपक्षे ॐ अग्नेर्गर्भाधानं कल्पयामि ऐं नमः इत्येकैकाहुतिं दद्यादिति प्रयोगक्रम उक्तः। जातेति। नालापनोदनाय नाडीच्छेदाय। तदुक्तं राघवभट्टधृतवायवीय-संहितायाम्—

जातं ध्यात्वैवमाकारं जातकर्म समाचरेत्।
नालापनयनं कृत्वा ततः संशोध्य सूतकम्।। इति।

विवाहश्चेति। शुभे कार्ये विवाहान्ताः संस्काराः, क्रूरकार्येषु तु मारणान्ता इत्यर्थः।

अग्नि के संस्कार—प्रणव (ॐ) के बाद 'इदमग्ने:' के बाद संस्कार का नाम और इसके बाद 'करोमि स्वाहा' की योजना करने से संस्कार-सम्पादन के मन्त्र की निष्पत्ति होती है। प्रथम संस्कार गर्भाधान है। गर्भाधान संस्कार का मन्त्र है—'ॐ इदमग्ने: गर्भाधानं करोमि स्वाहा'।

यह मन्त्र पढ़कर घृत की सात आहुतियाँ डालें। कुण्ड में समिधा (लकड़ी) डालें। इसी प्रकार पुंसवन, सीमन्तोन्नयन तथा जातकर्म संस्कार सम्पादित करें। ये जन्मपूर्व के संस्कार हैं। इनके मन्त्र हैं—

ॐ इदमग्ने: पुंसवनसंस्कारं करोमि स्वाहा।
ॐ इदमग्ने: सीमान्तोन्नयनसंस्कारं करोमि स्वाहा।
ॐ इदमग्ने: जातकर्मसंस्कारं करोमि स्वाहा।

ये जन्म होने के पूर्व के संस्कार हैं। जन्म के बाद का प्रथम संस्कार 'नालापनोदन' (नाड़ीछेदन) है।

'ॐ इदमग्ने: नालापनोदनसंस्कारं करोमि स्वाहा'—इस मन्त्र से घृत की सात आहुति देकर एक-एक बित्ते की पाँच समिधाओं के मूल को घी में डुबोकर अग्नि में डाल दें।

अग्नि के माता-पिता कामेश्वरी-कामेश्वर की पूजा करके उन्हें एक घृत की आहुति प्रदान करके अपने हृदय में विसर्जित करें। इसके बाद अग्नि का नामकरण करें।

'ॐ इदमग्ने: नामकरणसंस्कारं करोमि स्वाहा'—इस मन्त्र से घृत की आहुति देकर अग्नि को इष्टदेवता का नाम दिया जाता है; यथा—'भो अग्ने! त्वं दुर्गा असि'। भो अग्ने! त्वं बाला त्रिपुरा असि'। इत्यादि

नामकरण के बाद निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण (मुण्डन), उपनयन, समावर्त्तन आदि संस्कार सम्पादित किये जायँ। शुभ कार्यों में विवाह-पर्यन्त तथा अभिचार कर्म में अन्त्येष्टि-पर्यन्त संस्कार सम्पादित किये जाते हैं। यथा—

ॐ इदमग्ने: निष्क्रमणसंस्कारं करोमि स्वाहा।
ॐ इदमग्ने: अन्नप्राशनसंस्कारं करोमि स्वाहा।
ॐ इदमग्ने: चूडाकरणसंस्कारं करोमि स्वाहा।
ॐ इदमग्ने: उपनयनसंस्कारं करोमि स्वाहा।
ॐ इदमग्ने: महाव्रतसंस्कारं करोमि स्वाहा।
ॐ इदमग्ने: उपनिषत् संस्कारं करोमि स्वाहा।
ॐ इदमग्ने: समावर्तनसंस्कारं करोमि स्वाहा।
ॐ इदमग्ने: गोदानसंस्कारं करोमि स्वाहा।
ॐ इदमग्ने: विवाहसंस्कारं करोमि स्वाहा।

विमर्श—तन्त्रसार के अनुसार सुन्दरी पक्ष में मन्त्र स्वरूप होगा—'ॐ अग्ने: गर्भाधानं कल्पयामि ऐं नमः।'

[जिह्वाङ्गदेवतादिहोमः]

क्रमाज्जिह्वाङ्गमूर्त्तीनां मन्त्रैर्होमं पृथक् चरेत्।
वह्नेः षडङ्गमन्त्रेण षडाहुतिं समाचरेत्।
न्यासक्रमेणाष्टमूर्त्तेर्होमं कुर्याद्विचक्षणः।।८८।।
अथाऽऽदाय स्रुवेणाज्यं चतुः स्रुचि पिधाय ताम्।
स्रुवेणोत्तिष्ठन्नेवाग्नौ देशिको यतमानसः।
जुहुयादग्निमन्त्रेण वौषडन्तेन सम्पदे।।८९।।

अग्निजिह्वाङ्गमूर्त्तीनां होममाह—क्रमादिति। जिह्वाङ्गमूर्त्तीनां प्रागुक्तानाम् । आहुतिमेकैकाम् । तदुक्तं शारदायां पञ्चमपटले—

मन्त्रैर्जिह्वाङ्गमूर्त्तीनां क्रमाद् वह्नेर्यथाविधि।
प्रत्येकं जुहुयादेकामाहुतिं मन्त्रवित्तमः।।

अथेति। स्रुवेणाज्यमादाय चतुर्धा स्रुचि दत्वा तां स्रुचं स्रुवेण पिधाय यतमानसो देशिकः वौषडन्तेन वैश्वानरेत्याद्यग्निमन्त्रेण जुहुयादिति सम्बन्धः।

संस्कार सम्पादित करने के बाद अग्नि की जिह्वाओं, हृदय आदि षडङ्गों तथा अग्नि की सहस्रार्चि मूर्तियों को उनके मन्त्रों से एक-एक आहुति प्रदान करें। स्रुवा से स्रुचि में चार बार घी डालकर साधक खड़ा हो जाय। फिर स्रुवा से स्रुचि को ढँककर अग्निमन्त्र (ॐ वैश्वानर जातवेद इहावह सर्वकर्माणि साधय स्वाहा) के अन्त में 'वौषट्' लगाकर आहुति दे।।८८-८९।।

विमर्श—अग्नि की जिह्वाओं, षडङ्गों तथा मूर्तियों के मन्त्र एतत्पूर्व बताये जा चुके हैं। इन मन्त्रों के अन्त में 'स्वाहा' लगाकर एक-एक घृत की आहुति उन्हें प्रदान करें।

[गाणपत्यहोमः]

महागणपतिमन्त्रेण हुनेत् पूर्वं दशाहुतीः।
जुहुयाच्च चतुर्वारं समस्तेनैव तेन तु।।९०।।
तारादिषट्कबीजेन पूर्वपूर्वयुतेन च।
भिन्नेनैव समस्तेन तन्मन्त्रश्च निगद्यते।।९१।।

महेति। पूर्वमादौ वक्ष्यमाणमहागणपतिमन्त्रेण व्यस्तेन दशधा एकैकाहुतिं ततः समस्तेन तु तेनाहुतिचतुष्टयं जुहुयादित्यर्थः। तत्र व्यस्तेन होममुपदिशति—तारादीत्यादिना। पूर्वपूर्वयुतेन तारादिषट्कबीजेनेत्यस्यायमर्थः—प्रणवं श्रीमित्यादि मन्त्रोद्धारप्रतिपादकवक्ष्यमाणवचने प्रथमं प्रणवस्योक्तत्वात् प्रथमं ॐ स्वाहेति स्वाहान्तेन प्रणवेन होमः, ततश्च ॐ श्रीं स्वाहेति द्वितीयहोमे पूर्वोक्तप्रणवयुतेन श्रीबीजेन होमः, ततस्तृतीयहोमे ॐ श्रीं ह्रीं स्वाहेति अत्रापि प्रणवश्रीयुतेन मायाबीजेनेति। एवमुत्तरत्रापि।

महागणपति के २८ अक्षरों के मन्त्र को १० भागों में विभक्त करें। दशधा विभक्त मन्त्र के प्रत्येक भाग से एक-एक आहुति देकर समस्त मन्त्र से चार आहुतियाँ प्रदान करें। इस मन्त्र में तार (ॐ) सहित छः बीजाक्षर हैं। इनमें से प्रत्येक बीज को उसके पूर्ववर्ती बीज के साथ युक्त करने से ६ भाग बन जायँगे। मन्त्र के शेष चार पदों को भी इसी प्रकार एक-एक कर जोड़ने से यह मन्त्र दस भागों में विभाजित हो जायगा। इसके बाद समस्त मन्त्र से चार बार आहुति दें।।९०-९१।।

[महागणपतिमन्त्रः]

प्रणवं श्रीं महामायां स्मरं ग्लौमात्मकन्ततः।
पञ्चान्तकं विन्दुयुतं ङेऽन्तं गणपतिं ततः।।९२।।
वरान्ते वरदञ्चैव सर्वान्ते जनमालिखेत्।
मे वशमानय स्वाहा विंशत्यन्तगजान्तकः।।९३।।
सामान्यं सर्वदेवीनां मुखमेतत् समीरितम्।।९४।।

महागणपतिमन्त्रोद्धारक्रममाह—प्रणवमित्यादिना। तथाच ॐ श्रीँ ह्रीँ क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरवरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा इति। विंशत्यन्तगजान्तकः विंशतिसंख्यान्ते गजान्तकः अष्टसंख्या यस्य तथाभूतः अष्टाविंशत्यक्षरो महागणपति-मन्त्र इत्यर्थः। व्यक्तमाह मन्त्रकोषे—

श्रीशक्तिस्मरभूविघ्नबीजानि प्रथमं वदेत्।
ङेऽन्तं गणपतिं पश्चाद् वरान्ते वरदं पदम्।।
उक्त्वा सर्वजनं मेऽन्ते वशमानय ठद्वयम्।
अष्टाविंशत्यक्षरोऽयं ताराद्यो मनुरीरितः।।

ताराद्यः प्रणवाद्यः। मूलवचने 'ग्लौमान्तकन्तत' इति पाठे तु आन्तकमित्यस्य आ अन्ते यस्य तथाभूतं पञ्चान्तकमित्यर्थे गाम् इति बीजं भवति। तत्पुस्तकपादटीकायामपि 'ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गां गणपतये' इत्यादि मन्त्रोद्धारक्रमः प्रदर्शितः। परन्तु मन्त्रकोषतन्त्रसारगन्धर्वमहानिर्वाणादिषु गम् इत्याकारकबीजदर्शनात् आन्तकमिति पाठो न मूले निवेशितः। अत्रेदमवधेयम्—पूर्वं 'महागणपतिमन्त्रेण हुनेत् पूर्वं दशाहुतीः' इत्यादिना यो दशधा होम उक्तस्तस्यायं क्रमः–ॐ स्वाहा १। ॐ श्रीं स्वाहा २। ॐ श्रीं ह्रीं स्वाहा ३। ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं स्वाहा ४। ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं स्वाहा ५। ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं स्वाहा ६। ॐ श्री ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये स्वाहा ७। ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरवरद स्वाहा ८। ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरवरद सर्वजनं स्वाहा ९। ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरवरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा १०। इति। एवं दशाहुतीर्हुत्वा समस्तेनाहुतिचतुष्टयं दद्यादित्येवोक्तम्—चतुर्वारं समस्तेनैव तेन तु इत्यनेन।

प्रणव (ॐ), श्री (श्रीं), महामाया (ह्रीं), स्मर (क्लीं), ग्लौं (ग्लौं), बिन्दुयुक्त पञ्चान्तक (गं), ङेऽन्त गणपति (गणपतये), 'वर', 'वरद', 'सर्वजनं' मे वशमानय स्वाहा। इनके संयोजन से महागणपति का विंशत्यन्तगजान्तक अर्थात् २०+८=२८ अक्षरों का मन्त्र निष्पन्न होता है। इस मन्त्र को सभी देवी-देवताओं का मुख माना जाता है; क्योंकि सर्वप्रथम पूजा गणेशजी की होती है।।९२-९४।।

मन्त्रस्वरूप—ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ग्लौं गं गणपतये वरवरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा'।

विमर्श—इस मन्त्र के दशधा विभक्त रूप का निदर्शन उपर्युक्त संस्कृत-टीका में किया गया है।

[वह्निमुखे मूलदेव्यर्चा]

वह्निमुखे यन्त्रराजं रश्मिवृन्दसमन्वितम्।
विभाव्यावाहयेद्देवीं श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीम्।।९५।।
अर्चयेद् वह्निरूपां तां धूपदीपादिना सुधीः।

वह्निमुख इति। यन्त्रराजं वक्ष्यमाणश्रीयन्त्रम्।

वह्नि अर्थात् कुण्ड की अग्नि में रश्मिवृन्द अर्थात् परिवार-देवताओं से समन्वित यन्त्रराज की भावना करके उसमें भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का आवाहन करके वह्निरूपा भगवती का धूप-दीप-नैवेद्य आदि उपचारों से अर्चन करें।।९५।।

[वह्निदैवतयोरैक्यसम्पादकहोमः]

तन्मुखे मूलमन्त्रेण पञ्चविंशतिसंख्यया।
आज्येन जुहुयान्मन्त्री वक्त्रैकीकरणं त्विदम्।।९६।।

वक्त्रैकीकरणं वह्निमुखेन मूलदेव्या अभेदकल्पनम्।

उनके मुख में मूल मन्त्र से पच्चीस (२५) घृत की आहुतियाँ प्रदान करें। इसे 'वक्त्रैकीकरण' कहते हैं॥९६॥

विमर्श—'वक्त्र' का अर्थ है—मुख। वक्त्र-एकीकरण का शाब्दिक अर्थ हुआ—मुखों का एकीकरण। इस क्रिया के द्वारा अग्नि और अग्नि में आवाहित देवता के मुख एक हो जाते हैं। अत: अग्नि के मुख में समर्पित आहुति आवाहित देवता को प्राप्त होती है।

[नाडीसन्धानहोम:]

वह्निदेवतयोरैक्यमात्मना सह भावयन्।
मूलमन्त्रेण जुहुयादाज्येनैकादशाहुती:।।
नाडीसन्धानमुद्दिष्टमेतदागमवेदिभि: ।।९७।।

अग्नि, अग्नि में आवाहित देवता तथा अपनी आत्मा में परस्पर सर्वथा एकता की भावना करते हुए मूल-मन्त्र से घृत की एकादश (११) आहुतियाँ प्रदान करें। आगम के विद्वान् इसे 'नाडी-सन्धान' कहते हैं॥९७॥

विमर्श—नाड़ी-सन्धान तन्त्रोपदिष्ट हवन-विधान की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, व्याख्या-सापेक्ष रहस्यमयी प्रक्रिया है। इस विधान के अनुसार 'कुण्ड' में स्थापित अग्नि न तो सामान्य लौकिक अग्नि है और न ही किसी अन्य लोक में स्थित देवता को उसके माध्यम से आहुतियाँ दी जा रही हैं। कुण्ड में स्थापित अग्नि साधक की वह ज्ञानाग्नि है, जिसे उसने श्वासमार्ग से बाहर लाकर दीपात् दीपान्तर न्याय से अरणि आदि से सम्भूत लौकिक अग्नि में संयोजित करके कुण्ड में स्थापित किया है (सन्दर्भ—श्लोक संख्या-२९)। इस अग्निरूपी ज्ञान का अधिकरण है—आत्मा—'ज्ञानाधिकरणं आत्मा।' इस तरह कुण्ड में प्रज्ज्वलित अग्नि और साधक की 'ज्ञानाग्नि' में तादात्म्य है। इस ज्ञानाग्नि में तद् वक्त्रगत होकर उत्सर्गरूप आहुति ग्रहण करने वाला देवता भी साधक की आत्मा में स्थित वह 'देवतत्त्व' है, जिसे उसने (साधक ने)

आत्मसंस्थां अजां शुद्धां त्वामहं परमेश्वरीम्।
अरण्यमिव हव्यांशं मूर्तावावाहयाम्यहम्॥

की भावनापूर्वक बाहर लाकर अग्नि में स्थापित किया है। इस तरह जो कर्ता है, वही सम्प्रदान है और जो सम्प्रदान है, वही अधिकरण है।

तन्त्रोपदिष्ट साधना सर्वथा अद्वैत-अद्वय आत्मतत्त्व की साधना है। अत: उत्सर्गरूप हवन कार्य के लिये उपस्थित एक ही आत्मतत्त्व के इन तीनों रूपों में तादात्म्य-भाव की स्थापना अथवा एकात्मता की स्फुरणा आवश्यक है। 'नाडी-सन्धान' नामक इस प्रक्रिया के फलस्वरूप अपने उपर्युक्त तीन रूपों में तादात्म्य-भावना के साथ ही आत्मतत्त्व के द्वारा सम्पन्न किये जाने से यह हवन-कार्य

गीतोपदिष्ट उस 'ब्रह्मयज्ञ' का पर्याय बन जाता है, जिसमें ब्रह्म ही कर्ता, ब्रह्म ही कर्म, ब्रह्म ही सम्प्रदान और ब्रह्म ही अधिकरण है। (गीता, चतुर्थ अध्याय, श्लोक २४-२५)—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महवि: ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।

इस तरह इस हवन-कर्म में इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का परस्पर व्यावहारिक अनुमेलन होता है। इसीलिये 'मन्त्रसाधना' में हवन का इतना अधिक महत्त्व है कि उसके बिना जपरूप मन्त्रसाधना की साङ्गता और सार्थकता नहीं होती।

यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो तन्त्रोपदिष्ट साधन-विधान की प्रत्येक क्रिया में, चाहे उसका स्थूल स्वरूप कुछ भी क्यों न हो, इस 'ब्रह्मयज्ञ' की संकल्पना के दर्शन होते हैं। कतिपय क्रियाएँ मूलत: एक होते हुए भी विभिन्न रूपों में सम्पादित की जाती हैं। कुलाचारी साधना में देवता के अर्चन के बाद का 'पात्र-ग्रहण' इस हवन-कर्म का पर्याय है। पात्र-ग्रहण की इस क्रिया में कुलाचारी साधक मद्य नहीं पीता; अपितु आहुति ग्रहण करने के लिए लालायित होकर जिह्वाग्र तक आई हुई कुलकुण्डलिनी-स्वरूपिणी इष्टदेवता की तृप्ति के लिये वह—'कुं कुल-कुण्डलिनीमुखे इष्टदेवतास्वरूपे जिह्वाग्रे जुहोमि स्वाहा' का मन्त्रोद्घोष-पूर्वक ब्रह्मानन्द के अभिव्यञ्जक मद्यरूप उस कारणद्रव्य की आहुति देता है, जिसे अधिकरण बनाकर इष्टदेवता, आनन्दभैरव तथा आनन्दभैरवी-सहित ९४ देवताओं की पूजा की गई है।

[आवरणदेवताहोम:]

तत आवृत्तिदेवार्थमेकैकामाहुतिं हुनेत्।

तत: अर्थात् कुण्डस्थ अग्नि में भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का धूप-दीप आदि उपचारों से अर्चन, वक्त्रैकीकरण तथा नाडीसन्धान के बाद 'आवृत्तिदेवार्थम्' अर्थात् इष्टदेवता के परिवार एवं आवरणदेवताओं को उनके नाममन्त्रों से एक-एक 'घृत' आहुति प्रदान करें।

[मूलदेवताहोमक्रम:]

सङ्कल्पञ्च तत: कृत्वा काम्यहोमं समाचरेत्।।९८।।
स्वाहान्तं मूलमुच्चार्य देवतायै त्विदं वदन्।
जुहुयाज्ज्वलिते वह्नौ संख्याञ्च परितश्चरेत्।।९९।।

आवरणदेवताओं को एक-एक घृत की आहुति देने के बाद संकल्प लें। मूल मन्त्र के बाद देवता के चतुर्थ्यन्त नाम के आगे 'स्वाहा' की योजना करके यथा-संकल्पित आहुतियाँ प्रदान करें।।९८-९९।।

विमर्श—संकल्प में देश-काल के सहित काम्य कर्म का उल्लेख किया जाता है। महानिर्वाणतन्त्र के ६वें उल्लास के श्लोकसंख्या १६० की टीका में संकल्प का प्रारूप दिया गया है, जो निम्नानुसार है—

ॐ तत्सत् (देश-काल का उल्लेख) अद्य अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकतिथौ अमुकराशिस्थिते भास्करे अमुकराशिस्थिते चन्द्रे अमुक अभीष्टार्थसिद्धिकामो अमुक-गोत्रः अमुकनामशर्मा (वर्मा/गुप्त) तिल आज्यादिमिश्रितैः बिल्वपत्राभिः वा सार्द्ध वह्नौ (अग्नौ) इयत् संख्यां आहुतिं अहं ददे।'

आहुति-मंत्र यथा—ऐं क्लीं सौः। बालात्रिपुरायै स्वाहा।

[तान्त्रिकहोमाधिकारिनिर्णयः]

द्विजानामधिकारोऽस्ति होमकर्मणि तान्त्रिके।

[शूद्रे विशेषः]

यदि कामी भवेच्चैव शूद्रोऽपि होमकर्मणि।।१००।।
वह्निजायां परित्यज्य हृदयान्तेन होमयेत्।

[निरुक्तक्रमस्य प्रामाणिकतन्त्रसंवादित्वम्]

वाराहीतन्त्रराजस्य मतमेतदुदीरितम्।।१०१।।

इस तन्त्रोपदिष्ट विधि से हवन करने का अधिकार केवल द्विज जातियों को है। शूद्रों को इसका अधिकार नहीं है। वाराही तन्त्र का मत है कि यदि शूद्र वर्ण के व्यक्ति में हवन करने की उत्कट लालसा हो तो वह हवन तो कर सकता है; मगर आहुति मन्त्र के अन्त में वह 'स्वाहा' का उपयोग नहीं करे। 'स्वाहा' के स्थान पर 'नमः' का प्रयोग करे॥१००-१०१॥

[जिह्वाभेदेन होमे फलभेदाः]

ईशपूर्वाग्निजिह्वायां हवनं सिद्धिदायकम्।
रक्षःस्थायां शान्तिकार्ये प्रतीच्यां स्तम्भकर्मणि।
उच्चाटे वायुजिह्वायां मध्यस्थायान्तु मारणे।।१०२।।

इस श्लोक में जिह्वाभेद से होम के फलभेद का निरूपण किया गया है। अग्नि की ईशान कोण, अग्नि कोण तथा पूर्व दिशा वाली जिह्वाओं में हवन करना सिद्धिदायक है। शान्तिकर्म में नैर्ऋत्य कोण वाली, स्तम्भन कर्म के लिये पश्चिम दिशा की, उच्चाटन कर्म के लिये वायव्य कोण वाली तथा मारण कर्म के लिये मध्यस्था जिह्वा में हवन करना प्रशस्त है॥१०२॥

[कामनाभेदेन यज्ञीयपात्रभेदाः]

हेमरूप्यशिलामृत्स्नापात्रं शान्त्यादिषु स्मृतम्।
विल्वाक्षशीग्रुघटितं मारणोच्चाटनादिषु।।१०३।।

कामनाभेदेन यज्ञीयपात्रभेदानाह—**हेमेति**। **शान्त्यादिष्विति**। शान्तौ हेममयम्, वशीकरणे रौप्यमयम्, स्तम्भने शिलामयम्, विद्वेषणे मृन्मयं पात्रम्। मारणोच्चाटनादिषु विल्वाक्षशीग्रुघटितं पात्रं स्मृतमित्यर्थः। विल्वः प्रसिद्धः। अक्षः वयडा इति यस्य प्रसिद्धिः। शीग्रुः शोभाञ्जनः। एतदन्यतमकाष्ठनिर्मितं पात्रं मारणादिषु कर्त्तव्यमित्यर्थः।

कामनाभेद से यज्ञीय पात्र का विधान भी बताया गया है। तदनुसार शान्तिकर्म के लिये स्वर्ण-निर्मित, वशीकरण के लिये रजत-निर्मित, स्तम्भन कार्य के लिये पत्थर से बने, विद्वेषण कर्म के लिये मिट्टी के तथा मारण और उच्चाटन के लिये बिल्व, बहेड़ा तथा शीग्रु काष्ठ से बने पात्र प्रशस्त हैं॥१०३॥

[होमे विहितं मुद्रात्रयम्]

तिस्रो मुद्राः स्मृता होमे मृगी हंसी च कस्तुरी॥१०४॥
कस्तूरी करसंकोची हंसी युक्तकनिष्ठिका।
मृगी कनिष्ठातर्जन्यौ त्यक्त्वा मुद्रात्रयं स्मृतम्॥१०५॥

हवन में आहुति डालने की तीन मुद्राएँ हैं—मृगी, हंसी और कस्तूरी। चारो अंगुलियों को सिकोड़ने से कस्तूरी मुद्रा बनती है। तर्जनी को छोड़कर कनिष्ठा-सहित तीन अंगुलियों को जोड़ने से हंसी मुद्रा बनती है। कनिष्ठा और तर्जनी को छोड़कर केवल मध्यमा और अनामा को जोड़ने से मृगी मुद्रा बनती है। इन अंगुलियों में आहुतिद्रव्य लेकर अंगूठे की मदद से उसे अग्नि में श्रद्धापूर्वक समर्पित किया जाता है॥१०४-१०५॥

विमर्श—'हंसी' मुद्रा में तर्जनी का समावेश नहीं है; इसकी पुष्टि 'आगम-रहस्य' की इस पंक्ति से होती है—'हंसी स्यात् तर्जनीमुक्ता:' अर्थात् तर्जनी को छोड़कर।

अन्य तन्त्रग्रन्थों में 'कस्तूरी' मुद्रा को 'शूकरी' मुद्रा कहा गया है।

[मुद्राणामासां विनियोगः]

यज्ञे शान्तिककार्ये च मृगी हंसी प्रकीर्त्तिता॥१०६॥
अभिचारेषु सर्वेषु कस्तूरी परिकीर्त्तिता।

यज्ञ में तथा शान्ति-पुष्टि कर्मों के लिये मृगी और हंसी मुद्रा से हवन करना प्रशस्त है। अभिचार कर्मों में कस्तूरी फलदायिनी है॥१०६॥

[षट्कर्मसु होमे विशेषः]

नमः स्वाहा वषट् वौषट् हुंफडन्ताश्च जातयः।
शान्तौ वश्ये तथा स्तम्भे विद्वेषोच्चाटमारणे॥१०७॥

नम इति। तथा च शान्तौ नमोऽन्ता मन्त्राः, वशीकरणे वषडन्ताः, स्तम्भने वौषडन्ता इत्येवंक्रमेण प्रयोगाः कर्त्तव्या इत्यर्थः।

इस श्लोक में शान्ति आदि षट्कर्मों के लिये प्रशस्त 'नमः' आदि जातियाँ बताई गई हैं। नमः, स्वाहा, वषट्, वौषट्, हुम् और फट्—ये छः जातियाँ हैं। शान्तिकर्म में मन्त्र के अन्त में नमः, वशीकरण में वषट्, स्तम्भन में वौषट्, विद्वेषण में हुम् तथा उच्चाटन और मारण कर्म में मन्त्र के अन्त में 'फट्' की योजना करनी चाहिए।।१०७।।

[कुमारीपूजा]

अथ सम्पूज्येन्मन्त्री कुमारीञ्च सुवासिनीम्।

[श्रीविद्यापूजा]

बालाबीजैर्यथान्यायं श्रीविद्यां पूजयेत्ततः।।१०८।।

हवन के बाद कुमारी और सुवासिनी-पूजन करें। इसके बाद बालाबीजों से श्रीविद्या का अर्चन करें।।१०८।।

[महाव्याहृतिहोमः पूर्णाहुतिश्च]

देव्या व्याहृतिहोमञ्च कृत्वा पूर्णाहुतिं चरेत्।
घृतेन स्रुचमापूर्य पुष्पमग्रे निधाय च।।१०९।।
सदर्भेण स्रुवेणैव उत्थायाऽऽच्छादनं चरेत्।
अञ्जलिना गृहीत्वा तु मूलान्ते नयनं पठन्।
यवरूपां हुनेद् धारां जयघोषपुरःसरैः।।११०।।

[आत्मार्पणमन्त्रहोमः]

आत्मार्पणेन मनुना हुनेदष्टाहुतिं क्रमात्।।१११।।

देव्या इति महाव्याहृतिहोमः पूर्वमुक्तः। पूर्णाहुतिदानपरिपाटीमाह—**पूर्णे**त्यादिना। घृतेनेत्यादि। तथा च स्रुवेण स्रुचं घृतेनापूर्य स्रुचोऽग्रे पुष्पं दत्वा उत्थाय सदर्भेण स्रुवेणाच्छादितां तां घृतपूर्णस्रुवमञ्जलिना गृहीत्वा वौषडन्तेन मूलमन्त्रेण यवरूपां यवसदृशपरीणाहां धारामग्नौ दद्यादिति। अत्र तन्त्रसारकारैः—'इतः पूर्वमित्यादिमन्त्रेण मूलमन्त्रेण च पूर्णाहुतिं दत्वा' इत्यनेनात्मसमर्पणमन्त्रेण पूर्णाहुतिदानमभिहितम्, तत्प्रतिपादनानुकूलं प्रमाणन्तु नोपदर्शितम्। शाक्तानन्दतरङ्गिण्यामष्टादशोपल्लासे—

अग्नेर्नामकरणं कृत्वा दद्यात् पूर्णाहुतिं प्रिये।
ब्रह्मार्पणेन मनुना दद्यात् पूर्णाहुतिं पुनः।।

इत्यभिधानात् मूलेनेत्यादितन्त्रसारोक्तत्वाच्च मूलेन पूर्णाहुतिमेकां दत्त्वा पुनर्ब्रह्मार्पणेन मनुना पूर्णाहुतिं दद्यादिति प्रतीयतेऽन्यथा पुनःपदवैयर्थ्यं स्यात्। कौलावलीनिर्णये त्रयोदशोल्लासे तु—

स्रुचा पूर्णाहुतिं कृत्वा मूलमन्त्रेण देशिकः।
उद्वास्य देवतां कुम्भे साङ्गावरणपूर्विकाम्।।

इत्यनेन केवलमूलमन्त्रेण पूर्णाहुतिदानमुक्तम्। प्रकृते तु 'यवरूपां हुनेद धारां' तथा 'हुनेदष्टाहुतिं क्रमा'दिति पृथक् क्रियाद्वयोपादानात् क्वाप्यष्टाहुत्यात्मकपूर्णहोमानभिधानाच्च पूर्णाहुतिदानात् पृथगेवेदमात्मसमर्पणमन्त्रकरणकाष्टाहुतिप्रदानमिति प्रतीयते। एवञ्चात्र नानातन्त्रेषु मतभेदादर्शनात् स्वस्वगुरुसम्प्रदायानुसारेणैकतमः पक्षः समाश्रयणीय इति दिक्।

इसके बाद महाव्याहृतियों से पूर्ववत् आहुति दें। व्याहृति-होम के पश्चात् पूर्णाहुति दे। पूर्णाहुति देने के लिये स्रुवा से स्रुची में घी भर लें। स्रुची को स्रुवा और कुश से आच्छादित करके उसे हाथ में लेकर खड़ा हो जाय। मूल मन्त्र के अन्त में 'वौषट्' लगाकर मन्त्र का जप करते हुए जौं के समान पतली धारा गिराते हुए पूर्णाहुति करें। इसके बाद आत्म-समर्पण मन्त्र से आठ आहुतियाँ दें।।१०९-१११।।

विमर्श—अन्य तन्त्रग्रन्थों में मूल मन्त्र से पूर्णाहुति के बाद आत्म-समर्पण मन्त्र से आहुति देने का विधान नहीं मिलता; अतः पूर्णाहुति अपनी गुरुपरम्परा के अनुसार दी जाय।

[आत्मसमर्पणमन्त्रः]

प्रणवं पूर्वमुच्चार्य मूलमन्त्रमतः परम्।
इतः पूर्वमिति प्रोच्य प्राणबुद्धीति चोच्चरेत्।।११२।।
देहधर्माधिकारात्तु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति च।
अवस्थासु मनसेति वाचा च कर्मणेति च।।११३।।
हस्ताभ्यामथ पद्भ्यान्तु उदरेण च संस्मरेत्।
शिश्ना यत् स्मृतमित्येतद् यदुक्तं यत् कृतन्तथा।।११४।।
सर्वमित्यपि तद् ब्रह्मार्पणमस्त्वग्निवल्लभाम्।
प्रणवञ्च मदीयं मां सकलं साध्यदेवताम्।
ङेऽन्तां समर्पितं तारं तत् सदात्माऽर्पणे मनुः।।११५।।

आत्मसमर्पणमन्त्रस्वरूपं निरूपयति—प्रणवमित्यादिना आत्मार्पणे मनुरित्यन्तेन। एवञ्च प्रथमं प्रणवस्ततो मूलं ततश्च इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यत् स्मृतं यदुक्तं यत् कृतं सर्वं तत् ब्रह्मार्पणमस्तु स्वाहा ॐ मदीयं मां सकलं अमुकदैवतायै समर्पितं ॐ तत् सदित्यात्मसमर्पणमन्त्रः पर्यवस्यति। अत्र गन्धर्वतन्त्रेऽष्टादशपटले विशेषः—

आत्मानञ्च क्रियाः सर्वा महामन्त्रेण पार्वति।
ततो ब्रह्मस्वरूपिण्यै विशेषेण समर्पयेत्।
वारत्रयमितः पूर्वं प्राणबुद्धि ततः परम्।
देहधर्माधिकारान्ते जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।।
मनसा च ततो वाचा कर्मणा च ततः परम्।
हस्ताभ्याञ्च ततः पद्भ्यामुदरेण ततः परम्।।
शिश्ना च यत् स्मृतं पश्चाद् यदुक्तं यत् कृतं भवेत्।
मां मदीयं ततो देवि सकलञ्च ततः परम्।।
तथैव त्वयि शब्दान्ते ब्रह्मण्यर्पितमस्त्विति।
स्वाहान्तो मनुरित्युक्तो मन्त्रः स्यात्मसमर्पणे।। इति।

इन चार श्लोकों में आत्म-समर्पण का मन्त्र बताया गया है। इसके अनुसार मन्त्र का स्वरूप निम्नानुसार है—

ॐ मूल मन्त्र—इतः पूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणा हस्ताभ्यां पद्भ्यां उदरेण शिश्ना यत् स्मृतं यदुक्तं यत् कृतं तत्सर्वं तद् ब्रह्मार्पणमस्तु स्वाहा। ॐ मदीयं मां सकलं अमुक-दैवतायै समर्पितं। ॐ तत् सद्।

[अग्नेरभ्युक्षणमर्चनञ्च]

अभ्युक्ष्य पूजयेद् वह्निं गन्धपुष्पादिना सुधीः।।११६।।

आत्म-समर्पणपूर्वक पूर्णाहुति देने के बाद गन्ध-पुष्प आदि से अग्नि का पूजन करें।।११६।।

[पुनर्महाव्याहृतिहोमो जिह्वाहोमश्च]

पुनर्व्याहृतिभिर्हुत्वा जिह्वादीनां विभावसोः।
एकैकामाहुतिं हुत्वा तत्तन्मन्त्रेण देशिकः।।११७।।

अग्नि का पूजन करने के बाद पुनः व्याहृतियों से आहुति डालें। अग्नि की जिह्वा आदि अर्थात् हिरण्या आदि जिह्वाओं, हृदय आदि षडङ्गों तथा जातवेदस् आदि अष्टमूर्तियों को उनके नाममन्त्रों से एक-एक आहुति प्रदान करें।।११७।।

[प्रार्थनापूर्वकमग्नेर्विसर्जनम्]

भो भो वह्ने महाशक्ते सर्वकर्मप्रसाधक।
कर्मान्तरे च सम्प्राप्ते सन्निधिं कुरु सादरम्।
अनेनाग्निञ्च सम्प्रार्थ्य क्षमस्वेति विसर्जयेत्।।११८।।

अग्निमात्मनि संयोज्य दक्षिणान्तु प्रदापयेत्।
नैमित्तिके च परिधीन् नित्ये नैव च सन्दहेत्।।११९।।

इति श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचिते श्रीतत्त्वचिन्तामणौ अष्टम: प्रकाश:।।८।।

अग्निमिति। संयोज्य संहारमुद्रयेति शेष:। तदुक्तं तन्त्रसारे—पूर्ववन्मेखलोपरि अद्भि: परिषिच्यात्मनि संहारमुद्रया पावकं योजयित्वेति। **नैमित्तिक इति।** नैमित्तिके कर्मणि परिधीन् पूर्वस्थापितान् दहेदग्नौ प्रक्षिप्येति शेष:। परन्तु नित्ये कर्मणि तान् न दहेदिति। तदुक्तं तन्त्रसारे—परिधीन् सपरिस्तरानग्नौ क्षिपेत्। विशेषस्तु नैमित्तिके कर्मणि एतान् दहेत् नित्ये कर्मणि न दहेदिति। तन्त्रसारधृतशारदायाञ्च—

नैमित्तिके दहेन्मन्त्री नित्ये नैव दहेदिमान्। इति।
भो भो अग्ने महाशक्ते सर्वकर्मप्रसाधक।
कर्मान्तरे च सम्प्राप्ते सन्निधिं कुरु सादरम्।। क्षमस्व

यह कुण्ड से अग्नि के विसर्जन का मन्त्र है। इस मन्त्र से अग्नि को कुण्ड से विसर्जित करके अपनी आत्मा में संयोजित कर लें। इसके बाद दक्षिणा आदि प्रदान करें। नैमित्तिक हवन में परिस्तारों और परिधियों को अवश्यमेव कुण्ड में डाल दें। नित्य हवन में इन्हें अग्नि में नहीं डाला जाता।।११८-११९।।

श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचित श्रीतत्त्वचिन्तामणि के अष्टम प्रकाश का
'भावना'-भाष्य पूर्ण हुआ।।८।।

●

नवमः प्रकाशः

[द्रव्यभेदेन होमे फलभेदाः, होमद्रव्यपरिमाणभेदाः, अरिमन्त्रत्यागविधिश्च]

[होमद्रव्यनिरूपणप्रतिज्ञा]

अथ प्रसङ्गाद् वक्ष्यामि होमद्रव्यस्य लक्षणम्।।१।।

होमद्रव्य-निरूपण प्रतिज्ञा—पिछले प्रकाश में होम की विधि—हवन-कर्मकाण्ड का निरूपण करने के बाद इस प्रकाश में अलग-अलग द्रव्यों का हवन करने से मिलने वाले फलों का निरूपण किया जा रहा है। दूसरे शब्दों में इस प्रकाश में यह बताया जा रहा है कि किस कामना की पूर्ति के लिये किस द्रव्य का हवन किया जाय।।१।।

[द्रव्यभेदेन होमे फलभेदाः]

मालतीमल्लिकाजातीकुसुमैर्मधुमिश्रितैः।
घृतसम्पूर्णहवनाद् वागीशत्वं प्रजायते।
मूढस्यापि च मूकस्य शिलारूपस्य नान्यथा।।२।।

पूर्वप्रकाशे होमप्रकरणं निरूप्य प्रकाशेऽस्मिन् प्रथमं होमोपकरणद्रव्यभेदान् तत्तद्द्रव्यकरणकहोमाधिगम्यतत्तत्फलभेदांश्चोपदिशति—**मालतीत्यादिना**।

मधु (शहद)-मिश्रित और घृतपूरित मालती-मल्लिका और जाती (चमेली) के पुष्पों से हवन करने से चट्टान की तरह जड़ बुद्धि व्यक्ति भी वागीश (बृहस्पति) के समान बुद्धिमान् और वक्ता बन जाता है।।२।।

करवीरजवापुष्पैः साज्यैर्होमैर्जगद् वशम्।
योषितः सकला वश्या दासीभूता भवन्ति हि।।३।।

करवीर (लाल कनेर) और जवाकुसुमों से हवन करने से सारा संसार वशीभूत हो जाता है। सभी स्त्रियाँ दासी के समान आज्ञाकारिणी हो जाती हैं।।३।।

मध्वक्तैः रक्तवर्णैस्तु करवीरैः सगुग्गुलैः।
हुत्वा लक्षं वशीकुर्याद् विंशतिं धरणीभुजाम्।।४।।
मध्वक्तकरवीरैस्तु साङ्गं भूपं वशं नयेत्।।५।।

मध्वक्तेति। साङ्गम् अमात्यसुहृत्कोषादिराज्याङ्गसहितं भूपं राजानमित्यर्थः।

शहद में डुबोकर गुग्गुल और लाल कनेर का एक लाख हवन करने से बीस राजे वश में हो जाते हैं। शहद में डुबोकर करवीरपुष्प का हवन करने से अपने अंगों

सहित राजा वशीभूत हो जाता है। यहाँ अंग से तात्पर्य है—राजा की सेना, राज्य का कोष, राजा का मन्त्रिवर्ग आदि।।४-५।।

सप्तरात्रन्तु साज्येन जुहुयाच्छशिना बुधः।
पाटलैर्यूथिकाकुन्दैः शतपत्रैश्च जातिभिः।।६।।
मालतीनवमल्लीभिर्मल्लिकापद्मकिंशुकैः ।
पूजनाद्धवनाद् वापि मिश्रितैरप्यमिश्रितैः।
सर्वसौभाग्यमाप्नोति बुद्ध्या च वाक्पतिर्भवेत्।।७।।

शशिना कर्पूरेण। मिश्रितैरिति। मिश्रितैः पाटलादिनिरुक्तपुष्पैरेकीकृतैः। अमिश्रितैर्वा अन्यतमैर्वा इत्यर्थः।

शशि अर्थात् कपूर। कपूर के टुकड़े, पाटल, यूथिका, कुन्द, शतपत्र, जाती, मालती, नवमल्ली, मल्लिका, पद्म तथा किंशुक (टेसू) के पुष्पों को मिलाकर अथवा इन पुष्पों से अलग-अलग सात रात्रिपर्यन्त पूजन अथवा हवन करने से बृहस्पति के समान विद्वत्ता और सर्वसौभाग्य की प्राप्ति होती है।।६-७।।

कमलैररुणैर्होमः सर्वसम्पत्तिदायकः।
रक्तोत्पलैर्जगद् वश्यं राजानो वशगाः क्षणात्।।८।।

लाल कमलों से होम करना सर्वसम्पत्तिदायक होता है। रक्त उत्पल का हवन करने से राजाओं सहित जगत् वशीभूत हो जाता है।।८।।

नीलोत्पलैर्महादुष्टा वशमायान्ति नान्यथा।
श्वेतोत्पलैः श्रियं वाचं लभते हवनाद् ध्रुवम्।।९।।

नीलोत्पल (नीलोफर) का हवन करने से दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति भी वश में आ जाते हैं। श्वेत कमल से हवन करने से श्री और वाणी की प्राप्ति होती है।।९।।

कह्लारहवनान्मन्त्री सौभाग्यञ्च धनं हरेत्।
वकुलस्य फलैः पुष्पैः सौभाग्यं जायते महत्।।१०।।

कल्हारपुष्पों का हवन करने से सौभाग्य और धन की प्राप्ति होती है। बकुल के फूलों का हवन करने से महान् सौभाग्य की प्राप्ति होती है।।१०।।

कर्पूरं कुङ्कुमञ्चैव मिश्रं मृगमदेन हि।
हवनान्मरणञ्चैव मन्त्रिणा विजितं भवेत्।।११।।

कपूर और कुंकुम-मिश्रित मृगमद (कस्तूरी) का हवन करने से मन्त्र-साधक मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। ग्रन्थ की एक अन्य पाण्डुलिपि में 'हवनान्मरणञ्चैव' के स्थान पर 'हवनान्मदनञ्चैव' पाठ है। इस पाठ को स्वीकार करने पर अर्थ होगा कि कपूर, कुंकुम-मिश्रित कस्तूरी का हवन करके मन्त्र-साधक शक्ति और सौन्दर्य में कामदेव को भी हरा देता है।।११।।

चम्पकैः पाटलैर्होमाच्छ्रियं प्रोल्लसितां वराम्।
प्राप्नोति मन्त्री महतीं स्तम्भयेज्जगतीमिमाम्।।१२।।

चम्पकैः पाटलैरिति मिश्रितैरित्यर्थः। अमिश्रितपाटलपुष्पेण होमस्य पूर्वमुक्तत्वात्।

चम्पक और पाटल के पुष्पों को मिलाकर हवन करने से मन्त्र-साधक को वर-लक्ष्मी अर्थात् सर्वश्रेष्ठ सम्पत्तियों की प्राप्ति होती है तथा उसके समक्ष सारा जगत् हतप्रभ और स्तम्भित हो जाता है॥१२॥

श्रीखण्डमगुरुं हुत्वा कर्पूरं गुग्गुलं तथा।
भूपनागेन्द्रदेवानां पुरन्ध्रीर्वशमानयेत्।।
सर्वे लोका वशास्तस्य भवन्त्येव न संशयः।।१३।।

श्रीखण्डं चन्दनकाष्ठम्।

श्रीखण्ड अर्थात् चन्दन की लकड़ी, अगरु, कपूर और गुग्गुल का हवन करने से राजाओं, नागों और देवताओं का स्त्रीवर्ग वश में आ जाता है। इतना ही नहीं, सभी लोक भी साधक के वशीभूत होकर उसकी आज्ञा का पालन करने लगते हैं॥१३॥

लक्षहोमाल्लभेद्राज्यं दारिद्र्यभयपीडितः।
दुर्गोपसर्गशमनं पलत्रिमधुहोमतः।।१४।।

त्रिमध्विति। त्रिमधुरमाह राघवभट्टधृतप्रयोगसारे—

पयो मधु घृतञ्चेति समं त्रिमधुरं स्मृतम्। इति।

उपर्युक्त द्रव्यों की एक लाख आहुति देकर हवन करने से दरिद्र से दरिद्र व्यक्ति को राज्य की प्राप्ति होती है। 'पलत्रिमधु' अर्थात् दूध, घृत एवं मधु-सहित मांस का हवन करने से दुर्ग अर्थात् किले में होने वाले उत्पातों का शमन हो जाता है॥१४॥

महापलेन नियतं रिपोः सैन्यं विनाशयेत्।
खेचरो जायते रात्रौ कृत्वा होमं चतुष्पथे।।१५।।

महापल अर्थात् महामांस का हवन करने से शत्रु-सेना का विनाश हो जाता है। रात के समय चतुष्पथ में महामांस का हवन करने से आकाश-गमन की क्षमता प्राप्त होती है॥१५॥

रुधिराक्तेन च्छागस्य मांसेन निशि होमतः।
मधुरत्रययुक्तेन गुरुणोक्तविधानतः।
महाराष्ट्रं महादुर्गं समस्तं वशमानयेत्।।१६।।

रात के समय गुरु के द्वारा बताये गये विधान के अनुसार मधुरत्रय (दूध-शहद और घृत) से युक्त तथा रक्त में डुबोकर बकरे के मांस का हवन करने से महाराष्ट्र (विशाल राज्य) वश में आ जाता है तथा अपराजेय किले पर अधिकार मिल जाता है॥१६॥

पृथक् कृत्वा मधु क्षीरं घृतञ्च होमयेत् सुधीः।
आयुर्धनमथाऽऽरोग्यं समृद्धिर्जायते नृणाम्॥१७॥

शहद, घी और दूध का अलग-अलग होम करने से साधक को आयु-धन-आरोग्य तथा समृद्धि की प्राप्ति होती है॥१७॥

मधुना क्षीरयोगेण होमान्मृत्युं विनाशयेत्।
दधिमाक्षिकयोगेण सौभाग्यं धनमाप्नुयात्॥१८॥

मधु (शहद) और दूध को मिलाकर हवन करने से अकालमृत्यु से रक्षा होती है। दही और शहद को मिलाकर हवन करने से सौभाग्य और धन की प्राप्ति होती है॥१८॥

राजिकालवणाभ्यान्तु क्षोभयेज्जगतीमिमाम्।
वशयेद्दुष्टलोकांश्च हवनान्नात्र संशयः॥१९॥

राजिका राजसर्षपः। 'राजिकापि च केदारे राजसर्षपरेखयो'रिति मेदिनी।

राजिका और नमक का हवन करने से संसार का क्षोभ होता है और दुष्ट लोग वश में आ जाते हैं॥१९॥

दध्नाऽष्टशतकं हुत्वाऽकालमृत्युं वशं नयेत्॥२०॥

दही की आठ सौ आहुतियाँ देकर हवन करने से अकालमृत्यु से रक्षा होती है॥२०॥

जुहुयात् क्षीरसंयुक्तं घृतमष्टशतं बुधः।
मध्वाज्यगुग्गुलेनैव राजेन्द्रं वशमानयेत्॥२१॥

दूध-मिश्रित घी की आठ सौ आहुतियाँ देकर हवन करने से और/अथवा शहद, घी और गुग्गुल से हवन करने से राजाओं का वशीकरण होता है॥२१॥

होमाद्दधिमधुक्षीरलाजाभिः साधकोत्तमः।
रोगहन्ता लोकहन्ता मृत्युहन्ता भवेद् ध्रुवम्॥२२॥

दही, शहद, दूध और लाजा का होम करके उत्तम साधक रोगहन्ता, लोकहन्ता और मृत्युहन्ता बन जाता है॥२२॥

आरोग्यं घृतदुग्धाभ्यां हवनेन शताष्टकम्।
तिलाज्यहोममात्रेण सर्वकर्माणि साधयेत्॥२३॥

घी और दूध (दोनों को मिलाकर) की आठ सौ आहुतियाँ देकर हवन करने से आरोग्य-लाभ होता है। तिल और घृत के होम से सभी कार्य सफल होते हैं॥२३॥

सितां हुत्वा तु मन्त्रज्ञो रिपोः स्तम्भनमाचरेत्।
गुग्गुलस्य च होमेन सर्वदुःखानि नाशयेत्॥२४॥

सितां शर्कराम्।

शक्कर का हवन करने से शत्रुओं का स्तम्भन तथा गुग्गुल का होम करने से सभी दु:खों का नाश होता है॥२४॥

वैरिणो वशगाः शीघ्रं चन्दनस्यापि होमतः।
रक्तचन्दनहोमेन वश्या हि पुरुषाः स्त्रियः॥२५॥

चन्दन अर्थात् सफेद चन्दन के होम से दुश्मन वश में आ जाते हैं। रक्त चन्दन के होम से पुरुषों और स्त्रियों का वशीकरण होता है॥२५॥

कर्पूरस्य च होमेन वाग्वश्यं जायते नृणाम्।
कस्तूरीहवनान्मन्त्री सर्वे वश्या भवन्ति हि॥२६॥

कपूर का होम करने से मनुष्यों में वाग्-वशता अर्थात् अपनी वाणी से सभी लोकों को वशवर्ती करने की क्षमता प्राप्त होती है। कस्तूरी का हवन करने से सभी वश में आ जाते हैं। गन्धर्वतन्त्र के अनुसार कस्तूरी का हवन करने से देवता भी वश में आ जाते हैं॥२६॥

तिलतण्डुलहोमेन सर्वशान्तिर्भवेद् गृहे।
शर्करागुडहोमेन सर्वकार्याणि साधयेत्॥२७॥
घृतपायसहोमेन वशीकुर्यान्महाग्रहान्॥२८॥

तिल और चावल का होम करने से घर में सभी प्रकार की शान्ति होती है। घी और दूध का होम करने से महाग्रह वश में आ जाते हैं अर्थात् ग्रहबाधा समाप्त हो जाती है। शक्कर और गुड़ का होम करने से सभी कार्य सिद्ध होते हैं॥२७-२८॥

पूर्णवदरहोमेन सितायुक्तेन मन्त्रिणः।
त्रैलोक्यं वशमाप्नोति धान्यवृद्धिर्भवेत् किल॥२९॥

चीनी के साथ पूर्ण बदर (बेर) का होम करने से तीनों लोकों का वशीकरण होता है और धन-धान्य की वृद्धि होती है॥२९॥

दशाङ्गधूपहोमेन सौभाग्यमतुलं भवेत्।
पूर्णदाडिम्बहोमेन वशीकुर्यान्महग्रहान्॥३०॥

दशाङ्ग धूप के होम से सौभाग्य-प्राप्ति तथा अंगूर के साबुत फल का होम करने से ग्रहबाधा की निवृत्ति होती है॥३०॥

सम्पूर्णवरहोमेन वशीकुर्यान्महीश्वरान्।
मातुलुङ्गफलैर्होमात् क्षत्रिया वशगा ध्रुवम्।।३१।।

वरहोमेन कुङ्कुमहोमेन।

'वर' का अर्थ है—कुंकुम। सम्पूर्ण कुंकुम का होम करने से महाराजाओं का वशीकरण होता है। मातुलुङ्ग का होम करने से क्षत्रिय लोग वश में आ जाते हैं॥३१॥

विमर्श—आजकल बाजार में जो कुंकुम बिकता है, वह रासायनिक उत्पादन है और कारखाने में बनाया जाता है। प्राचीन ग्रन्थों में जिस 'कुंकुम' का उल्लेख मिलता है, वह 'वनस्पति' है, वृक्षों में फलता है। कुंकुम के फल मकोय के फल के समान होते हैं। तिलक करने के लिये उन्हें पानी में घिसा जाता है। 'मातुलुङ्ग' बिजौरा नीबू को कहते हैं।

नागरङ्गफलैर्होमाद् वैश्या वश्या भवन्ति हि।
कुष्माण्डफलहोमेन शूद्रा वश्या भवन्ति हि।।३२।।

नारंगी का हवन करने से वैश्य अर्थात् वणिक् वर्ग तथा कुष्माण्ड के होम से शूद्रों का वशीकरण होता है॥३२॥

द्राक्षाफलैः सिद्धयोऽष्टौ लक्षहोमान्न संशयः।।३३।।

एक लाख द्राक्षाफलों (अंगूरों) के होम से अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है॥३३॥

कदलीफलहोमेन लक्षमात्रेण भूभृतः।
वश्यास्तु दशसंख्याता भवन्त्येव न संशयः।।३४।।

कदलीफल अर्थात् केला। कदलीफल के एक लाख होम से दश राजे वश में आ जाते हैं॥३४॥

खर्जूरफलहोमेन लक्षमात्रेण भूभृतः।
वश्या विंशतिसंख्याता भवन्त्येव न संशयः।।३५।।

एक लाख खजूर का होम करने से बीस राजे वश में आ जाते हैं॥३५॥

नारिकेलफलैर्होमात् समृद्धिर्जायतेऽचिरात्।
लक्षमात्रेण मन्त्रज्ञो राजतुल्यो भवेद् ध्रुवम्।।३६।।

नारियल के होम से शीघ्र ही समृद्धि की प्राप्ति होती है। इसके एक लाख होम से साधक राजा के समान हो जाता है॥३६॥

पक्वाम्रफलहोमेन लक्षमात्रेण मन्त्रवित्।
चतुःसमुद्रपर्यन्तां मेदिनीं वशमानयेत्।।३७।।

एक लाख पके आम के होम से चारो समुद्रों तक पृथ्वी वशवर्तिनी हो जाती है।।३७।।

जम्बूफलैः स्त्रियो वश्याः कूष्माण्डैर्दैत्यकन्यकाः।
श्रीफलैरुत्तमां लक्ष्मीं पत्रैर्वा होमतो लभेत्।
इक्षुदण्डैः सुखावाप्तिस्तद्वशा राजकन्यकाः।।३८।।

जामुन के होम से स्त्रियों और कूष्माण्ड के होम से दैत्यकन्याओं का वशीकरण होता है। श्रीफल (बेल) के फल अथवा पत्तों (बिल्वपत्रों) के होम से लक्ष्मी (धन-समृद्धि) की प्राप्ति होती है। ईख के टुकड़ों का होम करने से सुख की प्राप्ति होती है और राजकन्याओं का वशीकरण होता है।।३८।।

[होमद्रव्यपरिमाणम्]

अथ वक्ष्यामि द्रव्यस्य मानं हवनसिद्धिदम्।
पुष्पं समग्रं जुहुयात् कमलेनापि पुष्कलम्।।३९।।
कुसुम्भं बाणपुष्पञ्च यथेष्टं जुहुयात् सुधीः।
शतसंख्यास्तिलाश्चैव राजिकाः शतसंख्यया।।४०।।

होम द्रव्य-परिमाण—विभिन्न द्रव्यों से होम का फल निरूपित करने के बाद अब प्रत्येक हवनीय द्रव्य का आहुति-परिमाण (मात्रा) बताया जा रहा है।

अब हवनीय द्रव्य की सिद्धिदायी आहुति-प्रमाण बता रहा हूँ। कमल, कुसुम्भ और बाणपुष्प—इन पुष्पों से हवन करना है तो प्रत्येक आहुति में एक समूचे फूल की आहुति दें। एक आहुति में तिल और राजिका की संख्या एक सौ होनी चाहिए।।३९-४०।।

विमर्श—'मानं हवनसिद्धिदम्' का अर्थ है—हवनीय द्रव्य का सिद्धिदायक परिमाण या मात्रा। यदि आहुति यथानिर्धारित परिमाण या मान से न्यून है तो वह सिद्धिदायिनी नहीं होती।

लाजा मुष्टिप्रमाणाः स्युर्घृतं कर्षमितं तथा।
चुल्लुकार्द्धं तथा क्षीरमन्नं ग्रासमितं भवेत्।।४१।।

लाजा अर्थात् लाई की एक आहुति का परिमाण आधी मुट्ठी, घी की एक आहुति एक कर्ष, दूध की एक आहुति आधे चुल्लू के बराबर तथा अनाज की (पके हुए अनाज की) एक आहुति एक कौर (निवाला) के बराबर मानी गई है।।४१।।

स्थूलं फलञ्च कुष्माण्डं मातुलुङ्गं तथैव च।
मनःप्रियैश्च खण्डैश्च फलैर्भवति निश्चयात्।।४२।।

कूष्माण्ड (कद्दू) जैसे बड़े स्थूल (बड़े) फल की आहुति उसके मनपसन्द टुकड़े के बराबर मानी गई है। मातुलुङ्ग की आहुति का भी यही प्रमाण है।।४२।।

रम्भाफलं चतुःखण्डं लघु चेत् खण्डितं न हि।
पनसैः फलगर्भस्थैश्चूतैर्मधुयुतैर्हुनेत्।।४३।।

यदि केले का फल बड़ा है तो उसके चार टुकड़े और यदि फल छोटा है तो सम्पूर्ण फल एक आहुति का मान है। पनस (कटहल) का आम के बराबर टुकड़ा शहद में डुबोकर दिया जाय। आम का पूरा फल एक आहुति का मान है।।४३।।

इक्षुखण्डं पुरास्थाने मनःसन्तोषकारणम्।
द्राक्षाफलं समस्तं स्यान्नागरङ्गञ्च खर्जुरम्।।४४।।
गुग्गुलुं क्रमुकार्द्धञ्च कुङ्कुमञ्च तथा भवेत्।
गुञ्जासमानं कर्पूरं कस्तूरी घुसृणं तथा।।४५।।
अगुरुं चन्दनञ्चैव क्रमुकेण समं भवेत्।
मनःप्रियाणि सर्वाणि फलानि हवनाय च।।४६।।
मनःप्रियाहुतीः कृत्वा सर्वमन्यद्धुनेत् सुधीः।
एतदाहुतिमानं स्यात्—

पुरास्थाने पर्वदेशे।

गन्ने का एक पोर, अंगूर और खजूर का पूरा फल, गुग्गुल आधी सुपारी के बराबर, कपूर, कस्तूरी और घुसृण एक घुंघची के बराबर, अगरु और चन्दन एक सुपारी के बराबर तथा अन्य मनपसन्द समूचा फल—यह आहुति का मान है।।४४-४६।।

[तस्यैव प्रकारान्तरम्]

—प्रकारान्तरमुच्यते।।४७।।

आहुति-मान का दूसरा प्रकार भी है, जिसका निरूपण आगे किया जा रहा है।।४७।।

दधि प्रसृतिमानं स्यात् पृथुकाः शक्तवोऽपि च।
भवन्ति कर्षमाणञ्च गुडं पलार्द्धमात्रकम्।।४८।।
ग्रासार्द्धं चरुमानं स्यात् पत्रमेकमुदाहृतम्।
मातुलुङ्गं चतुःखण्डं पनसं दशधा स्मृतम्।।४९।।
अष्टधा नारिकेलानि खण्डितानि विदुर्बुधाः।
त्रिधा खण्डं फलं वैल्वं कपित्थं खण्डितं द्विधा।।५०।।

फलान्यन्यानि खण्डानि समिधः स्युर्दशाङ्गुलाः।
व्रीहियो मुष्टिमात्राः स्यू रक्तमाषा यवा अपि।।५१।।
तण्डुलाः स्युस्तदर्द्धांशास्तिलाश्चुल्लुकसम्मिताः।
तिन्तिडीबीजमानानि मरीचान्यपि विंशतिः।।५२।।

समिध इति। दशाङ्गुलाः प्रादेशपरिमाणाः। समिधां लक्षणमाह कर्मप्रदीपेऽष्टमखण्डे—

नाङ्गुष्ठादधिका ग्राह्या समित् स्थूलतया क्वचित्।
न निर्मुक्तत्वचा चैव न सकीटा न पाटिता।।
प्रादेशान्नाधिका नोना तथा चैव द्विशाखिका।
न सपत्रा न निर्वीर्या होमेषु च विजानता।।
विशीर्णा विदला ह्रस्वा वक्रा स्थूला कृशा द्विधा।
क्रिमिदष्टाश्च दीर्घाश्च वर्जनीयाः प्रयत्नतः।।

गृह्यासंग्रहे प्रथमप्रपाठके—

विशीर्णायुःक्षयं कुर्याद्विदला व्याधिसम्भवा।
ह्रस्वा व्याधिकरी प्रोक्ता दुर्भगत्वन्तु वक्रया।।
विघ्नानि कुरुते स्थूला कृशा च रिपुवर्द्धिनी।
द्विधा नाशयते ह्यर्थं भार्याञ्च प्रियबान्धवान्।।
कीटदष्टाऽतिभयदा दीर्घा चैव सुतान् हरेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन वर्जनीयाश्च वर्जयेत्।। इति।

एक अञ्जलि भर दही, एक कर्ष चिउड़ा, एक कर्ष सत्तू, आधा पल गुड़, आधा कौर चरु, एक पूरा पत्ता, एक चौथाई बिजौरा नीबू, कटहल का दसवाँ भाग, बेलफल का तिहाई भाग, कपित्थ (कैथा) का आधा भाग, दस अंगुल की समिधा, एक मुट्ठी धान, एक मुट्ठी जौ, आधी मुट्ठी चावल, चुल्लू भर तिल, इमली की एक गाँठ, नारियल का आठवाँ भाग तथा बीस मरीच—हवन के लिये एक आहुति का मान है।।४८-५२।।

[द्रव्यानुक्तौ विशेषः]

अनुक्ते तु हविर्द्रव्ये तिलाज्यं हविरुच्यते।।५३।।

यदि हवि द्रव्य का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया हो तो तिल और घृत की हवि समझनी चाहिए।।५३।।

[वैरिमन्त्रपरित्यागक्रमः]

अथारिमन्त्रत्यागस्य विधिः सम्यक् प्रवक्ष्यते।।५४।।

शुचिः समाहितो भूत्वा प्रारभेत् प्रवरे दिने।
अशेषदुःखनाशाय देशिकः प्रवरं विधिम्।।५५।।

पूर्वं द्वितीयप्रकाशे वैरिमन्त्रा निरूपिताः। सम्प्रति तेषामनिष्टफलकानां विधिना परित्यागस्य क्रममाह—**अथारिमन्त्रत्यागस्येत्यादिना।**

वैरि मन्त्र के परित्याग की विधि—द्वितीय प्रकाश में शत्रु और मित्र मन्त्र के चयन की विधि बताई गई है। फिर भी यदि किसी ने जाने-अनजाने में शत्रुमन्त्र ग्रहण कर लिया है तो उसके त्याग की विधि यहाँ बताई जा रही है।

अरिमन्त्र लेने वाला साधक अशेष दुःख के नाश के लिये शुद्ध-पवित्र होकर शुभ दिन को इस विधि से अरि- मन्त्र का परित्याग करे।।५४-५५।।

[घटस्थापनम्]

तत्राऽऽदौ रम्यभवने कुम्भं दीक्षाविधिक्रमात्।
मण्डले स्थापयेत् विद्वान् पूरयेत्तं जलैः शुभैः।।५६।।

सुन्दर पवित्र कक्ष में दीक्षाविधि के अनुसार मण्डल बनाकर यथाविधि उस पर कुम्भ स्थापित करें। इस कुम्भ में शुद्ध पवित्र जल भरे।।५६।।

[घटे सावरणसाध्यदेवतापूजा]

विलोममन्त्रपाठेन तत्राऽऽवाह्य तु देवताम्।
सकलीकृत्य सम्पूज्याऽऽवरणानि प्रपूजयेत्।।५७।।
एवमावरणानीष्ट्वा मन्त्री मन्त्रस्य देवताम् ।
हुत्वा विलोममन्त्रेण सर्पिषा गोरपि द्विजः।।५८।।

सकलीकृत्य षडङ्गमन्त्रैरिति शेषः।

विलोम मन्त्र का जप करते हुए कुम्भ में देवता का आवाहन करे। षडङ्ग मन्त्रों से सकलीकरण करके देवता की पूजा करे। देवता की पूजा करने के बाद यथाविधि आवरणदेवताओं की भी पूजा करे। इसके बाद विलोम मन्त्र का जप करते हुए गाय के घी से हवन करे।।५७-५८।।

[दिक्पालबलिः]

ततो यथावद्दुग्धान्नैर्देवताभ्यो बलिं हरेत्।
विदिक्षु दिक्षु च तथा वक्ष्यमाणैर्मनुक्रमैः।।५९।।

इसके बाद पूर्व आदि दिशाओं तथा आग्नेय आदि कोणों में इन्द्र आदि दिग्गजों को नीचे बताये गये मन्त्रों से दुग्धान्न की बलि दे।।५९।।

[तत्रेन्द्रस्य बलिमन्त्रः]

ॐ आयाहीन्द्र सुराधीश शतमन्यो शचीपते।
नमस्तुभ्यं गृहाणेमं पुष्पधूपादिकं बलिम् (१)।।६०।।

इन्द्र का बलिमन्त्र—हे सुराधीश, हे शतमन्यु, हे शचिपति! यहाँ आयें, यहाँ पधारें, पुष्प-धूप आदि सहित यह बलि स्वीकार करें। (१)॥६०॥

[अग्नेः]

ॐ आयाहि तेजसां नाथ हव्यवाह वरप्रद।
गृहाण पुष्पधूपादिबलिमेनं सुपूजितम् (२)॥६१॥

अग्नि का बलिमन्त्र—अग्निकोण में अग्नि को बलि दें। वरदान देने वाले हे हव्यवाह, हे तेजस्तत्व के स्वामी! यहाँ आयें, पुष्प-धूप आदि सहित यह बलि स्वीकार करें। (२)॥६१॥

[यमस्य]

ॐ प्रेतराज समायाहि भिन्नाञ्जनसमप्रभ।
बलिं दत्तं गृहाणेमं सुप्रीतो वरदो भव (३)॥६२॥

यम का बलिमन्त्र—दक्षिण दिशा में यम को इस मन्त्र से बलि दें। मेघ के समान कान्ति वाले, हे प्रेतराज! यहाँ आयें, यहाँ पधारें, आपकोप्रदान की गई इस बलि को प्रसन्न मन से स्वीकार करें। मुझे अभीष्ट वर प्रदान करें। (३)॥६२॥

[निर्ऋतेः]

ॐ नमस्ते रक्षसां नाथ नैर्ऋते त्वमिहागतः।
गृहाण बलिपूजादि मया भक्त्या निवेदितम् (४)॥६३॥

निर्ऋति का बलिमन्त्र—निर्ऋति कोण में निर्ऋति को इस मन्त्र से बलि दें। राक्षसों के स्वामी, हे निर्ऋति! आपको नमस्कार है। कृपया यहाँ आयें और मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक निवेदित यह बलि ग्रहण करें। (४)॥६३॥

[वरुणस्य]

ॐ एहि पश्चिमदिक्पाल लोकनाथ नमोऽस्तु ते।
भक्त्या निवेदितां पूजां गृहीत्वा प्रीतिमाप्नुहि (५)॥६४॥

वरुण का बलिमन्त्र—पश्चिम में वरुण को इस मन्त्र का बलि दें। हे पश्चिम के दिक्पाल! हे लोकनाथ! आपको नमस्कार है। कृपा करके यहाँ आइये। आपको निवेदित की गई पूजा स्वीकार कीजिये। (५)॥६४॥

[वायोः]

ॐ प्रभञ्जन प्राणपते त्वमेहि सपरिच्छदः।
मया प्रयुक्तं विधिवद् गृहाण बलिमादरात् (६)॥६५॥

वायु का बलिमन्त्र—वायव्य कोण में वायु को इस मन्त्र से बलि दें। हे प्रभञ्जन! हे प्राणपति! परिवार-सहित यहाँ आइये। मेरे द्वारा अत्यन्त आदर के साथ समर्पित बलि को ग्रहण करें। (६)॥६५॥

[कुबेरचन्द्रयोः]

ॐ कुबेरतारकाधीशावागच्छेतां सुरोत्तमौ।
पुष्पधूपादिभिः प्रीतौ भवेतां वरदौ मम (७)।।६६।।

कुबेर एवं चन्द्र का बलिमन्त्र—उत्तर में कुबेर और चन्द्रमा को बलि इस मन्त्र से दें। हे कुबेर! हे तारकाधीश! आप दोनों देवताओं में श्रेष्ठ हैं। आप दोनों यहाँ पधारें। आपको समर्पित पुष्प-धूप आदि के साथ समर्पित पूजा बलि को स्वीकार करके हमें वरदान कीजिये। (७)॥६६॥

[ईशानस्य]

ॐ ईश त्वमेहि भगवन् सर्वविद्यामय प्रभो।
पूजितः पुष्पधूपाद्यैः प्रीतो भव विभूतये (८)।।६७।।

ईशान का बलिमन्त्र—ईशान कोण में ईशान को बलि इस मन्त्र से दें। हे सर्वविद्यामय भगवान् ईशान! कृपा करके यहाँ आइए। धूप-दीप-पुष्प आदि से की गई पूजा को स्वीकार करके मुझे विभूति प्रदान करें। (८)॥६७॥

[ब्रह्मणः]

ॐ आयाहि सर्वदेवानां नाथ ब्रह्मन् समर्चनम् ।
गृहाण सर्वविघ्नान् मे निवर्त्तय नमोऽस्तु ते (९)।।६८।।

ब्रह्मा का बलिमन्त्र—इन्द्र और ईशान के मध्य में ब्रह्माजी को इस मन्त्र से बलि दें। हे सर्वदेवों के नाथ! ब्रह्मदेव! यहाँ आइये। पूजा स्वीकार करके मेरे सभी विघ्नों का निवारण करें। हे देव! आपको नमस्कार है। (९)॥६८॥

[अनन्तस्य]

ॐ आगच्छ वरदाव्यक्त विष्णो विश्वस्य नायक।
पूजितः परया भक्त्या भव त्वं सुखदो मम (१०)।।६९।।

अनन्त का बलिमन्त्र—वरुण और निर्ऋति के मध्य में अनन्त को इस मन्त्र से बलि दें। हे विश्वनायक! हे अव्यक्त! हे वरद विष्णु! यहाँ आइये। अत्यन्त भक्ति के साथ आपकी पूजा की गई है। हे भगवन्! आप मुझे सुख प्रदान करें। (१०)॥६९॥

[साध्यदेवतापूजा]

ततः सपरिवाराञ्च पूजयेन्मन्त्रदेवताम् ।
मन्त्रेण विपरीतेन पुष्पधूपोपचारकैः।।७०।।

विपरीतेन विलोमेन।

दिक्पालों को बलि प्रदान करने के बाद मन्त्र का विलोमक्रम से जप करते हुए मन्त्र-देवता का परिवारसहित पूजन करें॥७०॥

[प्रार्थनम्]

ततस्तु प्रार्थयेद् विद्वान् पूजितां मन्त्रदेवताम्।।७१।।

इसके बाद भली-भाँति पूजित मन्त्र-देवता की प्रार्थना कीजिये।।७१।।

[तत्र मन्त्राः]

आनुलोक्यमनालोक्य मया तरलबुद्धिना।
तदुपात्तं पूजितञ्च प्रभो मन्त्रस्वरूपकम्।
तेन मे मनसः क्षोभं विनिवर्त्तय सर्वदा।।७२।।
पापं प्रतिहतञ्चास्तु भूयाच् श्रेयः सनातनम्।
तनोतु मम कल्याणं पावनी भक्तिरेव ते।।७३।।

प्रार्थना मन्त्र

इस प्रकार प्रार्थना के बाद मन्त्रदेवता का विसर्जन करें।।७२-७३।।

[तदनन्तरकृत्यम्]

इति सम्प्रार्थ्य मन्त्राणां वर्णं पत्रे विलोमतः।
लिखित्वाऽमलकर्पूरचन्दनेन समर्चयेत्।
कलसोपरि संस्थाप्य भक्त्या परमया पुनः।।७४।।
तत्पत्रं मतिमान् पश्चाद्बद्ध्वा निजशिरस्यथ।
स्नायात् पूजितकुम्भस्थतोयैर्मन्त्रमयैः शुभैः।।७५।।
पुनश्चान्येन तोयेन कुम्भमापूर्य संयतः।
तन्मध्ये मन्त्रपत्रञ्च निक्षिप्याथ प्रपूजयेत्।।७६।।
तन्मध्ये निम्नगातीरे शुद्धे वाऽन्यजलाशये।
निक्षिपेद्दश विप्रांश्च यथाशक्त्या प्रपूजयेत्।।७७।।

इस प्रकार प्रार्थना करके मन्त्र के वर्णों को कपूर और चन्दन से पत्ते पर विलोम क्रम से लिखकर उसकी पूजा करें। उस पत्ते को अत्यन्त आदर और भक्ति के साथ कलस पर स्थापित कर दें। तत्पश्चात् उस पत्ते को अपने सिर पर रखकर मन्त्र का जप करते हुये कुम्भ के जल से स्नान करायें। कुम्भ में दूसरा जल भरकर उक्त मन्त्र-पत्र को जल में डाल दें। उसकी फिर से पूजा करें। तत्पश्चात् उक्त पत्र को किसी शुद्ध नदी या अन्य जलाशय में विसर्जित कर दें। यथाशक्ति दस ब्राह्मणों की पूजा करके उन्हें भोजन करायें।।७४-७७।।

[निरुक्तानुष्ठानजं फलम्]

एवंकृतविधानस्य रिपुमन्त्रोद्भवा रुजः।
नश्यन्त्येव न सन्देहः क्रमाच्चित्तप्रसन्नता।।७८।।

जायतेऽतीव सम्पन्नो वर्द्धते स्वकुलं क्रमात्।

इस विधान के अनुसार शत्रुमन्त्र का त्याग करने से शत्रुमन्त्र के अनुष्ठान से उत्पन्न सभी रोग-शोक समाप्त हो जाते हैं। साधक के चित्त में प्रसन्नता व्याप्त हो जाती है। परिवार में वृद्धि होती है। सम्पन्नता बढ़ती है॥७८॥

[विधेरस्य प्रामाणिकग्रन्थसंवादित्वम्]

मालिनीविजयस्येति मतमेतदुदीरितम्।।७९।।

इति श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचिते श्रीतत्त्वचिन्तामणौ नवमः प्रकाशः॥९॥

यह विधान 'मालिनी-विजय' नामक तन्त्र ग्रन्थ में बताया गया है॥७९॥

श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचित श्रीतत्त्वचिन्तामणि के नवम प्रकाश का
'भावना'-भाष्य पूर्ण हुआ।।९।।

●

दशमः प्रकाशः

[आदौ पञ्चमी, ततः एकाक्षरी, ततस्त्रिकूटचतुष्कूटमन्त्रभेदाः]

अवतरण—पिछले प्रकाशों में भगवती त्रिपुरसुन्दरी की मन्त्र-दीक्षा तथा दीक्षांग हवन आदि का निरूपण करने के बाद इस प्रकाश से उनके विविध मन्त्र-भेदों का निरूपण किया जा रहा है।

[श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीविद्यानिरूपणप्रतिज्ञा]

अथ वक्ष्यामि तां विद्यां संसारार्णवतारिणीम्।
सर्वशास्त्रमयीं देवीं सर्वकारणरूपिणीम्।।१।।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणीं मुक्तिदायिनीम्।
ब्रह्मविष्णभवैर्वन्द्यां श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीम्।।२।।
तस्या मन्त्रं प्रवक्ष्यामि सर्वसिद्धिप्रदायकम्।

एवं पूर्वपूर्वप्रकाशैः साङ्गं दीक्षाक्रमं विस्तरत उपपाद्य श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीविद्यास्वरूपनिरूपणाय प्रतिजानीते—**अथेति**। अस्याः स्वरूपमाह—**संसारार्णवतारिणीमित्यादिना श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीमित्यन्तेन। श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीमिति।** त्रिपुराशब्दनिर्वचनमाह गन्धर्वतन्त्रे द्वितीयपटले—

त्रीन् यस्मात् पुरतो दद्याद्दुर्गा सा परमेश्वरी।
त्रिपुरेति समाख्याता सौन्दर्यातिशयात्तथा।। इति।

त्रिपुरामहोपनिषद्भाष्यधृतकालिकापुराणेऽपि—

त्रिकोणं मण्डलं चास्या भूपुरश्च त्रिरेखकम्।
मन्त्रोऽपि त्र्यक्षरः प्रोक्तस्तथा रूपत्रयं पुनः।।

त्रिविधा कुण्डलीशक्तिस्त्रिदेवानाञ्च सृष्टये।
सर्वं त्रयं त्रयं यस्मात् त्र्यक्षरी त्रिपुरा मता।। इति।

अब मैं ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति-स्थिति तथा संहाररूप कार्यों की कारणस्वरूपा एवं ब्रह्मा-विष्णु एवं शिव के लिये भी प्रणम्या एवं वन्दनीया तथा प्राणिमात्र को संसारसागर से पार उतारकर मुक्ति प्रदान करने वाली सर्वशास्त्रमयी विद्या श्रीत्रिपुरसुन्दरी का वह मन्त्र बता रहा हूँ, जो सर्वसिद्धि-प्रदायक है।।१-२।।

भावना-विमर्श—ग्रन्थ के मंगलाचरण में 'अम्बुजलोचना' और 'कादिमूर्ति' कहकर परमशिव की जिस पराशक्ति का स्तवन किया गया है, वह पराशक्ति भगवती त्रिपुरसुन्दरी हैं। त्रिपुर में 'त्रि' विशेषण और 'पुर' विशेष्य है। 'पुर' का अर्थ है—नगर, देह, गेह आदि। अतः ब्रह्माण्ड में जिन-जिन शक्तियों और सत्ताओं के तीन-तीन रूप हैं, वे सभी 'त्रिपुरा' में समाहित हैं। यथा—शान्ता (इच्छा-ज्ञान-क्रिया), अम्बिका (वामा-ज्येष्ठा-रौद्री), त्रिदेव (ब्रह्मा-विष्णु और महेश), त्रिवेद (ऋक्, यजुः, साम), त्र्यक्षर (वाग्भव-कामराज एवं तार्तीय), त्रिपदा गायत्री, त्रिपथगा गंगा आदि।

त्रिमूर्तिसर्गाच्च पुरा भवत्वात् त्रयीमयत्वाच्च पुरैव देव्याः।
लये त्रिलोक्या अपि पूरकत्वात् प्रायोऽम्बिकायाः त्रिपुरेति नाम॥

जो त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) तथा वेदत्रयी (ऋग्, यजुः, साम) के आविर्भाव के पहिले भी विद्यमान् थीं तथा तीनों लोकों का विनाश (लय) होने के बाद फिर से उन्हें पूर्ववत् बना देती हैं, वे भगवती त्रिपुरा हैं।

'सुन्दरीस्तव' में कहा गया है कि भगवती त्रिपुरा संसार की सृष्टि (रचना), स्थिति (पालन) तथा संहार (प्रलय) करने वाली ब्राह्मी-वैष्णवी एवं रौद्री की समायोगात्मिका समष्टि मूर्ति हैं—

ब्राह्मी रौद्री वैष्णवीति शक्तयस्तिस्र एव हि।
पुरं शरीरं यस्या सा त्रिपुरेति प्रकीर्तिता॥

'त्रि' और 'पुर' के इसी विशेषण-विशेष्यभाव को लक्ष्य करके 'कालिका-पुराण' में कहा गया है—

त्रिकोणं मण्डलं यस्याः भूपुरञ्च त्रिरेखात्मकम्।
मन्त्रोऽपि त्र्यक्षरा प्रोक्ता तथा रूपं त्रयं पुनः॥
त्रिविधा कुण्डली शक्तिः त्रिदेवानां च सृष्टये।
सर्वं त्रयं त्रयं यस्मात् तस्मात्तु त्रिपुरा मता॥

'त्रिवलया' कुण्डलिनी के रूप में प्राणिमात्र के शरीर में विराजिता भगवती त्रिपुरा ने ब्रह्माण्ड के सृष्टि आदि कार्यों के लिये त्रिदेवों को उत्पन्न किया। तीन भूपुरों वाला उनका पूजन मण्डल (यन्त्र) भी त्रिकोणाकार है और उनके मन्त्र के भी तीन बीज हैं।

'ब्रह्मा विष्णु भव वन्द्या'—ज्ञानार्णव के चतुर्थ पटल (श्लोकसंख्या १२ से २७) में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को 'प्रेत' कहा गया है; क्योंकि वे सर्वथा शक्तिहीन हैं। न तो ब्रह्मा में सृष्टि की शक्ति है और न विष्णु में पालन की। रुद्र भी संहार करने के लिये सक्षम नहीं हैं। उनसे ये कार्य भगवती त्रिपुरा की क्रमशः ब्राह्मी-वैष्णवी और रौद्री शक्तियाँ कराती हैं। 'कालिकापुराण' के उपर्युक्त उद्धरण में भी यही बात कही गई है। अतः इनकी सृजनकर्त्री और सञ्चालिका होने के कारण वे सर्ववन्द्य ब्रह्मा-विष्णु और भव (शिव) के लिये भी प्रणम्या और वन्दनीया हैं।

'सर्वशास्त्रमयी विद्या'—जिससे ज्ञान प्राप्त हो, वह शास्त्र है। अत: शास्त्र ज्ञान का पर्याय है। श्रीज्ञानार्णव तन्त्र (१/१७) में भगवती त्रिपुरा को परिशुद्धतम एवं एकमात्र ज्ञान कहा गया है—'केवलं ज्ञान चित् कला।' ज्ञान ही सत्य है तथा सत्य ही ब्रह्म है—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती—'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:' और विद्या; 'विद् ज्ञाने' धातु से निष्पन्न 'विद्या' वह ज्ञान है, जो मुक्ति देता है—'या विद्या सा विमुक्तये।'

मुक्तिदायिनी—शाक्त दृष्टि से ब्रह्मा आदि 'प्रेत' हैं। वे स्वयं सक्षम नहीं हैं। उन्हें केवल अपना काम करने की शक्ति दी गई है। अत: वे स्वत: किसी को मोक्ष नहीं दे सकते। 'केवलं ज्ञान चित् कला' और 'विद्या' स्वरूपा होने के कारण केवल भगवती त्रिपुरसुन्दरी ही मोक्षदायिनी हैं; जैसा कि महामोक्षतन्त्र (पञ्चम पटल) में कहा गया है—

अतएव महेशानि! सा एव मोक्षदायिनी।
विश्वमाता च सा देवी विश्वपालनकारिणी।।
मोक्षदा सर्वलोकानां मुक्तिदा विश्वमातृका।
भुवनेशीं विना ईश: किञ्चित् कर्तुं न शक्यते।।

'सर्वसिद्धिदायक-मन्त्र'—'मन्त्र' वर्णों का मात्र संयोजन नहीं; अपितु अदृष्ट एवं अगोचर देवता का अक्षर विग्रह है। मन्त्र वाचक है और देवता वाच्य है। अत: वाच्य-वाचक होने के कारण देवता और मन्त्र में अभेद है, तादात्म्य है। अत: 'सर्वसिद्धिप्रदायक मन्त्र' का अर्थ यह हुआ कि मन्त्र से वाच्य भगवती त्रिपुरा सर्वसिद्धिदायिनी हैं।

मोक्ष ही परम सिद्धि है, मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है। अत: मुक्तिदायिनी के साथ ही उन्हें सर्वसिद्धिदायिनी कहने से यह ध्वनित होता है कि वे साधक को मुक्ति के साथ ही अणिमा आदि सिद्धियाँ तथा अर्थ एवं कामरूप पुरुषार्थ प्रदान करने में भी सक्षम हैं। अर्थ और काम की प्रयोजनीयता केवल सांसारिक सुखों के उपभोग तक सीमित है, अत: वे 'भोग' की श्रेणी में आते हैं। अत: सर्वसिद्धिदायिनी का अर्थ यह हुआ कि भगवती त्रिपुरा अपने साधकों को भोग और मोक्ष दोनों ही वस्तुएँ प्रदान करती हैं। 'खड्गमाला' (मिथुन जयान्त माला की वन्दना) में कहा गया है—

या भोगदायिनी देवी जीवन्मुक्तिप्रदा न सा।
मोक्षदा तु न भोगाय श्रीबाला तूभयप्रदा।।

मोक्षदायिनी देवियाँ भोग नहीं दे सकतीं और इसी प्रकार भोगदायिनी देवियाँ मोक्ष नहीं दे सकतीं; मगर श्रीबाला त्रिपुरा 'तूभया' (तु उभया) होने के कारण सहज ही भोग और मोक्ष प्रदान करती हैं।

यत्रास्ति भोगो न हि तत्र मोक्षः यत्रास्ति मोक्षः न च तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

इस श्लोक में 'ब्रह्माविष्णुभववन्द्या' आदि विशेषणों का प्रयोग करके अनन्तानन्त गरिमाशालिनी भगवती त्रिपुरा का सांकेतिक गुणानुवाद किया गया है। स्वयं संवेद्या भगवती त्रिपुरा के गुणों का वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता। इसीलिए ज्ञानार्णव तन्त्र (त्रयोदश पटल, श्लोकसंख्या ३०-३२) में कहा गया है—

वक्त्रकोटिसहस्रैस्त जिह्वाकोटिशतैरपि।
वर्णितुं नैव शक्येय श्रीविद्या षोडशाक्षरी॥
वैष्णवी पञ्चमी विद्या को शक्तः गुणवर्णने।
वैखरी वाच्यभावत्वादशक्ता गुणवर्णने॥
यतो निरक्षरं वस्त परा तत्र तु कारणम्।
मूकीभूता हि पश्यन्ती मध्यमा मध्यमा भवेत्॥

हजार-हजार मुखों और कोटि-कोटि जिह्वाओं से भी षोडशाक्षरी श्रीविद्या का वर्णन नहीं किया जा सकता। पञ्चमी वैष्णवी विद्या के गुणों का वर्णन करने में कौन समर्थ है? वे सर्वथा परा वाणी की विषय हैं। पश्यन्ती वाक् उनकी दिव्यता से अभिभूत होकर मूक रह जाती है। मध्यमा की उन तक पहुँच ही नहीं है और वैखरी तो इन्द्रियजन्य ज्ञान की अभिव्यक्ति तक ही सीमित है।

तत्रभवान् पूर्णानन्द परमहंस ने इन्हीं पञ्चमी वैष्णवी विद्या से भगवती त्रिपुरसुन्दरी के मन्त्र-भेदों का निरूपण प्रारम्भ किया है—

[पञ्चमी विद्या]

तत्रादौ पञ्चमी विद्या कथ्यते भुवि दुर्लभा।।३।।
दुर्लभा सा महाविद्या पञ्चकूटात्मिका परा।
नित्या च मुक्तिदा शुद्धा सुखदा दुःखनाशिनी।।४।।

तस्या इति। त्रिपुरसुन्दर्याः। त्रिपुराया बहवो भेदाः क्रमेण प्रदर्शयिष्यन्ते। तत्र प्रथमं पञ्चमीं व्याचष्टे—तत्रादावित्यादिना। पञ्चकूटात्मिकेति। वाग्भवकूटं कामराजकूटत्रयं शक्तिकूटश्चेति तदात्मिकेत्यर्थः।

सबसे पहिले पञ्च कूटात्मिका परा पञ्चमी विद्या का निरूपण कर रहा हूँ, जो सांसारिक और आध्यात्मिक दुःखों का नाश करके सुख और मुक्तिदायिनी हैं। संसार में पञ्चमी विद्या की दीक्षा बहुत कठिनाई से मिलती है। इससे वे दुर्लभा हैं॥३-४॥

[पाञ्चभौतिकस्य जगतः पञ्चकूटात्मकत्वम्]

देवीपञ्चात्मकं सर्वं जगदेतच्चराचरम्।
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशसम्भवम्।।५।।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से उत्पन्न (सम्भवम्) यह चराचर जगत् पञ्चात्मक अर्थात् पञ्चतत्त्वात्मक है॥५॥

[पृथिव्यादीनां तत्तद्देवताशक्तित्वम्]

पृथिवी ब्राह्मणी शक्तिर्जलं नारायणी तथा।
तेजो रुद्रस्य रुद्राणी वायुरीशस्य चेश्वरी॥६॥
माहेश्वरी तथाऽऽकाशं शक्तिर्महेश्वरस्य च।
पञ्चदेवात्मकं पञ्च पञ्चमी-पञ्चशक्तय:॥७॥

पृथिवी ब्राह्मणी शक्तिरित्यादिना यत् पृथिव्यादीनां ब्रह्मादिशक्तित्वमुपपादितम्, तस्य फलितमाह—**पञ्चेति**। पञ्चदेवात्मकं प्रागभिहितब्रह्मादिपञ्चदेवात्मकं पञ्च पृथिव्यादय: पञ्चम्या: पञ्चशक्तय इति ज्ञेयमित्यर्थ:। एतेन पञ्चभूतात्मकमातृकावर्णानां मन्त्रघटकता व्याख्याता। विशेषस्तु योगिनीहृदये द्वितीयपटलेऽनुसन्धेय:।

पञ्चभूतात्मक जगत् के घटक प्रत्येक तत्त्व (भूत) की उत्पत्ति भगवती त्रिपुरा की एक विशिष्ट शक्तिमूर्ति से हुई है अथवा उनकी विशिष्ट-विशिष्ट शक्तिमूर्ति ने जगत् की रचना के लिये स्वयं को विशिष्ट-विशिष्ट तत्त्व के रूप में प्रकट किया है। पृथ्वी ब्राह्मणीरूपा है और जल (पानी) नारायणी का रूप है। रुद्र की शक्ति रुद्राणी तेजोरूपा है तथा ईश्वर की शक्ति ईश्वरी वायुरूपा है। माहेश्वर की माहेश्वरी आकाश के रूप में प्रकट है। इस तरह यह जगत् और जगत् के घटक तत्त्व पञ्चशक्ति और पञ्चदेवात्मक हैं॥६-७॥

[निरुक्तकूटपञ्चकात्मकशक्तिपञ्चकनिरूपणम्]

आद्या कामेश्वरी ज्ञेया तथा वज्रेश्वरी शुभा।
तृतीया भगमाला च तुर्या त्रिपुरसुन्दरी॥८॥
नित्या च पञ्चमी शक्ति: परंब्रह्मस्वरूपिणी॥९॥

भगवती पञ्चमी पञ्चकूटात्मिका है। ये पाँच कूट पञ्चशक्तिमय हैं। इनमें प्रथम हैं—कामेश्वरी, दूसरी हैं—वज्रेश्वरी, तृतीया हैं—भगमाला (या भगशालिनी) तथा चतुर्थी हैं—त्रिपुरसुन्दरी। पञ्चमी शक्ति परंब्रह्मस्वरूपिणी नित्या हैं॥८-९॥

[पञ्चम्या: स्वरूपम्]

परमानन्दरूपं यज्जगतां कारणं महत्।
तस्माद्देव्याश्च तद्रूपमुदयास्तविवर्जितम्॥१०॥

उदयास्तविवर्जितं ध्वंसप्रागभावातीतम्।

वे परमानन्द-स्वरूपा हैं, जगत् की कारणभूता हैं अर्थात् जगत् की उत्पत्ति उनसे ही हुई है। अत: उनका रूप शाश्वत और सनातन है, उदय और अस्त से रहित है, नित्य है॥१०॥

स्थूलत्वे स्थूलरूपा सा सूक्ष्मत्वे सूक्ष्मरूपिणी।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन परंब्रह्मस्वरूपिणी।।११।।

देव्या रूपत्रयमाह—स्थूलत्व इति। अत्रेदमवधेयम्—स्थूलसूक्ष्मपरभेदेन देवताया रूपत्रयमागमेषु दृश्यते। तत्र ध्यानप्रतिपादितं विलक्षणशिरःकरचरणादिविशिष्टं रूपं स्थूलम्, मन्त्रात्मकं रूपं सूक्ष्मम्, पररूपन्तु देशकालादिभिरनवच्छिन्नमन्तर्यागरूपोपासनागम्यमिति। तदुक्तं तन्त्रराजे चतुर्थपटले—

स्थूलं समस्तया नाम्ना सूक्ष्मं मन्त्रतनुं तथा।
पररूपं त्वर्पणेन विदितं पूजनं शिवे।। इति।

व्यक्तमाह त्रिपुरोपनिषद्भाष्ये तत्रभवता भास्कररायेण—'देवतायाश्च त्रीणि रूपाणि स्थूलं सूक्ष्मं परञ्चेति। तत्रायं तत्तद्ध्यानश्लोकोक्तम्, द्वितीयं तत्तन्मूलमन्त्रात्मकम्, तृतीयन्तूपासनात्मकम्। देवतायास्त्रैविध्यादुपास्तिरपि त्रिविधा बहिर्यागजपान्तर्यागभेदादिति'। एवञ्च स्थूलत्व इत्यादिग्रन्थस्यायमर्थः। उपासनायाः स्थूलत्वे ध्यानप्रतिपादितमूर्त्तिपूजायामित्यर्थः, सा देवता स्थूलरूपा, सूक्ष्मत्वे मन्त्रजपरूपाणां सूक्ष्मोपासनायां सा सूक्ष्मरूपा, अन्तर्यागरूपोपासनायान्तु स्थूलसूक्ष्मविभेदेन प्रोक्तस्थूलसूक्ष्मभेदराहित्येन सा देवता परंब्रह्मस्वरूपिणीत्यर्थः।

भगवती पञ्चमी स्थूल से भी स्थूल तथा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हैं। स्थूल-सूक्ष्म भेद से रहित वे परंब्रह्मस्वरूपिणी हैं।।११।।

विमर्श—उपासना की दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो उनके स्थूल, सूक्ष्म और परा—ये तीन रूप हैं। मूर्ति आदि उनके स्थूल रूप का विग्रह हैं, मन्त्र तथा मन्त्र-जप सूक्ष्म रूप है तथा अन्तर्यागरूप परोपासना में उनका स्थूल एवं सूक्ष्मरहित परा रूप है।

[शिवादभिन्नेयं शक्तिः]

योऽसौ विश्वेश्वरो देवो विश्वं व्याप्य व्यवस्थितः।
सैव विश्वेश्वरी देवी व्यापकत्वेन संस्थिता।।१२।।
सा एव पञ्चमी विद्या पञ्चकूटात्मिका परा।

अपने सर्वव्यापक विभुस्वरूप में जो विश्वेश्वर शिव पूरे जगत् में व्याप्त हैं, उन्हीं शिव की जो अभिन्न विश्वेश्वरी शक्ति शिव के अनुरूप ही व्यापक होकर पूरे जगत् में व्याप्त है, वही पञ्चकूटात्मिका परा विद्या है।।१२।।

[निरुक्तपञ्चमीप्रसादादेव शिवादीनामीश्वरत्वादि]

शम्भुना चिन्त्यते सा तु तत्प्रसादाच्छिवो विभुः।।१३।।
जगतामीश्वरत्वञ्च लब्धं तदनुकम्पया।
ब्रह्मत्वं ब्रह्मणा प्राप्तं विष्णुत्वं विष्णुना स्वयम्।।१४।।
सुरासुरमुनीन्द्राणां महत्त्वं तत्प्रसादतः।।१५।।

इन्हीं भगवती पञ्चमी का चिन्तन (ध्यान और उपासना) करके उनकी ही अनुकम्पा से शम्भु को संसार की ईश्वरता और व्यापकता प्राप्त हुई। दूसरे शब्दों में भगवान् शिव की ईश्वरता एवं व्यापकता भगवती पञ्चमी का कृपाप्रसाद है। उनकी ही कृपा से ब्रह्मा को ब्रह्मत्व और विष्णु को विष्णुता की प्राप्ति हुई। अन्य देवताओं तथा मुनियों को जो महत्ता मिली है, वह उनका ही कृपाप्रसाद है।

विमर्श—'ब्रह्मत्व' का अर्थ है—ब्रह्माण्ड की रचना करने की शक्ति तथा 'विष्णुता' का अर्थ है—संसार का पालन करने तथा उसका संरक्षण करने की शक्ति।

[एतदुपासनयैव विश्वामित्रस्य सृष्ट्यादिकर्तृत्वम्]

विश्वामित्रे पुरा प्रोक्ता शिवेन दुर्लभा परा।
सोऽपि चाभूत् स्वयं कर्ता शिवतुल्यो महामुनिः।।१६।।
सृष्टिसंहारकारी च प्रभुरेकोऽभवत् स्वयम्।

प्राचीन काल में भगवान् शिव ने महामुनि विश्वामित्र को पञ्चमी विद्या का उपदेश दिया था। भगवती पञ्चमी की आराधना करके महर्षि विश्वामित्र भी शिव के समान संसार की रचना तथा संहार करने में समर्थ तथा प्रभु हो गये।।१६।।

विमर्श—पुराणों में कथा है कि राजा नहुष को उनके अनुरोध पर महर्षि विश्वामित्र ने सशरीर स्वर्ग भेज दिया था। देवताओं ने नहुष को स्वर्ग में प्रवेश नहीं करने दिया। राजा नहुष चीत्कार करते हुए पृथ्वी की ओर गिरने लगे। यह देखकर महर्षि विश्वामित्र ने राजा नहुष को अन्तरिक्ष में ही स्तम्भित करके नई सृष्टि की रचना प्रारम्भ कर दी। उन्होंने इस उपक्रम में अनेक प्राणी बनाये। महर्षि विश्वामित्र को समानान्तर सृष्टि-रचना में प्रवृत्त देखकर ब्रह्माण्ड में हाहाकार मच गया। बहुत मुश्किल से महर्षि विश्वामित्र को नये संसार की रचना से विरत किया गया था। यहाँ इसी पुराणप्रसिद्ध कथा का संकेत है।

[अस्या ब्रह्मविद्यास्वरूपत्वम्]

अतिगुह्यतमा विद्या ब्रह्मविद्यैव केवला।।१७।।

पञ्चमी विद्या परिशुद्धतम एवं एकमात्र ब्रह्मविद्या है। पञ्चमी विद्या की साधना से ब्रह्म के परिशुद्धतम रूप का ज्ञान और ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। अतएव पञ्चमी विद्या सर्वाधिक गुह्य है तथा इसके स्वरूप को गुप्त ही रखना चाहिये। प्रकट करने से इसकी महत्ता घट जाती है। तन्त्र का कथन भी है—'प्रकटा तु भ्रष्टा।'

[एतद्विद्योपासनाधिकारिनिर्णयः]

सर्वदानन्दहृदयोऽद्वैतानन्दपरायणः।
गुरुभक्तो जिताक्षश्च पञ्चमीं समुपासयेत्।।१८।।

परं ब्रह्म का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कराने वाली; अतएव अत्यन्त गुह्यतम पञ्चमी विद्या की साधना करने का अधिकार केवल उन व्यक्तियों को है, जिनके हृदय से द्वैत भाव का निरसन हो चुका है तथा जो हर समय अद्वैत-आनन्द में निमग्न रहते हैं। जिन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया है तथा गुरुदेव के प्रति जिनके हृदय में अतिशय श्रद्धा और भक्ति है—इतनी श्रद्धा, इतनी भक्ति कि वे पूर्णतः गुरुचरणों में लीन हो चुके हैं॥१८॥

विमर्श—तन्त्रान्तर में कहा गया है कि जिसका हृदय पानी में नमक के समान गुरुचरणों में लीन हो गया है, ऐसे ही शिष्य को विद्या (षोडशी) की दीक्षा और साधना का अधिकार है।

[पञ्चमीविद्यायाः प्रकर्षः]

सर्वतीर्थमयी विद्या सर्वमन्त्रमयी परा।
सर्वदेवमयी शुद्धा सर्वशक्तिमयी शुभा॥१९॥

यह पञ्चमी विद्या सर्वतीर्थमयी, सर्वमन्त्रमयी, सर्वदेवमयी, सर्वशक्तिमयी तथा शुभा अर्थात् कल्याणकारिणी है॥१९॥

विमर्श—'तरति पापादिकं यस्मात्' इति तीर्थम्। ऐसे पुण्यस्थान जहाँ की यात्रा करने और स्नान आदि करने से मनुष्य पापमुक्त हो जाता है—तीर्थ है। तीर्थों को यह क्षमता भगवती पञ्चमी का कृपाप्रसाद है तथा वे इन तीर्थस्थानों में प्रकृष्ट रूप से वास करती हैं। अलग-अलग मन्त्रों की साधना करने से जो फल मिलता है, वे सभी फल इनकी साधना से मिल जाते हैं; अतः वे सभी (सर्व) मन्त्रमयी हैं। इसके पूर्व ६ और ७वें श्लोक में बताया ही जा चुका है कि वे सर्व पञ्चशक्तिमयी और पञ्चदेवमयी हैं।

[पञ्चमीविद्याविदः प्रकर्षः]

पृथिव्यां मानवः श्रेष्ठो यदि जानाति पञ्चमीम्॥२०॥
यो जानाति महाविद्यां पञ्चकूटात्मिकां पराम्।
स भवेत् खेचरो नित्यमभ्यासान्नात्र संशयः॥२१॥
सदाम्नायविशुद्धात्मा योगी भोगपरायणः।
सर्वथा लभते मुक्तिं यदि जानाति पञ्चमीम्॥
स पूज्यः सर्वलोकेषु स देवो न तु मानुषः॥२२॥

जिस मनुष्य को पञ्चमी विद्या का ज्ञान है, वही पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ मनुष्य है। पञ्चकूटात्मिका परा विद्या पञ्चमी की आराधना करके मनुष्य 'खेचर' अर्थात् आकाशगामी हो जाता है। संसार के समस्त भोग उसके समक्ष प्रस्तुत रहते हैं। सभी आम्नायों (विद्याओं) का ज्ञाता वह विशुद्ध आत्मा साधक सहज रूप से ही मुक्ति

प्राप्त कर लेता है। पञ्चमी की साधना के फलस्वरूप वह साधारण मनुष्य नहीं; अपितु सभी लोकों में देवता की तरह पूज्य हो जाता है॥२०-२२॥

समयाचारसम्पन्नो भूतशुद्धिं विचिन्तयेत्।
कल्पनाशुद्धभावेन सर्वसिद्धिं लभेत्तु सः॥२३॥
सदानन्दमयो भूत्वा पञ्चमीं यो विचिन्तयेत्।
पञ्चतत्त्वपरिज्ञानादमरत्वं लभेन्नरः।
कारणानन्दरूपेण पञ्चमीं समुपासयेत्॥२४॥

समयाचार-सम्पन्न जो साधक भूतशुद्धि का चिन्तन करके शुद्ध भाव से साधना करता है, उसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। सांसारिक शोक-विषाद से मुक्त जो साधक प्रहृष्ट मन और पुलकित चित्त से भगवती पञ्चमी के पञ्चशक्तिमय एवं पञ्चदेवात्मक तत्त्वरूप का चिन्तन करता है, उसे पञ्चतत्त्वों के परिज्ञान के कारण अमरता प्राप्त हो जाती है। अतः कारणानन्दरूप से भगवती पञ्चमी की उपासना करनी चाहिए। कारणानन्द अर्थात् ब्रह्मानन्द। तात्पर्य यह कि ब्रह्मानन्द से भाव-विभोर होकर इनकी उपासना की जानी चाहिए। कुलाचार में विभिन्न मन्त्रों से शोधित और संस्कृत 'मद्य' को आनन्द का अभिव्यञ्जक मानकर उसे 'कारण' कहते हैं। अतः 'कारणानन्दरूपेण' का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि आत्मा में परिव्याप्त ब्रह्मानन्द के अभिव्यञ्जक 'कारण' सहित पञ्चमी-पूजन करना चाहिए॥२३-२४॥

विमर्श—'समयाचार' श्रीविद्या-साधना की एक विशिष्ट परिपाटी (School) है, जिसके अपने आचार-विचार हैं। समयमत के साधक को दृढ़तापूर्वक इन आचारों का पालन करना चाहिए। 'भूतशुद्धि' तन्त्रोपदिष्ट साधन-विधान की एक ऐसी प्रक्रिया है, जो प्राणायाम की विधि पर आधारित है; जिसमें राजयोग भी है, लययोग भी है और षट्चक्र-चिन्तन-सहित कुण्डलिनी-जागरण की क्रिया भी है। भूतशुद्धि-विज्ञान का निरूपण करने के लिये पृथक् से 'भूतशुद्धि' तन्त्र है।

'श्रीतत्त्वचिन्तामणि' की एक अन्य पाण्डुलिपि में 'कल्पनाशुद्धभावेन' के स्थान पर 'कल्पमाशुद्धभावेन' पाठ मिलता है। 'कल्प' अर्थात् अपने गुरुमण्डल की विशिष्ट पूजन-पद्धति के प्रति पूर्णतः शुद्ध भाव रखते हुए।

[पञ्चतत्त्वस्य ब्रह्मादिरूपत्वम्]

पञ्चतत्त्वात्मकं पञ्च ब्रह्माद्याः पञ्च देवताः।
तथैव शक्तयः पञ्च पञ्चतत्त्वेन पञ्चमी।
पञ्चकूटप्रकारेण त्रिकूटा वाग्भवादितः॥२५॥

पृथ्वी आदि पाँच तत्त्व हैं, ब्रह्मा आदि पाँच देवता हैं तथा कामेश्वरी आदि पाँच शक्तियाँ हैं; इनका निरूपण पिछले श्लोकों में किया जा चुका है। इसी तरह वाग्भव से प्रारम्भ होने वाली त्रिकूटा पञ्चमी पाँच कूटों वाली हैं॥२५॥

विमर्श—त्रिकूटा पञ्चमी के पाँच कूट कैसे बनते हैं, इसका निरूपण आगे किया जायगा? सर्वप्रथम 'पञ्चमी' के वाग्भव कूट का उद्धार बताया जा रहा है।

[अथ पञ्चमी, तत्र वाग्भवकूटम्]

स्मरो योनिर्माया क्षितिरथ कलालाञ्छितशिरो-
महादेवी वह्निर्विरचिततनुः शून्यघटितः।
इदं गुह्यं बीजं सकलकविताकारणपरं
नरो लक्षं जप्त्वा सुरगुरुसमानः स भवति।।२६।।
एतद् वाग्भवबीजमेवमुदितं—

तत्र प्रथमं पञ्चमी त्रिपुरा श्रीः स्यादिति योगिनीहृदयद्वितीयपटलोक्तायाः पञ्चम्याः श्रीविद्यायाः कूटपञ्चकघटितपञ्चविंशत्यक्षरमन्त्रमभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटं निर्वक्ति—**स्मर इत्यादिना**। स्मरः ककारः, योनिरेकारः माया ईकारः, क्षितिर्लकारः एतेन क ए ई ल इति प्राप्तम् । **अथेति**। एतद्बीजचतुष्टयानन्तरमित्यर्थः। कलया ईकारेण लाञ्छितं शिरो यस्य तथाभूतो महादेवो हकारः, वह्नी रकारः, तथा शून्यघटितः शून्येन बिन्दुना घटितः युक्त इत्यर्थः। **विरचिततनुरिति**। एभिरीकार-हकाररकारबिन्दुभिर्विरचिता तनुर्यस्य तथाभूतः। एतेन ह्रीं इति लब्धम्। एवञ्च क ए ई ल ह्रीं इति प्रथमं वाग्भवकूटमिति फलितम्। व्यक्तमाह तन्त्रसारे—

कामं विष्णुयुतं देवि शक्तिर्मायेन्द्र एव च।
महामाया ततः पश्चात् वाग्भवं बीजमुद्धरेत्।। इति।

स्पष्टमन्यत्।

एवं वाग्भवकूटमभिधाय कूटत्रयात्मकं कामराजं वक्तुमुपक्रमते—एतदि-त्यादिना। एतदिति पूर्ववचनेन वाग्भवकूटमुदितमिति सम्बन्धः।

मन्त्रोद्धार—स्मर अर्थात् कामदेव (क), योनि (ए), माया (ई), क्षिति (ल)। इस तरह 'क ए ई ल' ये चार वर्ण। इनके बाद कला-लाञ्छित शिरोशून्यघटितः वह्निविरचिततनुः महादेवः। कलालांछित अर्थात् 'ई'कारयुक्त महादेव (ह), वह्नि अर्थात् 'र'कार। शून्यघटित अर्थात् बिन्दुयुक्त। बिन्दुयुक्त 'र'कार और 'ई'कार से युक्त 'ह'कार (महादेव) अर्थात् 'ह्रीं'। इस तरह कूट (मन्त्र) निष्पन्न हुआ—'क ए ई ल ह्रीं'।

यह वाग्भव बीज है, जो कविता का अर्थात् ज्ञान-विज्ञान की अभिव्यक्ति का कारण है। यह ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान का अभिव्यक्त स्वरूप भी है। इस वाग्भव बीज का एक लाख जप करके मनुष्य देवगुरु बृहस्पति के समान हो जाता है।

विमर्श—ज्ञानार्णव तन्त्र के १९वें पटल (श्लोकसंख्या ५ से श्लोकसंख्या १३ तक) में वाग्भव बीज की साधना-विधि बताई गई है। 'वक्ष्यामिशेष परं' का अर्थ है—'कामराज' के तीन कूट।

[कामराजकूटत्रयम्]

—वक्ष्यामि शेषं परं
शम्भुः सोमरवी मही भगवतीबीजं क्रमेणोच्चरेत्।
कन्दर्पारिरवीशशक्रमुदितं बीजं भवान्याः परं
कामं शम्भुसमीरणेन्द्रगिरिजाबीजं क्रमेणोच्चरेत्।।२७।।

शेषमिति। कामराजकूटं वक्ष्यामीत्यर्थः। तत्र कामराजस्य कूटत्रयघटितस्य प्रथमं कूटं निर्वक्ति—**शम्भुरित्यादिना।** शम्भुर्हकारः, सोमः (चन्द्रबीजं) सकारः, रविः ककारः, मही (पृथ्वीबीजम्) लकारः, भगवती (मायाबीजम्) ह्रीम्। एवञ्च ह स क ल ह्रीमिति कामराजस्य प्रथमं कूटम् । व्यक्तमाह तन्त्रसारे—

वियच्चन्द्रस्ततः पश्चात् क-लौ नकुलि वह्नि च।
मायास्वरेण संयुक्तं नादबिन्दुकलान्वितम्।
प्रथमं कामराजस्य कूटं परमदुर्लभम्।। इति।

द्वितीयं कूटमाह—**कन्दर्पेति।** कन्दर्पारिः (शिवः) हकारः, रवि; ककारः, ईशो हकारः, शक्रो लकारः, परमिति अतः परं भवान्या बीजं ह्रीमिति। एवञ्च ह क ह ल ह्रीमिति द्वितीयं कूटमिति फलितम्। व्यक्तमाह तन्त्रसारे—

वियद्विष्णुयुतं कामो हंसः शक्रस्ततः परम्।
महामाया ततः पश्चात् स्वप्नावतीति कथ्यते।। इति।

इदं कामराजद्वितीयकूटमेव स्वप्नावती विद्येत्येतदपि तन्त्रसारवचनादस्मादवगन्तव्यम्। स्वयमप्यग्रे वक्ष्यते।

तृतीयं कूटमाह—**काम इत्यादिना।** कामः ककारः, शम्भुः हकारः, समीरणो यकारः, इन्द्रो लकारः, गिरिजाबीजं ह्रीम् । एवञ्च क ह य ल ह्रीमिति तृतीयं कूटमिति फलितम् । व्यक्तमाह तन्त्रसारे—

मादनं शिवबीजञ्च वायुबीजं ततः परम्।
इन्द्रबीजं ततः पश्चान्महामायां समुद्धरेत्।। इति।

इदं तृतीयं कामराजकूटमेव मधुमती विद्येति अग्रे वक्ष्यते।

'कामराज' के तीन कूट हैं। इन तीन कूटों का स्वरूप यथाक्रम बताया जा रहा है—

प्रथम कूट—शम्भु (ह), सोम (स), रवि (क), मही (ल) और भगवती बीज—'ह्रीं'। इनके योग से प्रथम कूट निष्पन्न हुआ—'ह स क ल ह्रीं'।

द्वितीय कूट—कन्दर्पारि (शिव अर्थात् 'ह'कार) रवि-'क'कार, ईश अर्थात् शिव-'ह'कार, शक्र (इन्द्र) अर्थात् 'ल'कार। भवानी बीज-'ह्रीं'। द्वितीय भेद निष्पन्न हुआ—'ह क ह ल ह्रीं'।

तृतीय भेद—काम (क), शम्भु (ह), समीरण (य), इन्द्र (ल) तथा गिरिजा बीज-'ह्रीं'। इस तरह तृतीय भेद निष्पन्न हुआ—'क ह य ल ह्रीं'।

[एतत्कूटत्रयजपफलम्]

एतद्बीजवरं त्रिकूटघटितं श्रीकामराजाभिधं
जप्त्वा देवमुनीन्द्रवृन्दसकलो लोकत्रये राजते।

एतत्कूटत्रयघटितकामराजजपफलमाह—एतदित्यादि।

इस तरह कामराज के तीन कूट हैं—

(१) ह स क ल ह्रीं।

(२) ह क ह ल ह्रीं।

(३) क ह य ल ह्रीं।

इनमें से द्वितीय कूट (ह क ह ल ह्रीं) को स्वप्नावती तथा तृतीय कूट (क ह य ल ह्रीं) को मधुमती विद्या कहा जाता है; जिनका निरूपण आगे किया जायगा।

इस तरह पञ्चमी विद्या के एक वाग्भव बीज तथा कामराज बीज के तीन कूट को मिलाकर चार कूट बने—

क ए ई ल ह्रीं, ह स क ल ह्रीं, ह क ह ल ह्रीं, क ह य ल ह्रीं।

अब पञ्चमी विद्या के पञ्चम शक्तिकूट का उद्धार बताया जा रहा है—

[शक्तिकूटम्]

वक्ष्येऽन्यत् परमं समस्तजगतामेकाधिपं कामदं
शम्भुं मन्मथ शक्रसोमसहितं देवीं क्रमेणोद्धरेत्।।२८।।

एवं कूटचतुष्टयमभिधाय पञ्चमं शक्तिकूटमाह—वक्ष्येऽन्यदित्यादिना। शम्भुः हकारः, मन्मथः ककारः, शक्रो लकारः, सोमः (चन्द्रबीजं) सकारः, देवी (माया–बीजं) ह्रीम् । एवञ्च ह क ल स ह्रीमिति पञ्चमं कूटमिति। व्यक्तमाह तन्त्रसारे—

शिवबीजं ततः काममिन्द्रं देवीं नियोजयेत्।
महामायां ततः पश्चाच्छक्तिकूटं समुद्धरेत्।। इति।

अत्रेदमवधेयम्—पञ्चविंशत्यक्षरात्मकोऽयं मन्त्रः पञ्चकूटात्मकः। अत्र कूटशब्दः समूहार्थकः वैशेषिकादीनां कारणकूटादिशब्दवत्। तथा च प्रथमं निरुक्त–पञ्चाक्षरात्मकं वाग्भवकूटम्, द्वितीयं निरुक्तपञ्चदशाक्षरात्मकं कामराजकूटम्, तृतीयं निरुक्तपञ्चाक्षरात्मकं शक्तिकूटमिति समष्ट्या चैतेषां मन्त्रोऽयं पञ्चविंशत्यक्षरो भवति। तदुक्तं तन्त्रसारधृतकुलोड्डीशे गन्धर्वतन्त्रे तृतीयपटले च—

वाग्भवं प्रथमं कूटं शक्तिकूटञ्च पञ्चमम्।
मध्यकूटत्रयं देवि कामराजं मनोहरम्।। इति।

साधकानां सुखबोधाय रेखापातेन कूटानामेतेषां संस्थानं प्रदर्श्यते—

[पञ्चविंशत्यक्षरी प्रथमा पञ्चमी]

वाग्भव-कूटम्	कामराज-कूटम्			शक्ति-कूटम्
१	२	३	४	६
क	ह	ह	क	ह
ए	स	क	ह	क
ई	क	ह	य	ल
ल	ल	ल	ल	स
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं
		स्वप्नावती	मधुमती	

शक्तिकूट—शम्भु (ह), मन्मथ (क), शक्र (ल), सोम (स) एवं देवी (ह्रीं) से पञ्चम शक्तिकूट बना—'ह क ल स ह्रीं'॥२८॥

[अस्याः प्रकर्षः]

एषा श्रीत्रिपुरा परा हितकरी विद्यार्थसिद्धोदया
रक्ते मानसपङ्कजे विशतु मे कामासनाधिष्ठिते।
ब्रह्मानन्तपुरारिमौलिमुकुटप्रोद्दाममुक्तावली-
राजश्रीचरणारविन्दयुगला पूर्णेन्दुशुब्धानना।।२९।।
विद्याचूडामणिः प्रोक्ता सर्वपक्षेषु दुर्लभा।
पञ्चकूटात्मिका विद्या पञ्चपञ्चाक्षरी भवेत्।।३०।।

ब्रह्मा-अनन्त-पुरारि आदि देवताओं के मुकुट में खचित मणियों की किरणों से जिनके चरणकमल देदीप्यमान हैं तथा जिनका मुखमण्डल पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह धवल है, जिन्हें सभी विद्याओं की चूड़ामणि कहा जाता है और जो सभी के लिये पूर्णतः सुलभ नहीं हैं, जो विद्यार्थसिद्धोदया हैं, वे मेरे हृदय के लाल कमल के कामासन पर प्रतिष्ठित हों। पाँच कूटों वाली पञ्चमी विद्या प्रत्येक कूट में पाँच-पाँच अक्षर होने के कारण पञ्चपञ्चाक्षरी अर्थात् पच्चीस अक्षरों वाली हैं॥२९-३०॥

[कामराजकूटे विशेषः]

कूटभेदेन वक्ष्यामि कामराजं सुदुर्लभम्।
ज्ञात्वा यत् साधयेन्नित्यमसाध्यमपि भूतले।।३१।।
सौभाग्यं प्रथमं कूटं महामाङ्गल्यदायकम् ।
त्रिकूटं पदरूपेण कामराजं महत्पदम् ।
एवं कूटत्रयेणापि विद्या सौभाग्यरूपिणी।।३२।।

एषा तु पञ्चकूटेन नित्यं कूटत्रये स्थिता।
दुर्लभा सर्वलोकेषु सर्वसौभाग्यसुन्दरी।।३३।।

पूर्वं यत् कामराजकूटत्रयमुक्तं तत्र प्रकारान्तरमाह—सौभाग्यमित्यादिना। सौभाग्याया इदं सौभाग्यं शाक्तलोपामुद्राया वक्ष्यमाणायाः प्रथमं कूटमित्यर्थः। रेखान्यासेनायं मन्त्रः प्रदर्श्यते; एतेन ह स क ल ह्रीमिति कामराजस्य प्रथमं कूटम्। **त्रिकूटमिति**। अत्र त्रिशब्दस्तृतीयार्थकः। तथाच वाग्भवकूटमपेक्ष्य तृतीयकूटपदरूपेण महत्पदं कामराजं प्रयुञ्जीतेत्यर्थः।

महत्पद-मित्यनेन कूटस्यास्य षडक्षरत्वं सूचितम्। तेन ह स क ह ल ह्रीमिति तृतीयकूटम्। एवञ्चास्य षडक्षरघटितत्वात् पञ्चमं शक्तिकूटं कामराजविद्यावत् स क ल ह्रीमिति चतुरक्षरम्। प्रथम कूटं चतुर्थकूटञ्च पूर्ववत्। इत्यपरो भेदः।

[प्रकारान्तरम्]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्			शक्तिकूटम्
क ए ई ल ह्रीं	ह स क ल ह्रीं	ह स क ह ल ह्रीं	क ह य ल ह्रीं	स क ल ह्रीं

पञ्चमी विद्या के कामराज कूट का एक अन्य दुर्लभ भेद बता रहा हूँ, जिसकी साधना करने से साधक को संसार में असाध्य वस्तु भी प्राप्त हो जाती है। इसका प्रथम कूट अत्यन्त कल्याणकारी है। त्रिकूट को पदरूप से महत् पद कामराज से युक्त करें। इस प्रकार यह सर्वसौभासुन्दरी त्रिकूटा विद्या पाँच कूटों वाली हो जाती है।।३१-३३।।

विमर्श—'त्रिकूटम्'—यहाँ 'त्रि' का अर्थ 'तीन' नहीं; अपितु 'तृतीय' है। वाग्भव कूट से गणना करने पर तीसरा कूट है—'ह क ह ल ह्रीं'। इस ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार श्री भुवन मोहन सांख्यतीर्थ ने 'महत् पदं कामराजं' का यह अर्थ निर्धारित किया है कि इस तृतीय कूट को षडक्षर बना दिया जाय अर्थात् इस मध्य कूट के स्थान पर कामराज-आराधिता विद्या के मध्यम कूट 'ह स क ह ल ह्रीं' की योजना की जाय। इस पञ्चाक्षरी कूट (ह क ह ल ह्रीं) को षडक्षरी (ह स क ह ल ह्रीं) करने से पञ्चपञ्चाक्षरी अर्थात् पच्चीस अक्षरों वाला मन्त्र २६ अक्षरों का हो जायगा। अतः इसे २५ अक्षरों वाला ही बनाये रखने के लिये इसके पञ्चाक्षरी शक्तिकूट (ह क ल स ह्रीं) के स्थान पर कामराज-आराधिता विद्या के चतुरक्षरी शक्तिकूट (स क ल ह्रीं) को ग्रहण करें। ऐसा करने से पच्चीस (२५) अक्षरों वाले मन्त्र का जो अपर स्वरूप बनेगा, उसे पिछले पृष्ठ पर दर्शाया गया है।

[कामराजमध्यमकूटजपफलम्]

एतस्या एव विद्याया मध्यकूटस्य मध्यमम्।
जप्त्वाऽऽनन्दमयो भूत्वा सर्वकाममुपालभेत्।।३४।।

एषा स्वप्नावतीनाम्नी विद्या त्रैलोक्यदुर्लभा।
आकर्षणकरी विद्या चित्ताह्लादनकारिणी।।३५।।

पूर्वोक्ता त्रिकूटा विद्या के मध्य कूट की मध्यवर्तिनी विद्या (ह क ह ल ह्रीं) का नाम स्वप्नावती विद्या है। तीनों लोकों में दुर्लभ एवं चित्त को आह्लादित कर देने वाली इस आकर्षणकारिणी विद्या का आनन्दपूर्वक जप करने से सभी कामनायें पूरी होती हैं।।३४-३५।।

[मधुमती]

स्वप्नावत्या अन्तकूटं मधुमतीति कथ्यते।
महाभोगकरी विद्या महासिद्धिप्रदायिनी।।३६।।
पञ्चकूटात्मिका विद्या पञ्चतत्त्वेन पञ्चमी।

स्वप्नावती विद्या के अन्त में अर्थात् बाद में उक्त कामराज कूट का जो तृतीय कूट (क ह य ल ह्रीं) है, उसे मधुमती विद्या कहते हैं।।३६।।

[निरुक्तपञ्चम्याराधनफलम्]

यस्या आराधनं कृत्वा किं न सिध्यति भूतले।।३७।।
प्रवेशः परकायस्य कामरूपधरो भवेत्।
अञ्जनं गुटिकादिश्च या या विद्या सुदुर्लभा।।३८।।
विदिता जायते तस्य साधकः खेचरो भवेत्।
अणिमासिद्धयः सन्ति वश्या भवन्ति देवताः।।३९।।
सिंहव्याघ्रादयो ये ये नागयक्षाः पतत्त्रिणः।
दूरादेव पलायन्ते दर्शनात् साधकस्य च।।४०।।

इन ९ श्लोकों में पञ्चमी विद्या की साधना से प्राप्त होने वाले ऐहिक एवं पारमार्थिक फलों का निरूपण किया गया है। पञ्चतत्त्वमयी पञ्चमी विद्या की साधना करने से संसार की सभी सिद्धियाँ स्वयमेव प्राप्त हो जाती हैं। परकाय-प्रवेश-सिद्धि, मनचाहा. रूप और आकार प्राप्त करने की सिद्धि, अञ्जन और गुटिका-सिद्धि, आकाश में विचरण करने की सिद्धि तथा अणिमा आदि दुर्लभ सिद्धियाँ इनकी साधना से साधक को स्वयमेव प्राप्त हो जाती हैं अर्थात् इन सिद्धियों को पाने के लिये साधक को अलग से कोई अन्य साधना नहीं करनी पड़ती। इनकी साधना से सभी देवता वशवर्ती हो जाते हैं। सिंह, व्याघ्र, नाग, यक्ष तथा अन्य हिंसक पशु-पक्षी भगवती पञ्चमी के साधक की छाया से भी दूर भाग जाते हैं।।३७-४०।।

शिवतुल्यो भवेन्मन्त्री नित्यं तदनुकम्पया।
जीवन्मुक्तः साधकेन्द्रः कर्ता हर्ता भवेद्दिवि।।४१।।
त्रैलोक्यदुर्लभा विद्या सर्वपक्षेषु पञ्चमी।
एकाक्षरेण कथितं ब्रह्मविद्यैव केवलम्।।४२।।

भगवती पञ्चमी की अनुकम्पा से उनका साधक भगवान् शिव के समान कर्ता-हर्ता और जीवन्मुक्त हो जाता है। यह पञ्चमी विद्या तीनों लोकों में दुर्लभा हैं। भगवती पञ्चमी वस्तुतः केवल ब्रह्मविद्या हैं। उनसे सीधे ब्रह्म की प्राप्ति होती है। पूर्ववर्ती श्लोकों में जिन सिद्धियों का उल्लेख है, उन्हें प्राप्त करने के लिये अन्य मन्त्रों के साधकों को अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता है, लेकिन ये सिद्धियाँ भगवती पञ्चमी के साधक के समक्ष विना बुलाये उपस्थित हो जाती हैं।।४१-४२।।

या शक्तिः सर्वभूतेषु जगच्चैतन्यरूपिणी।
सा देवी पञ्चमी विद्या सर्वाधारस्वरूपिणी।।४३।।
तस्या भेदाश्च बहवस्तेजांसि च गुणास्तथा।
नान्यत् परतरं किञ्चिद् विद्यते भुवनत्रये।।४४।।
पुंसां रूपं स्त्रिया रूपं यच्चान्यद्रूपमुच्यते।
सर्वं तत् परमं रूपं तस्या एव न संशयः।।४५।।

जो देवी पूरे संसार के प्राणिवर्ग में चेतना के रूप में प्रतिष्ठिता हैं, वे कोई अन्य नहीं; अपितु सर्वाधाररूपिणी भगवती पञ्चमी हैं। उनके बहुत से भेद हैं, बहुत से रूप हैं, बहुत से गुण हैं। इनके रूप और नामभेदों की संख्या नहीं बताई जा सकती। यथार्थ यह है कि तीनों लोकों में उनके अलावा कोई अन्य सत्ता है ही नहीं। स्त्री-पुरुष तथा इनसे भिन्न अन्य रूपों में वे ही संसार में क्रियाशील हैं। संसार में जो कुछ भी दृश्यमान है, वह सब निस्सन्देह उनका ही रूप है।।४३-४५।।

[कालविशेषेण जपे फलविशेषः]

महाभूतदिने नक्तं श्मशाने यदि साधकः।
सहस्रैकप्रमाणेन किं न सिध्यति भूतले।।४६।।
यो जपेत् पञ्चमीं विद्यां परां त्रैलोक्यदुर्लभाम्।
योगात्मा स भवेन्मुक्तो नानाभोगेन केवलम् ।।४७।।
अभ्यासादब्दमात्रेण सुसिद्धः साधको भवेत्।

अमावस की रात को श्मशान में पञ्चमी विद्या का एक हजार जप करके साधक कौन-सी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। केवल एक वर्ष तक पञ्चमी विद्या

की साधना करके साधक न केवल सांसारिक सुख-भोग; अपितु मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है।।४६-४७।।

[अस्या रहस्यत्वम्]

यस्मै कस्मै न दातव्या विद्या परमदुर्लभा।।४८।।

यह अत्यन्त दुर्लभ विद्या है, अतः जिस-तिस व्यक्ति को पञ्चमी विद्या की दीक्षा नहीं दी जानी चाहिए।।४८।।

[सच्छिष्याय प्रतिपाद्यत्वम्]

कुलीनाथ विशुद्धाय गुरुदेवपराय च।
दातव्या पञ्चमी विद्या पुत्राय प्राणदाय च।।४९।।

जो व्यक्ति कुलीन हो, विशुद्ध चित्त और आचरण वाला हो, गुरुदेव के प्रति पूर्णतः समर्पित हो, पुत्र के समान प्रिय हो, उसे ही पञ्चमी विद्या की दीक्षा देनी चाहिए।।४९।।

[मन्त्रान्तरं तत्र शक्तिकूटे विशेषः]

अथान्यत् सम्प्रवक्ष्यामि शक्तिकूटं महाशुभम्।
परमानन्दनिर्वाहं कुलोड्डीशे प्रकाशितम्।।५०।।
प्राणजीवं समुद्धृत्य कामबीजं समुद्धरेत्।
तदधः शक्रबीजन्तु योजयेद् भुवनेश्वरीम्।।५१।।

अथेदानीं कुलोड्डीशमतानुसारेण शक्तिबीजमाह—**अथान्यदिति**। प्रागुक्तायाः पञ्चकूटात्मिकायाः पञ्चमकूटं शक्तिकूटमिति पूर्वमुपदर्शितम्, इदानीं तस्यैव शक्तिकूटस्य प्रस्थानान्तरमनेन प्रदर्श्यते। एवञ्च शक्तिकूटस्य द्वैविध्येन मन्त्रस्यापि द्वैविध्यमवगन्तव्यम्। तमेव शक्तिकूटस्य भेदमाह—**प्राणेत्यादिना**। प्राणो हकारः, जीवः सकारः, कामबीजं ककारः, इन्द्रबीजं लकारः, भुवनेश्वरी ह्रीँ। एवञ्च ह स क ल ह्रीँ इति द्वितीयं शक्तिकूटम्।

पञ्चकूटात्मिका पञ्चमी विद्या का एक शक्तिकूट (ह क ल स ह्रीं) पहिले बताया जा चुका है। अब इसी शक्तिकूट का 'कुलोड्डीश-तन्त्र' के अनुसार दूसरा प्रकार बता रहे हैं। इसके अनुसार प्राण (ह), जीव (स), कामबीज (क) उसके बाद शक्र (इन्द्र) बीज अर्थात् 'ल' तथा अन्त में भुवनेश्वरी (ह्रीं) की योजना करने से दूसरा शक्तिकूट बनता है। इस शक्तिकूट का स्वरूप है—'ह स क ल ह्रीं'।।५०-५१।।

[अत्र वाग्भव-कामराजकूटव्यवस्था]

वाग्भवं पूर्वमुदितं कामराजं त्रयात्मकम् ।
एषा विद्या महाविद्या धर्मकामार्थमोक्षदा।।५२।।

[प्रकारान्तरम्]

अनेन द्वितीयशक्तिकूटेन मन्त्रस्य पञ्चकूटत्वसम्पादनपरिपाटीमाह—वाग्भव-मित्यादिना। तथा चात्रापि पूर्ववत् प्रथमं वाग्भवकूटम्, ततः कामराजकूटत्रयम्, ततो निरुक्तशक्तिकूटमिति पञ्चकूटात्मकत्वमस्य मन्त्रस्य सिद्धम्। तच्छक्तिकूटभेदभिन्नेयं द्वितीया पञ्चमी विद्येत्यवधेयम्। तदेतद्रेखापातेन प्रदर्श्यते—

अत्र वाग्भवकूटं कामराजकूटत्रयञ्च पूर्ववत्। शक्तिकूटं पूर्वतो भिन्नरूपम्, एवञ्च शक्तिकूटभेदेनैवास्याः पूर्वतो भेद इत्यवधेयम्।

वाग्भव-कूटम्	कामराजकूटम्			शक्ति-कूटम्
क ए ई ल ह्रीं	ह स क ल ह्रीं	ह क ह ल ह्रीं	क ह य ल ह्रीं	ह स क ल ह्रीं
		स्वप्नावती	मधुमती	

इसके पूर्व बताये गये वाग्भव कूट तथा त्रयात्मक कामराज कूट के बाद उपर्युक्त शक्तिकूट (ह स क ल ह्रीं) को रखने से पञ्चमी विद्या का दूसरा मन्त्र बनता है। यथा—

वाग्भट कूट	कामराज कूट			शक्तिकूट
क ए ई ल ह्रीं	ह स क ल ह्रीं	ह क ह ल ह्रीं	क ह य ल ह्रीं	ह स क ल ह्रीं
—	—	स्वप्नावती	मधुमती	—

[मतान्तरम्]

अपरञ्च प्रवक्ष्यामि कुलामृतमतं परम्।।५३।।

[तत्र कामराजकूटे विशेषः]

एतस्यामेव विद्यायां मधुमत्यास्तु मध्यमम्।
त्यक्त्वा समीरणं जीवं योजयेत् साधकोत्तमः।
एषा गुह्या परा ज्ञेया पुरुषार्थफलप्रदा।।५४।।

अन्यादृशीं पञ्चमीं कुलामृतानुसारेण निरूपयति—अपरञ्चेत्यादिना। एतस्यामिति। एतस्यां पञ्चकूटात्मिकायां विद्यायां मधुमत्याः कामराजतृतीयकूटस्येत्यर्थः, मध्यमं क ह य ल ह्रीमित्यक्षरपञ्चकानां मध्यभूतं समीरणं वायुबीजं यकारं त्यक्त्वा तत्र जीवं सकारं योजयेदित्यर्थः। तेन क ह स ल ह्रीमिति पर्यवस्यति। एवञ्च शक्तिकूटद्वैविध्येन द्विविधायाः पञ्चम्याः कामराजतृतीयकूटमध्यभूतयकारस्थाने सकारयोजनात् पुनर्द्वैविध्येन समष्ट्या चातुर्विध्यं सिद्धम् । यथा—

[प्रकारान्तरम्]

वाग्भव-कूटम्	कामराज-कूटम्			शक्ति-कूटम्
क ए ई ल ह्रीं	ह स क ल ह्रीं	ह क ह ल ह्रीं	क ह स ल ह्रीं	ह क ल ल ह्रीं

[प्रकारान्तरम्]

वाग्भव-कूटम्	कामराज-कूटम्			शक्ति-कूटम्
म ए ई ल ह्रीं	ह स क ल ह्रीं	ह क ह ल ह्रीं	क ह स ल ह्रीं	ह स क ल ह्रीं

मतान्तर—'कुलामृत' नामक तन्त्रग्रन्थ के अनुसार उपर्युक्त मन्त्र के कामराज कूट की मधुमती विद्या अर्थात् तृतीय कूट (क ह य ल ह्रीं) में समीर अर्थात् 'य'कार के स्थान पर जीव अर्थात् 'स'कार रखने से एक अन्य मन्त्ररूप प्राप्त होता है—क ए ई ल ह्रीं। ह स क ल ह्रीं। ह क ह ल ह्रीं। क ह स ल ह्रीं। ह स क ल ह्रीं।

[मन्त्रान्तरम्]

अथापरं शक्तिकूटं वक्ष्यामि सर्वदुर्लभम्।
सारात् सारतरं कूटं श्रीक्रमे तु प्रकाशितम्।।५५।।

[तत्र शक्तिकूटे विशेषः]

द्विजराजस्ततः प्राणो मादनं तदनन्तरम्।
इन्द्रबीजं शिवः पश्चान्मृगात्मा तदनन्तरम्।।५६।।
वामनेत्रेन्दुनादेन बिन्दुना परिमण्डितम्।

[वाग्भवकामराजकूटव्यवस्था]

वाग्भवं पूर्वमुदितं कामराजं त्रिकूटकम्।।५७।।

पञ्चकूटात्मकमन्त्रघटकं शक्तिकूटमन्यादृशं श्रीक्रमसंवादेनाह—**अथेति**।

द्विजराज इति। द्विजराजः सकारः, प्राणो हकारः, मादनं ककारः, इन्द्रवीजं लकारः, एतेन स ह क ल इत्यक्षरचतुष्टयं प्राप्तम्। पश्चात् शिवो हकारः, मृगात्मा रकारः वामनेत्रेण दीर्घेणेकारेण इन्दुनादेन अर्द्धचन्द्राकारेण तदुपरि स्थितेन विन्दुना च परिमण्डितः एतेन ह्रीमिति लब्धम्। एवञ्च कल्पेऽस्मिन् स ह क ल ह्रीमिति शक्तिकूटम्। तदुक्तं तन्त्रसारे—

'जीवप्राणौ महेशानि मादनं तदनन्तरम्।
इन्द्रबीजं ततः पश्चात् भुवनेशी तु पञ्चमम्।।
इति वा शक्तिकूट'मिति।

वाग्भवमिति। निरुक्तशक्तिकूटात् प्राक् पूर्ववद् वाग्भवकूटं कामराजकूटत्रयञ्च योजयेदित्यर्थः। एतदेव रेखापातेन प्रदर्श्यते।

[प्रकारान्तरम्]

वाग्भव-कूटम्	कामराजकूटम्			शक्ति-कूटम्
क ए ई ल ह्रीं	ह स क ल ह्रीं	ह क ह ल ह्रीं	क ह य ल ह्रीं	स ह क ल ह्रीँ

मन्त्रान्तर—'श्रीक्रम' नामक तन्त्रग्रन्थ के अनुसार पञ्चमी विद्या के शक्तिकूट का स्वरूप है—

द्विजराज अर्थात् चन्द्रमा ('स'कार), प्राण ('ह'कार), मादन ('क'कार), इन्द्रबीज ('ल'कार)। इन चार वर्णों के बाद मृगात्मा ('र'कार), वाम नेत्र (ई), इन्दु-नाद-बिन्दु (अर्धचन्द्राकार बिन्दु) से मण्डित शिव (ह) अर्थात् 'ह्रीं'। शक्तिकूट का स्वरूप हुआ—'स ह क ल ह्रीं'।

इस शक्तिकूट के आगे पूर्वोक्त वाग्भव एवं कामराज कूटत्रय रखने से 'श्रीक्रम' के अनुसार अन्य मन्त्र प्राप्त होता है। यथा—
'क ए ई ल ह्रीं। ह स क ल ह्रीं। ह क ह ल ह्रीं। क ह य ल ह्रीं। स ह क ल ह्रीं।।'

एवं श्रीपञ्चमी विद्या पञ्चपञ्चाक्षरी भवेत्।
सर्वेषां दुर्लभा विद्या महामोक्षप्रदायिनी।
अतियत्नेन गोप्तव्या मातृमैथुनवत् सदा।।५८।।

पञ्चम्या एतेष्वेवान्तर्गता अपरे भेदाः एकादशे शाक्तपञ्चमीविद्यानिरूपणावसरे स्फुटं प्रदर्शयिष्यन्ते।

इस प्रकार यह श्री पञ्चमी विद्या पञ्चपञ्चाक्षरी अर्थात् पच्चीस अक्षरों की होती है। महामोक्ष-प्रदायिनी इस दुर्लभ विद्या को मातृमैथुनवत् गुप्त रखना चाहिए।।५८।।

[एकाक्षरमन्त्रनिरूपणप्रतिज्ञा]

अथ वक्ष्यामि तां विद्यां तुर्यां त्रिपुरसुन्दरीम्।
प्रभुत्वं शम्भुना प्राप्तं यस्या ध्यानप्रसादतः।।५९।।

तुर्यां तुरीयचैतन्यस्वरूपाम्।

एकाक्षर मन्त्र—अब मैं तुरीय चैतन्यस्वरूपा भगवती त्रिपुरसुन्दरी का एकाक्षर मन्त्र बता रहा हूँ, जिसकी साधना करके भगवान् शिव ने प्रभुत्व प्राप्त किया।।५९।।

[एकाक्षरमन्त्रः]

कामेशीमादिहीनां तदनु परिगतं शान्तिदस्योर्द्ध्वषष्ठं
सूक्ष्मान्तान्तादियुक्तं शिरसि शशिकलाबिन्दुना लाञ्छितञ्च।
एतच्छ्रीमन्त्रराजं सकल-लिपिमयं गुह्यगुह्यातिगुह्यं
साक्षाद् ब्रह्मस्वरूपं हरिहरमुनिभिः सेवितं सर्वसारम्।।६०।।

अयं श्रीमत्त्रिपुरसुन्दर्या एकाक्षरमन्त्रमाह—कामेशीमिति। कामेशीं कामेशीति-पदमित्यर्थः 'आदिहीनाम् आकारादियावद्वर्णरहिताम् एतेन 'क्' इति प्राप्तम्।

शान्तिदस्येति। शान्तिदः शिवो हकार इत्यर्थः, तस्य ऊर्द्ध्वषष्ठं विलोमतः षष्ठवर्णं लकारं एतेन क्ल इति प्राप्तम्। ततश्च सूक्ष्मान्तान्तादियुक्तं सूक्ष्मं ह्रस्वेकारः, तस्यान्तो दीर्घेकारः तस्यान्त उकारस्तस्यादिर्दीर्घेकारस्तद्युक्तम् एवञ्च सूक्ष्मान्तान्तादियुक्तमित्यस्य दीर्घेकारयुक्तमित्यर्थः। एतेन 'क्ली' इति प्राप्तम्। शिरसि शिरःप्रदेशे शशिकलया अर्द्धचन्द्रेण बिन्दुना च लाञ्छिते बीजं लिखेदित्यर्थः। एतेन क्लीं इत्येकाक्षरो मन्त्र इति पर्यवस्यति।

[एकाक्षरो मन्त्रः]

क्लीं

इस एकाक्षरी मन्त्र का उद्धार बता रहे हैं—'आदिहीनां' अर्थात् जिसके साथ आकार आदि कोई वर्ण (स्वर) संयुक्त न हो, ऐसा कामेशी अर्थात् 'क'कार। अतः हलन्त वाला 'क्'कार। इसके बाद शान्तिदः अर्थात् 'ह'कार। इस 'ह'कार से विलोम क्रम से गणना करने पर जो छठा वर्ण है अर्थात् 'ल'कार। इस तरह दो वर्ण प्राप्त हुए 'क्' और 'ल्'। सूक्ष्म अर्थात् ह्रस्व 'इ' कार। 'इ'कार के बाद का वर्ण—'ई'कार। 'ई'कार के बाद का वर्ण 'उ'कार। 'उ'कार के पहिले का वर्ण—अर्थात् 'ई'। इसे 'क-ल्' से जोड़ा तो रूप हुआ—'क्ली'। यह 'क्ली' जो 'शशि-कला-बिन्दु' अर्थात् अर्धचन्द्र बिन्दु से लांछित है—अर्थात् 'क्लीँ'।

तुरीय चैतन्यस्वरूपा भगवती त्रिपुरसुन्दरी का यह एकाक्षर मन्त्र है, जो 'क'कार एवं 'लकार'-सहित सभी वर्णों से युक्त है। अत्यन्त गोपनीय है, साक्षाद् ब्रह्मस्वरूप है, सब मन्त्रों का सारस्वरूप तथा हरि-हर और मुनियों के द्वारा सेवित है॥६०॥

[अस्य प्रशस्तिरप्रकाश्यत्वञ्च]

सेयं श्रीब्रह्मविद्या त्रिभुवनजननी सर्वकर्मोदया या
सर्वेषां जीवभूता सकलगुणमयी देवदेवैकवन्द्या।
सर्वाम्नायैः प्रपूज्या सकलहितकरी सर्वमन्त्रैकसारा
गोप्या सर्वैः प्रयत्नादभिमतफलदा नैव वाच्या परस्मिन्॥६१॥
यस्मै कस्मै न वक्तव्यं मन्त्रराजं सुदुर्लभम्।
मातृमैथुनवन्नित्यं गोपयेत् साधकोत्तमः॥६२॥
अतिगुह्यतरं मन्त्रं सर्वशास्त्रेषु गोपितम्।

[अस्य प्रामाणिकतन्त्रसंवादित्वम्]

श्रीक्रमे च महातन्त्रे शिवेन परिकीर्त्तितम्॥६३॥

सर्वाम्नायैरिति। पूर्वादिसकलाम्नायैरित्यर्थः। अन्ये मन्त्रभेदा आम्नायभेदभिन्नाः। अयन्तु सर्वाम्नायप्रतिपादित इत्यस्य विशेष इति ध्येयम्। परस्मिन्निति परशिष्ये। परशिष्याय विद्येयं न वाच्येत्यर्थः।

यही एकाक्षरी मन्त्र वह श्रीब्रह्मविद्या है, जो समस्त शुभ कर्मों का फल एक साथ उदित होने पर प्राप्त होती है, जो तीनों लोकों की माता है, समस्त गुणों से

युक्त है, सभी प्राणियों की जीवस्वरूपा तथा सभी देवताओं के द्वारा एकमात्र वन्दनीया है। यह सभी आम्नायों में पूज्या है, सबका विशुद्ध रूप से कल्याण करने वाली तथा सभी सात करोड़ मन्त्रों की सारभूता है। सभी व्यक्तियों को इसकी गोपनीयता की रक्षा करनी चाहिए। जिस-तिस को यह मन्त्र नहीं बताना चाहिए। यह मन्त्र सभी शास्त्रों में अति गुह्यतर है। साधकों को चाहिए कि वे इसे मातृमैथुनवत् सर्वथा गुप्त रखें। इसकी प्रामाणिकता, सर्वश्रेष्ठता तथा सर्वथा गोपनीयता का निरूपण 'श्रीक्रम' नामक तन्त्रग्रन्थ में किया गया है॥६१-६३॥

विमर्श—'सर्वाम्नायैः प्रपूज्या'—भगवान् शिव के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर एवं ईशान (ऊर्ध्व)—ये पाँच मुख हैं। उन्होंने अपने इन पाँच मुखों से सात करोड़ मन्त्रों का उपदेश दिया है। जिस मन्त्र का उपदेश जिस दिशा वाले मुख से दिया गया है, वह मन्त्र उस आम्नाय का कहा जाता है। उस आम्नायक्रम के अनुसार ही उस मन्त्र की पूजा, उपासना और साधना होती है। यह एकाक्षरी मन्त्र ऐसा मन्त्र है, जिसकी पूजा सभी आम्नायों में होती है।

[एकाक्षर्याः स्वरूपम्]

सिद्धिदा निर्मला शान्ता त्रैलोक्यवशकारिणी।
केवला चित्कला नित्या नित्यानन्दस्वरूपिणी॥६४॥

यह एकाक्षरी विद्या सिद्धिदा अर्थात् सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्रदान करने वाली है। निर्मला अर्थात् सर्वथा दोषरहित है। इसमें कोई दोष नहीं है। सबके लिये हितकारिणी और ग्राह्य है। शान्ता है, शान्ति प्रदान करने वाली तथा तीनों लोकों को वशीभूत करने वाली है। वह 'केवला' है—द्वैत और द्वन्द्व से सर्वथा मुक्त है। नित्या हैं—शाश्वत और सनातन है। नित्यानन्दस्वरूपिणी है। नित्यप्रति वे सदैव अपने आनन्दस्वरूप में ही स्थित रहती हैं॥६४॥

[पुनरस्य सर्वथा रहस्यत्वाभिधानम्]

अप्रकाश्या महाविद्या गोपनीया प्रयत्नतः॥६५॥
विद्यया सह मर्त्तव्यो यदीच्छेदात्मनो हितम्।
वरं पुत्रं धनं राज्यं देयं नेयं कदाचन॥६६॥

नेयमिति। इयं विद्या कदाचन न देयेत्यर्थः।

यह महाविद्या सर्वथा अप्रकाश्या है अर्थात् किसी भी व्यक्ति को यह मन्त्र नहीं बताना चाहिए। यदि आपको अपने हितों की चिन्ता है और यदि आप इस विद्या के साथ मृत्यु का वरण करना चाहते हैं—अर्थात् यह चाहते हैं कि मृत्यु के बाद भी यह विद्या आपके साथ बनी रहे तो आप किसी को इस विद्या का प्रकाशन नहीं करें। पुत्र, धन और राज्य दिया जा सकता है; लेकिन यह विद्या नहीं दी जा सकती॥६५-६६॥

जब यह विद्या इतनी गुह्य और अप्रकाश्या है तो इसकी दीक्षा किस तरह दी जाय? इस जिज्ञासा का समाधान अगले श्लोक में किया गया है।

[अस्य मन्त्रस्य सच्छिष्याय प्रतिपादनं तत्क्रमश्च]

यदि जन्मसहस्रेण शिष्येण सेवितो गुरुः।
तदा ज्ञात्वा कुलीनाय शिष्याय प्राणदाय च।।६७।।
सिन्दूररजसा वापि कुङ्कुमेन विलेपिते।
लिखित्वा दर्शयेद् भूमौ न च कर्णे प्रकाशयेत् ।।६८।।
प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्यात् क्रुद्धा भवति सुन्दरी।

[एतन्मन्त्रप्रतिपादनानन्तरं गुरोः कर्त्तव्यम्]

ततः स्वात्मविशुद्ध्यर्थं लक्षमेकं जपेद् गुरुः।।६९।।

जो शिष्य उच्च कुल का हो, स्वयं भी उत्तम शील-स्वभाव का हो, शुद्ध आचरण हो तथा गुरुदेव के लिये प्राण उत्सर्ग करने के लिये भी तत्पर हो और जिसने अपने आचरण से यह सिद्ध कर दिया हो कि उसने पिछले हजारों जन्मों में उतनी ही निष्ठा से गुरु-सेवा की है, ऐसे शिष्य को भी इस मन्त्र की दीक्षा उच्चारणपूर्वक नहीं दी जाय। अच्छी तरह स्वच्छ और पवित्र की गई तथा गोमय से विलेपित भूमि पर इस मन्त्र को सिन्दूर अथवा कुङ्कुमचूर्ण से लिखकर उसे यह मन्त्र दिखा दिया जाय। शिष्य के कान में मन्त्र का उच्चारण नहीं करे; क्योंकि ऐसा करने से सिद्धि की हानि होती है तथा भगवती त्रिपुरसुन्दरी रुष्ट हो जाती हैं। इस विधि से भी दीक्षा देने के बाद दीक्षादाता गुरुदेव को अपनी आत्म-शुद्धि के लिये इस मन्त्र का एक लाख जप करना चाहिए।।६७-६९।।

[एतन्मन्त्रदीक्षितस्य विद्यान्तराराधनप्रतिषेधः]

अस्याऽऽराधनमाचर्य नान्यस्याऽऽराधनं चरेत्।
अन्यसंस्मरणाद्दुःखं योगिनीशापमालभेत्।।७०।।
अपमृत्युर्भवेत्तस्य मृते तु नरकं व्रजेत्।

जहाँ एक ओर इस एकाक्षरी मन्त्र की इतनी गरिमा और महिमा है, वहीं इसकी एक अन्य विशेषता भी है। इस मन्त्र की दीक्षा-प्राप्त साधक को किसी अन्य मन्त्र की साधना नहीं करनी चाहिए। न तो वह किसी अन्य मन्त्र का जप करेगा और न किसी अन्य देवता की पूजा करेगा। यदि वह ऐसा करता है तो योगनियाँ उसे शाप देती हैं। उनके शाप से उसकी अकालमृत्यु हो जाती है तथा वह मरने के बाद नरक में जाता है।।७०।।

[एतन्मन्त्राराधनफलम्]

किमधिकं परं साध्यमस्याः सर्वत्र यद् भवेत्।।७१।।

अस्याराधनमात्रेण सर्वसिद्धिं लभेद् यतः।
अनया सदृशं ज्ञानं सर्वतन्त्रेषु दुर्लभम्।।७२।।

जिसके आराधनमात्र से सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, जिसका ज्ञान सभी तन्त्रों में दुर्लभ है, ऐसे एकाक्षरी मन्त्र से श्रेष्ठ और परम साध्य क्या है? अर्थात् कोई नहीं।।७१-७२।।

[अस्याः कूटत्रयविभागः]

आद्यन्तु वाग्भवं बीजं द्वितीयं कामराजकम्।
तृतीयं शक्तिकूटं स्यात् त्र्यक्षरी त्रिपुरा परा।।७३।।
दुर्लभो मन्त्रराजस्तु प्रोक्तो बीजत्रयात्मकः।

[अस्या अनन्यसाधारण्यम्]

अनया सदृशी विद्या नास्ति लोकत्रये यतः।।७४।।

एकाक्षरस्याप्यस्य मन्त्रस्य त्रिकूटात्मकत्वमुपपादयति—**आद्यन्त्वित्यादिना।** तथा च, क् इति वाग्भवकूटम्, ल् इति कामराजकूटम्, ईँ इति शक्तिकूटमित्यनया रीत्या त्रिकूटत्वमस्य मन्त्रस्य सिद्धम्।

भगवती त्रिपुरा के सभी मन्त्रों में तीन कूट हैं। चूँकि यह मन्त्र एकाक्षरी है, इससे यह नहीं समझा जाय कि यह मन्त्र कूटरहित है। इसमें भी अन्य मन्त्रों के समान तीन कूट हैं। इस एकाक्षरी मन्त्र का प्रथम वर्ण अर्थात् 'क'कार वाग्भव कूट, द्वितीय वर्ण 'ल्'कार कामराज कूट तथा तीसरा वर्ण 'ई'कार शक्तिकूट है। इस तरह यह एकाक्षरी मन्त्र त्र्यक्षरी त्रिपुरा का त्रिकूटात्मक मन्त्र है। यह तीन बीजों वाला मन्त्रराज दुर्लभ है।।७३-७४।।

[अस्य मन्त्रस्य देवता, पञ्चदशाक्षरादिसर्वविद्यात्मकत्वञ्च]

अनन्तसुन्दरीनाम्नी भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी।
एषा पञ्चदशी देवी सौभाग्यैषा च पञ्चमी।।७५।।
एषा स्वप्नावती चैव एषा मधुमती तथा।
एषा तत्त्वपरा ज्ञेया सप्तविंशाक्षरी तथा।।७६।।

अनन्तेति। अस्य मन्त्रस्यानन्तसुन्दरी देवतेत्यर्थः। अस्या विद्यायाः सर्वविद्यात्मकत्वमाह—**एषा पञ्चदशीत्यादिना।**

इस एकाक्षरी मन्त्र की देवता भुक्ति-मुक्तिप्रदायिनी भगवती अनन्तसुन्दरी हैं। ये सर्व विद्यात्मकस्वरूपा हैं। ये ही पञ्चदशाक्षरी विद्या है, यही सौभाग्यसुन्दरी हैं, ये ही पञ्चमी हैं, ये ही स्वप्नावती हैं, ये ही मधुमती हैं तथा इन्हें भी सप्तविंशदक्षरी विद्या समझना चाहिए।।७५-७६।।

[मन्त्रार्थः]

सूर्याख्यः परमज्योतिर्मांसात्मा पाकशासनः।
कामकला तुरीया च शक्तिस्तु सार्द्धमातृका।।७७।।
नादे दीप्तिस्त्रयो देवा बिन्दुर्ब्रह्मस्वरूपधृक्।

एतन्मन्त्रार्थमाह—सूर्याख्य इति। सूर्याख्यः ककारः परमज्योतिःस्वरूपः। मांसात्मा लकारः पाकशासनो वह्निस्वरूपः कामकलेति सार्द्धमातृकातुरीयाशक्तिरीकारः कामकलास्वरूपेत्यर्थः।

सूर्य अर्थात् 'क'कार। मांसात्मा अर्थात् 'ल'कार। सार्धमातृका तुरीया शक्ति अर्थात् ईकार। इस एकाक्षरी मन्त्र का प्रथम वर्ण 'क'कार परम ज्योतिस्वरूप तथा द्वितीय वर्ण 'ल'कार अग्निस्वरूप है। सार्द्धमातृका तुरीय शक्ति 'ई'कार कामकलास्वरूप है। नाद में तीनों देवताओं की ज्योति है और बिन्दु ब्रह्मस्वरूप है।।७७।।

[अस्या महाविद्यास्वरूपत्वम्]

एकाक्षरेण कथिता ब्रह्मविद्यैव केवला।।७८।।
या शक्तिः सर्वभूतेषु जगच्चैतन्यकारिणी।
ज्योतीरूपेण सा देवी परंतेजःस्वरूपिणी।।७९।।
रक्तश्वेतहरिद्वर्णकृष्णनीलाभ्ररोचिषः।
वर्णानि विविधान्येव तस्या भेदानि तत्त्वतः।।८०।।
तस्या भेदान्यनेकानि तेजांसि च गुणानि च।।८१।।
स्थूलसूक्ष्माविभेदेन परंब्रह्मस्वरूपिणी।
सैव विश्वेश्वरी देवी स्वतः कैवल्यदायिनी।।८२।।

अत्र भेदानि गुणानि इति तु पुंलिङ्गप्रयोग आर्षः।

इस एक अक्षर (क्लीं) में सम्पूर्ण ब्रह्मविद्या अभिव्यक्त है। समस्त संसार की चेतना की कारणभूता जो शक्ति है, वह देवी परंज्योतिस्वरूपिणी है। उसकी ही ज्योति से यह ब्रह्माण्ड उद्भासित और प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि वह एक है; परन्तु उससे लाल, श्वेत, कृष्ण, हरित् (हरा) तथा नीले रंग की किरणें निःसृत होती हैं। उस तत्त्वरूप एक ही परंज्योति की किरणें की इस वर्ण (रंग)-विविधता के कारण ही संसार में वर्ण-भेद हैं। तरह-तरह के रंग हैं। उस दिव्य ज्योति के अनेकानेक गुण हैं। वह परंब्रह्मस्वरूपिणी है तथा स्थूल-सूक्ष्म आदि विभेद से उसके ही अनेक भेद हैं। वह समस्त विश्व की स्वामिनी और संचालिका है। वे स्वयं ही मुक्तिप्रदायिनी हैं।।७८-८२।।

[एतन्मन्त्राक्षररहितानां विद्यानां सिद्धिप्रतिबन्धकत्वम्]

या या विद्याः समुद्दिष्टा एतदक्षरवर्जिताः।
सामान्याः सिद्धिरहिता ज्ञातव्या देशिकोत्तमैः।।८३।।

इस महिमाशालिनी ब्रह्मविद्या के घटक अक्षरों से रहित जो अन्य विद्यायें हैं, वे अत्यन्त सामान्य विद्यायें हैं और इन सामान्य विद्याओं में सिद्धि प्रदान करने की कोई शक्ति नहीं है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि संसार में जितनी भी सिद्धिप्रदा विद्यायें हैं, उनके वर्णविग्रहों में इस ब्रह्मविद्या के घटक वर्ण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विद्यमान हैं॥८३॥

[अस्याः स्वरूपम्]

एवमेषा समुत्पन्ना महात्रिपुरसुन्दरी।।८४।।
अस्या देव्याश्च यद्रूपमुदयास्तविवर्जितम्।
तस्या रूपञ्च तज्ज्ञेयं जगद्व्याप्य विजृम्भते।।८५।।

इस तरह (इससे) भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का आविर्भाव हुआ। वस्तुतः भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का रूप उदय और अस्त से रहित है। उनके रूप का न तो कभी उदय होता है और न कभी वह अस्त होता है। उनके ही रूप से यह जगत् उद्भासित है, प्रकाशित है। उनके ही रूप से यह संसार प्रसार पा रहा है। उनका यह उदय-अस्तवर्जित रूप ही परम ज्ञेय है॥८४-८५॥

विमर्श—'ल'कार, 'ई'कार, नाद और बिन्दु से लक्षित कामेशी-बीज 'क'कार से निष्पन्न 'क्लीं' परब्रह्मस्वरूपिणी श्री ब्रह्मविद्या भगवती महात्रिपुरसुन्दरी का एकाक्षरी मन्त्र है। मन्त्र और देवता के मध्य परस्पर वाचक एवं वाच्य का सम्बन्ध होता है। देवता वाच्य है और मन्त्र उसका वाचक है और प्रत्येक मन्त्र वर्णमय होता है तथा प्रत्येक वर्ण के अपने विशिष्ट गुण एवं अर्थ हैं। प्रत्येक वर्ण की अपनी विशिष्ट विभूतियाँ हैं। अतः मन्त्र के प्रत्येक घटक वर्ण के अर्थ-संयोजन से जिस विभूतिसमुच्चय का प्रकटन होता है, वह मन्त्र के वाच्य देवता के सूक्ष्म स्वरूप का परिचायक होता है। इस कसौटी पर परखने पर 'क्लीं' से जिस अर्थच्छटा का प्रकाशन होता है, उससे यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त श्लोकों में इसका जो प्रकर्ष निरूपित किया गया है, उसमें कोई अर्थवाद नहीं है।

इस एकाक्षरी मन्त्र का प्रमुख घटक वर्ण है—'क'कार। कामधेनु तन्त्र (तृतीय पटल) के अनुसार यह 'क'काररूपी मातृका सभी वर्णों की मूल प्रकृति है। 'क'कार में ब्रह्मा-विष्णु एवं सदाशिव का वास है। इसकी वाम वीथिका ब्रह्मा, दक्षिण वीथिका विष्णु एवं अघोरेखा रुद्ररूपा है। इसके मध्य में जो शून्य है, वह सदाशिव है तथा इस शून्य के गर्भ में कैवल्यदायिनी काली का वास है। इसके ऊर्ध्व कोण में ब्रह्मशक्ति वामा, वामकोण में विष्णुशक्ति ज्येष्ठा तथा दक्षिणकोण में रुद्रशक्ति

रौद्री की स्थिति है। इनमें से वामा शक्ति इच्छाशक्ति है, ज्येष्ठा ज्ञानशक्ति तथा रौद्री क्रियाशक्ति है। यह शक्तित्रय का समुच्चय ही संसार की सृष्टि, स्थिति और संहार की हेतु है।

ज्ञानार्णव तन्त्र में कहा गया है—

ककारात्कामदा कामरूपिणी स्फुरदव्यया।
अर्धचन्द्रेण देवेशि! विश्वयोनिरितीरिता।। (१०-३६)

यह 'क'कार कामबीज है। कामेश्वरी भगवती महात्रिपुरसुन्दरी 'क्लीं'कारिणी हैं। कामरूपिणी और कामदा हैं। प्राणि-जगत् में जितनी भी अभिलाषाएँ और कामनाएँ हैं, वे कामेश्वरी के प्रभाववश हैं। वे नित्य स्फुरत् हैं, स्पन्दित हैं, उनकी स्फुरणा कभी समाप्त नहीं होती। कामरूपिणी के रूप में वे कामनाओं को स्फुरत् करती हैं तथा कामदारूप में इन कामनाओं को वे स्वयं ही पूरी करती हैं। संसार में जितना भी आकर्षण है, उसका उत्स यह कामबीज ही है।

कामबीज से उद्भूत यह आकर्षण शक्ति विश्व के प्रत्येक घटक पदार्थ में, प्रत्येक घटक पदार्थ के कण-कण में व्याप्त है। इसी आकर्षण शक्ति के प्रभाव से प्रत्येक पदार्थ के परमाणु परस्पर संश्लिष्ट होकर पदार्थों का निर्माण करते हैं। यदि यह आकर्षण शक्ति नहीं हो तो क्या होगा? परमाणुओं का दृढ़ जमाव नहीं होने पर पदार्थों की संरचना नहीं होगी और जब घटक तत्त्व ही नहीं होंगे तो संसार का निर्माण कैसे होगा? इस तरह इस संश्लिष्ट ब्रह्माण्ड की संघटना का कारक यह आकर्षण शक्ति है। इसीलिये कहा गया है कि भगवती त्रिपुरा ने विश्व को धारण कर रखा है—'त्वया एतत् धार्यते विश्वम्' (चण्डीस्तव)।

यहाँ प्रयुक्त 'विश्व' शब्द केवल पृथिवी लोक का नहीं; अपितु सौरमण्डल-रूप सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का वाचक है। इस आकर्षण शक्ति के प्रभाव से ही सूर्य आदि ग्रह, ध्रुव आदि तारे तथा अश्विनी आदि नक्षत्र-समुच्चय अपनी-अपनी कक्षा में स्थित और प्रतिष्ठित हैं। अपनी-अपनी परिधि में गतिमान हैं। यदि भगवती कामेश्वरी की आकर्षण शक्ति उन्हें बाँधकर नहीं रखे तथा यथानिर्धारित परिपथ पर यथानिर्धारित गति से उन्हें संचालित नहीं करे तो सूर्य-चन्द्र आदि ग्रह इस महाशून्य में आवारा बादलों की तरह भटकते हुए परस्पर टकराकर चूर-चूर हो जायँ।

इस आकर्षण शक्ति की महत्ता का सहज अनुमान पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से लगाया जा सकता है। यदि पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण न हो तो क्या होगा? मौका मिलते ही पहाड़ उड़ने लगेंगे। खेतों में बोये गये बीज हवा के झोंकों के साथ अन्तरिक्ष में उड़ जायँगे। तात्पर्य यह कि गुरुत्वाकर्षण के बिना इस धरा-धाम में न तो कोई जीवनक्रम होगा और न कोई जीवन की व्यवस्था होगी। फलतः जीवन भी नहीं होगा। पृथ्वी को यह गुरुत्वाकर्षण शक्ति इस 'क्लीं' बीज के द्वितीय घटक वर्ण 'ल'कार का अवदान है—'ल'कार जिससे पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है—

'ल'कारात् पृथिवी देवि! सशैलवनकानना।
पञ्चाशत् पीठसम्पन्ना सर्वतीर्थमयी परा।
सर्वगंगामयी सर्वक्षेत्रस्थानमयी प्रिये।।

ज्ञानार्णव (१०/३२-३३)

इससे यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि पृथ्वी पर स्थावर-जंगमरूप जो जीवन है, जो हलचल है, जो जीवन्तता है, वह सब कुछ 'क्लीं' के द्वितीय घटक वर्ण 'ल'कार का अवदान है।

यह जीवन्तता ही सृष्टि की स्थिति या पालन अवस्था है! संसार का पालन करके भगवती त्रिपुरा संसार की स्थिति अवस्था को बनाये रखती हैं। जब जीवन्तता-रूप यह स्थिति अवस्था समाप्त हो जाती है, प्रलय हो जाता है। भगवती की रौद्री शक्ति प्रलय अवस्था को प्रकट कर सम्पूर्ण संसार को बीजरूप में अपने गर्भ में समाहित कर लेती है। यथासमय यह बीजरूप संसार त्रिपुरागर्भ से पुन: आविर्भूत होता है। 'क्लीँ' में जो अर्धचन्द्र है, वही विश्वयोनि है, जिससे विश्वबीज कामिनी-गर्भ से नि:सृत होकर क्रमश: विकसित होकर स्थावर-जंगमरूप जीवन के रूप में परिणत होता है।

'क'कार और 'ल'कार को जिस वर्ण (स्वर) ने परस्पर बाँध रखा है, वह है—'ई'कार। यह 'ई'कार माया-स्वरूपा है—मायातत्त्व का वाचक है, जिससे यह प्रपञ्च उत्पन्न हुआ। साथ ही यह 'ई' महामायास्वरूपा भी है, जो भुवनेश्वरीरूप में चतुर्दश भुवनों का पालन करती है—

'ई'कारस्तु महामाया, भुवनानि चतुर्दश।
पालयन्ती परा तस्माच्छक्र ------------- ।।

(ज्ञानार्णव-१०/४२)

विश्व की पालिका और संरक्षिका इस महामाया ने संसारचक्र को गतिमान् बनाये रखने के लिये बड़े-से-बड़े ज्ञानियों-सहित सम्पूर्ण प्राणियों को जगदाकर्षण से बाँध रखा है। इनकी अनुकम्पा के बिना भवपाश से छूटकर कोई भी प्राणी मोक्ष नहीं पा सकता; जैसा कि ब्रह्माण्डपुराण में त्रिपुरा मन्त्र की प्रशंसा करते हुए कहा गया है—

इति मन्त्रेषु बहुधा विद्याया: महिमोच्यते।
मोक्षैकहेतुर्विद्या तु, श्रीविद्या नात्र संशय:।।
न शिल्पादिज्ञानयुक्ते विद्वच्छब्द: प्रयुज्यते।
मोक्षैकहेतुर्विद्या सा, श्रीविद्या न संशय:।।

यह 'क्लीं' बीज भोग-मोक्षदायिनी श्रीविद्या का हृदयसर्वस्व है। श्रीविद्या की सम्पूर्ण महिमा एवं गरिमा इस एकाक्षरी 'मन्त्र' में बीजरूप में समाई हुई है।

[एकादशाक्षरी विद्या]

स्मरो शक्रो माया रविहरसुरेन्द्राः परशिवा
शिवाद्यं ब्रह्मेन्द्रस्मरहरलताबीजमपरम्।
इमं मन्त्रं गुह्यं सकलकविताकारणपरं
नरो जप्त्वा सिद्धः प्रभवति महामोक्षपदवीम्।।८६।।
एषा विद्या महाविद्या कथितैकादशाक्षरी।

अथ कूटत्रयात्मिकामैकादशाक्षरीं विद्यामभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**स्मरः शक्रो मायेति पदत्रयेण।** स्मरः ककारः, शक्रो लकारः, माया ह्रीँ। एवञ्च क ल ह्रीमित्याद्यं वाग्भवकूटम्। व्यक्तमाह तन्त्रसारे—

मादनं गोत्रभित् सान्तो रेफवामाक्षिचन्द्रवान्।
नादबिन्दुसमायुक्तः कथितः परमेश्वरि।। इति।

ततो द्वितीयं कामराजकूटमाह—**रवीत्यादिना परशिवेत्यन्तेन।** रविः ककारः, हरो हकारः, सुरेन्द्रो लकारः, परशिवा ह्रीँ। एवञ्च क ह ल ह्रीमिति द्वितीयमस्याः कामराजकूटम्। व्यक्तमाह तन्त्रसारे—

ब्रह्मा च गगनं शक्रो नकुलीशोऽनलस्तथा।
मायाबिन्दुसनादेन कामराजं समुद्धरेत्।। इति।

तृतीयं शक्तिकूटमाह—**शिवाद्यमित्यादिना बीजमपरमित्यन्तेन। शिवाद्यमिति।** शिवो हकारस्तदाद्यं सकारः, ब्रह्मा ककारः, इन्द्रो लकारः। **स्मरहरेति।** स्मरहरः शिवस्तस्य लता शक्तिस्तद्रूपं बीजं ह्रीमिति मायाबीजमित्यर्थः। एवञ्च स क ल ह्रीमिति तृतीयमस्याः शक्तिकूटम्। तदुक्तं तन्त्रसारे—

शक्तिर्मादनशक्रश्च हरो वह्निश्च मायया।
नादबिन्दुसमाक्रान्तः कथितः कामदो मनुः।।
इति। तथा—
एषा विद्या महेशानि कथितैकादशाक्षरी।।
इति। एतत्कूटत्रयसमष्टिरूपो मन्त्रो रेखापातेन स्फुटं प्रदर्श्यते।

[एकादशाक्षरी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क	क	स
	ह	क
ल	ल	ल
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

भगवती त्रिपुरसुन्दरी के तीन कूटों वाले एकाक्षरी मन्त्र के स्वरूप और उसकी साधना की फलश्रुति बताने के बाद अब एकादशाक्षरी विद्या का उद्धार बताया जा रहा है। यथा—

वाग्भव कूट—स्मर ('क'), शक्र (ल), माया (ह्रीं)। एकादशाक्षरी विद्या का वाग्भव कूट है।

कामराज कूट—रवि ('क'), हर (ह), सुरेन्द्र (ल) एवं परशिवा (ह्रीं) कामराज कूट है।

शक्ति कूट—शिव (ह), इसका पूर्ववर्ण (स), ब्रह्मा ('क'), इन्द्र ('ल') हरलता (ह्रीं)—शक्तिकूट है।

मन्त्र-स्वरूप—कलह्रीं, कहलह्रीं, सकलह्रीं।

यह एकादशाक्षरी विद्या अत्यन्त गोपनीय है। इसकी साधना से मनुष्य को कवित्व-शक्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है॥८६॥

[एतन्मन्त्रजपफलम्]

अरिहा सिद्धिदा नित्या त्रैलोक्ये चातिदुर्लभा॥८७॥

[अस्य रहस्यत्वम्]

न देया यस्य कस्यापि गोपनीया प्रयत्नतः।
दत्ते च सिद्धिहानिः स्यात् क्रुद्धा भवति सुन्दरी॥८८॥

[अनुगताय ज्येष्ठपुत्राय देयत्वम्]

मनुर्विमृष्य दातव्यो ज्येष्ठपुत्राय धीमते॥८९॥

[तदन्यत्राप्रकाश्यत्वम्]

सर्वदा गोपयेदेवं निर्वीर्यः स्यात् प्रकाशतः।
तेन वीर्यवती विद्या भार्या कुलवधूरिव॥९०॥

[एतन्मन्त्रग्रहणफलम्]

एतस्याः श्रुतिमात्रेण किं न सिध्यति भूतले।

[अस्य कीलितत्वादिसर्वदोषमुक्तत्वम्]

शुद्धा सर्वत्र विज्ञेया सर्वदोषविवर्जिता॥९१॥

शत्रुओं का विनाश कर सिद्धि प्रदान करने वाली यह विद्या बहुत सोच-विचारकर ज्येष्ठ पुत्र अर्थात् ज्येष्ठ पुत्र के समान प्रिय व्यक्ति को ही देनी चाहिए। यह विद्या कुलवधू की तरह गोपनीया है तथा यत्र-तत्र इसका प्रकाशन करने से सिद्धि की हानि होती है। सर्वथा शुद्धा तथा दोषरहिता इस विद्या के श्रवणमात्र से सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं॥८७-९१॥

[चतुर्विंशत्यक्षरी विद्या, तत्र वाग्भवकूटञ्च]

विद्यान्तरं प्रवक्ष्यामि चतुर्वर्गप्रदायकम्।
वाग्भवं गगनं हाद्यमुष्मा भौतिकबिन्दुमान्॥९२॥
ज्योत्स्ना माया मादनेन्द्रमहामायासमन्वितम्।
एतत्तु वाग्भवं कूटं सर्वपक्षेषु शोभनम्॥९३॥

अथ कूटत्रयात्मिकां चतुर्विंशत्यक्षरीं विद्यामाह—विद्यान्तरमित्यादिना। तत्र प्रथमं वाग्भवकूटमाह—वाग्भवेति। वाग्भवं ऐँ, गगनं हकारः, हाद्यं हकारस्याद्यं सकारः, उष्मा रकारः, स च भौतिकबिन्दुमान् भौतिक ऐकारः बिन्दुर्नादबिन्दुः ताभ्यां

युक्त इत्यर्थः। एतेन ऐँ ह स रैँ इति प्राप्तम्। टिप्पण्यान्तु ऐँ ह स् रैँ इति दृश्यते। ततश्च ज्योत्स्ना एकारः माया ईकारः, मादनं ककारः, इन्द्रो लकारः, महामाया च ह्रीमिति। एवञ्च ऐँ ह स रैँ ए ई क ल ह्रीमिति आद्यमस्या वाग्भवकूटम् इत्येवाह—**एतत्तु वाग्भवं कूटमित्यनेन।**

चतुर्विंशत्यक्षरी (२४) मन्त्र—एकादशाक्षरी के बाद अब चौबीस अक्षरों का मन्त्र बता रहे हैं, जो चतुर्वर्ग-प्रदायक है। इसका वाग्भव कूट है—

वाग्भव (ऐं), गगन (ह), हकार का पूर्व वर्ण (स), ऊष्मा (र) जो भौतिक (ऐ) तथा बिन्दु-नाद से विभूषित है अर्थात् 'रैं'। ज्योत्स्ना (ए), माया (ई), मादन (क), इन्द्र (ल) एवं महामाया (ह्रीं) इन वर्गों के समायोजन से वाग्भव कूट निष्पन्न हुआ—'ऐं ह स रैं ए ई क ल ह्रीं'।

[कामराजकूटम्]

कामबीजं शिवश्चन्द्रो ब्रह्मा शक्रः सुरेश्वरी।

ततः कामराजकूटमाह—**कामबीजमित्यादिना।** कामबीजं क्लीं, शिवो हकारः, चन्द्रः सकारः, ब्रह्मा ककारः, शक्रो लकारः, सुरेश्वरी ह्रीमिति। एवञ्च क्लीं ह स क ल ह्रीमिति द्वितीयमस्याः कामराजकूटमिति पर्यवस्यति।

कामराजकूट—कामबीज (क्लीं), शिव (ह), चन्द्र (स), ब्रह्मा (क), शक्र (ल) तथा सुरेश्वरी (ह्रीं)। कूटस्वरूप—क्लीं ह स क ल ह्रीं।

[शक्तिकूटम्]

शुक्रात्मा भास्करोऽनन्तो देवराजः शिवस्तथा।।९४।।
शक्त्यक्षरं शिवात्मानं भृगुर्वह्नियुतस्ततः।
मनुसर्गौ ततः शक्तिर्भानुरिन्द्रो महेश्वरी।।९५।।

ततः शक्तिकूटमाह—**शुक्रात्मेति।** शुक्रात्मा सकारः, भास्करः ककारः, अनन्त आकारः, देवराजो लकारः, शिवो हकारः, शक्त्यक्षरं सौः इति। एतैः स क आ ल ह सौः इत्यन्तं प्राप्तम्। ततश्च शिवात्मा हकारः, भृगुः सकारः, स च वह्निना रकारेण युतः तथा मनुरौकारः, सर्गो विसर्गः एतेन हस्रौः इति प्राप्तम्। ततश्च शक्तिः सकारः भानुः ककारः, शक्रो लकारः, महेश्वरी ह्रीं एतैश्च स क ल ह्रीमिति प्राप्तम् । एवञ्च समष्ट्या स क आ ल ह सौः हस्रौः स क ल ह्रीमिति तृतीयमस्याः शक्तिकूटमिति पर्य-

[सप्तविंशत्यक्षरी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ऐँ ह स रैँ ए ई क ल ह्रीं	क्लीं ह स क ल ह्रीं	स क आ ल ह सौः ह स्रौः स क ल ह्रीं

वस्यति वह्नियुगन्ततः इति पाठे तु ह स र रौः इति मन्त्रः स्यात् । कूटत्रयविभाजकरेखापातेन समष्टिभूतोऽयं मन्त्रः प्रदर्श्यते।

शक्तिकूट—शुक्रात्मा (स), भास्कर (क), अनन्त (आ), देवराज (ल), शिव (ह), शक्त्यक्षर (सौः), शिवात्मा (ह), भृगु (स) जो वह्नि ('र') सर्ग विसर्ग- सहित मनु (औ) से युक्त हो अर्थात् हस्त्रौः। रूप निष्पन्न हुआ—स क आ ल ह सौः हस्त्रौः। इसके बाद शक्ति (स), भानु (क), इन्द्र (ल) और माहेश्वरी (ह्रीं) अर्थात् 'स क आ ल ह सौः ह्स्त्रौः के बाद स क ल ह्रीं। शक्तिकूट का निष्पन्न हुआ—'स क आ ल हसौः हस्त्रौः सकलह्रीं।

इन तीन कूटों से बना मन्त्रस्वरूप है—'ऐं हसरैं ए ई क ल ह्रीं—क्लीं हसकलह्रीं—स क आ ल ह सौः हस्त्रौः सकलह्रीं।'

[एतन्मन्त्रप्रकर्षोऽस्याः प्रामाणिकतन्त्रसंवादित्वञ्च]

सृष्टिरूपा महाविद्या सारभूता महोदया।
कथिता दुर्लभा विद्या परमानन्दरूपिणी।
मन्त्रनिर्णयतन्त्रे च शिवेन परिकीर्तिता।।९६।।

यह मन्त्र भगवान् शिव ने 'मन्त्रनिर्णय' नामक तन्त्रग्रन्थ में बताया है। परमानन्द प्रदान करने वाली यह महाविद्या सृष्टिरूपा है और सहज सुलभ नहीं है।।९६।।

[अष्टादशाक्षरी विद्या, तत्र वाग्भव-कामराज-शक्तिकूटञ्च]

अथान्तरं प्रवक्ष्यामि सारात् सारतरं महत्।
वाग्भवं विजया माया ब्रह्मा शक्रश्च पार्वती।।९७।।
मन्मथं शिवशक्ती च मदनो हर इन्द्रकः।
महामाया ततो हाद्यं मनुसर्गविभूषितम्।।९८।।
भृगुः प्रजापतिः शक्रो महामाया ततः परा।
अष्टादशाक्षरी विद्या महात्रिपुरसुन्दरी।।९९।।

अथाष्टादशाक्षरीं विद्यामाह—**अथान्तरमित्यादिना।** तत्र प्रथमं वाग्भव–कूटमाह—**वाग्भवमित्यादिना पार्वतीत्यन्तेन।** वाग्भवः ऐँ, विजया एकारः, माया ईकारः, ब्रह्मा ककारः, शक्रो लकारः, पार्वती ह्रीमिति। एवञ्च ऐँ ए ई क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। द्वितीयं कामराजकूटमाह—**मान्मथमित्यादिना महामायेत्यन्तेन।** अत्र मान्मथं

अष्टादशाक्षरी विद्या (त्रिकूटा)

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ऐँ	क्लीं	सौः
ए	ह	स
ई	स	क
क	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	
	ह्रीं	

क्लीमिति, शिवो हकारः, शक्तिः सकारः, मादनः ककारः, हरो हकारः इन्द्रो लकारः, महामाया ह्रीमिति। एवञ्च क्लीं ह स क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटम् । तृतीयं शक्तिकूटमाह—**तत इत्यादिना ततः परेत्यन्तेन।** हाद्यं सकारः, तच्च मनुसर्गविभूषितं मनुना चतुर्दशस्वरेणौकारेण सर्गेण विसर्गेण च विभूषितम्। अनेन सौः इति प्राप्तम्। भृगुरित्यादि। भृगुः सकारः, प्रजापतिः ककारः, शक्रो लकारः, महामाया ह्रीमिति। एवञ्च सौः स क ल ह्रीमिति शक्तिकूटम्। इयं महात्रिपुरसुन्दरी। अत्र तत इत्येतत्पदद्वयं कूटविभाजकमित्यवगन्तव्यम्। रेखापातेनास्या अष्टादशाक्षरविद्यायाः कूटत्रयविभागः प्रदर्श्यते।

अब इसके बाद १८ अक्षरों का मन्त्र बता रहा हूँ। यह मन्त्र सारभूत है तथा सब सिद्धियाँ प्रदान करने वाला है।

वाग्भव कूट—वाग्भव (ऐं), विजया (ए), माया (इ), ब्रह्मा (क), शक्र अर्थात् इन्द्र (ल) तथा पार्वती (ह्रीं)। इस प्रकार इस २८ अक्षरों के मन्त्र का वाग्भव कूट है—'ऐं ए इ क ल ह्रीं।'

कामराज कूट—मन्मथ (क्लीं), शिव (ह), शक्ति (स), मादन (क), हर (ह), इन्द्र (ल) एवं महामाया (ह्रीं)। इस तरह 'क्लीं हसकहलह्रीं' इसका कामराज कूट है।

शक्तिकूट—हाद्य अर्थात् 'ह' के पूर्व का वर्ण अर्थात् 'स' जो मनु अर्थात् चौदहवें स्वर 'औ' एवं (विसर्ग) से शोभित हो अर्थात्—सौ:। भृग (स), प्रजापति (क), शक्र (ल), महामाया (ह्रीं), कूट स्वरूप—'सौ: सकलह्रीं।' तीनों कूटों से समन्वित मन्त्र बना—ऐं ए ई क ल ह्रीं, क्लीं हसकहलह्रा सौ: सकलह्रीं।

यह १८ अक्षरों की महात्रिपुरसुन्दरी विद्या है।

[विंशत्यक्षरी विद्या]

सर्वान्ते हंससंयुक्ता तदा विंशाक्षरी भवेत्।।१००।।

विंशत्यक्षरीं विद्यामाह—**सर्वान्त इति।** येयमष्टादशाक्षरी विद्या प्रदर्शिता सा यदि सर्वान्ते तृतीयकूटस्यान्तभाग इत्यर्थः **हंससंयुक्ता** हंस इत्यक्षरद्वयेन संयुक्ता स्यात् तदा **विंशाक्षरी** विंशत्यक्षरी विद्या भवेदित्यर्थः। सा यथा—

[विंशत्यक्षरी (त्रिकूटा)]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ऐँ	क्लीं	सौः
ए	ह	स
ई	स	क
क	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	हं
	ह्रीं	सः

यदि उपर्युक्त १८ अक्षरों वाले मन्त्र के अन्त में अर्थात् शक्तिकूट के अन्त में 'हं स' ये दो वर्ण जोड़ दिये जायँ तो यह २० अक्षरों वाली विद्या बन जाती है। इस विद्या का स्वरूप होगा—'ऐं ए ई क ल ह्रीं, क्लीं हसकहलह्रीं सौः सकल ह्रीं, हंसः'।

[एकविंशत्यक्षरी (उन्मनी विद्या), तत्र वाग्भवादिकूटत्रयम्]

आकाशं पाशबीजन्तु त्रिकोणं विन्दुमालिनी।
भास्करो गोत्रभिन्माया मनुना सर्गवान् भृगुः।।१०१।।
वाग्भवञ्च शिवः शक्तिर्ब्रह्मा शम्भुः शचीपतिः।
भुवनेशी कामबीजं लक्ष्मीर्भृगुः प्रजापतिः।।१०२।।
पुरन्दरो महामाया चैकविंशाक्षरी शुभा।

एकविंशत्यक्षरीमुन्मनीनाम्नीं विद्यामाह—**आकाशमित्यादिना**। इयमपि कूटत्रयात्मिका। तत्र प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**आकाशमित्यादिना मायेत्यन्तेन**। आकाशं हकारः, पाशबीजं आं, त्रिकोणम् एकारः, बिन्दुमालिनी ईकारः, भास्कर ककारः, गोत्रभित् लकारः, माया ह्रीं। एवञ्च ह आं ए ई क ल ह्रीमिति प्रथमकूटम् । द्वितीयं कामराजकूटमाह—**मनुनेत्यादिना भुवनेशीत्यन्तेन**। मनुना औकारेण सर्गवान् विसर्गयुक्तो भृगुः सकारः अनेन सौः इति प्राप्तम् । **वाग्भवमित्यादि**। वाग्भवं ऐं, शिवो हकारः, शक्तिः सकारः, ब्रह्मा ककारः, शम्भुर्हकारः, शचीपतिर्लकारः, भुवनेशी ह्रीं। एवञ्च सौः ऐँ ह स क ह ल ह्रीमिति द्वितीयं कूटम्। तृतीयं शक्तिकूटमाह—**कामबीजमित्यादिना**। कामबीजं क्लीं, लक्ष्मीः श्रीं, भृगुः सकारः, प्रजापतिः ककारः, पुरन्दरो लकारः, महामाया ह्रीं। एवञ्च क्लीं श्रीं स क ल ह्रीमिति तृतीयकूटम्। तन्निरुक्तकूटत्रयसमष्टिपरिनिष्पन्ना विद्येयं प्रदर्श्यते।

[एकविंशत्यक्षरी (उन्मनीनाम) विद्या]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ह	सौः	क्लीं
आं	ऐँ	श्रीं
ए	ह	स
ई	स	क
क	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	
	ह्रीं	

उन्मनी विद्या—विंशति (२०) अक्षरी मन्त्र के बाद एकविंशति (२१) अक्षरों का मन्त्र बता रहे हैं। इसका नाम उन्मनी विद्या है। इस विद्या के तीन कूट हैं—

वाग्भव कूट—आकाश (ह), पाशबीज (आं), त्रिकोण (ए), बिन्दुमालिनी (ई), भास्कर (क), गोत्रभित् (ल) एवं माया (ह्रीं)। वाग्भव कूट का स्वरूप—'ह आं ए ई क ल ह्रीं।'

कामराज कूट—मनुना सर्गवान् अर्थात् १४वाँ स्वर 'औ' एवं विसर्ग अर्थात् 'औः' से युक्त भृगु (स) अर्थात् 'सौः'। वाग्भव (ऐं), शिव (ह), शक्ति (स), ब्रह्मा (क), शम्भु (ह), शचीपति इन्द्र (ल) तथा भुवनेशी (ह्रीं)। कामराज कूट है—सौः ऐं हसकहलह्रीं।'

शक्तिकूट—कामबीज (क्लीं), लक्ष्मी (श्रीं), भृगु (स), प्रजापति (क), पुरन्दर इन्द्र (ल), महामाया (ह्रीं) अर्थात्—'क्लीं श्रीं सकलह्रीं। इस उन्मनी विद्या का शक्तिकूट हैं।

उन्मनी विद्या—ह आं ए ई क ल ह्रीं, सौः ऐं हसकहलह्रीं, क्लीं श्रीं सकलह्रीं॥१०१-१०२॥

[एतन्मन्त्रदेवतानिर्णयः फलञ्च]

विद्यैषा चोन्मनीनाम्नी वाञ्छितार्थप्रदायिनी।।
नारीणां मोहिनी देवी जगत्कारणरूपिणी।।१०३।।

अभीप्सित मनोरथों को पूरा करने वाली तथा नारियों को आकर्षित करने वाली यह उन्मनी नामक विद्या जगत् की कारणरूपा है॥१०३॥

[पञ्चविंशत्यक्षरी विद्या, तत्र वाग्भवादिकूटत्रयञ्च]

मायां पाशसमायुक्तां महामायां ततः पठेत्।
भागे माया ततो ब्रह्मा शक्रस्तु भुवनेश्वरी।।१०४।।
वाग्भवं वाग्भवञ्चेदं शिखाकवचमालिखेत्।
भुवनेश्या महेशश्च शक्तिर्ब्रह्मेश इन्द्रकः।।१०५।।
महामायाक्षरद्वन्द्वं कामराजमिदं महत्।
भुवनेश्या नेत्रमस्त्रं शक्तिर्मादन एव च।।१०६।।
वज्रधृक् च महामाया कमलाबीजमुत्तमम्।

अथ पञ्चविंशत्यक्षरं त्रिकूटात्मकं विद्यान्तरमभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**मायामिति**। मायाबीजं ह्रीं, पाशबीजं आं, महामाया ह्रीं, भग एकारः, माया ईकारः, ब्रह्मा ककारः, शक्रो लकारः, भुवनेश्वरी ह्रीं, वाग्भवं ऐँ। **वाग्भवञ्चेदमिति**। इदं वाग्भवकूटमित्यर्थः। एवञ्च ह्रीं आं ह्रीं ए ई क ल ह्रीं ऐँ इति वाग्भवकूटम्। द्वितीयं कामराजकूटमाह—**शिखेत्यादिना**। **भुवनेश्याः शिखाकवचमालिखेदिति** सम्बन्धः। ततश्च शिखा ह्रं, कवचं ह्रैं, महेशो हकारः, शक्तिः सकारः, ब्रह्मा ककारः, ईशो हकारः, इन्द्रो लकारः, महामायाक्षरद्वन्द्वं ह्रींह्रीमिति। एवञ्च हूँ ह्रैँ ह स क ल ह्रीं ह्रीमिति कामराजकूटम्।

तृतीयं शक्तिकूटमाह—**भुवनेश्या** इत्यादिना। भुवनेश्वरीविद्याया नेत्रं ह्रौँ, अस्त्रं ह्रः, शक्तिः सकारः, मादनः ककारः, वज्रधृगिन्द्रबीजं लकारः,

[पञ्चविंशत्यक्षरा (त्रिकूटा)] (प्रथमा)

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ह्रीं	ह्रूँ	ह्रौँ
आं	ह्रैँ	ह्रः
ह्रीं	ह	स
ए	स	क
ई	क	ल
क	ह	ह्रीं
ल	ल	श्रीं
ह्रीं	ह्रीं	
ऐँ	ह्रीं	

महामाया ह्रीं, कमलाबीजं श्रीमिति। एवञ्च ह्रौं ह्रः स क ल ह्रीं श्रीमिति शक्तिकूटमिति पर्यवस्यति। तदियं कूटत्रयसमष्टिः।

पञ्चविंशति (२५), **अक्षरी विद्या**—उन्मनी विद्या के बाद पच्चीस अक्षरों का एक अन्य मन्त्र बताया जा रहा है।

माया (ह्रीं), पाश (आं), महामाया (ह्रीं), भग (ए), माया (ह्रीं), ब्रह्मा (क), शक्र (ल) भुवनेश्वरी (ह्रीं) तथा वाग्भव (ऐं) वर्णों के समाहार से इस मन्त्र का वाग्भव कूट—(ह्रीं आं ह्रीं ए ह्रीं क ल ह्रीं ऐं) बनता है। वाग्भव कूट में ९ वर्ण हैं।

कामराज कूट—शिखा (ह्रूं), कवच (ह्रैं), महेश (ह), शक्ति (स), ब्रह्मा (क), ईश (ह), इन्द्र (ल) तथा दो बार महामाया (ह्रीं ह्रीं) के समाहार से कामराज कूट बनता है। कामराज कूट का स्वरूप है—ह्रूं ह्रैं हसकहलह्रीं ह्रीं। इस कूट में भी ९ वर्ण हैं।

शक्तिकूट—भुवनेश्या नेत्रमस्त्रम् अर्थात् भुवनेश्वरी मन्त्र (ह्रीं) का नेत्र 'ह्रौं' तथा अस्त्र (ह्रः), शक्ति (स), मादन (क), वज्रधृक् इन्द्र (ल), महामाया (ह्रीं) तथा कमलाबीज (श्रीं) के समाहार से शक्तिकूट निष्पन्न होता है—ह्रौं ह्रः सकल ह्रीं श्रीं। इस कूट में केवल सात वर्ण हैं।

मन्त्रस्वरूप—ह्रीं आं ह्रीं ए ह्रीं कल ह्रीं ऐं—ह्रूं ह्रैं हसकहलह्रीं ह्रीं, ह्रौं ह्रः सकलह्रीं श्रीं।

[एतन्मन्त्रप्रकर्षः]

एषा परापि विज्ञेया तत्त्वरूपा महेश्वरी।।१०७।।
दुर्लभा त्रिषु लोकेषु सर्वकामार्थदायिनी।
नास्ति विद्या समा चास्या बलवीर्यसमन्विता।।१०८।।

यह विद्या तत्त्वरूपा, सर्वकामार्थदायिनी (सभी कामनाओं को पूरा करने वाली), तीनों लोकों में दुर्लभा तथा अत्यन्त सामर्थ्यशालिनी है।।१०७-१०८।।

[पञ्चविंशत्यक्षरं विद्यान्तरम्, तत्र वाग्भवादिकूटत्रयञ्च]

अमृतं वदनञ्चैव बाला शक्तिर्भगः परा।
कामेन्द्रौ च महामाया वाग्भवं कूटमुत्तमम्।।१०९।।
बालाबीजत्रयं शम्भुश्चन्द्रब्रह्मेशभूपराः।
कामराजमिदं प्रोक्तं शक्तिकूटं शृणुष्व तत्।।११०।।
वाग्भवं शम्भुवनिता रमाबीजं ततः परम्।
शक्तिः कामः सहस्राक्षो महामाया ततः परम्।।१११।।

अथ पञ्चविंशत्यक्षरं मन्त्रान्तरमभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**अमृतमित्यादिना महामायेत्यन्तेन**। अमृतं सकारः, वदनं आं, बाला सौः, शक्तिः सकारः, भग एकारः, परा ईकारः, कामः ककारः, इन्द्रो लकारः, महामाया ह्रीं। एवञ्च स आं सौः स

[पञ्चविंशत्यक्षरी (त्रिकूटा)]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
स	ऐँ	ऐँ
आं	क्लीं	ह्रीं
सौः	सौः	श्रीं
स	ह	स
ए	स	क
ई	क	ल
क	ह	ह्रीं
ळ	ल	
ह्रीं	ह्रीं	

ए ई क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। कामराजकूटमाह—**बालेत्यादिना परा इत्यन्तेन**। बालाबीजत्रयं ऐँ क्लीं सौः, शम्भुर्हकारः, चन्द्रः सकारः, ब्रह्मा ककारः, ईशो हकारः, भूः पृथ्वीबीजं लकारः, परा ह्रीं मायाबीजम्। एवञ्च ऐँ क्लीं सौः ह स क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटमाह—**वाग्भवमित्यादि महामाया ततः परमित्यन्तेन**। वाग्भवं ऐँ, शम्भुवनिता ह्रीं, रमाबीजं श्रीं, शक्तिः सकारः, कामः ककारः, सहस्राक्षो लकारः महामाया ह्रीमिति। एवञ्च ऐँ ह्रीं श्रीं स क ल ह्रीमिति शक्तिकूटं पर्यवस्यति। तदेवं कूटत्रयसमष्टिरूपो मन्त्रो रेखापातेन स्फुटं प्रदर्श्यते।

इन तीन श्लोकों में पञ्चविंशत्यक्षरी विद्या का एक अन्य भेद बताया गया है। अमृत (स), वदन (आं), बाला (सौः), शक्ति (स), भग (ए), परा (ई), काम (क), इन्द्र (ल) और महामाया (ह्रीं) के समायोजन से इस विद्या का वाग्भव कूट (स आं सौः स ए ई क ल ह्रीं) निष्पन्न होता है।

कामराज कूट—बाला के तीन बीज (ऐं क्लीं सौः), शम्भु (ह), चन्द्र (स), ब्रह्मा (क), ईश (ह), भू (ल) और परा (ह्रीं) से इसका कामराज कूट (ऐं क्लीं सौः ह स क ह ल ह्रीं) निष्पन्न होता है।

शक्तिकूट—वाग्भव (ऐं), शम्भुवनिता (ह्रीं), रमाबीज (श्रीं), शक्ति (स), काम (क), सहस्राक्ष इन्द्र (ल) और महामाया (ह्रीं) के समाहार से इसका शक्तिकूट (ऐं ह्रीं श्रीं सकलह्रीं) निष्पन्न होता है।।१०९-१११।।

मन्त्रस्वरूप—स आं सौः स ए ई क ल ह्रीं। ऐं क्लीं सौः हसकहलह्रीं—ऐं ह्रीं श्रीं सकलह्रीं।

[एतन्मन्त्रप्रकर्षः]

तत्त्वरूपा महामाया भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी।
सवीर्या सिद्धिदा नित्या विद्या सर्वार्थसिद्धिदा।।११२।।

यह पञ्चविंशति अक्षरी विद्या तत्त्वरूपा महामाया है। यह विद्या अत्यन्त क्षमतासम्पन्न तथा भुक्ति एवं मुक्ति प्रदान करने वाली है। सर्वार्थ अर्थात् धर्म-अर्थ-काम एवं मोक्षरूप पुरुषार्थचतुष्टय प्रदान करने वाली यह विद्या नित्या है, सनातनी है। इसकी महिमा और गरिमा पर काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।।११२।।

[सप्तविंशत्यक्षरी विद्या, तत्र वाग्भवादिकूटत्रयञ्च]

वाग्बीजममृता पाशं बालातृतीयबीजकम्।
भैरवं बिन्दुमाली च ब्रह्मा शक्रः सुरेश्वरी।।११३।।
वाग्भवं कथितं कूटं कामराजमथोच्यते।
महामाया वाग्भवञ्च मान्मथं सर्गवान् भृगुः।।११४।।
मनुस्वरेण संयुक्तो वियच्छक्तिश्च भास्करः।
शिवः शक्रो महामाया शक्तिकूटं लिखेत्ततः।।११५।।
लक्ष्मीबीजं पाशबीजं मायामङ्कुशमेव च।
भृगुर्ब्रह्मा सहस्राक्षो महामाया तदन्तरम्।।११६।।

अथ सप्तविंशत्यक्षरीं त्रिकूटामभिधास्यन् प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**वाग्बीजमित्यादिना**। वाग्बीजं ऐँ अमृता अकारः, पाशः आं। **बालेति**। बालामन्त्रः ऐँ क्लीं सौः इति। तस्य तृतीयं बीजमित्यनेन सौः इति प्राप्तम्। भैरव एकारः, बिन्दुमाली ईकारः, ब्रह्मा ककारः, शक्रो लकारः, सुरेश्वरी ह्रीं। एवञ्च ऐँ अ आं सौः ए ई क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। कामराजकूटमाह—**महामायेत्यादिना शिवः शक्रो महामायेत्यन्तेन**। महामाया ह्रीं, वाग्भवः ऐँ, मान्मथं क्लीं। सर्गवान् विसर्गयुक्तो भृगुः सकारः, स च मनुस्वरेण औकारेण संयुक्तः। अनेन सौरिति प्राप्तम्। वियद् आकाशबीजं हकारः, शक्तिः सकारः, भास्करः ककारः, शिवो हकारः, शक्रो लकारः, महामाया ह्रीं। एवञ्च ह्रीं ऐँ क्लीं सौः ह स क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। तृतीयं शक्तिकूटं वक्तुमुपक्रमते—**शक्तिकूटमित्यादिना**। **लक्ष्मीबीजमित्यादि**। लक्ष्मीबीजं श्रीं, पाशबीजं आं, माया ह्रीं, अङ्कुशं क्रोँ, भृगुः सकारः, ब्रह्मा ककारः, सहस्राक्षो लकारः, महामाया ह्रीमिति। एवञ्च श्रीं आं ह्रीं क्रोँ स क ल ह्रीमिति शक्तिकूटम्। एतत्त्रिकूटघटितसप्तविंशत्यक्षरविद्याप्रस्थानं यथा—

[सप्तविंशत्यक्षरी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ऐँ	ह्रीं	श्रीं
अ	ऐँ	आं
आं	क्लीं	ह्रीं
सौः	सौः	क्रोँ
ए	ह	स
ई	स	क
क	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	
	ह्रीं	

सप्तविंशति अक्षरी विद्या—पञ्चविंशति (२५) अक्षरी विद्या के बाद अब सप्त विंशति अक्षरी विद्या का निरूपण किया जा रहा है।

वाग्भव कूट—वाग्भव बीज (ऐं), अमृता (अ), पाश (आं), बाला विद्या का तृतीय बीज (सौः), भैरव (ए), बिन्दुमाली (ई), ब्रह्मा (क), शक्र (ल), सुरेश्वरी

(ह्रीं)। इन वर्णों की योजना करने से २७ अक्षरों वाली विद्या का ९ अक्षरी वाग्भव कूट निष्पन्न होता है। यथा—ऐं अ आं सौः ए ई क ल ह्रीं।

कामराज कूट—महामाया (ह्रीं), वाग्भव बीज (ऐं), मन्मथ (क्लीं), मनुस्वर अर्थात् चौदहवें स्वर (औ) तथा विसर्गयुक्त भृगु (स) अर्थात् सौः वियत् (ह), शक्ति (स), भास्कर (क), शिव (ह), शक्र (ल) तथा महामाया (ह्रीं) की योजना करने से २७ अक्षरों वाली विद्या का दस अक्षरी कामराज कूट निष्पन्न होता है। यथा— ह्रीं ऐं क्लीं सौः हसकहलह्रीं।

शक्तिकूट—लक्ष्मीबीज (श्रीं), पाशबीज (आं), माया (ह्रीं), अंकुश (क्रों), भृगु (स), ब्रह्मा (क) सहस्राक्ष इन्द्र (ल) और महामाया (ह्रीं) की योजना करने से ८ (आठ) अक्षरी शक्तिकूट निष्पन्न होता है। यथा—श्रीं आं ह्रीं क्रों स क ल ह्रीं।

समग्र मन्त्र-स्वरूप—ऐं अ आं सौः ए ई क ल ह्रीं, ह्रीं ऐं क्लीं सौः हसकहल ह्रीं, श्रीं आं ह्रीं क्रों सकल ह्रीं।

[एतन्मन्त्रप्रकर्षः]

सप्तविंशाक्षरी विद्या महात्रिपुरसुन्दरी।।११७।।
त्रैलोक्यं हन्ति यो नित्यं पिबेद् वा सिन्धुसागरम्।
रमते सकलां नारीं जप्त्वा याति सुरालयम्।।११८।।
विद्यास्मरणमात्रेण सर्वपापं प्रणाशयेत्।
मनोः स्मरणमात्रेण व्रजेद्भगवतः पदम्।।११९।।
जपमात्रेण मन्त्रज्ञः शिवसायुज्यतां व्रजेत्।
एषा विद्या प्रयत्नेन गुप्ता ग्रन्थेषु कोटिषु।।१२०।।
देव्याः प्राणोऽस्ति विद्यायां सत्यं सत्यं न चान्यथा।
भाषिता शङ्करेणैव सालङ्कारा महोदया।।१२१।।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।।१२२।।

इन छः श्लोकों में सप्तविंशत्यक्षरी विद्या महात्रिपुरसुन्दरी के प्रकर्ष का निरूपण किया गया है। प्राणियों की हत्या, सुरापान तथा पराई स्त्रियों से सम्भोग अत्यन्त दुर्धर्ष पापाचार हैं। इन पापों से बड़ी कठिनाई से निवृत्ति होती है। यह सप्तविंशत्यक्षरी विद्या अत्यन्त पवित्र एवं पापनाशिनी है। तीनों लोकों के सभी प्राणियों की प्रतिदिन हत्या करने, सागर-प्रमाण शराब पीने तथा संसार की सभी नारियों से समागम करने से उद्भूत पापराशि भी इस विद्या की साधना से समाप्त हो जाती है तथा इस विद्या का साधक सभी पापों से मुक्त होकर भगवान् शिव का सायुज्य प्राप्त करता है। इस विद्या में भगवती के प्राण बसते हैं; अतएव सभी ग्रन्थों में प्रयत्नपूर्वक इसे गुप्त रखा गया है। भगवान् शङ्कर के द्वारा बताई गई इस विद्या को सभी से गुप्त रखना चाहिए।।११७-१२२।।

[द्वात्रिंशत्यक्षरी विद्या, तत्र वाग्भवादिकूटत्रयञ्च]

नकुलीशो भृगुर्ब्रह्मा शक्रश्च भुवनेश्वरी।
हरो भृगुर्दिवानाथो वज्रधृग् भुवनेश्वरी।।१२३।।
एतत्तु वाग्भवं कूटं कामराजं शृणुष्व च।
कामबीजद्वयञ्चैव वाग्भवं च हुमात्मकम्।।१२४।।
शक्तिबीजं विसर्गस्तु शिवः शक्तिस्ततः परम्।
कामं गगनशक्ती च ततोऽपि भुवनेश्वरी।
कामराजमिदं पुण्यं शक्तिकूटमथोच्यते।।१२५।।
ह्रां ह्रीं क्लीं चैव हूँकारं स्त्रींकारं सकलं ततः।
महामाया ततः पश्चाद्धंसबीजं तदन्तिके।।१२६।।
द्वात्रिंशद्वर्णमुद्दिष्टा कामाख्या वरदा शुभा।

अथ त्रिकूटां द्वात्रिंशदक्षरविद्यामभिधत्ते। तत्र प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**नकुलीश इति।** नकुलीशो हकारः, भृगुः सकारः, ब्रह्मा ककारः, शक्रो लकारः, भुवनेश्वरी ह्रीं, हरो हकारः, भृगुः सकारः, दिवानाथः ककारः, वज्रधृग् लकारः, भुवनेश्वरी ह्रीमिति। एवञ्च ह स क ल ह्रीं ह स क ल ह्रीं इति वाग्भवकूटमिति पर्यवस्यति।

कामराजकूटमाह—**कामबीजमित्यादिना।** कामबीजद्वयं क्लीं क्लीं वाग्भवः ऐँ, हुमात्मकं हुँ, शक्तिबीजं सकारः, ततो विसर्गः, शिवो हकारः, शक्तिः सकारः, कामः ककारः, गगनं हकारः, शक्रो लकारः, भुवनेश्वरी ह्रीं। एवञ्च क्लीं ह्रीं ऐँ हुँ सः ह स क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। तृतीयं शक्तिकूटमाह—**ह्रां ह्रीमित्यादिना।** एवञ्च ह्रां ह्रीं क्लीं हुं स्त्रीं स क ल, महामाया ह्रीं, हंस इति शक्तिकूटम्। द्वात्रिंशदक्षरीयं विद्या रेखापातेन स्फुटं प्रदर्श्यते।

[द्वात्रिंशदक्षरी] [त्रिकूटा]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ह	क्लीं	ह्रां
स	क्लीं	ह्रीं
क	ऐँ	क्लीं
ल	हुँ	हुँ
ह्रीं	सः	स्त्रीं
ह	ह	स
स	स	क
क	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	हं
	ह्रीं	सः

सप्तविंशत्यक्षरी विद्या के बाद द्वात्रिंशत्यक्षरी (३२) विद्या का उद्धार बताया जा रहा है। नकुलीश (ह), भृगु (स), ब्रह्मा (क), शक्र (ल), भुवनेश्वरी (ह्रीं), हर (ह), भृगु (स), दिवानाथ (क), वज्रधृग् (इन्द्र) (ल), भुवनेश्वरी (ह्रीं)—इन दस वर्णों की योजना से द्वात्रिंशदक्षरी विद्या का वाग्भव कूट निष्पन्न होता है। यथा—हसकलह्रीं हसकलह्रीं।

कामराज कूट—दो कामबीज (क्लीं क्लीं), वाग्भव (ऐं), हुम् (हुं), शक्तिबीज (सः), शिव (ह), शक्ति (स), काम (क), गगन (ह), शक्र (ल) तथा

भुवनेश्वरी (ह्रीं) से इसका कामराज कूट निष्पन्न होता है। यथा—क्लीं क्लीं ऐं हुं सः ह स क ह ल ह्रीं।

शक्तिकूट—ह्रां ह्रीं क्लीं हूं स्त्रीं सकल महामाया (ह्रीं) तथा हंसबीज (हंसः) से इसका तृतीय शक्तिकूट निष्पन्न होता है; यथा—ह्रां ह्रीं क्लीं हूं स्त्रीं सकल ह्रीं हंसः।

समग्र मन्त्र—'हसकलह्रीं हसकलह्रीं। क्लीं क्लीं ऐं हुं सः हसकहलह्रीं। ह्रां ह्रीं क्लीं हूं स्त्रीं स क ल ह्रीं हंसः' (३२ अक्षर)।

[चतुष्कूटा द्वात्रिंशदक्षरी विद्या, तत्र वाग्भव-कामराजकूटे]

बालाबीजत्रयञ्चैव झिण्टीशो बिन्दुमालिनी।।१२७।।
कामेन्द्रौ च महामाया श्रीं ह्रीं क्लीञ्च ततः परम्।
पाशः शक्तिर्मादनञ्च शून्येन्द्रौ भुवनेश्वरी।।१२८।।

[कामराजद्वितीयकूटम्]

शिवः शक्तिश्च वाग्बीजं शिवः शक्तिस्ततः परम्।
मदनेन्द्रौ ततः पश्चाद् भुवनेशी ततः परम्।।
कामराजमिदं पुण्यं कथितं सर्वदुर्लभम्।।१२९।।

[शक्तिकूटम्]

जीवः प्राणस्तु शक्त्यर्णं शक्तिर्मादन इन्द्रकः।
महाविद्येश्वरी पश्चाद् विद्या संहारिणी भवेत्।।१३०।।

द्वात्रिंशदक्षरं मन्त्रान्तरमाह—**बालेत्यादिना**। बालबीजत्रयं ऐं क्लीं सौः, झिण्टीश एकारः, बिन्दुमालिनी ईकारः, कामः ककारः, इन्द्रो लकारः, महामाया ह्रीं। एवञ्च ऐँ क्लीं सौः ए ई क ल ह्रीमिति प्रथमं वाग्भवकूटम्। कामराजकूटद्वयमाह—**श्रीमित्यादिना**। अत्र प्रथमं श्रीं ह्रीं क्लीं ततः पाशः पाशबीजम् आं आकारः, शक्तिः सकारः, मादनं ककारः, शून्यो हकारः, इन्द्रो लकारः, भुवनेश्वरी ह्रीं। एवञ्च श्रीं ह्रीं क्लीं आं स क ह ल ह्रीमिति कामराजप्रथमकूटम्। द्वितीयं कामराजकूटमाह—**शिव इत्यादिना**। शिवो हकारः, शक्तिः सकारः, वाग्बीजं ऐँ, शिवो हकारः, शक्तिः सकारः, मदनः ककारः, इन्द्रो लकारः, भुवनेशी ह्रीमिति। एवञ्च ह स ऐँ ह स क ल ह्रीमिति द्वितीयं कूटमित्युक्तं भवति। कामराजकूटमिदं कूटद्वयात्मकम्। B-पुस्तकपादटीकायान्तु द्वितीयशक्तिकूटे ककारात् परं लकारात् पूर्वं हकारो दृश्यते, स तु निरुक्तप्रमाणाप्राप्तत्वादस्माभिर्न मन्त्रे निवेशितः।

[द्वात्रिंशदक्षरी चतुष्कूटा]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्		शक्तिकूटम्
ऐँ	श्रीं	ह	स
क्लीं	ह्रीं	स	ह
सौः	क्लीं	ऐँ	सौः
ए	आं	ह	स
ई	स	स	क
क	क	क	ल
ल	ह	ल	ह्रीं
ह्रीं	ल		
	ह्रीं	ह्रीं	

शक्तिकूटमाह—**जीव इत्यादिना**। जीवः सकारः, प्राणो हकारः शक्त्यर्णः सौः, शक्तिः सकारः, मादनः ककारः,

इन्द्रो लकारः, महाविद्येश्वरी ह्रीं। एवञ्च स ह सौः स क ल ह्रीमिति शक्तिकूटमिति पर्यवस्यति। कूटविभागपूर्वकमेतत् समष्टिरूपो मन्त्रः प्रदर्श्यते।

इन चार श्लोकों में द्वात्रिंशद् अक्षरों का अन्य मन्त्र बताया गया है। इस मन्त्र में कामराज कूट के दो स्वरूप हैं।

वाग्भट कूट—बाला विद्या के तीन बीज (ऐं क्लीं सौः), झिण्टीश (ए), बिन्दुमालिनी (ई), काम (क), इन्द्र (ल), महामाया (ह्रीं)—इन वर्णों के संयोजन से इस द्वितीय द्वात्रिंशदक्षरी मन्त्र का वाग्भव कूट निष्पन्न होता है। यथा—ऐं क्लीं सौः ए ई क ल ह्रीं।

कामराज कूट (प्रथम)—श्रीं-ह्रीं-क्लीं के बाद पाश (आं), शक्ति (स), मादन (क), शून्य (ह), इन्द्र (ल) और भुवनेश्वरी (ह्रीं)। इन वर्णों के संयोजन से इस द्वात्रिंशदक्षरी विद्या का प्रथम कामराज-कूट निष्पन्न होता है। यथा—श्रीं ह्रीं क्लीं आं स क ह ल ह्रीं।

कामराज कूट (द्वितीय)—शिव (ह), शक्ति (स), वाग्बीज (ऐं), शिव (ह), शक्ति (स), मादन (क), इन्द्र (ल) तत्पश्चात् भुवनेशी (ह्रीं)। इन वर्णों के संयोजन से द्वितीय कामराज कूट बनता है। यथा—ह स ऐं ह स क ल ह्रीं।

शक्तिकूट—जीव (स), प्राण (ह), शक्त्यर्ण (सौः), शक्ति (स), मादन (क), इन्द्र (ल), महाविद्येश्वरी (ह्रीं)। इन वर्णों के संयोजन से 'स ह सौः स क ल ह्रीं'—यह शक्तिकूट निष्पन्न होता है।

मंत्रस्वरूप—ऐं क्लीं सौः ए ई क ल ह्रीं। श्रीं ह्रीं क्लीं आं स क ह ल ह्रीं। स ह सौः स क ल ह्रीं।

[एतन्मन्त्रप्रकर्षः]

दैत्यानां बलशान्त्यर्थं भाषिता परमाक्षरैः।
एषा सा सुन्दरी विद्या शत्रूणां प्राणनाशिनी।।१३१।।
सर्वेषां दुर्लभा विद्या ब्रह्मविष्णुशिवार्चिता।
स्थितिरूपा महाविद्या साधकाय वरप्रदा।।१३२।।
न चास्याः सदृशी काचित् त्रिषु लोकेषु विद्यते।।१३३।।

इन तीन श्लोकों में इस द्वात्रिंशदक्षरी (३२) विद्या का प्रकर्ष निरूपित किया गया है। परम अक्षरों के द्वारा कही गई यह विद्या दैत्यों के बल का शमन करने वाली तथा शत्रुओं के प्राणों का नाश करने वाली है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव के द्वारा अर्चिता अर्थात् उपासिता यह महाविद्या साधकों को अभीष्ट वर देने वाली स्थितिरूपा है। स्थिति अर्थात् पालन। स्थितिरूपा होने के कारण यह विद्या अपने भक्तों और साधकों की सर्वविधि रक्षा करती है तथा उन्हें भोग एवं मोक्ष के यथावांछित साधन प्रदान करती

है। स्थितिरूपा से यह संकेत भी मिलता है कि यह वैष्णवी विद्या है। तीनों लोकों में इसके समान कोई अन्य विद्या नहीं है।।१३१-१३३।।

[ऊनत्रिंशदक्षरी मृत्युञ्जयाख्या विद्या, तत्र कूटत्रयञ्च]

वाग्भवं प्रथमं चैव शिवः शक्तिस्ततः परा।
वह्निबीजं ततः पश्चात् भौतिकेन समन्वितम्।।१३४।।
भगो माया मादनेन्द्रमहामायाविभूषितम्।
एतत्तु वाग्भवं कूटं सर्वपक्षेषु दुर्लभम्।।१३५।।
क्लींकारं गगनं चन्द्रो मादनेन्द्रेण मायया।
प्राणो मदनशून्यौ च देवराजः सुरेश्वरी।।१३६।।
कामराजमिदं प्रोक्तं शक्तिकूटमथोच्यते।
सौःकारं शिवशक्ती च वह्निबीजं मनुस्वरम्।।१३७।।
सर्गचन्द्रं नादयुक्तं शक्तिब्रह्मेन्द्रमायया।।१३८।।
सृष्टिरूपा महाविद्या सारभूता महोदया।।१३९।।

अथ मन्त्रान्तरमभिदधानः प्रथमं तस्य वाग्भवकूटमाह—**वाग्भवं प्रथममित्यादिना**। वाग्भवः ऐँ, शिवो हकारः, पराशक्तिः सकारः, ततो भौतिकेन ऐँकारेण समन्वितं वह्निबीजं रैँ, भग एकारः, माया ईकारः, मादनः ककारः, इन्द्रो लकारः, महामाया ह्रीमिति। एवञ्च ऐँ ह स रैँ ए ई क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। B-पुस्तकपादटिप्पण्यान्तु ईकारककारयोर्मध्ये सकारोऽधिको दृश्यते। परन्तु भगो मायामादनेन्द्रेत्यादिप्रमाणेन सकारस्यालाभात् स नास्माभिर्मन्त्रे निवेशित इति ध्येयम्। कामराजकूटमाह—**क्लींकारमित्यादिना**। क्लीं, गगनं हकारः, चन्द्रः सकारः, मादनः ककारः, इन्द्रो लकारः, माया ह्रीं इति कामराजप्रथमकूटम्। द्वितीयं कामराजकूटमाह—**प्राणाविति**। अत्र प्राणश्च प्राणश्च प्राणावित्येकशेषः। तत्र प्रथमप्राणशब्देन हकारो द्वितीयप्राणशब्देन च सकारो लभ्येते। ततश्च प्राणावित्यनेन ह स इति प्राप्तम्। मदनः ककारः, शून्यो हकारः, देवराजो लकारः, सुरेश्वरी ह्रीं। एवञ्च ह स क ह ल ह्रीमिति द्वितीयकूटम्। अत्र B-पुस्तकपादटिप्पण्यां कृते मन्त्रोद्धारे लकारात् पूर्वं हकारो नास्ति, तत्तु निरुक्तप्रमाणविरुद्धम्। अत्र निरुक्तकूटद्वयात्मकं कामराजकूटमित्यवधेयम्।

[ऊनत्रिंशदक्षरी विद्या]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम् १	२	शक्तिकूटम्
ऐँ ह स रैँ ए ई क ल ह्रीं	क्लीं ह स क ल ह्रीं	ह स क ह ल ह्रीं	सौः ह स रौँः स क ल ह्रीं

शक्तिकूटमाह—**सौःकारमित्यादिना**। सौः, शिवो हकारः, शक्तिः सकारः। **वह्निबीजमिति**। वह्निबीजं रकारः, मनुस्वर औकारः, सर्गो विसर्गः, ततो बिन्दुनादौ एतेन रौँः इति प्राप्तम्। शक्तिः सकारः, ब्रह्मा ककारः, इन्द्रो लकारः, माया ह्रीं। एवञ्च सौः ह स रौँः स क ल ह्रीमिति शक्तिकूटमिति पर्यवस्यति। (टिप्पण्यान्तु सौः ह स क ल रौं इत्यादि)।

ऊनत्रिंशदक्षरी विद्या—इन पाँच श्लोकों में ऊनत्रिंशत् (२९) अक्षरी विद्या का उद्धार बताया गया है। २९ अक्षरों वाली इस विद्या में दो कामराज कूट हैं।

वाग्भव कूट—वाग्भव बीज (ऐं), शिव (ह), शक्ति (स)। इनके बाद भौतिक (ऐ) समन्वित अग्निबीज 'रं' अर्थात् रैं। 'रैं' के बाद भग (ए), माया (ई), मादन (क), इन्द्र (ल) तथा महामाया (ह्रीं)—यह वाग्भव कूट हैं—'ऐं ह स रैं ए ई क ल ह्रीं।'

कामराज कूट (प्रथम)—क्लींकार (क्लीं), गगन (ह), चन्द्र (स), मादन (क), इन्द्र (ल) और माया (ह्रीं) अर्थात् 'क्लीं ह स क ल ह्रीं'—इस विद्या का प्रथम कामराज कूट है।

कामराज कूट (द्वितीय)—प्राणौ अर्थात् दो प्राण। प्रथम प्राण का अर्थ है—'ह' और दूसरे प्राण का अभिप्राय है—'स'। इस तरह 'प्राणौ' का अर्थ हुआ ' ह स'। 'ह स' के बाद मादन (क), शून्य (ह), देवराज (ल), सुरेश्वरी (ह्रीं)। द्वितीय कामराज कूट का स्वरूप है—'ह स क ह ल ह्रीं'।

शक्तिकूट—सौःकारं (सौः), शिव (ह), शक्ति (स)। इनके बाद मनुस्वर अर्थात् चौदहवें स्वर 'औ' तथा विसर्ग एवं नाद (बिन्दु) से विभूषित अग्निबीज 'र'—स्वरूप हुआ 'रौंः'।'रौंः' के बाद शक्ति (स), ब्रह्मा (क), इन्द्र (ल) तथा माया (ह्रीं)। कूटस्वरूप निष्पन्न हुआ—'सौः ह स रौंः सकलह्रीं'। यह शक्तिकूट है।

एक वाग्भट कूट, दो कामराज कूट तथा एक शक्तिकूट-समन्विता इस ऊनत्रिंशद् (२९) अक्षरी विद्या का स्पष्ट रूप है—'ऐं हसरैं ए ई क ल ह्रीं। क्लीं हसकल ह्रीं। हसकहल ह्रीं। सौः हसरौँः सकलह्रीं।'

दो कामराज कूट लेने के इस मन्त्र के दो रूप नहीं होते। दोनों ही कामराज कूट एक ही ऊनत्रिंशदक्षरी (२९ अक्षरी) विद्या के भाग हैं।

यह महाविद्या सृष्टिरूपा है। सृष्टिरूपा कहने से यह संकेत मिलता है कि यह रजोगुण-प्रधाना ब्राह्मी विद्या है॥१३४-१३९॥

[सप्तत्रिंशदक्षरी विद्या, तत्र वाग्भवकूटम्]

अमृता पाशबीजन्तु शक्त्यन्तं वाग्भवो भृगुः।
शिवात्मा तत्परो वह्निर्भौतिकेनेन्दुना युतः॥१४०॥
झिण्टीशो वामनेत्रन्तु कामेन्द्रौ भुवनेश्वरी।
एतत्तु वाग्भवं कूटं कथितं सर्वदुर्लभम्॥१४१॥

सप्तत्रिंशदक्षरं त्रिकूटघटितं मन्त्रान्तरमभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटमाह— अमृतेत्यादिना। अत्र अमृता अकारः, पाशबीजम् आं। **शक्त्यन्तमिति।** शक्तिः सकारः, तद्युक्तोऽन्तश्चतुर्दशस्वर औकारस्तेन सौः इति प्राप्तम्। वाग्भट ऐँ, भृगुः सकारः, शिवात्मा हकारः, तत्परस्तस्माद्धकारात् परो वह्नीरकारः, स च भौतिकेन ऐकारेण बिन्दुना च युक्तस्तेन रैं इति प्राप्तम्। झिण्टीश एकारः, वामनेत्रम् ईकारः, कामः ककारः, इन्द्रो लकारः, भुवनेश्वरी ह्रीं। एवञ्च अ आं सौः ऐँ स ह रैं ए ई क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्।

सप्तत्रिंशदक्षरी (३७) विद्या—ऊनत्रिंशद् (२९) अक्षरी विद्या के बाद सप्तत्रिंशद् (३७) अक्षरी विद्या का उद्धार बताया गया है। इन दो श्लोकों में इस विद्या के वाग्भव कूट का उद्धार बताया गया है। इसके वाग्भव कूट में १२ वर्ण हैं। यथा—

वाग्भव कूट—अमृता (अ), पाशबीज (आं), शक्त्यन्त (सौः), वाग्बीज (ऐं), भृगु (स), शिवात्मा (ह)। इनके बाद चन्द्रबिन्दु और भौतिक (ऐ) से संयुक्त वह्निबीज (र) अर्थात् 'रैं'। तत्पश्चात् झिण्टीश (ए), वामनेत्र (ई), काम (क), इन्द्र (ल) तथा सबसे अन्त में भुवनेश्वरी (ह्रीं), कूटस्वरूप निष्पन्न हुआ—अ आं सौः ऐं स ह रैं ए ई क ल ह्रीं।।१४०-१४१।।

[एतत्कूटजपप्रशस्तिः]

एतज्जप्त्वा महाबीजं किं न सिध्यति भूतले।।१४२।।
मूको भवति वागीशो वाक्पतिर्जायते ध्रुवम्।
वागीशं स्पर्द्धते वाक्यैः सर्वज्ञस्तु प्रजायते।।१४३।।

एतद्वाग्भवकूटजपफलमाह—एतदित्यादिना।

वारह अक्षरों का यह वाग्भव कूट महाबीज है। इस महाबीज का जप करने से संसार में किस चीज की सिद्धि नहीं होती? अर्थात् इसकी साधना करने से सभी सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। इसकी साधना करने से मूक (गूंगा) व्यक्ति भी वागीश (देवगुरु बृहस्पति) के समान सर्वशास्त्र-विशारद और प्रवल वक्ता बन जाता है।।१४२-१४३।।

[कामराजकूटम्]

कामकूटं प्रवक्ष्यामि सर्वसिद्धिप्रदायकम्।
वाग्भवं मान्मथं बीजं सौःकारं बिन्दुमालिनी।।१४४।।
नादबिन्दुकलायुक्ता शक्तिः शिवस्ततः परम् ।
ब्रह्मा शक्रश्च वह्निश्च मायार्द्धेन्दुसमन्वितः।।१४५।।
शिवः शक्तिर्दिवानाथौ हरेन्द्रौ भुवनेश्वरी।

अथ कामराजकूटमाह—**कामकूटं प्रवक्ष्यामीत्यादिना**। वाग्भवबीजं ऐँ, मन्मथबीजं क्लीं, ततः सौः, ततो नादबिन्दुकलायुक्ता बिन्दुमालिनी ईँ, शक्तिः सकारः, शिवो हकारः, ब्रह्मा ककारः, शक्रो लकारः, वह्नी रकारः, स च मायया ईकारेण अर्द्धचन्द्रेण च समन्वितः तेन रीँ इति प्राप्तम्। ततः शिवो हकारः, शक्तिः सकारः, दिवानाथः ककारः, हरो हकारः, इन्द्रो लकारः, भुवनेश्वरी ह्रीं। एवञ्च ऐँ क्लीं सौः ईँ स ह क ल रीँ ह स क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटम्।

कामराज कूट—सप्तत्रिंशद् (३७) अक्षरी विद्या के वाग्भव कूट के बाद इन अढ़ाई श्लोकों में पन्द्रह वर्णों वाले कामराज कूट का उद्धार बताया गया है।

वाग्भव (ऐं), मान्मथ बीज (क्लीं), सौःकार (सौः), नाद-बिन्दुयुक्ता बिन्दुमालिनी (ई), शक्ति (स), शिव (ह) इसके बाद ब्रह्मा (क), शक्र (ल), माया (इ) तथा अर्धचन्द्र-लक्षित अग्निबीज (र) अर्थात् 'रीँ'। तदनन्तर शिव (ह), शक्ति (स), दिवाकर (क), हर (ह), इन्द्र (ल) और भुवनेश्वरी (ह्रीं)।

कूटस्वरूप—'ऐं क्लीं सौः ईँ स ह क ल रीँ हसकहलह्रीं।'

पन्द्रह अक्षरों वाला यह कामराज कूट सर्वसिद्धि-प्रदायक है॥१४४-१४५॥

[एतत्कूटजपप्रशस्तिः]

एतत्कूटस्य माहात्म्यं शतकोटिसुविस्तरम्॥१४६॥
एतत्कूटवरं मन्त्री यो जानाति स साधकः।
हेलया त्रिदिवं प्राप्य मोदते शम्भुना सह॥१४७॥
रात्रियोगेन च शतं सहस्रं यदि वा जपेत्।
वाञ्छितं लभते कामं सत्यमेव न संशयः॥१४८॥

इस कूट के माहात्म्य का विस्तार सौ करोड़ योजनात्मक है। जो व्यक्ति इस श्रेष्ठ कूट को जानता है, वही साधक है, वही मन्त्रज्ञ है। इस कूट के साधक को खेल-खेल में ही स्वर्ग और भगवान् शिव का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है। यदि रात्रियोग में इस कूट का सौ-सहस्र जप किया जाय तो संसार की कोई भी कामना हो, वह पूरी हो जाती है॥१४६-१४८॥

[शक्तिकूटम् एतत्कूटजपप्रशस्तिश्च]

मनुस्वरः सबिन्दुश्च शक्तिः शिवस्ततः परम्।
बालायाः शक्तिकूटञ्च शक्तिस्तु कमलासनः॥१४९॥
गोत्रभिद् भुवनेशानी हंसबीजं ततः पठेत्।
शक्तिकूटमिदं पुण्यं पुरुषार्थप्रवर्तकम्॥१५०॥
मृत्युञ्जयाख्या विद्येयं सप्तत्रिंशाक्षरी परा।

शक्तिकूटमाह—**मनुस्वर इत्यादिना।** सबिन्दुर्मनुस्वर औं इति। शक्तिः सकारः, शिवो हकारः, बालायाः शक्तिकूटं सौः, शक्तिः सकारः, कमला सनो ब्रह्मा ककारः, गोत्रभिदिन्द्रबीजं लकारः, भुवनेशानीं ह्रीं, हंसबीजं हंसः इति। एवञ्च औं स ह सौः स क ल ह्रीं हंसः इति शक्तिकूटमित्येवं पर्यवस्यति। शिवः शक्तिरिति पाठे तु ह स सौरित्यादिमन्त्रो भवतीति ज्ञेयम्। तदेतेषां समष्टिरूपो मन्त्रो रेखान्यासेन प्रदर्श्यते।

शक्तिकूट—बिन्दु से युक्त चौदहवाँ स्वर अर्थात् औं। शक्ति (स), शिव (ह), बाला का शक्तिकूट (सौः) इसके बाद शक्ति (स), कमलासन ब्रह्मा (क), गोत्रभिद् अर्थात् इन्द्र (ल), भुवनेशानी (ह्रीं) और अन्त में हंसबीज अर्थात् 'हंस'। इन दस वर्णों के संयोजन से शक्तिकूट निष्पन्न होता है। यथा—औं स ह सौः सकलह्रीं हंसः।'

[सप्तत्रिंशदक्षरी मृत्युजयाख्या विद्या]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
अ	ऐँ	औँ
आं	क्लीं	स
सौः	सौः	ह
ऐँ	ईँ	सौः
स	स	स
ह	ह	क
रैँ	क	ल
ए	ल	ह्रीं
ई	रीँ	हं
क	ह	सः
ल	स	
ह्रीं	क	
	ह	
	ल	
	ह्रीं	

तीन कूटों वाले इस सप्तत्रिंशद् (३७) अक्षरी मन्त्र का स्पष्ट रूप है—'अ आं सौः ऐँ सहरैँ ए ई क ल ह्रीं। ऐं क्लीं सौः ईँ स ह क ल रीँ हसकहलह्रीं। औं सहसौः सकलह्रीं हंसः'।

इस सप्तत्रिंशद् (३७) अक्षरी विद्या को मृत्युञ्जया विद्या भी कहा जाता है॥१४९-१५०॥

[एतत्त्रिंशकूटात्मकमन्त्रप्रशस्तिः]

पृथिव्यां दुर्लभा विद्या चतुर्वर्गप्रदायिनी।
न देया कस्यचित् स्थाने सुयोग्या दुर्लभा परा॥१५१॥

चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषार्थचतुष्टय प्रदान करने वाली यह विद्या पृथिवी में अत्यन्त दुर्लभ है। किसी ऐरे-गैरे अर्थात् अपात्र व्यक्ति को यह विद्या नहीं देनी चाहिए॥१५१॥

[पञ्चदशाक्षरी विद्या, तत्र कूटत्रयञ्च]

शिवौ मदनशक्रौ च शक्तिस्तु भुवनेश्वरी।
ब्रह्मा शिवेन्द्रौ शक्तिश्च महामाया ततः परा॥१५२॥

मादनेन्द्रौ शक्तिशिवौ महामाया तदन्तिके।
एषा पञ्चदशी भाषा साक्षात् त्रिपुरसुन्दरी।।१५३।।

अथ पञ्चदशाक्षरं मन्त्रान्तरमाह—**शिव इत्यादिना**। शिवो हकारः, मदनः ककारः, शक्रो लकारः, शक्तिः सकारः, भुवनेश्वरी ह्रीं। एवञ्च ह क ल स ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। कामराकूटमाह—**ब्रह्मेत्यादिना**। ब्रह्मा ककारः, शिवो हकारः, इन्द्रो लकारः, शक्तिः सकारः, महामाया ह्रीं। एवञ्च क ह ल स ह्रीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटमाह—**मादनेत्यादिना**। मादनः ककारः, इन्द्रो लकारः, शक्तिः सकारः, शिवो हकारः, महामाया ह्रीं। एवञ्च क ल स ह ह्रीमिति शक्तिकूटम्। एतेषां समष्टिरूपो मन्त्रो यथा—

[पञ्चदशाक्षरी भाषासुन्दरी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ह	क	क
क	ह	ल
ल	ल	स
स	स	ह
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

सप्तत्रिंशदक्षरी मृत्युञ्जया विद्या के बाद इन दो श्लोकों में त्रिकूटा पञ्चदशाक्षरी विद्या का उद्धार बताया जा रहा है। इस पञ्चदशाक्षरी विद्या का वाग्भव कूट शिव (ह), मादन (क), शक्र (ल), शक्ति (स) तथा भुवनेश्वरी (ह्रीं) के संयोजन से बनता है—'हकलसह्रीं'।

ब्रह्मा (क), शिव (ह), इन्द्र (ल), शक्ति (स) तथा महामाया (ह्रीं) के संयोजन से कामराज कूट निष्पन्न होता है—'कहलसह्रीं'।

मादन (क), इन्द्र (ल), शक्ति (स), शिव (ह) और महामाया (ह्रीं) के संयोजन से शक्तिकूट बनता है—'कलसहह्रीं'।

त्रिकूटात्मक पञ्चदशाक्षरी विद्या का समष्टिरूप है—'हकलसह्रीं कहलसह्रीं कलसहह्रीं'।

पन्द्रह अक्षरों वाली इस विद्या का नाम 'भाषासुन्दरी' है।

विमर्श—बृहत् तन्त्रसार में यथा उद्धृत 'बृहत् श्रीक्रमतन्त्र' के अनुसार देवी पार्वती ने भगवान् शिव से भाषा, सृष्टि, स्थिति, संहृति और निराख्या-नामक पाँच प्रकार के सुन्दरी मन्त्र बताने का अनुरोध किया। इन पाँच प्रकार के सुन्दरी मन्त्रों में भाषासुन्दरी प्रथम मन्त्र है, जिसका उद्धार उपर्युक्त श्लोकों में बताया गया है। शेष चार सुन्दरीमन्त्र हैं—

२. सृष्टिसुन्दरी—हसकलह्रीं हलकहसह्रीं सकलह्रीं।

३. स्थितिसुन्दरी—हलकसह्रीं कसलहसह्रीं कहसलह्रीं।

४. संहृतिसुन्दरी—हलकसह्रीं हसकलहरह्रीं हसकलहरह्रीं।

५. निराख्या—लससह्रीऐं सहकलह्रीं हससहकह्रीं।

[एतन्मन्त्रप्रकर्षः प्रामाणिकतन्त्रसंवादित्वञ्च]

सर्वज्ञानमयी देवी चतुर्वर्गप्रदायिनी।
एवमेषा महाविद्या महात्रिपुरसुन्दरी।।१५४।।
बृहच्छीक्रमतन्त्रस्य मतमेतदुरीरितम्।।१५५।।

यह भाषासुन्दरी विद्या सर्वज्ञानमयी और पुरुषार्थचतुष्टय-प्रदायिनी महाविद्या है। 'बृहत् श्रीक्रम तन्त्र' में यह मन्त्र बताया गया है।।१५४-१५५।।

[अथ शाम्भवकामराजविद्यानिरूपणप्रतिज्ञा]

अथ विद्यां प्रवक्ष्यामि कामदेवेन सेविताम्।
यस्य आराधनेनैव कामः सर्वाङ्गसुन्दरः।।१५६।।

भाषा-सुन्दरी विद्या के बाद अब कामदेव-उपासिता विद्या का निरूपण किया जा रहा है। इस विद्या की आराधना करके कामदेव विश्व में सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्यशाली बन गये।।१५६।।

[एतद्विद्याप्रकर्षः]

विद्यानामुत्तमा विद्या सर्वतीर्थमयी परा।
सर्वशास्त्रमयी विद्या सर्वसौभाग्यसुन्दरी।।१५७।।

यह विद्या सभी विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ है, सर्वतीर्थमयी है, परा है, सर्वशास्त्रमयी एवं सौभाग्यसुन्दरी है।।१५७।।

[तस्या द्वैविध्यम्]

शाक्तशाम्भवभेदेन कथयामि सुदुर्लभाम्।।१५८।।

शाक्त और शाम्भवभेद से इसके दो भेद हैं। यह विद्या अत्यन्त दुर्लभ है। इस शाम्भव कामराज विद्या का मैं निरूपण कर रहा हूँ।।१५८।।

[तत्र शाम्भवकामराजविद्या पञ्चदशाक्षरी]

कन्दर्पो विष्णुयुक्तोऽधरमुखसहितो दक्षकर्णोद्ध्र्ववर्णो
भूमायावर्णयुक्तस्तदनुकुलपरः शम्भुपूर्वः स्मरश्च।
कन्दर्पारिः सुरेन्द्रस्त्रिभुवनजननी चाथ सोमः कलार्णौ
दत्त्वा मायां तदन्ते भजति सुरगणो मन्त्रमेनं प्रसिद्धम्।।१५९।।

कन्दर्प इति। विष्णुरकारस्तद्युक्तः कन्दर्पः क् इति वर्णः। अत्र व्यञ्जनवर्णस्य स्वातन्त्र्येणोच्चारणासामर्थ्याद् विष्णुयुक्त इत्युक्तम्। अन्यत्राप्येवमेव। अधरेति। अधरस्य ऐकारस्य मुखमैकारस्तत्सहित इत्यर्थः, एतेन क ए इति वर्णद्वयं प्राप्तम्। दक्षेति। दक्षकर्ण उकारस्तस्य ऊद्ध्र्ववर्ण ईकारः, भूमिबीजं लकारः, मायाबीजं ह्रीं। एवञ्च मन्त्रस्यास्य क ए ई ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। अस्य कूटभेदांस्त्वग्रे स्वयमेव वक्ष्यति। तदनु द्वितीये कामराजकूटे प्रथमं कुलपरः शिवो हकारः, शम्भुपूर्वः शम्भुः

शिवबीजं हकारस्तत्पूर्वः सकारः, स्मरः ककारः, कन्दर्पारिर्हकारः, सुरेन्द्रो लकारः, त्रिभुवनजननी ह्रीं। एवञ्च ह स क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। ततः शक्तिकूट-मभिधत्ते—**अथेति**। अत्राथशब्दः कूटभेदसूचकः। सोमश्चन्द्रबीजं सकारः, कलार्णौ क ल इति वर्णद्वयम्, तदन्ते तेषां त्रयाणां वर्णानामन्ते मायां ह्रीमिति मायाबीजं दत्त्वा सुरगणो भवतीति सम्बन्धः। एतेन स क ल ह्रीमिति शक्तिकूटमिति पर्यवस्यति। अत्र सुरगणो भजतीत्युक्त्या सुराणानुपासनीयत्वं मर्त्यानामनुपासनीयत्वञ्चास्य सूचितम्।

इस श्लोक में शाम्भव कामराज विद्या का उद्धार बताया गया है। विष्णु अर्थात् 'अ'कार-सहित कन्दर्प—'क्' अर्थात् 'क' अधर (ए), दक्षकर्ण अर्थात् 'उ'कार, 'उ'कार का पूर्ववर्ण 'ई' भू अर्थात् 'ल' माया अर्थात् ह्रीं। इस प्रकार 'क ए ई ल ह्रीं' इसका प्रथम कूट है।

तदनु अर्थात् दूसरा कूट। कुलपरः अर्थात् शिव (ह), शम्भूपूर्व 'ह'कार का पूर्ववर्ती वर्ण 'स'कार। स्मर (क) कन्दर्पारि-शिव (ह), सुरेन्द्र (ल) एवं त्रिभुवन जननी—ह्रीं। 'हसकहलह्रीं' इस विद्या का दूसरा कूट है।

सोमः अर्थात् सकार। 'स' के बाद दो वर्ण 'क' एवं 'ल' तथा इनके अन्त में माया—ह्रीं। इस तरह 'सकलह्रीं' इस विद्या का तृतीय कूट है। तीन कूट वाले इस मन्त्र का स्पष्ट रूप है—'कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं'।

इस पञ्चदशाक्षरी मन्त्र की उपासना तो देवता भी करते हैं।।१५९।।

[तत्र कूटत्रयविभागपरिपाटी]

आयन्तु वाग्भवं कूटं पञ्चवर्णात्मकं शुभम्।
ऋतुवर्णात्मकं कूटं कामराजन्तु मध्यमम्।।१६०।।
चतुरक्षररूपन्तु शक्तिकूटं तदन्तिमे।
एवं कूटात्मिका देवी त्र्यक्षरी त्रिपुरेश्वरी।।१६१।।

अस्य कूटभेदान् दर्शयति—**आद्यन्त्वित्यादिना**। प्रथमं पञ्चवर्णात्मकं वाग्भवकूटम्, द्वितीयं षड्वर्णात्मकं कामराजकूटम्। तृतीयं वर्णचतुष्टयात्मकं शक्तिकूटम्। कूटत्रयविभागपुरस्सरमस्य स्वरूपं रेखापातेन प्रदर्श्यते—

[शाम्भवकामराजविद्या पञ्चदशाक्षरी]
(कीलिता)

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क	ह	स
ए	स	क
ई	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	
	ह्रीं	

पन्द्रह अक्षरों वाले इस मन्त्र के प्रथम पाँच वर्णों का जो प्रथम कूट है, उसे 'वाग्भव कूट' कहते हैं। छः वर्णों का जो दूसरा कूट है, उसे कामराज कूट कहते हैं। चार अक्षरों का जो तीसरा कूट है, वह शक्ति कूट है। इस तरह पन्द्रह अक्षरों वाली यह त्रिपुरेश्वरी विद्या त्रिकूटा अर्थात् तीन कूटों वाली है।।१६०-१६१।।

विमर्श—'ज्ञानार्णवतन्त्र' में इस विद्या के कूटत्रय का निरूपण करते हुए कहा गया है—'वाग्भवं पञ्चवर्णं तु। कामराजमिदं भद्रे षड्वर्णं सर्वमोहनम्' तथा 'शक्तिर्बीज वरारोहे चन्द्राद्यं चतुरक्षररूपं।' वहीं इस विद्या का प्रकर्ष बताते हुए कहा गया है—

सर्वतीर्थमयी देवि! सर्वदेवस्वरूपिणी॥११॥
सर्वशास्त्रमयी विद्या सर्वयोगमयी परा।
सर्वयज्ञमयी संवित् सर्वज्ञानस्वरूपिणी॥१२॥
सर्वदेवमयी साक्षात् सर्वसौभाग्यसुन्दरी।
एनामुपास्य देवेशि! कामः सर्वाङ्गसुन्दरः॥१३॥
कामराजो भवेद् देवि! नित्येयं ब्रह्मरूपिणी॥१४॥

सर्वदेवमयी ब्रह्मस्वरूपिणी यह विद्या कीलिता है; जैसा कि अगले श्लोक में कहा गया है—

[अस्याः विद्यायाः कीलितत्वम्]

वामकेशी शाम्भवी सा पूर्वाम्नायैः प्रकीर्तिता।
ज्ञेया सा कीलिता विद्या सिद्धिदा न हि भूतले॥१६२॥

इस वामकेशी शाम्भवी विद्या की परिगणना पूर्वाम्नाय में की जाती है। यह विद्या कीलिता है। अतः उत्कीलन किये विना कितनी भी साधना करने पर यह विद्या सिद्ध नहीं होती, जैसा कि एक पूर्व वृत्तान्त से सिद्ध होता है॥१६२॥

[अत्र प्राचीनेतिवृत्तम्]

एतत्कारणवृत्तान्तं कथयामि समासतः॥१६३॥
ब्राह्मणो मूर्ख एको हि महादुःखी महीतले।
आसीच्च नगरे नित्यं भिक्षार्थी विचरेद्द्विजः॥१६४॥
कदाचिदेकः सन्न्यासी तं ददर्श द्विजं कृशम्।
जलाभिलाषिणं विप्रं निजगाद सरस्तटे॥१६५॥
कस्मादिह समायातः को वा त्वं कथय ध्रुवम्।
विलोक्य सहसा विप्रो नत्वा तं दण्डधारिणम्॥१६६॥
ब्राह्मणोऽहं दुःखभागी कमलाकरसंज्ञकः।
दत्त्वाशीर्वादं सन्न्यासी भूयो ब्राह्मणमब्रवीत्॥१६७॥

उत्कीलन के बिना कितनी ही साधना करने पर भी यह विद्या सिद्ध नहीं होती। इस सम्बन्ध में एक प्राचीन वृत्तान्त है। किसी नगर में एक अत्यन्त मूर्ख और दरिद्र ब्राह्मण रहता था। भीख माँगकर गुजारा करता था। एक दिन जब वह ब्राह्मण जल लेने के लिये नदी-तट पर गया, उसे एक दण्डीधारी संन्यासी ने देखा। वह संन्यासी उस दरिद्र ब्राह्मण के पास गया और उसका वृत्तान्त पूछा। ब्राह्मण ने संन्यासी को

प्रणाम करके बताया कि वह कमलाकर नामक एक दुःखी एवं दरिद्र ब्राह्मण है। संन्यासी ने उसे आशीर्वाद दिया और कहा॥१६३-१६७॥

तत्रैव दुःखनाशार्थं हितोपायं शृणु द्विज।
मन्त्रैकं कथयामि त्वां स्नानं कुरु विधानतः॥१६८॥
विधिवत् स्नानमाचर्य जलादुत्थाय तत्क्षणात् ।
पद्मपत्रे जलं कृत्वा पद्मपुष्पेण चार्च्चय॥१६९॥
यथा ज्ञानविधानेन गुरुणा कथितो मनुः॥१७०॥
यताहारेण भो विप्र पुरश्चरणमेव हि।
कर्तव्यं पुण्यतीर्थेषु पर्वतेषु नदीषु वा॥१७१॥
विभूतिर्भविता गुर्वी वाणी तव मुखे सदा।
भूपतिर्भूतले भूत्वा चान्ते स्वर्गं गमिष्यसि॥१७२॥
आज्ञाप्य शिष्यमिति यद्धर्मात्मा मन्त्रविद् गुरुः।
तपःस्थाने ततो गत्वा पुनस्तद्धर्ममाचरेत्॥१७३॥
गुरोर्वचनमाकर्ण्य शिष्यः स कमलाकरः।
एकचित्तः सदा भूयो जपेन्मन्त्रं विधानतः॥१७४॥

हे ब्राह्मण! तुम्हारे दुःखों के नाश के लिये मैं तुम्हें एक मन्त्र बताता हूँ। नदी में स्नान करके कमलपत्र में जल लेकर एवं कमलपुष्प से उसकी अर्चना करो। गुरु के द्वारा दिया गया यह मन्त्र मैं तुम्हें बताता हूँ। यथाविहित आचार-विचार का सम्यक् रूप से पालन करते हुए किसी पुण्य तीर्थ में, पर्वतशिखर या नदी पर इसका पुरश्चरण करो। इस मन्त्र के प्रभाव से तुम दरिद्रता से छुटकारा पाकर विद्वत्ता-सम्पन्न राजा बन जाओगे तथा अन्त में तुम्हें स्वर्गलोक की प्राप्ति होगी। कमलाकर नाम वाले उस ब्राह्मण ने संन्यासी से उक्त मन्त्र प्राप्त किया। ब्राह्मण को मन्त्रदान करके वह मन्त्रविद् गुरु संन्यासी अपने तपोस्थान को चला गया और इधर उस ब्राह्मण ने मन्त्र-साधना प्रारम्भ की॥१६८-१७४॥

लक्षसंख्यमुक्तस्थाने यतिर्भूत्वा द्विजोत्तमः।
अनेककालपर्यन्तं न लब्ध्वा वाञ्छितं फलम्॥१७५॥
अनाहारो मुक्तनिद्रो जपेन्मन्त्रं सुविस्तरम्।
न दृष्ट्वा कार्यसम्पत्तिं महादुःखी बभूव सः॥१७६॥
तपो व्यर्थं वृथा विद्या मन्त्रतन्त्रमकारणम्।
एतत् कष्टं समासाद्य वदत् विप्रो विषादवान्॥१७७॥
न माता न पिता चैव न भ्राता न च बान्धवाः।
सारथिर्नास्ति मेऽरण्ये महादुःखेऽप्युपस्थिते॥१७८॥

निर्दयो मे विधाता च निर्दयो मे सनातनः।
निर्दयः पार्वतीनाथो निर्दया करुणामयी।।१७९।।
धर्मकर्म तिरस्कृत्य मन्त्रतन्त्रं विशेषतः।
स दिदृक्षुर्विधातारं गहनं वनमाविशत्।।१८०।।

कमलाकर नामक उक्त ब्राह्मण ने यति धर्म का निर्वाह करते हुए उक्त स्थान में एकचित्त होकर मन्त्र का एक लाख जप किया। निद्रा त्याग कर निराहार रहते हुए मन्त्र-साधना करते-करते बहुत समय बीत गया; मगर मन्त्र-सिद्धि के न तो कोई लक्षण प्रकट हुए और न कोई सम्पत्ति प्राप्त हुई। मन्त्रपुरश्चरण की यह असफलता देखकर वह ब्राह्मण अत्यन्त खिन्न एवं दुःखी हो गया। उसे यह प्रतीत होने लगा कि यह तप-साधना तथा तन्त्र-मन्त्र सर्वथा व्यर्थ हैं। उसने नाहक ही कष्ट उठाया। इस महादुःख की अवस्था में मुझे साथ देने वाला न तो कोई बन्धु-बान्धव है, न मेरे माता-पिता हैं। विधाता भी निर्दय है, पार्वतीनाथ (शिव) के हृदय में भी कोई करुणा नहीं है। करुणामयी देवी भी पाषाणहृदया है। इस प्रकार धर्म-कर्म विशेषकर तन्त्र-मन्त्र को कोसता हुआ, वह ब्राह्मण विधाता के दर्शन के लिये गहन वन में प्रविष्ट हो गया।।१७५-१८०।।

जन्तवो बहवस्तत्र विशालव्यालसङ्कुलाः।
यक्षराक्षसकुष्माण्डडाकिनीगणसंवृताः ।।१८१।।
उत्तमं भयमासाद्य क्लेशतापेन तापितः।
बलहींनो वटुर्भूत्वाभर्त्सयत् कमलासनम्।।१८२।।
इत्थमेवंविधे काले भर्त्सिते कमलासने।
वटुना दुःखितेनापि सरस्तेनावलोकितम्।।१८३।।
नानापुष्पसमाकीर्णं हंसषट्पदशोभितम्।
नानावृक्षतटाक्रान्तं नानापक्षिविभूषितम्।।१८४।।
क्रन्दन् भूमौ वटुः शेते सरस्तीरे विषादवान्।
ब्रह्मोद्देशे तनुं त्यक्त्त्वा क्षिप्रं यामि यमालयम्।।१८५।।
सरःकमलसंस्थोऽपि लज्जया चतुराननः।
ब्राह्मणं रूपमास्थाय गतवान् विप्रसन्निधौ।।१८६।।

उस गहन वन में भयंकर हिंसक प्राणी तथा जहरीले नाग आदि थे। यक्षों, राक्षसों, कुष्माण्डों और डाकिनियों का वहाँ डेरा था। इन हिंसक और रुधिरप्रिय प्राणियों का जमावड़ा देखकर वह ब्राह्मण बहुत भयभीत हो गया। भय और सन्ताप के कारण उसकी रही-सही ताकत भी क्षीण हो गई। डर के कारण बलहीन होकर वह कमलासन ब्रह्माजी को तरह-तरह से कोसने लगा। इसी बीच उसने वहाँ एक सरोवर देखा। उस मनोरम सरोवर में स्वच्छ जल भरा था। उसमें तरह-तरह के

जलीय पुष्प लगे थे। हंस और अन्य जलीय पक्षियों का आवास था। उसके तट पर विभिन्न-विभिन्न प्रकार के सुन्दर वृक्ष थे, जिन पर विभिन्न प्रकार के सुन्दर पक्षियों का बसेरा था। वह दु:खी और भयभीत ब्राह्मण इस सरोवर के तट पर आया। भूमि पर बैठकर उसने यह निश्चय किया कि विधाता ब्रह्मा को कारण मानकर वह आत्महत्या कर लेगा। उसे इस प्रकार आत्महत्या के लिये तत्पर देखकर विप्र वेश धारण करके ब्रह्माजी उस कमलाकर नामक ब्राह्मण के समीप आये॥१८१-१८६॥

शयनस्थं द्विजं क्लिष्टं तमुवाच पितामहः।
कस्त्वं कथं वने चास्मिन् हेतुना केन वागतः।।१८७।।
श्रुत्वा तद्वचनं विप्रो विस्मितश्चाभवत्तदा।
कुतः कमागतः को वा मनुष्यो वाथ दानवः।।१८८।।
किञ्चिन्न भाषते वाक्यं ब्राह्मणं पृष्टवान् पुनः।
अव्यक्तचक्षुषा विप्रः प्रत्युत्तरं ददाति सः।।१८९।।
त्वमेव कः समायातः कस्मादिह वदस्व तत्।
द्विजस्य वचनं श्रुत्वा ब्रह्मा वाक्यमभाषत।।१९०।।
ब्राह्मणोऽहं तपस्वी च निवसाम्यत्र कानने।
जलं फलं समादाय तपस्तप्तो ह्यतन्द्रितः।
अनेककालपर्यन्तं नरसङ्गविवर्जितः।।१९१।।
कथं त्वमीदृशो रूपं कथ्यतां तद्द्विजोत्तम।
त्वां विलोक्य विशेषेण मदीयं दह्यते वपुः।।१९२।।
एतद्दुःखमभिप्राप्य कथमत्रापि तिष्ठसि।।१९३।।

सरोवर के तट पर लेटे हुए उस ब्राह्मण से पितामह ब्रह्माजी ने पूछा कि वह कौन है, कहाँ का रहने वाला है और किस प्रयोजन से इतने घने वन में आया है? ब्रह्माजी की आवाज सुनकर वह ब्राह्मण डर गया और सोचने लगा कि यह कौन है? मनुष्य है कि राक्षस है? इस घने वन में अचानक ही यह कहाँ से आ गया? इसी ऊहापोह में उस ब्राह्मण की बोलती बन्द हो गई। उसने ब्रह्माजी के प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं दिया। दुबारा पूछे जाने पर उसने सहमते-सहमते ब्रह्माजी से पूछा कि आप कौन हैं और कहाँ से आये हैं? उस ब्राह्मण के प्रश्नों को सुनकर पितामह ब्रह्माजी ने कहा कि मैं एक तपस्वी ब्राह्मण हूँ। मनुष्यों का सान्निध्य छोड़कर एक लम्बे समय से मैं इस घने जंगल में कन्द-मूल खाकर तपस्या कर रहा हूँ। अब तुम बताओ कि तुम कौन हो, तुम्हारी यह दशा किसलिये हो गई है। तुम्हारा दु:ख देखकर मैं भी दु:खी हो रहा हूँ। मुझसे अपना सही-सही हाल कहो॥१८७-१९३॥

ब्राह्मण उवाच

विधातुर्दर्शनार्थाय आगतोऽस्मि वनान्तिके।
तदुद्देशे वधं कृत्वा यास्यामि धर्मशाश्वतम्।।१९४।।

ब्राह्मण ने कहा—मैंने जीवन भर दुःख ही दुःख उठाये हैं। मेरे इस दुःख और कष्टमय जीवन के कारण ब्रह्माजी हैं। मैं उन्हें ही ढूँढ़ते-ढूँढ़ते इस जंगल में आया हूँ। उनको देखकर मैं उनके नाम पर यहाँ अपनी जान दे दूँगा॥१९४॥

ब्रह्मोवाच

वृथाऽऽशा क्रियते विप्र या न स्यात् पृथिवीतले॥१९५॥
कैलासशिखरे रम्ये ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
तिष्ठन्ति सर्वदा देवाः कदाचित् स्वर्गशासने॥१९६॥
कथं भवेद्दर्शनं वा त्वया सार्द्धं हविर्भुजः।
इदं शरीरमादाय गच्छ त्वं निजवेश्मनि॥१९७॥
तपस्विनं प्रणम्याथ विप्रो वचनमब्रवीत्।
गच्छ गच्छ महाभाग तूर्णमेव निजालयम्॥१९८॥
मत्कर्मफलयोगेन यदर्थमुपकल्पितम्।
तद्वोक्तव्यं मया साक्षात् किमेतद्वचनेन वै॥१९९॥
दर्शनं ब्रह्मणा सार्द्धं भवेद् यद्यचिरान्मम।
निवृत्तिर्मे तदा ज्ञेया अन्यथा निधनं किल॥२००॥
निष्ठुरं वचनं श्रुत्वा ब्राह्मणस्य प्रजापतिः।
प्रपलाय्य गतस्तस्माद् यत्र देवो महेश्वरः॥२०१॥
प्रणिपातसहस्रेण देवदेवं प्रणम्य च।
पुनः परमया भक्त्या निजगाद पितामहः॥२०२॥
किं करोमि जगन्नाथ कुत्र गच्छामि साम्प्रतम्।
ब्राह्मणस्य वधेनैव विनाशो मे भविष्यति॥२०३॥
ज्ञात्वा तु सर्वं वृत्तान्तं सर्वज्ञः परमेश्वरः।
प्रत्युवाच विधातारं किं वधं ब्रूहि मे ध्रुवम्॥२०४॥
ब्रह्मणा सर्ववृत्तान्तं कथितं शङ्करस्य च।
केनोपायेन देवेश तद्वधो न भवेन्मयि॥२०५॥

ब्रह्माजी ने कहा—तुम्हारी यह तलाश व्यर्थ है। ब्रह्मा-विष्णु और शिव पृथ्वी पर नहीं रहते। वे कैलासशिखर पर निवास करते हैं। देवताओं का वास स्वर्गलोक में है। पृथ्वी पर ढूँढ़ने पर वे तुम्हें कहाँ मिलेंगे। अतः यह व्यर्थ की आशा छोड़कर अपने घर जाओ। तपस्वीरूपी ब्रह्माजी को प्रणाम करके कमलाकर नामक उस ब्राह्मण ने कहा—हे महाभाग! आप अपने घर जाइये। मैं अपने कर्मों का फल भोग रहा हूँ। यदि शीघ्र ही ब्रह्माजी के दर्शन हो जायँ तो मैं उनसे इन आपदाओं से छुटकारा पाने का उपाय पूछूँ; अन्यथा मर जाना तो मेरी तकदीर में है। ब्राह्मण के

ये कड़ुवे वचन सुनकर प्रजापति ब्रह्माजी वहाँ से चलकर भगवान् शिव के पास पहुँचे। शिवजी को प्रणाम करके उन्हें सारा हाल बताया और कहा कि यदि उस ब्राह्मण ने सचमुच ही आत्महत्या कर ली तो ब्रह्महत्या का पाप मुझे लगेगा। मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? कोई ऐसा उपाय कीजिये कि वह ब्राह्मण आत्महत्या न कर पाये और न मुझे ब्रह्महत्या का पाप लगे॥१९५-२०५॥

तूष्णीं भूयो महेशोऽपि सहसा सरसीं प्रति।
जगामाव्यक्तरूपेण ब्राह्मणस्य च सन्निधौ।।२०६।।
कमलाकरमाहूयावदत्तत्र पिणाकधृक्।
कथं त्यजसि देहं त्वं कान्तमत्यन्तसुन्दरम्।।२०७।।
आत्मघाती भवेद् यस्तु क्रुद्धात्मा धरणीतले।
मत्तः शृणु विशेषं त्वमुत्कटं नरकं व्रजेत्।।२०८।।
नोच्यते वटुना तेन ज्ञानहीनेन दुःखिना।
विचिन्त्यैतन्महादेव उपविश्य पुनर्वदन्।।२०९।।

सारा वृत्तान्त सुनकर शिवजी भी कुछ क्षणों के लिये मौन हो गये। वहाँ से अन्तर्धान होकर वे उस ब्राह्मण के पास सरोवर के तट पर पहुँचे। उन्होंने उस ब्राह्मण कमलाकर से कहा—तुम इतना सुन्दर शरीर क्यों छोड़ रहे हो। ध्यान से मेरी बात सुनो। जो कोई व्यक्ति क्रोध या सन्ताप से आत्महत्या करता है, वह घोर नरक में जाता है तथा उसे भीषण नरक-यातना झेलनी पड़ती है। इसलिये मेरा कहा मानो—आत्महत्या का विचार दिल से निकाल दो। शिवजी के उपदेश का भी उस पर कोई असर नहीं हुआ। वह बिना कोई उत्तर दिये, चुपचाप ही खामोश बैठा रहा। उसको इस तरह चुपचाप देखकर शिवजी ने फिर से कहा॥२०६-२०९॥

दुर्मोहस्त्वं दुराचारो मुक्तहार्दोऽप्रियंवदः।
मां विलोक्य महारण्ये न ददास्युत्तरं कथम्।।२१०।।
इत्येतद् वचनं श्रुत्वा तथोमेशं ददर्श सः।
देवदेवं जगन्नाथं तपस्विरूपधारिणम्।।२११।।
नत्वा विनम्रभावेन स्वीयदुःखं न्यवेदयत्।
अखिलं सर्ववृत्तान्तं कथितं तद्द्विजेन तु।।२१२।।

उसके इस व्यवहार को देखकर शिवजी ने कहा—तुम बहुत अशिष्ट हो। इतने घने जंगल में तुमसे सुख-दुःख पूछकर तुम्हारे प्रति सहानुभूति व्यक्त करने वाले के प्रति तुम्हारा यह व्यवहार उपेक्षापूर्ण तथा अशिष्ट है तपस्वी वेशधारी भगवान् शिव को देखकर और उनकी फटकार सुनकर उस ब्राह्मण कमलाकर ने विनम्र भाव से अपना कुल वृत्तान्त सुनाया॥२१०-२१२॥

ज्ञात्वा श्रुत्वा महेशोऽपि द्विजस्य मनुलक्षणम्।
सदयः पार्वतीनाथो ब्राह्मणाय वचोऽब्रवीत्।।२१३।।
गृहीतदुष्टमन्त्रेण हन्यते सिद्धिरुत्तमा।।२१४।।
प्रत्युवाच द्विजस्तत्र कथं जानामि लक्षणम् ।
समस्तं ब्रूहि भगवत् शृणोमि त्वत्प्रसादतः।।२१५।।

उसका हाल जानकर और उस ब्राह्मण के द्वारा उपासित मन्त्र के लक्षण सुनकर भगवान् शिव ने कहा—दुष्ट मन्त्र ग्रहण करने और उसकी साधना करने से सिद्धि की हानि तो होती है, विपत्तियाँ अलग से उठानी पड़ती हैं। उनके इन वचनों को सुनकर उस ब्राह्मण ने भगवान् शिव से सिद्धदायी मन्त्रों के स्वरूप एवं लक्षण जानने की जिज्ञासा की।।२१३-२१५।।

ईश्वर उवाच

तवाभिप्रायमासाद्य सर्वं ज्ञातं मया द्विज।
यदि त्वं प्रियमाकाङ्क्षी विप्रोऽसि परमार्थतः।।२१६।।
तदा मनो मनुं गृह्ण भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्।।२१७।।
कथिता देवदेवेन विद्या परमदुर्लभा।
ब्राह्मणाय सुसिद्धा सा सर्वाभीष्टप्रदायिनी।।२१८।।
एवमुक्तो विभुस्तस्य अन्तर्धानोऽभवच्च सः।।२१९।।
लक्षमेकं मनुं जप्त्वा व्रती चैव द्विजोत्तमः।
लभेताभीष्टसिद्धन्तु सत्यमेव सुनिश्चितम्।।२२०।।
शुद्धमन्त्रप्रभावेण प्रत्यक्षा चण्डिकाभवत्।
वरं गृहाण विप्र त्वं मनसा वाञ्छितं यथा।।२२१।।
दृष्ट्वा तां चण्डिकां देवीं नमस्कुर्याद्द्विजोत्तमः।
इह विप्रपतिर्भूत्वा परे यामि विभोस्तनौ।
वरेणातःपरेणापि फलं किं मे भविष्यति।।२२२।।
एकं भो न वरं लेभे परं ब्रह्मसमागमम्।
अधुना भूपतिर्भूत्वा राज्यसौख्यमवाप्स्यसि।।२२३।।
अतः परं मनुं जप्त्वा शचीपतिर्भविष्यसि।।२२४।।
वरं लब्ध्वा महाभागो ब्राह्मणः कमलाकरः।
चण्डिकायाः प्रसादेन सहसा स नृपोऽभवत्।।२२५।।
लभते वाञ्छितां सिद्धिं मन्त्रात् कार्यं न सिध्यति।।२२६।।

अतोऽपि विधिनानेन यो जपेत् कीलितं मनुम्।
कल्पकोटिशतेनापि सिद्धिस्तस्य न जायते।।२२७।।

इति श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचिते श्रीतत्त्वचिन्तामणौ नवम: प्रकाश:।।१०।।

एकमिति। एकं परंब्रह्मसमागमं वरं कोऽपि न लेभे अतोऽलं ते तत्प्रार्थनया। तत् किं मया लभ्यमित्यत आह—**अधुनेत्यादि।** मन्त्रादिति कीलितमन्त्रादित्यर्थः।

शिवजी ने कहा—हे ब्राह्मण! मैं तुम्हारा आशय और अभिप्राय समझ गया हूँ। यदि तुम वस्तुत: अपनी भलाई चाहते हो तो मुझसे मन्त्र ग्रहण करो। वह इसके लिये तत्पर हो गया। अत: देवदेव महादेव ने उस ब्राह्मण को सर्वाभीष्ट-प्रदायिनी परम दुर्लभ विद्या प्रदान की। दीक्षा देकर वे अन्तर्धान हो गये। इधर उस ब्राह्मण ने यथाविधान उस मन्त्र का एक लाख जप किया। शुद्ध मन्त्र के प्रभाव से भगवती चण्डिका ब्राह्मण के समक्ष प्रकट हुईं और ब्राह्मण से वरदान माँगने के लिये कहा। भगवती को प्रणाम करके उस ब्राह्मण कमलाकर ने भगवती से कहा कि मैं ब्रह्म- समागम अर्थात् मोक्षरूप केवल एक ही वरदान नहीं चाहता। मैं चाहता हूँ कि मैं पहिले भूलोक में राजा बनकर सुख-भोग करूँ। तत्पश्चात् मृत्यु के बाद विभु स्वरूप परमात्मा में विलीन हो जाऊँ। भगवती चण्डिका (त्रिपुरसुन्दरी) ने उसे वरदान देते हुए कहा—अब तुम राजा बनकर सांसारिक सुख प्राप्त करो। इसके बाद इसी श्रेष्ठ मन्त्र के प्रभाव से देवलोक में इन्द्र पद प्राप्त करो। भगवती के वरदान से वह ब्राह्मण राजा बन गया।

भगवान् शिव द्वारा बताई गई विधि के अनुसार ही मन्त्रजप और साधना करने से ही अभीष्ट की सिद्धि होती है। मनमाने ढंग से साधना करने और करोड़ों जप करने पर भी सिद्धि लाभ नहीं होता।।२१६-२२७।।

विमर्श—तन्त्रग्रन्थों में पुराणों की तरह दृष्टान्तकथायें देने की परिपाटी नहीं है, फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थ में कमलाकर ब्राह्मण की उपर्युक्त कथा उद्धृत करके विद्वान् ग्रन्थकार ने इस लक्ष्य को रेखांकित किया है कि यदि तन्त्र-साधना करनी है तो उसके लिये विहित नियमों का कठोरतापूर्वक पालन अनिवार्य है। इसकी पहिली शर्त तो यही है कि सद्गुरु से अनुकूल मन्त्र प्राप्त करना, फिर मन्त्र का संस्कार करना। चूँकि गायत्री, सप्तशती एवं पञ्चदशाक्षरी आदि लगभग सभी मन्त्र शापित और कीलित हैं; अत: साधना प्रारम्भ करने के पूर्व उन्हें शाप-मुक्त एवं निष्कीलित करके मन्त्र-जप के रहस्यों का पालन किया जाना अनिवार्य है। मनमाने ढंग से साधना करने पर प्रजापिता ब्रह्माजी से भी प्राप्त मन्त्र की साधना सफल नहीं होती। यहाँ शिव का ही विधान चलता है।

श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचित श्रीतत्त्वचिन्तामणि के दशम प्रकाश का
'भावना'-भाष्य पूर्ण हुआ।।१०।।

●

एकादशः प्रकाशः

[शाक्तकामराजविद्या, लोपामुद्राभेदनिरूपणम्, शाक्तपञ्चमीभेदनिरूपणञ्च]

[प्रागुक्तमन्त्रदोषस्मरणम्]

प्रकाशे दशमेऽमुत्र श्रीविद्याविषये किल।
अभिशप्तस्य मन्त्रस्य कारणं लिखितं मया।।१।।

पिछले दशम प्रकाश में श्रीविद्या के विषय में जिस शाम्भव पञ्चदशाक्षरी मन्त्र का निरूपण किया गया है, वह कीलित मन्त्र है। अत: उस कीलित मन्त्र की साधना से सिद्धि की प्राप्ति कष्टसाध्य है।।१।।

[अथाकीलितविद्यानिरूपणप्रतिज्ञा]

अथातोऽकीलितां विद्यां शाक्तां परमदुर्लभाम्।
ऊद्ध्वाम्नायमहातन्त्रे शिवेन परिकीर्त्तिताम्।
सङ्केतेन प्रवक्ष्यामि श्रीगुरोः कृपया पराम्।।२।।

पूर्वं दशमे प्रकाशे कमलाकरोपाख्यानेनाभिशप्तस्य शाम्भवकामराजमन्त्रस्य सिद्धिप्रतिबन्धकत्वं विशेषेणोपपाद्य प्रकाशेऽस्मिंस्तत् स्मारयति—**प्रकाश इत्यादिना।** सा शाम्भवकामराजविद्या कीलितत्वदोषपरिहारक्रमानुसरणमन्तरेणानाराधिता सिद्धिं प्रतिबध्नाति। वक्ष्यमाणशाक्तकामराजविद्या तु कीलितत्वादिदोषपरिहीनतया साधकैः सुतरामुपादेयेत्येवाह—**अथात इत्यादिना।**

अतएव श्रीगुरुदेव की परम-अनुकम्पा से मैं शाक्त पञ्चदशाक्षरी मन्त्र का संक्षेप में निरूपण कर रहा हूँ, जिसका उपदेश भगवान् शिव ने ऊर्ध्वाम्नाय तन्त्र में किया है और जो सर्वथा अकीलित एवं दोषमुक्त है।।२।।

[शाक्तकामराजविद्या, तत्र कूटत्रयञ्च]

वामाक्षी भगवर्णस्तु काममिन्द्रौ(?) महेश्वरी।
पूर्ववत् कामशक्त्याख्यौ वर्णौ निष्कीलितात्मकौ।।३।।

इदानीं तामकीलितां शाक्तकामराजविद्यामूद्ध्वाम्नायतन्त्रानुसारिणीमाह—**वामाक्षीत्यादिना।** वामाक्षी ईकारः, भगवर्ण एकारः, कामः ककारः, इन्द्रो लकारः, महेश्वरी ह्रीं। एवञ्च ई ए क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटमिति पर्यवस्यति। **पूर्ववदिति।**

अत्रायमभिप्रायः—पूर्वं शाम्भवकामराजविद्यायां क ए ई ल ह्रीमिति निरुक्तवाग्भवकूट-समावेशेनैव तस्याः कीलितत्वम्, अतस्तद्वाग्भवकूटपरित्यागेन यद्यपरकूटद्वयम् ई ए क ल ह्रीमित्येतन्मन्त्रोक्तवाग्भवकूटेन संयोज्येत, तदा न कीलतत्वदोषः। इममेवार्थं सूचयितुमत्र तद्विलक्षणं वाग्भवकूटमात्रमभिधाय पूर्ववत् कामशक्त्याख्यावित्यादिना ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीमित्येतयोः कामराजशक्तिकूटयोर्ग्रहणं समुदितमन्त्रस्य निष्कीलितत्वञ्चाभिहितमिति निष्कर्षः। कूटत्रयविभागपूर्वकं समुदितो मन्त्रः प्रदर्श्यते—

[शाक्तकामराजविद्या]

वाग्भव-कूटम्	कामराज-कूटम्	शक्ति-कूटम्
ई	ह	स
ए	स	क
क	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	
	ह्रीं	

वामाक्षी (ई), भगवती (ए), काम (क), इन्द्र (ल) और भुवनेश्वरी (ह्रीं) के संयोजन से शाक्त पञ्चदशाक्षरी का वाग्भव कूट निष्पन्न होता है। यथा—'ई ए क ल ह्रीं'।

पिछले प्रकाश में बताये गये शाम्भव पञ्चदशाक्षरी मन्त्र के शेष दो कूट अर्थात् कामराज कूट (हसकहलह्रीं) और शक्तिकूट (सकलह्रीं) कीलित नहीं है। अत: इन दोनों निष्कीलित कूटों को यथावत् ग्रहण करें। इस तरह मन्त्र-स्वरूप होगा—'ई ए क ल ह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं'।

इससे यह ध्वनित होता है कि उक्त शाम्भव पञ्चदशाक्षरी मन्त्र का केवल वाग्भव कूट कीलित है और इसके कारण समस्त मन्त्र कीलित हो गया है।।३।।

[अस्या निष्कीलितत्वं प्रकर्षः आम्नायविशेषानुगतत्वञ्च]

निष्कीलिता महाविद्या शाक्ता सर्वार्थसिद्धिदा।
सवीर्या मोक्षदा नित्या त्रैलोक्यवशकारिणी।।४।।
पूर्वाम्नायमहाविद्या सुगोप्तव्या प्रयत्नतः।।५।।

यह शाक्त पञ्चदशाक्षरी निष्कीलिता एवं सभी सिद्धियाँ प्रदान करने वाली महाविद्या है। अत्यधिक क्षमता एवं शक्ति वाली यह विद्या त्रैलोक्य को वश में करने वालां तथा मोक्ष प्रदान करने वाली है।

यह पूर्वाम्नाय की विद्या है तथा इसे सर्वविध गुप्त ही रखना चाहिए।।४-५।।

[पश्चिमाम्नायानुगतलोपामुद्रानिरूपणप्रतिज्ञा]

लोपामुद्रां प्रवक्ष्यामि पश्चिमाम्नाययोजिताम्।।६।।

अब मैं लोपामुद्रा-उपासिता पञ्चदशाक्षरी विद्या बता रहा हूँ। यह विद्या पश्चिम-आम्नाय में पूजिता है।।६।।

[शाम्भवलोपामुद्रा]

हसौ कामः शक्रो भुवनभयभङ्गव्यसनिनी
शिवः सोमः सूर्यो मदनदहनः शक्रगिरिजे।
विधुर्ब्रह्मा भूमिर्भुवनजननीबीजघटिता
भजन्त्येते धन्याः परमपदविज्ञाननिपुणाः।।७।।

शाम्भवीं लोपामुद्रां संहारदोषयुक्तामाह—हसावित्यादिना। हसाविति हकारः, सकारश्च, कामः ककारः, शक्रो लकारः, भुवनभयभङ्गव्यसनिनी ह्रीं। एवञ्च ह स क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। **शिव इति**। शिवोऽकारः, सोमः सकारः, सूर्यः ककारः, मदनदहनो हकारः, शक्रो लकारः, गिरिजा ह्रीं। एवञ्च ह स क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। **विधुरिति**। विधुः सकारः, ब्रह्मा ककारः, भूमिर्लकारः, भुवनजननीबीजं ह्रीमिति तेन घटिता। एवञ्च स क ल ह्रीमिति शक्तिकूटम्। तथा चैतत्समुदितो मन्त्रः कूटभेदेन प्रदर्श्यते—

[शाम्भवी (प्रथमा) लोपामुद्रा संहारदोषयुक्ता]

वाग्भव-कूटम्	कामराज-कूटम्	शक्ति-कूटम्
ह	ह	स
स	स	क
क	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	
	ह्रीं	

'हसौ:' अर्थात् 'ह'कार एवं 'स'कार। काम (क), शक्र (ल) एवं भुवनभङ्गव्यसनिनी (ह्रीं) के संयोजन से इसका वाग्भट कूट निष्पन्न होता है—'हसकलह्रीं'।

शिव (ह), सोम (स), सूर्य (क), मदनदहन अर्थात् शिव (ह), शक्र (ल) एवं गिरिजा (ह्रीं)—ये इस विद्या के कामराज कूट के वर्ण हैं। कूट का स्वरूप है—'हसकहलह्रीं'।

विधु (स), ब्रह्मा (क), भूमि (ल), भुवनजननी बीज (ह्रीं) से इसका शक्ति कूट 'सकलह्रीं' निष्पन्न होता है।

परमपद विज्ञान में निष्णात जो साधक इस विद्या की उपासना करते हैं, वे धन्य हैं।।७।।

[निरुक्तकूटत्रयस्वरूपम्]

शुक्लं वाग्भवमादिबीजमुदितं शास्त्रेषु बुद्धिप्रदं
रक्तं कोटिसितेतरांशुसदृशं कामाधिराजं परम्।
वश्यं यस्य चराचरादि जगतो योनिश्च या कीर्त्तिता
शाक्तं गौरमनन्ततापशमनं बीजं शिवं साधकैः।।८।।

निरुक्तमन्त्रघटकवाग्भवादिकूटत्रयस्य स्वरूपमाह—**शुक्लमित्यादिना**। शाक्तं शक्तिकूटमित्यर्थः।

इस श्लोक में इस विद्या के तीनों कूटों के वर्ण बताये गये हैं। इसके वाग्भव कूट का वर्ण शुक्ल है। इस कूट की साधना करने से ज्ञान और विद्वता मिलती है। कामराज कूट का वर्ण रक्त (लाल) है। यह सारा संसार इस कामराज कूट के वश में है। शक्तिकूट का वर्ण गौर है, जो सभी प्रकार के ताप और सन्ताप का शमन करके साधकों का कल्याण करता है॥८॥

विमर्श—'ज्ञानार्णवतन्त्र' (द्वितीय पटल) में भी कहा गया है कि 'वाग्भव कूट चन्द्रमा के समान धवल एवं उज्ज्वल तथा वागीशत्व प्रदान करने वाला है। वीर-बहूटी के समान चटख और चमकीले लाल रंग की कान्ति वाला कामराज कूट पूरे संसार को आकर्षित एवं मोहित किये हुए है। सुवर्ण वर्ण का शक्तिकूट सौभाग्यदायक है॥११-१२॥

[अस्याः प्रकर्षः]

शिवशक्तिमयी देवी साक्षात्त्रिपुरसुन्दरी।
दुर्लभा परमा विद्या संहारदोषसंयुता॥
शाम्भवी सा समुद्दिष्टा—

यह शिव-शक्तिमयी अत्यन्त दुर्लभा शाम्भवी विद्या है। भगवती त्रिपुरसुन्दरी का साक्षात् अक्षर विग्रह है; मगर शाम्भवी होने के कारण संहार दोष-युक्ता है।

[शाक्तलोपामुद्रा तत्र वाग्भवकूटम्]

—शाक्ताञ्च कथयाम्यथ॥९॥
झिण्टीशोऽपि भगः कामो देवराजो महेश्वरी।

[कामराजशक्तिकूटे]

पूर्ववत् कामशक्त्याख्यौ वर्णौ निष्कीलितात्मकौ॥१०॥

एवं शाम्भवलोपामुद्रामभिधाय शाक्तां लोपामुद्रां पञ्चदशाक्षरीमाह—**झिण्टीश** इत्यादिना। झिण्टीश एकारः, भगोऽत्र ईकारः, कामः ककारः, देवराजो लकारः, महेश्वरी ह्रीं। एवञ्च ए ई क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। **पूर्ववदिति**। कामराजकूटं शक्तिकूटञ्च पूर्ववत् शाम्भवलोपामुद्रावदित्यर्थः। एतत्त्रिकूटघटितमन्त्रस्य स्वरूपं रेखान्यासेन प्रदर्श्यते—

[पञ्चदशाक्षरी शाक्तलोपामुद्रा]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ए	ह	स
ई	स	क
क	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	
	ह्रीं	

इस श्लोक में पञ्चदशाक्षरी शाक्त लोपामुद्रा का उद्धार बताया गया है। यथा—झिण्टीश (ए), भग (ई), काम (क), देवराज इन्द्र (ल), महेश्वरी (ह्रीं)—इन वर्णों के संयोजन से पञ्चदशाक्षरी शाक्त लोपामुद्रा का वाग्भव कूट बनता है—'ए ई क ल ह्रीं'।

पूर्ववत् अर्थात् पूर्वकथित शाम्भव लोपामुद्रा के कामराज कूट और शक्तिकूट निष्कीलित होने के कारण शाक्त पञ्चदशाक्षरी में यथावत् ग्राह्य हैं। अतः शाक्त लोपमुद्रा विद्या का स्पष्ट रूप बना—'एईकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं'।।९-१०।।

[सप्तदशी शाक्तलोपामुद्रा]

एषा श्रीः प्राणसंयुक्ता महात्रिपुरसुन्दरी।

यदि इस मन्त्र के अन्त में प्राण अर्थात् 'हं सः' की योजना कर दी जाय तो यह सप्त दशाक्षरी मन्त्र हो जायेगा। मन्त्ररूप होगा 'एईकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं हंसः'।

[अस्याः प्रकर्षः]

विद्या वेद्या परा गुप्ता संहारदोषवर्ज्जिता।
संहारी पूर्वमुद्दिष्टा दानहीना न भोगदा।।११।।

मन्त्रान्तरमाह—एषेति। प्रागुक्ता पञ्चदशाक्षरी श्रीः श्रीविद्यैव प्राणेन हंसबीजेन हंस इति वर्णद्वयेनेत्यर्थः, संयुक्ता चेत्तदा सप्तदशाक्षरी महात्रिपुरसुन्दरी भवेदित्यर्थः। तदुक्तं तन्त्रसारे—

त्रिकूटान्ते हंसबीजं विन्दुसर्गविभूषितम्।
एषा श्रीः प्राणसंयुक्ता दारिद्र्यदुःखमोचनी।।

इति। एतन्मन्त्रस्वरूपं प्रदर्श्यते—

[सप्तशाक्षरीयम्]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ए	ह	स
ई	स	क
क	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	हं
	ह्रीं	सः

यह विद्या जानने योग्य और ग्रहण करने योग्य गुप्त विद्या है। यह संहार दोष से वर्जिता है अर्थात् इसमें संहार दोष नहीं है, जबकि इसके पूर्व कही गई शाम्भवी विद्या संहारी है। संहार दोष के कारण भोग प्रदान करने में सक्षम नहीं है।।११।।

विमर्श—उपर्युक्त ७वें श्लोक से ११वें श्लोक-पर्यन्त पाँच श्लोकों में शाम्भव लोपामुद्रा और शाक्त लोपामुद्रा विद्याओं का निरूपण किया गया है। ये दोनों विद्यायें त्रिकूटात्मिका हैं। इनमें से जिस विद्या के वाग्भव कूट का प्रथम वर्ण शिववाचक है वह शाम्भवी विद्या है और जिसके वाग्भव कूट का प्रथम वर्ण शक्तिवाचक है, वह शाक्त विद्या है। दोनों विद्याओं के वाग्भव कूट अलग-अलग हैं; लेकिन दोनों विद्याओं में कामराज कूट और शक्तिकूट एक ही हैं। शाम्भव विद्या का वाग्भव कूट कीलित तथा शाक्त विद्या का वाग्भव कूट निष्कीलित है। वाग्भव कूट के कीलित होने के कारण शाम्भव विद्या को 'संहारदोषसंयुता' तथा शाक्त विद्या के वाग्भव कूट के निष्कीलित होने के कारण उसे 'संहारदोष वर्जिता' कहा गया है। पञ्चदशाक्षरी शाम्भवी लोपामुद्रा को 'संहारदोषसंयुता' कहे जाने से यह नहीं समझना चाहिए कि यह विद्या अग्राह्य और अपूज्य है। यदि ऐसा होता तो इस

शाम्भवी विद्या को 'शिवशक्तिमयी साक्षात् त्रिपुरसुन्दरी' तथा 'दुर्लभा परमा विद्या' (श्लोक ९) निरूपित करते हुए ८वें श्लोक में यह नहीं कहा गया होता कि 'परम पद विज्ञान में निपुण' जो लोग इसकी उपासना करते हैं, वे धन्य हैं। यथार्थ यह है कि वाग्भव कूट का प्रथम वर्ण शिवात्मक होने के कारण शाम्भवी विद्या शिव के गुण वाली है। अत: 'संहारदोषसंयुता' का अर्थ यह है कि यह विद्या निवृत्ति-प्रधाना है, मुमुक्षुकामियों के लिये श्रेष्ठ एवं वरेण्य है। जब तक सम्यक् रूप से इसका निष्कीलन नहीं होगा, वह गृहस्थ साधकों को यथावांछित सांसारिक भोग और विभूति प्रदान नहीं करेगी, जबकि शाक्त विद्या भोग और मोक्ष—दोनों एक साथ प्रदान करती है।

पूर्वे यदादौ च त्रिमूर्त्तिका च
ज्योत्स्ना यदा स्यात् परतस्तथावत्।
तदा हि मन्त्रे विनियोज्य बीजं
प्रवर्त्ततेऽर्णः क्रमशो विशेषः।।१२।।

मन्त्रामन्तरमाह—**पूर्व इति**। पूर्वे प्रागुक्तकामराजविद्याया वाग्भवकूटे यदा आदौ त्रिमूर्त्तिका दीर्घेकारस्तथा ज्योत्स्ना एकारः स्यात्, एतेन ई ए क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटं यदा स्यादिति बोध्यम्। तदा मन्त्रे प्रागुक्तायामीकारादिकामराजविद्यायामित्यर्थः, बीजं हंसबीजं विनियोज्य त्रिकूटान्त इति शेषः, वक्ष्यमाणमन्त्रे तथा दर्शनात्। क्रमशो विशेषाऽर्णः विशिष्टो मन्त्रो भवतीत्यर्थः। रेखापातेनायं मन्त्रः प्रदर्श्यते—

[पञ्चदशाक्षरी शाक्तलोपामुद्रा]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ए	ह	स
ई	स	क
क	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	
	ह्रीं	

त्रिमूर्तिका अर्थात् 'ई' तथा ज्योत्स्ना अर्थात् ए। इस श्लोक में १७ अक्षरों के एक अन्य मन्त्र का उद्धार बताया गया है। यदि पूर्वोक्त अर्थात् कामराज विद्या के वाग्भव कूट के प्रथम दो अक्षरों को हटाकर उनके स्थान पर क्रमशः 'ई' और 'ए' की योजना की जाय तथा शक्तिकूट में 'हं स:' लिखा जाय तो १७ अक्षरों का एक अन्य मन्त्र बनता है—'ई ए क ल ह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं हंस:'।

[सप्तदशाक्षरं मन्त्रान्तरम्]

इदन्तु कथितं सारं परञ्च कथयाम्यथ।

अथ सप्तदशाक्षरं मन्त्रान्तरं वक्तुं प्रतिजानीते—परञ्चेत्यादिना।

अब पूर्वोक्त सप्तदशाक्षरी मन्त्र में ही उद्भूत एक अन्य मन्त्र कहा जा रहा है।

[तत्र वाग्भवकामराजकूटयोर्विशेषः]

वाग्भवे कामराजे च शक्तिराद्या भवेद् यदि।।१३।।
सर्वसिद्धिकरी विद्या मुक्तिदा भोगदायिनी।
पूर्ववत् शक्तिकूटञ्च योजयेत्तदनन्तरम्।।१४।।
त्रिकूटान्ते हंसबीजं बिन्दुसर्गसमन्वितम्।
तदा सप्तदशी विद्या दुःखदारिद्र्यनाशिनी।।१५।।

अस्यापि मन्त्रस्य त्रिकूटघटितत्वेन प्रथमं वाग्भवकामराजकूटयोर्व्यवस्थामाह—**वाग्भव इत्यादिना।** प्रागुक्तसप्तदशाक्षरमन्त्रस्यैव वाग्भवकूटे यदि शक्तिराद्या भवेत् प्रागुक्तेकाराधःस्थितमेकारं यदीकारात् पूर्वं योजयेदित्यर्थः। तथा कामराजकूटे यदि शक्तिः सकारः आद्या भवेत् हकाराधःस्थितं सकारं यदि हकारात् पूर्वं योजयेदित्यर्थः। एतेन ए ई क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्, स ह क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटमित्युक्तं भवति। एतत्कूटद्वयजपफलमाह—**सर्वसिद्धिकरीत्यादिना।** शक्तिकूटमाह—**पूर्ववदिति।** अस्य मन्त्रस्य शाक्तलोपामुद्रा-पञ्चदशाक्षरमन्त्रप्रकृतिकतया पूर्ववत् शक्तिकूटमित्यनेन स क ल ह्रीमिति शाक्तकामराजशक्तिकूटमेव बोध्यम्। तस्य शक्तिकूटस्यान्ते बिन्दुविसर्ग-समन्वितं हंसबीजं हं सः इति वर्णद्वयं योजयेदित्यर्थः। अन्यथा पूर्वेणैव हंसबीजस्य लाभात् त्रिकूटान्ते इत्यादेर्वैयर्थ्यं स्यादिति ध्येयम्। रेखापातेनास्य संस्थानं प्रदर्श्यते—

[सप्तदशाक्षरी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ए	स	स
ई	ह	क
क	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	हं
	ह्रीं	सः

पूर्वोक्त अर्थात् श्लोकसंख्या १२ में बताई गई १७ अक्षरों वाली कामराज विद्या के वाग्भव कूट और कामराज कूट के 'ई' और 'ह' को हटाकर उनके आगे शक्तिवर्ण 'ए' और 'स' को स्थापित कर दिया जाय तथा 'हंसः'-सहित शक्तिकूट को यथावत् रखा जाय तो १७ अक्षरों का एक अन्य मन्त्र बनता है। यथा—'ए ई कलह्रीं सहकहलह्रीं सकलह्रीं हंसः'।

यह सप्तदशाक्षरी विद्या सर्व सिद्धियाँ प्रदान करने वाली तथा दुःख-दारिद्र्य का विनाश करके भुक्ति और मुक्ति प्रदान करने वाली है।।१३-१४।।

[अष्टादशाक्षरी]

ऐंकारं प्रथमे कूटे क्लींकारं कामराजके।
सौःकारं शक्तिकूटे च विद्या अष्टादशाक्षरी।।१६।।

अष्टादशाक्षरीं त्रिकूटघटितां विद्यामाह—ऐँकारमित्यादिना। हंसरूपवर्णद्वयरहित-स्यैव निरुक्तमन्त्रस्य कूटत्रयाणां प्रथमे वाग्भवकूटे आदाविति शेषः ऐँकारम्,

द्वितीयकामराजकूटस्यादौ क्लींकारम्, तृतीयशक्तिकूटस्यादौ सौःकारं चेन्नियोजयेत् तेन प्रागुक्ता पञ्चदशाक्षरी विद्यैव ऐँ क्लीं सौः इत्यक्षरत्रयवृद्ध्याष्टादशाक्षरी भवेदिति फलितार्थः। अस्याः संस्थानं प्रदर्श्यते—

[अष्टादशाक्षरी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ऐँ	क्लीं	सौः
ए	ह	स
ई	स	क
क	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	
	ह्रीं	

सप्तदशाक्षरी विद्या के बाद अब अष्टादश (१८) अक्षरी विद्या बता रहे हैं। उपर्युक्त पञ्चदशाक्षरी शाक्त लोपामुद्रा विद्या के तीनों कूटों के आदि में यदि क्रमशः 'ऐं', 'क्लीं' और 'सौः' की योजना की जाय तो अष्टदशाक्षरी विद्या निष्पन्न होती है। यथा—'ऐं ए ई कलह्रीं क्लीं हसकहलह्रीं सौः सकलह्रीं'॥१६॥

[विंशत्यक्षरी]

सर्वान्ते हंससंयुक्ता तदा विंशाक्षरी भवेत्।

विंशत्यक्षरीमाह—**सर्वान्त इति।** एतस्या अष्टादशाक्षरविद्यायाः सर्वान्ते शक्तिकूटान्ते इत्यर्थः। हंस इति वर्णद्वयनिवेशे विंशत्यक्षरी विद्या भवेदिति मन्त्रनिर्णयतन्त्रसम्मतः क्रमः। अस्याः संस्थानं यथा—

[विंशत्यक्षरी विद्या]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ऐँ	क्लीं	सौः
ए	ह	स
ई	स	क
क	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	हं
	ह्रीं	सः

यदि इस अष्टादशाक्षरी विद्या के शक्तिकूट के अन्त में 'हं सः' की योजना की जाय तो यह विद्या विंशति (२०) अक्षरी हो जाती है। यथा—'ऐं ए ई क ल ह्रीं हसकहलह्रीं सौः सकलह्रीं हंसः'।

[अत्र प्रामाणिकतन्त्रनिर्णयः]

मन्त्रनिर्णयतन्त्रस्य मतं ज्ञात्वेति कीर्त्तितम्।।१७।।

'मन्त्रनिर्णयतन्त्र' में यह मन्त्र बताया गया है॥१६-१७॥

[शाक्तवामकेशीविद्यायाः प्रशस्तिः]

पूर्वाम्नाये वामकेशी या विद्या समुदाहृता।
सवीर्या सिद्धिदा सा तु शाक्ता परमदुर्लभा।।१८।।

पूर्वं दशमे प्रकाशे कन्दर्पो विष्णुयुक्तोऽधरमुखसहित इत्यादिना या शाम्भवकामराजविद्याभिहिता सैव शाम्भवी वामकेशीत्युक्तं तत्रैव 'वामकेशी शाम्भवी सा पूर्वाम्नायैः प्रकीर्त्तिते'त्यादिना। सा च कीलिता सिद्धिपरिपन्थिनी। शाक्ता वामकेशी तु वीर्यवती सिद्धिदायिनी चेत्येवाह—पूर्वाम्नाय इत्यादिना।

पिछले दशम प्रकाश में 'कन्दर्पो विष्णुयुक्तोऽधरमुखसहित' इत्यादि श्लोक के द्वारा जो 'क ए ई ल ह्रीं' मन्त्र बताया गया है, वह पूर्वाम्नाय क्रम का शाम्भव मन्त्र है। यह मन्त्र कीलित है। इस क्रम की शाक्त विद्या अत्यन्त बलवती और सिद्धिदायिनी है॥१८॥

[विद्यायाः स्वरूपम्]

प्रथमं वाग्भवं कूटं बीजभेदाद् वदाम्यथ।
महेशः शक्तिकामौ च शक्रबीजं ततः पठेत्।
महामाया ततः पश्चात् सकीलं वाग्भवान्वितम्॥१९॥

तस्याः शाक्तवामकेश्याः किं स्वरूपमित्यत्राह—**प्रथममित्यादि**। प्रथममादिप्राप्तं वाग्भवकूटं वीजभेदाद् वदामीति सम्वन्धः। एवञ्च वाग्भवकूटभेदेनैवास्या भेदः, कामराजशक्तिकूटे तु पूर्ववदेवेति बोध्यम्। अथ वाग्भवकूटमाह—**महेश इत्यादिना**। महेशो हकारः, शक्तिः सकारः, कामः ककारः, शक्रबीजं लकारः, महामाया ह्रीं। एवञ्च ह स क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। समुदितमन्त्रस्वरूपमाह—**सकीलमिति**। वाग्भवान्वितमेतद् वाग्भवकूटविशिष्टं सकीलं कीलितशाम्भवकामराजं तत्कामराजकूटं तच्छक्तिकूटञ्च पठेदित्यर्थः। रेखापातेनास्य स्वरूपं प्रदर्श्यते—

[शाक्तकामराजभेदः]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ह स क ल ह्रीं	ह स क ह ल ह्रीं	स क ल ह्रीं

पिछले दसवें प्रकाश के श्लोकसंख्या १५८ के द्वारा कामराज उपासिता पञ्चदशाक्षरी विद्या का उल्लेख किया गया है और यह बताया गया है कि इस विद्या के शाक्त और शाम्भव क्रम से दो भेद हैं। वहाँ श्लोकसंख्या १५९ 'कन्दर्पो विष्णुयुक्तो०' आदि मन्त्र से शाम्भव पञ्चदशाक्षरी विद्या का उद्धार बताया गया है। यह शाम्भवी विद्या पूर्वाम्नाय क्रम की है। यह विद्या कीलिता है। उपर्युक्त प्रस्तुत श्लोक में इस विद्या के शाक्ती रूप का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि यह शाक्ती पञ्चदशाक्षरी विद्या अत्यन्त वीर्यवती और क्षिप्र सिद्धिदायिनी है॥१९॥

बीजभेद से इस शाक्त वामकेशी विद्या का वाग्भव कूट बताया जा रहा है। महेश (ह), शक्ति (स), काम (क) तथा शक्र (इन्द्र) बीज (ळ) तथा महामाया (ह्रीं) के संयोजन से शाक्त वामकेशी विद्या का प्रथम वाग्भव कूट निष्पन्न होता है। 'हसकलह्रीं' इस विद्या का प्रथम वाग्भव कूट है, जो कीलित है। कामराज कूट और शक्तिकूट पूर्ववत् हैं। मन्त्रस्वरूप है—हसकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं'।

[प्रकारान्तरम्]

यदीदं वाग्भवञ्चैव पुरा शक्तिश्च योजिता।
तदा गुप्ततमा विद्या न शास्त्रेषु प्रकीर्त्तिता।।२०।।
शिवः शक्तिस्ततो ब्रह्मा शिवः शक्रस्ततः परम्।
महामाया ततः पश्चाद् ब्रह्मबीजं तदन्तिके।
पूर्ववत् शक्तिबीजन्तु—

प्रकारान्तरमाह—**यदीत्यादिना**। यदि इदं वाग्भवकूटं विलिख्य तत्र पुरा प्रथमं हकारात् पूर्वं शक्तिः सकारः योजिता स्यादिति सम्बन्धः। एवञ्च पूर्वोक्तवाग्भवे हकारात् पूर्वं सकारे योजिते स ह क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटं भवति। अत्र कामराजकूटेऽपि विशेषमाह—**शिव इत्यादिना**। शिवो हकारः, शक्तिः सकारः, ब्रह्मा ककारः, पुनः शिवो हकारः, शक्रो लकारः, महामाया ह्रीं, तदन्तिके ब्रह्मबीजं कामबीजं क्लीं। एवञ्च ह स क ह ल ह्रीं क्लीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटमाह—**पूर्ववदिति**। एतेन स क ल ह्रीमिति शक्तिकूटमिति स्थितम्। रेखापातेनायं मन्त्रः प्रदर्श्यते—

[शाक्तकामराजभेदः]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
स	ह	स
ह	स	क
क	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	
	ह्रीं	
	क्लीं	

अब प्रकारान्तर बता रहे हैं। उपर्युक्त वाग्भव कूट के आदि में जो 'ह'कार और 'स'कार हैं। यदि इनका क्रम बदल दिया जाय अर्थात् 'स'कार को 'ह'कार के पूर्व योजित कर दिया जाय तो प्रकारान्तर से 'स ह क ल ह्रीं' स्वरूप एक अन्य वाग्भव कूट प्राप्त होगा।

शिव (ह), शक्ति (स), ब्रह्मा (क), शिव (ह), शक्र (ल) तथा महामाया (ह्रीं) और इन सबके अन्त में ब्रह्मबीज (क्लीं) की योजना करने से इसका कामराज कूट बनता है—ह स क हल ह्रीं क्लीं।

शक्तिकूट पूर्ववत् है। वाग्भव कूट भेद से प्राप्त मन्त्र है—'सहकलह्रीं हसकहलह्रीं क्लीं सकलह्रीं'।

[पश्चिमाम्नायसम्मता शाक्तलोपामुद्रा, तस्याः कूटत्रयञ्च]

—शाक्तं शृणु वदाम्यथ।।२१।।
शक्तिर्महेशः कामश्च शक्रबीजं परेश्वरी।
पूर्ववत् कामशक्त्याख्यौ वर्णौ निष्कीलितात्मकौ।।२२।।

शाक्तलोपामुद्रामाह—**शाक्तं शृण्वित्यादिना**। इयमपि पूर्ववत् कूटत्रयात्मिका। तत्र प्रथमं वाग्भवकूटं निरूपयति—**शक्तिरित्यादिना**। शक्तिः सकारः, महेशो

हकार:, काम: ककार:, शक्रबीजं लकार:, परेश्वरी ह्रीं। एवञ्च स ह क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। द्वितीयं कामराजकूटं तृतीयं शक्तिकूटञ्च निरूपयति—**पूर्ववदित्यादिना**। कामराजकूटशक्तिकूटे—ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीमित्याकारक इत्यर्थ:। आगमतत्त्वविलासे तु ह स क ल ह्रीमिति कामराजकूटमित्युपदर्शितम्।

[शाक्ता लोपामुद्रा पञ्चदशाक्षरी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
स	ह	स
ह	स	क
क	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	
	ह्रीं	

अब इसके बाद पश्चिम्नाय-सम्मता शाक्त लोपामुद्रा का उद्धार बताया जा रहा है—

शक्ति (स), महेश (ह), काम (क), शक्रबीज (ल) तथा परेश्वरी (ह्रीं) के योजन से शाक्त लोपामुद्रा का वाग्भव कूट बनता है। कामराज कूट और शक्तिकूट पूर्ववत् हैं। यह विद्या निष्कीलिता है। विद्या का स्वरूप है—'सहकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं'।

[एतदुपजीव्यागमनिर्णय:]

इति शाक्ता महाविद्या पश्चिमाम्नाययोजिता।

यह शाक्त लोपमुद्रा विद्या पश्चिम आम्नाय में प्रतिपादित की गई है।

[एतत्कूटत्रयाधिष्ठातृदेवतानिर्णय:]

वागीश्वरी ज्ञानशक्तिर्वाग्भवे मोक्षदायिनी।।२३।।
कामराजे कामकला महातत्त्वप्रबोधिनी।
शक्तिबीजे महामाया शिवशक्तिस्वरूपिणी।।२४।।
एवं सा त्र्यक्षरी विद्या महात्रिपुरसुन्दरी।।२५।।

पश्चिमाम्नाययोजिता पश्चिमाम्नाये प्रतिपादितेत्यर्थ:। एतत्कूटत्रयाधिष्ठातृदेवता: फलनिरूपणमुखेनाह—**वागीश्वरीत्यादिना**। त्र्यक्षरीति त्रिकूटेत्यर्थ:।

उपर्युक्त शाक्त लोपामुद्रा विद्या में तीन कूट हैं। इन दो श्लोकों में इन तीनों कूटों की अधिष्ठात्री देवता का निरूपण या निर्णय बताया गया है। इसका प्रथम कूट (सहकलह्रीं) वाग्भव कूट है। इस कूट की अधिष्ठात्री देवता भगवती वागेश्वरी हैं, जो ज्ञान-प्रदायिनी और मोक्ष-प्रदायिनी हैं। द्वितीय कामराज कूट (हसकहलह्रीं) की अधिष्ठात्री देवता भगवती कामकला हैं, जिनकी साधना और अनुकम्पा से साधक को महातत्त्व का बोध होता है। तृतीय शक्तिकूट (सकलह्रीं) की अधिष्ठात्री देवता शिवशक्तिस्वरूपिणी स्वयं भगवती महामाया हैं। इन तीनों कूटों के संयोजन से जो तीन कूटों वाली विद्या आविर्भूत होती है, वे भगवती महात्रिपुरसुन्दरी हैं।।२३-२५।।

विमर्श—वाग्भव कूट की अधिष्ठात्री भगवती वागीश्वरी ज्ञानदायिनी हैं, ज्ञानशक्ति हैं, अतः उन्हें मोक्षदायिनी कहा गया है; क्योंकि मोक्ष के लिये ज्ञान प्राथमिक अनिवार्यता है। ज्ञान के बिना मोक्ष सम्भव नहीं है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'। यहाँ ज्ञान से अभिप्राय है—ब्रह्मरूप परमतत्त्व का ज्ञान।

[प्रकारान्तरम्]

वामकेश्याञ्च विद्यायां परां शक्तिं शृणुष्व च।
मादनस्थे भगे बीजे त्रैलोक्ये नास्त्यतोऽधिकम्।।२६।।
प्रकाशाद्यापरे माया सन्धित्वादेव निश्चितम्।
तदेवैकारमुद्दिष्टं नान्यदेकारमीरितम्।
ब्रह्माण्डादिकटाहान्तं जगदद्यापि वर्त्तते।।२७।।

वामकेशी विद्या में परा-शक्ति का अधिष्ठान है। इसमें जो भगबीज है, उससे श्रेष्ठ त्रिलोक में और कोई नहीं है। यह भगबीज शिव और शक्ति का संश्लिष्ट रूप है। प्रकाश (अ) के बाद माया (ई)। सन्धि के नियमों के अनुसार 'अ' और 'इ' मिलकर 'ए' बनते हैं। इस 'ए'कार से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का उद्भव हुआ है, जो आज भी दृष्टिगत है।।२६-२७।।

विमर्श—वामकेश्वर तन्त्र (नित्याषोडशिकार्णव, श्लोक ६) में कहा गया है—

यदेकादशमाधारं बीजं कोणत्रयोद्भवम्।
ब्रह्मण्डादिकटाहन्तं जगदद्यापि दृश्यते।।

'अ'कारः परम शिवः। तस्य स्त्री 'ई'। पुंयोगलक्षणो ङीष्। तयोः संयोगेनैकारनिष्पत्तिः। शिवशक्तिसमायोगस्यैव जगद्बीजत्वात् तदभेदेन तादृशाक्षरस्यापि तद्बीजत्वम्। (सेतुबन्ध टीका)

[शाक्तकामराजविद्या, तस्याः कूटत्रयञ्च]

एतद् भगं ततो माया ब्रह्मा शक्रो हरप्रिया।
शिवः शक्तिर्विधिः शून्यो वज्रधृक् परमेश्वरी।।२८।।
हाद्यं मादनशक्रौ च महामाया ततः परम्।

[अस्या भेदत्रयम्]

ब्रह्मबीजं ततो दद्यात् त्रिकूटान्ते च साधकः।।२९।।
प्रथमा सुन्दरी विद्या द्वितीया ब्रह्मसुन्दरी।
शक्तिकूटे महामाया अनन्तसुन्दरी मता।।३०।।

पुनः शाक्तकामराजविद्यान्तरमाह—एतदित्यादिना। भग एकारः, माया ईकारः, ब्रह्मा ककारः, शक्रो लकारः, हरप्रिया ह्रीं। एवञ्च ए ई क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। अस्य वाग्भवकूटत्वं स्फुटमाह तन्त्रसारधृतश्रीक्रमे—

एतद् भगं ततो माया ब्रह्मा शक्रो हरोऽग्निना।
वामनेत्रेण संयुक्तो नादबिन्दुविभूषितः।
एतद् वाग्भवमुद्दिष्टं पूर्ववत् कामशक्तिकम्।। इति।

कामराजकूटमाह—**शिव इत्यादिना**। शिवो हकारः, शक्तिः सकारः, विधिः ककारः, शून्यो हकारः, वज्रधृग् लकारः, परमेश्वरी ह्रीं। एवञ्च हसकहल ह्रीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटमाह—**हाद्यमिति**। हाद्यं हकारस्याद्यं सकारः, मादनः ककारः, शक्रो लकारः, महामाया ह्रीं। एवञ्च सकलह्रीमिति शक्तिकूटम्।

[कामराजविद्या]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ए	ह	स
ई	स	क
क	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	हं
	ह्रीं	सः

ब्रह्मबीजमिति। त्रिकूटान्ते इति पाठे ब्रह्मबीजं प्रणवं त्रिकूटान्ते निरुक्तमन्त्रघटकानां वाग्भव-कामराज-शक्तिकूटानामन्ते दद्यादित्यर्थे ए ई क ल ह्रीं ॐ। ह स क ह ल ह्रीं ॐ। स क ल ह्रीं ॐ इति मन्त्रस्वरूपं पर्यवस्यति। परन्तु B-पुस्तकपादटीकायां त्रिकूटान्ते इत्यत्र त्रिकूटेपु इति पाठदर्शनात्, तन्त्रसारे च—'ब्रह्मबीजं यदा दद्यात्त्रिकूटे परमेश्वरि' इति वचने प्रणवान्तत्वनियमाभावात्, आगमतत्त्वविलासे ब्रह्मबीजं प्रणवः, स चाद्यकूटादौ चेत् सुन्दरी, द्वितीयकूटादौ चेद् ब्रह्मसुन्दरी, तृतीयकूटादौ चेदनन्तसुन्दरी इत्यादिना विशिष्य प्रणवादित्वप्रतिपादनात् B-पुस्तकपादटीकायां प्रणवपूर्वककूटत्रयात्मकमन्त्रोद्धारपरिपाटीदर्शनाच्च त्रिकूटान्त इत्यत्र त्रिकूटेष्विति पाठः समीचीनतया प्रतिभाति। एतन्मन्त्रविषयं विद्यात्रयमाह—**प्रथमा सुन्दरी विद्येत्यादिना**। अत्रेदमवधेयम्—पूर्ववचने यत् त्रिकूटे प्रणवयोगोऽभिहितः, स तु सुन्दर्यादिविद्याभेदेन न तु सर्वत्र। तथा हि प्रागुक्तत्रिकूटात्मकपञ्चदशाक्षरमन्त्रे प्रथमकूटमात्रे प्रणवयोगात् सुन्दरी विद्या भवति। प्रथमतृतीयकूटवर्जं द्वितीयकूटे प्रणवयोगाद् ब्रह्मसुन्दरी, प्रथमद्वितीयवर्जं तृतीयकूटे तद्योगदनन्तसुन्दरीति। एवञ्च पञ्चदशाक्षमन्त्रस्य एकैकप्रणवयोगेन षोडशाक्षत्वमुपपद्यते। एतदभिप्रायेणैव **एषा तु षोडशी विद्येत्याद्युक्तम्**। एतन्मन्त्रत्रयं सुखबोधाय रेखापातेन स्फुटं प्रदर्श्यते—

[अष्टादशाक्षरी सुन्दरी (षोडशी)]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ॐ	ह	स
ए	स	क
ई	क	ल
क	ह	ह्रीं
ल	ल	
ह्रीं	ह्रीं	

[ब्रह्मसुन्दरी (षोडशी)]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ए ई क ल ह्लीं	ॐ ह स क ह ल ह्लीं	स क ल ह्लीं

[अनन्तसुन्दरी (षोडशी)]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ए ई क ल ह्लीं	ह स क ह ल ह्लीं	ॐ स क ल ह्लीं

इन दो श्लोकों में शाक्त-कामराज विद्या का उद्धार बताया गया है। भग (ए), माया (ई), ब्रह्मा (क), शक्र (ल) और हरप्रिया (ह्लीं) से इस विद्या का वाग्भव कूट बनता है—'ए ई क ल ह्लीं'।

शिव (ह), शक्ति (स), विधि (क), शून्य (ह), वज्रधृक् (इन्द्र) (त) तथा परमेश्वरी से कामराज कूट बनता है—'हसकहलह्लीं'।

हाद्य (स), मादन (क), शक्र (ल) और महामाया (ह्लीं) से इसका तृतीय शक्तिकूट निष्पन्न होता है।--'सकलह्लीं'।

मन्त्रस्वरूप होगा—एईकलह्लीं हसकहलह्लीं सकलह्लीं।

यदि इस पञ्चदशाक्षरी मन्त्र के 'त्रिकूटान्त' में ब्रह्मबीज (ॐ) की योजना की जाये तो मन्त्र का स्वरूप होगा—'एईकलह्लीं ॐ हसकहलह्लीं ॐ सकलह्लीं ॐ।'

इस तरह एक ओर यह मन्त्र १८ अक्षरों का हो जाता है तो दूसरी ओर अन्य तन्त्रग्रन्थों से इस मन्त्र के तीनों कूटों के अन्त में 'ॐ' की योजना करने की बात भी सिद्ध नहीं होती। 'तन्त्रसार' में कहा गया है—

ब्रह्मबीजं यदा दद्यात् त्रिकूटेषु वरानने।
प्रथमा सुन्दरी विद्या, द्वितीया ब्रह्मसुन्दरी।
शक्तिकूटे महेशानि अनन्तसुन्दरी मता।
एषा तु षोडशी विद्या मतभेदेन दर्शिता।।

इसी बात को और भी स्पष्ट करते हुए आगमतत्त्वविलास में कहा गया है कि 'स चाद्यकूटादौ चेत्सुन्दरी, द्वितीयकूटादौ चेत् ब्रह्मसुन्दरी, तृतीयकूटादौ चेत् अनन्तसुन्दरी।' इस तरह इस मन्त्र के तीनों कूटों के आदि में प्रणव (ॐ) की योजना करना शास्त्रसम्मत है। ऐसा करने से तीन सुन्दरी-विद्याओं के तीन मन्त्र प्राप्त होते हैं। यथा—

षोडशी (सुन्दरी)— ॐ एईकलह्लीं हसकहलह्लीं सकलह्लीं।
ब्रह्मसुन्दरी— एईकलह्लीं ॐ हसकहलह्लीं सकलह्लीं।
अनन्तसुन्दरी— एईकलह्लीं हसकहलह्लीं ॐ सकलह्लीं।

एषा तु षोडशी विद्या व्यक्तिभेदेन दर्शिता।

[अस्याः प्रकर्षः]

विद्या वेद्या परा गुप्ता संहाररूपवर्जिता।।३१।।

[मन्त्रान्तरम्]

एषा श्रीः प्राणसंयुक्ता दुःखदारिद्र्यनाशिनी।।३२।।

मन्त्रान्तरमाह—**एषेति**। एषा प्रागुक्ता श्रीः सुन्दरी विद्या प्राणेन हंसः इति बीजेन संयुक्तेत्यर्थः। अत्र विशेषानभिधानेऽपि शक्तिकूटान्ते हंसबीजयोगो बोध्यः। 'त्रिकूटान्ते हंसबीजं बिन्दुसर्गविभूषितम्' इति तन्त्रसारवचनदर्शनात्। त्रिकूटान्ते तृतीयकूटान्ते।

उपर्युक्त तीनों मन्त्र षोडशी विद्या के भेद हैं। यह विद्या अत्यन्त गुप्त एवं संहार दोष से मुक्त है। यदि इस विद्या के तीसरे कूट के अन्त में 'हंसः' जोड़ दिया जाय तो यह विद्या दुःखदारिद्र्यनाशिनी विद्या बन जाती है। यथा—'ए ई क ल ह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं हंसः'।

[मन्त्रान्तरं तस्य कूटत्रयञ्च]

अथ वक्ष्यामि तां विद्यां कामराजमनोहराम्।
शिवबीजं शक्तिसोमं मादनञ्च पुरन्दरम्।।३३।।
महामायां काम-शक्ती पूर्ववच्च समुद्धरेत्।
एवमेषा महाविद्या—

शाक्तलोपामुद्रान्तरमाह—**अथेत्यादिना महाविद्येत्यन्तेन**। कामराजमनोहरामिति कामराजस्य कामेश्वरस्य मनोहारिणीमित्यर्थः। **शिवेति**। शिवबीजं हकारः, शक्तिः सकारः, सोमः सकारः, मादनः ककारः, पुरन्दरो लकारः, महामाया ह्रीं। एवञ्च ह स स क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। अपरकूटद्वयमाह—**कामेति**। कामशक्ती कामराजकूटं शक्तिकूटञ्चेत्यर्थः। पूर्ववदिति कामराजविद्यावत्। तन्त्रसारेऽपि पुनः शाक्तलोपामुद्रा तु इत्यभिधाय—शिवबीजं शक्तिसोमं मादनञ्च पुरन्दरम्। व्योमवह्निसमायुक्तं तुरीयस्वरबिन्दुकम्। पूर्ववत् कामराजन्तु शक्तिकूटं समुद्धरेत्। इत्यनेन कामराजविद्याद्वितीयतृतीयकूटाभ्यामेवावशिष्टकूटद्वयनिष्पत्तिरभिहिता। रेखापातेनाय मन्त्रः प्रदर्श्यते—

[शाक्तलोपामुद्रा]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ह	ह	स
स	स	क
स	क	ल
क	ह	ह्रीं
ल	ल	
ह्रीं	ह्रीं	

कामराज शिव की मनोहारिणी अन्य विद्या का निरूपण कर रहा हूँ। यह विद्या भी शाक्त लोपमुद्रा विद्या है।

शिवबीज (ह), शक्ति (स), सोम (स), मादन (क), पुरन्दर (ल) और महामाया (ह्रीं) से इसका वाग्भव कूट निष्पन्न होता है। कामराज कूट और शक्तिकूट पूर्ववत् हैं। मन्त्रस्वरूप है—'हससकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं'।

[अथ नवाक्षरी तस्याः कूटत्रयञ्च]

—शृणुष्व चापरामथ।।३४।।
शिवः शक्तिर्भुवनेशी वाग्भवं बीजमुत्तमम्।
द्विजराजं पञ्चवक्त्रं महामाया ततः परम्।।३५।।
ब्रह्मा शिवो महामाया नवार्णा परिकीर्त्तिता।

अथ नवाक्षरीं विद्यामभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटमाह—शिव इति। शिवो हकारः, शक्तिः सकारः, भुवनेशी ह्रीं। एवञ्च ह स ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। कामराजकूटमाह—**द्विजेति**। द्विजराजः सकारः, पञ्चवक्त्रो हकारः, महामाया ह्रीं। एवञ्च स ह ह्रीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटमाह—**ब्रह्मेति**। ब्रह्मा ककारः, शिवो हकारः, महामाया ह्रीं। एवञ्च क ह ह्रीमिति शक्तिकूटम्।

[रुद्रशक्तिर्नवार्णा]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ह	स	क
स	ह	ह
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

शिवः शक्तिर्भुवनेशी वाग्भवं बीजमुत्तमम्।
कामं व्योम च देवेशि महामाया ततः परम्।
कामं व्योम महामाया नवार्णा परिकीर्त्तिता।।

इति तन्त्रसारधृतवचनानुसारेण तु क ह ह्रीमिति कामराजकूटम्, शक्तिकूटञ्चेति विशेषो दृश्यते। मन्त्रोऽयं रेखापातेन प्रदर्श्यते।

इन श्लोकों में नवाक्षरी रुद्रशक्ति विद्या का उद्धार बताया गया है। शिव (ह), शक्ति (स), भुवनेशी (ह्रीं) से वाग्भव कूट बनता है। द्विजराज (स), पञ्चवक्त्र (ह) और महामाया (ह्रीं) से कामराज कूट तथा ब्रह्मा (क), शिव (ह) और महामाया (ह्रीं) से शक्तिकूट निष्पन्न होते हैं। मन्त्रस्वरूप है—'हसह्रीं सहह्रीं कहह्रीं'।

[अस्याः पूर्वाम्नायानुगतत्वम्]

रुद्रशक्तिरियं देवी पूर्वाम्नाया हि नायिका।।३६।।

यह नवाक्षरी रुद्रशक्ति विद्या है, जो पूर्वाम्नाय की नायिका (स्वामिनी) है।

[दक्षिणोत्तरमध्यमाम्नायानुगतलोपामुद्राविद्यानिरूपणप्रतिज्ञा]

इदानीन्तु प्रवक्ष्यामि दक्षिणोत्तरमध्यमम्।।३७।।

[तत्र वाग्भवकूटम्]

मादनं पञ्चवक्त्रस्तु लोहिता रुद्रयोगिनी।
पुरन्दरो महामाया वाग्भवं बीजमुत्तमम्।।३८।।

[कामराजशक्तिकूटे]

पूर्ववत् कामशक्त्याख्यावुद्धरेत् साधकोत्तमः।
एतच्छाम्भवमुद्दिष्टं—

एवं पूर्वाम्नायानुगतां विद्यामभिधाय क्रमेण दक्षिणोत्तरमध्यमाम्नायानुसारेण तामभिधातुं प्रतिजानीते—**इदानीन्त्वित्यादिना**। तत्र प्रथमं दक्षिणाम्नायानुसारेण त्रिपुरां विद्यामभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**मादनमित्यादिना**। मादनं ककारः, पञ्चवक्त्रो हकारः, लोहिता क्षकारः, रुद्रयोगिनी मकारः, पुरन्दरो लकारः, महामाया ह्रीं। एवञ्च क ह क्ष म ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। **पूर्ववदिति**। अस्य कामशक्त्याख्यौ कामराजकूटशक्तिकूटे पूर्ववत् कामराजविद्यावदित्यर्थः। तेन ह स क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटम्, स क ल ह्रीमिति शक्तिकूटम्। रेखापातेनेयं स्फुटमुपदर्श्यते।

[षोडशी शाम्भवलोपामुद्रा]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क	ह	स
ह	स	क
क्ष	क	ल
म	ह	ह्रीं
ल	ल	
ह्रीं	ह्रीं	

इयं शाम्भवलोपामुद्रेत्येवाह—**एतच्छाम्भवमुद्दिष्टमित्यनेन**।

पूर्वाम्नाय के बाद अब दक्षिण-उत्तर-मध्य आम्नाय के मन्त्र बताये जा रहे हैं। सर्वप्रथम दक्षिण आम्नाय के अनुसार त्रिपुरा-विद्या का निरूपण किया गया है। मादन (क), पञ्चवक्त्र (ह), लोहिता (क्ष), रुद्रयोगिनी (म), पुरन्दर (ल) एवं महामाया (ह्रीं) के संयोजन से दक्षिणाम्नाय विद्या का वाग्भव कूट (कहक्षमलह्रीं) निष्पन्न होता है। द्वितीय एवं तृतीय कूट पूर्ववत् कामराज विद्या के ही रहते हैं। इस तरह समग्र मन्त्ररूप है—'कहक्षमलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं'। यह शाम्भव लोपामुद्रा विद्या है॥३७-३८॥

[शाक्तलोपामुद्रा, तस्याः कूटत्रयञ्च]

शाक्तञ्च कथयाम्यथ॥३९॥
भृग्वीशं गगनं हान्तं कालमिन्द्रं महेश्वरम्।
वामाक्षिवह्निचन्द्राढ्यं वाग्भवं कूटमुत्तमम्॥४०॥
कामराजं शक्तिकूटं पूर्ववच्च समुद्धरेत्।

शाक्तलोपामुद्रां त्रिकूटामभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**भृग्वीशमित्यादिना**। भृग्वीशः सकारः, गगनं हकारः, हान्तः क्षकारः, कालो मकारः, इन्द्रो लकारः, महेश्वरो हकारः, स च वामाक्षिवह्निचन्द्राढ्य ईकाररकारचन्द्रबिन्दुपरिमण्डित इत्यर्थः, एतेन ह्रीमिति प्राप्तम्। एवञ्च स ह क्ष म ल ह्रीमिति वाग्भवकूटमिति पर्यवस्यति। एवं वाग्भवकूटमभिधाय कूटान्तरव्यवस्था-माह—

[षोडशी शाक्तलोपामुद्रा]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
स	ह	स
ह	स	क
क्ष	क	ल
म	ह	ह्रीं
ल	ल	
ह्रीं	ह्रीं	

कामराजमिति। अस्य काम-राजकूटं शक्तिकूटञ्च पूर्ववत् निरुक्त-कामराजविद्यावत् समुद्धरेदित्यर्थः। एवञ्च ह स क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। स क ल ह्रीमिति शक्तिकूटमिति बोध्यम्। तदयं समुदितो मन्त्रः प्रदर्श्यते—

अब शाक्त लोपामुद्रा विद्या का उद्धार बताया जा रहा है—

भृग्वीश (स), गगन (ह), 'ह' के बाद का वर्ण अर्थात् 'स' काल (म), इन्द्र (ल), वामनेत्र (इ), वह्नि (र) और चन्द्रबीजयुक्त महेश्वर (ह) (अर्थात् ह्रीं) के संयोजन से शाक्त लोपामुद्रा विद्या का वाग्भव कूट (सहक्षमलह्रीं) निष्पन्न होता है। कामराज कूट और शक्तिकूट पूर्ववत् हैं। मन्त्रस्वरूप है—'सहक्षमलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं'॥३९-४०॥

[अस्या दक्षिणाम्नायानुगतत्वम्]

दक्षिणं दक्षहन्तारं सर्वदुःखविमोचनम्॥४१॥

दक्षिणमिति। दक्षिणं दक्षिणाम्नायं तदनुगतमित्यर्थः।

सभी दुःखों से छुटकारा दिलाने वाली यह दक्षिण आम्नायगत शाक्त लोपामुद्रा विद्या है॥४१॥

[अथ मदद्रवाविद्यानिरूपणप्रतिज्ञा]

अपराञ्च प्रवक्ष्यामि सर्वकामप्रपूरिणीम्।

दक्षिणाम्नाय के ही एक अन्य विद्या का उद्धार बताया जा रहा है। यह मदद्रवा विद्या है। यह समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाली है।

[मदद्रवामन्त्रः]

भौतिको बिन्दुसंयुक्तः क्लिन्ने च तदधः पठेत्॥४२॥
मादनं शक्रसंयुक्तं मूर्त्तिबिन्दुसमन्वितम्।
मदद्रवे चन्द्रसंस्थमोकारान्तेन कादिना॥४३॥
कामबीजं ततः पश्चात् षष्ठस्वरविभूषितम्।
इन्द्रं झिण्टीशसंयुक्तं वियत् सोमो ग्रहेश्वरः॥४४॥
महासेनस्ततः पश्चाद् गीता दक्षिणनायिका।
मदद्रवेयं कथिता शक्तिविभ्रमकारिणी॥४५॥

मन्त्रान्तरमाह—**भौतिक इत्यादिना।** भौतिक ऐकारः, स च बिन्दुसंयुक्तस्तेन ऐँ इति प्राप्तम्। तदधः ऐँ इत्यनन्तरं 'क्लिन्ने' इति पठेत्। **मादनमिति।** मादनः ककारः, स च शक्रेण लकारेण संयुक्तः। मूर्त्तिरीकारः बिन्दुरनुस्वारस्ताभ्यां समन्वितः एतेन क्लीं इति प्राप्तम्। ततो मदद्रवे इति। चन्द्रसंस्थः सकारः ओकारान्तेन औकारेण कादिना विसर्गेण च युक्त इत्यर्थः। एतेन सौः इति प्राप्तम्।

कामबीजमिति। कामबीजं ककारः, तच्च षष्ठस्वरेण ऊकारेण विभूषितम्। एतेन 'कू' इति प्राप्तम्। **इन्द्रमिति।** इन्द्रो लकारः, स च झिण्टीशेन एकारेण संयुक्तः। तेन

‘ले’ इति प्राप्तम्। **वियदिति।** वियत् हकारः, सोमः सकारः, ग्रहेश्वरो दिनकृदौकारः, महासेनो विसर्गः। एतेन ह्सौः इति प्राप्तम्। एवञ्च ऐँ क्लिन्ने क्लीं मदद्रवे सौः कूले ह्सौरिति समुदितो मन्त्रः। **दक्षिणनायिकेति।** दक्षिणाम्नायप्रतिपादिता शक्तिरित्यर्थः। अस्या विद्याया मदद्रवेति संज्ञेत्याह—**मदद्रवेयमित्यनेन।**

बिन्दुयुक्त भौतिक (ऐं)। ‘ऐं’ के बाद क्लिन्ने। मूर्ति (ई) और बिन्दु-समन्वित एवं शक्र (ल) संयुक्त मादन (क) अर्थात् क्लीं। ‘क्लीं’ के वाद ‘मवद्रवे’। ओकार के परवर्ती स्वर अर्थात् ‘औ’ तथा ‘क’कार के पूर्ववर्ती वर्ण अर्थात् (अः) (विसर्ग) से संयुक्त चन्द्रसंस्थ (स) अर्थात् ‘सौः’।

षष्ठस्वर (‘ऊ’कार) विभूषित कामबीज (क) अर्थात् ‘कू’। ‘कू’ के बाद झिण्टीश (ए) से युक्त इन्द्र (ल) अर्थात् ‘ले’। इस तरह प्रथम दो वर्ण प्राप्त हुए ‘कूले’।

वियत् (ह), सोम (स), ग्रहेश्वर (औ), महासेन (विसर्ग) अर्थात् ‘हसौः’।।४२-४५।।

दक्षिण आम्नाय की ‘मदद्रवा’ का मन्त्र है—ऐं क्लीं क्लिन्ने मदद्रवे सौः कूले हसौः।

[अथोत्तराम्नायानुगतविद्यानिरूपणप्रतिज्ञा]

अथाहमुत्तराम्नायं कथयामि विशेषतः।।४६।।

[तत्र वाग्भवकूटम्]

विष्णुरीशस्ततो हान्तः कामेशः पृथिवी ततः।
भुवनेशी ततः पश्चाद् वाग्भवं बीजशाम्भवम्।।४७।।

[कामराजशक्तिकूटव्यवस्था]

कामराजं शक्तिकूटं पूर्ववच्च समुद्धरेत्।

[एतन्मन्त्राराधनफलम्]

एषा विद्या परा ज्ञेया सर्वसिद्धिप्रदायिका।।४८।।

अथोत्तराम्नायप्रतिपादितविद्याप्रतिपादनमथेत्यादिना प्रतिज्ञाय प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**विष्णुरित्यादिना।** विष्णुरकारः तद्युक्त ईशो हकारः। तन्त्रसारेऽप्येवमेव व्याख्यातम्। हान्तः क्षकारः, कामेशो मकारः, तन्त्रसारे—

विष्णुरीशस्ततो हान्तः कालेशः पृथिवी ततः।

इत्यादिवचने कालेशपददर्शनात् कालेशो मकार इति तद्व्याख्यानदर्शनाच्च प्रकृते कामेशपदस्य महाकालपरतया मकारबोधकत्वमित्यवधेयम्। पृथिवी लकारः, भुवनेशी ह्रीं। एवञ्च ह क्ष म ल ह्रीमिति वाग्भवकूटमिति पर्यवस्यति। बीजशाम्भवमिति शाम्भवबीजमित्यर्थः। पूर्वनिपातशास्त्रस्य प्रायिकत्वाद् विशेषणस्य

परनिपातः। अपरकूटद्वयव्यवस्थामाह—**कामराजमित्यादिना**। कामराजं कामराजकूटमित्यर्थः। पूर्ववदिति कामराजविद्यावदित्यर्थः। तदुक्तं तन्त्रसारे—कामराजं शक्तिकूटं पूर्ववत् कथितं प्रिये। एवञ्च ह स क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। स क ल ह्रीमिति शक्तिकूटम्। तदयं त्रिकूटात्मकः समुदितो मन्त्रः—

[पञ्चदशाक्षरी (लोपामुद्रा)]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ह	ह	स
क्ष	स	क
म	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	
	ह्रीं	

दक्षिण आम्नाय के बाद उत्तर आम्नायगत विद्या(ओं) के उद्धार बताये गये हैं।

विष्णु अर्थात् 'अ'कार स्वर संयुक्त ईश-'ह्'-अर्थात् 'ह'। 'हान्त' ('ह' के बाद वाला वर्ण (क्ष), कामेश ('म'), पृथ्वी (ल) के बाद भुवनेशी (ह्रीं)। इनके संयोजन से वाग्भव कूट निष्पन्न हुआ—'हक्षमलह्रीं। इसके कामराजकूट और शक्तिकूट पूर्ववत् अर्थात् हसकहलह्रीं और सकलह्रीं। मन्त्रस्वरूप होगा—हक्षमलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं'।

पञ्चदशाक्षरी यह लोपमुद्रा विद्या सर्वसिद्धि-प्रदायिनी है।।४६-४८।।

[मन्त्रान्तरम्, तत्र वाग्भवकूटम्]

माया शिवो नृसिंहश्च कामः शक्रः सुरेश्वरी।
एतद् वाग्भवकूटन्तु—

[कामराजशक्तिकूटव्यवस्था]

—पूर्ववत् कामराजकम्।
शक्तिकूटं तथा चैव विद्या परमदुर्लभा।।४९।।

त्रिकूटात्मकं मन्त्रान्तरमाह—**मायेत्यादिना परमदुर्लभेत्यन्तेन**। अत्र माया शक्तिः सकारः, शिवो हकारः, नृसिंहः क्षकारः, कामः ककारः, शुक्रो लकारः, सुरेश्वरी ह्रीं। एवञ्च स ह क्ष क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। काल इति पाठे तु कालो मकारस्तेन स ह क्ष म ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। तथात्वे च भृग्वीशं गगनं हान्तमित्यादिप्रागुक्तवचन-प्रतिपादितषोडशाक्षरमन्त्रेण पौनरुक्त्यं प्रसज्येतेत्यतः काम इत्येव पाठो मूले निवेशित इत्यवधेयम्। कामराजवाग्भवकूटयोर्व्यवस्थामाह—**पूर्ववदिति**। प्रागुक्तकामराज-विद्यावदित्यर्थः। तदयं समुदितो मन्त्रः—

[षोडशाक्षरी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
स	ह	स
ह	स	क
क्ष	क	ल
क	ह	ह्रीं
ल	ल	
ह्रीं	ह्रीं	

इस श्लोक में एक अन्य मन्त्र बताया गया है। माया अर्थात् शक्ति (स), शिव (ह), नृसिंह (क्ष), काम (क), शक्र (ल) एवं सुरेश्वरी (ह्रीं) के संयोजन से इस मन्त्र का वाग्भव कूट निष्पन्न होता है। यथा—सहक्षकलह्रीं।

इस मन्त्र के कामराज कूट और शक्तिकूट पूर्ववत् हैं। मन्त्रस्वरूप है—सहक्षकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं।

[अथान्यादृशषोडशीविद्यानिरूपणप्रतिज्ञा, कूटत्रयञ्च]

षोडशीञ्च प्रवक्ष्यामि व्यक्तिभेदेन साम्प्रतम्।
ब्रह्मा नृसिंहः कालेशश्चन्द्रश्च भुवनेश्वरी।।५०।।
शिवो नृसिंहकालेशौ शक्रः शिवस्ततः परम्।
महामाया ततः पश्चात् शक्तिकूटं शृणुष्व च।।५१।।
चन्द्रो नृसिंहकालेशौ शक्रस्तु भुवनेश्वरी।
एषा सा परमा विद्या पराञ्च कथयाम्यहम्।।५२।।

षोडशीमन्यादृशीं विद्यां वक्तुं प्रतिजानीते—**षोडशीञ्चे**त्यादिना। तत्र प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**ब्रह्मे**ति। ब्रह्मा ककारः, नृसिंहः क्षकारः, कालेशो मकारः, चन्द्रः सकारः, भुवनेश्वरी ह्रीं। एवञ्च क क्ष म स ह्रीमिति वाग्भवकूटम्।

शिव इति। शिवो हकारः, नृसिंहः क्षकारः, कालेशो मकारः, शक्रो लकारः, शिवो हकारः, महामाया ह्रीं। एवञ्च ह क्ष म ल ह ह्रीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटमाह—**शक्तिकूटं शृणुष्व चे**त्यादिना। **चन्द्र** इति। चन्द्रः सकारः, नृसिंहः क्षकारः कालेशो मकारः, शक्रो लकारः, भुवनेश्वरी ह्रीं। एवञ्च स क्ष म ल ह्रीमिति शक्तिकूटम्। तदेतत्कूटत्रयघटितो मन्त्रः प्रदर्श्यते—

[षोडशी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क क्ष म स ह्रीं	ह क्ष म ल ह ह्रीं	स क्ष म ल ह्रीं

अब मैं व्यक्तिभेद से षोडशी मन्त्र बता रहा हूँ। ब्रह्मा (क), नृसिंह (क्ष), कालेश (म), चन्द्र (स) तथा भुवनेश्वरी (ह्रीं)। इन वर्णों के संयोजन से इस षोडशी मन्त्र का वाग्भव कूट बनता है—'कक्षमसह्रीं'।

कामराज कूट—शिव (ह), नृसिंह (क्ष), कालेश (म), शक्र (ल), शिव (ह) तथा महामाया (ह्रीं) के संयोजन से कामराज कूट बनता है। यथा—'हक्षमलहह्रीं'।

शक्तिकूट—चन्द्र (स), नृसिंह (क्ष), कालेश (म), शक्र (ल) तथा भुवनेश्वरी (ह्रीं) से शक्तिकूट बनता है—सक्षमलह्रीं।

मन्त्रस्वरूप होगा—'कक्षमसह्रीं हक्षमलहह्रीं सक्षमलह्रीं'।

इस षोडशी विद्या के बाद अन्य मन्त्र बता रहा हूँ। इस मन्त्र में सत्रह (१७) वर्ण है।।५०-५२।।

[तत्र कूटत्रयम्]

एतस्या वाग्भवं कूटं कामराजं शृणुष्व च।
महेशः क्रोधकामौ च कालेशः पृथिवी हरः।।५३।।
महामाया ततः पश्चात्पूर्ववच्छक्तिकूटकम्।

अथ सप्तदशाक्षरीमाह—**पराञ्चेत्यादिना**। **एतस्या इति**। अव्यवहितपूर्ववर्त्तिन्याः षोडश्या इत्यर्थः। एतेनात्रापि प्रागुक्तषोडशाक्षरीवत् क क्ष म स ह्लीमित्येव वाग्भवकूटमिति बोध्यम्। कामराजकूटे विशेषमाह—**कामराजं शृणुष्व चेत्यादिना**। **महेश इति**। महेशो हकारः, क्रोधः क्षकारः, कामः ककारः, कालेशो मकारः, पृथिवी लकारः, हरो हकारः, महामाया ह्लीं। एवञ्च ह क्ष क म ल ह ह्लीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटव्यवस्थामाह—**पूर्ववदिति**। अव्यवहितपूर्वोदितषोडशीवदित्यर्थः। एवञ्च स क्ष म ल ह्लीमिति शक्तिकूटम्। अयमर्थः स्फुटं प्रदर्श्यते—

[सप्तदशाक्षरी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क क्ष म स ह्लीं	ह क्ष क म ल ह ह्लीं	स क्ष म ल ह्लीं

इस सप्तदशाक्षरी मन्त्र का वाग्भव कूट पूर्ववत् (कक्षमसह्लीं) ही है।

कामराज कूट—महेश (ह), क्रोध (क्ष), काम (क), कालेश (म), पृथिवी (ल), हर (ह) और महामाया (ह्लीं) के मेल से इस सप्तदशाक्षरी विद्या का सप्ताक्षरी कामराज कूट बनता है—‘हसकमलहह्लीं’।

शक्तिकूट पूर्ववत् (सक्षमलह्लीं) है। मन्त्रस्वरूप है—‘कक्षमसह्लीं हक्षकमलहह्लीं सक्षमलह्लीं’।

[अस्याः प्रकर्षः]

एषा सप्तदशी विद्या चतुर्वर्गफलप्रदा।।५४।।

यह विद्या पुरुषार्थचतुष्टय प्रदान करने वाली है।।५४।।

[मन्त्रान्तरम्]

प्रणवञ्च महाबीजमूर्द्ध्वाम्नायः प्रकीर्त्तितः।

[अध-आम्नायानुगतो मन्त्रः]

महामायामहाबीजमधआम्नाय ईरितः।।५५।।

[अनेन मन्त्राणामाम्नायानुगतत्वम्]

एवमेव प्रकारेण षडाम्नायाः प्रकीर्त्तिताः।।५६।।

इदानीमूर्ध्वाधआम्नायानुगतमन्त्रनिरूपणमाह—**प्रणवञ्चेति**। प्रणव ॐकार:, महाबीजमिति महामायाबीजं ह्रीं। एवञ्च ॐ ह्रीमिति ऊर्ध्वाम्नायानुगतो मन्त्र इति। अध-आम्नायानुगतं मन्त्रं निरूपयति—**महेति**। महामायामहाबीजं ह्रीं इति। एवञ्च ह्रीमित्येकाक्षरोऽधआम्नायानुगतो मन्त्र:।

एवमिति। पूर्वं पञ्चमाम्नायानुगता मन्त्रा अभिहिता:। अत्रापि बृहच्छ्रीक्रम संवादेनोर्ध्वाध-आम्नायद्वयानुगतमन्त्रनिरूपणात् षडाम्नाया: प्रकीर्त्तिता इत्यर्थ:।

प्रणव (ॐ) तथा महाबीज (ह्रीं) ऊर्ध्वाम्नाय का मन्त्र है। महामाया महाबीज अर्थात् 'ह्रीं' अध: आम्नाय का मन्त्र है।

इस प्रकार मन्त्रों का षडाम्नाय-क्रम बताया गया॥५५-५६॥

[षडाम्नायज्ञानप्रशस्ति:]

वेत्ति य: षट् क्रमेणापि धरण्यां साधकोत्तम:।
दीर्घायुर्धनसम्पत्तिरैश्वर्येण युत: सदा।।५७।।

निरुक्तषडाम्नायज्ञानफलमाह—**वेत्तीत्यादिना**। **दीर्घेति**। दीर्घमायुर्धनं सम्पत्तिश्च यस्य स:।

इस तरह जो साधक मन्त्रों के षट्क्रम अर्थात् षडाम्नाय को जानता है, वही उत्तम साधक होता है। षडाम्नाय के रहस्यविद् साधक को दीर्घ आयु, धन-सम्पत्ति एवं ऐश्वर्य सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं॥५७॥

[षडाम्नायाज्ञाननिन्दा]

षडिदं यो न जानाति न जपेच्चण्डिकां पराम्।
निष्फलं जीवितं तस्य स भवेत् साधकोऽधम:।।५८।।

निरुक्तषडाम्नायाज्ञाने दोषमाह—**षडिदमिति**।

जो साधक षडाम्नाय के क्रम और रहस्य को नहीं जानता तथा जो भगवती चण्डिका के मन्त्रों का जप नहीं करता, ऐसे अधम साधक का जीवन व्यर्थ है॥५८॥

[अथ सौभाग्यमन्त्र: तस्य कूटत्रयञ्च]

अथ वक्ष्यामि सौभाग्यां जलेशां सर्वकामदाम्।
शक्ति: शम्भु: स्वयम्भुश्च शक्रस्तु भुवनेश्वरी।।५९।।
शिवो मादनरुद्रेन्द्रा महामाया तत: परा।
काम: शिवस्तथा ब्रह्मा शक्रोऽपि भुवनेश्वरी।।६०।।

इदानीं सौभाग्यामन्त्रं कूटत्रयात्मकं वक्तुं प्रतिजानीते—**अथेति**। तत्र वाग्भवकूटमाह—**शक्तिरित्यादिना**। शक्ति: सकार:, शम्भुर्हकार:, स्वयम्भु: ककार:, शक्रो लकार:, भुवनेश्वरी ह्रीं। एवञ्च स ह क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। **शिव इति**।

शिवो हकारः, मादनः ककारः, रुद्रो हकारः, इन्द्रो लकारः, महामाया ह्रीं। एवञ्च ह क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। परेति महामायाविशेषणं न तु पृथग्बीजघटकम्। **काम इति**। कामः ककारः, शिवो हकारः, ब्रह्मा ककारः, शक्रो लकारः, भुवनेश्वरी ह्रीं। एवञ्च क ह क ल ह्रीमिति शक्तिकूटम्। एतत्कूटत्रयसमष्टिरूपो मन्त्रो रेखापातेन प्रदर्श्यते—

[पञ्चदशी सौभाग्या (जलेशी)]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
स	ह	क
ह	क	ह
क	ह	क
ल	ल	ल
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

सप्तदशाक्षरी विद्या के बाद पञ्चदशी सौभाग्य (जलेशी) विद्या का उद्धार बताया गया है।

शक्ति (स), शम्भु (ह), स्वयम्भू (क), शक्र (ल) तथा भुवनेश्वरी (ह्रीं) के संयोजन से जलेशी मन्त्र का वाग्भव कूट निष्पन्न होता है—'सहकलह्रीं'।

शिव (ह), मादन (क), रुद्र (ह), इन्द्र (ल) तथा महामाया (ह्रीं) से इसका कामराज कूट बनता है—'हकहलह्रीं'।

काम (क), शिव (ह), ब्रह्मा (क), शक्र (ल) तथा भुवनेश्वरी (ह्रीं) से शक्तिकूट निष्पन्न होता है—'कहकलह्रीं'।

जलेशी विद्या—'सहकलह्रीं हकहलह्रीं कहकलह्रीं'।

[अस्याः प्रकर्षः]

इयन्तु परमा विद्या सुन्दरी सुभगोदया।
विद्यानामुत्तमा विद्या वश्यसौभाग्यवाक्प्रदा।।६१।।

सुख, सौभाग्य प्रदान करने वाली यह जलेशी विद्या विद्याओं में अत्यन्त श्रेष्ठ है। यह विद्या अपने आराधकों को वशीकरण की अद्भुत शक्ति एवं वाक्सिद्धि प्रदान करती है।।६१।।

[प्रागुक्तायाः पञ्चम्याः शाम्भवत्वम्]

आदौ या पञ्चमी प्रोक्ता ज्ञेया सा शाम्भवी परा।

पञ्चमी विद्या शाक्तशाम्भवभेदेन द्विविधा। तत्र दशमे शाम्भवी पञ्चमी विद्या प्रदर्शिता। अधुना शक्तिरूपा पञ्चमी प्रदर्शयिष्यत इत्येवाह—**आदौ येत्यादिना**।

शाक्त-शाम्भव भेद से पञ्चमी विद्या के दो भेद हैं। इसके पूर्व दशम प्रकाश में शाम्भवी पञ्चमी विद्या का निरूपण किया गया है।

[अथ शाक्तपञ्चमीभेदनिरूपणप्रतिज्ञा]

अधुना शक्तिरूपान्तु वक्ष्यामि दुर्लभां पराम्।।६२।।

अब शाक्त पञ्चमी विद्याओं का उद्धार बताया जा रहा है।।६२।।

[वाग्भवकूटे विशेषः]

सौभाग्या-वाग्भवं कूटं कामराजं त्रिकूटकम्।
पूर्ववच्छक्तिकूटञ्च पञ्चमी भुवि दुर्लभा।।६३।।

तामेवाह—सौभाग्येत्यादिना। सौभाग्यायाः प्रथमलोपामुद्राया वाग्भवकूटं योजयेत्। निरुक्तवाग्भवकूटं परित्यज्य तत्र ह स क ल ह्रीमिति लोपामुद्रावाग्भवकूटं योजयेदित्यर्थः। पूर्ववदिति कामराजकूटं शक्तिकूटञ्च पूर्ववत् प्रागुक्तपञ्चमीवदित्यर्थः।

अत्रेदमवधेयम्—दशमे पञ्चमीविद्यायां शक्तिकूटञ्च भेदद्वयं प्रदर्शितम्। तन्त्रसारकृतापि श्रीक्रम-कुलोड्डीशादिप्रमाणैस्तत्र शक्तिकूटस्य भेदद्वयं श्रीतत्त्वचिन्तामण्युक्तक्रमादभिन्नरूपमुपदर्श्य, शक्तिकूटभेदभिन्नयोर्द्विविधयोः पञ्चम्योः पुनर्वाग्भवकूटभेदेन चातुर्विध्यं सूचयता पूर्ववदित्यनेन प्रथमपञ्चमीद्वयमेव लक्षितम्। एवञ्च प्रकृतेऽपि पूर्ववदित्यनेन शक्तिकूटभेदभिन्नप्रथमपञ्चमीद्वये निरुक्तसौभाग्या-वाग्भवकूटयोजनादस्या अपि द्वैविध्यमङ्गीकर्त्तव्यमिति। रेखापातेनायमर्थः स्फुटमुपदर्श्यते—

[शाक्तपञ्चमी पूर्वतस्तृतीया]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्			शक्तिकूटम्
ह	ह	ह	क	ह
स	स	क	ह	क
क	क	ह	य	ल
ल	ल	ल	ल	स
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

[शाक्तपञ्चमी पूर्वतश्चतुर्थी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्			शक्तिकूटम्
ह	ह	ह	क	ह
स	स	क	ह	स
क	क	ह	य	क
ल	ल	ल	ल	ल
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

इस श्लोक में शाक्त पञ्चमी विद्या का उद्धार बताया गया है। सौभाग्य विद्या का वाग्भव कूट, तत्पश्चात् शाम्भवी पञ्चमी का त्रयात्मक कामराज कूट और तत्पश्चात् शाम्भवी पञ्चमी का शक्तिकूट। इन कूटों की योजना करने से शाक्त पञ्चमी विद्या निष्पन्न होती है।।६३।।

विमर्श—यहाँ 'सौभाग्यायाः' से तात्पर्य उपर्युक्त पञ्चदशी सौभाग्या (जलेशी) विद्या से नहीं; अपितु प्रथम लोपमुद्रा विद्या से है। प्रथम लोपमुद्रा का वाग्भव कूट है—'हसकलह्रीं'।

शाम्भवी पञ्चमी विद्या का त्रयात्मक कामराज कूट है—'हसकलह्रीं हकहलह्रीं कहयलह्रीं'।

(देखें—दशम प्रकाश, श्लोक ३१-३२)

शाम्भवी पञ्चमी विद्या के शक्तिकूट के दो रूप हैं। यथा—(१) हकलसह्रीं और (२) हसकलह्रीं।

इस प्रकार शक्तिकूटभेद से पञ्चकूट शाक्त पञ्चमी के निम्नलिखित दो रूप सिद्ध होते हैं। यथा—

	वाग्भव कूट	कामराज कूट			शक्तिकूट
(१)	हसकलह्रीं	हसकलह्रीं	हकहलह्रीं	कहयलह्रीं	हकलसह्रीं
(२)	हसकलह्रीं	हसकलह्रीं	हकहलह्रीं	कहयलह्रीं	हसकलह्रीं

[अपरो विशेषः]

वामनेत्रादिकूटं वा भगादिकूटमेव वा।

वामनेत्रमीकारस्तदादिकूटं प्रागुक्तशाक्तकामराजस्य ई ए क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटमित्यर्थः। पूर्ववत् शक्तिकूटञ्चेत्यादेरत्रापि सम्बन्धः। प्रथमोक्तपञ्चम्योर्वाग्भवकूटं परित्यज्य तत्र निरुक्तशाक्तकामराजवाग्भवकूटयोजनात्तयोः पुनर्द्वैविध्यं तच्च रेखासमावेशेन स्फुटमुपदर्श्यते—

[शाक्तपञ्चमी पूर्वतः पञ्चमी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्			शक्तिकूटम्
ई ए क ल ह्रीँ	ह स क ल ह्रीँ	ह क ह ल ह्रीँ	क ह य ल ह्रीँ	ह क ल स ह्रीँ

[शाक्तपञ्चमी पूर्वतः षष्ठी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्			शक्तिकूटम्
ई ए क ल ह्रीँ	ह स क ल ह्रीँ	ह क ह ल ह्रीँ	क ह य ल ह्रीँ	ह स क ल ह्रीँ

अपरौ भेदावाह—भगादीति। भग एकारस्तदादिकूटमित्यर्थः। तेन प्रथमपञ्चम्योर्वाग्भवकूटं परित्यज्य तत्र भगादिकूटं झिण्टीशोऽपि भगः काम इत्यादिशाक्तलोपामुद्राया ए ई क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटं चेत् प्रयुज्येत तदा तयोः पुनर्द्वैविध्यम्। यथा—

[शाक्तपञ्चमी पूर्वतः सप्तमी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्			शक्तिकूटम्
ए ई क ल ह्रीँ	ह स क ल ह्रीँ	ह क ह ल ह्रीँ	क ह य ल ह्रीँ	ह क ल स ह्रीँ

[शाक्तपञ्चमी पूर्वतोऽष्टमी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्			शक्तिकूटम्
ए ई क ल ह्रीँ	ह स क ल ह्रीँ	ह क ह ल ह्रीँ	क ह य ल ह्रीँ	ह स क ल ह्रीँ

इस एकादश प्रकाश के तीसरे और ग्यारहवें श्लोक में शाक्त लोपामुद्रा के दो वाग्भव कूट बताये गये हैं। इनमें से एक वाग्भव कूट है—ईएकलह्रीं (श्लोक ३) तथा दूसरा वाग्भव कूट है—एईकलह्रीं (श्लोक ११)।

यदि शाक्त लोपमुद्रा के उपर्युक्त वाग्भव कूट के साथ पञ्चकूटा पञ्चमी के उपर्युक्त तीन कूटों वाले कामराज कूट और दो प्रकार के शक्तिकूटों की योजना की जाय तो शाक्त पञ्चमी के उपर्युक्त चार रूप (पंचमी, षष्ठी, सप्तमी और अष्टमी) बनते हैं।

[अस्या: प्रकर्ष:]

अरिहा सिद्धिदा विद्या सर्वदोषविवर्जिता।।६४।।

समस्त दोषों से रहित यह विद्या समस्त शत्रुओं का विनाश करने वाली एवं सिद्धि प्रदान करने वाली है॥६४॥

[शाम्भवशाक्तपञ्चमीभेदानां षडाम्नायानुगतत्वं प्रामाणितन्त्रसंवादित्वञ्च]

षडाम्नायप्रभेदेन पञ्चमी शक्तिशाम्भवी।
बृहच्छ्रीक्रमतन्त्रस्य मतं ज्ञात्वेति कीर्त्तितम्।।६५।।

इति श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचिते श्रीतत्त्वचिन्तामणौ एकादश: प्रकाश:॥११॥

'बृहत् श्रीक्रमतन्त्र' के अनुसार पञ्चकूटा शाक्त शाम्भवी पञ्चमी विद्या का निरूपण किया गया। यह विद्या षडाम्नाय-पूजिता है॥६५॥

श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचित श्रीतत्त्वचिन्तामणि के एकादश प्रकाश का
'भावना'-भाष्य पूर्ण हुआ।।११।।

●

द्वादशः प्रकाशः

[शुद्धाशुद्धसबलमन्त्रनिरूपणम्, तत्र मेरुनिर्णयः, ऋषिभिर्देवतैश्चाराधिता मन्त्रभेदाः, दीपनी-वामकेशीविद्यास्वरूपनिरूपणञ्च]

[त्रिविधमन्त्रनिरूपणप्रतिज्ञा]

शुद्धाशुद्धफला मन्त्रास्तथा तूभयसंज्ञकाः।
सुभगाया भवन्त्येव तदेवाथ निगद्यते।।१।।

सुभगाया लोपामुद्रायाः। **शुद्धेति।** शुद्धफला अशुद्धफला उभयसंज्ञकाः शुद्धाशुद्धोभयफलाश्चेत्यर्थः।

सुभगा अर्थात् लोपामुद्रा के कुछ मन्त्र शुद्ध फल देने वाले, कुछ अशुद्ध फल देने वाले और कुछ शुद्ध-अशुद्ध मिश्रित फल देने वाले हैं। इस प्रकाश में उनका निरूपण किया जायेगा।।१।।

[वक्ष्यमाणमन्त्राणां मेरुः]

भूमिश्चन्द्रः शिवो माया शक्तिः कृष्णाध्वमादनौ।
अर्द्धचन्द्रश्च बिन्दुश्च नवार्णो मेरुरुच्यते।।२।।

[महात्रिपुरसुन्दरीमन्त्राणां निरुक्तमेरूद्भूतत्वम्]

महात्रिपुरसुन्दर्या मन्त्रा मेरुसमुद्भवाः।।३।।

अथ महात्रिपुरसुन्दरीमन्त्राणां मेरुभूतवर्णेभ्य उत्पत्तिं दिदर्शयिषुः प्रथमं मेरुवर्णान् निर्दिशति—**भूमिरित्यादिना।** भूमिः पृथ्वीबीजं लकारः, चन्द्रः सकारः, शिवो हकारः, माया ईकारः, शक्तिरेकारः, कृष्णाध्वा वह्नी रकारः, मादनः ककारः, अर्द्धचन्द्रबिन्दू प्रसिद्धौ। नवार्ण इति नव अर्णा लकारादयो यत्र तथाभूतो मेरुरित्यर्थः।

महात्रिपुरसुन्दरीमन्त्राणां निरुक्तमेरूद्भवत्वमाह—**महेत्यादिना।** मेरुसमुद्भवा इति निरुक्तमेरुवर्णोत्पन्ना इत्यर्थः।

भगवती महात्रिपुरसुन्दरी के पञ्चदशाक्षरी आदि अनेक मन्त्र हैं। इन मन्त्रों का उद्भव जिन नौ (९) वर्णों से होता है, उसे मेरु मन्त्र कहा गया है। इस नवाक्षरी मेरुमन्त्र के घटक वर्ण हैं—भूमि (ल), चन्द्र (स), शिव (ह), माया (ई), शक्ति (ए), कृष्णाध्व अर्थात् अग्नि (र), मादन (क), अर्धचन्द्र और बिन्दु। भगवती महात्रिपुरसुन्दरी के मन्त्रों का उद्भव इसी मेरुमन्त्र से हुआ है। तात्पर्य यह

कि भगवती महात्रिपुरसुन्दरी के सभी मन्त्र इन्हीं नौ (९) वर्णों के संयोजन से बने हैं।

[पृथिव्यादीनां निरुक्तमेरुवर्णकारणकत्वम्]

लकारात् पृथिवी जाता सशैलवनकानना।
पञ्चाशत्पीठसम्पन्ना सर्वतीर्थमयी परा।।४।।

अथैतन्मेरुभूतवर्णेभ्यः पृथिव्यादीनामुत्पत्तिमाह—**लकारादित्यादिना**। एवञ्च पृथिव्या बीजभूतत्वादेव लकारस्य पृथ्वीबीजमिति संज्ञा। एवमन्यत्रापि।

इस मेरुमन्त्र के प्रथम वर्ण 'ल'कार से पृथिवी उत्पन्न हुई। केवल पृथ्वी ही नहीं; अपितु पृथ्वी के सारे घटक एवं पृथ्वी की समस्त विभूतियाँ 'ल'कार से उत्पन्न हुई हैं। पहाड़, पर्वत, वन, उपवन, सभी नदियाँ, पृथ्वी पर स्थित सभी पचास पीठ और सभी तीर्थ 'ल'कार से उत्पन्न हुए हैं।।४।।

विमर्श—इन श्लोकों में शब्दसृष्टि और अर्थसृष्टि के मध्य परस्पर जनक-जन्यवत् घनिष्ठ सम्बन्धों को रेखांकित किया गया है। अर्थसृष्टि के अन्तर्गत तत्त्व-विकास के क्रम में अन्तिम तत्त्व पृथ्वी है, जिसकी उत्पत्ति शब्दसृष्टि के घटक वर्ण 'ल'कार से हुई है, जो उपर्युक्त मेरुमन्त्र का प्रथम वर्ण है। इन श्लोकों में बताया गया है कि बिन्दु और नाद से शब्दसृष्टि और शब्दसृष्टि से तत्त्वमयी अर्थ-सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। वस्तुतः ये श्लोक ज्ञानार्णवतन्त्र (दशम पटल) के हैं।

सकाराच्चन्द्रतारादिग्रहदेवस्वरूपिणी ।
अकाराच्छिवसंयोगाद् व्योममण्डलमास्थिता।।५।।

'स'कार चन्द्रबीज है। 'स'कार से तारा-ग्रह और नक्षत्रमण्डल-सहित चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है।

'ह'कार शिव स्वरूप है। इससे व्योम मण्डल (अन्तरिक्ष) उत्पन्न हुआ है।।५।।

टिप्पणी—श्रीतत्त्वचिन्तामणि की मुद्रित प्रति में उपर्युक्त श्लोक की द्वितीय पंक्ति है—'अकाराच्छिवसंयोगात्'। मूल ग्रन्थ ज्ञानार्णव तन्त्र (१०/३४) में यह पंक्ति है—'हकाराच्छिवसंयोगात्।' सन्दर्भ के अनुसार यहाँ 'अ'कार शुद्ध प्रतीत नहीं होता; क्योंकि उक्त मेरुमन्त्र में 'अ'कार नहीं; अपितु 'ह'कार का समावेश है।

ईकाराद्धि सकर्त्रीयं माया तुर्यात्मिका परा।
एकाराद्वैष्णवी शक्तिर्विश्वपालनतत्परा।।६।।

'ई'कार—मेरुमन्त्र का चतुर्थ वर्ण 'ई'कार है। 'ई'कार मायास्वरूप है—मायातत्त्व है। यह मायातत्त्व अर्थ-सृष्टि के अन्तर्गत तत्त्वविकास के क्रम का षष्ठ तथा अशुद्ध तत्त्ववर्ग का प्रथम तत्त्व है। इस मायातत्त्व की भूमिका पर पहुँचते ही शिव को कला, अविद्या, राग, काल और नियतिरूप पाँच कञ्चुक प्राप्त होते हैं,

जिनसे आबद्ध होकर शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य शिव को पुरुष की संज्ञा प्राप्त होती है। चक्रसृष्टि में यह 'ई'कार श्रीयन्त्र का चतुर्दशार चक्र है।

'ए'कार शक्ति का, वैष्णवी शक्ति का अभिव्यञ्जक है, जो सम्पूर्ण विश्व का सम्यक् रूप से पालन करती है। चक्रसृष्टि में यह 'ए'कार श्रीयन्त्र का बहिर्दशार है।।६।।

रेफात्तु तेजसा युक्ता परं ज्योतिःस्वरूपिणी।
ककारात् कामदा कामरूपिणी स्फुरदव्यया।।७।।

'र'कार अग्निबीज है। अग्नि ऊष्मा है, ऊर्जा (Energy) है। वह एनर्जी, जिससे सम्पूर्ण संसार का क्रियाव्यापार चल रहा है। संसार के क्रिया-व्यापार की संचालिका ऊर्जारूपी 'अग्नि' परंज्योतिस्वरूपिणी महात्रिपुरसुन्दरी की विभूति है।।७।।

'क'कार—मादन का अर्थ है—'क'कार। भगवती महात्रिपुरसुन्दरी क्लीं-कारिणी हैं, कामरूपिणी और कामदा हैं। वे नित्य स्फुरत् हैं, स्पन्दित हैं। उनकी स्फुरत्ता कभी समाप्त नहीं होती। उनकी यह नित्य स्फुरत्ता ही जगत् की गति का हेतु है।

अर्द्धचन्द्रस्वरूपेण विश्वयोनिरितीरिता।
बिन्दुना शिवरूपेण शून्यरूपेण साक्षिणी।।८।।
अनया सह सर्वत्र व्याप्तिनिश्चलतात्मना।

अर्द्धचन्द्रबिन्द्वोः स्वरूपमाह—अर्द्धेत्यादिना। अर्द्धचन्द्रस्वरूपेण नादात्मना शक्तिर्विश्वयोनिः विश्वस्य कारणमित्यर्थः। नादादेव सृष्टेरुक्तत्वात्तस्य सृष्टिं प्रति कारणत्वमित्यर्थः। बिन्दुनेति। शून्यरूपेण शून्यात्मना शिवरूपेण बिन्दुना साक्षिणी साक्षिस्वरूपेत्यर्थः। अनयेति। अनया विश्वयोन्या आत्मना बिन्दुना शिवरूपेण सर्वत्र व्याप्तिनिश्चलता व्याप्तेरविनाभावस्य निश्चलतेत्यर्थः। यत्रैवार्द्धचन्द्रस्वरूपा शक्तिस्तत्रैव बिन्दुरूपः शिव इत्यर्थः। एतेन शिवशक्त्योरभिन्नत्वमर्थादायातम्।

अर्धचन्द्र अनुस्वार है और यह अनुस्वार वर्णोद्भूत ब्रह्माण्ड का आदि स्वरूप है। अर्धचन्द्र-स्वरूपिणी होने के कारण भगवती महात्रिपुरसुन्दरी विश्वयोनि है। 'बिन्दु' शिव है, शिवस्वरूप है। नाद और बिन्दु का अविनाभाव सम्बन्ध है। अविनाभाव सम्बन्ध का अर्थ है—परस्पर सापेक्ष नित्य सम्बन्ध। इस नित्य सम्बन्ध के कारण वे शिवरूप में सर्वत्र व्याप्त हैं।

'बिन्दु' शिवरूप है। शून्य आकाश है। आकाश शिव की मूर्ति है। यह आकाश महाप्रलय के बाद की उस महाशून्यावस्था का परिचायक है, जब स्वयं शिव निश्चल होते हैं। उस समय भी यह महाशक्ति नित्य सम्बन्ध के कारण शिव में व्याप्त होकर जाग्रत रहती है तथा उस महाशून्यावस्था को देखती रहती है। अतः यह शून्य-साक्षिणी है।।८-९।।

एवं रूपं ब्रह्मरूपं मेरुणानेन जायते।।९।।
एभिर्नवार्णकैर्वर्णैस्त्रिपुरा कथ्यतेऽधुना।।१०।।

एभिरिति। एभिः प्रागुक्तैः। नवार्णकैर्वर्णैरिति। नव अर्णाः प्रागुक्तलकारादिवर्णा येषु तादृशैर्वर्णैर्मन्त्रघटकवर्णैरित्यर्थः। त्रिपुरा कथ्यते अधुनेत्यनेन मन्त्रान्तरप्रकृतिभूतवक्ष्यमाणकामराजविद्याया एव निरुक्तवर्णघटितत्वम्, तेन पूर्वमभिहिते स ह क्ष म ल ह्रीमित्यादौ षोडश्यादिस्थले एतदितरवर्णघटितत्वेऽपि न दोष इति सूचितम्।

इस तरह इस मेरुमन्त्र के घटक वर्णों से परब्रह्मरूपा त्रिपुरा के मन्त्र उत्पन्न होते हैं। इन नौ वर्णों से उद्भूत त्रिपुरामन्त्रों का अब निरूपण किया जा रहा है॥९-१०॥

इस क्रम में सर्वप्रथम मनुपूजिता विद्या का उद्धार अगले दो श्लोकों में बताया गया है।

[मनुपूजिता]

कामाकाशौ शक्तितुर्यभूमायाबीजमुद्धरेत्।
एतद् वाग्भवमालिख्य सर्वविद्याः समुद्धरेत्।।११।।
मदनानुजहः कामे मदनाग्रज उच्यते।
हित्वाऽनुजं शिवं साग्रं विद्येयं मनुपूजिता।।१२।।

प्रकाशेऽस्मिन्नितः प्रभृति तैस्तैर्दैवतैर्ऋषिभिश्चाराधिता विद्या व्याख्येयाः। तत्र प्रथमं मन्वाराधितां त्रिकूटां विद्यामभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**कामेति**। कामः ककारः, आकाशो हकारः, शक्तिरेकारः, तुर्यः चतुर्थस्वर ईकारः, भूर्लकारः, मायाबीजं ह्रीमिति एतानि समुद्धरेदित्यर्थः। एवञ्च क ह ए ई ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। सर्वविद्याः समुद्धरेदिति। एतेनास्य वक्ष्यमाणमन्त्रेषु मेरुरूपत्वं बोध्यम्। कामराजकूटमाह—**मदनेति**। कामे कामराजकूटे, मदनानुजहः प्रागुक्तवाग्भवकूटस्थितो यो मदनस्य तत्कूटादिभूतककारस्य अनुजः अधःस्थितो हः हकारः स मदनाग्रजः मदनस्य अग्रजः कार्य इत्यर्थः, वाग्भवकूटस्य ककारान्तस्थितं हकारं ककारात् पूर्वं योजयेदित्यर्थः। एवञ्च ह क ए ई ल ह्रीमिति कामराजकूटमिति पर्य्यवस्यति। शक्तिकूटमाह—**हित्वेति**। वाग्भवकूटस्य अनुजं ककाराधःस्थं शिवं हकारं हित्वा ककारं साग्रं सः सकारः अग्रे यस्य तथाभूतं कुर्यादित्यर्थः। एवञ्च स क ए ई ल ह्रीमिति शक्तिकूटम्। इयं मनूपासिता अष्टादशाक्षरी त्रिपुरसुन्दरी। रेखापातेनैतत्कूटत्रयसमष्टिरूपो मन्त्रः प्रदर्श्यते।

[त्रिपुरसुन्दरी मनूपासिता]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क	ह	स
ह	क	क
ए	ए	ए
ई	ई	ई
ल	ल	ल
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

मनुपूजिता विद्या—काम (क), आकाश (ह), शक्ति (ए), तूर्यस्वर (ई), भू (ल) और मायाबीज (ह्रीं) की संयोजना से मनुपूजिता विद्या का वाग्भव कूट निष्पन्न होता है—कहएलह्रीं।

उक्त वाग्भव कूट के आदि वर्ण 'क'कार को 'ह'कार के बाद में स्थापित करें। इस विद्या का कामराज कूट निष्पन्न होगा—हकएईलह्रीं।

इस वाग्भव कूट के आदि में मदन (क) के अनुज अर्थात् 'क'कार के परवर्ती 'ह'कार को निकाल दें। इसके बाद कूट को 'साग्र' अर्थात् कूट के आदि में 'स'कार की योजना करने से मनु-आराधिता विद्या का तृतीय शक्तिकूट निष्पन्न होता है—सकएईलह्रीं।

१८ अक्षरों वाली इस विद्या का मन्त्र स्वरूप है—कहएईलह्रीं हकएईलह्रीं सकएईलह्रीं।

इसी मनु-आराधिता विद्या को मेरु मानकर आगे चन्द्र-आराधिता एवं कुबेर-आराधिता आदि विद्याओं का उद्धार बताया गया है।।११-१२।।

[चन्द्राराधिता]

कामः सहानुजो वाचि शिवं कामानुजं विना।
सहाद्यं मदने शक्तौ सहाद्यं कानुजं विना।
चन्द्राराधितविद्येयं भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी।।१३।।

अथ चन्द्राराधितां विद्यामाह—**काम** इत्यादिना। तत्र वाग्भवकूटप्रक्रिया। अत्र वाचि वाग्भवकूटे सहानुजः सकारहकारयोरनुजः अधःस्थितः कामः। स च कामानुजं ककारान्तस्थितं शिवं हकारं विना योजनीय इति सम्बन्धः। अयं भावः—प्रागुक्त-मन्वाराधितविद्याया वाग्भवकूटस्य मेरुरूपत्वं पूर्वमभिहितम्। ततश्च तदादिभूतो यः कामः ककारः स चेत् सहानुजः सकारहकारयोरनुजः परवर्त्ती स्यात् तथा कामानुजं शिवं विना, निरुक्तमेरोः ककारान्तस्थितं हकारं विना हकाररहितो भवेदित्यर्थः। तदा वाग्भवकूटम्। एवञ्च स ह क ए ई ल ह्रीमिति वाग्भवकूटमिति स्थितम्। कामराजकूटमाह—**सहाद्यमिति**। मदने कामराजकूटे सहाद्यं सकार-हकाराद्यं तद्वाग्भवकूटं प्रयुञ्जीतेत्यर्थः। एवञ्च स ह कहएईलह्रीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटमाह—**शक्ताविति**। शक्तौ शक्तिकूटे सहाद्यं सकार-हकाराद्यं तथा कानुजं हकारं विना। एतद्विद्या वाग्भवकूटमेव शक्तिकूटम्। एवञ्च स ह क ए ई ल ह्रीमिति शक्तिकूटमिति पर्यवस्यति। एतेनैतन्मन्त्रवाग्भवशक्तिकूटयोस्तुल्यत्वमिति ज्ञेयम्।

[चन्द्राराधिता]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
स ह क ए ई ल ह्रीं	स ह क ह ए ई ल ह्रीं	स ह क ए ई ल ह्रीं

सहाद्यं वाग्भवं देवि चन्द्राद्यं शिवमध्यगम्।
मादनं कामराजे तु शक्तिबीजं सहाननम्।।
चन्द्राराधितविद्येयं भोगमोक्षफलप्रदा।

इति तन्त्रसारधृतवचने सहाननमिति पददर्शनाद् हसाद्यमिति पादटीकाधृत: पाठ: प्रामादिक इति प्रतिभाति। एतत् कूटत्रयसमष्टिरूपो मन्त्र: प्रदर्श्यते।

चन्द्राराधिता विद्या—घाचि अर्थात् वाग्भव कूट में। उपर्युक्त मनु-आराधिता विद्या के वाग्भव कूट के आदि में जो काम (क) है, उसे 'सहानुज' करें अर्थात् 'क'कार के बाद 'स' और 'ह' की योजना करें। रूप बना—'सहक'। इस कूट में 'क'कार के बाद जो शिव अर्थात् 'ह' है, उसे निकाल दें। इस तरह 'क'कार के पूर्व 'सह' जोड़ने तथा 'क'कार के बाद 'ह'कार को निकालकर शेष वर्णों को यथावत् रखने से चन्द्राराधिता विद्या का वाग्भव कूट निष्पन्न होता है—सहकएईलह्रीं।

मनु-उपासिता विद्या के वाग्भव कूट (कहएईलह्रीं) के आदि में 'सह' की योजना करने से इसका कामराज कूट बनता है—सहकहएईलह्रीं।

शक्तौ अर्थात् शक्तिकूट। मनु-उपासिता विद्या के वाग्भव कूट (क ह ए ई ल ह्रीं) के आदि में 'सह' की योजना करने तथा 'क'कार के परवर्ती वर्ण 'ह'कार को निकाल देने से इस विद्या का शक्तिकूट बनता है। यथा—सहकएईलह्रीं।

मन्त्रस्वरूप—'सहकएईलह्रीं सहकहएईलह्रीं सहकएईलह्रीं'। भुक्ति-मुक्ति-प्रदायिनी यह चन्द्राराधिता विद्या है।

[कुबेराराधिता]

अनुजेन विना कामो हसादिर्वाग्भवेश्वरे।
हसादितो हस:शक्तावग्रस्थ इति दीप्यते।
कुबेराराधिता विद्या भुक्तिमुक्तिफलप्रदा।।१४।।

अथ कुबेराराधितां विद्यामभिदधान: प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**अनुजेनेति**। अत्रापि मन्वाराधितविद्यावाग्भवकूटमेव मेरुमिति स्मर्त्तव्यम्। वाग्भवे वाग्भवकूटे अनुजेन हकारेण विना स्वाध:स्थित-हकाररहित: काम इत्यर्थ:। कामं विशेषयति—**हसादिरिति**। हसौ हकार-सकारावादी यस्य तथाभूत:। एतेन प्रथमं हकारस्तत: सकारस्तत: ककार: इति प्राप्तम्। एवञ्च ह स क ए ई ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। कामराजकूटव्यवस्थामाह—**स्मर इत्यादिना**। स्मरे कामराजकूटे। **हसादित इति**। अस्यादौ हकारसकारौ

[कुबेरोपासिता]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ह	ह	ह
स	स	स
क	क	क
ए	ह	ए
ई	ए	ई
ल	ई	ल
ह्रीं	ल	ह्रीं
	ह्रीं	

योज्यावित्यर्थः। अत्र ककारान्ते हकारोऽप्यस्तीति पूर्वतो विशेषः। एवञ्च ह स क ह ए ई ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटमाह—**ह स** इत्यादिना। शक्तौ शक्तिकूटे हसः हकारसकारादिप्रोक्तवर्णसमूहः। ककारान्ते हकारसकारयोर्योगमाशङ्क्याह—**अग्रस्थ इति**। ककारात् पूर्वं ह-सौ योजयेदि-त्यर्थः। एतेनात्र कानुजहकारयोगो नास्तीति सूचितम्। एवञ्च ह स क ए ई ल ह्रीमिति शक्तिकूटम्।

कुबेराराधिता विद्या—मनु-उपासिता विद्या के वाग्भव कूट से 'क'कार के बाद वाले 'ह'कार को हटा देने और कूट के आदि में 'हस' की योजना करने से इस विद्या का वाग्भव कूट निष्पन्न होता है—हसकएईलह्रीं।

मनु-उपासिता विद्या के वाग्भव कूट के आदि में 'हस' की योजना करने से इसका कामराज कूट बनता है—हसकहएईलह्रीं।

वाग्भव कूट के आदि में 'हस' की योजना करने और 'क'कार के परवर्ती 'ह'कार को निकाल देने से शक्तिकूट निष्पन्न होता है। यथा—हसकएईलह्रीं। मन्त्र-स्वरूप है—हसकएईलह्रीं हसकहएईलह्रीं हसकएईलह्रीं।

[कामाराधिता]

कामाराधितविद्या तु पुरैव परिकीर्त्तिता।।१५।।

कामेति। अथ विद्यां प्रवक्ष्यामि कामदेवेन सेविताम् (१०, १५६) इत्यादिनेत्यर्थः।

कामदेव द्वारा आराधित विद्या का निरूपण पहिले ही (पटल १० श्लोक १५६) में किया जा चुका है। कामराज विद्या है—कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं॥१५॥

[अगस्त्याराधिता प्रथमलोपामुद्रा]

तथा लोपा महाविद्या सैवात्रागस्त्यपूजिता।।१६।।

अगस्त्याराधितां लोपामुद्रामाह—**तथेति**। इयञ्च हसौः कामः शक्र इत्याद्येकादशप्रकाशीयसप्तमश्लोकाभिहिता ह स क ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, स क ल ह्रीमित्युक्तलक्षणा त्रिकूटेति ज्ञेयम्। प्रागुक्ता पञ्चदशाक्षरीयमगस्त्यपूजितेत्यर्थः।

इसी तरह अगस्त्यपूजिता लोपमुद्रा विद्या (हसकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं) का भी निरूपण पहिले ही (पटल ११ श्लोक ७) किया जा चुका है॥१६॥

[नन्दिपूजिता]

हित्वाद्ययुगलं वाचि साद्यं कामे शिवादिकम्।
शक्तिबिन्दुस्रजं हित्वा कामं तत्र विनिक्षिपेत्।
शक्तावगस्त्यविद्येयं नन्द्याराधितदेवता।।१७।।

अथ नन्दिपूजितां लोपामुद्रामभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**हित्वेति**। अत्रापि पूर्ववन्मन्वाराधितविद्यावाग्भवकूटस्याक्षरपरिवृत्त्या वाग्भवकामराजकूटद्वय-

सिद्धिरिति ज्ञेयम्। तथा चायमर्थः—वाचि क ह ए ई ल ह्रीमिति मन्वाराधितविद्यावाग्भवकूटे आद्ययुगलं ककारहकारौ हित्वा वाग्भवकूटं साद्यं सः सकारः आद्यो यस्य तथाभूतं कुर्यादित्यर्थः। एवञ्च कूटादस्मात् क-हयोरपगमे तत्र सकारस्यागमे च स ए ई ल ह्रीमिति वाग्भवकूटमिति पर्यवस्यति। कामराजकूटमाह—काम इत्यादिना। कामे कामराजकूटे शक्तिबिन्दुस्रजं शक्तिम् एकारम्, बिन्दुस्रजं बिन्दुमालिनीम् ईकारं च हित्वा शिवादिकं कामं साद्यं कुर्यात्। एवञ्च क ह ए ई ल ह्रीमित्यत एकादशस्वरचतुर्थस्वरयोरपगमे ककारात् पूर्वं सकारहकारयोरुपादाने च, स ह क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटमिति पर्यवस्यति। शक्तिकूटमाह—**शक्तावित्यादिना**। शक्तौ शक्तिकूटे अगस्त्यविद्या। अगस्त्यशक्तिकूटमेवात्र शक्तिकूटमित्यर्थः। एवञ्च स क ल ह्रीमिति शक्तिकूटम्। तन्त्रसारेऽपि—

[नन्दिपूजिता लोपामुद्रा पञ्चदशाक्षरी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
स	स	स
ए	ह	क
ई	क	ल
ल	ह	ह्रीं
ह्रीं	ल	
	ह्रीं	

कामराजाख्यविद्याया वाग्भवे मादनं त्यज।
चन्द्रं तत्रैव संयोज्य कामराजे ततः परम्।
हित्वा चन्द्रं मुखे कुर्याद् विद्येयं नन्दिपूजिता।।

इत्यनेनायमेव मन्त्रः प्रदर्शितः। परन्त्वत्र मन्वाराधितलोपामुद्रां, तत्र तु कामराजविद्यामुपजीव्य मन्त्रोद्धारः कृत इति विशेषः। एतत्कूटत्रयसमष्टिरूपो मन्त्रो रेखापातेन प्रदर्श्यते।

नन्दिपूजिता—मनुपूजिता विद्या के वाग्भव कूट (कहएईलह्रीं) के प्रथम दो वर्णों (क ह) को हटाकर कूट के आदि में 'स'कार की योजना करने से इस विद्या का वाग्भव कूट बनता है—सएईलह्रीं।

वाग्भव कूट (कहएईलह्रीं) से शक्ति (ए) तथा बिन्दुस्रजं (ई) को हटाकर 'क'कार के पूर्व 'स' और 'ह' की योजना करने से उसका कामराज कूट बना—सहकहलह्रीं।

अगस्तपूजिता लोपामुद्रा का शक्तिकूट (सकलह्रीं) इसका भी शक्तिकूट है। मन्त्रस्वरूप है—सएईलह्रीं सहकहलह्री सकलह्रीं।

यह सादि पञ्चदशाक्षरी विद्या है।।१७।।

[सूर्याराधिता]

कामानुजत्रयं हित्वा हसाद्यं वाचि मन्मथे।
सहाद्य(हसाद्य?)मन्ते सहयोर्मध्ये कः सूर्यपूजिता।।१८।।

अथ सूर्यपूजितां विद्यामाह—**कामानुजत्रयमित्यादिना**। वाचि वागभवकूटे कामानुजत्रयं हित्वा प्रागुक्तमनूपासितविद्यायाः क ह ए ई ल ह्रीमिति वाग्भवकूटात् ह ए ई इत्यक्षरत्रयं परित्यज्य तत् हसाद्यं हसौ आद्यौ यस्य तथाभूतं कुर्यादित्यर्थः। एवञ्च ह स क ल ह्रीमिति वाग्भव-कूटमिति पर्यवस्यति। कामराजकूटमाह—**मन्मथ इति**। मन्मथे कामराजकूटे सहाद्यं कुर्यात् प्रागुक्तवाग्भवकूटमिति शेषः। एवञ्च स ह क ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। एतेनात्र वाग्भवकामराजकूटयोस्तुल्यत्वमिति ध्येयम्। एवमेवागमचन्द्रिकायामपि। शक्तिकूटमाह—**अन्त इति**। अन्ते शक्तिकूटे सहयोः सकारहकारयोर्मध्ये ककारः। एवञ्च स क ह ल ह्रीमिति शक्तिकूटम्। यत्तु तन्त्रसारकृता द्वितीयलोपामुद्रामाश्रित्य क ए ई ल ह्रीमित्यादिरूपो मन्त्रोद्धारक्रमः प्रदर्शितः स चिन्त्यः स्वमतसाधकप्रमाणाभावात्।

[सूर्याराधिता पञ्चदशाक्षरी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ह	स	स
स	ह	क
क	क	ह
ल	ल	ल
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

शिवो भृगुः कामधरा परा स ह कलाः परा।
जीवकामेशलपराः सौरी सर्वसमृद्धिदा।।

इत्यागमचन्द्रिकाधृतचन्द्रपीठवचनविरोधाच्चेति ध्येयम्। अत्र हसाद्यमिति पाठः प्रामादिकः प्रतिभाति। तन्त्रसारचन्द्रपीठादिवचनविरोधात् रेखान्यासेनैतत्कूटत्रयसमष्टिरूपो मन्त्रः प्रदर्श्यते।

सूर्य-आराधिता विद्या—मनु पूजिता विद्या के वाग्भव कूट (कहएईलह्रीं) में 'क'कार (काम) के अनुजत्रय अर्थात् 'क'कार के परवर्ती तीन वर्ण 'ह ए ई' को हटाकर 'क'कार के पूर्व 'हस' की योजना करने से इसका वाग्भव कूट निष्पन्न होता है—हसकलह्रीं।

उपर्युक्त वाग्भव कूट (हसकलह्रीं) को 'सहाद्य' करने से अर्थात् 'हस' को 'स ह' बना देने से इस विद्या का कामराज कूट बनता है—सहकलह्रीं।

उपर्युक्त जो 'सहाद्य' कूट (सहकलह्रीं) है, उसमें 'क'कार को 'स' और 'ह' के मध्य अन्तस्थ करने से इस विद्या का तृतीय कूट अर्थात् शक्तिकूट निष्पन्न होता है। यथा—सकहलह्रीं।

मन्त्रस्वरूप—हसकलह्रीं सहकलह्रीं सकहलह्रीं।

यह हादिक्रम की सूर्याराधिता पञ्चदशाक्षरी विद्या है।।१८।।

[विष्णुपूजिता (षट्कूटा)]

अगस्त्यकूटत्रितयं सूर्यकामं समालिखेत्।
पुनस्तत्कलमध्ये सं तार्त्तीयं च समालिखेत्।
हसाद्यं विष्णुपूज्येयं षट्कूटा परमेश्वरी।।१९।।

अथ विष्णुपूजितां षट्कूटां त्रिपुरामाह—**अगस्त्येत्यादिना परमेश्वरीत्यन्तेन**। अगस्त्यकूटत्रितयम् अगस्त्योपासितप्रथमलोपामुद्राकूटत्रयमित्यर्थः। एतेन ह स क ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीमिति कूटत्रयं प्राप्तम्। **सूर्येति**। सूर्यकामं सूर्याराधितविद्यायाः कामराजकूटम् स ह क ल ह्रीमिति एतच्चतुर्थकूटम्। पुनरिति पञ्चमकूटे तत्कलमध्ये तस्य सूर्याराधितकामराजकूटस्य कलमध्ये ककारलकारयोर्मध्ये सं सकारं समालिखेत्, एतेन स ह क स ल ह्रीमिति पञ्चमकूटम्। षष्ठं कूटमाह—**तार्त्तीयमिति**। हसाद्यं हकारसकारौ आद्यौ यस्य तथाभूतं तार्त्तीयं सूर्याराधितविद्यायाः शक्तिकूटम् समालिखेत्। एवञ्च स क ह ल ह्रीमिति शक्तिकूटस्य हकारसकारयोरादौ विनियोगे ह स क ल ह्रीमिति षष्ठं कूटमिति पर्यवस्यति। मन्त्रस्यास्य संस्थानं प्रदर्श्यते—

[षट्कूटा विष्णुपूजिता एकत्रिंशदक्षरी]

१	२	३	४	५	६
ह स क ल ह्रीं	ह स क ह ल ह्रीं	स क ल ह्रीं	स ह क ल ह्रीं	स ह क स ल ह्रीं	ह स क ल ह्रीं

विष्णुपूजिता—हादिक्रम की विष्णुपूजिता विद्या प्रथम लोपामुद्रा के तीन कूट इसके भी प्रथम तीन कूट है। यथा—हसकलह्रीं। हसकहलह्रीं। सकलह्रीं।

सूर्यपूजिता विद्या का कामराज कूट (सहकल ह्रीं) इसका चतुर्थ कूट है।

सूर्यपूजिता विद्या के उपर्युक्त कामराज कूट (सहकल ह्रीं) में 'क'कार और 'ल'कार के मध्य 'स'कार की योजना करने से इसका पञ्चम कूट बनता है—सहकसलह्रीं।

सूर्यपूजिता विद्या के शक्तिकूट (सकहलह्रीं) को 'हसाद्य' करने अर्थात् 'ह'कार और 'स'कार को कूट के आदि में रखने से इसका ६ठा कूट बनता है—'हसकलह्रीं'। मन्त्रस्वरूप है—

हसकलह्रीं	हसकहलह्रीं	सकलह्रीं	सहकलह्रीं	सहकसलह्रीं	हसकलह्रीं
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)

विमर्श—तन्त्रग्रन्थों में अगस्त्य-आराधिता लोपामुद्रा नाम से दो मन्त्र बताये गये हैं। इनमें से प्रथम लोपामुद्रा है—हसकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं।

द्वितीया लोपामुद्रा है—कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सहसकलह्रीं।

इन दोनों लोपामुद्रा विद्याओं से और भी दो मन्त्र बनते हैं। इनमें से एक है—स्कन्द-आराधिता हादि विद्या और दूसरी है—शंकरोपासिता चतुष्कूटा महाविद्या। इन विद्याओं का उद्धार अगले श्लोकों में बताया गया है।

[स्कन्दाराधिता]

अगस्त्याद्यं वाग्भवं स्यादेतदेव सकादिकम्।
विष्णुविद्यापञ्चमञ्च स्कन्दाराधितदेवता।।२०।।

अथ स्कन्दाराधितां त्रिकूटां त्रिपुरामभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**अगस्त्याद्यमित्यादिना**। अगस्त्यस्य अगस्त्याराधितप्रथमलोपामुद्राया आद्यं वाग्भवकूटमेव अत्र वाग्भवकूटं स्यादित्यर्थः। एतेन ह स क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। कामराजकूटमाह—**एतदेवेति**। एतदेव निरुक्तवाग्भवकूटमेव हसादित्वं परिहाय यदि सकादिकं सकारककारादिकं स्यात्तदा कामराजकूटमित्यर्थः। एतेन स क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटमाह—**विष्णुविद्येति**। विष्णुविद्यायाः प्रागुक्तविष्णुपूजितषट्कूटात्मकविद्यायाः पञ्चमं कूटम्। एतेन स ह क स ल ह्रीमिति शक्तिकूटम्। अत्र विशेषानुक्तावपि प्रथमस्य वाग्भवकूटत्वाभिधानादितरयोः पूर्वरीत्या काम-राजशक्तिकूटत्वमभ्युपेयम्। रेखापातेन समुदितो मन्त्रः प्रदर्श्यते।

[स्कन्दाराधिता षोडशी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ह स क ल ह्रीं	स क ह ल ह्रीं	स ह क स ल ह्रीं

स्कन्दपूजिता—अगस्त्य-आराधिता प्रथम लोपामुद्रा का वाग्भव कूट इस विद्या का भी वाग्भव कूट है—हसकलह्रीं।

उपर्युक्त वाग्भव कूट के आदि के दो वर्णों अर्थात् 'हस' के स्थान पर 'सक' की योजना करने से इसका कामराजकूट बनता है—सकहलह्रीं।

षट्कूटा विष्णु-सेविता विद्या का पञ्चम कूट (सहकसलह्रीं) इसका शक्तिकूट है। मन्त्रस्वरूप है—हसकलह्रीं सकहलह्री सहकसलह्रीं।

[शङ्करोपासिता]

अगस्त्यस्य द्विधा विद्यां विलिख्य मनुवित्तमः।
चतुर्थीं पञ्चमीं मायां त्यजेच्छिवहृदि स्थिताम्।
चतुःकूटा महाविद्या शङ्करेण प्रपूजिता।।२१।।

अथ शङ्करोपासितां चतुष्कूटां विद्यामाह—**अगस्त्यस्येत्यादिना**। अगस्त्यस्य विद्यामगस्त्योपासितां द्वितीयां लोपामुद्रामित्यर्थः। द्विधा विलिख्य वारद्वयं लिखित्वेत्यर्थः, शिवहृदि स्थितां चतुर्थीं पञ्चमीं चतुर्थपञ्चमकूटयोः स्थितां मायां ह्रींकारद्वयं त्यजेत्। दीर्घेकारवाचिनोऽपि मायापदार्थस्यान्यत्र दर्शनात्तद्व्यावृत्त्यर्थं

शिवहृदि स्थितामिति विशेषणमुपात्तमिति ध्येयम्। एवञ्च प्रथमं द्वितीयलोपामुद्राकूटत्रयं यथायथं विनियोज्य पुनर्विनियुक्तात्तत्कूटत्रयात् प्रथमद्वितीययोरन्तस्थं ह्रींकारद्वयं परित्यज्य तत्कूटत्रयमेककूटात्मकं विदधीत। एतेनास्याश्चतुष्कूटत्वसिद्धिः, अत एव चतुःकूटा महाविद्येत्युक्तम्। अत्रागस्त्यस्य द्विधा विद्यामित्यविशेषाभिधानेऽपि द्वितीयलोपामुद्राया एव ग्रहणमिति बोध्यम्। व्यक्तमाह तन्त्रसारे—

लोपामुद्रां द्वितीयान्तु विलिख्य सुरसुन्दरि।
पुनर्विलिख्य तामेव चतुर्थे पञ्चमे स्थिताम्।।
हित्वा तु भुवनेशानीमेकोच्चारेण चोच्चरेत्।
चतुष्कूटा महाविद्या शङ्करेण प्रपूजिता।।

इति। रेखापातेनास्याः संस्थानं प्रदर्श्यते।

[शङ्करोपासिता चतुष्कूटा द्वात्रिंशदक्षरी]

१	२	३	४
क ए ई ल ह्रीं	ह स क ह ल ह्रीं	स ह स क ल ह्रीं	क ए ई ल ह स क ह ल स ह स क ल ह्रीं

शंकरोपासिता चतुष्कूटा विद्या—उपर्युक्त द्वितीया लोपामुद्रा के तीनों कूट इस विद्या के प्रारम्भ के तीन कूट हैं। इनमें से प्रथम और द्वितीय कूटों के अन्त से 'ह्रीं' को निकाल कर तीनों कूटों को फिर से लिखने से इसका चतुर्थ कूट बनता है। मन्त्रस्वरूप है—

कएईलह्रीं	हसकहलह्रीं	सहसकलह्रीं	कएइलहसकहलसहसकलह्रीं
(१)	(२)	(३)	(४)

[दुर्वाससाराधिता]

वाग्भवस्थं चतुष्कञ्च कामबीजञ्च पञ्चमम्।
शक्तिकूटं त्रिकार्णञ्च कामराजस्य संलिखेत्।।२२।।
मायास्थाने हरीवर्णयुगलञ्च समालिखेत्।
दुर्वाससा पूजितेयं पुरुषार्थप्रदायिनी।।२३।।

अथ दुर्वाससा पूजितां विद्यामाह—वाग्भवस्थमित्यादिना। कामराजस्येति सर्वत्र सम्बध्यते। तेनायमर्थः—कामराजस्य वाग्भवस्थं चतुष्कं क ए ई ल ह्रीमिति पञ्चानां मध्ये प्रथमं वर्णचतुष्कं संलिखेत्। एतेन क ए ई ल इति प्राप्तम्। कामबीजञ्चेति। ह स क ह ल ह्रीमिति षण्णां मध्ये ह स क ह ल इति वर्णपञ्चकं लिखेत्। पञ्चममिति

वर्णपञ्चकमित्यर्थः। **शक्तिकूटमिति।** त्रिकार्णं स क ल ह्रीमिति चतुर्णां मध्ये त्रिकार्णं स क ल इति वर्णत्रयं लिखेत्। अनन्तरप्रक्रियामाह—**मायेति।** प्रागुक्तप्रत्येककूटान्त्यभूतमायाबीजस्थाने ह री इति वर्णयुगलं समालिखेदिति सम्बन्धः। एवञ्च प्रतिकूटान्ते हरीति वर्णद्वययोजनया क ए ई ल ह री इति वाग्भवकूटम्। स ह क ह ल ह री इति कामराजकूटम्। स क ल ह री इति शक्तिकूटमिति पर्यवस्यति। रेखापाते–नायमर्थः स्फुटं प्रदर्श्यते।

[दुर्वासःपूजिता सप्तदशी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क	स	स
ए	ह	क
ई	क	ल
ल	ह	ह
ह	ल	री
री	ह	
	री	

दुर्वाससाराधिता विद्या—पुराणप्रसिद्ध क्रोधभट्टारक महर्षि दुर्वासा श्रीविद्या के प्रमुख द्वादश आराधकों में अनन्यतम हैं। दुर्वासा-रचित 'त्रिपुरामहिम्नस्तोत्र' का श्रीविद्या के आराधकों में वही स्थान है जो शिव उपासकों में पुष्पदन्त विरचित 'शिवमहिम्नस्तोत्र' का है।

कामराज-उपासिता विद्या दुर्वासाराधिता विद्या का मेरु है। कामराज विद्या के वाग्भव कूट के पाँच वर्णों में से प्रथम चार वर्ण अर्थात् 'कएईल' लिखें। इसी प्रकार कामराज कूट के छः वर्णों में से पाँच वर्ण—'हसकहल' लिखें। तृतीय शक्तिकूट के तीन वर्ण 'सकल' लिखें। कामराज विद्या के तीनों कूटों के अन्त में जो मायाबीज (ह्रीं) है, उसके स्थान पर 'हरी' की योजना करें। इस तरह मन्त्र बनेगा—कएईलहरी हसकहलहरी सकलहरी॥२२-२३॥

विमर्श—दक्षिणामूर्तिसंहिता में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है—'मायास्थाने हरीवर्णयुगले च क्रमाल्लिखेत्।' यह 'हरी' वर्णयुगल नाद और बिन्दु से हीन है।

[प्रागुक्तानां शुद्धत्वम्]

एते द्वादश भेदाः स्युः शुद्धाः सर्वार्थसिद्धिदाः।

श्रीविद्या के ये द्वादश शुद्ध भेद हैं, जो सभी सिद्धियाँ प्रदान करने वाले हैं।

[वक्ष्यमाणानामपि तथात्वम्]

अन्येऽपि शुद्धा भेदाः स्यु कथ्यन्ते तन्त्रवर्त्मना।।२४।।

एवं द्वादशधा शुद्धफलानां विद्यानां भेदान् प्रदर्श्य तासामेवापरानपि भेदान् वक्तुं प्रतिजानीते—**अन्येऽपीत्यादिना।**

तन्त्रशास्त्र में इनके भी भेद बताये गये हैं, जिनका निरूपण आगे किया जा रहा है॥२४॥

[अत्र मन्वाराधितविद्याया भेदराहित्यम्]

भेदस्तु मनुविद्याया नास्ति सर्वागमेष्वपि।।२५।।

तत्र प्रथममेव प्रागुक्तक्रमप्राप्तां मन्वाराधितविद्यामाह—भेदस्त्विति। मन्वाराधितविद्या पूर्वोपदर्शिता एकैव, न तु क्वाप्यागमे तस्या भेदो दृश्यत इत्यर्थः।

इन द्वादश विद्याओं में मनु-आराधिता विद्या का कोई भी भेद किसी अन्य तन्त्र-ग्रन्थ में नहीं मिलता।।२५।।

[चन्द्राराधिता द्वितीया, तत्र कूटत्रयम्]

शिवचन्द्रकशक्तीला हृल्लेखा वाग्भवं भवेत्।
जीवेशमदनैकारबिन्दुस्रक् पृथिवी परा।
एते कामे च तार्त्तीये द्वितीया चन्द्रपूजिता।।२६।।

क्रमप्राप्तां द्वितीयां चन्द्राराधितविद्यामभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटमाह—शिवेत्यादिना। शिवश्च चन्द्रश्च कश्च शक्तिश्च ईश्च लश्चेति द्वन्द्वः। शिवो हकारः, चन्द्रः सकारः, कः ककारः, शक्तिरेकारः, ईरीकारः, लो लकारः, हृल्लेखा ह्रीमिति। एवञ्च ह स क ए ई ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। कामराजकूटं शक्तिकूटञ्च वाक्यभेदेनाह—जीवेशेत्यादिना। जीवः सकारः, ईशो हकारः, मदनः ककारः, तत एकारः, बिन्दुस्रक् बिन्दुमालिनी ईकारः, पृथिवी लकारः, परा ह्रीं। एवञ्च स ह क ए ई ल ह्रीमिति कामराजकूटं शक्तिकूटञ्च। अस्योभयकूटत्वप्रतिपादनायाह—एत इति। एते कूटे कामे कामराजकूटे तार्त्तीये शक्तिकूटे च तुल्यतया प्रयोज्ये इत्यर्थः। रेखापातेनास्याः समुदितं रूपं प्रदर्श्यते।

[चन्द्राराधिता द्वितीया एकविंशत्यक्षरी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ह	स	स
स	ह	ह
क	क	क
ए	ए	ए
ई	ई	ई
ल	ल	ल
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

चन्द्र-आराधिता—इस श्लोक में चन्द्र-आराधिता द्वितीया विद्या का उद्धार बताया गया है। शिव (ह), चन्द्र (स), क ('क'कार), शक्ति (ए) ई और ल तथा हृल्लेखा (ह्रीं)—इन वर्णों के संयोजन से चन्द्र-आराधिता द्वितीया विद्या का वाग्भव कूट बनता है—हसकएईलह्रीं।

जीव (स), ईश (ह), मदन (क), एकार (ए), बिन्दुस्रक् (ई), पृथिवी (ल) और परा (ह्रीं) के संयोजन से कामराज कूट बनता है—सहकएइलह्रीं।

इसका कामराज कूट ही तृतीय कूट भी है।।२६।।

मन्त्रस्वरूप है—हसकएईलह्रीं सहकएईलह्रीं सहकएईलह्रीं।

[कुबेरपूजिता]

कुबेरशक्तिकूटञ्च कामकूटं समालिखेत्।
शिवकामेशशक्तीलाः परा धनदपूजिता।।२७।।

[कुबेराराधिता द्वितीया]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ह	ह	ह
स	स	क
क	क	ह
ए	ह	ए
ई	ए	ई
ल	ई	ल
ह्रीं	ल	ह्रीं
	ह्रीं	

अथ कुबेराराधितां विद्यामभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**कुबेरशक्तिकूटञ्चेत्यादिना**। पूर्वोदितकुबेराराधितविद्यायाः शक्तिकूटमेवात्र वाग्भवकूटमित्यर्थः। एवञ्च ह स क ए ई ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। कामराजकूटमाह—**कामकूटं समालिखेदित्यनेन**। अत्रापि पूर्वोदितकुबेराराधितविद्यायाः कामकूटमेवात्र कामराजकूटमित्यर्थः। एवञ्च ह स क ह ए ई ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटेऽस्या विशेषमाह—**शिवेत्यादिना**। शिवो हकारः, कामः ककारः, ईशो हकारः, शक्तिरेकारः, ईरीकारः, लो लकारः, परा ह्रीं। एवञ्च ह क ह ए ई ल ह्रीमिति शक्तिकूटम्। रेखापातेनैतत्कूट-त्रयसमष्टिरूपो मन्त्रः प्रदर्श्यत।

कुबेर-उपासिता विद्या—इस श्लोक में धनद अर्थात् कुबेर आराधिता द्वितीया विद्या का उद्धार बताया गया है। कुबेर-आराधिता प्रथमा विद्या का उद्धार इस प्रकाश के १४वें श्लोक में बताया गया है। इस प्रथमा विद्या का शक्तिकूट अर्थात् 'हसकएईलह्रीं' इस द्वितीया विद्या का वाग्भव कूट तथा प्रथमा विद्या का कामराज कूट (हसकहएईलह्रीं) इसका भी कामराज कूट है। शिव (ह), काम (क), ईश (ह), शक्ति (ए) ई और ल तथा परा (ह्रीं) के संयोजन से इसका तार्तीय या शक्तिकूट निष्पन्न होता है—हकहएईलह्रीं॥२७॥

मन्त्रस्वरूप है—हसकएईलह्रीं हसकहएईलह्रीं हकहएईलह्रीं।

[द्वितीया लोपामुद्रा द्वितीयः कामराजश्च]

अपरेयं महाविद्या लोपामुद्रा प्रचक्ष्यते।
अगस्त्यस्य महाविद्या कामराजः स एव हि।।२८।।

इयमपरा लोपैवागस्त्यविद्या, ए ई क ल ह्रीमित्यादि-प्रागुदितकामराज एवापरः कामराजः। अगस्त्यपूजिताया द्वितीयलोपामुद्रायाः स्वरूपन्तु ३४ श्लोकव्याख्यानावसरे प्रदर्शयिष्यते।

ग्यारहवें प्रकाश के श्लोक संख्या ९-१० में बताई गई 'एईकलह्रीं' आदि विद्या अपर कामराज विद्या है। अगस्त्यपूजिता द्वितीया लोपामुद्रा का स्वरूप अगले ३४वें श्लोक में बताया गया है॥२८॥

[द्वितीया नन्दिपूजिता]

विष्ण्वन्तिमं वाचि काये सादि कामस्य मन्मथम्।
स-ह-कामादि कामान्तं शक्तौ नन्दिप्रपूजिता।।२९।।

अथ नन्दिपूजितां लोपामुद्रामाह—**विष्ण्वन्तिममिति।** वाचि वाग्भवकूटे विष्ण्वन्तिमं प्रागुक्तषट्कूटात्मकविष्ण्वाराधितविद्याया अन्तिमं शक्तिकूटं योजयेदित्यर्थः। एवञ्च ह स क ल ह्रीमिति प्रागुपदर्शितविष्ण्वाराधितविद्याशक्तिकूटमेवात्र वाग्भवकूटमिति बोध्यम्। कामराजकूटमाह—**काम इति।** कामे कामराजकूटे कामस्य प्रागुक्तकाम-राजविद्यायाः सादि सकारादि मन्मथं कामराजकूटं योजयेदित्यर्थः। एवञ्च ह स क ह ल ह्रीमिति कामराजविद्याकामराजकूटस्य हकाराधःस्थितं सकारं यदि हकारात् पूर्वं योजयेत् तदास्य स ह क ह ल ह्रीमित्यात्मकं कामराजकूटं भवेदिति फलितार्थः। शक्तिकूटमाह—**सहेति।** शक्तौ शक्तिकूटे स-ह-कामादि सकारः हकारः कामः ककारश्च आदिर्यस्य तथाभूतं कामान्तं कामराजकूटस्यान्तं शक्तिकूटं कामराजविद्याया इति शेषः, प्रयोजयेदित्यर्थः। एवञ्च स क ल ह्रीमिति प्रागुक्तकामराजविद्याशक्तिकूटस्यादौ सकार-हकारक-कारात्मकवर्णत्रयप्रयोगे स ह क स क ल ह्रीमित्यात्मकमस्य शक्तिकूटं भवेदिति फलितार्थः। रेखापातेनायं मन्त्रः प्रदर्श्यते।

[द्वितीया नन्दिपूजिता]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ह	स	स
स	ह	ह
क	क	क
ल	ह	स
ह्रीं	ल	क
	ह्रीं	ल
		ह्रीं

द्वितीया नन्दिपूजिता—इस श्लोक में द्वितीया नन्दिपूजिता का उद्धार बताया गया है। षट्कूटा विष्णु उपासिता विद्या का अन्तिम शक्तिकूट (हसकलह्रीं) इस विद्या का वाग्भव कूट है।

कामराज विद्या के कामकूट (हसकहलह्रीं) में 'ह'कार के बाद वाले 'स'कार को कूट के आदि में स्थापित करें। यह 'सहकहलह्रीं' इसका कामराज कूट है।

कामराज विद्या का शक्तिकूट है—सकलह्रीं। इस शक्तिकूट के आदि में 'स ह क' की योजना करें। स्वरूप बना—'सहकसकलह्रीं'। यह नन्दि-आराधिता द्वितीय विद्या का शक्तिकूट है।।२९।।

मन्त्रस्वरूप है—हसकलह्रीं सहकहलह्रीं सह्कसकलह्रीं।

[द्वितीया सूर्यपूजिता]

भेदस्तु सूर्यविद्याया अत्र नास्ति कदाचन।।३०।।

भेद इति। पूर्वं कामानुजत्रयं हित्वेत्यादिना सूर्यपूजिता विद्याऽभिहिता तस्या अत्रापरो भेदो नास्तीत्यर्थः।

सूर्य-आराधिता विद्या का कोई अन्य भेद नहीं है।।३०।।

[द्वितीया विष्णुपूजिता]

विष्णुविद्यान्तरं वक्ष्ये कूटत्रयविराजितम्।
जीवेशभूपरा वाचि कामे स्याद्विष्णुपञ्चमम्।
शक्तौ कामान्तिमं विद्या द्वितीया विष्णुपूजिता।।३१।।

पूर्वं षट्कूटा विष्णूपासितविद्या प्रदर्शिता। अत्र तु कूटत्रयात्मिकां तामभिधत्ते—**विष्णुविद्यान्तरमित्यादिना**। तत्र कूटत्रयमभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**जीवेत्यादिना**। जीवः सकारः, ईशो हकारः, भूर्लकारः, परा ह्रीं। वाचि वाग्भवकूटे प्रयोज्या इत्यर्थः। एवञ्च स ह ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। कामराजकूटमाह—**काम इत्यादिना**। विष्णुपञ्चममिति पूर्वोपदर्शित-षट्कूटात्मकविष्णूपासितविद्यायाः पञ्चमं कूटमित्यर्थः। एतेन स ह क स ल ह्रीमिति कामराजकूटमिति पर्यवस्यति। शक्तिकूटमाह—**शक्तावित्यादिना**। शक्तौ शक्तिकूटे कामान्तिमं कामराजविद्यायाः शक्तिकूटमित्यर्थः। एतेन स क ल ह्रीमिति शक्तिकूटमिति पर्यवस्यति। विद्येति इयं द्वितीया विष्णुपूजिता विद्येत्यर्थः। रेखापातेनास्य संस्थानं प्रदर्श्यते।

[द्वितीया विष्णूपासिता]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
स	स	स
ह	ह	क
ल	क	ल
ह्रीं	स	ह्रीं
	ल	
	ह्रीं	

द्वितीया विष्णुपूजिता—विष्णु-उपासिता षट्कुल विद्या का उद्धार इस प्रकाश के १९वें श्लोक में बताया गया है। त्रिकूटा द्वितीया विष्णु-आराधिता विद्या का उद्धार इस श्लोक में बताया गया है।

जीव (स), ईश (ह), भू (ल) एवं परा (ह्रीं) की योजना करने से इसका वाग्भव कूट बनता है—सहलह्रीं।

'कामे स्यात् विष्णु पञ्चमम्' अर्थात् विष्णु उपासिता षट्कुटा विद्या का पञ्चम कूट (सहकसलह्रीं) इस विद्या का कामराज कूट है।

कामराज विद्या का तृतीय शक्तिकूट (सकलह्रीं) इस विद्या का तीसरा कूट है।।३१।।

मन्त्रस्वरूप है—सहलह्रीं सहकसलह्रीं सकलह्रीं।

[द्वितीया स्कन्दाराधिता]

ह-स-शक्तिक-भू-मायाः कूटमेतांस्त्रिधा लिखेत्।
वाचि कामे तथा शक्तौ स्कन्दपूज्याऽपरा भवेत्।।३२।।

अथ द्वितीयां स्कन्दाराधितविद्या-माह—**हसेत्यादिना**। तत्र वाग्भवकामराजशक्तिकूटानामभेदं दर्शयति—**हसेत्यादिना**। वाचि वाग्भवकूटे कामे काम-राजकूटे शक्तौ शक्तिकूटे च हकारः, सकारः, शक्तिरेकारः, कः ककारः, भूः पृथ्वीबीजं लकारः, माया ह्रीं। कूटमिति एतन्मयमेकैककूटमित्यर्थः। एतान् त्रिधा लिखेत् कूटत्रयघटनार्थमित्यर्थः। एवञ्च ह स ए क ल ह्रीमित्येव वाग्भवकूटमपरकूटद्वयञ्चेत्युक्तं भवति। इयमपरा स्कन्दपूज्या देवता भवेदिति सम्बन्धः। समुदितोऽयं मन्त्रः प्रदर्श्यते।

[द्वितीया स्कन्दाराधिता अष्टादशाक्षरी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ह	ह	ह
स	स	स
ए	ए	ए
क	क	क
ल	ल	ल
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

द्वितीया स्कन्दाराधिता विद्या—इस विद्या के तीनों कूट एक समान हैं। 'ह'कार, 'स'कार, शक्ति ('ए'कार) ककार, भू (ल) और माया (ह्रीं) की योजना करने से इसका वाग्भव कूट बनता है—हसएकलह्रीं।

इसका वाग्भव कूट ही कामराज कूट और शक्तिकूट है। मन्त्रस्वरूप है—हसएकलह्रीं हसएकलह्रीं हसएकलह्रीं।।३२।।

[द्वितीया शिवाराधिता]

अगस्त्यस्य मनौ ज्ञेया परा वाचि हसान्तगा।
कामे त्रयान्ते भूजीवौ त्रिकूटा शिवपूजिता।।३३।।

अथ द्वितीयां शिवाराधितविद्यामभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**अगस्त्यस्येत्यादिना।** वाचि वाग्भवकूटे अगस्त्यस्य मनौ द्वितीयलोपामुद्रामन्त्रे परा माया हसान्तगा ज्ञेयेति सम्बन्धः। द्वितीयलोपामुद्राया वाग्भवकूटे लकारात् परं मायाबीजात् पूर्वञ्च हसेतिवर्णद्वयप्रयोगे एतद्वाग्भवकूटं भवतीति स्पष्टार्थः। एतेन क ए ई ल ह स ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। कामराजकूटमाह—**काम इत्यनेन।** कामे कामराजकूटेऽपि प्रागुक्तरीत्या हसान्तगा परा ज्ञेया। एतेन ह स क ह ल ह स ह्रीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटमाह—**त्रयान्त इत्यादिना।** त्रयान्ते त्रयाणां मध्ये अन्ते शक्तिकूटे इत्यर्थः। भू-जीवौ भूः पृथ्वी-बीजं लकारः, जीवः सकारः, एतयोर्भू-जीवयोर्विनियोगस्तु निरुक्त-वाग्भवकामराजरीत्या मायाबीजात् पूर्वमेव कर्त्तव्यः। तेन स ह स क ल ल स ह्रीमिति शक्तिकूटमित्युक्तं भवति। एतत् कूटत्रयसमष्टिरूपो मन्त्रः प्रदर्श्यते।

[शिवपूजिता द्वितीया त्रयोविंशत्यक्षरी]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क	ह	स
ए	स	ह
ई	क	स
ल	ह	क
ह	ल	ल
स	ह	ल
ह्रीं	स	स
	ह्रीं	ह्रीं

द्वितीय शिवाराधिता विद्या—द्वितीया लोपामुद्रा का वाग्भव कूट है—कएईलह्रीं। इसमें 'ल'कार के बाद और 'ह्रीं' के पूर्व 'हस' की स्थापना करने से इस त्रिकूटा विद्या का वाग्भव कूट बनता है—कएइलहसह्रीं।

कामराज कूट (हसकहल ह्रीं) में भी 'ल' के बाद और 'ह्रीं' के पूर्व 'हस' की योजना करें। इस विद्या का कामराज कूट बनता है—हसकहलहसह्रीं।

तृतीय शक्तिकूट में 'ल' के बाद और 'ह्रीं' के पूर्व भू (ल) और जीव (स) की योजना करने से शक्तिकूट बनता है—सहसकललसह्रीं।

मन्त्रस्वरूप है—कएईलहसह्रीं हसकहलहसह्रीं सहसकललसह्रीं।

[अगस्त्यपूजिता द्वितीया लोपामुद्रा]

अगस्त्यस्य महाविद्या सैवात्रागस्त्यपूजिता।।३४।।

अथ द्वितीयामगस्त्योपासितामाह—**अगस्त्यस्येति**। इयं द्वितीया लोपामुद्रेत्यवगन्तव्यम्। अत्रेदमवधेयम्—दशमे 'कन्दर्पो विष्णुयुक्त' इत्यादिना या शाम्भवकामराजविद्या प्रदर्शिता तस्या एव शक्तिकूटस्यादौ सहेति वर्णद्वययोगे द्वितीया लोपामुद्रा भवतीति। व्यक्तमाह तन्त्रसारे—

कामराजाख्यविद्यायास्तार्त्तीयं सुरवन्दिते।
सहाद्यं शक्तिबीजं स्याद्विद्याऽगस्त्यप्रपूजिता।।

इति। एतेन वक्ष्यमाणो मन्त्रः पर्यवस्यति।

[अगस्त्योपासिता द्वितीया लोपामुद्रा]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क	ह	स
ए	स	ह
ई	क	स
ल	ह	क
ह्रीं	ल	ल
	ह्रीं	ह्रीं

अगस्त्य-पूजिता द्वितीया लोपामुद्रा—दसवें प्रकाश के श्लोकसंख्या १५९ (कन्दर्पो विष्णुयुक्तो.....) में जिस शाम्भव कामराज विद्या का उद्धार बताया गया है, उसके तृतीय कूट के आदि में 'स ह' की योजना करने से इस अगस्त्य- पूजिता द्वितीया लोपामुद्रा का शक्तिकूट बनता है। वाग्भव कूट और कामराज कूट यथावत् रहते हैं।।३४।।

मन्त्रस्वरूप है—कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सहसकलह्रीं।

एते भेदाः समाख्याताः शुद्धाः सिद्धिप्रदायकाः।।३५।।

एत इति। एतेऽपि शुद्धा भेदा एवेत्यर्थः।

त्रिपुरा विद्या के अभी तक जो भेद बताये गये हैं, वे सब शुद्ध भेद हैं तथा सिद्धि प्रदान करने वाले हैं।।३५।।

[शुद्धभेदान्तरनिरूपणप्रतिज्ञा]

शुद्धभेदद्वयं वक्ष्ये भोगमोक्षफलप्रदम्।।३६।।

भोग एवं मोक्षरूपी फल प्रदान करने वाले दो और शुद्ध भेदों का आगे निरूपण कर रहा हूँ।।३६।।

[द्वितीया इन्द्रोपासिता]

जीवेशकामभूमाया वाचि कामेऽपि संलिखेत्।
इदमेव पुनः शक्तौ विद्येयं शक्रपूजिता।।३७।।

अथ द्वितीयामिन्द्रोपासितां विद्यामाह—**जीवेशेति**। वाचि वाग्भवकूटे कामे कामराजकूटेऽपि जीवः सकारः, ईशो हकारः, कामः ककारः, भूर्लकारः, माया ह्रीम् इत्येतानि बीजानि संलिखेदित्यर्थः। एवञ्च स ह क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटं कामराजकूटञ्च। शक्तिकूटमाह—इदमेवेत्यादिना। एवञ्चास्य मन्त्रस्य कूटत्रयं तुल्यमेवेत्युक्तं भवति। मन्त्रोऽयं रेखापातेन स्फुटं प्रदर्श्यते।

[इन्द्रोपासिता]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
स	स	स
ह	ह	ह
क	क	क
ल	ल	ल
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

इन्द्राराधिता द्वितीया विद्या—जीव (स), ईश (ह), काम (क), भू (ल) और माया (ह्रीं) की योजना करने से इन्द्र-आराधिता विद्या के तीनों कूट बनते हैं अर्थात् इसके तीनों कूटों में कोई भेद नहीं है॥३७॥

मन्त्रस्वरूप है—सहकलह्रीं सहकलह्रीं सहकलह्रीं।

[उन्मनी विद्या]

कशक्तिबिन्दुशून्यक्ष्माशक्तिकूटं षडक्षरम्।
वाचि कामे हकाकाशक्ष्माकाशाग्निसमन्वितम्।।३८।।
शक्तौ सकरलाकाशवह्निमत्परमेश्वरी।
उन्मनी नाम विद्येयं केवलं मोक्षदायिनी।।३९।।

अथोन्मनीं नाम विद्यामाह—**केत्यादिना**। वाचि वाग्भवकूटे कः ककारः, शक्तिरेकारः, बिन्दुर्बिन्दुमालिनी ईकारः, शून्यो हकारः, क्ष्मा पृथ्वीबीजं लकारः शक्तिः ह्रीं। एतत्समष्टिरूपं षडक्षरं कूटं वाचि नियोजयेदित्यर्थः। एवञ्च क ए ई ह ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। शक्तिकूटमिति कादिशक्त्यन्तात्मकं षडक्षरं कूटमित्यर्थः। कामराजकूटमाह—**काम इत्यादिना**। कामे कामराजकूटे हः हकारः, कः ककारः, आकाशो हकारः, क्ष्मा लकारः, एतावता ह क ह ल इति प्राप्तम्। **आकाशेति**। आकाशश्च अग्निश्च ईश्च तैः समन्वितमर्थाद् बिन्दुनापि, बीजस्यान्यत्र तथा दृष्टत्वात्। एतेन ह्रीमिति प्राप्तम्। एवञ्च ह क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटमाह—**शक्तावित्यादिना**। शक्तौ शक्तिकूटे स क र लाः सकारः, ककारः, रकारः, लकारश्च। ततश्च आकाशो हकारः वह्नी रकारः ताभ्यां युक्ता परमेश्वरी ईकारः। अर्थाद् बिन्दोरपि संग्रहः। एवञ्च स क र ल ह्रीमिति शक्तिकूटम्। रेखापातेनास्य संस्थानं प्रदर्श्यते।

[उन्मनी विद्या]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क	ह	स
ए	क	क
ई	ह	र
ह	ल	ल
ल	ह्रीं	ह्रीं
ह्रीं		

उन्मनी विद्या—'क' अर्थात् 'क'कार, शक्ति 'ए'कार, बिन्दु (ई), शून्य ('ह'कार), क्ष्मा (ल), शक्तिकूट (ह्रीं) की योजना करने से उन्मनी विद्या का षडक्षरी वाग्भव कूट बनता है—कएईहलह्रीं।

'ह'कार, 'क'कार, आकाश (ह), क्ष्मा (ल) तथा ह्रीं की योजना करने से कामराज कूट बनता है—हकहलह्रीं।

'स'कार, 'क'कार, 'र'कार, 'ल'कार और ह्रीं की योजना करने से शक्तिकूट बनता है—सकरलह्रीं।

मन्त्रस्वरूप है—कएईहलह्रीं हकहलह्रीं सकरलह्रीं।

यह उन्मनी नामक केवल मोक्षप्रदायिनी विद्या है॥३८-३९॥

[शुद्धभेदनिगमनम्]

एते शुद्धाः सदा जप्ताः सिद्धिदा नात्र संशयः।।४०।।

अशुद्धभेदनिर्णयस्तु प्रकाशप्रारम्भे प्रतिज्ञातोऽपि नात्र प्रदर्शितः।

इस प्रकाश में यहाँ तक जितने मन्त्र बताये गये हैं, वे शुद्ध एवं सिद्धि प्रदान करने वाले मन्त्र हैं।।४०।।

विमर्श—यद्यपि प्रकाश के प्रारम्भ में अशुद्ध भेद बताने की बात कही गई है; मगर ग्रन्थ में अशुद्ध भेद नहीं बताये गये हैं।

[अथ शुद्धाशुद्धोभयरूपाः शबला मन्त्राः]

अतः परं प्रवक्ष्यामि मन्त्राः शबलसंज्ञकाः।।४१।।

शुद्ध मन्त्रों का निरूपण करने के बाद अब शबल मन्त्र अर्थात् शुद्धाशुद्ध मन्त्र बता रहा हूँ। इस क्रम में वरुण-पूजिता विद्या का सबसे पहिले उद्धार बताया जा रहा है।।४१।।

[वरुणपूजिता]

कामराजस्य विद्याया मध्यं जीवं विनोच्चरेत्।
अन्त्ये जीवः शिवस्थस्तु विद्या वरुणपूजिता।।४२।।

पूर्वं शुद्धफला अशुद्धफलाश्च मन्त्राः प्रदर्शिताः। सम्प्रति शुद्धाशुद्धरूपत्वात् शबलत्वेन प्रसिद्धा मन्त्राः प्रदर्श्यन्ते—**अतः परमित्यादिना**। तत्र प्रथमं वरुणपूजितामाह—**कामराजस्येत्यादिना**। अस्याः प्रागुक्तकामराजविद्याप्रकृतिकतया विशेषानभिधानाच्च क ए ई ल ह्रीमिति कामराजविद्यावाग्भवकूटमेवात्र वाग्भवकूटमिति ज्ञेयम्। कामराजकूटे विशेषमाह—**मध्यमित्यादिना**। तथा च कामराजविद्याया मध्यं कामराजकूटं जीवं सकारं विनोच्चारयेदित्यर्थः। एवञ्च ह स क ह ल ह्रीमित्यस्य सकारपरित्यागेन ह क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटमिति पर्यवस्यति। शक्तिकूटमाह—**अन्त्य इति**। अन्त्ये शक्तिकूटे जीवः सकारः शिवस्थः शिवेन सह स्थितः। स क ल ह्रीमित्यत्र सकारानन्तरं हकारविनियोगात् स ह क ल ह्रीमिति शक्तिकूटमिति फलितम्। रेखान्यासेनायं मन्त्रः प्रदर्श्यते।

[वरुणपूजिता]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क	ह	स
ए	क	ह
ई	ह	क
ल	ल	ल
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

वरुण-पूजिता विद्या—शुद्धाशुद्ध उभयरूपा विद्याओं के उपक्रम में प्रथम विद्या वरुण-पूजिता है। कामराज विद्या इस विद्या की मेरु है। कामराज विद्या का वाग्भव कूट इसका भी वाग्भव कूट है। द्वितीय कूट (हसकहल ह्रीं) में से जीव अर्थात् 'स'कार को निकाल देने से इसका मध्य कूट बनता है अर्थात् 'हकहलह्रीं' इसका मध्य कूट है। अन्तिम तृतीय कूट (सकलह्रीं) में 'स' के बाद शिव (ह) की योजना करने से इसका तृतीय कूट बनता है—सहकलह्रीं।।४२।।

मन्त्रस्वरूप है—कएईलह्रीं हकहलह्रीं सहकलह्रीं।

[धर्मराजोपासिता]

एतस्या एव विद्याया हित्वा बिन्दुस्रजं क्षिपेत्।
तत्रैव कामं विद्येयं धर्मराजप्रपूजिता।।४३।।

अथ धर्मराजप्रपूजितां विद्यामाह—**एतस्या इत्यादिना।** एतस्या एव वरुण-पूजितविद्याया अर्थाद् वाग्भवकूटे बिन्दु-स्रजमीकारं हित्वा तत्रैव ईकारस्थाने कामं ककारं क्षिपेत्। एवञ्च क ए ई ल ह्रीमिति वाग्भवकूटस्थाने क ए क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटमित्येवास्याः पूर्वतो विशेष इति ध्येयम्। मन्त्रोऽयं प्रदर्श्यते।

[धर्मराजाराधिता]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क	ह	स
ए	क	ह
क	ह	क
ल	ल	ल
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

धर्मराज-पूजिता—उपर्युक्त वरुण-पूजिता विद्या के वाग्भव कूट में बिन्दुस्रज (ई) के स्थान पर काम ('क'कार) स्थापित करें। शेष पूर्ववत्। यह धर्मराज-पूजिता विद्या है।।४३।।

मन्त्रस्वरूप है—कएकलह्रीं हकहलह्रीं सहकलह्रीं।

[अग्निपूजिता]

क-स-क-क्ष्मादि-हृल्लेखा ह-स-ल-स्मरह-क्ष्मा।
हृल्लेखा मन्मथे शक्तौ स-क-लाग्निमयी परा।
वह्निना पूजिता विद्या महाविघ्नौघदाहिनी।।४४।।

अथाग्निपूजितां विद्यामभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**क-स-केत्यादिना हृल्लेखेत्यन्तेन।** क स केति ककारः, सकारः, ककारश्च। क्ष्मादीति क्ष्मा पृथ्वीबीजं लकारस्तस्यादी रकारः, हृल्लेखा ह्रीं। एवञ्च क स क र ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। कामराजकूटमाह—**ह-स-लेत्यादिना।** मन्मथ इत्यभिसम्बन्धः। मन्मथे कामराजकूटे ह स लेति हकारः सकारो लकारश्च। स्मरः ककारः, ततो हकारः, क्ष्मा पृथ्वीबीजं लकारः। ततो हृल्लेखा ह्रीं। एवञ्च ह स ल क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटमाह—**शक्तावित्यादिना परेत्यन्तेन।** सकलाग्निमयीति। सकारः ककारो लकारः अग्नी रकारस्तन्मयी परा ह्रीं। एवञ्च स क ल र ह्रीमिति शक्तिकूटम्। निरुक्तप्रमाणानुसारेणायमेव मन्त्रो भवति। रेखापातेनास्य संस्थानं प्रदर्श्यते।

[अग्निपूजिता]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क	ह	स
स	स	क
क	ल	ल
र	क	र
ह्रीं	ह	ह्रीं
	ल	
	ह्रीं	

अग्निपूजिता—‘क’कार, ‘स’कार, ‘क’कार, क्ष्मादि अर्थात् ‘ल’ का पूर्ववर्ती वर्ण ‘र’कार एवं हृल्लेखा ‘ह्रीं’ की योजना करने से इसका वाग्भव कूट बनता है—कसकरह्रीं।

‘ह’कार, ‘स’कार, ‘ल’कार, स्मर अर्थात् ‘क’कार, ‘ह’कार, क्षमा अर्थात् ‘ल’कार और हृल्लेखा (ह्रीं) की योजना करने से मध्य कूट बनता है—हसलकहलह्रीं।

‘स’कार, ‘क’कार, ‘ल’कार, अग्नि अर्थात् ‘र’कार एवं परा अर्थात् ‘ह्रीं’ की योजना करने से शक्तिकूट बनता है—सकलरह्रीं।

मन्त्रस्वरूप है—कसकरह्रीं हसलकहलह्रीं सकलरह्रीं।

इसके प्रथम और अन्तिम कूट में अग्निबीज ‘र’ है। यह १७ वर्णों की अग्निपूजिता विद्या है॥४४॥

[पन्नगराजोपासिता]

अगस्त्यकूटयुगलं वह्निपूज्यान्तिकं लिखेत्।
विद्या पन्नगराजेन पूजिता भुक्तिमुक्तिदा॥४५॥

अथेदानीं पन्नगराजाराधितां विद्यामभिदधानः प्रथमं वाग्भवकामराजकूटयोर्व्यवस्थामाह—**अगस्त्येत्यादिना**। अगस्त्यकूटयुगलम् अगस्त्योपासित-द्वितीय-लोपामुद्रायाः कूटयुगलं वाग्भवकूटं कामराजकूटञ्चेत्यर्थः। एवञ्च क ए ई ल ह्रीमिति अगस्त्यवाग्भवकूटमेवात्र वाग्भवकूटम्। ह स क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटमेवात्र कामराजकूटमित्यर्थः। शक्तिकूटव्यवस्थामाह—**वह्नीत्यादिना**। शक्तिकूटे वह्निपूज्याया अव्यवहितपूर्वोदिताया अन्तिकं शक्तिकूटं लिखेदित्यर्थः। एवञ्च स क ल र ह्रीमिति शक्तिकूटमित्युक्तं भवति। रेखान्यासेनायं मन्त्रः प्रदर्श्यते।

[पन्नगाराधिता]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क	ह	स
ए	स	क
ई	क	ल
ल	ह	र
ह्रीं	ल	ह्रीं
	ह्रीं	

पन्नगराज-पूजिता—अगस्त्यपूजिता द्वितीया लोपामुद्रा के वाग्भव कूट तथा कामराज कूट एवं अग्निपूजिता विद्या के शक्तिकूट के समाहार से भुक्ति-मुक्ति देने वाली पन्नगराज अर्थात् नागराज-पूजिता विद्या बनती है॥४५॥

मन्त्रस्वरूप है—कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलरह्रीं।

[वायुपूजिता]

क-शक्तिवह्नियुगलं भूवह्निभुवनेश्वरी।
ह-क-लाग्निहला माया सरकक्ष्माग्निमण्डिता।
माया वायुप्रपूज्येयं महापापौघभञ्जिनी॥४६॥

अथ वायुपूजितां विद्यामाचक्षाणः प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**क-शक्तीत्यादिना**। कः ककारः, शक्तिरेकारः, वह्नियुगलं रकारद्वयं, भूर्लकारः, वह्नी रकारः, भुवनेश्वरी ह्रीं। एवञ्च क ए र र ल र ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। कामराजकूटमाह—**ह क लेत्यादिना**। ह क लेति, हकारः ककारो लकारश्च। अग्नीरकारः, ततो हकारो लकारश्च माया ह्रीं। एवञ्च ह क ल र ह ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटमाह—**सरकेत्यादिना**। स र क क्ष्माग्निमण्डितेति मायाविशेषणम्। सकारो रकारः ककारश्च। ततः क्ष्मा लकारः, अग्नी रकारस्तैर्मण्डिता माया ह्रीं। एवञ्च स र क ल र ह्रीमिति शक्तिकूटम्। मन्त्रोऽयं रेखापातेन प्रदर्श्यते।

[वायुपूजिता]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क	ह	स
ए	क	र
र	ल	क
र	र	ल
ल	ह	र
र	ल	ह्रीं
ह्रीं	ह्रीं	

वायु-पूजिता—'क'कार, शक्ति अर्थात् 'ए'कार, वह्नियुगल अर्थात् दो बार 'र'कार, भू अर्थात् 'ल'कार, वह्नि अर्थात् 'र'कार एवं अन्त में भुवनेश्वरी अर्थात् ह्रीं। वाग्भव कूट बना—कएररलरह्रीं।

'ह'कार, 'क'कार, 'ल'कार वह्नि अर्थात् 'र'कार, 'ह'कार, 'ल'कार एवं माया (ह्रीं)। इसका कामराज कूट है—हकलरहलह्रीं।

शक्तिकूट के वर्ण हैं—'स'कार, 'र'कार, 'क'कार, क्ष्मा अर्थात् 'ल'कार, अग्नि अर्थात् 'र'कार एवं माया (ह्रीं)। इससे शक्तिकूट बना—सरकलर ह्रीं। मन्त्रस्वरूप है—कएररलरह्रीं हकलरहलह्रीं सरकलरह्रीं।

बीस वर्णों वाली यह पाप-ध्वंसिनी वायुपूजिता विद्या है॥४६॥

[चन्द्राराधिता]

कशक्तिबैन्दवीवह्नि-क्ष्मा-माया हकला लरौ।
माया सहकशक्राग्निमायेयं सोमपूजिता॥४७॥

अथ चन्द्राराधितामाह—**कशक्तीत्यादिना**। तत्र क-शक्ति-बैन्दवी-वह्नि-क्ष्मा-माया इत्यनेन वाग्भवकूटमुपदर्शितम्। कः ककारः, शक्तिरेकारः, बैन्दवी माया ईकारः, वह्नी रकारः, क्ष्मा पृथ्वीबीजं लकारः, माया ह्रीं। एवञ्च क ए ई र ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। कामराजकूटमाह—**ह-क-ला लरौ मायेत्यनेन**। हकारः ककारः लकारः, पुनर्लकारः, रकारः, माया ह्रीं। एवञ्च ह क ल ल र ह्रीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटमाह—**सहकेत्यादिना**। सकारो हकारः ककारः, शक्रो लकारः, अग्नी रकारः, माया ह्रीं। एवञ्च स ह क ल र ह्रीमिति शक्तिकूटम्। कूटभेदेनायं मन्त्रः प्रदर्श्यते।

[चन्द्राराधिता]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क	ह	स
ए	क	ह
ई	ल	क
र	ल	ल
ल	र	र
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

चन्द्राराधिता विद्या—इसके वाग्भव कूट के वर्ण हैं—'क'कार, शक्ति अर्थात् 'ए'कार, बैन्दवी अर्थात् 'ई'कार, वह्नि अर्थात् 'र'कार क्ष्मा अर्थात् 'ल'कार एवं माया ह्रींकार। वाग्भव कूट का स्वरूप है—कएईरलह्रीं।

'ह'कार, 'क'कार, 'ल'कार, के बाद पुनः 'ल'कार, 'र'कार एवं माया (ह्रीं) से कामराज कूट बना—हकललरह्रीं।

'स'कार, 'ह'कार, 'क'कार, शक्र अर्थात् 'ल'कार, अग्नि अर्थात् 'र'कार एवं माया अर्थात् 'ह्रीं' से शक्तिकूट बना—सहकलरह्रीं।

मन्त्रस्वरूप है—कएईरलह्रीं हकललरह्रीं सहकलरह्रीं।

यह कादि विद्या है। इसके तीनों कूटों में 'र'कार है। यह १८ वर्णों की सोमपूजिता विद्या है।।४७।।

[ईशानाराधिता]

कामाकाशौ क्षमा माया शिवकामहभूभुवा।
माया कामे शक्तिकूटे सकला भुवनेश्वरी।
ईशानाराधिता विद्या सर्वकामप्रपूरिणी।।४८।।

अथेशानाराधितां विद्यामभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटमाह—**कामाकाशावित्यादिना**। कामः ककारः, आकाशो हकारः, क्षमा लकारः, माया ह्रीं। एवञ्च क ह ल ह्रीमिति वाग्भवकूटम्। कामराजकूटमाह—**शिवेत्यादिना**। शिवकामहभूभुवेति सहार्थे तृतीया, तत्सहिता मायेति सम्बन्धः। कामे शिवो हकारः, कामः ककारः, हः हकारः, भूर्लकारः, ततोऽपि भूर्लकारः, तत्सहिता माया ह्रीं। एवञ्च ह क ह ल ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटमाह—**शक्तीत्यादिना**। शक्तिकूटे स-क-लाः सकारः, ककारः, लकारः, ततो भुवनेश्वरी। एवञ्च स क ल ह्रीमिति शक्तिकूटम्। रेखापातेनास्य संस्थानं प्रदर्श्यते।

[ईशानाराधिता]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क	ह	स
ह	क	क
ल	ह	ल
ह्रीं	ल	ह्रीं
	ल	
	ह्रीं	

ईशानाराधिता—काम (क), आकाश (ह), क्षमा (ल) तथा माया (ह्रीं) से वाग्भव कूट बना—कहलह्रीं।

शिव (ह), काम (क), के बाद 'ह'कार, 'ल'कार एवं इसके बाद पुनः 'ल' कार एवं माया (ह्रीं) से कामराज कूट बना—हकहललह्रीं।

'सकलह्रीं' इसका शक्तिकूट है। मन्त्रस्वरूप है—कहलह्रीं हकहललह्रीं सकलह्रीं।

सभी कामनाओं को पूरा करने वाली यह १४ वर्णों वाली ईशान-आराधिता विद्या है।।४८।।

[रतिपूजिता]

कामराजस्य युग्मान्ते जीवक्ष्मामदनाः परा।
रत्याराधितविद्येयं सर्वकामार्थसाधिनी।।४९।।

अथ रत्याराधितां विद्यामभिदधानः प्रागुक्तकामराजविद्यैव तद्वाग्भवकूटेऽधिकवर्णद्वययोजनाद् रत्याराधितविद्या भवतीत्येतदेवाह—**कामराजस्येत्यादिना।** कामराजविद्याया वाग्भवकूटे युग्मान्ते दीर्घेकारस्यान्ते जीवः सकारः, क्ष्मा लकारः, मदनः ककारः परा ह्रीमित्येतेषां योजनाद्रत्याराधितविद्या भवतीति फलितार्थः। रेखापातेनायं मन्त्रः प्रदर्श्यते।

[रत्याराधिता]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क ए ई स क ल ह्रीं	ह स क ह ल ह्रीं	स क ल ह्रीं

रति-पूजिता—कामराज विद्या के वाग्भव कूट की 'ई'कार के बाद में जीव (स), क्ष्मा (ल), मदन (क) तथा 'ह्रीं' की योजना करने से रति-आराधिता विद्या का वाग्भव कूट बनता है—कएईसलकह्रीं। कामराज विद्या के दो अन्य कूट यथावत्। मन्त्रस्वरूप होगा—कएईसलकह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं।

सभी कामनाओं को पूरा करने वाली यह रतिपूजिता विद्या है।।४९।।

[नारायणाराधिता षट्कूटा]

कामाधिष्ठितविद्यान्ते विलोमां तां समालिखेत्।
नारायणाराधितेयं षट्कूटा परमेश्वरी।।५०।।

नारायणाराधितां विद्यामाह—**कामेति।** कामाधिष्ठितविद्यायाः 'अथ विद्यां प्रवक्ष्यामि कामदेवेन सेवितामि'त्यादिना दशमपटलेऽभिहितायाः कामदेवसेवितशाम्भवकामराजविद्यायास्त्रिकूटाया अन्ते विलोमां तां कामराजविद्यां समालिखेत्, एवञ्च कामराजविद्यां विलिख्य पुनरादौ कामराजस्य शक्तिकूटं, ततः कामराजकूटं, ततश्च सर्वान्ते वाग्भवकूटं लिखेत्। एतेन प्रागुक्तशाम्भवकामराजे कूटत्रयानन्तरं विलोमेन तत्कूटत्रययोजनान्नारायणाराधितविद्येयं षटकूटा भवतीति निर्गलितार्थः। रेखापातेनायं मन्त्रः प्रदर्श्यते।

[नारायणाराधिता षट्कूटा]

प्रथम-कूटम्	द्वितीय-कूटम्	तृतीय-कूटम्	चतुर्थ-कूटम्	पञ्चम-कूटम्	षष्ठ-कूटम्
क ए ई ल ह्रीं	ह स क ह ल ह्रीं	स क ल ह्रीं	स क ल ह्रीं	ह स क ह ल ह्रीं	क ए ई ल ह्रीं

नारायणाराधिता षट्कूटा विद्या—यहाँ 'कामाधिष्ठितविद्या' से तात्पर्य दसवें पटल के श्लोकसंख्या १५९ में बताई गई कामदेव-सेवित शाम्भव कामराज विद्या से है। यह शाम्भव कामराज विद्या है—कएइलह्रीं ह्रसकहलह्रीं सकलह्रीं। इस त्रिकूटा विद्या के तीनों कूटों के बाद इन्हीं तीन कूटों को पुन: विलोमक्रम से लिखने से नारायणाराधिता षट्कूटा विद्या निष्पन्न होती है। यथा—

कएईलह्रीं	हसकहलह्रीं	सकलह्रीं	सकलह्रीं	हसकहलह्रीं	कएईलह्रीं
(१)	(२)	(३)	(४)	(५)	(६)

विमर्श—श्रीविद्यार्णव (सप्तम श्वास) में स्पष्ट रूप से कहा गया है—

कामराजाख्यविद्याया: अनुलोमविलोमत:।
नारायणोपासितेयं षट्कूटा भुवि दुर्लभा।।

[ब्रह्मपूजिता]

कामाद्यं वाग्भवे कामे हकहक्ष्मापरा भवेत्।
शक्तावगस्त्यवाक्कूटं विद्येयं ब्रह्मपूजिता।।५१।।

अथ ब्रह्मपूजितां विद्यामाह—**कामाद्यमित्यादिना**। वाग्भवे कूटे कामाद्यं 'वामाक्षी भगवर्णस्त्वि'त्यादिनैकादशपटलेऽभिहितस्याऽकीलितकामराजस्याद्यं वाग्भवकूटमित्यर्थः। एतेन ई ए क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटमिति पर्यवस्यति। कामराजकूटमाह—**काम इत्यादिना**। कामे कामराजकूटे हकारः, ककारः, पुनर्हकारः, क्ष्मा लकारः परा ह्रीं। एवञ्च ह क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटम्। शक्तिकूटमाह—**शक्ताविति**। शक्तौ शक्तिकूटे अगस्त्यवाक्कूटम् अगस्त्योपासितद्वितीयलोपामुद्रा-वाग्भवकूटमेवात्र शक्तिकूटमित्यर्थः। इयं ब्रह्मणाऽऽराधिता। रेखापातेनास्य संस्थानं प्रदर्श्यते।

[ब्रह्मपूजिता]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
ई	ह	क
ए	क	ए
क	ह	ई
ल	ल	ल
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

ब्रह्मपूजिता विद्या—'कामाद्यं वाग्भवे' अर्थात् कामराज विद्या का वाग्भव कूट इस विद्या का वाग्भव कूट है। यहाँ कामराज विद्या से अभिप्राय एकादश प्रकाश के श्लोकसंख्या तीन में बताई गई अकीलित कामराज विद्या से है। इसका वाग्भव कूट है—ईएकलह्रीं।

'ह'कार, 'क'कार, 'ह'कार, क्ष्मा अर्थात् 'ल'कार और परा (ह्रीं) की योजना से इसका कामराज कूट बनता है—हकहलह्रीं।

अगस्त्य-उपासिता द्वितीया लोपामुद्रा का वाग्भव कूट अर्थात् 'कएईलह्रीं' इसका शक्तिकूट है। इस तरह मन्त्र निष्पन्न हुआ—ईएकलह्री हकहलह्रीं कएईलह्रीं।

विमर्श—श्रीविद्यार्णव (सप्तम श्वास) में ब्रह्मोपासिता विद्या का उद्धार बताने के बाद स्पष्ट मन्त्र बताया गया है—कएईलह्रीं हकहसरह्रीं हसकलह्रीं।

[बृहस्पतिपूजिता]

अगस्त्यवाग्भवं वाचि ब्रह्मविद्यान्तिमद्वयम्।
जीवार्च्चिता महाविद्या सर्वकामप्रदायिनी।।५२।।

अथ बृहस्पतिपूजितां विद्यामाह— **अगस्त्येत्यादिना**। तत्र वाग्भवकूटमाह— वाचीति। वाचि वाग्भवकूटे अगस्त्य-वाग्भवम् अगस्त्योपासितद्वितीयलोपामुद्राया वाग्भवकूटं प्रयोजयेत्। एवञ्च क ए ई ल ह्रीमिति वाग्भवकूटमिति स्थितम्। कामराजशक्तिकूटयोर्व्यवस्थामा—**ब्रह्मेत्यादिना**। ब्रह्मविद्याया अव्यवहितपूर्वोदित-ब्रह्मोपासितविद्याया अन्तिमद्वयं कामराज-कूटं शक्तिकूटञ्चात्र तत्तत्कूटत्वेन प्रयोजयेदित्यर्थः। रेखापातेनायमर्थः स्फुटं प्रदर्श्यते।

[बृहस्पतिपूजिता]

वाग्भवकूटम्	कामराजकूटम्	शक्तिकूटम्
क	ह	क
ए	क	ए
ई	ह	ई
ल	ल	ल
ह्रीं	ह्रीं	ह्रीं

बृहस्पति-पूजिता—द्वितीया लोपामुद्रा का वाग्भव कूट (कएईलह्रीं) इसका भी वाग्भव कूट है। उपर्युक्त ब्रह्मापूजिता विद्या के कामराज कूट और शक्तिकूट इसके भी कामराज और शक्तिकूट हैं। इस तरह यह मन्त्र बनता है—कएईलह्रीं हकहलह्रीं कएईलह्रीं।

विमर्श—श्रीविद्यार्णव (सप्तम श्वास) में बृहस्पति अर्थात् जीव-पूजिता का मन्त्रोद्धार है—

लोपावाग्भवमुद्धृत्य ब्रह्मणः कामराजकम्।
लोपावाग्भवकूटं तु, जीवेनाराधिता त्वियम्।।

वहीं स्पष्ट मन्त्रोद्धार है—हसकलह्रीं हकहसरह्रीं हसकलह्रीं।

[प्रागुक्तद्वादशविद्यानां शुद्धाशुद्धशबलत्वम्]

एभिर्द्वादशभिर्भेदैः शबला परमेश्वरी।
शुद्धाशुद्धा महाविद्या ज्ञातव्या साधकोत्तमैः।।५३।।
विद्याः संलिख्य शुद्धास्तु विपरीतास्ततो लिखेत्।
ता एव हि सदा शुद्धाशुद्धभेदा भवन्ति हि।।५४।।

एभिरिति प्रागुक्तैः। शबलेति। शुद्धाशुद्धोभयरूपत्वादेतेषां शबलत्वम्। एतेषां शुद्धाशुद्धोभयरूपत्वमुपपादयति—**विद्या इत्यादिना**। शुद्धाः प्रागुक्ताः संलिख्य विपरीता अशुद्धाः प्रागुक्ता लिखेदित्यर्थः। एवञ्च शुद्धाशुद्धशबलत्वादेतेषां भेदानां शुद्धाशुद्धत्वमित्यर्थः।

भगवती त्रिपुरा के ये शुद्धाशुद्ध शबला ये बारह भेद हैं। शुद्ध विद्या को लिखकर अशुद्ध विद्या को विपरीतक्रम से लिखने से शुद्धाशुद्ध भेद बनते हैं।।५३-५४।।

[शुद्धादिभेदानां संख्या]

यावन्तः शुद्धभेदाः स्युस्तावदन्तःक्रमादपि।
तथैव शबलद्वन्द्वभेदा भद्रा भवन्ति हि।।५५।।

श्री त्रिपुरा विद्या के जितने शुद्ध भेद हैं, उसी क्रम से शुद्धाशुद्ध मिश्रित शवल मन्त्र भी हैं।।५५।।

[तेषां स्वरूपं गुरूपदेशवेद्यत्वञ्च]

ते ज्ञानगहना ब्रह्मरूपा मोक्षप्रदायकाः।
ज्ञातव्या गुरुवक्त्रेण चान्यथा शापमाप्नुयात्।।५६।।

ये सभी मन्त्र अत्यन्त ज्ञान-गम्भीर तथा गुरुमुख से ही जानने और प्राप्त करने योग्य हैं। ये सभी मन्त्र सिद्धि और मोक्ष-प्रदायक हैं। गुरुमुख से प्राप्त करके ही इनकी साधना करनी चाहिए; अन्यथा शाप का भागी होना पड़ता है।।५६।।

[एतेषां प्रामाणिकतन्त्रसंवादित्वम्]

दक्षिणामूर्त्तितन्त्रस्य मतमेतत् प्रकीर्त्तितम्।।५७।।

इन मन्त्रों के सम्बन्ध में उपर्युक्त श्लोकों में जो कुछ कहा गया है, वह दक्षिणामूर्ति-तन्त्र का अभिमत है।।५७।।

[अथ दीपनी तद्योगफलञ्च]

श्रीमत्त्रिपुरसुन्दर्या अथ वक्ष्यामि दीपनीम्।
सुप्तकीलितछिन्नादिदोषशुद्ध्यर्थमेव च।।५८।।

तन्त्र-शास्त्र में जितने भी मन्त्र बताये गये हैं, वे सभी के सभी मन्त्र सुप्त-छिन्न आदि दोषों से दूषित हैं। यहाँ बताये गये मन्त्रों में भी ये दोष हैं। इन मन्त्रों के सुप्त-छिन्न-कीलन आदि दोषों के निवारण के लिये दीपनी विद्या का निरूपण किया जा रहा है।।५८।।

[सुप्तत्वादिदोषस्य सिद्धिप्रतिबन्धकत्वम्]

आदिमेन तु सा सुप्ता मध्यमेन तु कीलिता।
अन्तिमेन तु सा छिन्ना तेन विद्या न सिध्यति।।५९।।

ये विद्यायें आदि-मध्य और अन्त से सुप्त, कीलन और छिन्न दोष से दूषित हैं; अत: सिद्ध नहीं होतीं।।५९।।

[तद्दोषपरिहारक्रमः]

अतस्तद्दोषनाशाय मतं परमदुर्लभम्।
वक्ष्येऽहं श्रीक्रम-मन्त्रनिर्णयोक्तक्रमेण तु।।६०।।

इन दोषों के नाश या निराकरण के लिये 'श्रीक्रमतन्त्र' में बताये गये उपायों का निरूपण किया जा रहा है।।६०।।

[पञ्चम्या वाग्भवे दीपनीयोगः]

वाङ्मायाकमलाबीजं वाग्भवस्यादि योजयेत्।

[कामराजे दीपनीयोगः]

प्रणवं लक्ष्मी-वाग्बीजे मन्मथं भुवनेश्वरीम्।।६१।।
एवं जप्त्वा तु मन्त्रज्ञो वाग्भवाख्यान्तमुच्चरेत्।

[स्वप्नावत्यां दीपनीयोगः]

प्रणवं वाग्भवं बीजं रमामन्मथमायया।।६२।।
स्वप्नावत्या महाकूटं प्रजपेच्च समाहितः।

[मधुमत्यां दीपनीयोगः]

मन्मथं त्वधरं कामं रमाञ्च भुवनेश्वरीम्।।६३।।
मधुमतीं ततो जप्त्वा—

[शक्तिकूटे दीपनीयोगः]

—मायां श्रीं वर्मबीजकम्।
फट्कारप्रणवाद्यं तं शिवशक्तिपुटीकृतम्।
एतद्बीजं समुच्चार्य शक्तिकूटं ततो जपेत्।।६४।।

तत्रादौ प्रथमप्राप्तायाः पञ्चम्या दीपनीमुपदर्शयन् क्रममेकमाह—वागित्यादिना। पञ्चमी पञ्चकूटात्मिका पूर्वमेव विशिष्योपदर्शिता। तस्याः प्रथमं वाग्भवकूटमधिकृत्य कृत्यमाह—वाङ्मायेत्यादिना। वाग्भवकूटस्यादौ वाक् वाग्भवबीजम ऐँ, मायाबीजं ह्रीं, कमलाबीजं श्रीं; एतद्बीजत्रयं योजयेत्। ऐँ ह्रीं श्रीमित्युक्त्वा वाग्भवकूटमुच्चारयेदिति फलितार्थः। कामराजकूटव्यवस्थामाह—प्रणवमित्यादिना। प्रणवः ॐ, लक्ष्मीबीजं श्रीं, वाग्बीजम् ऐँ, मन्मथः क्लीं, भुवनेश्वरी ह्रीं; एवञ्च ॐ श्रीं ऐँ क्लीं ह्रीमित्युक्त्वा वाग्भवाख्यान्तं कामराजकूटमुच्चरेदित्यर्थः। अथ स्वप्नावत्याख्यतृतीयकूटव्यवस्थामाह—प्रणवमित्यादिना। एवञ्च ॐ ऐँ श्रीं क्लीं ह्रीमित्युच्चार्य स्वप्नावतीकूटमुच्चारयेदित्यर्थः। अथ मधुमत्याख्यचतुर्थकूटव्यवस्थामाह—मन्मथन्त्वित्यादिना। एवञ्च क्लीं ऐँ क्लीं श्रीं ह्रीमित्युच्चार्य मधुमतीकूटमुच्चारयेदित्यर्थः। अथ शक्तिकूटव्यवस्थामाह—मायेत्यादिना। माया ह्रीं, ततः श्रीं, वर्मबीजं हूँ, ततः

फट्कारम्, प्रणवेति प्रणवाद्यं तं मन्त्रं शिवशक्तिपुटीकृतं शिवशक्तिभ्यां हकार-सकाराभ्यां पुटीकृतं मन्त्रस्यादावन्ते च हं-स-बीजयुक्तं शक्तिकूटात् पूर्वं योजयेदित्यर्थः। शिवशक्तिपदस्य हकारसकारमात्रबोधकत्वेऽपि प्रकृते विन्दुविसर्ग-युक्तामेव हकार-सकारौ बोध्यौ। तन्त्रसारे—प्रणवाद्यञ्च देवेशि हंसबीजपुटीकृतम् इति दर्शनात्। तदयं प्रयोगः—

ऐँ ह्रीं श्रीं क ए ई ल ह्रीं (इति वाग्भवकूटम्)
ॐ श्रीं ऐँ क्लीं ह्रीं ह स क ल ह्रीं (इति कामराजकूटम्)
ॐ ऐँ श्रीं क्लीं ह्रीं ह क ह ल ह्रीं (इति स्वप्नावतीकूटम्)
क्लीं ऐँ क्लीं श्रीं ह्रीं क ह य ल ह्रीं (इति मधुमतीकूटम्)
हंसः ॐ ह्रीं श्रीं हूं फट् हं सः ह क ल स ह्रीं (इति शक्तिकूटम्)

इति प्रथमपञ्चम्या दीपनी। एवमन्यास्वपि पञ्चमीष्वनया रीत्या दीपनीयोगः साधकैरुन्नेयः।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वप्रथम पञ्चमी विद्या का उद्धार बताया गया है (दशम प्रकाश, श्लोकसंख्या २६)। इन श्लोकों में पञ्चकूटात्मिका पञ्चमी विद्या के प्रत्येक कूट का दीपनी मन्त्र बताया गया है। यथा—

(१) 'ऐं ह्रीं श्रीं' वाग्भव कूट का दीपनी मन्त्र है। वाग्भव कूट के आदि में उसकी योजना करनी चाहिए।

(२) प्रणव (ॐ), लक्ष्मीबीज (श्रीं), वाग्बीज (ऐं), मन्मथ (क्लीं), भुवनेश्वरी (ह्रीं) की योजना करने से कामराज कूट का दीपनी मन्त्र (ॐ श्रीं ऐं क्लीं ह्रीं) निष्पन्न होता है। इस दीपनी मन्त्र को वाग्भव कूट के बाद और कामराज कूट के आदि में लगाना चाहिए॥६१॥

(३) कामराज कूट के बाद स्वप्नावती विद्या है। प्रणव (ॐ), वाग्भव (ऐं), रमा (श्रीं), मन्मथ (क्लीं), माया (ह्रीं) अर्थात् 'ॐ ऐं श्रीं क्लीं ह्रीं' स्वप्नावती कूट का दीपनी मन्त्र है। इसे कामराज कूट के अन्त तथा स्वप्नावती कूट के आदि में लगाकर जपना चाहिए॥६२॥

(४) स्वप्नावती कूट के बाद मधुमती विद्या (कूट) है। मन्मथ (क्लीं), अधर (ऐं), काम (क्लीं), रमा (श्रीं), भुवनेश्वरी (ह्रीं) अर्थात् 'क्लीं ऐं क्लीं श्रीं ह्रीं' मधुमती (विद्या) कूट का दीपनी मन्त्र है। इसे स्वप्नावती कूट के बाद और मधुमती कूट के आदि में लगाना चाहिए॥६३॥

(५) पञ्चम कूट शक्तिकूट है। शिव (ह), शक्ति (स) अर्थात् 'हंसः' से सम्पुटित तथा प्रणवाद्य अर्थात् आदि में प्रणव (ॐ)-युक्त माया (ह्रीं), श्रीं (श्रीं), वर्मबीज (हुं) तथा 'फट्' की योजना करने से शक्तिकूट का दीपनी मन्त्र निष्पन्न होता है। यथा—हंसः ॐ ह्रीं श्रीं हूं फट् हंसः।

दीपनी मन्त्रों-सहित प्रथम पञ्चमी विद्या के पाँचों कूटों का प्रयोगक्रम इस प्रकार होगा—

(१) ऐं ह्रीं श्रीं क ए ई ल ह्रीं (वाग्भव कूट)।
(२) ॐ श्रीं ऐं क्लीं ह्रीं हसकलह्रीं (कामराज कूट)।
(३) ॐ ऐं श्रीं क्लीं ह्रीं हकहलह्रीं (स्वप्नावती कूट)।
(४) क्लीं ऐं क्लीं श्री ह्रीं कहयलह्रीं (मधुमती कूट)।
(५) हंस: ॐ ह्रीं श्रीं हुं फट् हंस: हकलसह्रीं (शक्तिकूट)।

अन्य सभी दीपनी मन्त्रों का प्रयोगक्रम इसी प्रकार होगा॥६१-६४॥

[अस्या: प्राणरूपत्वं सिद्धिप्रदत्वञ्च]

एषा तु दीपनी विद्या अजपा प्राणरूपिणी।
पञ्चमी परमा विद्या सिद्धिदा सा तदा भवेत्॥६५॥

एषेति। सिद्धिदेति। स्वानुष्ठेयमन्त्रजपस्यादावन्ते च निरुक्तदीपनीसमभिव्याहृत-मन्त्रजपाद् विद्या सिद्धिदेत्यर्थ:। जपनियममाह तन्त्रसारे—

जपेदादौ जपेत् पश्चात् सप्तवारमनुक्रमात्। इति॥

अजपा मन्त्र की तरह यह दीपनी विद्या भी प्राणदायिनी है। इससे ही पञ्चमी विद्या सिद्धिदायिनी होती है। यदि दीपनी विद्या का संयोग नहीं हो तो अत्यन्त परम विद्या होने पर भी पञ्चमी विद्या से सिद्धि प्राप्त नहीं होती॥६५॥

[प्रकारान्तरम् (प्राण:)]

अथापर: प्रकारश्च प्राण: परमदुर्लभ:॥६६॥

प्राणस्वरूपा दीपनी विद्या का दूसरा प्रकार इस तरह है॥६६॥

[तत्र वाग्भवादौ शक्तिकूटान्ते च बीजयोग:]

रमामायाहंसबीजं वाग्भवाद्यं नियोजयेत्।
शक्तिकूटस्य चान्तेऽपि हंसमायारमान्तत:॥६७॥

रमाबीज (श्रीं), मायाबीज (ह्रीं) तथा हंसबीज (हंस:) की वाग्भव कूट के आदि में योजना करें। इसी तरह शक्ति कूट के अन्त में 'हंस: ह्रीं श्रीं' की योजना करें॥६७॥

[मध्यकूटत्रये बीजध्यानम्, तत्र कामराजे]

कामराजत्रये कामबीजं सूर्यसमप्रभम्।
स्फुरत्त्रिकोणमध्यस्थं किरणानेकसंवृतम्॥६८॥
कामराजं ततो जप्त्वा—

[स्वप्नावत्याम्—]

—लक्ष्मीमत्यन्तनिर्मलाम्।
सहस्रारे महापद्मे ध्यात्वा साक्षान्महेश्वरीम्॥६९॥

द्वितीयं कामराजन्तु प्रजपेत्तदनन्तरम्।

[मधुमत्याम्—]

भुवनेशीमहाबीजं ज्वलदग्निसमप्रभम्।।७०।।
कुलाकुलमये पद्मे ध्येयमर्कदले वरे।
मधुमतीं ततो जप्त्वा सर्वकामं लभेन्नरः।।७१।।

प्रकारान्तरेण दीपनीमाह—**अथेत्यादिना**। प्राण इति दीपनीयं विद्यायाः प्राणस्वरूपेत्यर्थः।

तत्र वाग्भवकूटात् पूर्वं बीजयोगमाह—**रमेत्यादिना**। रमाबीजं श्रीं, मायाबीजं ह्रीं, हंसबीजं हंस इति। एवञ्च पञ्चम्या वाग्भवकूटस्यादौ श्रीं ह्रीं हंस इत्येतानि बीजानि योजयेदित्यर्थः।

शक्तिकूटान्ते बीजयोगमाह—**शक्तीत्यादिना**। शक्तिकूटस्यान्ते हंसः ह्रीं श्रीमित्येतद् बीजत्रयं योजयेदित्यर्थः।

कामराजकूटत्रयदीपनीमाह—**कामराजत्रय इत्यादिना**। अत्र पूर्ववद् बीजयोगमकृत्वा तत्तद्बीजध्यानमेव कर्त्तव्यमिति तत्क्रममाह—**कामराजत्रय इति**। त्रिकोणमध्यस्थं मूलाधारपद्मकर्णिकान्तस्त्रिकोणस्थितं किरणानेकसंवृतं सूर्यसमप्रभं क्लीमिति कामबीजं विभाव्य कामराजमुच्चारयेदित्यर्थः। निरुक्तत्रिकोणे कामबीजस्यावस्थानन्तु विशिष्य विवृतमस्माभिरत्रैव षष्ठपटले 'वज्राख्या वक्त्रदेशे' इत्यादिषष्ठश्लोकटीकायाम्। ततः करणीयमाह—**तत इत्यादिना**। सहस्रारे महापद्मे साक्षान्महेश्वरीं लक्ष्मीं श्रीमिति लक्ष्मीबीजं ध्यात्वा द्वितीयं कामराजं स्वप्नावतीकूटमुच्चारयेदित्यर्थः। ततश्च कुलाकुलमये पद्मे द्वादशारे ज्वलदग्निसमप्रभं ह्रीमिति भुवनेश्वरीमहाबीजं ध्यात्वा मधुमतीकूटमुच्चारयेत्। एवं कृते किं स्यादित्यत आह—**सर्वेति**। एवं क्रमेणानुष्ठितायां दीपन्यां सर्वकामसमृद्धिमधिगच्छन्ति साधका इत्यर्थः।

तदयं फलितार्थः—प्रथमं श्रीं ह्रीं हंसः ततः पञ्चम्याः पञ्चकूटम् ततो हंसः ह्रीं श्रीं, ततो मूलाधारत्रिकोणे सूर्यसमप्रभं क्लीं बीजं विभाव्य कामराजकूटम्, ततः सहस्रारे शुक्लं श्रीं बीजं विभाव्य स्वप्नावतीकूटं ततो हृत्पद्मे ज्वलदनलसमप्रभं ह्रीं बीजं विभाव्य मधुमतीकूटमुच्चारयेदिति।

इस दूसरे प्रकार के दीपनी योग में कामराज के तीनों कूटों अर्थात् कामराज कूट, स्वप्नावती कूट और मधुमती कूट के साथ बीजों की योजना नही की जाती; अपितु बीजों का ध्यान किया जाता है। यथा—

(१) षष्ठ प्रकाश में षट्चक्र-निरूपण के क्रम में बताया गया है कि चतुर्दलात्मक मूलाधार पद्म की कर्णिका में जाज्वल्यमान किरणों से सूर्य की तरह प्रभा वाले 'क्लीं' बीज का ध्यान करके कामराज (प्रथम) कूट का उच्चारण करें।

(२) ब्रह्मरन्ध्रस्थ सहस्रार में साक्षात् भगवती लक्ष्मी के समान भास्वर 'श्रीं' बीज का ध्यान करके स्वप्नावती विद्या (द्वितीय कूट) का उच्चारण करें।

(३) कुलाकुलमय द्वादशार में अर्थात् बारह दलों वाले अनाहत चक्र में प्रज्ज्वलित अग्नि के समान प्रभा वाले भुवनेश्वरी-बीज 'ह्रीं' का ध्यान करके तृतीय कूट मधुमती विद्या का उच्चारण अर्थात् जप करें।।

इस प्रकार दीपनी का योग करने से साधक की सभी कामनायें पूरी होती हैं।।६८-७१।।

प्रयोगक्रम—'श्रीं ह्रीं हंस:' इन तीन बीजों की आदि में योजना करके पञ्चमी विद्या के पाँच कूटों का उच्चारण करके शक्ति कूट के अन्त में 'हंसः ह्रीं श्रीं' का जप करें। तत्पश्चात् मूलाधार में स्थित त्रिकोण में 'क्लीं' बीज का सूर्य के सदृश्य ध्यान करके कामराज कूट का जप करें। सहस्रार में शुक्ल वर्ण वाले 'श्री' बीज का ध्यान करके स्वप्नावती कूट का जप करें। तत्पश्चात् अनाहत चक्र में प्रज्ज्वलित अग्निशिखा की तरह 'ह्रीं' बीज का ध्यान करके मधुमती कूट का जप करें।

[अस्याः प्राणस्वरूपत्वम्]

अयं प्राणो महागुह्यो गुप्तो ग्रन्थे सुविस्तरे।।७२।।

अस्य रहस्यत्वमाह—**अयमित्यादिना।**

यह दीपनी विद्या पञ्चमी विद्या की प्राणस्वरूपा है। इसके बिना पञ्चमी विद्या प्राणहीन है। जिस तरह शरीर के लिये प्राण आवश्यक है, उसी तरह पञ्चमी के लिये प्राणरूपिनी दीपनी आवश्यक है। जिस तरह शरीर में गुप्त रूप से प्राण समाहित रहता है, उसी तरह यह दीपनी विद्या है।।७२।।

[प्रकारान्तरं तत्र क्रमश्च]

अथापरप्रकारन्तु वक्ष्यामि दुर्लभं परम्।
मायाश्रीमदनैश्चैव श्रीमायामदनैरपि।।७३।।
मदनैर्मायया श्रीश्च श्रीश्च मदनमायया।
मायया मदनैः श्रीश्च कथिता च त्रिपञ्चिका।।७४।।

प्रकारान्तरमाह—अथेत्यादिना। अत्र बीजयोगक्रममभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटे बीजयोजनपरिपाटीमाह—मायेत्यादिना। तथा च ह्रीं श्रीं क्लीमित्युच्चार्य वाग्भवकूटमुच्चरेत्। श्रीमायामदनैरिति श्रीं ह्रीं क्लीमित्युच्चार्य कामराजकूटमुच्चरेत्। मदनैर्मायया श्रीश्चेति क्लीं ह्रीं श्रीमित्युच्चार्य स्वप्नावतीकूटमुच्चरेत्। श्रीश्च मदनमाययेति श्रीं क्लीं ह्रीमित्युच्चार्य मधुमतीकूटमुच्चरेदित्यर्थः। मायया मदनैः श्रीश्चेति ह्रीं क्लीं श्रीमित्युच्चार्य शक्तिकूटमुच्चरेदित्यर्थः। त्रिपञ्चिकेति। प्रतिकूटं बीजत्रययोगात् पञ्चदशबीजानि भवन्तीत्यर्थः।

तदयं फलितार्थः—प्रथमं ह्रीं श्रीं क्लीं ततो वाग्भवकूटम्। श्रीं ह्रीं क्लीं ततः कामराजकूटम्। क्लीं ह्रीं श्रीं ततः स्वप्नावतीकूटम्। श्रीं क्लीं ह्रीं ततो मधुमतीकूटम्। ह्रीं क्लीं श्रीं ततः शक्तिकूटं जपेदिति।

दीपनी विद्या के एक अन्य प्रकार का निरूपण कर रहा हूँ। इस प्रकार में दीपनी विद्या के पाँच कूटों के आदि में तीन-तीन बीजों की योजना की जाती है। यथा—

(१) 'ह्रीं श्रीं क्लीं' की वाग्भव कूट के आदि में,
(२) 'श्रीं ह्रीं क्लीं' की कामराज (प्रथम) के आदि में,
(३) 'क्लीं ह्रीं श्रीं' की स्वप्नावती कूट के आदि में,
(४) 'श्रीं क्लीं ह्रीं' की मधुमती कूट के आदि में,
(५) 'ह्रीं क्लीं श्रीं' की शक्तिकूट के आदि में।

प्रत्येक कूट के आदि में तीन-तीन बीजों की योजना करने के कारण पञ्चमी के पाँच कूटों के साथ उक्त पन्द्रह बीजों की योजना की जाती है॥७३-७४॥

[अस्याः प्रशस्तिः]

नान्याऽस्याः सदृशी विद्या विद्यते भुवनत्रये।
भैरव्याश्च महातन्त्रे विद्या परमदुर्लभा॥७५॥
सिद्धिदा निर्मला शान्ता त्रैलोक्यवशकारिणी।
पञ्चकूटादिके दत्त्वा जपेद् वै पञ्चपञ्चमीम्॥७६॥

एवं दीपनीयोगदीपितस्य मन्त्रस्य प्रशस्तिमाह—नान्याऽस्या इत्यादिना। पञ्चेति। पञ्चकूटादौ प्रागुक्तक्रमेण निरुक्तानि बीजानि संयोज्य जपेदित्यर्थः। पञ्चपञ्चमीमिति पूर्वोदितपञ्चविधपञ्चमीमित्यर्थः। इति पञ्चमीविद्यायां दीपनीयोगव्यवस्था।

तीनों लोकों में इसके समान कोई अन्य विद्या नहीं है। पञ्चमी विद्या के प्रत्येक कूट के आदि में उपर्युक्त तीन-तीन बीजों की योजना करके जप करने से पञ्चमी विद्या अत्यन्त निर्मल, शान्त, तीनों लोकों को वश में करने वाली तथा सभी सिद्धियाँ प्रदान करने वाली हो जाती है। इसीलिये भैरवी महातन्त्र में इसे परम दुर्लभ विद्या कहा गया है॥७५-७६॥

[त्रिकूटादिविद्यानां दीपनी]

अन्यासां सर्वविद्यानां प्राणान् वक्ष्यामि साम्प्रतम्॥७७॥

अथ त्रिकूटादिविद्यानां दीपनीमाह—अन्यासामित्यादिना। अन्यासां त्रिकूटचतुष्कूटादीनाम्।

पञ्चमी विद्याओं के दीपनी मन्त्रों का निरूपण करने के बाद अन्य सभी विद्याओं के प्राणस्वरूप दीपनी मन्त्रों का वर्णन कर रहा हूँ। पञ्चमी के अतिरिक्त शेष

सभी विद्यायें तीन कूटों वाली हैं, त्रिकूटा हैं; अतः ये दीपनी मन्त्र त्रिकूटा विद्याओं के हैं॥७७॥

[तत्र क्रमः]

रमा-माया-हंसबीजं वाग्भवाद्ये सुदुर्लभम्।
शत्त्यन्ते हंसबीजन्तु महामाया रमा तथा॥७८॥
एतैर्युक्तेन नियतं विद्याजपनमाचरेत्॥७९॥

तत्र बीजयोगक्रममाह—रमेत्यादिना। वाग्भवाद्ये वाग्भवकूटादौ रमावीजं मायावीजं हंसबीजञ्च नियोजयेत्। श्रीं ह्रीं हंस इत्यनन्तरं वाग्भवकूटमुच्चारयेदित्यर्थः। शक्तिकूटस्यान्ते तु आदौ हंसबीजं ततो महामाया ह्रीं, ततश्च रमाबीजं श्रीमिति, शक्तिकूटान्ते हंसः ह्रीं श्रीमित्युच्चारयेदित्यर्थः। एतेन श्रीं ह्रीं हंस इति बीजत्रयसंपुटितं मन्त्रं जपदिति तात्पर्यम्। संपुटलक्षणमाह तन्त्रसारे—

मन्त्रमादौ वदेत् सर्वं साध्यसंज्ञामनन्तरम्।
विपरीतं पुनश्चान्ते बीजं तत् संपुटं स्मृतम्॥ इति।

एतैरिति। जपस्तु सप्तधेति पूर्वमुक्तम्।

वाग्भव कूट के आदि में 'श्रीं ह्रीं हंसः' और शक्तिकूट के अन्त में 'हंसः ह्रीं श्रीं' की योजना करके त्रिकूटा विद्या का जप करें॥७८-७९॥

तात्पर्य यह कि 'श्रीं ह्रीं हंसः' इन तीन बीजों से अनुलोम-विलोमक्रम से सम्पुटित करके जपने से त्रिकूटा विद्याओं का दीपन होता है। यथा—श्रीं ह्रीं हंसः + मूल मन्त्र + हंसः ह्रीं श्रीं—इसका जप मूल मन्त्र का जप करने से पूर्व केवल सात बार किया जाता है।

[निरुक्तबीजयोगफलम्]

रमाबीजेन सततं धर्ममोक्षसुखप्रदा।
ह्रींकारे पुत्रदा नित्यं नानार्थसञ्चयप्रदा॥८०॥
हंसबीजेन जप्तेन नानाकामप्रदायिनी।
मोक्षस्तु प्रणवाद्यन्ते निश्चितं दुर्लभं परम्॥८१॥
एतच्च कथितं सारं—

रमामायाहंसबीजजपफलमाह—रमाबीजेनेत्यादिना। मोक्षार्थिनां विशेषमाह—मोक्षन्त्वित्यादिना। तथा चात्र प्रागुक्तरमामायाहंसबीजसंपुटितस्य मन्त्रस्यादावन्ते च प्रणवयोगः कर्त्तव्यः। एवञ्च ॐ श्रीं ह्रीं हंसः ततो मन्त्रस्ततश्च हंसः ह्रीं श्रीं ॐ इति दीपनीक्रमः।

इन दो श्लोकों में 'श्रीं' आदि बीजों के योग से मन्त्रजप का फल बताया गया है। 'रमाबीज' अर्थात् 'श्रीं' के योग के फलस्वरूप मूल मन्त्र धर्म-मोक्ष एवं सभी सुख

प्रदान करता है। 'ह्रीं' के योग से पुत्र तथा विभिन्न प्रकार का अर्थ-सञ्चय होता है। 'हंसः' के योग से नाना प्रकार की सांसारिक कामनाओं की पूर्ति होती है। मोक्षकामी मुमुक्ष साधकों को उक्त दीपनी बीजों के आदि और अन्त में प्रणव (ॐ) की योजना करके जप करना चाहिए। यथा—ॐ श्रीं ह्रीं हंस+मूल मन्त्र+हंसः ह्रीं श्रीं ॐ।

[प्रकारान्तरम्]

—परञ्च कथयाम्यथ।।८२।।

तारमायारमाकामवाग्भवैर्वाग्भवं भवेत्।
तदेव विपरीतन्तु कामराजं ततो जपेत्।।८३।।
सतारं वाग्भवं कामरमामायासमन्वितम्।
चैतन्यं कथितं सारं—

प्रकारान्तरमाह—**परञ्चेत्यादिना**। तत्र वाग्भवकूटात् पूर्वं बीजयोगमाह—**तारेत्यादिना**। तारः प्रणवः, माया ह्रीं, रमा श्रीं, कामः क्लीं, वाग्भवः ऐँ, एतैः पूर्वं योजितैः वाग्भवकूटं दीपनीयुक्तं भवेदित्यर्थः। एवञ्च ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐँ इत्युच्चार्य वाग्भवकूटं जपेदित्यर्थः। अथ कामराजकूटे बीजयोगमाह—**तदेवेत्यादिना**। प्रागुक्तबीजपञ्चकमेव विपरीतं विलोमेन संस्थापितमुच्चार्य कामराजकूटं जपेदित्यर्थः। एवञ्च ऐँ क्लीं श्रीं ह्रीं ॐ इत्युच्चार्य कामराजकूटं जपेदिति फलितार्थः। शक्तिकूटे बीजयोगमाह—**सतारमित्यादिना**। सतारं वाग्भवं तारो वाग्भवञ्च ततः कामरमामायासमन्वितं शक्तिकूटमित्यर्थादाहृतस्य विशेषणम्। एवञ्च ॐ ऐँ क्लीं श्रीं ह्रीमित्यनन्तरं शक्तिकूटं जपेदिति फलितम्।

दीपनी का एक अन्य प्रकार बता रहा हूँ। इस विधि में प्रत्येक कूट के आदि में बीजों की योजना की जाती है। यथा—

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं—वाग्भव कूट के आदि में। इन्हीं पाँच बीजों को विलोम-क्रम से कामराज कूट के आदि में लगायें अर्थात् 'ऐं क्लीं श्रीं ह्रीं ॐ' के बाद कामराज कूट। शक्तिकूट के आदि में 'ॐ ऐं क्लीं श्रीं ह्रीं' की योजना करें।।८२-८४।।

प्रयोगक्रम— ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं + वाग्भव कूट
ऐं क्लीं श्रीं ह्रीं ॐ + कामराज कूट
ॐ ऐं क्लीं श्रीं ह्रीं + शक्तिकूट

अब इससे भिन्न एक अन्य दीपनी-क्रम बता रहा हूँ।

[प्रकारान्तरम्]

—परञ्च कथयाम्यथ।।८४।।

वाङ्माया कमलाबीजं वाग्भवस्यादि योजयेत्।
वेदाद्यं लक्ष्मीवाग्बीजे मन्मथं तदनन्तरम्।।८५।।

मायाबीजं ततो दत्त्वा वाग्भवाख्यं समुद्धरेत्।
आद्यन्ते तारमायान्तु मध्ये श्रीबीजसंयुतम्।।८६।।
तारस्यान्ते वाग्भवन्तु कामबीजं तथा स्थितम्।
एवमेतत् समुच्चार्य कामराजं समुच्चरेत्।।८७।।
एतस्या एव विद्याया मध्ये कामं नियोजयेत्।
मन्मथादिस्थमधरं श्रीबीजं मन्मथान्तरम्।।८८।।
एवं क्रमेण संयोज्य शक्तिकूटं तदोच्चरेत्।
इयन्तु दीपनी विद्या सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।८९।।

प्रकारान्तरमाह—**परञ्चेत्यादिना**। तत्रायं क्रमः—वाग्भवस्यादि वाग्भवकूटस्यादावित्यर्थः। वागित्यादि, वाक् वाग्भवबीजम् ऐँ, मायाबीजं ह्रीं, कमलाबीजं श्रीं, इत्येतद् बीजत्रयं योजयेदित्यर्थः। एतद्बीजत्रयात् पूर्वं बीजान्तरयोगमाह—**वेदाद्यमित्यादिना**। वेदाद्यः प्रणवः, लक्ष्मीः श्रीं, वाग्बीजम् ऐँ, मन्मथः क्लीं, मायाबीजं ह्रीं एतद्बीजपञ्चकं निरुक्तवाग्भवमायाश्रीबीजेभ्यः पूर्वं विन्यस्य वाग्भवकूटं जपेदिति सम्बन्धः। अत्र वाग्भवस्यादि योजयेदित्युक्तेर्वाङ्मायाकमलाबीजानां वाग्भवकूटाव्यवहितपूर्ववर्त्तित्वावगमाद् वेदादिबीजपञ्चकस्य तत्पूर्वमवस्थितिरर्थादवगन्तव्या। एवञ्च ॐ श्रीं ऐँ क्लीं, ह्रीं ऐँ ह्रीं श्रीं इत्युक्त्वा वाग्भवकूटमुच्चारयेदिति फलितार्थः।

कामराजकूटात् पूर्वं बीजयोगमाह—**आद्यन्त इति**। अत्राद्यन्तत्वं वक्ष्यमाणश्रीबीजमपेक्ष्य। तथा च श्रीबीजस्यादौ तारो मायाबीजञ्च, अन्तेऽपि तथैव तारमायायोगः, अनेन ॐ ह्रीं श्रीं ॐ ह्रीमिति प्राप्तम्। तारस्यान्त इति। आद्यतारस्यान्ते वाग्भवबीजं कामबीजञ्च। तथा स्थितमित्यनेनान्त्यतारस्यान्तेऽपि वाग्भव-कामबीजयोग उक्तः। एतेन ॐ ऐँ क्लीं ह्रीं श्रीं ॐ ऐँ क्लीं ह्रीमित्येतेषां बीजानां संग्रहः। एवमेतदिति एतद् बीजनवकं समुच्चार्य कामराजकूटमुच्चरेदित्यर्थः।

अथ शक्तिकूटात् पूर्वं बीजयोगमाह—**एतस्या इति**। एतस्याः कामराजादौ प्रयोज्याया दीपनीविद्याया इत्यर्थः। मध्ये कामबीजं प्रयोजयेत्। अयम्भावः—शक्तिकूटदीपनीयं कामराजकूटदीपनीवदेव, बीजानां केषाञ्चित् पौर्वापर्यविपर्यय एवात्र विशेषः, तमेव विशेषं दर्शयितुमाह—**मध्ये कामं नियोजयेदिति**। कामबीजप्रयोगस्तु श्रीबीजात् पूर्वमेव कर्त्तव्यः श्रीबीजं मन्मथान्तरमिति वक्ष्यमाणत्वात्। एवञ्च कामराजदीपन्या मायाबीजस्थाने कामबीजस्य कामबीजस्थाने च वाग्भवबीजस्याऽऽदानात् मायाबीजस्य वाग्भवबीजात् पूर्वं निवेशः कर्त्तव्य इत्यर्थादवगम्यते। तथा च ॐ ह्रीं ऐँ क्लीं श्रीं ॐ ऐँ क्लीं ह्रीमित्युच्चार्य वाग्भवकूटमुच्चारयेदिति फलितम्।

इन श्लोकों में वाग्भव आदि तीनों कूटों के आदि में पृथक्-पृथक् बीजों की योजना का दीपनी-क्रम बताया गया है। यथा—

वाग्भव कूट दीपनी—वाक् (ऐं), माया (ह्रीं), कमलाबीज (श्रीं) अर्थात् 'ऐं ह्रीं श्रीं' ये तीन बीज हैं। इन तीनों बीजों के पूर्व निम्नलिखित पाँच बीजों की योजना करें—

वेदाद्य (ॐ), लक्ष्मीबीज (श्रीं), वाग्बीज (ऐं), मन्मथ (क्लीं) तथा मायाबीज (श्रीं)।

इन पाँच बीजों की पूर्वोक्त 'ऐं ह्रीं श्रीं' के प्रारम्भ में योजना करने से दीपनी क्रम प्राप्त हुआ—ॐ श्रीं ऐं क्लीं ह्रीं ऐं ह्रीं श्रीं।

इन आठ बीजों की वाग्भव कूट के आदि में योजना करके उसका जप करें। यथा—'ॐ श्रीं ऐं क्लीं ह्रीं ऐं ह्रीं श्रीं + वाग्भव कूट।

कामराज कूट दीपनी—श्रीबीज (श्रीं) के आदि और अन्त में तार (ॐ) तथा माया (ह्रीं) की योजना करें। रूप बना—ॐ ह्रीं श्रीं ॐ ह्रीं।

इसमें प्रणव (ॐ) के बाद वाग्भव (ऐं) तथा कामबीज (क्लीं) की योजना करें। इस तरह रूप बना—ॐ ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं ॐ ह्रीं।

तारं तथा स्थितम्—अर्थात् उपर्युक्त सात बीजों में जो द्वितीय तार (ॐ) है, उसके बाद भी 'ऐं क्लीं' की योजना करने से नौ (९) बीजों का दीपनी क्रम प्राप्त हुआ। यथा—ॐ ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं ॐ ऐं क्लीं ह्रीं।

इन नौ (९) बीजों की कामराज कूट के आदि में योजना करके उसका जप करें। यथा—ॐ ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं ॐ ऐं क्लीं ह्रीं+कामराज कूट।

शक्तिकूट दीपनी—कामराज कूट की जो उपर्युक्त दीपनी विद्या है, उसमें कामबीज (क्लीं) को श्रीबीज (श्रीं) के पूर्व स्थापित करें। रूप बना—ॐ ऐं ह्रीं क्लीं श्रीं ॐ ऐं क्लीं ह्रीं।

अब इसमें अधर (ऐं) को मन्मथ (क्लीं) के आदि में करें तथा श्रीबीज (श्रीं) को मन्मथ (क्लीं) के बाद ही रहने दें। रूप बना—ॐ ह्रीं ऐं क्लीं श्रीं ॐ ऐं क्लीं ह्रीं।

यह शक्तिकूट का दीपनी-क्रम है। शक्तिकूट के आदि में इन नौ (९) बीजों की योजना करके उसका जप करना चाहिए। यथा—ॐ ह्रीं ऐं क्लीं श्रीं ॐ ऐं क्लीं ह्रीं+शक्तिकूट।

[अन्यादृशी दीपनी]

रमा माया हंसबीजं वाग्भवाद्ये नियोजयेत्।
कामराजं ततः पश्चाद् ब्रह्मबीजं तदन्तिके।
शत्त्यन्ते हंसबीजन्तु प्रजपेत् साधकोत्तमः।।९०।।

क्रमान्तरेण दीपनीमाह—रमेत्यादिना। वाग्भवकूटादौ रमाबीजं मायाबीजं हंसबीजञ्च नियोजयेत्। श्रीं ह्रीं हंस इत्यनन्तरं वाग्भवकूटमुच्चरेत् जपेदित्यर्थः।

कामराजमिति। ततः कामराजकूटमुच्चार्य ब्रह्मबीजं प्रणवमुच्चारयेदित्यर्थः। शक्त्यन्त इति। ततः शक्तिकूटमुच्चार्य हंसबीजं हंस इति वर्णद्वयात्मकं बीजं जपेदित्यर्थः। जपस्तु तत्तत्कूटसमभिव्याहृतस्येति सर्वत्र बोध्यम्।

इस श्लोक में एक अन्य दीपनी मन्त्र बताया गया है। वाग्भव कूट के आदि में 'श्रीं ह्रीं हंसः' की योजना करें। वाग्भव कूट के बाद कामराज कूट का उच्चारण करके ब्रह्मबीज (ॐ) का जप करें। इसके बाद शक्ति कूट का उच्चारण करके 'हंस' बीज का जप करें। यथा—श्रीं ह्रीं हंसः+वाग्भव कूट+कामराज कूट+ॐ+ शक्तिकूट+हंसः।

[अन्यादृशी दीपनी]

अथवा प्रणवं लक्ष्मीं मान्मथं वाग्भवं पराम्।
एतज्जप्त्वा वाग्भवाख्यमुच्चरेत् साधकोत्तमः।।९१।।
प्रणवञ्चैव वाग्बीजं रमा मन्मथमायया।
एवमेव तदा जप्त्वा कामराजं समुच्चरेत्।।९२।।
प्रणवञ्चाधरं कामं रमाञ्च परमेश्वरीम्।
एवं क्रमेण संयोज्य शक्तिकूटं समुच्चरेत्।।९३।।
एतच्च कथितं सारं सर्वसिद्धिप्रदायकम्।
एता गुप्ततमाः सर्वा विद्याश्चैतन्यकारिकाः।।९४।।

अथ दीपनीमन्यादृशीमभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटे बीजयोगमाह—**अथवेति।** प्रणवः ॐ, लक्ष्मीः श्रीं, मान्मथं क्लीं, वाग्भवं ऐँ, परा ह्रीं। एवञ्च ॐ श्रीं क्लीं ऐँ ह्रीमिति जप्त्वा वाग्भवकूटमुच्चारयेदित्यर्थः। कामराजकूटे बीजयोगमाह—**प्रणवञ्चेत्यादिना।** एवञ्च ॐ ऐँ श्रीं क्लीं ह्रीमिति जप्त्वा कामराजकूट-मुच्चारयेदित्यर्थः। शक्तिकूटात् पूर्वं बीजयोगमाह—**प्रणवमित्यादिना।** एवञ्च ॐ ऐँ क्लीं श्रीं ह्रीमिति जप्त्वा शक्तिकूटमुच्चारयेदित्यर्थः।

इन श्लोकों में एक अन्य दीपनी मन्त्र बताया गया है। यथा—

ॐ श्रीं क्लीं ऐं ह्रीं + वाग्भव कूट
ॐ ऐं श्रीं क्लीं ह्रीं + कामराज कूट
ॐ आं क्लीं श्रीं ह्रीं + शक्तिकूट

इस प्रकार तन्त्रशास्त्र में गुप्तरूप से बताये गये दीपनी मन्त्रों का साररूप बता दिया गया। ये सभी दीपनी विद्यायें अत्यन्त गुप्त तथा मन्त्र को चैतन्यता प्रदान करने वाली प्राणस्वरूपा हैं।।९१-९४।।

आसामेकतमां दत्त्वा जपेद् विद्यां समाहितः।।९५।।

आसामिति। पूर्वं ये दीपनीभेदा दर्शितास्तेषामेकतमं यं कञ्चन दत्त्वा विद्यां स्वेष्टमन्त्रं जपेदित्यर्थः। दीपनीजपस्तु स्वेष्टमन्त्रजपस्यादावन्ते च सप्तकृत्वः कर्त्तव्य इति स्वयमेव वक्ष्यति।

इस ग्रन्थ में पञ्चमी विद्या के तीन दीपनी मन्त्र तथा त्रिकूटा विद्याओं के पाँच दीपनी मन्त्र बताये गये हैं। इन दीपनी मन्त्रों में से किसी एक दीपनी मन्त्र का साधक को जप करना चाहिए। दीपनी मन्त्रों का यथाविधि यथानिर्धारित संख्या में जप नहीं करने से मन्त्र सिद्ध नहीं होता।।९५।।

[वामकेशीविद्याया दीपन्यां विशेषः]

वामकेश्याञ्च विद्यायां विशेषः पुनरुच्यते।
वाग्भवे कामराजे च शक्तिकूटे च तत्क्रमात्।।९६।।
कामबीजत्रयेणैव दीपन्यादि समीरितम्।
जपस्याऽऽदौ जपस्यान्ते सप्तवारमनुक्रमात्।।९७।।

एवं सर्वविद्यासाधारण्येन दीपनीयोगमभिधाय वामकेशीविद्यायां विशेषमाह—**वामकेश्यामित्यादिना। वाग्भव इत्यादि।** तथा चात्र कूटत्रयादौ क्लीमिति कामबीजत्रयं योजयेदित्यर्थः। दीपन्यादीत्यादिपदेन प्राणचैतन्यादीनां परिग्रहः। दीपनीजपव्यवस्थामुपदिशति—**जपस्येति।** तथा च स्वेष्टमन्त्रजपादौ सप्तधा दीपनीजपः तत्तत्संख्यात-जपस्यान्तेऽपि तथा।

पञ्चमी तथा त्रिकूटा विद्याओं के सामान्य दीपनी मन्त्र बताने के बाद 'वामकेशी विद्या' के दीपनी मन्त्र का पृथक् से निरूपण किया जा रहा है। अन्य त्रिकूटा विद्याओं के समान वामकेशी विद्या के भी तीन कूट हैं। वाग्भव कूट, कामराज कूट और शक्तिकूट। इन तीनों कूटों के आदि में 'कामबीजत्रय' अर्थात् 'क्लीं क्लीं क्लीं' की योजना करने से मन्त्रों में प्राणों का संचार होता है तथा चैतन्यता आती है। इष्ट मन्त्र का यथासंकल्पित जप करने के पूर्व और जप करने के बाद सात-सात बार दीपनी का जप करना चाहिए।।९६-९७।।

प्रयोग-क्रम—क्लीं क्लीं क्लीं + वाग्भव कूट + क्लीं क्लीं क्लीं + कामराज कूट + क्लीं क्लीं क्लीं + शक्ति कूट।

मन्त्रजप के पूर्व तथा जप की समाप्ति पर इसका ७-७ बार जप करें।

[वामकेशीविद्यास्वरूपनिरूपणप्रतिज्ञा]

वामकेशी च या विद्या शब्दब्रह्मस्वरूपिणी।
तस्या रूपप्रभावञ्च संक्षेपात् कथयाम्यथ।।९८।।

अथेदानीं शब्दब्रह्मस्वरूपाया वामकेशीविद्यायाः स्वरूपं प्रभावञ्च वक्तुं प्रतिजानीते—वामकेशीत्यादिना। अथ केयं वामकेशी नाम? उच्यते—दशमे प्रकाशे 'कन्दर्पो विष्णुयुक्तोऽधरमुखसहितो दक्षकर्णोर्द्ध्वर्णं' (१५६ श्लो०) इत्यादिना या

सुरगणसेव्या कीलिता शाम्भवकामराजविद्याऽभिहिता सैव वामकेशीविद्येत्युक्तं तत्रैव—'वामकेशी शाम्भवी सा पूर्वाम्नायैः प्रकीर्त्तिता। ज्ञेया सा कीलिता विद्या सिद्धिदा न हि भूतले।।' (१६२ श्लोक) इत्यनेन। एवञ्चात्र प्रागुक्तशाम्भव-कामराजविद्यैव वामकेशीति स्थितम्। शब्दब्रह्मस्वरूपिणीत्यनेन मन्त्रघटकवर्णानां देवतास्वरूपत्वं सूचितम्। तस्या इति। तस्या रूपस्य मन्त्रघटकवर्णात्मकस्य प्रभावं संक्षेपात् कथयामि वक्ष्यमाणवचनैः प्रतिपादयामीत्यर्थः। रूपप्रभेदञ्चेति पाठे रूपे 'क ए ई ल ह्रीमि'ति मन्त्रे यः प्रभेदः मन्त्रघटकवर्णानामर्थगतः प्रकृष्टो भेदस्तं कथयामीत्यर्थः।

शब्दब्रह्म-स्वरूपिणी जो वामकेशी नामक विद्या है, उसके रूप तथा प्रभाव का संक्षेप में निरूपण किया जा रहा है।

विमर्श—वामकेशी नामक कौन-सी विद्या है? दशम प्रकाश में श्लोक-संख्या १५९ में जिस विद्या का उद्धार बताया गया है, उसी शाम्भव कामराज को श्लोक संख्या १६२ में वामकेशी विद्या बताया गया है। इस विद्या का स्वरूप है—कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं।

इसी वामकेशी विद्या के स्वरूप तथा उसके घटक वर्णों का अर्थ अगले श्लोकों में बताया जा रहा है।

[वामकेशीविद्यास्वरूपम्, तत्र वाग्भवकूटार्थः]

सहस्रदलमध्ये तु त्रिकोणं शिरसि स्थितम्।
तत्रैव मादनं बीजं बिन्दुमाश्रित्य दीपवत्।।९९।।
कोटिचन्द्रप्रतीकाशं चिदानन्दमयं परम्।
अनुत्तरपदं गुह्यं ललाटोद्ध्र्वव्यवस्थितम्।।१००।।

तत्र क ए ई ल ह्रीमिति वाग्भवकूटं व्याचक्षाणः प्रथमं ककारस्य स्वरूपमाह—**सहस्रेत्यादिना**। शिरसि सहस्रारपद्मकर्णिकाभ्यन्तरे त्रिकोणं स्थितम्। तदुक्तमत्रैव सहस्रारं प्रकृत्य षष्ठप्रकाशे—

'त्रिकोणं तस्यान्तः स्फुरति च सततं विद्युदाकाररूपम्' इति।

तत्रैवेति। तत्र निरुक्तत्रिकोणे बिन्दुं 'तदन्तः शून्यं तत् सकलसुरगणैः सेवितञ्चातिगुह्यमि'ति षष्ठप्रकाशोक्तशिवशक्त्यैकात्म्यरूपं परं बिन्दुमाश्रित्य मादनं कामबीजं ककारो वर्त्तत इत्यर्थः, परबिन्दोः स्वरूपं व्यक्तमाह अमृतानन्दनाथकृतयोगिनी-हृदयद्वितीयपटलटीकाधृतसौभाग्यसुभगोदये—

'रक्तो बिन्दुः शक्तिः शुक्लः शम्भुः परस्तदैकात्म्यम्।' इति।

एवञ्च शिवशक्तिसामरस्यरूपपरबिन्दुमाश्रित्य दीपवत् मादनं बीजं ककारो वर्त्तते इत्युक्तं भवति। दीपवदिति यथा दीपो मल्लिकादिकमाश्रित्यैव स्वां द्युतिं प्रकटयति

तथा कामबीजमपि परं बिन्दुमाश्रित्यैवेत्यर्थः। तस्य स्वरूपमाह—**कोटिचन्द्रप्रतीकाशमित्यादिना। अनुत्तरपदमिति।** यदपेक्षया साधकानामुत्तरं चरमं पदं नास्तीत्यर्थः। एवञ्च कोटिचन्द्रसदृशदीप्तिमत्त्वचिदानन्दमयत्वादिस्वरूपस्य तस्याराधनेन तदैक्यभावनया च तत्स्वरूपावाप्तिर्भवतीति। एवमन्यत्रापि बोध्यम्।

वामकेशी विद्या का प्रथम वाग्भव कूट है—कएईलह्रीं। वाग्भव कूट के 'क'कार आदि घटक वर्णों की शरीरचक्र में स्थिति, उनके स्वरूप और अर्थ का निरूपण अगले सात श्लोकों में किया गया है।

वाग्भव कूट का प्रथम घटक वर्ण 'क'कार है। यह कामबीज है। करोड़ों चन्द्रमाओं के समान इसकी कान्ति है। शिरोवर्ती सहस्रदल कमल की कर्णिका के त्रिकोणवर्ती महाबिन्दु का आश्रय लेकर यह कामबीज 'क'कार दीपक के समान अपना प्रकाश फैला रहा है। साधकों के लिये जिससे बढ़कर और कोई श्रेष्ठ (उत्तर) पद नहीं हो, वह अनुत्तर पद है। यह अनुत्तर पद भी सिर में ललाट के ऊर्ध्व भाग में स्थित है॥९९-१००॥

विमर्श—प्रस्तुत ग्रन्थ के षष्ठ प्रकाश में षट्चक्र-निरूपण के अन्तर्गत बताया गया है कि मनुष्य के शरीर के शिरोप्रदेश में हजार दलों वाला कमल है। इस कमल की कर्णिका में अधोमुख त्रिकोण है। इस त्रिकोण के मध्य में 'परा' बिन्दु है। इस परा बिन्दु में शिवरूप शुक्ल बिन्दु और उसके ऊपर शक्तिरूप रक्त बिन्दु है। इस तरह यह परा बिन्दु शिव और शक्ति के सामरस्य का प्रतीक है। इसी परा बिन्दु का आश्रय लेकर यह 'क'कार स्थित है। कोटि-कोटि चन्द्रमाओं के समान कान्तिमय यह कामबीज चिदानन्दमय है।

इन श्लोकों में शरीर चक्र में 'क'कार की स्थिति और उसके स्वरूप-निरूपण का उद्देश्य यह है कि साधकों को परा बिन्दु पर स्थित 'क'कार का ध्यान करके चिदानन्द प्राप्त करना चाहिए।

भगमाधारसंस्थानं त्रिकोणपदमाश्रितम्।।१०१।।

अथ द्वितीयमेकारं व्याचष्टे—**भगमित्यादिना।** भगं योनिबीजमेकारम् **आधारसंस्थानं** मूलाधारेऽवस्थितम्। तत्रापि **त्रिकोणपदमाश्रितम्,** मूलाधारकमलकर्णिकान्तरालस्थ-योन्याकार-त्रिकोणस्थितमित्यर्थः। परिचिन्तयेदिति वक्ष्यमाणक्रिययाऽभिसम्बन्धः।

'भग' का अर्थ है—'ए'कार। यह वाग्भव कूट का द्वितीय वर्ण है, जो मूलाधार चक्र के त्रिकोण में स्थित है॥१०१॥

विमर्श—भग की आकृति का त्रिकोणाकार होने के कारण 'ए'कार को विश्वयोनि—विश्व का उत्पत्ति स्थान माना जाता है। 'वामकेश्वरीमतम्' में भी कहा गया है—

यदेकादशमाधारं बीजं कोणत्रयोद्भवम्।
ब्रह्माण्डादिकटाहान्तं जगदद्यापि दृश्यते।।१/६

'अ'कार से गणना करने पर वर्णमाला का ग्यारहवाँ अक्षर 'ए'कार है। इस ग्यारहवें अक्षर 'ए' के त्रिकोण से उद्भूत समस्त ब्रह्माण्ड आज भी प्रत्यक्ष हैं। इस तरह 'ए'कार विश्वयोनि है। 'ए'कार को विश्वयोनि कहे जाने का एक और हेतु है। व्याकरण शास्त्र के नियमों के अनुसार 'ए'कार की निष्पत्ति अथवा उत्पत्ति 'अ'कार और 'इ'कार की सन्धि से होती है (अ+इ=ए)। 'अ'कार शिव है और 'इ'कार शक्ति है। इस तरह 'ए'कार की निष्पत्ति 'अ'काररूप शिव तथा 'इ'काररूप शक्ति के सामरस्य से होने के कारण यह विश्वयोनि है।

मृणालतन्तुरूपा सा विश्वयोनिरुदाहृता।
चतुर्थी हृदये पद्मे मेरुमाश्रित्य संस्थिता।।१०२।।
इच्छा-ज्ञाना-क्रियारूपा शम्भुशक्तिः परापरा।
हकारार्द्धकलारूपा तडित्कोटिसमप्रभा।।१०३।।

अथ तृतीयमीकारं व्याचष्टे—**मृणालेत्यादिना।** चतुर्थी अकारादिस्वरचतुर्थवर्णरूपा ईकाररूपेत्यर्थः। परापरा शम्भुशक्तिः अनाहताख्ये हृत्पद्मे मेरुमाश्रित्य संस्थितेति सम्बन्धः। तामेव विशिनष्टि—**मृणालतन्तुरूपेति।** मृणालतन्तुवदतिशयसूक्ष्मा। तथा विश्वयोनिः, ईकारस्य शम्भुशक्तिरूपतया—

तस्याः पुन पुनः सृष्टिर्जायते लीयते सदा।
तस्माच्छक्तिः प्रधाना च शक्त्या व्याप्तमिदं जगत्।।

इति गन्धर्वतन्त्रतृतीयपटलवचनेन शक्त्या एव जगत्सृष्टेरभिधानात् तस्या विश्वयोनित्वम्। **इच्छाज्ञानाक्रियारूपेति।** इच्छाशक्तिप्रधानः प्रकाशाख्यः शम्भुः, क्रियाशक्तिप्रधाना च विमर्षरूपा परा शक्तिः, ज्ञानशक्तिप्राधान्यमुभयसाधारणम्। तत्र च प्रकाशविमर्षात्मकयोरभेदेन विमर्षरूपायाः शक्तेरिच्छाज्ञानाक्रियारूपत्वमुपपन्नम्। एतदभिप्रायेणैव हकारार्द्धकलारूपेत्युक्तम्। हकारः शिवस्तदर्द्धकलारूपा हरार्द्धाङ्गविहारिणीत्यर्थः। तथा तडित्कोटिसमप्रभा। तदुक्तं षष्ठप्रकाशेऽनाहतपद्मं प्रकृत्य—'एतन्नीरजकर्णिकान्तरलसच्छक्तिस्त्रिकोणाभिधा विद्युत्कोटिसमानकोमलवपुरि'त्यादि। इति चतुर्थस्वरस्वरूपनिर्णयः।

चतुर्थी अर्थात् वाग्भव कूट का तृतीय घटक वर्ण—'ई'कार। 'अ'कारादि क्रम से गणना करने पर 'ई'कार वर्णमाला का चौथा वर्ण है। यह 'ई'कार कमलनाल के रेशे के समान सूक्ष्म और महीन है। कोटि-कोटि बिजलियों के समान देदीप्यमान और चमकीली है। यह 'ई'कार शिव की परा शक्ति है, जो इच्छा, ज्ञान और क्रियारूपा है अर्थात् जिसमें ये तीनों शक्तियाँ समाहित हैं। शक्ति ही विश्वयोनि अर्थात्

विश्व की माता है। 'ह'काररूप शिव विश्व के जनक हैं। विश्वमाता होने के कारण यह 'ह'काररूप शिव की अर्धाङ्गिनी हैं। अत: हकारार्द्धकलारूपा है। यह 'ई'कार हृदयक्षेत्रवर्ती अनाहत चक्र में मेरुमण्डल का आश्रय लेकर स्थित है। 'ई'कार का ध्यान अनाहत चक्र में करना चाहिए।।१०२-१०३।।

शक्रो ललाटे मध्ये तु दीपितां परिचिन्तयेत्।।१०४।।

अथ चतुर्थमक्षरं लकारं व्याचष्टे—शक्र इति। शक्र इन्द्रबीजं लकारो ललाटमध्ये संस्थित इति सम्बन्ध:। एतेनास्य बीजस्येन्द्ररूपत्वं सूचितम्। अस्य विशेषोऽग्रे वक्ष्यते। अथ पञ्चमं मायाबीजं व्याचष्टे—दीपितामित्यादिना। पञ्चमीं ककारमपेक्ष्य पञ्चमवर्णरूपाम्।

वाग्भव कूट का चतुर्थ घटक वर्ण 'ल'कार है। यह इन्द्रबीज है। इन्द्रबीज होने के कारण इसकी स्थिति शरीरचक्र में ललाट के मध्य में है। 'ल'कार का ध्यान ललाटमध्य में करना चाहिए।।१०४।।

'ल'कार की अन्य विभूतियों का निरूपण आगे किया गया है।

विद्युत्पुञ्जप्रतीकाशां पञ्चमीं नेत्रनासिके।
वाग्भवेयं महाविद्या वागीशत्वप्रदायिनी।।१०५।।

नेत्रनासिके नेत्राणि च नासिके च तेषां समाहार: नेत्रनासिकं तस्मिन्। तथा च नेत्रत्रये नासिकयोश्च विद्युत्पुञ्जप्रतीकाशां पञ्चमीं दीपितां चिन्तयेदित्यर्थ:। अनेन हकार-रकारेकाराणां नेत्रत्रये नादबिन्द्वोश्च नसोश्चिन्तनमुपदिष्ट–मिति प्रतिभाति। एवं वाग्भवकूटं व्याख्याय तत्फलमाह—वाग्भवेयमित्यादिना।

'क'कार से गणना करने पर वाग्भट कूट का पञ्चम घटक 'ह्री' है। 'ह्रीं'कार के घटक वर्ण हैं—'ह'कार, 'र'कार, 'ई'कार एवं नाद-बिन्दु। 'ह्रीं'कार विद्युत् पुञ्ज के समान चमकदार है।

'नेत्रे-नासिके'—तीनों नेत्रों और नाक के दोनों नथुनों का समाहार है। 'ह्री' के घटक वर्णत्रय = 'ह'कार-'र'कार और 'ई'कार की स्थिति तीनों नेत्रों में तथा नाद और बिन्दु की स्थिति नाक के दोनों नथुनों में है। इन वर्णों का चिन्तन तत्-तत् स्थानों में करना चाहिए।

यह वाग्भव कूट स्वयं ही महाविद्यारूप है। इसकी साधना करने से वागीशत्व की प्राप्ति होती है।।१०५।।

वाग्भव कूट की व्याख्या करने के बाद अगले सात श्लोकों में वामकेशी विद्या के 'कामराज कूट' के घटक वर्णों की शरीरचक्र में संस्थिति और उनकी विभूतियों का निरूपण किया गया है।

[कामराजकूटार्थः]

शिवो ज्ञानाख्यसंयुक्तस्त्रिशून्येषु व्यवस्थितः।।१०६।।
सूर्यकोटिप्रतीकाशं महापद्मोपरि स्थितम्।
सकारं मुखमध्ये तु बालार्कसदृशं परम्।।१०७।।
मादनं जठरे चैव जवाभं परिचिन्तयेत्।।१०८।।

अथ 'ह स क ह ल ह्रीमि'ति द्वितीयं कामराजकूटं व्याचक्षाणः प्रथमं हकारार्थमाह—**शिव इति**। शिवो हकारः, ज्ञानाख्यसंयुक्तः ज्ञानेच्छाक्रियाशक्तियुक्त इत्यर्थः, त्रिशून्येषु ऊद्ध्वाधोमध्यबिन्दुत्रये व्यवस्थित इत्यर्थः। महापद्मोपरि सहस्रारे। द्वितीयं सकारध्यानमाह—**सकारमिति**। तृतीयं ककारमाह—**मादनमिति**।

कामराज कूट है—हसकहलह्रीं। इसमें छः अक्षर हैं। इसका प्रथम घटक वर्ण है—'ह'कार। यह 'ह'कार शिवस्वरूप है। साक्षात् शिव है; जो ज्ञान-इच्छा और क्रियासंज्ञक तीनों शक्तियों से युक्त हैं। कोटि-कोटि सूर्यों के समान जाज्वल्यमान शिवस्वरूप 'ह'कार महापद्म अर्थात् सहस्रार में स्थित है। ऊर्ध्व-अधो और मध्य—इन तीनों बिन्दुओं में यह व्यवस्थित है अर्थात् तीनों बिन्दुओं में इसकी व्याप्ति है।

कामराज कूट का द्वितीय घटक वर्ण 'स'कार है। इसकी कान्ति बाल-सूर्य के समान रक्तवर्ण की है। इसकी स्थिति मुख के मध्य में है।

मादन अर्थात् 'क'कार। यह कामराज कूट का तृतीय वर्ण है। जवाकुसुम के समान रक्ताभ 'क'कार का जठर में ध्यान करना चाहिए।।१०६-१०८।।

हकारेण बहिर्याति द्वादशाङ्गुलमानतः।
प्राणो वायुरिति प्रोक्तो हंसाभः परमेश्वरः।।१०९।।

चतुर्थं हकारं व्याचष्टे—**हकारेणेत्यादिना**। प्राणो मुखनासिकाग्रवर्त्ती वायुः। हकारः प्राणवाचकः। अत्र हकारेण द्वादशाङ्गुलमानतः प्राणो वायुर्वहिर्याति इति प्रोक्तः। अथ प्राणापरपर्यायस्य हकारस्य किं स्वरूपमित्यत आह—**हंसाभ इति**। हंसाभः शुक्लवर्णः परमेश्वरः शिव इत्यर्थः।

कामराज कूट का चतुर्थ घटक वर्ण 'ह'कार है। यह 'ह'कार प्राणवायुस्वरूप है, जो द्वादश अंगुल मान से बाहर निकलता है। प्राणवायु की स्थिति मुखनासिका के अग्रभाग में है। उसका वर्ण हंसाभ है अर्थात् यह हंस के समान शुक्ल वर्ण का है।।१०९।।

सहस्रस्य दलाग्रन्तु कलाषोडशपूर्वकम्।
इन्द्रन्तु तत्र मध्ये तु ॐकाररूपभेदकम्।।११०।।
ह्रींकारं हृदये मध्ये कोटिसूर्यसमप्रभम्।
बिन्दुद्वये कुचे युग्मे जवाभमर्द्धचन्द्रकम्।।१११।।

नादबिन्दू तदग्रे च शिवशक्तिसमन्विते।
कामराजे महाबीज आकर्षणकरे परे।।११२।।

पञ्चमं लकारमाह—**सहस्त्रस्येति**। सहस्रारस्य दलाग्रे चन्द्रस्य षोडश कला विलसन्तीत्यर्थः। इन्द्रमिति तत्र लकारं चिन्तयेदित्यर्थः।

अथ मायाबीजमाह—**ॐकारेत्यादिना**। ॐकाररूपभेदकं ह्रींकारं कोटिसूर्य-समप्रभं हृदये ध्यायेदित्यर्थः। बिन्द्विति बिन्दुद्वयरूपे कुचद्वन्द्वे जवाभं जवाकुसुमसदृशरक्तवर्णम् अर्द्धचन्द्रं तदग्रे नादबिन्दू च ध्यायेदिति सम्बन्धः।

कामराज कूट का पञ्चम वर्ण 'ल'कार है। यह इन्द्रबीज है। शरीर चक्र में इस 'ल'कार की स्थिति सहस्रार के दलाग्र में विलासशील षोडश चन्द्रकलाओं के मध्य मानी गई है।

इसका षष्ठ घटक है—'ह्रीं'कार, जो ॐ (प्रणव) कार का ही भेद है। कोटि-कोटि सूर्यों के समान कान्ति वाले इस घटक का ध्यान हृदयमध्य में किया जाना चाहिए।

'ह्रीं'कार में जो अर्धचन्द्र है, उसका वर्ण जवा-फूल के समान लाल है। इनका ध्यान दोनों स्तनों में तथा नाद-बिन्दु का ध्यान इसके आगे अर्थात् ऊर्ध्वप्रदेश में किया जाना चाहिये। यह नाद-बिन्दु शिव-शक्ति-समन्वित है।

'कामराज कूट' महाबीज है। इसमें चुम्बकीय आकर्षण है। कामराज कूट 'महाबीज' की साधना करने से साधक को कामदेव के समान आकर्षण शक्ति प्राप्त होती है॥११०-११२॥

[शक्तिकूटार्थः]

नाभिपद्मत्रिकोणे च दाडिमाभं सकारकम्।
पद्मद्वयप्रकोष्ठे च मादनं पीतसन्निभम्।।११३।।

अथ स क ल ह्रीमिति शक्तिकूटं व्याचक्षाणः प्रथमं सकारं व्याचष्टे—**नाभीत्यादिना**; नाभिपद्मत्रिकोणे इत्यर्थः। दाडिमाभं रक्तवर्णं सकारं परिचिन्तये-दित्यर्थः।

इन दो श्लोकों में शक्तिकूट के घटक वर्णों की शरीरचक्र में स्थिति बताई गई है। शक्तिकूट का प्रथम वर्ण है—'स'कार। यह सकार अनार के समान रक्तवर्ण का है। इसका ध्यान नाभिक्षेत्रवर्ती मणिपूरक चक्र के त्रिकोण में करना चाहिए।

शक्तिकूट (सकलह्रीं) का दूसरा वर्ण 'क'कार है। इसका वर्ण पीला है। पद्मद्वय के प्रकोष्ठ में 'क'कार का ध्यान करना चाहिये॥११३॥

पृष्ठोपस्थकयोश्चैवं शक्रं तेजःस्वरूपिणम्।
चतुर्थीं योनिमध्ये तु दीपितां परिचिन्तयेत्।।११४।।

चतुर्थीं ह्रीमिति बीजम्। पूर्वमेव व्याख्यातमन्यदिति नात्र पुनः प्रपञ्च्यते।

तृतीय घटक वर्ण इन्द्रबीज 'ल'कार है। पृष्ठ-उपस्थ के मध्य में 'ल'कार का और योनि के मध्य में चतुर्थ घटक 'ह्रीं' का ध्यान करना चाहिये।।१४।।

शिवस्यापि च यद् बीजं तदण्डयुगलं भवेत्।
देव्या बीजञ्च परमं योनित्वेन विचिन्तयेत्।।११५।।

इस वामकेशी विद्या में जो शिवबीज हैं, उनका अण्ड-युगल के रूप में और देवीबीज का परम योनि के रूप में ध्यान करना चाहिए। शिवबीज का अर्थ है—शिव के वर्ण और देवीबीज का अर्थ है—देवी के वर्ण।

विमर्श—तन्त्रान्तर के अनुसार इस पञ्चदशाक्षरी विद्या में तीनों 'क'कार और दोनों 'ह'कार शिव के तथा शेष अक्षर शक्ति के हैं। 'ह्रीं'कार उभयात्मक है—

'क'त्रयं हद्वयञ्चैव, शैवो भागः प्रकीर्तिताः।
शक्त्यक्षराणि शेषाणि, ह्रींकार उभयात्मकः।।

[अन्यादृशं ध्यानतत्त्वम्]

भूयोऽहं कथयिष्यामि ध्यानतत्त्वं समाहितः।।११६।।

अथ वामकेशीविद्याया अन्यादृशं स्वरूपमाह—**भूय इत्यादिना। ध्यानतत्त्व-मिति।** ध्यानं स्वरूपचिन्ता तस्य तत्त्वं याथार्थ्यम्। मन्त्रदेवतयोरभेदस्य सर्वागमप्रसिद्धत्वेन तत्तन्मन्त्रघटकवर्णानां कया रीत्या तत्तद्देवतावाचकत्वं येन तयोरभेदः साधकैरनुभूयेत इत्येतच्चिन्तनमेव ध्यानं तस्य तत्त्वमित्यर्थः। समाहित इति विक्षिप्ते चेतसि सूक्ष्मातिसूक्ष्मतया दुरधिगमस्य ध्यानतत्त्वस्य प्रवेशासम्भवात् समाहित इत्युक्तम्। एतेन समाहितचेतसामेव ध्यानतत्त्वं कथञ्चिदनुभवगोचरतामवगाहते नेतरेषामिति सूचितम्।

वामकेशी विद्या के अन्य स्वरूप का निरूपण करूँगा; ताकि साधक को ध्यानतत्त्व की प्राप्ति हो। एतदर्थ यह जानना आवश्यक है कि ध्यानतत्त्व क्या है? यह तो सर्वविदित है कि मन्त्र और देवता के मध्य वाच्य-वाचक सम्बन्ध होता है। मन्त्र देवता के वर्णविग्रह हैं, जिससे देवता की अभिव्यञ्जना होती है। जिस विधि या रीति से साधक को मन्त्र के घटक वर्णों के माध्यम से देवता के तत्त्वरूप की प्रतीति होती है, वह ध्यान है। समाहित एवं एकाग्रचित्त से ही देवतत्त्व का ध्यान किया जा सकता है और वह भी उस समय, जबकि मन्त्र के घटक वर्णों का स्पष्ट ज्ञान हो।।११६।।

[तत्र कामराजकूटार्थः]

कामराजे महाकूटे सृष्टिस्थितिशिवद्वयम्।
शक्तिबीजन्तु तत्रैव शङ्करस्य त्रिनेत्रकम्।।११७।।

हकारः सृष्टिरूपत्वाद् दद्यादैश्वर्यमष्टधा।
द्वितीयः स्थितिरूपत्वान्महाभोगं प्रयच्छति।।११८।।

तत्र पञ्चदशाक्षरशाम्भवकामराजविद्यायाः कामराजकूटघटकवर्णानामर्थान् विविनक्ति—**कामराज इति।** कामराजकूटघटकवर्णाः ह स क ह ल ह्रीमिति षट्। तत्र हकारद्वयार्थमाह—**सृष्टीत्यादिना।** शिवद्वयं हकारद्वयं सृष्टिस्थितिरूपम्, तत्र प्रथमो हकारः, सृष्टिरूपो द्वितीयः स्थितिरूपः। तदुक्तं सौभाग्यसुभगोदये—

> अत्र कलमध्यस्थितो हकारः स्थितिस्वरूपत्वम्।
> अस्य द्योतयति परं स्थितिरूपं संविदम्बिकाकारः। इति।

एवञ्चानयोः सृष्टिस्थितिरूपत्वाभिधानाद् ब्रह्मविष्णुशक्तिस्वरूपत्वमवगन्तव्यम्। **शक्तिबीजन्त्विति।** शक्तिबीजं निरुक्तकूटघटकवर्णानामन्यतमः सकारः शङ्करस्य त्रिनेत्रकं तृतीयनेत्रस्वरूपः संहाररूप इत्यर्थः। एतेन सकारोऽयं संहारिणी रौद्री शक्तिरित्यवगम्यते। कूटत्रयस्थितककारत्रयस्य स्वरूपन्त्वग्रे वक्ष्यति।

निरुक्तवर्णानां सृष्ट्यादिरूपत्वमभिधाय तत्फलमाह—**हकार इत्यादिना।** ऐश्वर्यमष्टधेत्यणिमाद्यष्टैश्वर्याणीत्यर्थः। द्वितीय इति। द्वितीयो हकार इत्यर्थः। स्थितिरूपतया द्वितीयहकारस्य भोगसाधकत्वमित्यर्थः।

इन श्लोकों में कामराज कूट के घटक वर्णों का अर्थ बताया गया है। कामराज कूट (हसकहलह्रीं) में दो हकार हैं। ये दोनों 'ह'कार शिवस्वरूप हैं। प्रथम हकार सृष्टिरूप और द्वितीय 'ह'कार स्थितिरूप है। इस प्रकार सृष्टि और स्थितिरूप होने के कारण इन्हें ब्रह्मा और विष्णु शक्तिस्वरूप समझना चाहिए। इस कूट के घटक वर्ण 'स'कार को यदि देवी या शक्तिबीज समझा जाय तो वह शिव की संहारकारिणी तृतीया रौद्री शक्ति होगी।

इनमें जो प्रथम 'ह'कार है, वह सृष्टिरूप होने के कारण अणिमा आदि अष्टसिद्धिस्वरूप ऐश्वर्य प्रदान करने वाला है।

द्वितीय 'ह'कार स्थितिरूप होने के कारण महाभोग प्रदान करता है।।११८।।

सकारः सृष्टिरूपत्वात्तेषु भोगं नियच्छति।
त्रिकूटत्रयह्रींकारं देव्या नेत्रत्रयं शुभम्।।११९।।

सकार इति। अथेदानीं कूटत्रयान्त्यभूते ह्रींकारत्रयं व्याचष्टे—**त्रिकूटेत्यादिना।**

इस कामराज कूट का 'स'कार सृष्टिरूप होने के कारण तेषु (उनमें) अर्थात् भोक्ताओं में भोग का सामर्थ्य—भोग की शक्ति प्रदान करता है। तीनों कूटों में जो 'ह्रीं'कार है, वह देवी के नेत्रत्रय के समान है।।११९।।

विमर्श—भोग के लिये दो चीजें आवश्यक हैं। इनमें से एक है—भोग की वस्तुयें, जो स्थितिरूपा हैं और दूसरी है—भोक्ताओं में भोग करने की शक्ति, जो सृष्टिरूपा है। यदि भोगसामग्री हो तथा भोक्ता न हो अथवा उनमें भोग की शक्ति न हो तो भोगसामग्री की कुछ भी सार्थकता नहीं है। इसी प्रकार यदि भोक्ता हों तथा उनमें भोग की शक्ति भी हो; लेकिन भोगसामग्री न हो तो भोग-शक्ति की कोई सार्थकता नहीं है।

[वाग्भवकूटस्थमायाबीजार्कः]

हकारः शाम्भवो भावो रेफोऽप्रतिहतद्युतिः।
रेफाच्चैव महामाया सर्वव्याप्तिं प्रयच्छति।।१२०।।

एवं सामान्यतः कूटत्रयस्थितस्य ह्रींकारत्रयस्य स्वरूपमभिधाय कूटभेदेनास्याः स्वरूपमाह—**हकार इत्यादिना।** शाम्भवो भावः परशिवसत्त्वानतिरिक्तसत्त्वाकत्वम्, परशिवसामरस्यरूपत्वमिति यावत् हकारस्येत्यर्थः। **रेफ इति।** रेफः ह्रींबीजघटको रकारः अप्रतिहतद्युतिः मायानभिभूततेजःप्रसरः। **रेफादिति।** रेफात् परिवर्त्तिनी महामाया ईकारः सर्वव्याप्तिं प्रयच्छति। तया च परशिवसामरस्यरूपा भगवत्य-प्रतिहततेजःप्रसरा शिवादिक्षित्यन्तषट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकं सर्वं जगद् व्याप्य तिष्ठतीति वाग्भवकूटघटकह्रींकारार्थः।

तन्त्रान्तर में कहा गया है—'ह्रीङ्कारः उभयात्मकः' अर्थात् कादि विद्या में 'ह्रीं'कार शिव और शक्ति का सम्मिलित स्वरूप है। 'ह्रीं'कार में शिव और शक्ति के घटक वर्ण हैं। अगले चार श्लोकों में प्रत्येक कूट के 'ह्रीं'कार में शिव एवं शक्ति के वाचक घटक वर्णों तथा उनके फलितार्थों का निरूपण किया गया है।

'ह्रीं'कार के प्रमुख घटक वर्ण तीन हैं—'ह'कार-'र'कार और 'ई'कार। वाग्भव कूट में जो 'ह्रीं' है, इसका 'ह'कार शाम्भव भाव अर्थात् परिशुद्धतम परशिव के सत्वात्मकता का द्योतक है। 'ई'कार महामाया है, जो 'र'कार से प्रसार प्राप्त करके शिव से क्षिति (पृथ्वी)-पर्यन्त समस्त ३६ तत्त्वों में व्याप्त होकर प्रतिष्ठित है॥१२०॥

[कामराजकूटस्थमायाबीजार्थः]

कामराजस्य ह्रींकारे फलं वक्ष्यामि तत्परम्।।१२१।।
हकारो लयरूपत्वात् संहरेद् भेदसन्ततिम्।
रेफः कालाग्निरूपत्वात् पापौघक्षयकारकः।
महामाया कामकला चिदानन्दप्रकाशिका।।१२२।।

अथ कामराजकूटस्य ह्रींकारं व्याचष्टे—**कामराजस्येत्यादिना। हकार इति।** लयरूपत्वात् संहाररूपत्वात्। हकारस्य संहाररूपत्वं शिवबीजत्वेन। तथा चायं संहाररूपी हकारो भेदसन्ततिं षट्त्रिंशत्तत्त्वपरशक्त्योर्भेदज्ञानं संहरेदित्यर्थः। **रेफ इति।**

कालाग्निस्वरूपतया पापसमूहं दहतीत्यर्थः। **महामायेति।** महामाया ईकारः, कामकला तुरीयचैतन्यस्वरूपा अत एव चिदानन्दप्रकाशिका। तथा च कामराजकूट–ह्रींकारः सकलभेदज्ञाननिरसनपुरःसरं पापराशिं भस्मसात् कृत्वा चिदानन्दमयब्रह्मस्वरूपं साधकहृदये प्रकाशयतीति फलितार्थः।

कामराज कूट के 'ह्रीं'कार में जो 'ह'कार है, वह लयरूप होने के कारण शिवबीज है। संहारकारी रुद्ररूप होने के कारण वह 'भेद-सन्तति' अर्थात् शिव से पृथ्वी-पर्यन्त तत्त्वों का जो भेदज्ञान है, उसका संहार करता है। 'र'कार कालाग्नि रुद्रस्वरूप है, जो पाप-समूहों का नाश करता है। जब जन्म-जन्म की पापराशि का विनाश हो जाता है तथा भेद-ज्ञान की समाप्ति होकर अभेदज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, तब 'ई'काररूपा महामाया साधक के हृदय में चिदानन्दमय ब्रह्मस्वरूप को प्रकाशित कर देती हैं। इस तरह कामराजकूट का 'ह्रीं'कार अद्वैत ज्ञान का प्रतिष्ठापक और ब्रह्मानन्द का प्रकाशक है॥१२१-१२२॥

[शक्तिकूटस्थमायाबीजार्थ:]

शक्तिबीजस्य ह्रींकार एतदेव फलं लभेत्।
हकारो हन्ति वै मृत्युं रेफः सर्वप्रकाशकः।।१२३।।
चिदानन्दमयी माया चिदैक्यं परिभावयेत्।
देव्या नेत्रत्रयं प्रोक्तं—

एवं कामराजस्य ह्रींकारं व्याख्याय शक्तिकूटस्थं ह्रींकारं व्याचष्टे—**शक्तिबीजस्येत्यादिना।** एतदेवेति वक्ष्यमाणरूपम्। तदेवाह—**हकार इत्यादिना।** हकारो मृत्युं हन्ति तस्य यमपाशसंयमनकृतं मरणं न भवतीत्यर्थः। रेफः सर्वप्रकाशकः प्रकाशविमर्षात्मकं सर्वं प्रकाशयतीत्यर्थः। **चिदिति।** चिदानन्दमयी ज्ञानानन्दस्वरूपा माया ईकारः चिदैक्यं चिदात्मकेन ब्रह्मणा ऐक्यमभेदं परिभावयेत् सम्पादयेदित्यर्थः।

तथा चायं ह्रींकारो मरणदुःखमपाकृत्य सर्वं खल्विदं ब्रह्मेतिश्रुतिप्रतिपादित-ब्रह्मस्वरूपतां प्रकाश्य चिदानन्दस्वरूपत्वमवगमयतीति फलितार्थः।

शक्तिकूट के 'ह्री'कार का 'ह'कार मृत्यु का नाशक, रेफ अर्थात् 'र'कार सर्वप्रकाशक और चिदानन्दमयी महामाया अर्थात् 'ई'कार चिदैक्य-प्रदायिनी है। इस तरह देवी के नेत्रत्रयरूप 'ह्रीं'कार का विभूति-वर्णन पूर्ण हुआ॥१२३-१२४॥

विमर्श—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'—जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु निश्चित है। अतः 'मृत्यु के नाश' का तात्पर्य यह हुआ कि साधक आत्मा जन्म-मृत्यु के चक्र से ही मुक्त हो गई। जब जन्म ही नहीं होगा, मृत्यु क्योंकर होगी?

रेफः सर्वप्रकाशकः—रेफ अर्थात् 'र'कार प्रकाश एवं विमर्षरूप पारमार्थिक एवं जागतिक रहस्यों का बोध कराकर ब्रह्मरूप परम सत्य को प्रकाशित कर देता है।

'ई'कार रूपा महामाया स्वयं ही ज्ञानानन्दस्वरूपा है, वह ब्रह्मज्ञानी साधक आत्मा का चिदात्मक ब्रह्म के साथ ऐक्य का सम्पादन करती है अर्थात् अंशरूप आत्मा का अंशी ब्रह्म में विलय कर देती है।

[कूटत्रयस्थलकारत्रयार्था:]

—शेषञ्च कथयाम्यथ।।१२४।।

लकारोऽपीन्द्ररूपत्वान्महैश्वर्यं प्रयच्छति।
लकारः पृथिवीशत्वाद्रूपैश्वर्यकरः सदा।।१२५।।
लकारो महदैश्वर्यं मोक्षरूपं प्रयच्छति।
शक्रस्त्रिभुवने राजा त्रिकूटेषु व्यवस्थितः।।१२६।।

अथ त्रिकूटेष्ववस्थितानामपरेषामपि वर्णानामर्थान् वक्तुं प्रतिजानीते—**शेषञ्चेत्यादिना**। अत्र प्रथमं वाग्भवकूटस्थं लकारं व्याचष्टे—**लकारोऽपीत्यादिना**। इन्द्ररूपत्वात् इन्द्रबीजत्वात् लकारो निरतिशयमैश्वर्यं प्रयच्छति। इन्द्रस्य परमैश्वर्याधीश्वरत्वात्तद्बीजस्य परमैश्वर्यदानदाक्ष्यं सुतरामुपपद्यत इति भावः। अथ द्वितीयकूटस्थं लकारमाह—**लकारः पृथिवीशत्वादित्यादिना**। तृतीयकूटस्थं लकारं व्याचष्टे—**लकार इत्यादिना**। फलितमाह—**शक्र इत्यादिना**।

'शेषञ्च कथयाम्यथ' अर्थात् तीनों कूटों के शेष अन्य वर्णों की विभूतियों का निरूपण करूँगा। शेष वर्ण 'ल'कार है। तीनों कूटों में जो 'ल'कार है, उसमें से वाग्भव कूट (कएईलह्रीं) का 'ल'कार इन्द्ररूप है। भगवान् इन्द्र देवताओं के राजा हैं; अत: इन्द्ररूप होने के कारण वाग्भव कूट का 'ल'कार ऐश्वर्य देने वाला है।

कामराज कूट (हसकहलह्रीं) का 'ल'कार पृथिवी-बीज है। पृथ्वी-बीज होने के कारण 'पृथिवीशत्व' अर्थात् राज्य आदि वैभव प्रदान करता है।

शक्तिकूट (सकलह्रीं) का 'ल'कार मोक्षरूप महद् ऐश्वर्य प्रदान करता है। इस तरह तीनों कूटों में स्थित 'ल'कार जागतिक एवं पारमार्थिक ऐश्वर्य प्रदान करने वाले हैं॥१२५-१२६॥

[कूटत्रयस्थककारार्था:]

कूटत्रये ककारे च कामस्त्रिभुवनेश्वरः।
चिदानन्दमयं रूपं प्रयच्छति न संशयः।।१२७।।

ककारः कामरूपत्वात् महाकान्तिं प्रयच्छति।
तत्त्वातीतं पदं पश्चात् ककारो मस्तकान्तकः।।१२८।।

अथ कूटत्रयेऽवस्थितस्य ककारत्रयस्य स्वरूपमभिदधानः प्रथमं वाग्भवकूटस्थं ककारं व्याचष्टे—ककार इत्यादिना। ककारेऽर्थाद् वाग्भवकूटस्थिते ककारे स्थितः

कामः ककारस्य कामबीजत्वात्तत्र कामस्य स्थितिरुपपद्यते। त्रिभुवनेश्वरः। त्रिभुवनेशितृत्वाच्च अनिर्वचनीयचिदानन्दमयत्वस्य तत्राव्यभिचाराच्चिदानन्दमयं रूपं स्वरूपं प्रयच्छति साधकायेति शेषः। अथ द्वितीयं कामराजकूटस्थं ककारं व्याचष्टे—**ककार इत्यादिना।** कामरूपत्वाद् वाच्यवाचकयोरभेदेन कामस्वरूपत्वात् महाकान्तिं प्रयच्छतीति सम्बन्धः। तथा च ककारस्य निरुपमसौन्दर्यास्पदीभूतकामदेवरूपार्थबोधकतया तस्यालौकिककान्तिदानदाक्ष्यमुपपद्यत इति भावः। अथ तृतीयं शक्तिकूटस्थं ककारं व्याचष्टे—**तत्त्वातीतमित्यादिना।** तथा च शक्तिकूटस्थितः ककारस्तत्त्वातीतं पदं परं ब्रह्मरूपं पदं निर्वाणमुक्तिमित्यर्थः, प्रयच्छतीति सम्बन्धः।

तीनों कूटों में अवस्थित 'क'कारत्रय में तीनों लोकों के स्वामी 'कामदेव' का वास है। कामदेव को मूर्तिमान् सौन्दर्य कहा गया है। वह त्रिभुवन-स्वामी होने के कारण अनिर्वचनीय आनन्द का भी स्वामी है। अतः वाग्भव कूट में स्थित 'क'कार साधक को अनिर्वचनीय आनन्द तथा कामराज कूट-स्थित 'क'कार साधक को महाकान्ति प्रदान करता है। शक्तिकूट का 'क'कार साधक को तत्त्वातीत अर्थात् ब्रह्मपद प्रदान करता है॥१२७-१२८॥

[अस्याः सर्वयोनित्वम्]

योनिरेषा महाकामा शक्तिरेषा प्रकीर्त्तिता।
एतादृशी महाविद्या अर्द्धनारीश्वरः शिवः॥१२९॥

यह विद्या सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की जन्मदात्री है, उसके समान कोई अन्य विद्या नहीं है। अन्य मन्त्रों में केवल एक देवता या शक्ति होती है। यह विद्या अर्धनारीश्वर शिवस्वरूप है॥१२९॥

[सौभाग्यामन्त्रार्थः]

सौभाग्याया बीजभेदं वक्ष्यामि परमाद्भुतम्॥१३०॥
आद्यन्ते च हकारौ द्वौ मध्ये द्वौ च हकारकौ।
चतुर्वेदः शिवः शम्भुश्चतुर्दिक्षु व्यवस्थितः॥१३१॥
प्रथमे मध्यमे कूटे ककारौ च प्रकीर्त्तितौ।
शक्तिकूटे ककारौ द्वौ ब्रह्मणस्तु चतुर्मुखम्॥१३२॥
त्रिकूटेष्विन्द्रबीजन्तु त्रिकोणा पृथिवी परा।
त्रिपुरा च महामाया शक्तिरेका प्रकीर्त्तिता॥१३३॥

पूर्वमेकादशे प्रकाशे 'अथ वक्ष्यामि सौभाग्यामि'त्यादिना (५९–६० श्लो०) या पञ्चदशाक्षरी सौभाग्याविद्या प्रदर्शिता तस्यास्त्रिकूटघटकानामक्षराणां स्वरूपं निर्वक्ति—

सौभाग्याया इत्यादिना। बीजभेदमिति। बीजानामर्थभेदमित्यर्थः। **आद्यन्त इति।** आदौ स ह क ल ह्रीमिति वाग्भवकूटे एको हकारः क ह क ल ह्रीमिति अन्ते शक्तिकूटे चापर इति कूटद्वये द्वौ हकारावित्यर्थः। तथा मध्ये ह क ह ल ह्रीमिति कामराजकूटे द्वौ हकाराविति मिलित्वा चत्वारो हकाराः। एतेषां स्वरूपमाह—**चतुर्वेद** इत्यादिना।

अथ ककारचतुष्टयं व्याचष्टे—**प्रथम इत्यादिना।** प्रथमे वाग्भवकूटे मध्यमे कामराजकूटे च पूर्वोपदर्शिते। द्वौ ककारौ तथा शक्तिकूटे द्वाविति चत्वारः ककाराः। तेषां स्वरूपमाह—**ब्रह्मणस्त्विति।** ककारस्य ब्रह्मबीजतयाऽत्र ककारचतुष्टयं ब्रह्मणो मुखचतुष्टयस्वरूपमित्यर्थः। अथ त्रिकूटस्थ-लकारत्रयं व्याचष्टे—**त्रिकूटेष्वित्यादिना।** त्रिकूटेपु इन्द्रबीजं लकारत्रयं त्रिकोणपृथिवीस्वरूपमित्यर्थः। **त्रिपुरेति।** महामाया ह्रीमिति बीजत्रयं तथा एका शक्तिः सकारस्त्रिपुरा प्रकीर्त्तितेत्यर्थः।

शाम्भव कामराज विद्या के घटक वर्णों की विभूतियों का निरूपण करने के बाद इन चार श्लोकों में 'सौभाग्या विद्या' के घटक वर्णों की विभूतियों का वर्णन किया जा रहा है। 'सौभाग्या विद्या' का उद्धार एकादश प्रकाश (श्लोक ५९) में बताया गया है। इसका स्वरूप है—सहकलह्रीं हकहलह्रीं कहकलह्रीं।

इस विद्या के प्रथम और अन्तिम कूट में एक-एक करके दो तथा मध्य कूट में दो—इस तरह इस विद्या में चार 'शिव' ('ह'कार) हैं। ये चारो हकार चारो वेद के स्वरूप हैं तथा चारो दिशाओं में व्यवस्थित हैं।

'ह'कार के बाद 'क'कार। इस विद्या के प्रथम और द्वितीय कूट में एक-एक तथा तृतीय कूट में दो—इस तरह कुल चार 'क'कार हैं, जो प्रजापिता 'ब्रह्मा'-स्वरूप हैं।

इस विद्या के तीनों कूटों में एक-एक कर तीन 'ल'कार हैं। ये 'ल'कारत्रय त्रिकोण पृथिवी-स्वरूप हैं।

तीनों कूटों में एक-एक कर जो तीन 'ह्रीं'कार हैं, वे एकमात्र शक्ति 'त्रिपुरा' के पर्याय हैं॥१३०-१३३॥

[एतद्विद्याज्ञानफलम्]

यो जानाति महाविद्यां सौभाग्यां परमाक्षरीम्।
स स्वर्गभागी मुक्तश्च देवीपुत्रो महीतले॥१३४॥

इति श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचिते श्रीतत्त्वचिन्तामणौ द्वादशः प्रकाशः॥१२॥

य इति। परमाक्षरीं परः परशिवस्तेन मा मानं येषां तथाभूतान्यक्षराणि यत्र तादृशीं शिवशक्तिसामरस्यरूपां निरुक्तपञ्चदशाक्षरीं यो जानातीति सम्बन्धः।

जो व्यक्ति इस परमाक्षरी सौभाग्या विद्या को जानता है, वह इस मृत्युलोक में देवीपुत्र के समान जीवनमुक्त है तथा इस लोक को छोड़ने पर वह स्वर्गलोक को प्राप्त करेगा॥१३४॥

सारसंक्षेप

इस प्रकाश में नौ अक्षरी मेरु मन्त्रसहित भगवती त्रिपुरा के मन्त्रभेद बताये गये हैं। ये मन्त्र मनु आदि देवताओं तथा ऋषियों द्वारा आराधित हैं।

१. मेरुमन्त्र—ल स ह ई ए र क अर्धचन्द्र ँ और बिन्दु ं।

२. मनुपूजिता विद्या—कहएईलह्रीं हकएईलह्रीं सकएईलह्रीं।

३. चन्द्र-आराधिता विद्या—सहकएईलह्रीं सहकहएईलह्रीं सहकएईलह्रीं।

४. कुबेर-आराधिता विद्या—हसकएईलह्रीं हसकहएईलह्रीं हसकएईलह्रीं।

५. कामदेव-आराधिता विद्या—कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं।

६. अगस्त्य-पूजिता लोपामुद्रा—हसकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं।

७. नन्दिपूजिता विद्या—सएईलह्रीं सहकहलह्रीं सकलह्रीं।

८. सूर्य-आराधिता—हसकलह्रीं सहकलह्रीं सहकलह्रीं।

९. षट्कूटा विष्णुपूजिता—हसकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं सहकलह्रीं सहकसलह्रीं हसकलह्रीं।

१०. स्कन्द-आराधिता—हसकलह्रीं सकहलह्रीं सहकसलह्रीं।

११. शंकरोपासिता चतुष्कूटा—कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सहसकलह्रीं कएइलहसकहलसहसकलह्रीं।

१२. दुर्वाससाराधिता विद्या—कएईलहरी हसकहलहरी सकलहरी।

त्रिपुरा विद्या के ये शुद्ध भेद हैं। तन्त्रशास्त्र में बताये गये अन्य शबलभेद इस प्रकार हैं—

(१) चन्द्र आराधिता द्वितीया विद्या—हसकएईलह्रीं सहकएईलह्रीं सहकएईलह्रीं।

(२) कुबेर आराधिता विद्या—हसकएईलह्रीं हसकह्एईलह्रीं हकहएईलह्रीं।

(३) द्वितीया नन्दिपूजिता—हसकलह्रीं सहकहलह्रीं सहकसकलह्रीं।

(४) द्वितीया विष्णुपूजिता—सहलह्रीं सहकसलह्रीं सकलह्रीं।

(५) द्वितीया स्कन्द आराधिता—हसएकलह्रीं हसएकलह्रीं हसएकलह्रीं।

(६) द्वितीया शिवपूजिता—कएईलहसह्रीं हसकहलहसह्रीं सहसकललसह्रीं।

(७) अगस्त्य पूजिता द्वितीया लोपामुद्रा—कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सहसकलह्रीं।

(८) इन्द्रपूजिता द्वितीया विद्या—सहकलह्रीं सहकलह्रीं सहकलह्रीं।

(९) उन्मनी विद्या—कएईहलह्रीं हकहलह्रीं सकरलह्रीं।

(१०) वरुणपूजिता—कएईलह्रीं हकहलह्रीं सहकलह्रीं।

(११) धर्मराजपूजिता—कएकलह्रीं हकहलह्रीं सहकलह्रीं।

(१२) अग्निपूजिता—कसकरह्रीं हसलकहलह्रीं सकलरह्रीं।

(१३) पन्नगराज पूजिता—कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलरह्रीं।

(१४) वायुपूजिता—कएररलरह्रीं हकलरहलह्रीं सरकलरह्रीं।

(१५) सोमपूजिता (चन्द्र आराधिता)—कएईरलह्रीं हकललरह्रीं सहकलरह्रीं।

(१६) ईशान-आराधिता—कहलह्रीं हकहललह्रीं सकलह्रीं।

(१७) रति-पूजिता—कएईसकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं।

(१८) नारायण-आराधिता षट्कूटा—कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं सकलह्रीं हसकहलह्रीं कएईलह्रीं।

(१९) ब्रह्मा-पूजिता—ईएकलह्रीं हकहलह्रीं कएईलह्रीं।

(२०) बृहस्पति-पूजिता—कएईलह्रीं हकहलह्रीं कएईलह्रीं।

त्रिपुरा विद्या के उपर्युक्त मन्त्रभेदों के साथ ही इस प्रकाश में पञ्चमी और त्रिकूटा विद्याओं के कई दीपनी मन्त्र भी बताए गये हैं।

श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचित श्रीतत्त्वचिन्तामणि के द्वादश प्रकाश का
'भावना'-भाष्य पूर्ण हुआ।।१२।।

●

त्रयोदशः प्रकाशः

[षोडशीविद्यानिर्वचनम्]

[षोडशीस्वरूपनिरूपणप्रतिज्ञा]

अथ वक्ष्यामि तां विद्यां सर्वाद्यां सर्वसिद्धिदाम्।
शब्दब्रह्ममयीं नित्यां षोडशार्णस्वरूपिणीम्।
ब्रह्मविद्यास्वरूपाञ्च भुक्तिमुक्तिफलप्रदाम्।।१।।

एवं दशमैकादशद्वादशपटलैः श्रीविद्यामन्त्रान् विस्तरतः प्रतिपाद्य पटलेऽस्मिन् पूर्वोपदर्शितषोडशीं विशेषतो निर्वक्ति—**अथेत्यादिना।**

षोडशी विद्यानिर्वचन—प्रस्तुत ग्रन्थ के एतत् पूर्ववर्ती दशम, एकादश और द्वादश प्रकाशों में श्रीविद्या के मन्त्रों का विस्तार से प्रतिपादन करने के बाद इस प्रकाश में षोडशी विद्या का निरूपण किया जा रहा है।

यह षोडशी विद्या 'सर्वाद्या' अर्थात् सभी विद्याओं के मन्त्रों में प्रथम है। सभी प्रकार की सिद्धियाँ तथा भुक्ति और मुक्तिरूप इहलौकिक एवं पारलौकिक फल देने वाली है। यह शब्दब्रह्ममयी और ब्रह्मविद्या-स्वरूपा है।।१।।

[दीक्षामन्तरेण श्रीविद्याजपे दोषः]

विना गुरूपदेशेन श्रीविद्यां यो जपेद् बुधः।
योगिनीनां भवेद् भक्ष्यः श्रीगुरोः शासनादपि।।२।।

इस विद्या की साधना सक्षम एवं अधिकारी 'गुरुदेव' से इस विद्या की विधिवत् दीक्षा लेकर ही करनी चाहिए। यदि दीक्षा के बिना कोई व्यक्ति इस विद्या की साधना करता है तो योगिनियाँ उसका भक्षण कर लेती हैं। वैसे तो सभी मन्त्रों की साधना के लिये दीक्षा आवश्यक है, परन्तु षोडशी विद्या के साथ इसकी अनिवार्यता का कारण इसकी दीक्षा पाने की वह कसौटी है, जिस पर सभी व्यक्ति खरे नहीं उतर सकते।।२।।

[अनधिकारिणे श्रीविद्यादाननिषेधः]

षोडशार्णां महाविद्यां न दद्याद् यस्य कस्यचित्।
राज्यं देयं धनं देयं वरं नेयं कदाचन।।३।।
प्रकाशात् सिद्धिहानिः स्यादित्याज्ञा शम्भुना कृता।।४।।

राज्ञे राज्यप्रदायापि पुत्राय प्राणदाय च।
देयन्तु सर्वसाम्राज्यं पुत्रं मित्रं कलत्रकम्।
शिरोऽपि प्राणसहितं न देया षोडशाक्षरी।।५।।

[अस्या रहस्यत्वम्]

गोपितव्या महाविद्या स्वयोनिरिव सर्वदा।।६।।

षोडशार्णामिति। वरं राज्यं देयं धनं देयमियं कदाचन न देयेत्यर्थ:।

किसी भी व्यक्ति को राज्य दिया जा सकता है, धन दिया जा सकता है, लेकिन हर किसी को षोडशी विद्या की दीक्षा नहीं दी जा सकती। राज्य प्रदान करने वाले राजा को, प्राण समर्पित करने वाले पुत्र को, मित्र को, पत्नी को शिरसहित प्राण दिये जा सकते हैं; लेकिन यदि वे अधिकारी नहीं हैं तो उन्हें षोडशी विद्या की दीक्षा नहीं दी जा सकती। भगवान् शिव का कठोर आदेश है कि इसका प्रकाशन करने से सिद्धि की हानि होती है। अत: इसे हमेशा अपनी योनि के समान गुप्त ही रखना चाहिए।।३-६।।

जब इसकी दीक्षा की शर्तें इतनी कठोर हैं तो फिर इसकी दीक्षा किसे दी जाए अथवा इसकी दीक्षा का अधिकारी कौन है? इस प्रश्न का समाधान अगले श्लोक में किया गया है—

[गुरुभक्ताय देयत्वम्]

उदके लवणं लीनं यथा भवति वै तथा।
मनो भवति वै लीनं पादयो: श्रीगुरोर्यदि।
तदा देया महाविद्या कृपया षोडशाक्षरी।।७।।

जब नमक को पानी में डाला जाता है तो वह अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को खोकर पूर्णत: जल में विलीन हो जाता है। उसी तरह जिस व्यक्ति ने अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को गुरुदेव के चरणों में विलीन कर दिया है, वही षोडशी दीक्षा और साधना का अधिकारी है। ऐसे ही व्यक्ति को कृपापूर्वक षोडशी की दीक्षा दी जा सकती है।।७।।

विमर्श—गुरुचरणों में लीन हो जाने का तात्पर्य गुरुदेव के प्रति अन्धभक्ति नहीं है। गुरुगीता में कहा गया है—नमस्तेऽस्तु गुरवे तस्मै साक्षादिष्ट स्वरूपिणे' गुरुदेव इष्टदेवता के साक्षात् स्वरूप हैं। अत: गुरुचरणों में लीन हो जाने का अर्थ है—इष्टदेवता के चरणों में लीन होकर देवता-स्वरूप को प्राप्त कर लेना। अत: जिस साधक ने कठोर साधना के द्वारा देवतास्वरूपता प्राप्त कर ली है, वही षोडशी-दीक्षा और साधना का पात्र है।

अगले श्लोक में षोडशी विद्या की सर्वोपरि विशेषता का निरूपण किया गया है—

[षोडशीविद्याया अनुच्चार्यत्वम्]

उच्चार्यमाणा ये मन्त्रास्ते सर्वे वाचिकाः स्मृताः।
उच्चाररहितं वस्तु श्रीविद्या षोडशाक्षरी।।८।।

जो मन्त्र उच्चार्यमाण हैं अर्थात् जिनका उच्चारण किया जा सकता है, वे सभी मन्त्र वाचिक हैं—वर्णमय और अक्षरमय हैं; किन्तु यह षोडशाक्षरी श्रीविद्या उच्चारण से रहित है, इसका उच्चारण नहीं किया जा सकता।।८।।

विमर्श—षोडशाक्षरी श्रीविद्या के उच्चारण-रहित होने के कारणों का निरूपण श्रीज्ञानार्णवतन्त्र (१३/८ एवं ९) में किया गया है—

सवर्णाऽपि वरारोहे वस्तु साक्षान्निरक्षरम्।
भृङ्गोपभुक्तपुष्पं तु शिवयोग्यं यथा भवेत्।।८।।
तथा निरक्षरं वस्तु ह्यक्षरैरपि संयुतम्।
उदके लिखितं यद्वन्मन्त्रोच्चारस्तथा भवेत्।।९।।

प्रयोग की गई अर्थात् उपभोग की गई कोई भी वस्तु उच्छिष्ट होने के कारण देवता को समर्पित नहीं की जा सकती; परन्तु भ्रमर द्वारा रस चूसा हुआ पुष्प देवता को चढ़ाया जाता है। रस-ग्रहणरूप उपभोग के बावजूद उसे अप्रयुक्त और अनुपयुक्त माना जाता है। इसी तरह षोडशाक्षरी श्रीविद्या अक्षरमयी अर्थात् वर्णयुक्ता होने के बावजूद वस्तुतः निरक्षर या अक्षररहिता है, वर्णातीता है। वर्णातीता होने के कारण यह अनुच्चार्य है। उच्चार्यमाण मन्त्रों की तरह इसका जप नहीं किया जा सकता। तद्गत और तल्लीन होकर उसके दिव्य पारमार्थिक तत्त्वरूप के मननरूप जप, चिन्तन और निदिध्यासन से यह षोडशाक्षरी विद्या फलवती होती है।

[अस्याश्चातुर्विध्यम्]

चतुर्विधप्रकारेण कथयामि सुदुर्लभाम्।।९।।

अत्यन्त दुर्लभ यह षोडशी विद्या चार प्रकार से निरूपित की गई है।।९।।

[षोडशीविद्यानिर्णयः]

दक्षिणामूर्त्तिमन्त्रस्य या या विद्या समुद्धृता।
सा सा च षोडशी विद्या सकला बीजभेदतः।।१०।।

समुद्धृतेति। एकादशप्रकाशे इत्यर्थः।

दक्षिणामूर्ति संहिता से उद्धृत करके इस ग्रन्थ में जो जो त्रिकूटा आदि त्रिपुरा विद्यायें बताई गई हैं, वे सब विद्यायें बीजभेद से षोडशी विद्या बन जाती हैं।।१०।।

[विद्याया जाग्रद्रूपतासम्पादनम्]

चन्द्राद्यं वरुणान्तञ्च शक्रादिसहितं पृथक्।
वामाक्षिबिन्दुनादाढ्यं विश्वमातृकलात्मकम्।
विद्यादौ योजनादेव जाग्रद्रूपा च षोडशी।।११।।

अथ पारिभाषिकीं षोडशीमाह—**चन्द्राद्यमिति।** चन्द्रबीजं सकारस्तदाद्यं हकारः, तथा वरुणान्तं वरुणबीजं वकारस्तदन्तं शकारः। **शक्रादीति।** शक्रो लकारस्तस्यादी रकारस्तत्सहितम्। पृथगित्यनेन प्रागुक्तयोर्हकारशकारयोः प्रत्येकेन रकारयोगः सूचितः। एतेन ह्र श्र इति प्राप्तम्। **वामाक्षीति।** वामाक्षि ईकारः बिन्दुनादौ प्रसिद्धौ तैराढ्यं युक्तमित्यर्थः। पृथगित्यस्यात्रापि सम्बन्धः। एवञ्च ह्र श्र इत्येतयोः प्रत्येकेन चतुर्थस्वरनादबिन्दुयोगे ह्रीं श्रीमिति बीजद्वयं लभ्यते। **विद्यादाविति।** अत्र तन्त्रसारकृता, पारिभाषिकीं षोडशीमाह ज्ञानार्णवे इति प्रक्रम्य—

चन्द्रान्तं वरुणान्तञ्च शक्रादिसहितं पृथक्।
वामाक्षिबिन्दुनादाढ्यं विश्वमातृकलात्मकम्।
विद्यादौ योजयेद्देवि साक्षाद् ब्रह्मस्वरूपिणी।।

इत्याद्येतत्समानानुपूर्वीकं वचनद्वयमुद्धृतम्। चन्द्रान्तं हकार इति व्याख्यातञ्च। तदिह चन्द्रः सकार आद्यो यस्य हकारस्य इति बहुव्रीह्याश्रयणे चन्द्राद्यशब्देन हकार एव लभ्यते इति न ज्ञानार्णववचनविरोधः। विद्यादौ पूर्वोक्तद्वादशविद्यादाविति व्याख्यातं तन्त्रसारे। एवञ्चात्रापि प्रागुक्तमन्वाद्याराधितद्वादशविद्यानामादौ निरुक्तबीजानां योजनात् महेश्वरी षोडशी जाग्रद्रूपा भवतीत्यर्थः।

'चन्द्राद्य'—चन्द्र अर्थात् 'स'कार। चन्द्र (स) है आदि में जिसके अर्थात् 'ह'।

वरुण अर्थात् 'व'कार। वरुण (व) के अन्त वाला वर्ण अर्थात् 'श'कार।

शक्रादि—शक्र अर्थात् 'ल'कार। 'ल'कार है आदि में जिसके अर्थात् 'र'कार।

वामाक्षि अर्थात् 'ई'कार जो बिन्दु और नाद-समन्वित हो। 'ह'कार और 'श'कार को 'र'कार से युक्त करने पर रूप बना 'ह्र' और 'श्र'। इनके साथ बिन्दु-नाद समन्वित 'ई'कार को जोड़ने से दो बीज प्राप्त हुए—'ह्रीं' और 'श्रीं'।

द्वादश प्रकाश में जो द्वादश विद्याभेद बताये गये हैं, वे विद्यायें आदि में उक्त दो बीजों की योजना करने से जाग्रत् रूपा षोडशी विद्यायें बन जाती हैं।।११।।

[जाग्रद्रूपतायां साधकस्यावस्था जाग्रदवस्थास्वरूपञ्च]

उत्पत्तिर्जागरो बोधो व्यावृत्तिर्मनसः सदा।
कलाचतुष्टयं जाग्रदवस्थायां व्यवस्थितम्।।१२।।
जाग्रत् सत्त्वगुणा प्रोक्ता केवला शक्तिरूपिणी।।१३।।

देव्या जाग्रद्रूपतायां साधकस्यावस्थाचतुष्टयमाह—**उत्पत्तिरित्यादिना।**

जाग्रत् अवस्था 'सत्त्वगुणा' है अर्थात् इसमें सतोगुण की प्रधानता है। यह अवस्था शक्तिस्वरूपिणी है।

(१) उत्पत्ति, (२) जागरण, (३) बोध और (४) मन की व्यावृत्ति (विकास) जाग्रत अवस्था की चार कलायें हैं।

विमर्श—इसकी व्याख्या करते हुए 'स्वच्छन्दसंग्रह' से प्रमाण उद्धृत करके श्रीविद्यार्णव (सप्तम श्वास) में कहा गया है—

मायाबीज अर्थात् 'ह्रीं' की आदि में योजना करने से ये षोडशी विद्यायें उत्पत्तिरूपा हो जाती हैं। कूटों के आदि में 'ह्रीं' लगाने से 'मनोव्यावृत्तिरूपा' और विद्याओं के आदि में 'श्रीं' लगाने से बोधरूपा हो जाती हैं।

[त्रिकूटादिविद्यानां पञ्चकूटादित्वम्]

त्रिकूटाः सकला भेदाः पञ्चकूटा भवन्ति हि।
वैष्णवी वसुकूटा स्यादेवं नारायणी भवेत्।।१४।।

पूर्वं चन्द्राद्यमित्यादिना यद् विद्यादौ बीजद्वययोग उक्तस्तस्य फलमाह—**त्रिकूटा इत्यादि**। तन्त्रसारेऽपि—'चन्द्रान्तं वरुणान्तञ्चे'त्यादि 'साक्षाद् ब्रह्मस्वरूपिणी'-त्यन्तमभिधाय—

त्रिकूटाः सकला भेदाः पञ्चकूटा भवन्ति हि।
वैष्णवी वसुकूटा स्यात् षट्कूटा शाङ्करी भवेत्।।

इत्युक्तम्। एवञ्च प्रकृते त्रिकूटभेदानामादौ ह्रीं श्रीमित्येकाक्षरकूटद्वययोगे पञ्चकूटत्वम्। तथा षट्कूटात्मकविष्णूपासितविद्यायाः पूर्वं निरुक्तबीजद्वययोगेऽष्ट-कूटत्वम्।

यथा—ह्रीं। श्रीं। क ए ई ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं इति पञ्चकूटा। यथा—ह्रीं। श्रीं। ह स क ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं। स ह क ल ह्रीं। स ह स क ल ह्रीं। ह स क ल ह्रीं। इत्यष्टकूटा। **एवं नारायणी भवेदिति**। तन्त्रसारे षट्कूटा शाङ्करी भवेदित्यभिधानादत्र नारायणी शाङ्करीत्यर्थः। तथा चाऽगस्त्यस्य द्विधा विद्यामित्यादिना (१२।२१) या शङ्करोपासिता चतुष्कूटा विद्या प्रदर्शिता सा ह्रीं श्रीमिति बीजद्वयात्मककूटद्वययोगात् षट्कूटा भवेदिति फलितार्थः।

तथा च—ह्रीं। श्रीं। क ए ई ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स ह स क ल ह्रीं। क ए ई ल ह स क ह ल स ह स क ल ह्रीं। इति षट्कूटा। प्रागुक्तद्वादशभेदानां निरुक्तरीत्या कूटवृद्धिरिति ज्ञेयम्। षोडशाक्षरत्वव्यभिचारादेतासां पारिभाषिकषोडशीति संज्ञा। एवमन्यत्रापि।

'ह्रीं' और 'श्रीं' ये दो कूट हैं। त्रिकूटा विद्याओं के आदि में इन दो कूटों की योजना करने से वे पञ्चकूटा बन जाती हैं। यथा—ह्रीं। श्रीं। कएईलह्रीं। हसकहलह्रीं। सकलह्रीं—पाँच कूट।

षट्कूटा वैष्णवी विद्या अष्टकूटा और चतुष्कूटा शाङ्करी विद्या षट्कूटा बन जाती है। यथा—

(१) ह्रीं। श्रीं। हसकलह्रीं। हसकहलह्रीं। सकलह्रीं। सहकलह्रीं। सहसकलह्रीं। हसकलह्रीं—छः कूटा से अष्टकूटा।

(२) ह्रीं। श्रीं। कएईलह्रीं। हसकहलह्रीं। सहसकलह्रीं। कएईलहसकहलसकलह्रीं। चतुष्कूटा से षट्कूटा।

त्रिपुरा विद्या के द्वादश भेदों में से अन्य मन्त्रों के साथ इन बीजों की ऊहा कर लेनी चाहिए।

ये विद्यायें पारिभाषिक षोडशी कहलाती हैं॥१४॥

[विद्यायाः सुषुप्तिरूपता]

द्वितीयोऽयं प्रकारः स्याद् दुर्लभो भुवनत्रये॥१५॥
एषैव शिवरूपा च व्यापकत्वाच्च निश्चला।
सुषुप्तिरूपिणी साक्षाद् ब्रह्मरूपा यतो भवेत्॥१६॥

जाग्रत् के बाद दूसरी अवस्था है—सुषुप्ति। इन श्लोकों में सुषुप्तिरूप का निरूपण किया गया है। सुषुप्तिरूपिणी विद्या शिवरूपा और व्यापकता के कारण निश्चला है, गतिहीन है॥१५-१६॥

[तत्र साधकस्यावस्था]

मरणं विस्मृतिर्मूर्च्छा निद्रा च तमसावृता।
सुषुप्तेस्तु कला ज्ञेया सुषुप्तिः शिवरूपिणी॥१७॥
जाग्रद्रूपा शाम्भवी तु बीजैकविनियोजनात्।

यह सुषुप्ति अवस्था तमोगुणप्रधाना है। शिवरूपिणी है। (१) मरण, (२) विस्मृति, (३) मूर्च्छा और (४) निद्रा—इसकी चार कलायें हैं।

एक बीज के विनियोजन से जाग्रत् रूपा शाम्भवी विद्या सुषुप्तिरूपा विद्या बन जाती है॥१७॥

[विद्यायाः स्वप्नरूपता]

सुषप्त्यन्ते जागरादौ स्वप्नावस्था रजोमयी॥१८॥

सुषुप्ति के अन्त और जागरण के पूर्व अर्थात् इन दोनों अवस्थाओं के मध्य में स्वप्नावस्था होती है। यह स्वप्नावस्था रजोमयी अर्थात् रजोगुणप्रधाना है॥१८॥

[तत्र साधकस्यावस्था]

अभिलापो भ्रमश्चिन्ता विषयेषु मनःस्मृतिः।
कलाचतुष्टयं स्वप्नावस्थायान्तु विधीयते॥१९॥

(१) अभिलाप, (२) भ्रम, (३) चिन्ता और विषयों का बार-बार स्मरण इस स्वप्नावस्था की चार कलायें हैं॥१९॥

[निरुक्तपञ्चकूटात्मकविद्यानां प्रणवयोगे विशेषः]

पञ्चकूटात्मिका या या षोडशी शिवशक्तिका।
वेदादिमण्डिता सा तु शिवशक्तिमयी भवेत्॥२०॥

पञ्चकूटात्मिकेति। पूर्वं चन्द्राद्यमित्यादिना त्रिकूटाः सकला भेदा इत्यादिना चादौ मायारमायोगनिर्वाह्यपञ्चकूटात्मिका शिवशक्तिका निरूक्तबीजद्वयरूपशिवशक्तिमयी या या विद्या प्रदर्शिता, सा सा वेदादिमण्डिता वेदादिः प्रणवस्तेन मण्डिता प्रणवपूर्विका इति भावः षट्कूटाद्यात्मिका विद्या भवतीत्यर्थः। अत्रेदमवधेयम्—पूर्वं त्रिकूटानां ह्रीं श्रीमितिबीजद्वययोगेन यत् पञ्चकूटत्वमुपदर्शितं ह्रीं श्रीमित्येतयोः पूर्वं प्रणवयोगेन तासां षट्कूटत्वम्। अत्र पञ्चकूटात्मिकेत्युपलक्षणं पूर्वोपदर्शितानामष्टकूटाद्यात्मिकानां नवकूटाद्यात्मकत्वमपि साधकैरुन्नेयम्। व्यक्तमाह तन्त्रसारे—

वेदादिमण्डिता देवि शिवशक्तिमयी यदा।
तदा भेदास्तु सकलाः षट्कूटाः परमेश्वरि।
वैष्णवी नवकूटा स्यात् सप्तकूटा च शाङ्करी॥ इति।

तथा च ॐ। ह्रीं। श्रीं। क ए ई ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं। इति त्रिकूटाया भेदो दिङ्मात्रमुपदर्श्यते। अन्ये भेदास्त्वनेन क्रमेणोह्याः।

'ह्रीं' और 'श्रीं' का योग करने पर जो त्रिकूटा विद्यायें पञ्चकूटा हो जाती हैं, यदि उनके आदि में प्रणव (ॐ) की योजना की जाय तो एक कूट बढ़ जाने से षट्कूटा शिव-शक्तिमयी षोडशी विद्या बन जाती है॥२०॥

[एतदुपास्तिफलम्]

अस्या स्मरणमात्रेण गजदानशतं भवेत्।

प्रणवयुक्त षट्कूटा विद्या का जप करने से एक सौ हाथियों का दान करने का फल मिलता है।

[निगमनम्]

भेदत्रयन्तु कथितं सारात् सारतरं महत्॥२१॥

पूर्ववर्ती श्लोकों में षोडशी विद्या के जाग्रत् आदि तीन भेदों का निरूपण किया गया॥२१॥

[शाम्भवकामराज-प्रथमलोपामुद्रयोर्विशेषः]

वामकेश्याश्च लोपाया विशेषो भेद उच्यते।
समयाङ्कमहातन्त्रभेदमालक्ष्य दुर्लभः॥२२॥

वामकेशी विद्या और लोपामुद्रा विद्या के विशेष भेदों का आगे निरूपण किया जा रहा है॥२२॥

[कामराजषोडश्यास्त्रैविध्यम्]

षोडशी कामराजाख्या त्रिधा भवति बीजतः॥२३॥

आदि में तीन अलग-अलग बीजों की योजना करने से षोडशी कामराज विद्या के तीन भेद हो जाते हैं॥२३॥

[तत्र प्रथमा]

दत्त्वा गोपालबीजन्तु कामराजस्य पूर्वतः।
षोडशी कामराजाख्या कन्दर्पाराधिता मता॥२४॥

कामराज विद्या के आदि में गोपालबीज (क्लीं) लगाने से यह षोडशी विद्या कन्दर्पाराधिता विद्या कही जाती है। यह इसका प्रथम भेद है॥२४॥

[अस्याः प्रशस्तिः]

अस्याः प्रसादात् कामोऽपि त्रैलोक्यविजयान्वितः।
सर्वसौन्दर्यसुभगः कारयेत्त्रिजगद् वशम्॥२५॥

अथ कामराजषोडशीभेदानाह—दत्त्वेत्यादिना। दशमप्रकाशे 'अथ विद्यां प्रवक्ष्यामि कामदेवेन सेविताम्' इत्युपक्रम्य 'कन्दर्पो विष्णुयुक्त' इत्यादिना या शाम्भवकामराजविद्या प्रदर्शिता सैवात्र कामराजाख्येति पदेन ग्राह्या, प्रथमप्राप्तत्वात् कन्दर्पाराधितत्वश्रवणाच्च। तथा च–क ए ई ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं। इति पूर्वोपदर्शितपञ्चदशाक्षरशाम्भवकामराजविद्यायाः पूर्वतो यदि क्लीमिति गोपालबीजं योजयेत्तदैको भेदः।

इस विद्या की साधना के फलस्वरूप कामदेव ने तीनों लोकों को जीतकर अपने वश में कर लिया और उन्हें सर्वसौन्दर्य की प्राप्ति हुई॥२५॥

[द्वितीया, तत्प्रशस्तिश्च]

मायापुरस्कृता विद्या षोडशी सर्वदुर्लभा।
श्रीकृष्णाराधिताख्येयं यतोऽभूदीश्वरः स्वयम्।
यत्प्रसादात् स्वयं कृष्णो बिभर्त्ति च गुणत्रयम्॥२६॥

मायापुरस्कृतेति। निरुक्तकामराजविद्या यदि मायापुरस्कृता ह्रीमिति मायाबीज-पूर्विका स्यात्तदा द्वितीया।

कामराज विद्या के आदि में 'ह्रीं' लगाने से यह षोडशी विद्या श्रीकृष्ण-आराधिता कही जाती है। इस विद्या की साधना के फलस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण जगदीश्वर बन गये। यह इसका दूसरा भेद है॥२६॥

[तृतीया, तत्प्रशस्तिश्च]

श्रीमती षोडशी विद्या सर्वसौभाग्यदायिनी।
लक्ष्म्या चाराधिता विद्या बिभर्त्ति च गुणत्रयम्।
यत्प्रसादादभूल्लक्ष्मीर्वैष्णवी विष्णुवल्लभा।।२७।।

श्रीमतीति। सा चेच्छ्रीमती आदितः श्रीमिति लक्ष्मीबीजयुक्ता स्यात्तदा तृतीया। यथा—

(१) क्लीं क ए ई ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं।
(२) ह्रीं क ए ई ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं।
(३) श्रीं क ए ई ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं।

वामकेश्याश्च लोपाया इत्यनेन निरुक्तकामराजविद्यावत् प्रथमलोपामुद्राया अप्येतद् भेदत्रयमुपदिष्टमिति तदपि प्रदर्श्यते—

(१) क्लीं ह स क ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं।
(२) ह्रीं ह स क ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं।
(३) श्रीं ह स क ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं।

अत्र पञ्चदशाक्षरमन्त्रादावेकाक्षरयोजनात् षोडशाक्षरत्वं ज्ञेयम्।

विद्या के आदि में 'श्रीं' की योजना करने से यह विद्या लक्ष्मी-आराधिता विद्या कही जाती है। इस विद्या के प्रभाव से भगवती लक्ष्मी विष्णुवल्लभा बन गईं। यह इसका तीसरा भेद है।।२७।।

विमर्श—इन तीन बीजों की योजना करने से मन्त्रस्वरूप होगा—

(१) क्लीं कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्री।
(२) ह्रीं कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं।
(३) श्रीं कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं।

इसी प्रकार लोपामुद्रा विद्या के भी तीन भेद होंगे।

[अन्यादृशषोडशीस्वरूपनिरूपणप्रतिज्ञा]

अपराञ्च प्रवक्ष्यामि षोडशीं सर्वदुर्लभाम्।।२८।।

षोडशी विद्या के अन्य दुर्लभ रूपों का आगे निरूपण किया जा रहा है।।२८।।

[तत्र क्रमः]

कामराजाख्यविद्यादौ कामयोनिश्रियः क्रमात्।
जप्त्वा तु साधकश्रेष्ठो वागीशत्वमुपेयिवान्।।२९।।

प्रकारान्तरेण षोडशीं वक्तुं प्रतिजानीते—**अपराञ्चेत्यादिना। कामराजेत्यादि।** पञ्चदशाक्षर्याः शाम्भवकामराजविद्याया आदौ क्रमात् कामयोनिश्रियी जपेदित्यर्थः। अत्र योनिर्मायाबीजं ह्रींकारः। क्रमादिति कामयोनिश्रियः, योनिश्रीकामाः, श्रीयोनिकामाश्च।

एतान् यदि क्रमेण योजयेत् तदा अष्टादशाक्षरं विद्यात्रयं भवतीत्यर्थः। अयमर्थस्तु क्रमादित्यनेन लब्धः। व्यक्तमाह तन्त्रसारधृतकुलोड्डीशे—

कामामायारमापूर्वो माया लक्ष्मीः स्मरस्तथा।
रमा माया तथा कामो वसुचन्द्राक्षरी त्रिधा।। इति।

एवञ्च—

(१) क्लीं ह्रीं श्रीं क ए ई ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं।
(२) ह्रीं श्रीं क्लीं क ए ई ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं।
(३) श्रीं ह्रीं क्लीं क ए ई ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं।

एवं प्रथमलोपामुद्रायाः पूर्वं निरुक्तबीजयोगेन मन्त्रत्रयं भवतीति ज्ञेयम्। 'वामकेश्याश्च लोपाया विशेषो भेद उच्यते' इति पूर्वमुक्तत्वात्, 'यथा तु कामराजस्य प्रकारः परिकीर्त्तितः। लोपामुद्राख्यविद्यायाः प्रकार ईदृशः स्मृतः।।' इति वक्ष्यमाण-त्वाच्च। तदयं लोपामुद्रायां बीजयोगः प्रदर्श्यते—

(१) क्लीं ह्रीं श्रीं ह स क ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं।
(२) ह्रीं श्रीं क्लीं ह स क ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं।
(३) श्रीं ह्रीं क्लीं ह स क ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं।

काम (क्लीं), योनि (ह्रीं) तथा श्री (श्रीं) की क्रम-क्रम से योजना करने से कामराज विद्या के तीन रूप बनते हैं। इसकी साधना से साधक को वागीशत्व प्राप्त होता है।।२९।।

विमर्श—उपर्युक्त तीन बीजों को परस्पर आगे-पीछे करने से तीन रूप प्राप्त होते हैं। इन तीन रूपों की कामराज विद्या के आदि में योजना करके निम्न मन्त्र बनेंगे—

(१) क्लीं ह्रीं श्रीं कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं।
(२) ह्रीं श्रीं क्लीं कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं।
(३) श्रीं ह्रीं क्लीं कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं।

[अस्या रहस्यत्वं प्रकर्षश्च]

एषा गुप्ततमा विद्या सर्वतन्त्रेषु गोपिता।
अनया सदृशी विद्या न भूता न भविष्यति।।३०।।

यह अत्यन्त गुप्त विद्या है। सभी तन्त्रों ने इसे गुप्त रखा है। इसके समान दिव्य और सिद्धिदायी विद्या न तो पहिले कोई थी और न भविष्य में होगी।।३०।।

[अजपाविद्या]

अपरं परमं गुह्यं कथयामि विशेषतः।
अजपा च महाविद्या सर्वतन्त्रेषु निर्मला।।३१।।

अथाजपामन्त्रं वक्तुं प्रतिजानीते—**अपरमित्यादिना। अजपेति।** अजपामन्त्रमाह तन्त्रसारे—

वियदर्द्धेन्दुलसितं तदादि: सर्गसंयुत:।
अजपाख्यो मनु: प्रोक्तो द्व्यक्षर: सुरपादप:।। इति।

अस्यार्थ:—वियत् आकाशबीजं हकारस्तच्च अर्द्धेन्दुरनुस्वारस्तेन लसितम्; एतेन हम् इति प्राप्तम्। **तदादिरिति।** तस्य हकारस्य आदि: सकार: स च सर्गेण विसर्गेण संयुत:, एतेन स: इति प्राप्तम्। एवञ्च हंस: इत्यजपामन्त्र इत्युक्तं भवति। अस्या अजपानामबीजमाह प्राणतोषणीधृत-कुलमूलावतारकल्पसूत्रटीकायाम्—

विना जपेन देवेशि जपो भवति मन्त्रिण:।
अजपेयं तत: प्रोक्ता भवपाशनिकृन्तिनी।।

अजपा महाविद्या है। अत्यन्त निर्मल है। इसमें कोई दोष नहीं हैं। यह अत्यन्त गोपनीय विद्या है।।३१।।

विमर्श—अजपा का अर्थ है—हंस:। इस हंस: मन्त्र का कोई व्यक्ति माला आदि लेकर जप नहीं करता; अपितु प्रत्येक श्वासोच्छ्वास के साथ इसका जप बिना किसी प्रयास के चलता रहता है; अत: इसे अजपा कहते हैं।

[अस्या: प्रशस्ति:]

यत्स्मृतेर्यज्जपाद् ध्यानादत्यन्तविनियोजनात्।
सिद्धिदा सर्वकामानां शिवकण्ठविभूषिता।।३२।।

यत्स्मृतेरित्यादि। यस्या अजपाया: स्मृत्यादिना शिवकण्ठविभूषिता शक्ति: सर्वकामानां सिद्धिदा भवतीति सम्बन्ध:।

इस अजपा मन्त्र का स्मरण करने से, जप करने से, ध्यान करने से तथा अन्य मन्त्रों के साथ इसका विनियोजन करने से भगवान् शिव के कण्ठ को विभूषित करने वाली यह शक्ति सभी कामनाओं को पूरा करती है। सभी सिद्धियाँ प्रदान करती है।।३२।।

[अन्यादृशषोडशीनिरूपणप्रतिज्ञा]

अथापरां प्रवक्ष्यामि वागीशत्वप्रदायिनी।।३३।।

वागीशत्व प्रदान करने वाली एक अन्य षोडशी विद्या बता रहा हूँ।।३३।।

[तत्र बृहस्पतिसेविता]

गीर्बीजाद्या महाविद्या जीवेनाराधिता परा।
यत्प्रसादात् सुराचार्यो वागीशत्वमुपालभत्।।३४।।

भगवत्या: षोडशीदेव्या: स्वरूपान्तरमाह—**अथेत्यादिना।** अत्रेदमवधेयम्—प्रागुक्तशाम्भवकामराजविद्या प्रथमलोपामुद्रा च गोपालबीजाद्या मायाबीजाद्या

श्रीबीजाद्येति त्रिधा, तथा गीर्बीजाद्या शक्तिबीजाद्या प्रणवाद्येति त्रिधा। एवञ्च समयाङ्ग-मतानुसारेण षड् भेदाः षोडश्या उपदिश्यन्ते। तत्र 'दत्त्वा गोपालबीजन्त्वि'त्यादिना 'विष्णुवल्लभे'त्यन्तेन पूर्वभेदत्रयमुपदर्शितम्। अथान्त्यं भेदत्रयमभिदधानः प्रथमं गीर्बीजाद्यामाह—**अथापरामित्यादिना**। गीर्बीजाद्या वाग्भवबीजाद्या। एवञ्च—

ऐँ क ए ई ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं। इति षोडशाक्षरो मन्त्रः पर्यवस्यति। अनया रीत्या प्रथमलोपामुद्राया अपि—

ऐँ ह स क ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं।

इति षोडशाक्षरो मन्त्रोऽवगन्तव्यः।

गीर्बीज अर्थात् 'ऐं'। कामराज विद्या अथवा लोपामुद्रा विद्या के आदि में 'ऐं' की योजना करने से षोडशी विद्या का एक अन्य रूपभेद प्राप्त होता है। जीव अर्थात् बृहस्पति ने इस विद्या की उपासना की और इसकी कृपा से उन्हें देवताओं का आचार्य पद और वागीशत्व की प्राप्ति हुई।।३४।।

मन्त्रस्वरूप— ऐं कएइलह्रीं। हसकहलह्रीं। सकलह्रीं।। (कामराज विद्या)
ऐं हसकलह्रीं। हसकहलह्रीं। सकलह्रीं।। (लोपामुद्रा विद्या)

[शिवसेविता]

बिन्दुस्रग्बीजपूर्वा सा शम्भुना परिपूजिता।।३५।।

द्वितीयामाह—**बिन्दुस्रगिति**। अत्र बिन्दुस्रग्बीजं सौरिति। सौरिति पराबीजाद्या इति आगमचन्द्रिकासंवादात्। ततश्च—

सौः क ए ई ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं।

इति पराबीजघटितः षोडशाक्षरो मन्त्रः। प्रणवाद्यस्तु ३८-श्लोकेन वक्ष्यते। अनया रीत्या प्रथमलोपामुद्राया अपि—

सौः ह स क ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं।

इति षोडशाक्षरो मन्त्रो वेदितव्यः।

बिन्दुस्रग् बीज अर्थात् 'सौः'। सौः को पराबीज भी कहते हैं। अतः मन्त्र के आदि में सौः की योजना करने पर उसे पराबीजाद्य मन्त्र कहा जाता है। इस मन्त्र की उपासना भगवान् शिव ने की। मन्त्रस्वरूप है—सौः कएइलह्रीं। हसकहलह्रीं। सकलह्रीं।

इसी प्रकार से पराबीजाद्य लोपमुद्रा का स्वरूप होगा—सौः हसकलह्रीं। हसकहलह्रीं। सकलह्रीं।

[कामराजलोपामुद्रयोस्तुल्यत्वम्]

यथा तु कामराजस्य प्रकारः परिकीर्त्तितः।
लोपामुद्राख्यविद्यायाः प्रकार ईदृशः स्मृतः।।३६।।

यथा त्विति। अनेन कामराजविद्यावत् प्रथमलोपामुद्राया अपि निरुक्तबीजयोगेन षोडशाक्षरत्वमुपदिष्टम्। क्रमस्तु प्रदर्शित एव।

जिन बीजमन्त्रों की आदि में योजना करके पञ्चदशाक्षरी कामराज विद्या को षोडशाक्षरी विद्या बनाया जाता है, उन्हीं बीजमन्त्रों की योजना प्रथमा लोपामुद्रा विद्या के साथ भी की जा सकती है।।३६।।

[तस्या रहस्यत्वं प्रशस्तिश्च]

स तु गुह्यतमस्तन्त्रे मनोरथप्रदायकः।।३७।।

तन्त्रशास्त्र में बताया गया यह परम रहस्य है। इससे सभी कामनायें पूरी होती हैं।।३७।।

[निरुक्तकामराजविद्यायाः प्रणवयोगेन षोडशीत्वम्]

कामराजमहाविद्या तारपूर्वा च षोडशी।
उपास्या नारदेनेयं यतोऽभून्मानसी गतिः।।३८।।

कामराजेति। इयमपि शाम्भवकामराजविद्यैव। सा तारपूर्वा प्रणवाद्या चेत्तदापि षोडश्या अपरो भेदः। पूर्ववचने 'यथा त्वि'त्यादिना 'प्रकार ईदृशः स्मृत' इत्यन्तेन च कामराजलोपामुद्रे उपसंहृत्य पुनः कामराजविद्यामात्राभिधानात् ताराद्या कामराजमहाविद्यैव न तु प्रथमलोपामुद्राऽपीति ग्रन्थकृतामाशयः प्रतीयते। यद्वा, तारपूर्वा चेति चकारस्य कामराजमहाविद्येत्यतः परं योजनात् लोपामुद्राया अपि संग्रहोऽत्र बोध्यः। आगमचन्द्रिकादौ लोपामुद्राया अपि पूर्वं प्रणवयोगे षोडशीत्वस्य व्यक्तमभिधानात्। अत्रैतदवधेयम्—इतः पूर्वं शाम्भवकामराजलोपामुद्रयोरादौ तत्तद्बीजयोगेन षोडशीत्वमुपदर्शितम्, शाक्तकामराज-लोपामुद्रयोरपि निरुक्तबीजपूर्वकयोरेते भेदा बोध्याः। आगमचन्द्रिकायाम्—

ई ए क ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीं।

इति शाक्तकामराजमभिधाय 'इयं श्रीबीजाद्या सौः इत्याद्या ऐँबीजाद्या ह्रींबीजाद्या ॐबीजाद्या क्लींबीजाद्या इति षट्प्रकारा' इति व्यक्तमुक्तत्वात्।

कामराज विद्या के आदि में तार (ॐ) की योजना करने से तारपूर्वा षोडशी विद्या की निष्पत्ति होती है। महर्षि नारद ने इस विद्या की साधना की और उन्हें मन की गति से गमन करने की शक्ति मिली।।३८।।

विमर्श—इस तरह (१) श्रीबीजाद्या, (२) सौः बीजाद्या, (३) ऐं बीजाद्या, (४) ह्रीं बीजाद्या, (५) ॐ बीजाद्या और (६) क्लीं बीजाद्या—छः प्रकार की षोडशी विद्या निष्पन्न होती है। इसका अर्थ यह है कि कामराज विद्या और प्रथमा लोपामुद्रा विद्या के आदि में उक्त छः बीजाक्षरों की पृथक्-पृथक् योजना करने से ६-६ प्रकार के षोडशी मन्त्र प्राप्त होते हैं।

[अन्यादृशी षोडशी विद्या]

इदानीन्तु प्रवक्ष्यामि षोडशीं सर्वदुर्लभाम्।
यस्य विज्ञानमात्रेण ब्रह्म साक्षान्न संशयः।।३९।।

अथ षोडशीमन्यादृशीं वक्तुं प्रतिजानीते—इदानीन्त्वित्यादिना।

अब मैं उस सर्वदुर्लभा षोडशी विद्या का निरूपण कर रहा हूँ, जिसके विज्ञानमात्र से ब्रह्मसाक्षात्कार सम्भव हो जाता है॥३९॥

[तस्याः स्वरूपम्]

सुषुप्त्यादौ जागरान्ते स्फुरत्तामात्रलक्षणा।
अवस्थाशेषतां प्राप्ता तुर्या तु परमा कला।
भावाभावविनिर्मुक्ता गुणातीता निगद्यते।।४०।।

इसके पूर्व षोडशी विद्या के जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्तिरूप तीन भेदों का निरूपण किया गया है। इन तीन अवस्थाओं से भिन्न एक अन्य 'तूर्यावस्था' है। जागरण के अन्त और सुषुप्ति के आदि में यह तूर्यावस्था होती है। केवल स्फुरित होते रहना इसका लक्षण है। यह अवस्थाविशेष में प्राप्त होती है। यह भाव और अभाव दोनों से परे है। यह गुणातीता है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से ऊपर है॥४०॥

[अस्याः कलाचतुष्टयम्]

वैराग्यञ्च मुमुक्षुत्वं समाधिरमलं मनः।
सदसद्वस्तुनिर्द्धारस्तुर्यायास्तु कला इमाः।।४१।।

(१) वैराग्य, (२) मुमुक्षत्व, (३) शम आदि से मन की निर्मलता तथा (४) सद् और असद् के निर्धारण का सामर्थ्यरूप विवेक—इसकी चार कलायें हैं॥४१॥

[अस्याः प्रशस्तिः]

यत्प्रसादाच्छिवो देवो जगतामीश्वरो विभुः।
विद्यानामुत्तमा विद्या सर्वशास्त्रेषु दुर्लभा।।४२।।
एकोच्चारेण नश्यन्ति महापातककोटयः।।४३।।
तीर्थस्नानसहस्राणि यज्ञदानशतानि च।
तुलापुरुषलक्षाणि वाजिमेधशतानि च।।४४।।
तुलां नार्हन्ति कुत्रापि नात्र कार्या विचारणा।
एकोच्चारणमात्रेण किं पुनर्ब्रह्म केवलम्।।४५।।
वाजपेयसहस्राणि प्रादक्षिण्यं भुवस्तथा।
काश्यादितीर्थयात्राश्च सार्द्धकोटित्रयान्विताः।
तुलां नार्हन्ति कुत्रापि नात्र कार्या विचारणा।।४६।।

इन पाँच श्लोकों में उपर्युक्त षोडशी विद्या की महिमा का निरूपण किया गया है। यह सर्वश्रेष्ठ विद्या है। सभी शास्त्रों में यह विद्या सुलभ नहीं है अर्थात् अत्यन्त गुप्त है। इस विद्या के कृपा-प्रसाद से भगवान् शिव जगत् के ईश्वर बन गये। इस विद्या का एक बार उच्चारण करने अर्थात् चिन्तन करने-मात्र से कोटि-कोटि महापातकों का नाश हो जाता है, सहस्रों तीर्थस्नान तथा सैकड़ों यज्ञदान का फल मिलता है। लाखों तुलादान तथा सैकड़ों अश्वमेध यज्ञों का फल इसके सामने कुछ भी नहीं है। इस विद्या का एक बार चिन्तन करने-मात्र से हजारों वाजपेय यज्ञों के अनुष्ठान, सम्पूर्ण पृथ्वी की प्रदक्षिणा, काशी आदि सभी साढ़े तीन करोड़ तीर्थों के दर्शन से अधिक फल मिलता है।।४२-४६।।

[उद्दिष्टविद्यास्वरूपनिरूपणप्रतिज्ञा]

सङ्केतेन प्रवक्ष्यामि श्रीगुरोः कृपया पराम्।
सर्वथा गोपयेद् विद्यां यदीच्छेदात्मनो हितम्।।४७।।

श्री गुरुदेव की कृपा से इतनी महिमाशालिनी विद्या का केवल संकेत-मात्र से निरूपण कर रहा हूँ। यह ऐसी विद्या है, जिसे गुप्त रखने में ही भलाई है।।४७।।

[विद्यायाः स्वरूपम्]

सान्तान्तं शिवपूर्वसप्तमयुतं सूक्ष्मान्तमन्त्रान्वितं
देवीं दक्षिणबाहुशक्रनयनं कामं कलालाञ्छितम्।
दन्तान्तोद्ध्र्वमुखं सजीवदशनं शेषं मुखेनान्वितं
बीजं पञ्चकमित्थमेवमुदितं सर्वार्थसिद्धिप्रदम्।।४८।।

अथ षोडशीमन्यादृशीमाह—**सान्तान्तमित्यादिना**। सः अन्तो यस्य स सान्तः षकारः, सोऽपि षकारोऽन्तो यस्य स सान्तान्तः शकारस्तं, शिवपूर्वसप्तमयुतं शिवो हकारस्तत्पूर्ववर्त्ती विलोमेन पठितः सप्तमो रकारस्तद्युतम्। एतेन श्र इति प्राप्तम्। सूक्ष्ममिकारस्तस्यान्त ईकारः तथा मस्तं मस्तकमनुस्वारस्ताभ्यामीकारानुस्वाराभ्यामन्वितं युक्तमिति सान्तान्तविशेषणम्। एतेन श्रीमिति रमाबीजं लभ्यते। अथ मायाबीजमाह—**देवीमिति**। देवीं मायां ह्रीमिति मायाबीजमित्यर्थः। ततः कामबीजमाह—**दक्षिणेत्यादिना**। दक्षिणबाहुः ककारः, शक्रो लकारः तयोर्नयनं मेलनं यत्र तथाभूतं कामं बिन्दुं कला कामकला ईकारस्तेन लाञ्छितम्। एतेन क्लीमिति बीजं लभ्यते। दन्तान्तोद्ध्र्वमुखमिति। दन्तान्त ऐकारः, ऊद्ध्र्वमुखं मुखस्योद्ध्र्वं बिन्दुः। एतेन ऐँ इति वाग्भवबीजं प्राप्तम्। **सजीवेति**। जीवः सकारस्तेन सह वर्त्तमानं दशनमौकारं मुखेन विसर्गेणान्वितम्, लिखेदिति शेषः। **बीजमिति**। इत्थं प्रागुक्तरूपं श्रीं ह्रीं क्लीं ऐँ सौः इति बीजपञ्चकं सर्वार्थसिद्धिप्रदमुदितमिति सम्बन्धः।

सान्तान्त—'स'कार है अन्त में जिसके, वह वर्ण है—'ष'कार। यह 'ष'कार भी जिसके अन्त (बाद) में है, वह वर्ण है, 'श'कार। इस तरह सान्तान्त का अर्थ है—'श'कार।

शिवपूर्वसप्तमयुतम्—शिव का अर्थ है, 'ह'कार। इस 'ह'कार से विपरीत क्रम से गिनने पर सातवाँ वर्ण है—'र'कार।

'सान्तान्तशिवपूर्वसप्तमयुतम्' का अर्थ हुआ—'र'कार-युक्त 'श'कार अर्थात् 'श्र'।

'सूक्ष्मान्त'—सूक्ष्म का अर्थ है—'इ'कार। 'इ'कार के अन्त का अर्थात् बाद वाला वर्ण है—'ई'कार, जो अनुस्वारयुक्त हो अर्थात् 'ईं'। इस 'ईं' को 'श्र्' से जोड़ें। रूप बना—श्रीं।

देवी का अर्थ है—ह्रीं।

'दक्षिणबाहुशक्रनयनम्'—दक्षिणबाहू अर्थात् 'क'कार। शक्र का अर्थ है—'ल'कार। 'क'कार एवं 'ल'कार के योग से बना—'क्ल्'।

'कामंकलालांछितम्'—काम का अर्थ है—बिन्दु। कामकला का अर्थ है—'ई'कार। 'क्ल्+ईं' से रूप बना—क्लीं।

दन्तान्त—दन्त का अर्थ है—'ए'। 'ए' के अन्त (बाद) वाला वर्ण 'ऐ' जो ऊर्ध्वमुख अर्थात् 'बिन्दु' से युक्त हो अर्थात् 'ऐं'।

'सजीवदशनम्'—जीव का अर्थ है—'स'कार। दशन अर्थात् 'औ'कार। 'मुख' अर्थात् विसर्ग (:)। इन तीन वर्णों से रूप बना—सौः।

इस प्रकार पाँच बीज प्राप्त हुए—(१) श्रीं, (२) ह्रीं, (३) क्लीं, (४) ऐं और (५) सौः।

[बीजान्तरयोगः]

वेदाद्यं त्रिगुणां रमामथ वदेत् कामेन संसेवितां
लोपां वा पुनरेव पञ्चकमथो पूर्वं विलोमक्रमात्।

निरुक्तबीजपञ्चकानन्तरं योज्यानि बीजान्याह—वेदाद्यमित्यादिना। वेदाद्यः प्रणवः, त्रिगुणा माया ह्रीं, रमा श्रीं इति वदेदिति सम्बन्धः। अथ श्रीं ह्रीं क्लीं ऐँ सौः ॐ ह्रीं श्रीमिति निरुक्तबीजानन्तरम्, कामेन संसेवितां क ए ई ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीमिति कामदेवसंसेवितशाम्भवकामराजविद्याम्, लोपां वेति ह स क ल ह्रीं। ह स क ह ल ह्रीं। स क ल ह्रीमिति प्रथमलोपामुद्रां वा वदेदिति सम्बन्धः। अन्ते बीजयोगमाह—पुनरेवेति। अथो पुनः पूर्वं पञ्चकं सान्तान्तमित्यादिना रमामित्यन्तेनोक्तं श्रीं ह्रीं क्लीं ऐँ सौः इति बीजपञ्चकं विलोमक्रमात् सौः ऐँ क्लीं ह्रीं श्रीमिति क्रमाद् वदेदिति सम्बन्धः।

वेदाद्य अर्थात् ॐ। त्रिगुणा अर्थात् माया (ह्रीं)। रमा अर्थात् 'श्रीं'। इस तरह तीन बीज प्राप्त हुए—(१) ॐ, (२) ह्रीं और (३) श्रीं।

इस तरह पाँच और तीन कुल मिलाकर आठ बीज प्राप्त हुए—श्रीं। ह्रीं। क्लीं। ऐं। सौ:। ॐ। ह्रीं। श्रीं।

इन आठ बीजों के बाद कामराज विद्या अथवा लोपामुद्रा को लिखे। यथा—श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं सौ: ॐ ह्रीं श्रीं कएइलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं।

इसके बाद आरम्भ के पाँच बीजों को विलोमक्रम से लिखें। यथा—श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं सौ: ॐ ह्रीं श्रीं कएईलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं सौ: ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं।

इस तरह १६ कूटों वाली षोडशी विद्या निष्पन्न हुई।

कूटगणना—श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं सौ: ॐ ह्रीं श्रीं—ये ८ कूट हैं।

कामराज या लोपामुद्रा के वाग्भव, कामराज एवं शक्ति—३ कूट।

सौ: ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं—ये पाँच कूट—५

इस तरह इस विद्या में १६ कूट होते हैं।

षोडश कूटा लोपामुद्रा का स्वरूप है—श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं सौ: ॐ ह्रीं श्रीं हसकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं सौ: ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं।

विमर्श—अन्य तन्त्रग्रन्थों में इस षोडशाक्षरी विद्या का उद्धार अलग-अलग रूप से बताया गया है। यथा 'यामल' में—

श्रीर्माया मदनो वाणी परा तारं शिवप्रिया।
हरिप्रिया त्रिकूटा सा परा वाणी मनोभव:।।
माया लक्ष्मीर्महाविद्या श्रीविद्या षोडशाक्षरी।।

श्रीबीज (श्रीं), माया (ह्रीं), मदन (क्लीं), वाणी (ऐं), परा (सौ:), तार (ॐ), शिवप्रिया (ह्रीं), हरिप्रिया (श्रीं), त्रिकूटा अर्थात् कामराज या लोपामुद्रा के वाग्भव आदि तीन कूट के बाद में परा (सौ:), वाणी (ऐं), मनोभव (क्लीं), माया (ह्रीं), लक्ष्मी (श्रीं)—यह षोडशाक्षरी श्रीविद्या है।

ज्ञानार्णव (त्रयोदश पटल) में कहा गया है कि आदि में उपर्युक्त आठ तथा अन्त में उपर्युक्त पाँच बीजाक्षरों की योजना करने से सभी त्रिकूटा विद्यायें १६ कूटों वाली हो जाती हैं। षट्कूटा वैष्णवी विद्या १९ कूटों वाली तथा चतुष्कूटा शाम्भवी विद्या १७ कूटों वाली हो जाती है—

त्रिकूटा सकला भद्रे षोडशार्णा भवन्ति हि।
वैष्णव्येकोनविंशार्णा शैवी सप्तदशाक्षरी।।२९।।

अन्य तन्त्रग्रन्थों में षोडशी महाविद्या के भुवनसुन्दरी, कमलसुन्दरी, कामसुन्दरी, वाक् सुन्दरी, शक्तिसुन्दरी, तार-षोडशी, बीजावली षोडशी, गुह्य षोडशी आदि अनेक रूपभेद बताये गये हैं।

[अस्या: प्रशस्ति:]

एषा श्री: परमा परात् परतरा सर्वार्थसिद्धिप्रदा
सारात् सारतरा समस्तजगतामुत्पत्तिभूता शिवा।।४९।।
साक्षाद् ब्रह्मस्वरूपा सुरमुनिनिवहैर्वन्दितानन्दरूपा
संसारस्यैकसारा त्रिभुवनजननी धर्मकर्मोदया या।
सेयं श्रीब्रह्मविद्या सकलगुणमयी निर्गुणा निष्प्रपञ्चा
विद्येयं सर्वपूर्वा सकलहितकरी चित्कलानन्तरूपा।।५०।।

इन श्लोकों में षोडशकूटा षोडशी विद्या की महिमा का गान किया गया है। यह षोडशी विद्या समस्त संसार की उत्पत्तिभूता शिवा है। इससे बढ़कर और कोई विद्या नहीं है। यह सब विद्याओं के सार की सार है। साक्षाद् ब्रह्मरूपा है। सभी देवता और मनुष्य इसकी वन्दना करते हैं। यह आनन्दस्वरूपा है। ब्रह्मविद्या है। सकल गुणमयी भी है और सर्वगुणरहिता भी है। सभी जनों की भलाई करने वाली चित्कला अनन्तरूपा है।।४९-५०।।

[अस्या रहस्यत्वं प्रशस्तिश्च]

राज्ञे साम्राज्यराज्यं वरमपि च शिर: स्वर्णरत्नञ्च देयं
पुत्रो मित्रं कलत्रं सकलपरिजनश्चाथवा नैव देया।
श्रीविद्या षोडशार्णा सकलगुणमयी देवदेवैकवन्द्या
सर्वाम्नायै: प्रपूज्या सकलहितकरी गोपनीया प्रयत्नात्।।५१।।

राज्य दिया जा सकता है, साम्राज्य दिया जा सकता है, शिर दिया जा सकता है, धन-मित्र-पुत्र और कलत्र को छोड़ा जा सकता है; लेकिन सभी देवताओं द्वारा वन्दिता, सभी आम्नायों द्वारा पूजिता एवं सकल गुणमयी यह षोडशाक्षरी विद्या किसी को नहीं दी जा सकती। हर प्रकार से इसकी गोपनीयता की रक्षा करनी चाहिए।।५१।।

[अस्या अनिर्वाच्यस्वरूपत्वम्]

वक्त्रकोटिसहस्रैस्तु जिह्वाकोटिशतैरपि।
वर्णितुं नैव शक्तेयं श्रीविद्या षोडशाक्षरी।।५२।।

सहस्र कोटि मुखों और शतकोटि जिह्वाओं द्वारा भी श्री षोडशाक्षरी श्रीविद्या के गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता। श्रीविद्या की महिमा का गान कर पाना मानवीय क्षमता और सामर्थ्य से परे है।।५२।।

[वैखर्याद्यनभिव्यज्यत्वम्]

वैखरी वाच्यभावत्वादशक्ता गुणवर्णने।
यतो निरक्षरं वस्तु परा तत्र तु कारणम्।।५३।।
मूकीभूता हि पश्यन्ती मध्यमा मध्यमा भवेत्।

वक्त्रकोटिसहस्रैस्त्वित्यादिना यदस्या निरुपाख्यरूपत्वमुक्तं तत्र हेतुमाह—**वैखरीत्यादिना**। अत्रेदमवधेयम्—वाक् चतुर्धा भिद्यते—परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी चेति। आसां स्वरूपं संक्षेपेण विविच्यते। शारदातिलके प्रथमपटले सृष्टिप्रकरणे अर्थसृष्ट्यनन्तरं शब्दसृष्टिनिरूपणावसरे—

द्विचत्वारिंशता मूले गुणिता विश्वनायिका।
सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः।।
शक्तिं ततो ध्वनिस्तस्मान्नादस्तस्मान्निरोधिका।
ततोऽर्द्धेन्दुस्ततो बिन्दुस्तस्मादासीत् परा ततः।।
पश्यन्ती मध्यमा वाचि वैखरी शब्दजन्मभूः।

इत्युक्तम्। एवञ्च शब्दब्रह्मस्वरूपिणी कुण्डलिनी प्रथमं शक्तिं प्रसूते। ततो ध्वनिस्तस्मान्नाद इत्यादिक्रमेण बिन्द्वन्ताः परशक्तेरेवावस्थाभेदा ग्रन्थगौरवभिया न व्याख्यायन्ते, विस्तरस्तु शारदातिलके राघवभट्टकृतायां तट्टीकायाञ्चानुसन्धेयः। तस्माद् बिन्दोः परा नादात्मिका शब्दसृष्टिर्भवति। तस्या एव परायाः क्रमेण पश्यन्ती मध्यमा वैखरी चेति त्रिविधा शब्दसृष्टिः। तत्र परा मूलाधारे सूक्ष्मा ज्योतिर्मात्रस्वरूपा। तत ऊद्ध्र्वगामिनी पश्यन्ती स्वाधिष्ठाने। ततोऽप्युद्गच्छन्ती मध्यमा हृदये। ततोऽप्युद्गच्छन्ती वैखरी मुखे। आसु च क्रमेणोत्तरोत्तरं स्थूलरूपतामवाप्तासु चरमं स्थौल्यमधिगच्छन्ती वैखरी शब्दप्रपञ्चं जनयति। तथा च राघवभट्टधृतं वचनम्—

सूक्ष्मा कुण्डलिनी मध्ये ज्योतिर्मात्रात्मरूपिणी।
अश्रोत्रविषया तस्मादुद्गच्छत्यूद्ध्र्वगामिनी।।
स्वयंप्रकाशा पश्यन्ती सुषुम्णामाश्रिता भवेत्।
सैव हृत्पङ्कजं प्राप्य मध्यमा नादरूपिणी।।
ततः संजल्पमात्रा स्यादविभक्तोद्ध्र्वगामिनी।
सैवोरःकण्ठतालुस्था शिरोघ्राणरदस्थिता।।
जिह्वामूलोष्ठनिस्यूतसर्ववर्णपरिग्रहा।
शब्दप्रपञ्चजननी श्रोत्रग्राह्या तु वैखरी।। इति।

तन्त्रराजे षड्विंशपटलेऽपि—

स्वात्मेच्छाशक्तिघातेन प्राणवायुस्वरूपतः।
मूलाधारे समुत्पन्नः पराख्यो नाद उत्तमः।।
स एवोद्ध्र्वं तया नीतः स्वाधिष्ठाने विजृम्भितः।
पश्यन्त्याख्यामवाप्नोति तथैवोद्ध्र्वं शनैः शनैः।।
अनाहते बुद्धितत्त्वसमेतो मध्यमाभिधः।
तथा तयोद्ध्र्वनुन्नः स विशुद्धौ कण्ठदेशतः।।
वैखर्याख्यस्ततः शीर्षकण्ठताल्वोष्ठदन्ततः।
जिह्वामूलाग्रपृष्ठस्थस्तथा नासाग्रतः क्रमात्।।

कण्ठताल्वोष्ठकण्ठौष्ठाद्दन्तौष्ठद्वयतस्तथा ।
समुत्पन्नान्यक्षराणि क्रमादादिक्षकावधि।।
आदि-क्षान्तरतेत्येषामक्षरत्वमुदीरितम् ।
तेषु स्वराः स्वतन्त्राः स्युस्तैर्व्यज्याद् व्यञ्जनं भवेत्।। इति (५-१०);

एवञ्च सर्वेषां प्राणिनां मूलाधारे ज्योतिर्मात्रात्मिका।

मूलाधारोद्भवो वायुः प्राणाद्याख्यां समश्नुते। इति तन्त्रराजसप्तविंशपटलोक्त-रूपप्राणवायुस्वरूपा परमात्मनः स्वेच्छाशक्त्याघातेन समुत्पन्ना नादात्मिका परा वाक् अतिसूक्ष्मरूपेत्युक्तं भवति, इयमेव प्रथमावस्था। सैव नादात्मिका परा तया परमात्मन इच्छाशक्त्या प्रेरिता क्रमेणोद्ध्र्वगामिनी स्वाधिष्ठाने विजृम्भिता पूर्वतो व्यक्तरूपा पश्यन्तीत्याख्यां भजते। तयैवेच्छाशक्त्या प्रेरिता क्रमेण कण्ठदेशस्थिते विशुद्धाख्ये चक्रे विजृम्भिता वैखरीत्याख्यामधिगच्छन्ती स्वेच्छावशात् शीर्षकण्ठताल्वोष्ठदन्तादि-सम्बन्धतोऽकारादिक्षकारान्तानेकपञ्चाशद्वर्णान् सृजति। एतदभिप्रायेणैव लक्ष्मणाचार्यैरपि शारदायां प्रथमपटले—

क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम्।

इत्युक्तम्। इदानीं प्रकृतमनुसरामः। **वैखरीति।**

प्राणान्ते नापि वक्तव्या तुरीया षोडशाक्षरी।
शब्दातीतपरा वस्तु संविज्ञानस्वरूपिणी।

इति वक्ष्यमाणवचनेन अस्या विद्यायास्तुरीयचैतन्यस्वरूपत्वं प्रतिपादयिष्यते, तुरीयचैतन्यस्वरूपत्वाच्चेयं शब्दातीता श्रवणेन्द्रियाग्राह्या च, अत एव सा परा प्रागुक्तानां परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीरूपाणां शब्दब्रह्मणोऽवस्थाभेदानां प्रथमा-वस्थारूपाऽतिसूक्ष्मा मूलाधारमात्रस्थिता शब्दातीतत्वादवाच्या च। वैखरी तु श्रवणेन्द्रियविषयीभूतस्थूलशब्दमात्रविषयिणी कण्ठस्थिते विशुद्धाख्यचक्रे विजृम्भमाणा कथं सूक्ष्मातिसूक्ष्मामतिदूरे मूलाधारे विहरन्तीं पराविद्यामिमां विषयीकुर्यादित्येवाह—**वैखरी वाच्यभावत्वादित्यादिना।** वाच्यभावत्वात् वाच्यो वाग्विषयो भावः सत्ता यस्यास्तथाभूतत्वात् इन्द्रियगोचरवर्णमात्रविषयत्वादित्यर्थः, वैखरी पूर्वोक्तरूपा अस्या विद्याया इन्द्रियगोचरीभूताया गुणवर्णने अशक्ता इत्यर्थः। एतदेवाह—**यत इत्यादिना।** यत्र इयं विद्या निरक्षरम् अक्षरातीतं वस्तु अतोऽक्षरव्यञ्जिका वैखरी गुणवर्णने अशक्तेति सम्बन्धः। तर्हि का शक्ता इत्यत आह—**परेति।** तस्या गुणवर्णने कारणं परैव, शक्त्यन्तरं मूकीभूतेत्यर्थः। अथापराभ्यां पश्यन्तीमध्यमाभ्यां शक्तिभ्यां कथं नास्याः स्वरूपोपलब्धिरित्यत आह—**मूकीभूतेति।** एतेन पूर्वोक्तयुक्त्या पश्यन्तीमध्यमयो-रप्यस्या गुणवर्णनेऽसामर्थ्यमिति ज्ञेयम्। **मध्यमा मध्यमा भवेदिति।** पश्यन्ती-वैखर्योर्मध्ये वर्त्तमानत्वात् मध्यमा मध्यस्थिता मध्यमानाम्नी शक्तिरपि अस्या गुणवर्णने मूकीभूतेति सम्बन्ध इत्यास्तां विस्तरः।

षोडशाक्षरी श्रीविद्या के गुणों का गान करने में मनुष्य क्यों असमर्थ है, इसके कारण का निरूपण इस श्लोक में किया गया है। एतदर्थ मनुष्य की वाणी के स्वरूप और क्षमता को समझना होगा। वाणी के चार रूप हैं—परा-पश्यन्ती-मध्यमा और वैखरी। इनमें से परा वाणी का निवास मूलाधार में है। यह अत्यन्त सूक्ष्म तथा ज्योतिमात्रस्वरूपा है। परा वाणी से ऊपर स्वाधिष्ठान में पश्यन्ती वाक् का निवास है। इससे ऊपर हृदय प्रदेश में मध्यमा वाणी का तथा कण्ठ में वैखरी वाणी का वास है। वाणी के ये चार रूप क्रमश: उत्तरोत्तर स्थूल हैं। परा सबसे सूक्ष्म तथा वैखरी वाणी सबसे स्थूल है। यह वैखरी वाणी पश्यन्ती और मध्यमा से पदों के रूप में प्राप्त मनोभावों और विचारों को मुखरित और अभिव्यक्त करती है। चूँकि वैखरी की क्षमता इन्द्रियग्राह्य विषयों और वस्तुओं तक सीमित है; अतएव वह महिमाशालिनी षोडशी महाविद्या का वर्णन करने में असमर्थ और अक्षम है। षोडशी विद्या इन्द्रियग्राह्य नहीं है। उसका प्रतिपाद्य विषय तो निरक्षर वस्तु है। जिसका स्वरूप निरक्षर हो, उसका वर्णन अक्षरों में कैसे किया जा सकता है? अत: परा शक्ति ही इसका वर्णन कर सकती है। पश्यन्ती शक्ति इसके गुणों का वर्णन करने में मूक ही रहती है। मध्यमा चाहकर भी इसमें प्रवृत्त नहीं हो पाती। अत: उदासीन होकर रह जाती है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि षोडशी महाविद्या की दिव्यता और महिमा की अनुभूति तो की जा सकती है; मगर शब्दों और पदों में उसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता॥५३॥

[प्रशस्ति:]

ब्रह्मविद्यास्वरूपा च भुक्तिमुक्तिफलप्रदा।।५४।।
प्राणान्ते नापि वक्तव्या तुरीया षोडशाक्षरी।
शब्दातीतपरा वस्तु संविज्ज्ञानस्वरूपिणी।।५५।।

यह षोडशी विद्या ब्रह्मविद्या-स्वरूपा और भुक्ति एवं मुक्ति प्रदान करने वाली है। इससे मनुष्य को सांसारिक और पारमार्थिक सुख मिलते हैं। प्राणान्त होने पर भी अर्थात् मृत्यु का संकट उत्पन्न हो जाने पर भी तुरीया षोडशाक्षरी विद्या का प्रकाशन वाणी से नहीं करना चाहिए। यह शब्दातीता है अर्थात् शब्द और अक्षर उस तक नहीं पहुँच सकते। यह षोडशी विद्या संविद् ज्ञान-स्वरूपिणी है। वह ज्ञान और वह आनन्द, जो योगी को समाधि अवस्था में प्राप्त होता है॥५४-५५॥

[अस्या विद्यान्तरप्रकृतित्वम्]

अस्मान्मन्त्रान्नि:सरन्ति महामन्त्रा: सहस्रश:।
विस्फुलिङ्गा यथा यान्ति सुतप्तलोहगोलकात्।।५६।।

जिस तरह दहकते हुए लौहपिण्ड से चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी तरह इस विद्या से हजारों मन्त्र और महामन्त्र उद्भूत होते हैं, निकलते हैं।

[पुनरस्या रहस्यत्वम्]

विद्यया सह मर्त्तव्यं न देया यस्य कस्यचित्।।५७।।

इस महाविद्या को लेकर मर जाना श्रेयस्कर है; बजाय किसी अपात्र व्यक्ति को बताने से।।५७।।

इसी स्थिति में इसकी परम्परा की रक्षा-हेतु क्या किया जाय, इस उपाय का सुझाव अगले श्लोकों में दिया गया है।

[सच्छिष्याय देयत्वम्]

शिष्याय भक्तियुक्ताय सत्यवाक्यपराय च।
प्रदद्यान्मन्त्रराजन्तु—

इसकी दीक्षा इसके पात्र शिष्य को ही दी जाय जो सत्यभाषी, सदाचारी और भक्तियुत हो।

[दाने क्रमः]

—जले संलिख्य साधकः।।५८।।
शिष्यमूर्ध्नि पदं दत्त्वा दिव्याचारक्रमेण तु।
लक्षमेकं तदर्द्धं वा गजान्तकसहस्रकम्।।५९।।
एकाकी शिवगेहे तु जप्त्वा मन्त्रं प्रकाशयेत्।
श्रीमत्त्रिपुरसुन्दर्या—

[निरुक्तक्रमविपर्यये दोषः]

—नान्यथा सिद्धिदा भवेत्।।६०।।

शिष्य को मन्त्र दान के पूर्व शिवालय में षोडशी विद्या का एक लाख, अथवा उसका आधा पचास हजार, अथवा आठ हजार जप करें। दिव्याचार के क्रम से शिष्य के सिर पर पैर रखकर उसे यह विद्या जल में लिखकर प्रदान की जाय। जल में लिखकर देने का हेतु यह है कि इस तरह इस अक्षररहिता विद्या की अक्षरों में अभिव्यक्ति नहीं होती। विद्यादान में इन नियमों का कड़ाई से पालन किया जाना चाहिए; अन्यथा यह विद्या सिद्धिप्रदा नहीं रह जाती।।५८-६०।।

[अथास्या अपरे भेदाः]

अथास्या अन्यभेदास्तु कथ्यन्ते तन्त्रयोगतः।

तन्त्र-शास्त्र में इस विद्या के जो अन्य भेद बताये गये हैं, उन भेदों का निरूपण अब किया जा रहा है।

[तत्र परिपाटी]

अस्या मध्यात् कामराजं लोपां वा सन्त्यजेत्ततः।।६१।।
दक्षिणामूर्त्तितन्त्रस्य सर्वविद्याः क्षिपेत् क्रमात्।
तदा च सकला भेदास्तुरीया षोडशी भवेत्।।६२।।

'सान्तान्तं शिवपूर्वसप्तमयुतमि'त्यादिना षोडश्या मन्त्रभेदमभिधाय 'अस्मान्मन्त्रान्निःसरन्ति महामन्त्राः सहस्रश' इत्युक्तम्, इदानीं तेषामेव कांश्चिन्मन्त्रान् दर्शयति—**अस्या मध्यादित्यादिना।** तथा च सान्तान्तमित्यादिनोपदर्शितान् आद्यन्तयोरनुलोमविलोमपठितान् वर्णान् यथापूर्वमुच्चारयेत्। निरुक्तं शाम्भवकामराजं लोपामुद्रां च मध्यतः परित्यज्य तत्र प्रागुपदर्शिता दक्षिणामूर्त्तितन्त्रोक्ताः सर्वा विद्याः क्रमेण क्षिपेत्। एवञ्चैतद्बीजैस्तत्तन्मन्त्रयोजनादेकैका विद्या भवतीति।

प्रस्तुत ग्रन्थ में त्रिकूटा कामराज विद्या और / अथवा त्रिकूटा लोपामुद्रा विद्या से बने केवल दो भेदों का उल्लेख किया गया है। यथा—श्रीं ह्रीं क्लीं ऐं सौः ॐ ह्रीं श्रीं कएइलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं सौः ऐं क्लीं ह्रीं श्रीं।

उपर्युक्त मन्त्र के मध्य से कामराज विद्या के तीनों कूटों को हटाकर उनके स्थान पर दक्षिणामूर्ति संहिता में बताये गये किसी भी मन्त्र को वहाँ अंतस्थ करने से सभी विद्यायें षोडशी विद्या बन जायेंगी।।६१-६२।।

[तत्रैकतमस्यापि ज्ञानं शिवतासम्पादकम्]

एषामन्यतमं ज्ञात्वा ज्ञातव्यं नावशिष्यते।
स ईशो वा नास्ति भेदः सत्यं सत्यं सुनिश्चितम्।।६३।।

श्रीविद्या का ज्ञान प्राप्त करने के बाद और कुछ जानने के लिये शेष नहीं रह जाता। श्रीविद्या को जानने वाला शिवस्वरूप हो जाता है। शिव में और उसमें विशेष भेद नहीं रह जाता।।६३।।

[एतन्मन्त्राभ्यासजन्यः साधकस्य शक्तिप्रकर्षः]

विषं निर्विषतां याति जलं स्तम्भयति ध्रुवम्।
जलीकरोति भुवनं भुवनीकुरुते जलम्।।६४।।
वह्निं जलमयं कुर्याज्जलं वह्निञ्च कारयेत्।
व्यत्ययं कुरुते सर्वं दृढाभ्यासान्न संशयः।।६५।।

इति श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचिते श्रीतत्त्वचिन्तामणौ त्रयोदशः प्रकाशः।।१३।।

श्रीविद्या के साधक को अनायास ही 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' की अतिमानवीय क्षमता और शक्ति प्राप्त हो जाती है। वह जहर को अमृत और अमृत को जहर बना सकता है। बहती हुई नदी के जलप्रवाह को रोक सकता है। जलाशय को मरुस्थल और मरुस्थल को जलाशय बना सकता है। आग को पानी और पानी को आग बना सकता है। प्रकृति के रूप में परिवर्तन कर सकता है।।६४-६५।।

श्रीपूर्णानन्दपरमहंसविरचित श्रीतत्त्वचिन्तामणि के तेरहवें प्रकाश का
'भावना'-भाष्य पूर्ण हुआ।।१३।।

●